भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

9th Nov. 1931

कार्त्तिकी
अमावस्या
संवत
१९८८

सम्पादक—त्रिदण्डी स्वामी भक्तिहृदय वन

वार्षिक
सडाक ३॥)

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वह नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, २ ,,	३)
२ इंच ,, ४ ,,	१॥)
१ ,, ,, ८ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

९४९ सदर बाज़ार, लखनऊ.

प्रकाशक—त्रिदंडी स्वामी भक्तिहृदय वन

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

प्रथम वर्ष

गौराब्द ४४५, सं० १९८८ वि०, ६ नवम्बर १९३१ से
,, ४४६, सं० १९८९ वि०, १४ अक्टूबर १९३२ तक

सम्पादक व प्रकाशक—
त्रिदण्डी स्वामी भक्तिहृदय वन

मुद्रक—
पं० राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव
अवध-प्रिंटिंग-वर्क्स,
लखनऊ.

भागवत-पत्र की वर्ष-सूची

श्री श्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



श्री परमहंस मठ नैमिषारण्य

वर्ष १ | कार्त्तिक अमावस्या गौराब्द ४४५ सं० १९८८ वि०, ९ नवम्बर स० १९३१ ई० | संख्या १

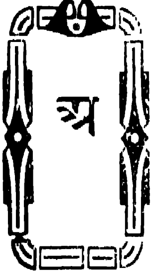
विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोदजी
की





भजु मन श्रीचैतन्य महाप्रभु।
करिके दया जगत-जीवन पै, निज पार्षद, निज धाम साथ लै।
लीन्हो है अवतार विष्णु विभु ॥ भजु० ॥
दीन्हो प्रेम-दान दुर्लभ अति, सिखराई भगतन सरनागति।
भक्त-प्रानधन, जीवन, सरबस ॥ भजु० ॥
आत्म - निवेदन, दैन्य - प्रकासा, रखिबो उर ऐसो बिस्वासा—
रच्छा करिहैं कृष्ण अवसि, बस ॥ भजु० ॥
गोप्ता जानि वरन मन लाई, काज भक्ति अनुकूल सोहाई।
काज भक्ति - प्रतिकूल त्याग कर ॥ भजु० ॥
षट प्रकार सरनागत जो जन, मन लावै सब विधि हरि-चरनन।
सुनैं प्रार्थना नन्द - सूनु वर ॥ भजु० ॥
दाँत दाबि तृन रूप सनातन—पाँयन परयो पकरि जुग-चरनन।
"भक्ति - विनोद" करै सु निवेदन ॥ भजु० ॥
रोइ-रोइ कह अधम मंदमति, हौं मैं, मोहिं सिखाइ सरनागति।
प्रभु, बनाइए उत्तम जीवन ॥ भजु० ॥

वक्तव्य



अखिल-रसामृत-मूर्ति भगवान् रस-रहित धारणा का विषय नहीं हैं। भगवान की निर्विशेष या अनन्य प्रतीति "ब्रह्म" शब्द में आबद्ध है। भगवान के आंशिक वैभव की प्रतीति में चित्-अचित् शक्तियों का वैचित्र्य वर्तमान रहने पर भी चिद्विलास विचित्रता का अखिल रसास्वादन अर्थ वर्जित है। अतएव मूल वस्तु का ब्रह्माधिष्ठान या परमात्माधिष्ठान उपात्त ज्ञान या अधिकांश आंशिक अधिष्ठानमात्र के ही दो प्रकाश हैं। इन्हीं का पूर्ण प्रकाश भगवत्ता (भगवान इस आख्या) में प्रकाशित होता है। दर्शन करनेवाले के अधिकार-भेद से प्रदर्शित सब तरह के प्रकाशों का न्यूनाधिक अनुभव होता है। इस कारण ब्रह्मज्ञ और संयत जनों की श्रेणी भजनीय वस्तु का भजन करनेवाले भक्तों के आसन से अलग, भिन्न स्तर में, अवस्थित होती है।

अखिल-रसामृत-मूर्ति भगवान् की कथा वेद के परिपक्व फल से युक्त श्रीमद्भागवत-वृक्ष में ही गाई गई है। बदरिकाश्रम में श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास ने अपने शरीर से उत्पन्न पुत्ररत्न श्रीशुकदेवजी को वह गान सुनाया था। वही अभिनव संगीत, जड़ जगत् के साथ संस्पर्श न रखकर रहनेवाले शुकदेवजी के श्रीमुख से, पृथ्वीपति महाराज परीक्षित ने, यह पार्थिव लोक त्याग करने के पहले, श्रवण किया था। श्रीमद्भागवत की कथा उन्होंने गंगाजी के बालुकामय पावन तट पर सुनी थी। उस समाज में बहुत से मनीषी, संयत महापुरुष, तपस्वी, कोविदगण, तत्त्वज्ञानी, सूरिगण तथा गीति-विद्या-विशारद लोमहर्षण के पुत्र सूत भी उपस्थित थे। इन सूत गोस्वामी ने ही नैमिषारण्य क्षेत्र में शौनक आदि ऋषियों के आगे दुरधिगम्य वेद का तात्पर्य थोड़े शब्दों में, सहज भाषा में, वर्णन किया था। श्रीमद्भागवत के उपदेश की बातें श्रोता लोगों की धारणा के उपयोगी बनाने के उद्देश्य से, अर्थात् जिसमें श्रोता लोग अच्छी तरह समझ सकें इस मतलब से, इतिहास के वर्णन तथा जगत् की कथाओं से युक्त श्रीमद्भागवत का जो तृतीय अधिवेशन हुआ था, उसे काल के प्रभाव से विभिन्न आधारों में पड़कर अनेक प्रकार से लौकिक व्यवहार के जीवन में नियुक्त हुआ देखकर, कलियुग में पावन अवतार लेनेवाले श्रीकृष्णचैतन्यदेव ने अपनी नित्य लीला प्रकट करके कलियुग के सताए लोगों का दुर्बलता के हाथ से उद्धार किया था। वही भगवत्सम्बन्धी कथा गौर-लीला में गौरजनों के मुख से जिस तरह गाई जाकर जगत् का पूर्ण कल्याण कर रही है, वर्तमान काल में अमावस और पूर्णिमा के दिन, उसी कल्याणमयी वाणी के प्रकाशित होने का सुयोग उपस्थित हुआ है।

ॐ विष्णुपाद श्री १०८ भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज की नियामकता से समग्र गौड़ देश में प्रत्येक प्रदेश की भाषा में उक्त हरि-कथा गाई जाने के संकल्प से यह "भागवत" नाम का पाक्षिक पत्र प्रकाशित किया जाता है। वर्तमान कलिग्रस्त जीव श्रीमद्भागवत को श्रीहीन करके देखते हैं, इसलिए श्रीमद्भागवत को श्रीहीन वेश से ही, अर्थात् "भागवत" नाम से ही, इस समय प्रकट होना पड़ रहा है।

भगवत्कथा और इतर कथाओं में भेद यही है कि भागवत कथा नित्य है और इतर कथा केवल तात्कालिक होती है। हरिकथा के साथ हरिजन-कथा का होना अपरिहार्य है।

जो सज्जन हरिजन "भागवत" के मुख से कथा-कीर्तन सुनने का अधिकार प्राप्त करेंगे, उनका केवल मनुष्य ही नहीं, मनुष्य-वन्दित देवगण भी आदर करेंगे।

द्वादश-वन-भ्रमण

या

व्रजमण्डल चौरासी कोस की परिक्रमा

जिहि जिहि ठौर प्रकट पृथ्वी पर,
कीन्ही प्रभु रसकेलि मनोहर ।
सोइ द्वादस वन भ्रमन करौंगो,
लोटि प्रेम सों चरन परौंगो ।
चरन पकरि करि नम्र निवेदन,
पूछौंगो प्रति व्रजवासी जन ।

(ठाकुर नरोत्तम)

हे प्रेमी सज्जनो, हे भगवद्भक्तो, तुम सब प्रेम के देश चलो । प्रेम की विजय-वैजयन्ती हाथ में लिये कोई एक अलौकिक महापुरुष अतिथि आकर तुम्हारा दरवाज़ा खट-खटा रहा है । यह उनकी सहस्रमुखी पुकार सुनो उनका आह्वान सुनो । अबकी अप्राकृत विरह-प्रेम के देश से विरह के सघन महोत्सव का रथ प्रेम-विकल लोगों को लेकर प्रिय की ओर अभिसार में दौड़ेगा । तुम लोगों ने उस अभिसार का आगमनीय-संगीत सुना है क्या ? नरोत्तम प्रभुजी ने एक दिन गाया था—

जो संगी गौराङ्गदेव के नित्य सिद्ध तिनको मानै ।
नंदतनय के निकट जाय सो होय सुखी, सब जग जानै ॥
जो श्रीगौड़-भूमिमण्डल को चिन्तामणि मानै मन में ।
ताको मिलै बास व्रजमण्डल-भूमि बीच या जीवन में ॥

गौरवन में एक दिन और भी एक विरह-विह्वल वीणा की झनकार उठी थी—

कब मैं अहो ! गौर-व्रज-वन में लखि अभेद ह्वै हौं व्रजवासी ।
कब देखि हौं स्वरूप धाम को, ह्वै हौं राधा की दासी ॥

इस झनकार की तान में ही आज व्रजवन-परिक्रमा का आगमनीय-संगीत आरम्भ हुआ है । श्रीस्वरूप-रूपानुगवर चिद्विलास ॐ विष्णुपाद श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज पहले नवद्वीप-वन और गौड़-मण्डल की परिक्रमा में गौराङ्गदेव के संगी लोगों की चरण-रज तथा श्रीगौड़मण्डल-भूमि की रज से उनके अनुगामियों को अभि-षिक्त करके व्रज-परिक्रमा का अधिकार-पत्र प्रदान करते हैं । गौर प्रेम-रस-सागर की लहरों में बहकर जो लोग नित्य सिद्ध राधा-माधव के अन्तरंग जन के रूप में अवस्थान करते हैं, गौर-व्रजवन में अभिन्न दृष्टि रखने के कारण जो लोग नित्य व्रजवासी हैं, जिनके नयनों में नित्य अर्थात् सर्वदा धाम का स्वरूप स्फुरित होता है, और जो लोग औरों को भी धाम के स्वरूप का दर्शन कराते हैं, जो लोग राधा की दासी होने के अभिमान से नित्य स्वरूप-सिद्ध हैं, उन सुदुर्लभ प्रेमी पुरुषों के पदांक का अनुसरण करके—

जिन थल मम गौरांग प्रभु किये भ्रमण सुख पाय ।
प्रेमी भक्तन साथ सोइ सब थल लखिहौं जाय ॥

इस महाजन-कथित पद का कीर्तन करते-करते वृन्दावन द्वादश वन - व्रजमण्डल की परिक्रमा करने के लिए किसका चेतन का स्वरूप - किसका जी व्याकुल नहीं हो उठता ?

श्रीराधा की किंकरी की अभिमान-लीला प्रकट करके एक दिन स्वयं व्रजेन्द्र-नन्दन ने अपनी गौर-लीला में विप्रलंभ-क्षेत्र श्रीक्षेत्र (जगन्नाथपुरी) से श्रीवृन्दावन जाकर वहाँ वन की परिक्रमा की थी । वह शरदृतु में श्रीनीला-चल से यात्रा करके, झाड़खंड (उड़ीसे) के वन-मार्ग से चलकर, काशी और प्रयाग होते हुए श्रीधाम वृन्दावन में उपस्थित हुए थे और बड़े ही प्रेम के साथ श्रीवृन्दावन के द्वादश वनों में भ्रमण करने की लीला प्रकट की थी ।

श्रीश्रीगौरसुन्दर और उनके अनुचर श्रीश्रीगोस्वामी महाराजों के अन्तर्द्धान के उपरान्त श्रीनिवासाचार्य, श्रीयुत नरोत्तम ठाकुर और श्रीयुत जीवगोस्वामी महोदय ने प्रभु की आज्ञा लेकर श्रीराघव गोस्वामी के साथ श्री गौरसुन्दर

की लीला का अनुसरण करते हुए व्रजमण्डल की परिक्रमा अर्थात् द्वादश वनों में परिभ्रमण किया था।

श्रीचैतन्यचन्द्र और श्रीचैतन्य चरणों के अनुचरों के अनुरागमय आचार में साधारण जीवों की अभिरुचि उत्पन्न कराने के लिए परम करुणासिन्धु श्रीगौर जन उच्च-नीच और नर-नारी सबको श्रीव्रजमण्डल की परिक्रमा करने के लिए बुलाते हैं—आह्वान करते हैं।

अपने भजन का आनन्द बाँटने के प्रयोजन से अवतार लेने वाले श्रीकृष्ण चैतन्य वस्तु को आपामर सर्व साधारण में वितरण करना ही जिनका हर घड़ी का व्रत है, वही गोष्ठानन्दी* गौरभक्तजन आज सब जनता को साथ लेकर व्रज जाने के लिए तैयार हैं। यह सौभाग्य इस जगत के रहनेवाले जीवों को कभी प्राप्त नहीं हुआ: भविष्य में भी फिर कभी प्राप्त होगा या नहीं, यह कोई कह नहीं सकता। कारण, इस तरह का सुयोग, इन सब बातों की सुविधा जगत में, एक जन्म में, दो बार प्राप्त हो सकना अत्यन्त कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव भी है। प्रतिवर्ष वन-परिभ्रमण या व्रजमण्डल की परिक्रमा करने की जो प्रथा प्रचलित है, उसमें गतानुगतिक भाव से भ्रमण और परिक्रमा करने का सुयोग एवं सुविधा रहने पर भी, अथवा अपने मन से कभी कदाचित किसी महात्मा महापुरुष के सम्मिलित हो जाने पर भी, सर्वसाधारण को यह सौभाग्य कभी नहीं प्राप्त होता कि वे परममुक्त गोष्ठानन्दी श्रीचैतन्यदेव के परम भक्तों – अनन्य निष्ठावाले सज्जनों के श्रीमुख से बराबर निकल रही – प्रवाहित हो रही—श्रीकृष्णचैतन्यकथामृतमयी गंगा-यमुना की धारा में गोते लगाते लगाते व्रज वन माधुरी के मर्म को समझें।

नवद्वीप वनचारी ने अपनी वृन्दावन-लीला में किस जगह कौन अलौकिक लीला की थी, यह शास्त्र ग्रंथ से कीर्तन, पाठ, भाषण, व्याख्यान, गाथा, संगीत, आलोचना, विचार आदि के द्वारा इष्ट गोष्ठी सहित कहने, सुनने और देखने का सुयोग हमारे उच्च-नीच सभी भाइयों को कभी किसी युग में नहीं प्राप्त हुआ। किस तरह, किस योग्यता से, कौन किसके निकट, कौन सी वृन्दावन-लीला सुन और देखकर व्रजवनवासियों के गण में गिना जा सकता है, इसका अकृत्रिम और निश्छल पता पाना और किसी समय इस तरह सुलभ और सहज रूप में प्रकाशित नहीं हुआ। हम सब मिलकर जिससे व्रज की राह में पार्षद-सहित श्रीकृष्णचैतन्यदेव का विधिपूर्वक संकीर्तन कर सकें, इसके लिए हम सब की सहानुभूति चाहते हैं, सबसे सम्मिलित होने की प्रार्थना करते हैं। आप सब लोग श्रीधाम वृन्दावन की परिक्रमा में गौर प्रेमी लोगों के साथ कृष्ण का प्रेम लीलाओं के स्थानों का दर्शन करिए।

जैसे श्रीगौरांग के जन्म-स्थान श्रीधाम मायापुर को केन्द्र करके श्रीधाम नवद्वीप-वन की परिक्रमा की जाती है, वैसे ही गोकुल महावन को केन्द्र करके श्रीधाम वृन्दावन के द्वादश वनों की परिक्रमा का अनुष्ठान किया जायगा। सम्भवतः आगामी अगहन महीने के अंतिम सप्ताह से एक महीने से अधिक समय तक यह परिक्रमा करनेवाले यात्रियों का दल वन-भ्रमण करेगा। परिक्रमा आरंभ करने का निर्दिष्ट दिन और अन्यान्य सब विशेष विवरण बाद को भिन्न भिन्न संवादपत्रों में प्रकाशित कर सर्वसाधारण को उसकी सूचना दी जायगी। "भागवत", "गौड़ीय" "नादिया-प्रकाश" और "हार्मोनिस्ट" आदि हिन्दी, बँगला और अँगरेज़ी के पारमार्थिक पत्रों में इस विषय की और भी विस्तृत आलोचना और चर्चा की जायगी। यथायोग्य सामग्री लेकर सब लोग इस परिक्रमा में सम्मिलित हों। दानी उदार पुरुष अन्यान्य असमर्थ श्रद्धालु व्यक्तियों को भी व्रज परिक्रमा में सम्मिलित होने का सुयोग और सुविधा देकर महावदान्य परमोदार श्रीगौरांगदेव की कृपा प्राप्त करें।

श्रीश्रीव्रजमण्डल परिक्रमा सम्बन्धी विस्तृत विवरण तथा और सब तरह की खबरें जानने के लिए कलकत्ते के श्रीगौड़ीय मठ के मंत्री महोदय के नाम निम्नलिखित पते पर पत्र लिखना चाहिए—

श्री कुञ्जविहारी विद्याभूषण मंत्री श्री गौड़ीय मठ
पो० बागबाजार, कलकत्ता।

---

* गोष्ठानन्दी अर्थात् गोष्ठ में आनन्द लेकर, सब मिलकर, भगवद्-भजन का आनन्द वितरण करते हैं।

कृष्णदास राजपूत



श्री कृष्णचैतन्य महाप्रभु जगन्नाथपुरी में रथयात्रा-दर्शन लीला प्रकट करके झाड़खण्ड की राह में बाघ, भालू, हाथी आदि जंगली हिंसक पशुओं को भी कृष्ण-नाम से नचाकर, काशीधाम में अपने भक्त चन्द्रशेखर की सेवा स्वीकार करते हुए प्रयाग की राह से मथुरा और वृन्दावन में आकर उपस्थित हुए। महाप्रभु ने अक्रूर-तीर्थ में आकर भिक्षा की और "तेंतुल तला" (इमली के पेड़ के तले) के एकान्त स्थान में बैठकर मध्याह्न पर्यन्त गिनती के नामों का कीर्तन किया। इस तेंतुल तला का इमली का वृक्ष द्वापर युग की कृष्ण लीला के समय का पुराना वृक्ष कहकर प्रसिद्ध है। पास ही यमुना बहती है। वहाँ पर वृन्दावन के पावन पवन की हिलोरें, यमुना का बालुकामय तट और वन की शोभा, सब मिलकर भक्तों के हृदय में कृष्ण-सेवा का उद्दीपन कर देते हैं।

एक दिन महाप्रभु इसी तेंतुल-तला में बैठे थे, इसी समय यमुना के उस पार के ग्राम में रहनेवाले कृष्णदास नाम के एक राजपूत गृहस्थ "केशीघाट" में स्नान करके कालिय दह को जाते समय उस इमली के तले अकस्मात् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की कनकगौर सुन्दर श्रीमूर्ति और उनके अति अद्भुत प्रेमोन्माद को देखकर विस्मित हुए। कृष्णदास ने महाप्रभु के समीप आकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया।

महाप्रभु ने पूछा - तुम कौन हो? तुम्हारा घर कहाँ है?

कृष्णदास ने कहा -- मैं अधम गृहस्थ हूँ। जाति का राजपूत हूँ। उस पार मेरा घर है। मेरी इच्छा वैष्णवों का दास होने की है। मैंने आज एक स्वप्न देखा था। उस स्वप्न को सफल करनेवाला प्रत्यक्ष आपका दर्शन भी यहाँ मुझको मिल गया।

महाप्रभु ने कृपापूर्वक कृष्णदास को छाती से लगा लिया। कृष्णदास प्रेम से विह्वल होकर हरिनाम का उच्चारण करते हुए नाचने लगे। कृष्णदास श्रीकृष्णचैतन्यदेव के साथ दोपहर को अक्रूर तीर्थ में आये और वहाँ महाप्रभु के पात्र में उनकी जठन का प्रसाद पाया। तब से कृष्णदास महाप्रभु के नित्य किंकर और नित्य के संगी हो गये। वह प्रभु का कमण्डलु लेकर चलते थे।

> आइ प्रात प्रभु-संग तें गहे कमंडलु हाथ।
> घर, वनिता, तन तजि रहे सदा महाप्रभु साथ॥

वृन्दावन में शोर उठा कि वहाँ फिर कृष्ण भगवान् प्रकट हुए हैं। राह-घाट में लोग यही कहते फिरने लगे। एक दिन सबेरे के समय बहुत आदमी कोलाहल करते हुए वृन्दावन से अक्रूर-तीर्थ में आकर उपस्थित हुए। महाप्रभु ने इतने लोगों का जमाव देखकर उनसे उनके आने का कारण पूछा। लोग कहने लगे कि कालिय दह के जल में द्वापरयुग की तरह फिर कृष्णचन्द्र प्रकट होकर कालियनाग के मस्तक पर नृत्य कर रहे हैं; नाग के शिर पर फण की मणि भी चमकती देखी गई है। लोगों ने अपनी आँखों से यह देखा है; इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं।

महाप्रभु उन मूढ़ मनुष्यों की ये बातें सुनकर तनिक मुसकिराये और उनसे कहा—तुम लोग जो कुछ कह रहे हो, वास्तव में वह सब सच है। इसी तरह तीन दिन तक बराबर लोगों की भीड़ महाप्रभु के पास आकर उन्हें जताने लगी कि उन्होंने कृष्ण भगवान् के दर्शन पाये हैं।

सरस्वती ने उन लोगों के मुख से सत्य बात ही कहलाई थी। कारण, व्रजेन्द्रनन्दन से अभिन्न महाप्रभु श्रीधाम वृन्दावन में प्रकट हुए थे और फिर श्रीधाम में कृष्ण का प्रकट विहार हो रहा था, इसमें संदेह नहीं। महाप्रभु के दर्शन से ही लोगों को श्रीकृष्ण का दर्शन प्राप्त हो गया था, यह भी सम्पूर्ण सत्य था। परन्तु यह अवश्य था कि उन लोगों का वर्णन और उद्देश्य भ्रम पूर्ण था, उन्हें असत्य में सत्य का भ्रम हो गया था।

मूढ़ जनसमूह के इस तरह भ्रम-पूर्ण कृष्णदर्शन की बात सुनकर सरलमति बलभद्र भट्टाचार्य के मन में भी साक्षात् वास्तव कृष्ण की सेवा छोड़कर विवर्ताश्रित अवास्तव कृष्ण दर्शन का कुतूहल जग उठा। भट्टाचार्य ने महाप्रभु से कहा—प्रभो, आप आज्ञा दीजिए, मैं एक बार कृष्ण के दर्शन कर आऊँ। महाप्रभु ने भट्टाचार्य की पीठ पर एक हाथ मारकर कहा—

> पण्डित है मूरखन का बातन।
> मूरख भये तुमहू भ्रम धरि मन॥

दूसरे दिन सवेरे एक शिष्ट पुरुष महाप्रभु के निकट उपस्थित हुए। महाप्रभु ने उनसे कृष्ण-दर्शन की बात पूछी। उन्होंने महाप्रभु के निकट यथार्थ सत्य का वर्णन करके कहा—रात को काली दह में मछुए लोग नाव पर चढ़कर दीपक जलाकर मछलियों का शिकार करते हैं। यही दूर से देखकर मूढ़ लोगों के मनमें भ्रम उत्पन्न होता है। वे नाव को कालिय नाग, जलते हुए दीपक को उसकी मणि और मछुए को कृष्ण समझ बैठे हैं।

उन शिष्ट पुरुष ने यह भी कहा कि यद्यपि यह घटना और जनरव असत्य है, तथापि लोगों का कृष्णदर्शन और उसका जनरव अन्य आकार में यथार्थ में सत्य ही है। वृन्दावन में आप कृष्णावतार हुए हैं। आपके दर्शन से सब लोगों का निस्तार हो रहा है।

महाप्रभु जिस समय अपने भक्त के द्वारा श्रीधाम वृन्दावन में इस प्रकार लीला शिक्षा का विस्तार और प्रचार कर रहे थे, उसी समय और एक दिन अक्रूर तीर्थ के घाट में बैठकर वह विचार करने लगे—"इसी घाट में ऐश्वर्य के उपासक अक्रूर ने अपने अधिकार से वैकुण्ठ लोक का दर्शन और माधुर्य सेवक व्रजवासियों ने अपने-अपने अधिकार से गोलोक का दर्शन किया था।" यह विचार करते करते ही महाप्रभु व्रजवासी के भाव से यमुना-जल में फाँदकर जल के भीतर डूब गये। यह देखकर कृष्णदास राजपूत ऊँचे स्वर से रोने और चिल्लाने लगे। श्री बलभद्र भट्टाचार्य ने उसी क्षण आकर जल के भीतर से महाप्रभु को बाहर निकाला।

एक ओर लोगों की बेहद भीड़, उसके ऊपर लोगों के भिक्षानुरोध का उपद्रव, और महाप्रभु का सर्वदा प्रेम का आवेग देखकर बलभद्र भट्टाचार्य बहुत डरे। उन्होंने महाप्रभु को वृन्दावन से हटाने की इच्छा से माघ-स्नान के उपलक्ष में गंगातट की राह से महाप्रभु को लेकर प्रयाग में आने की युक्ति सोची।

महाप्रभु के साथ राह जानने वाले कृष्णदास राजपूत, श्रीश्रीमाधवेन्द्रपुरी के शिष्य सनोडिया ब्राह्मण, श्रीबलभद्र भट्टाचार्य और उनके साथी ब्राह्मण चले। इन लोगों ने नाव से यमुना-पार होकर गंगा के किनारे की राह पकड़ी। जाते-जाते सबको थका हुआ जानकर विश्राम के लिए महाप्रभु एक वृक्ष के तले बैठ गये। वृक्ष के पास ही बहुत सी गाएँ विचर रही थीं। यह देखकर महाप्रभु के मन में व्रजलीला की स्मृति जग उठी। इसी समय एक चरवाहा एकाएक बाँसुरी बजाने लगा। वह ध्वनि सुनते ही महाप्रभु को प्रेम-मूर्च्छा उपस्थित हुई। महाप्रभु अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। मुख से फेना निकलने लगा और नाक से साँस का आना-जाना बंद हो गया।

हम जिस समय की बात कह रहे हैं, उस समय भारतवर्ष में मुसलमानी राज्य था। उस समय दिल्ली के तख़्त पर लोदी घराने का राजवंश बैठा था। लोदीवंश ही सबसे पहला अफग़ान या पठान राजवंश है। यद्यपि साधारणतः भूल के कारण इसके पहले दिल्ली के तख़्त पर बैठनेवाले सभी मुसलमान राजवंशों को पठान कहा जाता है, तथापि वास्तव में लोदीगण ही भारत के राजसिंहासन पर बैठनेवाले सबसे पहले पठान हैं। इसके पहले के अन्यान्य मुसलमान राजवंशों को पठान न कहकर तुर्क कहना ही संगत होगा और यही वर्तमान ऐतिहासिकों का मत है।

इस समय भारत की राजनीतिक अवस्था अत्यन्त भयानक और संकटापन्न थी। सुल्तान सिकन्दर ग़ाज़ी, जिसको सिकंदर लोदी भी कहते हैं, उसने सन १४८९ ई० से सन १५१७ ई० तक भारत में बादशाहत की। सिकंदर लोदी बड़ा ही कट्टर मुसलमान था। मथुरा के बहुत मंदिरों का विध्वंस उसी के द्वारा किया गया था। धर्मपरायण हिंदुओं के ऊपर उसके किए गए अनेक प्रकार के उत्पीड़न और अत्याचार इतिहास में प्रसिद्ध हैं। सिकंदर लोधी के बाद इब्राहीम लोदी ने सन १५२६ तक राज्य किया। इसी समय (सन १५२६ की २१ एप्रिल को) पानीपत में पठान बादशाह इब्राहीम लोदी के साथ काबुल के मुग़ल राजा बाबर की लड़ाई हुई। यही पानीपत का प्रथम युद्ध कहलाता है। इसी युद्ध में विजय लक्ष्मी पठानों को छोड़कर मुग़लों के पास चली गई।

भारत के राजनीतिक आकाश में जिस समय इस तरह विपत्ति के मेघ छाये हुए थे, ख़ासकर मथुरा वृन्दावन के राह-घाटों में अनेक प्रकार के भयानक उत्पात हुआ करते थे, उस समय भी महाप्रभु स्वजनों के साथ कृष्णान्वेषण लीला तथा अद्भुत हरिभजन के आदर्श का प्रचार करने में लगे हुए थे। उन्होंने अपना कार्य नहीं छोड़ा। महाप्रभु के हृदय में जगत के हिंसा-द्वेष-हानि-लाभ की चिन्ता छू तक नहीं गई थी। उनके भक्तों का चित्त भी अपने प्रभु के

समान ही विशुद्ध था—केवल कृष्णान्वेषण की सेवा में लगा हुआ था।

भारत के राजनीतिक इतिहास में राजपूत जाति का नाम सोने के अक्षरों से लिखा हुआ है। मुसलमान विजय के पहले राजपूत जाति ने शौर्य वीर्य, प्रभाव, प्रतिभा, प्रतिपत्ति, देश प्रेम और आत्मत्याग का जो आदर्श दिखाया है, वह भारत के इतिहास में, अद्वितीय है, उसकी तुलना नहीं। इस समय राजपूत जाति भर पर विधर्मियों की तीक्ष्ण दृष्टि थी और राजपूत लोग उनके साथ युद्ध और विद्रोह करने में लगे हुए थे।

हमारे आलोचनीय कृष्णदास राजपूत ने राजपूत जाति के बीच प्रकट लीला का आविष्कार किया है। किन्तु उनके शौर्य-वीर्य उनके प्रभाव और प्रतिभा, उनके देश-प्रेम और आत्मत्याग तथा जगत सम्बन्धी लाभालाभने हिंसा-द्वेषादिबहुल नश्वर कार्य में नियुक्त न होकर यथार्थ विषय में, श्री गुरुदेव तथा कृष्णचन्द्र की सेवा में प्रयुक्त होने के आदर्श का आविष्कार किया है। कृष्णदास ने देश प्रेम और आत्मत्याग के जिस आदर्श का प्रचार किया है, उससे इन शब्दों की विद्वत् रूढ़ि और सार्थकता प्रचारित हुई है। हम लोग कृष्णदास-कृत महाप्रभु की सेवा की चेष्टा में उसे देख पावेंगे।

महाप्रभु जब रास्ते में उस वृक्ष के नीचे अपने चारों साथियों के बीच अन्तर्दशा में निमग्न हो रहे थे, उस समय उसी मार्ग से दस घुड़सवार पठान जा रहे थे। पठानों ने रास्ते में एक संन्यासी को मूर्च्छित तथा उनके पास चार आदमियों को बैठा हुआ देखकर सोचा कि निश्चय ही ये चारों ठग हैं, जिन्होंने संन्यासी को धतूरे वग़ैरह का कोई विष खिलाकर उसे मार डाला है और संन्यासी के पास जो कुछ सोना आदि मूल्यवान वस्तुएँ थीं, उन्हें ले लिया है।

मन ही मन यह ठीक करके पठानों ने महाप्रभु के साथी कृष्णदास राजपूत, सनोडिया ब्राह्मण, बलभद्र भट्टाचार्य और उनके साथ के ब्राह्मण को बाँध लिया और उन्हें मारने काटने का भय दिखाने लगे। बलभद्र भट्टाचार्य और उनका साथी ब्राह्मण ये दोनों गौड़ देश के रहनेवाले थे। वे सहज ही डर के मारे काँपने लगे। लेकिन कृष्णदास राजपूत और सनोडिया माथुर ब्राह्मण निर्भय होकर उन पठानों को अपना परिचय देने लगे। तो भी पठान उनके कथन पर विश्वास न करके उन गौड़ीय (बंगाली) जनों को डाकू, ठग आदि कहने लगे। राजपूत कृष्णदास से वैष्णवों के ऊपर यह आक्रमण नहीं सहा गया। उन्होंने अपनी बहादुरी प्रकट करते हुए कहा—"पठानो, सावधान! तुम इन दोनों बंगालियों पर इस तरह अनुचित रूप से आक्रमण नहीं कर सकते। इसी गाँव में मेरा घर है। मेरे अधिकार में दो सौ तुर्क सिपाही और एक सौ तोपें हैं। मेरे आज्ञा देते ही वे अभी यहाँ आकर तुम्हें मारकर तुम्हारे घोड़े वग़ैरह को लूट लेंगे। ये बंगाली डाकू नहीं हैं; तुम्हीं डाकू हो! तुम्हीं तीर्थवासियों का धन लूटते और उनकी हत्या करना चाहते हो।"

कृष्णदास राजपूत के ये तीव्र वाक्य सुनकर पठानों के मन में संकोच उत्पन्न हुआ। इसी समय महाप्रभु अर्द्ध बाह्य दशा को प्राप्त हुए। वह हुंकार करके उठ बैठे और "हरि, हरि" शब्द उच्चारण करते करते प्रेम के आवेश में ऊर्ध्व-बाहु होकर उद्दण्ड नृत्य करने लगे। यह देख सुनकर उन पठानों ने भयभीत हो उसी समय प्रभु के चारों भक्तों को बन्धनमुक्त कर दिया। महाप्रभु ने अपने भक्तों का बंधन नहीं देख पाया।

महाप्रभु जब संपूर्ण बाह्य दशा को प्राप्त हुए तब प्रभु के प्रभाव से प्रभावित होकर वे पठान उनके निकट आये और प्रणाम करके यह जताया कि ये चारों आदमी प्रभु को धतूरा खिलाकर बेहोश करके उनका धन-रत्न आदि लूट ले जानेवाले थे। महाप्रभु ने उन पठानों से कहा – ये चारों ठग या डाकू नहीं, उन्हीं के साथी हैं। वह भिक्षुक संन्यासी हैं, उनके पास धन या रत्न कुछ भी नहीं है। वह समय-समय पर मिर्गी-रोग के दौरे से राह-घाट में बेहोश होकर गिर पड़ते हैं, इसी लिए ये चारों आदमी सदा साथ रहकर उनकी देखरेख और रक्षा करते हैं। पठानों में एक मौलाना भी थे। मौलाना ने महाप्रभु के साथ कुछ धर्मतत्त्व की आलोचना शुरू कर दी और निर्विशेष ब्रह्मवाद के स्थापन की चेष्टा करने लगे। बाद को जब महाप्रभु ने कुरान के वचनों से यह दिखा दिया कि कुरान में अन्त को सविशेष या साकार ब्रह्म की ही स्थापना की है, तब मौलाना ने भी "पूर्वापर विधियों में पर विधि ही प्रबल होती है" यह सोचकर महाप्रभु के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। प्रभु के दर्शन से मौलाना की जिह्वा आपही से कृष्णनाम का उच्चारण करने लगी। मौलाना का जड़ाभिमान दूर हो गया।

मौलाना ने फिर महाप्रभु को प्रणाम करके साध्य-साधन-तत्त्व के विषय में पूछा। महाप्रभु ने इसके उत्तर में उन्हें बतलाया कि कृष्णनाम के अभ्यास से ही आनुषंगिक रूप से उनके सब पूर्वकृत पापपुंज भी भस्म हो जायेंगे। प्रभु ने मौलाना को कृष्णनाम का उपदेश करके उनका नाम राम दास रख दिया। प्रभु की आज्ञा से सभी पठानों ने कृष्ण-नाम की दीक्षा ग्रहण की।

इन सब पठानों के दलपति का नाम था बिजलीखाँ। यह राजकुमार और अल्पवयस्क थे। साथ के सब पठान उनके अनुचर थे। बिजलीखाँ कृष्णनाम का उच्चारण करते हुए महाप्रभु के चरणों पर लोट गये। महा उदार अवतार महाप्रभु श्रीचैतन्य देव ने कृपापूर्वक बिजलीखाँ के मस्तक में अपना श्रीचरण रख दिया। महाप्रभु के चरण कमल स्पर्श और कृपा से बिजलीखाँ महा भागवत हुए। उनके साथी पठान भी वैष्णव धर्म ग्रहण करके देश-देश और गाँव गाँव घूमकर महाप्रभु की कीर्ति का प्रचार करने लगे। सब तीर्थों में महाभागवत बिजलीखाँ का महत्त्व फैल गया। ये सभी "पठान वैष्णव" के नाम से प्रसिद्ध हुए।

सोरों क्षेत्र में आकर महाप्रभु ने गंगा-स्नान किया। और गंगा-किनारे की राह से प्रयाग जाने के लिए प्रस्तुत हुए। इसी समय महाप्रभु ने सनोडिया ब्राह्मण और कृष्ण-दास से अपने अपने घर लौट जाने के लिए कहा। किन्तु उन्होंने प्रयाग तक प्रभु के साथ चलने की प्रार्थना की।

महाप्रभु ने प्रयाग में आकर श्रीवल्लभ भट्ट की भिक्षा लेने के विचार से जिस समय प्रयाग के उस पार अड़ाइल ग्राम की यात्रा की, उस समय श्रीरूप प्रभु और राजपूत कृष्णदास महाप्रभु के साथी होकर वहाँ गये थे और उक्त दोनों सज्जनों ने महाप्रभु का उच्छिष्ट प्रसाद पाया था। तिरहुत के पण्डित रघुपति उपाध्याय के साथ भी महाप्रभु ने जो सब रस-तत्त्व के प्रसंगों की चर्चा की थी, उसे भी कृष्णदास ने श्रवण किया था।

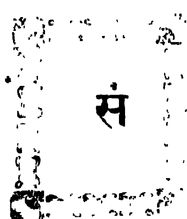
पाठको, कृष्णदास राजपूत के चरित्र की आलोचना करके उससे हमने क्या शिक्षा पाई? महाप्रभु ने अपने एक-एक भक्त के द्वारा जगत् में किस प्रकार की अभूतपूर्व अद्भुत हज़ारों शिक्षाएँ फैलाई हैं, इसपर विचार कीजिए। विचार करते करते आप विस्मित हो उठेंगे और विस्मित होते-होते पार्षद-सहित श्रीचैतन्यदेव के चरणकमलों में आपका चित्त-भ्रमर विशेष रूप से आसक्त होगा।

कृष्णदास राजपूत की शूर वीरता असाधारण थी। दो सौ तुर्क सिपाही और एक सौ तोपें उनके अधिकार में थीं। उनको धन, सम्मान और वैभव की भी कमी नहीं थी। कृष्णदास के स्त्री थी, पुत्र थे। वह धनी और प्रतिपत्ति-शाली गृहस्थ थे। किन्तु कविराज गोस्वामी प्रभु के शब्दों में हम देख पाते हैं कि कृष्णदास महाप्रभु का कमण्डलु वाहक भृत्य होने के लिए घर, स्त्री, पुत्र आदि को छोड़कर उनके साथ रहे।

यही कृष्णदास का यथार्थ परिचय है। कृष्णदास कृष्ण के दास थे। कृष्णदास राजपूत और भी सुन्दरतर भाषा में "वैष्णव किंकर" थे। कृष्णदास घर के दास, स्त्री-पुत्र के दास न थे, या दो सौ सिपाही, एक सौ तोप अथवा सांसारिक प्रतिष्ठा, कुलीनता, जाति-कुल-धन-रत्न के दास न थे। उनके मन में इन सब वस्तुओं का स्वामी होने की आकांक्षा भी रत्ती भर नहीं थी। इन सब वस्तुओं के प्रभु या दास का अभिनय असुरगण भी कर सकते हैं। किन्तु कृष्णदास के प्रेम का परिचय अद्वितीय है, अलौकिक है। उनका प्रेम अहैतुक, अप्रतिहत और अनाविल है।

हरि-नाम का रहस्य

(लेखक, ॐ विष्णुपाद श्री श्रीम विनोदजी)



संध्या आरती समाप्त करके वैष्णव लोग श्रीवास आँगन में बकुलवृक्ष के नीचे चबूतरे के ऊपर बैठे हैं। वृद्ध रघुनाथ-दास बाबाजी महाशय उनके बीच में बैठे तुलसी-माला में भगवान के संख्या-नाम जप रहे हैं। इसी समय व्रजनाथ और विजय ने आकर साष्टांग प्रणाम किया। बाबाजी ने उनको गले से लगाकर कहा - तुम्हारा भजन सुख बढ़ रहा है न? विजय ने हाथ जोड़कर कहा—प्रभो, आपकी कृपा से हमारा सर्वत्र मंगल है। कृपा करके आज हमें नाम-तत्त्व का उप-

द्वितीय पर्याय के विष्णुस्वामी

द्वितीय पर्याय के विष्णुस्वामियों में हम 'श्रीराजगोपाल' देख करिए। बाबाजी प्रफुल्लमुख होकर कहने लगे --भगवान का नाम दो प्रकार का है। मुख्य और गौण। जगत्सृष्टि से मायागुणों का अवलंबन करके जो सब नाम प्रचलित हुए हैं, वे सब गौण अर्थात् गुणसंबन्धी हैं। सृष्टिकर्ता, जगत्पाता, विश्वनियन्ता, विश्वपालक, परमात्मा आदि बहुविध गौण नाम हैं। और माया गुणों के व्यतिरेक-सम्बन्ध से ब्रह्म आदि कई नाम भी गौण नामों में गिने जाते हैं। इन सब गौण नामों के बहुविध फल रहने पर भी साक्षात् चित्फल सहसा नहीं उदित होता। भगवान के चित् जगत् में जो मायाकृत काल और देश से अतीत सब नाम नित्य वर्तमान हैं वे ही सब नाम चिन्मय और मुख्य हैं। नारायण, वासुदेव, जनार्दन, हृषीकेश, हरि, अच्युत, गोविन्द, गोपाल, राम इत्यादि सब मुख्य नाम हैं। ये सब नाम चित्धाम में भगवत्स्वरूप के साथ ऐक्य भाव से नित्य वर्तमान हैं। ये सब नाम जड़ जगत में महासौभाग्यशाली पुरुषों की जिह्वा में भक्ति के द्वारा आकृष्ट होकर नृत्य करते हैं। नाम के साथ मायिक जगत का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। नाम स्वभावतः भगवान की सब शक्तियों से सम्पन्न है। मायिक जगत में अवतीर्ण होकर वह माया का नाश करने में प्रवृत्त होता है। इस जड़ जगत में वर्तमान जीवों का हरिनाम के सिवा और कोई बंधु नहीं है। इसी लिए बृहन्नारदीय पुराण में लिखा है --

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

अर्थात् हरि का नाम ही मेरा जीवन है और कलि-युग में नाम के सिवा जीव की अन्य कोई गति नहीं है।

हरिनाम सब वेदों से बढ़कर है। जैसा कि स्कन्दपुराण में लिखा है—

मा ऋचो मा यजुस्तात मा सामादि पठ किंचन।
गोविन्देति हरेर्नाम गेयं गायस्व नित्यशः॥

हे तात, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि कुछ न पढ़ो। गाने-योग्य गोविन्द यह हरि का नाम नित्य गाओ।

हरिनाम सब तीर्थों से बढ़कर है। जैसा कि वामनपुराण में लिखा है --

तीर्थकोटिसहस्राणि तीर्थकोटिशतानि च।
तानि सर्वाण्यवाप्रोति विष्णोर्नामानि कीर्तयन्॥

शत कोटि सहस्र तीर्थों की सेवा का फल केवल विष्णु-नाम का कीर्तन करने से ही प्राप्त होता है।

हरि-नाम का आभास भी सब सत्कर्मों से अनन्तगुणा अधिक है। जैसा कि स्कन्दपुराण में लिखा है—

गोकोटिदानं ग्रहणे खगस्य प्रयागगंगोदककल्पवासः।
यज्ञायुतं मेरुसुवर्णदानं गोविन्दकीर्तेर्न समं शतांशैः॥

सूर्यग्रहण में कोटि गोदान करना, प्रयाग गंगा आदि के जल में कल्प भर निवास करना, दस हज़ार यज्ञ करना और सुमेरु पर्वत के समान सुवर्ण का ढेर दान करना, ये सब कार्य गोविन्द कीर्तन के शतांश के बराबर भी नहीं हैं।

हरिनाम सब अर्थों का दान करता है। जैसा कि स्कन्दपुराण में लिखा है—

एतत् षड्वर्गहरणं रिपुनिग्रहणं परम्।
अध्यात्ममूलमेतद्धि विष्णुनामानुकीर्तनम्॥

हरघड़ी विष्णु भगवान के नामों के कीर्तनाभास में ही जन्म-मृत्यु आदि षड्वर्ग का विनाश, काम-क्रोध आदि शत्रुओं का निग्रह होता है। यही अध्यात्मज्ञान का मूल है।

हरिनाम में सब शक्ति है। जैसा कि स्कंदपुराण में लिखा है --

दानव्रततपस्तीर्थक्षेत्रादीनां च याः स्थिताः।
शक्तयो देवमहतां सर्वपापहराः शुभाः॥
राजसूयाश्वमेधानां ज्ञानस्याध्यात्मवस्तुनः।
आकृष्य हरिणा सर्वाः स्थापिताः स्वेषु नामसु॥

सब देवतों की सब पाप नष्ट करनेवाली और मंगल-दायिनी जो शक्तियाँ हैं, जो शक्तियाँ दान, व्रत, तप, तीर्थ-क्षेत्र तथा राजसूय-अश्वमेध आदि यज्ञों में वर्तमान हैं, जो शक्तियाँ ज्ञानसाध्य अध्यात्म वस्तु में निहित हैं, वे सब हरि ने उनसे खींचकर अपने नामों में स्थापित कर दी हैं।

भक्ति-साधन के जितने प्रकार हैं, उनमें हरिनाम का कीर्तन ही सर्वश्रेष्ठ है। भागवत में (१२ स्कंध, ३ अध्याय, ५२ श्लोक में) लिखा है --

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

सत्य युग में भक्ति के साथ हरि का ध्यान करने से, त्रेता युग में यज्ञों द्वारा भजन करने से और द्वापर में परिचर्या (सेवा-पूजा) करने से जो फल प्राप्त होता है, वह कलि-युग में केवल हरिकीर्तन करने से ही मिल जाता है।

विजयकुमार, अब तुम विचार करके देखो, हरिनाम का आभास भी सब सत्कर्मों से श्रेष्ठ है; क्योंकि सत्कर्ममात्र ही उपाय स्वरूप होकर अपने उद्दिष्ट फल को देकर निरस्त हो जाते हैं। विशेष कर सत्कर्म चाहे जैसा और जिस प्रकार का हो, वह जड़मय है। किन्तु हरिनाम चिन्मय है। अतएव वह उपाय स्वरूप होकर भी फलकाल में स्वयं उपेय या लक्ष्य स्वरूप हो जाता है। और भी विचार करके देखो, भक्ति के जो सब अंग निर्दिष्ट हैं, वे सभी हरिनाम के आश्रित हैं।

विजय ने कहा—प्रभो, हरिनाम चिन्मय है, यह अच्छी तरह विश्वास होता है, परन्तु इस तत्त्व को निःसन्देह रूप से समझने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि अक्षर स्वरूप नाम किस तरह चिन्मय हो सकता है। कृपा करके यह बतलाइए।

बाबाजी ने कहा—शास्त्र कहता है—

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

कृष्णनाम चिन्तामणि-स्वरूप है, स्वयं चैतन्यरसविग्रह कृष्ण ही है। नाम पूर्ण, माया से अतीत, नित्य मुक्त है। कारण, नाम और नामी, दोनों अभिन्न हैं।

नाम और नामी दोनों परस्पर अभेद तत्त्व हैं। इसलिए, नामीरूप कृष्ण के संपूर्ण चिन्मय गुण उनके नाम में भी हैं। नाम सर्वदा परिपूर्ण तत्त्व है। हरिनाम में जड़ का स्पर्शमात्र नहीं है। नाम नित्य मुक्त है; क्योंकि वह कभी माया के गुणों से आबद्ध नहीं होता। नाम स्वयं कृष्ण हैं, अतएव वह चैतन्यरस का विग्रह-स्वरूप है। नाम चिन्तामणि-स्वरूप से जो जो कुछ चाहता है, उसे वही देने में समर्थ है।

विजय ने पूछा—नाम के अक्षर किस प्रकार मायिक शब्दों से अतीत या भिन्न हो सकते हैं?

बाबाजी ने कहा—जड़ जगत में हरिनाम का जन्म नहीं हुआ। चित्कणस्वरूप जीव शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होकर अपने चिन्मय शरीर से हरिनाम का उच्चारण करने का अधिकारी है। वह जगत में मायाबद्ध होकर जड़ इन्द्रिय के द्वारा विशुद्ध नाम का उच्चारण नहीं कर सकता। किन्तु ह्लादिनी की कृपा से जिस समय स्व स्वरूप की क्रिया होती है, तभी उसकी जिह्वापर नाम का उदय होता है। उस नाम का उदय होने से आत्मवृत्ति में शुद्ध नाम कृपापूर्वक अवतीर्ण होकर भक्त की भक्ति से पवित्र जिह्वापर नृत्य करता है। नाम अक्षराकृति नहीं है। वह केवल जड़ जिह्वापर नृत्य करने के समय अक्षराकार से प्रकाशित होता है। यही हरि नाम का रहस्य है।

श्री १०८ परमहंस महाराज का एक भाषण

पूज्यपाद श्रीधर स्वामी और मायावाद

आदि विष्णुस्वामी

सांप्रदायिक इतिहास पढ़ने से और खोज करने से यह जाना जाता है कि विष्णुस्वामी संप्रदाय बहुत प्राचीन है। विष्णुस्वामी संप्रदाय के प्रथम पर्याय में हम 'श्रीदेवतनु' विष्णुस्वामी का नाम देख पाते हैं। प्रथम पर्याय के विष्णुस्वामियों में श्रीनृसिंह भगवान की उपासना-प्रणाली की बात ही इतिहास में वर्णन की गई है। श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं—उस समय भारत में विष्णुस्वामियों के बीच गोपाल की उपासना ही प्रचलित थी। 'सर्वदर्शनसंग्रह'—प्रणेता सायनमाधव ने रसेश्वर दर्शन के बीच विष्णुस्वामी का बहुत साधारण ही उल्लेख किया है। उसमें उन्होंने विष्णुस्वामी को नृसिंहदेव का उपासक ही बतलाया है। "वल्लभ दिग्विजय" तथा अन्यान्य सांप्रदायिक इतिहास-ग्रन्थों से ही जाना जाता है कि विष्णुस्वामी सम्प्रदायानुयायी लोग दश नामी और अष्टोत्तर-शत-नामी त्रिदण्डी वैष्णव-संन्यासी थे।

विष्णुस्वामी, का नाम देख पाते हैं। उन्होंने द्वारकापुरी में श्रीरणछोरजी की मूर्ति स्थापित की थी। वल्लभाचार्य के अनुगत व्यक्तिगण ने परवर्ती समय में आन्ध्र विष्णुस्वामी के अभ्युदय का उल्लेख किया है।

मध्ययुग का विष्णुस्वामी-संप्रदाय–श्रीधरस्वामिपाद

मध्यवर्ती समय में श्री विष्णु स्वामी संप्रदाय के अनुगत श्रीधर स्वामी को बाहर से मर्यादा मार्ग में नृसिंहदेव का उपासक ही हम जान पाते हैं। किन्तु श्रीकृष्ण की उपासना का भाव भी उनके हृदय में प्रबल था।

श्रीधर स्वामी के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा और उसका निवारण

किसी किसी के मत से श्रीधर स्वामी केवलाद्वैतवादी थे श्रीवल्लभाचार्य का मत भी यही है। लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले "दीपिका दीपन" ग्रन्थ के लेखक ने उस समय मथुरा वृन्दावन आदि स्थानों में श्रीवल्लभीय विचारों की प्रबलता और संग के फल से श्रीधर स्वामी को "केवलाद्वैतवादी" समझा था। किन्तु नाभादास-लिखित भक्तमाल ग्रंथ तथा अन्यान्य सांप्रदायिक इतिहास ग्रंथ एवं श्रीधर स्वामी की उक्तियों और विचारों का सूक्ष्म दृष्टि और निरपेक्ष भाव से अध्ययन करने पर उनके विषय में उक्त धारणा के विपरीत भाव ही प्रमाणित होता है।

श्रीधर स्वामी मायावादी नहीं हैं

प्रथम प्रमाण

श्रीधर स्वामी कदापि केवलाद्वैतवादी नहीं हो सकते। वह शुद्धाद्वैतवादी थे। शुद्धाद्वैतवाद के मत से वस्तु का अंश जीव है, वस्तु की शक्ति माया है, वस्तु का कार्य जगत है। इस कारण जीव माया और मायिक जगत सभी 'वस्तु' शब्दवाच्य हैं। भागवत में १।१।२ श्लोक के "वेद्यं वास्तव मत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्" इस चरण की टीका में श्रीधर स्वामी ने कहा है—"वास्तवशब्देन वस्तुनोंऽशो जीवो, वस्तुनः शक्तिर्माया च, वस्तुनः कार्यं जगच्च तत्सर्वं वस्त्वेव, न ततः पृथक्।" इस वाक्य के द्वारा उन्होंने पूर्वोक्त मत का ही समर्थन किया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि वह कभी केवलाद्वैतवादी नहीं थे। निर्विशेष केवलाद्वैतवादी कभी जीव की वास्तव सत्ता, तत्त्ववस्तु अर्थात ब्रह्म की शक्ति और वस्तु के कार्य को स्वीकार नहीं करते। केवलाद्वैतवादी माया को अवस्तु वस्तु को निर्विशेष, जीव और ब्रह्म को त्रिविधभेदहीन, जगत् को असत्य और जैव ज्ञान के विवर्त से उत्पन्न तात्कालिकी अनुभूति को मिथ्या ही है।

द्वितीय प्रमाण

श्रीधर स्वामी ने श्रीमद्भागवत की निज रचित भावार्थ-दीपिका टीका में अन्य किसी आचार्य का उल्लेख न करके केवल श्रीविष्णु स्वामी के नाम का ही उल्लेख किया है। श्रीमद्भागवत के १।७।६ श्लोक की टीका में उन्होंने लिखा है—"तदुक्तं विष्णुस्वामिना ह्लादिन्यो संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः। स्वाविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः॥ तथा—स ईशो यद्वशे माया स जीवो यस्तयार्दितः। स्वाविर्भूतपरानन्दः स्वाविर्भूतसुदुःखभूः॥ स्वादृगुत्थ-विपर्यास भवभेदजभीशुचः। यन्मायया जुषन्नास्ते तमिमं नृहरिं नुमः॥" इसी तरह भागवत के ३।१२।२ श्लोक की टीका में लिखा है "श्रीविष्णुस्वामिप्रोक्ता वा।" इत्यादि श्रीविष्णुस्वामी के वाक्यों के उल्लेख द्वारा यही प्रमाणित होता है कि श्रीधर स्वामी विष्णुस्वामी के अनुगत और ह्लादिनीसंविदाश्लिष्ट सच्चिदानन्द मायाधीश श्रीनृसिंहदेव के उपासक शुद्धाद्वैतवादी ही थे।

तृतीय प्रमाण

नाभादासजी के श्रीभक्तमाल ग्रंथ से जाना जाता है कि विष्णुस्वामी के शिष्य परमानन्द स्वामी थे। परम्परा के क्रम से यह परमानन्दस्वामी ही श्रीधरस्वामी के गुरु थे। श्रीधरस्वामी ने श्रीभागवत की टीका के प्रारंभ में मंगलाचरण में "यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्", इस श्लोक में भगवान से अभिन्न अपने गुरुदेव की ही वन्दना की है।

चतुर्थ प्रमाण

मायावादी लोग पञ्चोपासना का अवलंबन करके नृपञ्चास्य के बदले पञ्चोपास्य में से एक उपास्य रुद्र की उपासना स्वीकार करके अन्त को निर्विशेष प्राप्ति को ही "साध्य" मानते हैं। किन्तु श्रीधरस्वामी ने भागवत की टीका में जो मंगलाचरण किया है, उससे स्पष्ट ही जान पड़ता है कि उन्होंने इस प्रकार का निर्विशेष मायावादियों का विचार ग्रहण न करके श्रीरुद्रसंप्रदाय को माननेवाले के रूप में परमधाम, जगद्धाम, दशमतत्त्व आश्रिताश्रा विग्रह श्रीकृष्ण और श्रीनारायण के विलास विग्रह सदाशिव की परस्पर आलिंगित विग्रह के रूप में वन्दना की है। यथा—

माधवं माधव [illegible] ।
वन्दे [illegible] ॥

पञ्चम प्रमाण

उक्त मंगलाचरण के प्रथमश्लोक में भी "तं नृसिंहमहं भजे" इस वाक्य के द्वारा यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि श्रीधरस्वामी श्रीनृसिंहदेव के उपासक थे।

षष्ठ प्रमाण

श्रीधर के गुरुभाई का नाम लक्ष्मीधरस्वामी था। यह लक्ष्मीधर "श्रीनामकौमुदी" नामक ग्रन्थ के लेखक हैं। श्रीधरस्वामी ने भी श्रीनाम के अप्राकृत तत्त्व और नित्यत्व के विषय में अनेक श्लोकों की रचना की है। श्रीश्रीरूपपाद ने "पद्यावली" ग्रंथ में उनमें से अधिकांश श्लोकों का संग्रह किया है। इन सब श्लोकों की आलोचना करने से भी देख पड़ता है कि श्रीधर स्वामी कदापि निर्विशेष-केवलाद्वैतवादी या मायावादी नहीं हो सकते। कारण, निर्विशेष केवलाद्वैतवादी लोग कभी श्रीभगवान के साथ उनके नाम, रूप, गुण और लीला का अभेद तथा इनका चिन्मय और नित्य होना नहीं स्वीकार करते। सायनमाधव का सर्वेश्वरदर्शन पढ़ने से जाना जाता है कि श्रीविष्णु स्वामी ने श्रीनृसिंहदेव के नित्य अभिन्न नाम-रूप आदि स्वीकार किए हैं। अतएव श्रीधर स्वामी के विष्णुस्वामी मतावलम्बी शुद्धाद्वैतवादी त्रिदण्डी वैष्णव यती होने में कुछ भी सन्देह नहीं।

सप्तम प्रमाण

श्रीधर स्वामी यदि केवलाद्वैतवादी अथवा मायावादी होते तो श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव श्रीवल्लभ भट्टजी को शासन करके श्रीधर स्वामी को "जगद्गुरु" न स्वीकार करते और श्रीधर स्वामी के अनुगत होकर भागवत की व्याख्या करने के लिए आचार्य और जगत के जीवों को शिक्षा न देते। श्रीधर स्वामी यदि केवलाद्वैतवादी होते तो श्री श्रीगोस्वामिपाद भी उन्हें भक्त्येकरक्षक की आख्या न देते। श्रीमन्महाप्रभु, श्रीजीवप्रभु और अन्य वैष्णवाचार्यगण ने निर्विशेष मायावादियों को "भक्ति की रक्षा करनेवाला" कहने के बदले "भक्ति का सर्वनाश करनेवाला" ही कहा है। वैष्णव आचार्यों के किसी भी ग्रंथ को पढ़ने सुनने से इस बात के यथेष्ट प्रमाण प्राप्त हो सकते हैं।

भागवत-कीर्तन-सन्देश

श्री विश्ववैष्णव राजसभा के वर्तमान मुख्याधिष्ठाता परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य श्री १०८ श्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती गोस्वामी महाराज पृथिवी में सर्वत्र श्रीचैतन्यमहाप्रभु की वाणी का प्रचार कर के जीवों के हृदय में सनातनधर्म की विजय पताका फिर से फहरा रहे हैं। संपूर्ण विश्व की सभी समस्याओं का संपूर्ण रूप से समाधान और चेतन स्वाराज्य के संस्थापन की एकमात्र सीमा एकमात्र सार्वकालिक भागवत-सेवा के प्रभाव से ही प्राप्त हो सकती है। यह सनातन वाणी श्रीगोस्वामी महाराज ने अपने आचार में अच्छी तरह सार्थक कर दिखाई है। आज बहुत से शिक्षित, पण्डित, ज्ञानी, धनी, मानी ऊँचे घरानों के लोग तथा सर्वसाधारण जन श्रीचैतन्य देव के निज जन श्रीगोस्वामी महाराज की निष्कपट भागवत-सेवा की पताका के तले आश्रय लेकर मानव-जीवन के चरम फल का पता पा रहे हैं।

परमहंस महाराज ने भारत के भिन्न भिन्न स्थानों में भागवत-कीर्तन सेवा के केन्द्र स्थापित किए हैं। श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव-स्थल श्रीधाम मायापुर में मूल मठराज श्री चैतन्यमठ, श्रीनैमिषारण्य में श्रीपरमहंस मठ, श्रीधाम प्रयाग में श्रीरूपगौड़ीयमठ, श्रीधाम वृन्दावन में श्रीकृष्णचैतन्यमठ, श्रीकुरुक्षेत्र में श्रीव्यास गौड़ीयमठ, दिल्ली में श्रीगौड़ीयमठ-कार्यालय, मद्रास में श्रीगौड़ीयमठ, श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्र में श्रीपुरुषोत्तममठ, कटक में श्रीसच्चिदानन्द-मठ, अलालनाथ में श्री ब्रह्मगौड़ीयमठ, श्रीधाम नवद्वीप के भिन्न-भिन्न द्वीपों में विभिन्न मठ, कलकत्ता में श्रीगौड़ीयमठ तथा पूर्वबंग और भारत के अन्यान्य स्थानों में अन्य अनेक मठ स्थापित करके वहाँ सार्वजनिक भगवत्सेवापरायण जीवन बितानेवाले ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियों को रक्खा है। श्रीश्रीपरमहंस गोस्वामी महाराज के अनुग त्रिदण्डी संन्यासीगण भारत के विभिन्न देशों और गाँवों में परिव्राजक-वेश से घूमघूमकर श्री चैतन्य देव की वाणी का प्रचार

करते हुए, श्रीगुरु गौरांग की इच्छा को पूर्ण करते हुए, विश्व के जीवों का निष्कपट, आत्यन्तिक नित्य मंगल कर रहे हैं।



परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य
ॐ विष्णुपाद श्री १०८ श्रीमद्भक्तिसिद्धांत
सरस्वती गोस्वामी महाराज

इस भीषण जड़वाद की बाढ़ के युग में परमहंस गोस्वामी महाराज ही अदम्य उत्साह से सार्वकालिक भागवत-सेवा-धर्मका अहैतुक भाव से प्रचार कर रहे हैं। विभिन्न भाषाओं में सामयिक पत्रों का प्रकाशन भक्तिग्रंथों की रचना, व्याख्यान, कीर्तन, उपदेश आदि का भुवनमण्डल भर में प्रचार करते हुए भूमण्डल भर में पर्यटन कर रहे हैं। अँगरेज़ी और संस्कृत-भाषा में "हार्मोनिस्ट और सज्जनतोषिणी" नाम के मासिक पत्र, बँगला में साप्ताहिक "गौड़ीय" नाम का पत्र एवं दैनिक "नदियाप्रकाश" पत्र पहले बहुत से विपथ-गामी लोगों को सत्यपथ में ले आए हैं।

परमहंस महाराज ने सुकुमार-मति बालकों की प्रवृत्ति जिसमें बाल्यकाल ही से भगवत्सेवा की ओर हो और विद्यालय में शिक्षा पाए हुए बालक तथा सत्य की खोज करनेवाले आदमी भागवत पाठ के यथार्थ अधिकारी हों, इसलिए श्रीधाम मायापुर में "भक्तिविनोद इंस्टीट्यूट", श्रीनैमिषारण्य में "श्रीभागवत-पाठशाला" और श्रीचैतन्य-मठ के सारस्वत-तीर्थ के परविद्या पीठ में "अधिद्याहरण-वेदविद्यालय" स्थापित किया है। इन सब स्थानों में बहुत से शिक्षार्थी भगवत-सेवक आचारवान आदर्शचरित्र सुयोग्य अध्यापकों की देखरेख में रहकर अपनी अपनी योग्यता के अनुसार मंगल के मार्ग में प्रविष्ट होते हैं। लुप्त तीर्थों का उद्धार, लुप्त ग्रंथों का प्रकाशन, विभिन्न स्थानों में भक्ति तथा भगवत्स्मृति को उद्दीप्त करनेवाले उत्सवादि के उपलक्ष में भगवत्कथा-प्रचार का विपुल आयोजन, पारमार्थिक प्रदर्शिनियों का उद्घाटन करके भागवत सिद्धान्त के निगूढ़ तात्पर्य और तत्त्वों के सर्वसाधारण में सरल भाव से प्रकाशन और प्रचार, पारमार्थिक सम्मेलनों को करना, भगवत्क्षेत्र आदि में हरि कथा कीर्तन और प्रचार करते हुए रहना, भगवान की लीलाओं के स्थान आदि की परिक्रमा, कृष्ण के लिए सार्वकालिक अखिल चेष्टा आदि जीवों के लिए मंगलकारक कार्यों के द्वारा समाज में सनातन धर्म के स्रोत को आपने पूर्ण रूप से पुनः प्रवाहित किया है। श्रीमद्भागवत का प्रथम अधिवेशन श्रीबदरिकाश्रम के शम्याप्रास स्थान में हुआ था, जब श्रीव्यासदेव ने श्रीनारद के निकट ब्रह्म-नारायण-संवाद सुनकर वही वैदिक सन्देश अपने पुत्र श्रीशुकदेवजी से वर्णन किया था। व्यासदेव ने जब शुकदेव को श्रीमद्भागवत का उपदेश किया था, वही उसका द्वितीय अधिवेशन "शुकरतल" में हुआ था। उसका तीसरा अधिवेशन नैमिषारण्य में हुआ था, जब परमहंस-मुकुट-मणि श्रीश्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज के श्रीमुख से सुनी हुई भागवत-कथा को श्रीसूत गोस्वामी महाराज ने श्रीशौनकादि ऋषियों के आगे कीर्तन किया था। श्रीमद्भागवत का चतुर्थ अधिवेशन गौड़-मण्डल, क्षेत्र-मण्डल और व्रजमण्डल में, हुआ था, जब नन्दनन्दन से अभिन्न श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने वही वैदिक भागवतवाणी सर्व साधारण ऊँच-नीच सबको सुनाई थी। पंचम अधिवेशन फिर उसी श्रीगौड़मण्डल, क्षेत्रमण्डल और व्रजमण्डल में, जब श्रीश्रीनिवासाचार्य,

श्रीश्रीनरोत्तम और श्रीश्रीश्यामानन्द प्रभुओं ने भागवत कथा का प्रचार किया था। छठा अधिवेशन फिर आत्मनिवेदन-क्षेत्र श्रीधाम मायापुर में हुआ. जब ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीभक्तिविनोद प्रभु की मनोभिलाषा के अनुसार परमहंस परिव्राजकाचार्य ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद ने पृथ्वी में सर्वत्र भागवतवाणी का प्रचार करके भागवत का निखिल विश्व अधिवेशन प्रकट किया।

श्रीश्रीपरमहंस गोस्वामी महाराज ने कलकत्ते में श्री गौड़ीय मठ का वार्षिक भागवत महोत्सव और सत शिक्षा प्रदर्शनी सुसम्पन्न करके श्रीकाशीधाम में श्रीसनातन गौड़ीय मठ का कीर्तन महोत्सव पूर्ण किया श्रीकाशीधाम के निवासी सज्जनों ने परमहंस श्रीगोस्वामी महाराज के शुभ विजय से नई प्रेरणा और नई चेतना पाई। काशीधाम में काशीनरेश के ज़िन्टपैलेस में रहकर परमहंस महाराज ने बहुत से काशीवासी पंडितों और ऊँचे घरानों के आदमियों को भागवत का उपदेश किया। श्रीसनातन गौड़ीयमठ में श्रीसनातन शिक्षा के सम्बन्ध में आपने कीर्तन भी किया और बंगाली टोला के अँगरेज़ी हाई स्कूल के विशाल आँगन में एक भारी सभा के बीच "सनातन धर्म" विषय पर वैदिक गवेषणा से पूर्ण एक सुन्दर वक्तृता भी दी। परमहंस गोस्वामी महाराज के शिष्य मद्रास के गौड़ीय मठ के मठरक्षक, "भागवत" पत्र के संपादक त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्ति हृदयवन और गोस्वामी महाराज के शिष्य "गौड़ीय" पत्र के संपादक श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद बी० ए० महाशय ने भी गुरुजी महाराज की वाणी का कीर्तन किया। इसके बाद परमहंस गोस्वामी महाराज ने श्रीप्रयागधाम पधारकर वहाँ के श्रीरूप गौड़ीय मठ के महोत्सव में श्रीरूप शिक्षा का प्रचार किया। श्रीरूप गोस्वामी के शिक्षास्थल प्रयाग क्षेत्र में श्रीरूप गोस्वामी के अनुगतवर्य श्रीगोस्वामी महाराज ने "वास्तव सत्य क्या है ?" इस विषय पर भाषण किया। त्रिदंडी स्वामी श्रीमद्भक्तिविवेक भारती महाराज, त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्ति हृदयवन और गौड़ीय-संपादक श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद आदि गोस्वामी महाराज के उपयुक्त शिष्यों ने भी श्रीगुरुजी महाराज की कृपा से "श्रीरूप-शिक्षा" के सम्बन्ध में कुछ कहा।

प्रयाग-प्रवासी परम भागवत उदार-हृदय गुरु-वैष्णव सेवा परायण श्रीयुक्त गणेशचन्द्र देव महोदय ने प्रयागधाम में श्रीरूपगौड़ीय मठ के लिए सुविस्तृत भूमि दान करके जगत के परम बान्धव का काम किया है।

परमहंस महाराज के सुयोग्य शिष्य गौड़ीय संपादक, संघपति श्रीविश्ववैष्णव राजसभा के अन्यतम मंत्री श्रीपाद अतुलचंद्र गोस्वामी भक्तिसारङ्ग, श्रीचैतन्यमठ के अन्यतम ट्रस्टी भागवत विद्याभूषण श्रीमद् अनन्त वासुदेव प्रभुजी, श्रीविश्ववैष्णव राजसभा के अन्यतम मंत्री अध्यापक-प्रवर श्रीयुत निशिकान्त सन्याल भक्तिसुधाकर भक्तिशास्त्री एम० ए० "भागवत" संपादक, श्रीयुक्त सखीचरणराय भक्तिविजय और अन्यान्य भक्तवृन्द ने श्रीसनातन गौड़ीयमठ और श्रीरूप गौड़ीयमठ के कीर्तन-महोत्सव में श्रीगुरुगौरांग की मनोभिलाषा के प्रचार में विपुल प्रयत्न के साथ सेवा की।

श्रीश्रीपरमहंस गोस्वामी महाराज श्रीप्रयागधाम से नैमिषारण्य जाते समय रास्ते में लखनऊ निवासी भक्तवर श्रीयुक्त अधोक्षजदासाधिकारी महाशय के सेवा के आग्रह की अधिकता से गत ३१ अक्टोबर, १९३१ को लखनऊ में उतर पड़े। श्रीपरमहंस गोस्वामी महाराज ने पटियाला-भवन में रहकर लखनऊ वासी बहुत से पण्डितों और सत्य की जिज्ञासा रखनेवाले व्यक्तियों के आगे हरिकथा का कीर्तन किया। श्रीचैतन्य मनोभीष्ट के संस्थापक श्रीश्रीगोस्वामी महाराज के अभीष्ट और प्रेरणा के अनुसार उनके सुयोग्य सेवापरायण शिष्यवर आदर्श भक्त गृहस्थ श्रीयुत अधोक्षजदासाधिकारीजी ने "भागवत" नामक इस हिन्दी पाक्षिक पत्र के परिपालन की सेवा का भार आग्रह के साथ ग्रहण करके समग्र वैष्णव जगत में अकृत्रिम सेवा का आदर्श उपस्थित किया है। हम लोग अधोक्षज प्रभु की उस अधोक्षज गुरु पादपद्म-मनोऽभीष्ट सेवा-प्रवृत्ति को कोटि कंठ से अभिनन्दित करते हैं।

भागवत पत्र के संपादक ने गत ४ नवम्बर (१९३१ई०) को लखनऊ विश्वविद्यालय की छात्रमंडली के अनुरोध से "मानव जीवन धर्म में कार्य-कारिता" विषय पर उक्त विश्वविद्यालय भवन में एक गवेषणापूर्ण भाषण किया।

श्रीश्रीपरमहंस महाराज के हरिकीर्तन का संक्षिप्त सारांश लखनऊ के पुराने अँगरेज़ी दैनिक पत्र इंडियन डेली टेलीग्राफ़ में प्रकाशित हो रहा है। काशीधाम के "टुडे", "आज", "सूर्य" आदि संवादपत्रों में और प्रयाग के "लीडर", "पायोनियर" आदि पत्रों में भी प्रकाशित हुआ है।

८ और ९ नवंबर (१९३१ ई०) रविवार और सोम-

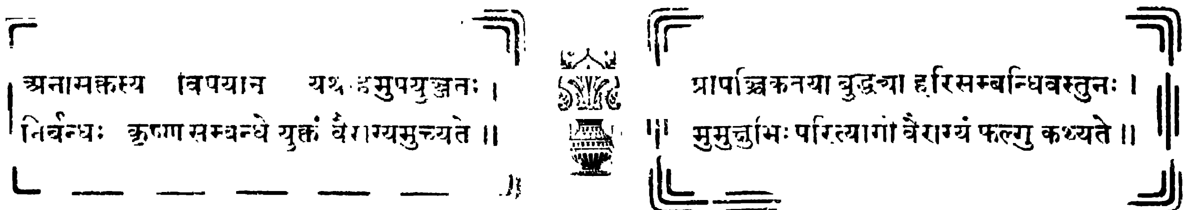
वार को श्रीनैमिषारण्य के श्रीपरमहंस मठ का वार्षिक महोत्सव होगा। इस उपलक्ष में श्री श्रीपरमहंस गोस्वामी महाराज वहाँ शुभ विजय पारमहंस्यी संहिता श्रीमद्भागवत की कथा का कीर्तन करते हैं। इस देश के रहनेवाले लोग इस उत्सव में बन्धु-बान्धवों सहित सम्मिलित हों, इस सुदुर्लभ सुयोग को हाथ से जाने न दें।

त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिविवेक भारती महाराज, त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिसर्वस्व गिरि महाराज श्रीश्री अनन्त वासुदेव परविद्याभूषण और श्रीपाद अतुलचन्द्र बन्द्योपाध्याय, भक्तिसारंग, गोस्वामी भक्तिशास्त्री महोदय ने शिमला शैल और भोजीराज्य में हरि-कथा का प्रचार किया है।

श्रीश्रीपरमहंस गोस्वामी महाराज पार्षदगण सहित भागवत वाणी का प्रचार करते करते नैमिषारण्य का उत्सव समाप्त करने के उपरान्त, भागवत के द्वितीय अधिवेशन के स्थान "शुकरतला" नामक स्थान का दर्शन करते हुए, मथुरा मण्डल में श्रीवृन्दावन परिक्रमा में विश्ववासी को प्रमोदित करेंगे ऐसी कृपा वाणी उन्होंने प्रकाशित की है।

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा



आचार्य—ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामीजी महाराज

उद्देश्य—(१) कलियुगपावनावतार श्रीश्रीचैतन्यदेव के आचरित और प्रचारित विशुद्ध वैष्णवधर्म का अनुष्ठान तथा प्रचार और इसके द्वारा वर्तमान वैष्णवधर्मनामसे जो अनेक उपधर्म निकले हैं, उनका खण्डन। (२) सर्वत्र मठ आदिकी स्थापना करके सनातनधर्म-शास्त्र की अध्ययन अध्यापन व्यवस्था। (३) जिन लोगों ने सर्वस्व श्रीभगवान को अर्पण किया है, ऐसे आचारवान साधुओं को भेजकर गृहस्थों के घर घर में श्रीहरिनाम का प्रचार, शास्त्रग्रंथ-पाठ तथा विचार। (४) सनातन धर्म शास्त्र का प्रकाशन तथा अल्प भिक्षा लेकर उनका प्रचार (श्रीमद्भागवत, गीता चैतन्य चरितामृत, षट्सन्दर्भ, वेदान्त दर्शन आदि ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं)। (५) लुप्त तीर्थों का उद्धार। (६) श्रीधाम-परिक्रमा आदि तत्तदङ्ग साधन में अधिकार और सुयोगप्रदान। (७) भिन्न भिन्न स्थानों में, विभिन्न मठों में दीर्घकालस्थायी उत्सव आदि के द्वारा सब देशों के लोगों में हरिसेवा वृत्ति का उन्मेष। (८) यथा-समय श्रीहरिगुरु वैष्णव के अप्रकटोत्सव आदि विविध भक्ति का अनुष्ठान।

निषिद्धाचार—कुसङ्गका त्याग ही वैष्णवाचार है। यह सभा इसका काय मन वाक्य द्वारा पालन करते हुए जीव को इसकी शिक्षा प्रदान कर रही है। श्रीभगवान उनके भक्त तथा भक्ति ही एकमात्र सद्वस्तु हैं, अन्य सब पदार्थ ही असत् या परिवर्तनशील हैं। स्त्री में भोगबुद्धि, अवैधस्त्रीसङ्ग, प्राणिहिंसा, मादकसेवन तथा लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति की चेष्टा और कामना पूर्णरूप से निषिद्ध है।

जीव में दया, भगवन्नाम में रुचि, वैष्णवसेवा—जीव अनादि काल से त्रिताप से तापित हो रहे हैं। वृक्ष के मूल की रक्षा करते हुए शाखा काट देने से जैसे बार-बार नयी-नयी शाखाओं की उत्पत्ति होती है, उसी तरह जीव के त्रितापजनित क्लेश के मूल कारण का ध्वंस न करके यदि क्लेश के नाश करने की चेष्टा की जाय तो उससे थोड़े दिन के लिये क्लेश का ह्रास तो हो जाता है, परन्तु समूल क्लेश

का नाश नहीं होता। बल्कि बार बार नये क्लेशों का उद्भव होता है। अतः जिससे जीव के क्लेश का समूल नाश हो, यह सभा उसी की व्यवस्था कर रही है।

आशा का समाचार - यह सभा अपने आचार्य-देहधारी और पवित्रता सम्पादनकारी श्रीगुरुदेव की मौजूदगी का शुभ समाचार जगत में प्रचार करती है - जिनकी वास्तव कृपा भक्ति के सब मार्गों से प्रवाहित होती है, जो वेदज्ञ और अनन्त ध्यान में रत होने के कारण सब जीवों के अज्ञान नेत्रों के अन्धकार को ज्ञानरूपी शलाका से हटा कर शुद्ध कृष्णभक्तिरूप अञ्जन से उनको पवित्र करते हैं और भविष्य व्याधि के आक्रमण की निवृत्ति करके जीवों को श्रीकृष्ण के श्रीधाम के समीप पहुँचा देते हैं।

सभा के द्वारा प्रचारित श्रीमायापुर-नवद्वीप धाम से "नदिया-प्रकाश" नामक दैनिक "श्रीसज्जनतोषणी" वा "हारमोनिष्ट" नामक मासिक पत्र में अंगरेजी और संस्कृत भाषा द्वारा शुद्ध भागवत धर्म का प्रचार, तथा "गौड़ीय" (बङ्गला) साप्ताहिक तथा "भागवत" (हिंदी) पाक्षिक पत्र में वैष्णव धर्म्म का प्रचार कीर्त्तन किया जाता है।

निवेदन

सनातन धर्म भारतवर्ष में आदिकाल से प्रचलित है। काल के प्रभाव से इसके पालन में त्रुटि आ जाने के कारण सर्व-साधारण में इसके प्रति जब उदासीनता दिखलाई देने लगती है, तब उस उदासीनता या ग्लानि को दूर करने के लिए समय समय पर भगवान् अथवा उनकी शक्ति स्वरूप कोई महापुरुष मनुष्य जाति के कल्याणार्थ संसार में अवतीर्ण होते हैं।

सनातन धर्म की संस्थापना के अर्थ अनेक सहृदय धर्म-प्रचारक अनेकों उपायों से सदैव चेष्टा किया करते हैं। उनमें से बहुत से स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर की उन्नति के लिए प्रयास करते हैं। उनकी यह चेष्टा निस्सन्देह विशेष प्रसंशनीय है। परन्तु मानव-शरीर-संबन्धी यत्न स्थायी नहीं है, यह समझकर सनातन आत्मधर्म की कथाओं का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है। इसी उद्देश्य से भारत के प्रधान प्रधान सनातन-धर्म-प्रचार क्षेत्रों में [काशीजी, प्रयागराज, श्रीधाम वृन्दावन, श्री नैमिषारण्य, श्रीकुरुक्षेत्र, इन्द्रप्रस्थ (देहली) में] भगवत्-भजन करने के लिए मठ संस्थापित किये गये हैं। इन मठों का भगवद्विग्रह स्थान, नित्य सेवा और भागवत प्रचार संसार का अपार कल्याण करेंगे।

१—काशी मोक्षप्रदायिका सप्त पुरियों में प्रधान और विद्वानों के निवासस्थान का केन्द्र है। यहीं पर श्रीसनातन गोस्वामीजी के हृदय में धर्म के समस्त सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ था।

२—प्रयागराज सर्वतीर्थशिरोमणि है; क्योंकि यहाँ पर श्रीरूपगोस्वामीजी के हृदय में श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु भक्ति ने विज्ञान को चरम सीमा तक स्फुरित किया।

३—श्रीधाम वृन्दावन श्रीराधाकृष्ण की क्रीड़ास्थली तथा मानव जातीय काव्यालंकार का चिन्मय साहित्य है। भगवद्प्रेम के पूर्ण विकाश-स्थान इस वृन्दावन की उपलब्धि से मनुष्यों की सर्व सिद्धि होती है।

४—अश्रुतपूर्व वेद-व्याख्यानों से ऋषियों ने एक दिन जिस स्थान में लोकातीत विद्या में पारदर्शिता प्राप्त की थी, उसी नैमिष क्षेत्र की महिमा-किरण से समस्त जगत की सांसारिक प्रतीतिरूप असुविधानामक अन्धकार विदीर्ण हो जायगा। इस स्थान में एक स्थायी पाठशाला पूर्व गौरव के स्तम्भरूप में प्रतिष्ठित की जायगी।

५—जिस स्थान में भक्तराजों ने भजनीय उद्देश्य से रससाधन का आदर्श प्रदर्शित किया था और जिसे श्रीगौड़ीय वैष्णवों के उपास्य श्रीगौरसुन्दर ने अनुगत जनों के लिए प्रकाशित किया था, उसी कुरुक्षेत्रधाम में योगेश्वरी जगन्नाथजी का भवन, द्वैपायन सरोवर और लक्ष्मी-कुण्ड अवस्थित हैं। इस भजनोद्दीपक स्थान की स्मृति जीवों का नित्य कल्याण साधना करेगी।

६—इन्द्रप्रस्थ परब्रह्म पूर्णावतार भगवान कृष्णचन्द्र के आत्मीय पाण्डवों का स्थान तथा राजधानी थी और वर्तमान काल, में भी भारत की राजधानी है, जिसके कारण प्रान्त प्रान्त के मनुष्यों का समूह उपस्थित रहता है। अतः सर्व साधारण में सनातन भागवत-धर्म-प्रचार तथा भागवत-प्रेम अङ्कुरित करने की कामना से वहाँ श्रीगौड़ीय मठ के एक कार्यालय की स्थापना की गई है।

अन्त में हम भारतवासी सनातनधर्मावलंबियों से हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं आप लोग यथाशक्ति सब प्रकार से इस मंगलकार्य में अवश्य सहायता दें।

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नादिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नादिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का सङ्कीर्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नादिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की आराधनस्थली)
श्रीमायापुर, नादिया

(५) श्रीचाँद काज़ी की समाधि-पीठ
वामनपुर, नादिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुञ्ज
(श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर की समाधिस्थान)
स्वरूपगंज, नादिया

(७) श्रीगौरगदाधर मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, वर्द्धमान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(मोदद्रुम का नैमिषारण्य)
मामगाछी जाननगर, वर्द्धमान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नादिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर हाँसखाली, नादिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाज़ार, कलकत्ता

(१२) श्रीमध्व गौड़ीय मठ
नं० १० नवाबपुर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापुर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाड़ी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्द जी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० ४ जगतजीवनपुरा, काशी

(१८) श्रीरूप गौड़ीय मठ
नं० ८ म० माधव मलाक, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्ण चैतन्य मठ
श्रीनृसिंहदासकुञ्ज, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यास गौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, करनाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ-कार्यालय
नं० ५ गोपीभवन डाक्टर लेन, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
साथ गोपालपुरम कैथाड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटीपुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
चौड़ियाबाज़ार, कटक

(२५) श्रीब्रह्म गौड़ीय मठ
अलालनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) काटालपुली चाकदा, नादिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमला जोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबांध, वर्द्धमान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकंदा चाँदकुंडा, मानभूम

(३०) श्री भागवत जनानन्द मठ
मु० चिंगालपोता पो० वासुदेवपुर, जि० मेदनीपुर

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

1 श्री [illegible] =)
2 [illegible] ।)
3 [illegible] ≡।
4—[illegible] ॥)
5—[illegible] -)
6—[illegible] ।)

संस्कृत (बँगलाअक्षरों में)

1 [illegible] -)
2—[illegible] और [illegible] अनुवाद [illegible] २) [illegible] १।)
3 [illegible] -)
[illegible] ([illegible] में [illegible] १)
4—[illegible] -)
5—[illegible] और [illegible] ।=)
7—[illegible] बंगला अनुवाद [illegible] ॥)
8—[illegible] और बंगला अनुवाद सहित १)
9—[illegible] बंगला अनुवाद सहित -)
10—[illegible] बंगला अनुवाद सहित -)
11—श्रीमद्भागवत [illegible] अन्वय, अनुवाद और [illegible] और [illegible] सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक [illegible]
[illegible] स्कंध में प्रति [illegible] [illegible]
12—[illegible] -)

बंगभाषाग्रन्थ

13—[illegible] अनुवाद सहित =)
14—[illegible])
15 [illegible])
16 [illegible] =)
17—[illegible] ।)
18—[illegible] ।)
19 [illegible] -)
20 [illegible] ।)
21 [illegible] —।
22 [illegible] -)।
23 [illegible] ।
24 [illegible] ॥)
25 [illegible] -)
26 [illegible] ।
27 [illegible] ।।
28 [illegible] और [illegible] ।)
30—[illegible] ॥)
31 [illegible] ७)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti Vinode /-/
2. Namabhajan A Translation By Ban Maharaj /1/6
3. Vaishnavism Real and Apparent /1/
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/
5. The Bhagabata: Its Philosophy, Ethics and Theology /1/
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof. Sanyal /1/

Edited and Published by Swami Ban Maharaj, and Printed by B. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

वर्ष १]

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

[संख्या २

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

25th Nov. 1931

दामोदर
गौरपक्ष
गौराब्द
४४५

कार्त्तिकी
पूर्णिमा
संवत्
१९८८

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-
सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डी स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा —) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, १/२ ,,	३)
२ इंच ,, १/४ ,,	१॥)
१ ,, ,, १/८ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

६४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

प्रकाशक—त्रिदंडी स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष १ कार्त्तिक-पूर्णिमा, गौराब्द ४४५, सं० १९८८ वि०, २५ नवम्बर, स० १९३१ ई० संख्या २

नम्र निवेदन

दोहा

आकर इस संसार में भूला तुमको नाथ !
नानाविध पाई व्यथा शोक-दुःख के साथ ॥ १ ॥
आया हूँ तव श्रीचरण-सेवा में भगवान !
अपने दुःखों की कथा कहता हूँ धर ध्यान ॥ २ ॥
मातृगर्भ में जब रहा बँधकर बन्धन पाश।
तब दर्शन तुमने दिया किया मोह का नाश ॥ ३ ॥
फिर वंचित उससे किया दीन दास को हाय !
मैंने सोचा, जन्म ले भजन करूँगा जाय ॥ ४ ॥
जन्म हुआ, तब मैं पड़ा माया के भ्रमजाल।
ज्ञान तुम्हारा लेश भी रहा नहीं उस काल ॥ ५ ॥
स्वजनों ने सादर किया लालन-पालन नाथ !
मैंने समय बिता दिया हँसी-खुशी के साथ ॥ ६ ॥
मात-पिता के स्नेह में भूल गया तव भक्ति।
भला लगा संसार यह बढ़ी सतत अनुरक्ति ॥ ७ ॥
क्रम से बढ़कर बाल मैं बालकगण के संग !
लगा खेलने खेल बहु मन में बढ़ी उमंग ॥ ८ ॥
बीते कुछ दिन और, तब ज्ञान हुआ उत्पन्न।
पढ़ने-लिखने में लगा, हुआ बहुत व्युत्पन्न ॥ ९ ॥
विद्या का गौरव लिये घूमा देश-विदेश।
किया उपार्जन द्रव्य का हो एकाग्र विशेष ॥ १० ॥
स्वजनों का पालन किया, भूला तुमको नाथ !
अब पछताता हूँ प्रभो ! बड़े दुःख के साथ ॥ ११ ॥
वृद्ध हुआ व्याकुल महा रोता "भक्ति-विनोद"।
क्या करना था, क्या किया, महा मूढ़तामोद ! ॥ १२ ॥
भजन किया प्रभु का नहीं, आयु गई सब व्यर्थ।
अब क्या गति होगी अहो! हूँ सब विधि असमर्थ ॥ १३ ॥

वर्णाश्रम



मा



नव-सभ्यता के इतिहास में वर्णाश्रम धर्म का स्थान बहुत ऊँचा है। जीव भगवान् की सेवा से विमुख होने से ही संसार-चक्र में पड़ता है और भगवान् की सेवा में उन्मुख होने से ही उसे संसार से छुटकारा मिल जाता है। संसार में रहते समय उसे वर्णाश्रमधर्म का अवश्य पालन करना चाहिए, नहीं तो समाज में विश्रृंखला घटित होकर जगत् में अनेक अनर्थों की सृष्टि करती है। हाँ, जिनके संसार का क्षय हो गया है, उनके ऊपर इन सब विधियों को चलाना धृष्टता है। वे तो किसी के सामाजिक अधिकार को नष्ट करने का प्रयास नहीं करते, जिससे यह कहा जाय कि उनके द्वारा समाज में कोई विश्रृंखला उपस्थित होगी या व्यभिचार घटित होगा। उनकी अवस्था वर्णाश्रम से अतीत है, वे विधि-व्यवस्था से परे परमहंस हैं।

जो लोग अत्यन्त भगवद्विद्वेषी हैं, वे शास्त्रीय वर्णाश्रम धर्म का पालन न करके अन्त्यज अवस्था में अवस्थित रहकर अपवित्रता को ही अपनी वृत्ति जानते हैं। जो लोग भगवत्सेवा की उन्मुखता प्राप्त करना चाहते हैं, वे ही वर्णाश्रमी हैं। विष्णुपुराण में लिखा है—

> वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
> विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥

वर्णाश्रमाचार में अधिष्ठित रहकर विष्णु-सेवा करने से सर्वेश्वरेश्वर विष्णु प्रसन्न होते हैं। विष्णु की आराधना के सिवा हमारे मंगल का और उपाय नहीं है। वेद में कहा है—

> तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।

जिनकी यथार्थ में वेद से उज्ज्वल बुद्धि उत्पन्न हुई है, वे श्रीविष्णु की ही आराधना करते हैं। जहाँ शुद्ध भाव से विष्णु की सेवा नहीं है, वह वर्णाश्रम धर्म नहीं। श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत में श्रीश्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि पाद ने लिखा है—

> जो वर्णाश्रम धर्म-रत भजैं कृष्ण को नाहिं।
> ते स्वकर्म करते परैं रौरव नरकहि माहिं॥

यह कहकर उन्होंने श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध के पंचम अध्याय से उद्धृत किया है—

> मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
> चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥
> य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
> न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥

गुणों के विचार से जो चार वर्ण और चार आश्रम उत्पन्न हुए थे, उन में से यदि कोई साक्षात् भाव से हरि-भजन न करे तो वह अधःपतित होता है, अपने वर्णधर्म और आश्रमधर्म की रक्षा न कर सकने के कारण आचार से भ्रष्ट हो पड़ता है।

हाय, हाय, दुःख की बात यही है कि आज इस सभ्यता के चरम दान विशुद्ध वर्णाश्रम-धर्म को गवाँ कर, केवल अन्तःसारशून्य व्यर्थ नाम-वर्ण का परिचय देने में मिथ्या अभिमान करके देशवासियों ने असामाजिक दल की सृष्टि की है। श्रीगीताशास्त्र में भगवान् ने जो—

> "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।"

यह आदेश किया है, उसका उल्लंघन करके अपने हाथ से मृत वर्णाश्रम-धर्म के शव के ऊपर पैशाचिक नृत्य करते हुए लोग आस्फालन करते हैं कि वे ही वर्णाश्रम-धर्म के ठेकेदार हैं।

आज इस वर्णाश्रम धर्म के दुर्दिन में प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य का क्या यह कर्तव्य नहीं है कि जिससे शास्त्रोक्त वर्णाश्रम-धर्म की फिर अच्छी तरह स्थापना हो, वही यत्न प्राणपण से करे? आज कई शताब्दियों से वर्णाश्रम-धर्म के कंकाल के ऊपर जो प्रेत खड़ा होकर अपने को वर्णाश्रम कह कर अपना परिचय दे रहा है, उसको हटाकर उस कंकाल को संजीवन-मन्त्र से फिर जिलाना होगा। उस प्रेत के आस्फालन को सुनकर डरने से वर्णाश्रम की स्थापना न होगी।

भागवत-श्रवण



'भागवत' शब्द का अर्थ है 'भगवान् का'। भगवतः इदं भागवतम्। भागवत कहने से भगवत्सम्बन्धी ग्रंथ और भगवद्भक्त या भगवान् के जन, दोनों का बोध होता है। जिस ग्रन्थरत्न में श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला और परिकर-वैशिष्ट्य की सम्यक् आलोचना हुई है, उसी का नाम भागवत है। और जो सज्जन अनन्य चिन्ता तथा अनन्य चेष्टा के साथ श्रीभगवान् की सेवा में संपूर्ण रूप से अपने को लगाकर निरन्तर श्रीभागवत ग्रन्थ के रसामृत का पान करते हैं, वही भागवत या भगवान् के भक्तजन हैं। दोनों ही भागवत (ग्रन्थ और जन) तदीय तत्त्व, तत्त्व-वस्तु स्वयं श्रीभगवान् से अभिन्न हैं।

श्रीश्रीमहाप्रभु चैतन्यदेव के श्रीमुख से निकला हुआ उपदेश यह है कि "वैष्णव जन के स्थान में सुनो भागवत जाय।" अवैष्णव के निकट भागवत का श्रवण करने से भागवत के सुनने का फल नहीं होता। उलटे अवैष्णव जन के जो विचार हैं, वे हमारे हृदय में प्रवेश करने का अधिकार पाते हैं। तब हम भगवान् के दास नहीं हो सकते, किन्तु अवैष्णव के अनुगत होने के कारण मायावादी विषयी जन हो जाते हैं। हमारी दुर्दशा की सीमा नहीं रहती।

•श्रीमद्भागवत भगवद्भक्ति का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र-शिरोमणि है। भागवत-रसामृत-पान से तृप्त पुरुष के सिवा और कोई इस शास्त्र का मर्म क्या समझ सकेगा? इसीसे श्रीभक्तिरसामृत के सागर इस ग्रन्थराज में श्रीपाद रूप गोस्वामी प्रभु ने चौंसठ भक्ति के अंगों में रसिक जनों के साथ भागवत के श्रवण को भी भक्ति के साधन का उपाय कहा है। आजकल रसिक कहने से हम समझते हैं कि जो लोग अश्लील होकर नायक-नायिका के परस्पर व्यवहार के विषय में बात-चीत करने में अत्यन्त आनन्द पाते हैं, जो लोग सभ्य समाज के शिष्टाचार का उल्लंघन करके वाक्य या लेखनी के द्वारा अपने-अपने कामज भाव को प्रकट करके उसके द्वारा श्रोता या पाठक के मन में उसी भाव को जगाने का प्रयास करते हैं, वे ही रसिक हैं। वे ही आज हमारे इस अधः पतन के युग में रसिक कहलाते हैं। आजकल से यहाँ हमारा मतलब दस-पाँच वर्ष से नहीं है। आज दो-ढाई सौ वर्षों से समाज की ऐसी ही मानसिक स्थिति हो रही है। प्राचीन काल में श्रीश्रीराधाकृष्ण की लीला-कथाओं की आलोचना केवल उनके श्रेष्ठ भक्तजन ही किया करते थे। साधारण शिक्षित भद्र पुरुष, उसमें प्रवेश करने का अधिकार न पाकर, दांभिकतावश उसके आधार-गृहरूप ग्रन्थ या ग्रन्थांशों के द्वार को असंगतरूप से बलपूर्वक खोलकर या तोड़फोड़कर विकृत भाव से रसास्वादन का प्रयास नहीं करते थे। श्रीरास-पञ्चाध्यायी, श्रीगीतगोविन्द अथवा विद्यापति, चंडीदास आदि भक्त-कवियों के रस के खजाने को— ग्रन्थ-भाण्डार को लूटने का किसी ने असंगत और अनुचित साहस नहीं दिखलाया।

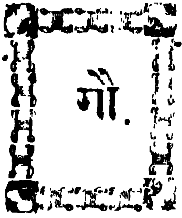
इन भाण्डारों की रस-राशि के आस्वादन की योग्यता होना एक बहुत ही उच्च कोटि का अधिकार है। सबको वह अधिकार न होने के कारण रस-चर्चा अत्यन्त गूढ़ थी— विरल थी। साधारण लोगों की उपासना में रस का प्रादुर्भाव नहीं था। जिन सब रस-शास्त्रों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनमें उज्ज्वल रस का वर्णन है— निर्मल रस का विलास है। वह उज्ज्वल निर्मल रस अप्राकृत है, अर्थात् प्रकृति-राज्य से अतीत तत्त्व है। जैसा कि कहा है—

"प्राकृत-गोचर है नहीं अप्राकृत जो वस्तु।"

हमारे प्राकृत इन्द्रिय, प्राकृत मन, बुद्धि और अहंकार का आधिपत्य जब तक बना हुआ है, तब तक उस अप्राकृत रस की उपलब्धि नहीं हो सकती। अलिफ़-लैला (आरब्य उपन्यास) की कहानी में जैसे एक शाहज़ादे ने घोड़े के ऊपर चढ़ने के निषेध को न मानकर निषिद्ध भवन को खोलकर पंखवाले घोड़े को देख पाया था और उसका अयथा व्यवहार करके अपने दुर्भाग्य को आप बुलाया था, ठीक उसी तरह अनधिकारी का उक्त अप्राकृतिक रस-भाण्डार में हस्तक्षेप भी उसके और हमारे लिए दुर्भाग्य ही का लक्षण है।

श्रीबलदेव विद्याभूषण

[जीवनी]



गौड़ देश (बंगदेश) के पड़ोसी उत्कल देश (उड़ीसा) के किसी ग्राम में गौड़ीय वैष्णव-संप्रदाय के वेदान्ताचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषणजी का जन्म हुआ था।

श्रीबलदेव ने जिस कुल में जन्म लिया था, वह शुक्र-सम्बन्ध से ब्राह्मण-कुल नहीं था। बाद को दीक्षा लेने के फल से उन्होंने गायत्री दीक्षा का संस्कार ग्रहण किया था। तभी से वह सदाचार-सम्पन्न ब्राह्मण कहकर प्रसिद्ध हुए। उड़ीसे की खेती से जीविका करनेवाली खंडाइत-जाति में उनका जन्म हुआ था। क्रमशः उस जाति के अनेक व्यक्ति तब से यज्ञोपवीत ग्रहण करने लगे हैं।

आज से लगभग दो सौ वर्ष पहले बलदेवजी का जन्म हुआ था। 'स्तवावली' की टीका में एक श्लोक है, जिसमें १६८६ शकाब्द का उल्लेख पाया जाता है। इस समय वह सयाने हो चुके थे और बहुत से ग्रंथों को लिखकर जगत् में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

उनके अनेक गुणों पर विचार करने से हम जिस ऐतिहासिक सत्य की उपलब्धि करते हैं, वह संक्षेप में यह है— श्रीराधादामोदरदास नाम के एक कान्यकुब्ज वैष्णव ब्राह्मण से उन्होंने श्रीवैष्णव-धर्म की दीक्षा ली थी। यह कान्यकुब्ज ब्राह्मण श्रीनयनानन्द गोस्वामीजी के शिष्य थे। श्रीनयनानन्द गोस्वामीजी श्रीरसिकानन्द प्रभु के पुत्र और श्रीश्यामानन्द प्रभु के शिष्य थे। श्रीश्यामानन्द प्रभु श्रीजीवगोस्वामी के शिष्य थे। श्रीजीव प्रभु श्रीरूपगोस्वामी प्रभु के शिष्य थे और श्रीरूप प्रभु श्रीसनातनगोस्वामी के शिष्य थे। श्रीसनातनप्रभु के आराध्यदेव श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव थे। उधर श्रीश्यामानन्द प्रभु ने पहले श्रीहृदयचैतन्यजी के निकट अनुग्रह प्राप्त किया था। श्रीहृदयचैतन्यजी श्रीगौरीदास पण्डित के शिष्य थे। श्रीगौरीदासजी श्रीनित्यानन्दप्रभु के अनुगत थे।

श्रीबलदेव विद्याभूषणजी श्रीकृष्णदेव सार्वभौम को अपना अत्यन्त अनुगत जानते थे। श्रीकृष्णदेवजी श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के मंत्रशिष्य थे। इन श्रीकृष्णदेव के शिष्य श्रीवृन्दावनचन्द्र चक्रवर्ती ने १७०२ शकाब्द में 'श्रीगोविन्द-लीलामृत' ग्रन्थ की टीका की थी। श्रीबलदेवजी श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के निकट प्रायः श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों की आलोचना किया करते थे। श्रीबलदेव के शिष्य श्रीउद्धवदास (किसी किसी के मत से इनका नाम श्रीउद्धवदास नहीं था। अस्तु, नाम चाहे जो रहा हो) ने श्रीमधुसूदनदास पर अनुग्रह किया था। श्रीमधुसूदनदास के ही शिष्य श्रीजगन्नाथदास थे, जो "सिद्ध जगन्नाथदास" नाम से कुछ दिन पहले श्रीगौड़मण्डल और श्रीमथुरा-मण्डल में एक श्रेष्ठ वैष्णव हुए हैं।

पहले ही कहा जा चुका है कि श्रीबलदेव ने अनेक ग्रंथों की रचना की है। उन्होंने 'प्रमेय-रत्नावली' नाम का एक छोटा सा ग्रंथ बनाया है। श्रीकृष्णदेव ने उसकी एक संस्कृत-टीका लिखी है। उनके गुरु श्रीराधादामोदरदास 'वेदान्त-स्यमन्तक' ग्रन्थ के प्रणेता हैं। वेदान्ताचार्य श्रीबलदेवजी ने श्रीगोविन्द-भाष्य के नाम से वेदान्त-सूत्रों का भाष्य किया है। श्रीगोविन्द-भाष्य की उन्होंने स्वयं एक टीका भी लिखी है। इसके सिवा 'सिद्धान्त-रत्न' नाम के एक भाष्यपीठ की भी उन्होंने रचना की है। यह ग्रन्थ यद्यपि बहुत बड़ा नहीं है, परन्तु वैसा छोटा भी नहीं। इसके सिवा श्रीबलदेव-रचित साहित्य-कौमुदी नाम का और एक अलंकार-ग्रन्थ कई वर्ष पहले बंबई के सुप्रसिद्ध निर्णय-सागर प्रेस में छपा है। उनका बनाया 'व्याकरण-कौमुदी' नाम का एक संस्कृत-व्याकरण का ग्रंथ अभी तक छपा नहीं है। श्रीवृन्दावन में श्रीराधारमण-घेरा के रहनेवाले श्रीयुत पंडित राधाचरण विद्यावागीश महाशय के पास उसकी एक हस्तलिखित प्रति मौजूद है। श्रीबलदेव ने 'तत्त्व-सन्दर्भ' ग्रंथ की भी एक टीका लिखी है। 'ईशावास्योपनिषत्' पर एक भाष्य भी उन्होंने लिखा है। किम्वदन्ती है कि उन्होंने अन्यान्य उपनिषदों के भी भाष्यों की रचना की थी। उनके रचित 'गीता-भाष्य' का बंगाली वैष्णवों में बड़ा आदर है। उनकी ही बनाई टीका के साथ उनकी रचना 'स्तवावली' छप गई है। श्रीजयदेव कविराज के 'चन्द्रालोक'-नामक अलंकार ग्रंथ की भी एक टीका श्रीबलदेवजी ने की है। श्रीरूपगोस्वामी के 'नाटक-चन्द्रिका' ग्रंथ की भी एक टीका उन्होंने लिखी है।

बंगाल का वैष्णव समाज इन वेदान्ताचार्य श्रीबलदेवजी का बहुत ही ऋणी है। वह जीवन के अंतिम भाग में भी श्रीधाम वृन्दावन में श्रीश्यामसुन्दरजी के मन्दिर में निवास करते थे।

जिस समय श्रीरामानुजी मत के वैष्णवों ने जयपुर में श्रीगोविन्ददेव के मन्दिर पर अधिकार करके बंगाली वैष्णवों के अधिकार घटाने या अपहरण करने का प्रयास किया था, उस समय श्रीबलदेवजी ने ही, श्रीचक्रवर्ती आदि प्रमुख वृन्दावनवासी प्राचीन वैष्णवों की अनुमति से जयपुर जाकर श्रीरामानुज-मतावलंबियों को गोविन्द-भाष्य के विचार में पराजित किया था। वहीं जयपुर में रहकर उन्होंने अपने गोविन्द-भाष्य की रचना की। इसके पहले श्रीवृन्दावन में स्थित श्रीगोविन्ददेव के मन्दिर पर बादशाह औरंगज़ेब आक्रमण कर चुका था, जिससे उस समय श्रीविग्रह और श्रीमधु पण्डित के स्थापित श्रीगोपीनाथजी की मूर्ति को हटाकर जयपुर भेज दिया गया था। तब से उक्त दोनों मूर्तियाँ जयपुर में ही विराजमान हैं। सुना जाता है, वहाँ के ग्रंथागार में श्रीबलदेव पंडित के लिखे हुए सभी ग्रंथ अब तक सुरक्षित हैं।

श्रीबलदेव विद्याभूषणजी के प्रति आधुनिक नव्य भक्ताभिमानी कुछ लोग प्रतिकूल मत रखते हैं, और इसका कारण उनका शास्त्र-ज्ञान का अभाव ही है। श्रीबलदेवजी ने सत्-संप्रदाय की रक्षा के लिए बहुत कुछ किया है। उनके 'श्रीविष्णुसहस्रनाम-भाष्य' को आज भी बंगाली वैष्णव-समाज आदर के साथ पढ़ता है।





अनेक लोग कहा करते हैं कि "नाम लेने या जपने में विचार विवेक की क्या आवश्यकता है? चाहे जिस तरह हो, नाम ग्रहण करना ही यथेष्ट है। जो भगवान् का नाम लेता है, उसके भीतर चाहे कुछ भी क्यों न रहे, या उसका आचरण चाहे कैसा ही क्यों न हो, उसे नाम-ग्रहण का फल क्यों न होगा?" किन्तु शास्त्र कहता है (श्रीचैतन्य चरितामृत, आदि ८ प०)—

दोहा

कृष्ण नाम अपराध का करता सदा विचार।
अपराधी को कृष्ण कह होता नहीं विकार॥
सर्वपापनाशक समझ कृष्ण नाम बस एक।
प्रेम-विवश करता प्रकट भक्ति भक्त-उर नेक॥
कृष्ण नाम का जो करे उच्चारण बहु बार।
तो भी यदि नहिं प्रेम हो, बहे न आँसू-धार॥
तो जानो अपराध बहु उसमें भरा, न छीज।
इससे उगता है नहीं कृष्ण नाम का बीज॥

नामापराध, नामाभास और नाम, ये तीनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। नामापराध कभी नाम नहीं और व्यवधान-रहित नाम होने से हेला या श्रद्धा से उसका उच्चारण करने से भी फल होता है। किन्तु अनेक लोगों की धारणा है कि नामापराध ही नाम है। नामापराध रात्रि के अन्धकार के समान है, नामाभास अरुणोदय के समान है और शुद्ध नाम निर्मल सूर्य के समान है। नामापराध के द्वारा सांसारिक मंगल हो सकता है; किन्तु जब तक नाम का उदय नहीं होता, तब तक किसी तरह भगवत्प्रेम नहीं होगा।

बाहरी बनावटी आँसू और पुलक ही कृष्ण-प्रेम के लक्षण नहीं हैं। श्रीश्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने श्रीमद्भागवत के "तदश्मसारं हृदयं बतेदं" (२।३।२४) श्लोक की टीका में कहा है—"बहिरश्रुपुलकयोः सतोरपि यत् हृदयं न विक्रियते तदश्मसार मिति। कनिष्ठाधिकारिणामेव अश्रुपुलकादिमत्त्वेऽपि अश्मसारहृदयतया निन्द्यैपा।" इस का अर्थ यही है कि बाहर अश्रु-पुलक दिखाई देने पर भी जिसका हृदय श्रीभगवान् की सेवा या प्रीति के लिए व्याकुल न हो, वह पाषाण के समान कठिन है। वास्तव में अश्रु-पुलक ही सच्ची भक्ति या प्रेम का लक्षण नहीं है। कनिष्ठ अधिकारियों के, अर्थात् अधोक्षज श्रीभगवान में और अधोक्षज-भक्त में जिनकी प्राकृत बुद्धि दूर नहीं हुई, उनके अश्रु पुलक आदि होने पर भी उनमें अधोक्षज-सेवा की वृत्ति न होने के कारण इस तरह के बाह्य अश्रु-पुलकादि निन्दनीय हैं।

श्रीश्रीरूपगोस्वामी प्रभु जी ने भी लिखा है—

निसर्ग-पिच्छिलस्वान्ते तदभ्यासपरेऽपि च।
सत्वाभासं विनाऽपि स्युः काप्यश्रुपुलकादयः॥

अर्थात् जीव के निसर्गवश पिच्छिल और कृत्रिम अभ्यास से युक्त अपने अन्तःकरण में जो सब अश्रु-पुलक आदि चेष्टा होती हैं, वे सत्त्वाभास अर्थात् सात्त्विक भावों का उदय हुए विना भी केवल रजोगुण और तमोगुण के आश्रय से हो सकती हैं। ऐसी चेष्टाएँ वास्तविक भाव-भक्तजन के शुद्ध सत्त्व-विकार का लक्षण नहीं हैं। वे प्राकृत नश्वर काम चेष्टामय इन्द्रिय-तृप्ति-मूलक क्रिया या भावाभासमात्र हैं। नामाभास से जड़ मुक्ति होती है। नामाभास नामोदय की पूर्वावस्था है, जैसे अरुणोदय सूर्योदय की पूर्वावस्था है। यही बात चै० च० अन्त्य ३ य में यों लिखी है—

चौपाई

कहते हैं सब शास्त्र-प्रणेता।
नामाभास मुक्ति को देता॥
श्रीभागवत अजामिल-कथा।
साक्षी है इसकी सर्वथा॥
कह हरिदास—यथा सूर्योदय
होते-होते हो तम का क्षय,
चोर-प्रेत-राक्षस-भय सारा
मिट जाता है शीघ्र हमारा
सूर्योदय हो फिर आकाश
धर्म-कर्म का करे प्रकाश

दोहा

नामोदय-आरंभ में मिटें उसी विधि पाप।
कृष्ण-चरण-रति हो पुनः नाम-उदय-सुप्रताप॥
मिलता नामाभास से तुच्छ मुक्ति का क्षेम।
भक्त मुक्ति चाहें नहीं, उन्हें इष्ट है प्रेम॥

नामाभास में कोई अपराध नहीं है। किन्तु शुद्ध नाम या नामी के साथ उस समय भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। सम्बन्ध-ज्ञान-युक्त निरपराध होने पर नाम से कृष्ण-प्रेम का उदय होता है। वही यथार्थ शुद्ध नाम है। नामाभास के द्वारा मुक्ति होने पर जीव जड़ बन्धन से मुक्त होकर स्वरूप में अवस्थित होता है और स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके वह स्वरूप का कार्य भगवद्दास्य-रूप अभिधेय भक्ति अथवा सेवा याजन करता रहता है। इस सेवोन्मुख वृत्ति के उदय में ही यथार्थ नाम का उदय होता है। तभी नाम के चिन्मय स्वरूप का दर्शन और नामोच्चारण करते ही प्रेम होता है। अधोक्षज भगवान् की सेवा में उन्मुखता का अभाव रहने पर भी श्रीभगवान् का नाम-ग्रहण नहीं होता। जो होता है, वह इन्द्रियवादियों की विमुख चेष्टा या नामापराध है। जैसा कि श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में लिखा है—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

अर्थात् इसलिये श्रीकृष्ण के नाम आदि इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होते। जब मनुष्य सेवा के लिए उन्मुख होता है तब आप ही वह उसकी जिह्वा में स्फुरित हुआ करता है।

श्रीकृष्ण भगवान् के नाम, रूप, गुण और लीला एक ही वस्तु की विभिन्न स्फूर्तियाँ हैं। ये श्रीकृष्ण नाम आदि प्राकृत इन्द्रिय (यथा जिह्वा, कर्ण, चक्षु आदि) का ग्राह्य विषय नहीं हैं। जीव जब भगवत्सेवा में उन्मुख होता है, तब उस के हृदय में उदित नाम आदि आप ही से जिह्वा आदि इन्द्रियों में स्फूर्ति पाकर बाह्य जगत् में प्रकट होते हैं। ये अधोक्षज भगवान् के अभिन्नतनु श्रीनाम का अवरोहवाद स्वीकार करते हैं। श्रीनाम प्राकृत जगत् की वस्तु नहीं है। चिन्मय वस्तु जब सेवोन्मुख चिदात्मा में उन्मेषित होती है, तभी वह बाहरी जगत् में इन्द्रिय आदि की सहायता से प्रकट होती है। यथा—

हृदय से कहे, जिह्वा के आगे चले,
शब्द रूप से नाचे हर घड़ी।

इसी लिए अधोक्षज-सेवापरायण साधुओं के मुख से निकले हुए नाम का श्रवण करते ही प्राकृत नाम का उदय हुआ करता है। नहीं तो इन्द्रियज्ञानमत्त साधुनामधारी असाधु व्यक्तियों के मुख से सुने हुए नाम के अक्षर यथार्थ नाम नहीं हैं। कारण, वे अन्याभिलाषी या भुक्ति-मुक्ति सिद्धिकामी होते हैं। वे अधोक्षज-सेवा-विमुख होते हैं, इस कारण नाम उनकी भुक्ति मुक्ति-स्पृहा-सिद्धि का उपाय-स्वरूप है, अधोक्षज सेवा-लाभ का उपाय या उपेय नहीं। वे आरोहवादी हैं, सुतरां उनकी नाम में अक्षर-बुद्धि, श्रीविग्रह में काठ-पत्थर की बुद्धि और शालग्राम में शिला-बुद्धि होती है। श्रीगौर-पार्षद श्रीजगदानन्द प्रभु ने 'प्रेम-विवर्त' ग्रन्थ में लिखा है—

असाधु-संग में भाई, कृष्णनाम नहीं होता।
नामाक्षर निकलते हैं, कृष्णनाम नहीं होता ॥

नाम के अक्षर उच्चारित होने पर भी वह प्रकृत नाम नहीं है। अतएव जिन के मुख से शुद्ध नाम उच्चारित होता है, वही यथार्थ साधु या वैष्णव हैं। वही सम्मान के योग्य हैं। उन्हीं के मुख से नाम का श्रवण करना चाहिए। जैसा कि श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीचैतन्यचरितामृत (मध्य १५ प०) में वैष्णव के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है—

एक कृष्ण का नाम पाप सारे क्षय करता।
पूर्ण भक्ति नवविधा नाम जन के मन भरता॥
क्षय करता संसार आनुषंगिक उसका फल।
चित्त खींचकर करे कृष्ण प्रेमोदय अविकल ॥
जिसके मुख से एक भी कृष्ण नाम निकले कभी।
वही प्रकृत वैष्णव, सदा उसका मान करो सभी ॥

अतएव शुद्ध-नाम-भजन-परायण व्यक्ति ही वैष्णव है। नाम के छल से नामापर-भजन-परायण व्यक्ति कभी शुद्ध वैष्णव नहीं है। उसके मुख से नाम-मन्त्रादि के सुनने का निषेध है। जैसा कि 'हरि-भक्ति-विलास' ग्रंथ में लिखा है—

अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत्।
पुनश्च विधिना सम्यग् ग्राहयेद्वैष्णवाद् गुरोः ॥

अवैष्णव से मन्त्रोपदेश लेनेवाला नरक को जाता है। फिर विधि-पूर्वक वैष्णव गुरु से अच्छी तरह विधिपूर्वक शुद्ध नाम का ग्रहण करना चाहिए। और भी लिखा है—

अवैष्णवमुखोद्गीर्णं पूतं हरिकथाऽमृतम्।
श्रवणं नैव कर्तव्यं सर्पोच्छिष्टं यथा पयः ॥

हरिकथा वास्तव में अमृत-स्वरूप है। किन्तु यदि वह अवैष्णव के मुख से निकली हुई हो तो उसे नहीं सुनना चाहिए। जैसे साँप के जूठे दूध को प्राण हरनेवाला जानकर कोई नहीं पीता। अतएव शुद्ध नामभजन-परायण वैष्णव के ही चरणकमलों की सेवा नित्य करनी चाहिए।

श्री १०८ परमहंस महाराज का एक भाषण

त्रियुग-धर्म और कृष्ण-नाम का कीर्तन



लोग श्रीभगवान् के श्री नाम का अनन्यभाव से आश्रय ग्रहण किए हुए हैं और श्री नाम के आश्रय के सिवा अन्य साधन-प्रणाली पर आस्था नहीं रखते, उसके प्रति उदासीन हैं, उन्हें नमस्कार है।

चारों युगों के विभिन्न अभिधेय

परमहंस-कुल-शिरोमणि श्रीशुकदेवजी ने (भागवत १२ स्कन्ध, ३ अध्याय, ५२ श्लोक में) कहा है—

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

अर्थात् सत्ययुग में विष्णुभगवान् का ध्यान करने से, त्रेतायुग में यज्ञों द्वारा भजन करने से और द्वापरयुग में प्रतिमा की परिचर्या या पूजा करने से जो फल होता है, वही कलियुग में हरिनाम के कीर्तन से मिल जाता है।

सत्ययुग का ध्यान कलिकाल में असंभव है; अधोक्षज के ध्यान का विचार

वर्तमानकाल कलियुग है। इस काल में ध्यान का मार्ग रुँध गया है। लोगों की चित्त-वृत्ति सदैव अस्तव्यस्त रहती है, अतएव इस युग में विष्णु का ध्यान करना संभव नहीं। हम लोग प्रायः विष्णु भगवान् का ध्यान करते समय इन्द्रियों की तृप्ति के साधनरूप विषय का ही चिन्तन करते हैं। अतएव अधोक्षज भगवान् के ध्यान की सम्भावना बहुत ही कम है। ध्यान-प्रणाली आरंभ करने के पहले ही हम लोगों को यह विचार करना आवश्यक है कि कौन

ध्यान कर रहा है, किसका ध्यान कर रहा है और वह ध्यान क्या वस्तु है ? ध्येय वस्तु का वास्तव सत्य वस्तु होना आवश्यक है, ध्यान करनेवाले की वास्तव नित्य सत्ता का रहना आवश्यक है और ध्यान-क्रिया का भी निरवच्छिन्न तैल-धारा के समान अप्रतिहत गति से युक्त होना आवश्यक है। नहीं तो यथार्थ ध्यान नहीं हो सकता।

कलिकाल में विक्षिप्त मन से ध्यान करना असंभव है

वर्तमानकाल में विक्षिप्त या अस्तव्यस्त चित्त-वृत्ति से—कलि-कल्मष-पूर्ण हृदय से ध्यान करने पर ध्येय वस्तु सर्वदा अपने रूप को बदलती है। जिन सब विषयों को हम अपनी जड़ इन्द्रियों के द्वारा देखते हैं, उन्हीं का हम ध्यान करते हैं। हमारे जड़ेन्द्रिय-ग्राह्य सब विषय ही हमारे ध्यान की वस्तु होते हैं, नित्य वास्तव, अधोक्षज सत्य वस्तु हमारे ध्यान के गोचर नहीं होती। सत्ययुग में वास्तव सत्य वस्तु ध्यान का विषय होती थी; किन्तु वर्तमानकाल में इस विवाद के युग में सत्य बहुत कुछ तिरोहित हो गया है, छिप गया है। अतएव सत्य की साधन प्रणाली कलियुग के विक्षिप्त चित्त के लिए कार्यकरी अथवा सफल नहीं होती। विक्षिप्त अर्थात् एकाग्रतारहित मन के द्वारा प्रकृत ध्येय वस्तु का ध्यान नहीं होता—अन्य वस्तु का ध्यान आ जाता है। हम लोग कर्ममार्ग के पथिक-सूत्र से जिन सब विषयों का ध्यान करते हैं, उनका ध्यान करने से हमारी कर्म-प्रवृत्ति और भी बढ़ जायगी। कलिकाल में हमारी योग्यता के न होने से, निष्पाप निर्मल एकाग्र चित्त न होने से ध्यान क्रिया का होना असंभव है।

त्रेतायुग—यज्ञेश्वर का यजन

त्रेतायुग में विष्णु का यजन यज्ञ के द्वारा होता था। त्रेतायुग के अनुशीलन का विषय 'मख' या 'यज्ञ' है। यज्ञ कार्य में ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्गाता और होता, इन चार प्रकार के पुरुषों की और समिध, आज्य, अग्नि आदि यज्ञ-सामग्री की आवश्यकता होती है। त्रेतायुग में असुर कुल ने यज्ञ-विधि के प्रति पहले उतना आक्रमण नहीं किया; बाद को ऐसा समय आकर उपस्थित हुआ, जब अनेक प्रकार से यज्ञ-कर्म पर आक्रमण होने लगे।

यज्ञेश्वर का यजन छोड़कर क्रमशः इतर देवतों की उपासना का आरंभ

त्रेतायुग में सब की अपेक्षा बुद्धिमान् लोग यज्ञ के द्वारा सर्वयज्ञेश्वर, सर्वयज्ञभोक्ता विष्णु की ही आराधना करते थे और यज्ञेश्वर की अवशिष्ट सामग्री से अन्य देवतों को तृप्त करते थे। अन्यान्य लोग यज्ञ के द्वारा पितृगण और देवगण की आराधना करते थे। क्रमशः इतर लोकगण यज्ञेश्वर की आराधना न करके इतर देवगण को भी विष्णु के समान पर्याय में गिनने लगे।

चार्वाक का नास्तिक मत

चार्वाक-ब्राह्मण आदि व्यक्तिगण पितृयज्ञ में बाधा डालने को अग्रसर हुए। चार्वाक-ब्राह्मण ने कहा —"धूर्त प्रतारकगण ने ही पितृश्राद्ध आदि की व्यवस्था करके और राजाओं को यज्ञ-याग आदि में प्रवृत्त कराकर उनसे बहुत सा धन लेने और उस धन से अपने परिवार का प्रतिपालन करने के लिए ही यह उपाय निकाला है। ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में जिस पशु का वध किया जाता है, उसका स्वर्गवास यदि सत्य है और इस प्रकार के वाक्यों पर यदि यज्ञ करनेवालों को संपूर्ण विश्वास है, तो फिर वे यज्ञ में अपने पिता-माता आदि का सिर काटकर उनकी बलि क्यों नहीं देते ? ऐसा करने से तो माता-पिता आदि को स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है और उन्हें भी पिता-माता के स्वर्गलाभ के लिए श्राद्ध आदि करने का वृथा कष्ट न भोगना पड़े ? फिर श्राद्ध करने ही से यदि मृत व्यक्ति तृप्त हो जाता है, तो किसी व्यक्ति के विदेश जाने पर उसको रास्ते में खाने पीने के लिए पाथेय देने की क्या आवश्यकता है ? घर में ही उसकी तृप्ति के लिए किसी ब्राह्मण को भोजन करा देने से वह तृप्त हो सकता है। और यदि इस पृथ्वी पर श्राद्ध करने से स्वर्ग-स्थित व्यक्ति तृप्त हो जाता है तो फिर नीचे आँगन में श्राद्ध करने से महल के ऊपर स्थित व्यक्ति क्यों नहीं तृप्त होता ? जिसके द्वारा कुछ ही ऊपर बैठा हुआ आदमी तृप्त नहीं हो सकता, उसके द्वारा अत्यन्त उच्च स्थान स्वर्ग में स्थित व्यक्ति कैसे तृप्त होगा ? अतएव पितृश्राद्ध आदि सब केवल धूर्तों की उप-जीविका का बहाना हैं। वास्तव में इनके द्वारा कोई भी फल नहीं प्राप्त होता। इत्यादि।"

द्वापर-युग में विष्णु की पूजा

जब त्रेतायुग में यज्ञकार्य के विधानपर आक्रमण होने लगे, तब द्वापर का प्रवृत्तिकाल था, अर्थात् द्वापर का आरंभ होनेवाला था और त्रेतायुग समाप्त हो चला था। तब अर्चन या पूजा के द्वारा विष्णु की आराधना करने की व्यवस्था की गई। विष्णु की आराधना में पशुबध उद्दिष्ट नहीं होता। उषा, वायु, सूर्य आदि इन्द्रिय-तर्पण के समय इन्द्रिय-ग्राह्य देवगण

आदि अथवा पितृकुल की पूजाप्रणाली—जिसने त्रेतायुग में विशेष प्रधानता प्राप्त की थी वही द्वापर में परिवर्तित होकर विष्णु की परिचर्या (पूजा सेवा) में परिणत होगई, अर्थात् उसने विष्णु-पूजा का रूप धारण कर लिया। सात्वत भक्तगण जिस भाव से सर्वेश्वरेश्वर भगवान विष्णु की आराधना करते थे, वही विष्णु की परिचर्या-प्रणाली है। यज्ञेश्वर विष्णु के सिवा सूर्य, चन्द्र, वायु, वरुण आदि इन्द्रियज्ञानगम्य नाना देवतों की परिचर्या आदि असात्वत संप्रदाय में प्रचलित हो गई।

कलिकाल में परिचर्या के विघ्न

द्वापर के अन्त और कलियुग के प्रारंभ में बौद्ध, जैन आदि संप्रदायों ने भी देवता, पितर और विष्णु की उपासना में व्याघात डाला था। किन्तु सभी समय अनादि बहिर्मुख जीवगण ने सात्वत भक्तों की विष्णु-परिचर्या-प्रणाली को विकृत करने की चेष्टा की है। विष्णु-पूजा को उपलक्ष्य करके देवल संप्रदाय की भी सृष्टि हुई। ये सब देवल-संप्रदाय विष्णु-पूजा का छल करके पेट भरने के काम में लग गए—विष्णुपूजा के बदले जीभ और पेट की पूजा करने लगे—सेवा के बदले भोग में लिप्त हुए। कलियुग में द्वापर की विष्णु पूजा होने के बदले उदर पूजा, स्त्री-पुत्र की सेवा अथवा देह की सेवा होते देखकर सात्वत भक्तगण अन्य व्यवस्था करने के लिए बाध्य हुए।

कलियुग का धर्म या हरिभजन-प्रणाली

श्रीमदाचार्य आनन्दतीर्थ पूर्णप्रज्ञ मध्व मुनि ने स्वकृत मुण्डकोपनिषद् के भाष्य में श्रीनारायण-संहिता के इस सात्वत-वचन को प्रमाणरूप से उद्धृत करके कहा है—

द्वापरीयैर्जनैर्विष्णुः पञ्चरात्रैस्तु केवलैः।
कलौ तु नाममात्रेण पूज्यते भगवान् हरिः॥

द्वापरयुग के अधिवासियों ने केवलमात्र पंचरात्रोक्त विधान के अनुसार विष्णु की अर्चना की है; किन्तु वर्तमान कलियुग में केवलमात्र श्रीनामरूपी भगवान् हरि की पूजा की जाती है।

कलिकाल में अर्चना का व्यभिचार

द्वापरयुग की विष्णु-परिचर्या-प्रणाली के व्यभिचार का प्रभाव वर्तमान काल में भी आकर पड़ा है। द्वापर के सात्वत भक्तगण की विष्णुपरिचर्या से टक्कर लेने के लिए जैसी अवान्तर पूजा प्रणाली प्रचलित हुई थी और विष्णु-पूजा के बदले जैसी उदर-पूजा शुरू हुई थी, उसी का अवशिष्ट निदर्शन वर्तमान काल में विद्यमान है। इस समय विष्णु पूजा के बदले इन्द्रियज्ञानगम्य नानाविध देव-देवियों की पूजा-रूप देवल-वृत्ति प्रचलित है। इस समय श्रीनारायण-पूजा के बदले "शालग्राम शिला से बादाम तोड़ने' का कार्य विना किसी बाधा के बराबर चल रहा है! बाह्य अर्चना-प्रणाली सीखकर जीविका-निर्वाह का एक उपाय निकाल लिया गया है। उसके द्वारा स्त्री पुत्र का प्रतिपालन और नानाविध भोगों का उपभोग किया जाता है।

(असमाप्त)

आसुरी प्रवृत्ति

कलिकाल में हम में से कोई-कोई विष्णुभक्ति से रहित होकर आसुरी प्रवृत्ति का परिचय दिया करते हैं। किन्तु उससे हमारा मंगल होना दूर रहे, हम श्रीविष्णु और वैष्णवों के चरणों में अपराधी हो पड़ते हैं। हमारी आसुरी प्रवृत्ति का आदर कभी सत्-समाज में नहीं हो सकता। साधु समाज जब हमारा अनादर करने लगेगा, तब हम अनुतप्त होकर आसुरी प्रवृत्ति से छुटकारा पावेंगे। वैष्णवों के चरणों में अपराधी होने पर असुर-स्वभाव-सम्पन्न होकर हम लोगों में से कोई-कोई अनेक प्रकार के अयथा उत्पातों का आवाहन करते हैं। हमारे असुर-स्वभाव के साथ सच्छास्त्र की बातों का मेल न खाने पर हम शास्त्र की निन्दा करते हैं, कभी कभी शास्त्र के प्रदर्शित सत्य का उल्लङ्घन करके महाभारत को फाड़ फेंकते हैं, साक्षात् भगवन्मूर्त्ति श्रीभागवत को कुछ नहीं समझते और इन सब शास्त्रों को कीचड़ में फेंक देने के लिए कहते हैं। ये ही हमको विष्णु-भक्ति से चिरकाल के लिए असुर-संप्रदाय में गिराते हैं। फिर शास्त्रोक्ति द्वारा हमारे असुर होने की बात प्रतिपादित होने पर हम आप ही आप असन्तुष्ट होते हैं। अब आइए देखें, हम देवता

भी हो सकते हैं और असुर भी बन सकते हैं या नहीं। विष्णु व वैष्णवगण में श्रद्धायुक्त होकर विष्णु और वैष्णवों की सेवा करने से ही हम वैष्णवों के दास देवता ब्राह्मण हो सकते हैं। और भागवत, महाभारत आदि का अपमान करने पर हम देवकुल में जन्मग्रहण करके भी, कश्यप की सन्तान होकर भी, हरि-विद्वेषपूर्वक कुपथ में, नरक में चले जाते हैं- विश्रवा ऋषि के पुत्र होकर भी सीता-हरण में हमारी प्रवृत्ति होती है। अघासुर, बकासुर, पूतना होकर हम कृष्ण में विद्वेष करते हैं। हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु होकर प्रधानता प्राप्त करने का यत्न करते हैं। जगाई, माधाई होकर ब्राह्मणकुल के भी कलङ्क बन जाते हैं, और नित्यानन्द हरिदास पर प्रहार करने जाकर पश्चात्ताप और फिर अपने रूप की उपलब्धि करते हैं। ये सब यज्ञ-भंग करनेवाली हमारी राक्षसी-प्रवृत्तियाँ अच्छी नहीं हैं। मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में १६२ और १६३ में ब्राह्मण के लिए लिखा है—

सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ॥
सुखं ह्यवमतः शेते सुखञ्च प्रतिबुध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥

विष्णुभक्त ब्राह्मण को सदा इन श्लोकों के भाव को ध्यान में रखना चाहिए। असुरों को विष्णु-वैष्णव निहत करते हैं। कलिकाल में विष्णुभक्ति बहुत ही विरल देखी जाती है। विष्णु-भक्ति के नाम से निर्बुद्धिता और आसुरिक प्रवृत्ति का पोषण कभी जीव के लिए मंगलप्रद नहीं होता। श्रीआचार्य श्रीरूपगोस्वामिपाद कहते हैं—

शाश्वतं श्रयत भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता ।

और श्रीसनातन गोस्वामिपाद कहते हैं—

गृहीतविष्णुदीक्षाको विष्णुपूजापरो नरः ।
वैष्णवोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरः स्यादवैष्णवः ॥

शास्त्र फिर कहता है—

न शूद्रा भगवद्भक्तास्तेऽपि भागवतोत्तमाः ।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्दने ॥

हम आसुरी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर यदि वैष्णवों से द्वेष या गुरु का अनादर करेंगे तो हमारा जन, धन और पाण्डित्य आदि सब वृथा है; वह सब शीघ्र ही विध्वंस को प्राप्त होगा। अतएव हमें आसुरी प्रवृत्ति का त्याग कर दैवी प्रवृत्ति ग्रहण करनी चाहिए। यही कल्याण का मार्ग है।



(१) प्रयागधाम में—

पहले यह निश्चित हुआ था कि ६ आक्टोबर, १६३१ (२२ आश्विन, शुक्रवार) को ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद, उत्तरपश्चिम प्रदेश में अधिकतर भाव से श्रीचैतन्य-वाणी के प्रचार तथा श्रीसनातन गौड़ीयमठ, श्रीरूपगौड़ीयमठ और दिल्ली के गौड़ीयमठ आदि के वार्षिक उत्सव की प्रेरणा देते हुए श्रीमद्भागवत के द्वितीय अधिवेशन के स्थान श्रीशुकदेव-परीक्षित्-संवाद-क्षेत्र 'शुकरतला' आदि स्थानों में भगवद्वाणी के पुनरुद्बोधन के लिए शुभ विजय करने के विचार से, कलकत्ते से पहले श्रीप्रयागधाम की यात्रा करेंगे। इसी समय खबर आई कि पेंशनयाफ्ता सिविल सर्जन डाक्टर श्रीसुरेशचन्द्र भट्टाचार्य महाशय एक अमेरिकन पृथ्वी-पर्यटक को साथ लेकर श्रीश्रीप्रभुपाद के श्रीमुख से वैष्णव-दर्शन (शास्त्र) की बातें सुनने के लिए उसी दिन तीसरे पहर ४ बजे के समय सेवा में उपस्थित होंगे। हरिकथाकीर्तन में कोटि जिह्वा रखनेवाले श्रीश्रीप्रभुपाद ने भट्टाचार्य महाशय की प्रार्थना स्वीकार कर ली। अमेरिकन पृथ्वीपर्यटक ए० जरट्राड जेकब (न्यूयार्क) निर्दिष्ट समय में श्रीयुत भट्टाचार्यजी के साथ श्रीगौड़ीयमठ में आकर उपस्थित हुए। श्रीश्रीप्रभुपाद ने उक्त पृथ्वी-पर्यटक महाशय को अभिज्ञतावाद की दरिद्रता (निस्सारता), वास्तव अभिज्ञान का नित्य नवनवोन्मेष और असमोर्ध्व प्राचुर्य, तृतीय मान के राज्य की बात की असंपूर्णता और तृतीयमान से अतीत तुरीय-पञ्चम और अनन्त मान के राज्य के श्रौत विचार की बात, श्रौत शास्त्र, श्रौत शब्द या श्रीनाम की शक्ति का वर्णन आदि विषय अच्छी तरह समझाए—अनेक प्रकार के विचार द्वारा इन विषयों को विवृत और व्यक्त किया। श्रीमद्भागवत ग्रन्थ

की अपूर्वता और विशेषता का वर्णन करते समय आपने उक्त अमेरिकन के आगे अन्यान्य संपूर्ण धर्मग्रन्थों की अपेक्षा श्रीमद्भागवत के अत्यधिक अनर्पितचर दया-दान का भी वर्णन किया।

भट्टाचार्य महाशय और उक्त अमेरिकन श्रीश्रीप्रभुपाद की वाणी श्रवण करके वारम्वार अपने आनन्दित होने की बात ज्ञापित करने लगे। पृथ्वी-पर्यटक ने कहा—उन्होंने आज ऐसी अनेक नूतन सुचिन्तित और सुयुक्तिपूर्ण तत्त्व की बातें सुन पाई हैं, जो इस पृथ्वी-पर्यटन के अवसर में और किसी भी मनीषी विद्वान् के मुख से नहीं सुनने को मिलीं। श्रीश्रीप्रभुपाद की वाणी ने सचमुच उन्हें नवीन प्रकाश में ला खड़ा किया है और उनके पृथ्वी-पर्यटन को सार्थक बनाया है। श्रीश्रीप्रभुपाद उसी दिन अन्यत्र चले जा रहे हैं, नहीं तो वह और भी कई दिन श्रीश्रीप्रभुपाद के श्रीमुख से ये सब अमूल्य उपदेश सुनकर विशेष लाभ उठा सकते। उस लाभ से वञ्चित रहने के लिए उन्होंने खेद प्रकट किया।

श्रीश्रीप्रभुपादने इसी दिन (९ आक्टोबर, १९३१, शुक्रवार को) रात के समय ब बे-मेल से भक्तवृन्दसहित श्रीप्रयागधाम के लिए यात्रा की। सपार्षद श्रीश्रीप्रभुपाद ने सुदुर्लभ सौभाग्यशाली गृहस्थ भक्त श्रीयुक्त गणेशचन्द्र देव को अनिर्वचनीय अनुकंपामृत से अभिषिक्त करने के लिए बाई का बाग़ मोहल्ले में स्थित उनके २६ नं० भवन में पदार्पण करके वहीं निवास किया था। सपरिवार श्रीयुत गणेशबाबू का गुरु-वैष्णव-सेवा का आदर्श अतुलनीय है। हम यह सुनकर और भी आनन्दित हुए कि श्रीगणेश बाबू ने श्रीप्रयागधाम में श्रीरूपगौड़ीय मठ के लिए एक स्थायी विस्तृत भू-खण्ड दान किया है श्रीयुक्त गणेश बाबू ने इस बार श्रीगौड़ीय मठ के उत्सव के समय भी हरि-कथा-श्रवण एवं सच्छिक्षाप्रदर्शिनी की सेवा में विशेष उत्साह और प्रयत्न का आदर्श दिखलाया है।

गत २२ आक्टोबर, १९३१, सोमवार के दिन ५ बजे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर महामहोपाध्याय डॉक्टर गंगानाथ झा एम्० ए०, डी० लिट० महोदय श्रीश्रीप्रभुपाद के श्रीमुख से हरिकथा-श्रवण करने को आए। श्रीप्रभुपाद ने "वेदान्त-विचार में वैष्णवदर्शन और श्रीमन्महाप्रभु के विचार की विशिष्टता" के सम्बन्ध में कुछ समय तक श्रीहरिकथा का कीर्तन किया। झा महोदय ने विशेष मनोयोग के साथ श्रीप्रभुपाद की वाणी श्रवण की। इसी समय इलाहाबाद डिवीज़न के कमिश्नर मि० विनायक नंदशंकर मेहता आई० सी० एस्० महोदय भी श्रीप्रभुपाद के दर्शनों के लिए आए और उन्होंने श्रीप्रभुपाद की प्रचार-वाणी के संबंध में जिज्ञासा की। श्रीप्रभुपाद ने थोड़े ही शब्दों में उन्हें श्रीविश्ववैष्णव राजसभा के उद्देश्य आदि बतला दिए।

(२) श्रीकाशीधाम में—

श्रीकाशीधाम श्रीसनातन शिक्षा या सम्बन्ध ज्ञान का क्षेत्र है। कलियुगपावनावतारी श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने काशी में श्रीसनातन शिक्षा के बीच सर्वविध शास्त्रीय विवाद और धर्म वितण्डा एवं सब प्रकार की समस्या की मूल-मीमांसा तथा सर्वविध सात्वत सुदार्शनिक सिद्धान्त का समन्वय किया है उसी श्रीचैतन्य की सनातन वाणी का श्रीकाशीधाम और उत्तर-पश्चिम प्रदेश में पुनः प्रचार करने के लिए कई वर्ष पहले वाराणसी में श्रीसनातन गौड़ीयमठ की स्थापना हुई है।

गत १६ आक्टोबर, १९३१, शुक्रवार से इस काशीमठ का उत्सव आरंभ हुआ था। इसी दिन श्रीश्रीप्रभुपाद अपने अनुगामी भक्तवृन्दों के साथ प्रयागधाम में सबेरे ७—१० मिनट पर छूटनेवाली बी० एन० डब्लू० रेलवे की गाड़ी पर सवार होकर ११—१० मिनट पर बनारस-छावनी स्टेशन पहुँचे। श्रीश्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना करने के लिए काशीवासी सज्जन व्यक्तिगण श्रीसनातन गौड़ीयमठ के सेवकवृन्द के संकीर्तन-संघ को आगे करके उक्त स्टेशन पर उपस्थित हुए। त्रिदंडी स्वामी श्रीमद्भक्ति-विवेकभारती महाराज, त्रिदंडी स्वामी श्रीमद्भक्ति श्रीरूपपुरी महाराज, त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज, श्रीभक्तिसारंग गोस्वामी प्रभु और काशी के साधारण सज्जनवृन्द ने श्रीश्रीप्रभुपाद को पुष्पमाल्य आदि से विभूषित करके अभ्यर्थना की। काशीवासी बंगाली, वैष्णव, प्रसिद्ध ज़मींदार, श्रीयुत मनोहरदास, श्रीयुत कृष्णधन मल्लिक, श्रीयुत केशवलाल वन्द्योपाध्याय आदि संभ्रान्त व्यक्ति श्रीश्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना करने के लिए स्टेशन पर आए थे और श्रीप्रभुपाद के अभ्यर्थना-संगीत का अनुगमन किया था।

श्रीगौड़ीयसंप्रदाय के एकमात्र संरक्षक आचार्यवर्य को महामान्य काशीनरेश महाराज ने अपने मिन्ट-महल (Mint Palace) में रहने के लिए स्थान दिया था।

महामान्य महाराज के सुयोग्य प्राइवेट सेक्रेटरी रायबहादुर श्रीयुत ललितमोहन सेन राय महाशय का सौजन्य भी यहाँ विशेष रूप से उल्लेख के योग्य है।

विगत २२ अक्टोबर तक काशी धाम में रहकर श्रीप्रभुपाद ने श्रीचैतन्य वाणी का प्रचार किया। उनके अनुगृहीत संन्यासी और ब्रह्मचारीगण ने विभिन्न स्थानों में सभा और पाठ-कीर्तन आदि करके तथा मठ के महोत्सव के समय समागत जन-मण्डली को महाप्रसाद के साथ भवौषधि श्रीहरिनाम के श्रवण का सुयोग देकर जीवों का बहुत कल्याण किया।

गत १८ अक्टोबर को सप्तमी-पूजा के दिन स्थानीय विद्व-मण्डली की ओर से, बंगालीटोला-हाई स्कूल में, एक महती सभा का अधिवेशन हुआ। उस सभा में श्रीश्रीप्रभुपाद ने सभापति का आसन अलंकृत किया था। अन्यान्य वक्ताजन जब विभिन्न भाव से सनातनधर्म का तत्त्व अपने भाषण द्वारा लोगों को विशेष भाव से समझा चुके, तब श्रीपूज्यपाद प्रभु ने सभापति के अभिभाषण में श्री-जयदेव महाकवि के गीतगोविन्द में वर्णित दशावतार स्तव की विशद व्याख्या और तात्पर्य, श्रीराधागोविन्द की सेवा और उन्नत उज्ज्वल रस की सर्वश्रेष्ठता का प्रदर्शन, रामानुज की लक्ष्मी-नारायण उपासना, आनन्द-तीर्थ की बालकृष्ण-उपासना विचार आदि चारों सम्प्रदायों के सब आचार्यों की उपासना का विशेषत्व विशेष भाव से समझा दिया। आपने अपने भाषण में यह भी विशद भाव से कीर्तन किया कि श्रीगौरसुन्दर के प्रचारित सनातन धर्म का सार व्रज-वधूगण की वृन्दावनवाली कृष्ण-उपासना ही सनातन धर्म की पराकाष्ठा है। विस्तृत सभा-मंडप में काशीवासी बहुत से शिक्षित प्रतिष्ठित ब्राह्मण पण्डित, यति, ब्रह्मचारी, गृहस्थ वानप्रस्थ, भक्त सज्जन व्यक्तियों ने उपस्थित रहकर चित्र-लिखित जैसे होकर श्रीश्रीप्रभुपाद के सुदुर्लभ दर्शन और श्रीमुख की हरिकथा श्रवण की थी।

(३) लखनऊ में—

विगत ३० अक्टोबर को संध्या के समय मोटर द्वारा श्रीश्रीप्रभुपाद प्रयाग धाम से लखनऊ पधारे। आपने लखनऊ में परम भागवत श्रीपाद अधोक्षजदासाधिकारी महोदय के भवन में शुभागमन किया। श्रीश्रीप्रभुपाद श्रीपाद अधोक्षज प्रभु को यथेष्ट स्नेह करते हैं और प्रति वर्ष इस प्रदेश (युक्तप्रान्त) में शुभागमन के समय उनके भवन में पदार्पण करके उनको सेवा का अधिकार देने की कृपा करते हैं। लखनऊ में आकर प्रभुपाद ने पटियाला-हाउस में अवस्थान किया। उनके यहाँ शुभागमन का समाचार स्थानीय अँगरेज़ी दैनिक आई० डी० टी० में महाराज के फ़ोटो के साथ प्रकाशित हुआ था। एक ही समय बहुत से शिक्षित भद्र महोदयोंने महाराजके दर्शनोंके लिए आकर विशुद्ध भागवतकथारूप श्रीचैतन्य वाणी श्रवण करने का सुयोग पाया था। यहाँ से श्रीप्रभुपाद नैमिषारण्य जाकर श्रीपरमहंस-मठ के महोत्सव में सम्मिलित हुए। नैमिषारण्य में श्रीपरमहंस-मठ का महोत्सव समाप्त करके १५ नवंबर को मोटर द्वारा श्रीयुक्त प्रभुपाद ने दिल्ली शुभ-विजय यात्रा की है। वहाँ से वह मोटर द्वारा शुकरतला दर्शन करने जायँगे।

शुकरतला वह स्थान है, जहाँ श्रीयुत परीक्षित् महाराज ने प्रायोपवेशन के समय श्री श्रीशुकदेवजी के श्रीमुख से श्रीमद्भागवत श्रवण की थी। इसी स्थान में सात दिन तक श्रीभागवत की आलोचना और कीर्तन का प्रचार करके श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज ने जगत् को धन्य और कृतार्थ किया था। इस शुकक्षेत्र में एक मठ की स्थापना के लिए ही श्रीश्रीप्रभुपाद यहाँ पधारे हैं, यह हमने सुना है।

गत रविवार १९ अक्टोबर को काशी के श्रीसनातन गौड़ीयमठ के प्रचारक त्रिदंडीस्वामी श्रीमद् भक्तिभूदेव श्रौती महाराज ने सीतापुर में डॉ० श्रीयुत कालीपद भट्टाचार्य महाशय के भवन में श्रीमद्भागवत का पाठ और व्याख्या की। मनुष्य जीवन की सुदुर्लभता, अनित्यता और अर्थ-दायकता आदि विषयों को स्वामीजी महाराज ने सुन्दर रूप से श्रोतृगण को समझा दिया।

स्वामीजी ने उसदिन सीतापुर के बैरिस्टर श्रीयुत सुधाकर-नाथ मिश्र महाशय के साथ श्रीगौड़ीयमठ के प्रचार्य विषय में आलोचना की। श्रीयुत मिश्रजी इस प्रदेश में प्रसिद्ध

व्यक्ति और सदाचारी ब्राह्मण हैं। उन्हों ने गौड़ीयमठ के प्रचार्य विषय में श्रीमन्महाप्रभु के आचरित और प्रचारित शुद्ध सनातन धर्म की बातें जानना चाहा। तब स्वामीजी ने उनके आगे संक्षेप में सब वर्णन किया।

श्रीयुत मिश्रजी यह सुनकर कि श्रीगौड़ीयमठ के प्रचार द्वारा लोग संपूर्ण कपटी और पाखंडी लोगों का स्वरूप जान रहे हैं, आनन्दित हुए। स्वामीजी ने इसके बाद बैरिस्टर साहब को भागवत पत्र दिखलाया। इसे देखकर वह बहुत प्रसन्न हुए और ग्राहक होने की अभिलाषा प्रकट की। उन्होंने यह भी अपनी सम्मति प्रकट की कि इस पत्र के द्वारा हिन्दी-भाषी जनता का बहुत उपकार होगा।

डिपुटीकलेक्टर श्रीकृष्णकुमारसिंह और सरकारी वकील श्रीयुत विमलाप्रसाद भट्टाचार्य तथा और भी कई प्रतिष्ठित सज्जन स्वामीजी से मिलकर, भागवत-वाणी सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। वे लोग भागवत पत्र के ग्राहक भी बने। उन्हों ने युक्तप्रान्त की हिन्दीभाषी जनता में भागवत-वाणी के अधिकाधिकार प्रचार की सदिच्छा भी प्रकट की।

भागवत-संपादक के साथ बड़े लाट बहादुर की भेंट

गत १४ नवंबर (१९३१) को १२ बजे दिन के समय इस भागवत पत्र के संपादक महाशय दिल्ली में बड़े लाट बहादुर से मिले थे। वायसराय महोदय ने संपादक महाशय के मुख से श्रीचैतन्य-वाणीरूप सनातन धर्म-कथा सुनने का सुयोग पाकर अपनी कृतज्ञता प्रकट की। इस भेंट का विशेष विवरण आगामी संख्या में पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जायगा। बड़े लाट बहादुर ने पतित-पावन श्रीवैष्णव-संप्रदाय के प्रति सहानुभूति प्रकट करके अपने महत्त्व का परिचय दिया है, इसमें सन्देह नहीं।

श्रीनैमिषारण्य





श्रीमद्भागवत के "जन्माद्यस्य यतः", "धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र" और "निगम-कल्पतरोर्गलितं फलं" क्रमशः इन प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्लोकों के बाद ही हम चौथा श्लोक पढ़ते हैं—

ओं नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत॥

शौनकादि ऋषिगण ने हरि-लोक-प्राप्ति के लिए विष्णु-तीर्थ नैमिषारण्य में सहस्रवर्षव्यापी यज्ञ का अनुष्ठान किया था।

संपूर्ण श्लोक और "नैमिष" शब्द के पहले प्रणव अवस्थित है। इसके द्वारा सूचित होता है कि नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे श्लोक से ही श्रीभागवत ग्रन्थ और नैमिष क्षेत्र में ही आदि और अनादि शब्दब्रह्म प्रणव का विस्तार अर्थात् वेद का निगूढ़ तात्पर्य प्रकाशित हुआ था।

वायुपुराण में लिखा है—ब्रह्मा के सृष्ट मनोमय चक्र की नेमि अर्थात् चक्र की परिधि (घेरा) जिस देश में कुंठित हुई, वह मुनिपूजित पवित्र तपोमय वनभूमि ही नैमिश है। मानव का इन्द्रियजनित ज्ञान जिस जगह पर जाकर प्राकृत ज्ञान-सीमा की अवधि प्राप्त करता है, उसके सन्निहित अधोक्षज की सेवा-भूमि ही नैमिश है। यहाँ मनश्चक्र मनोधर्म का वृत्त (घेरा) या परिधि अर्थात् प्राकृत ज्ञान स्तब्ध हो गया है।

सर्वलोकपितामह ब्रह्मा का उत्पन्न किया हुआ जो मनोमय चक्र है, उसकी परिधि जिस जगह स्तब्ध होती है, रुकती है, उसी स्थान में अधोक्षज भगवान् की सेवा के पके हुए फल—निगम-कल्पतरु से विगलित फल श्रीमद्भागवत के कीर्तन का पीठ प्रकाशित हुआ करता है—वही नैमिश क्षेत्र है। श्रीनैमिशक्षेत्र में सुदर्शनचक्र की नेमि बराबर भ्रमण करती है। वहाँ सुदर्शन या मनोधर्म की नेमि स्तब्ध होगई है। यथा—

एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विशीर्यते ।
यत्रास्य शीर्यते नेमिः स देशस्तपसः शुभः ॥
इत्युक्त्वा सूर्यसंकाशं चक्रं सृष्ट्वा मनोमयम् ।
प्रणिपत्य महादेवं विससर्ज पितामहः ॥
तेऽपि सृष्टतरा विप्राः प्रणम्य जगतां प्रभुम् ।
प्रययुस्तस्य चक्रस्य यत्र नेमिर्व्यशीर्यत ।
तद्वनं तेन विख्यातं नैमिशं मुनिपूजितम् ॥

(वायुपुराण)

नैमिश शब्द में मूर्द्धन्य षकार ग्रहण करने से वराह-पुराण लिखित गौरमुख ऋषि के प्रति भगवान के वाक्य में उक्त नैमिष शब्द का तात्पर्य इस प्रकार ज्ञात होता है । — भगवान ने एक निमिष काल में, अर्थात् जितनी देर में पलक लगती है उतने समय में, इस अरण्य में दानव-दल का विनाश किया था, इसी लिए इस स्थान का नाम नैमिषारण्य पड़ा है । नैमिषारण्य भागवतसेवी लोगों का सेवापीठ है । इसी जगह भागवतविरोधी दानवीय चित्तवृत्ति का निमिष भर में—पल भर में- ध्वंस होता है । मनुष्य के काम आदि शत्रुगण ही दानव हैं । भक्तिवासनाविशिष्ट जन जिस जगह हरिकथा के कीर्तन, श्रवण आदि के द्वारा प्राकृत विषयभोग की वासना त्याग करते हैं, वही स्थान श्रीभागवतगण का क्षेत्र नैमिषारण्य है ।

उवाच निमिषेणेदं निहतं दानवं बलम् ।
अरण्येऽस्मिंस्ततस्त्वेतन्नैमिषारण्यसंज्ञितम् ॥

श्रीमध्वसंप्रदाय के आचार्य श्रीविजयध्वजतीर्थ कहते हैं—निमिष या तिनिष एक प्रकार का फल होता है, जिसे ऋषि-लोग खाते हैं । अथवा तिनिष या निमिष फल सेवन करनेवाले निमिष नामक ऋषि की तपोभूमि होने के कारण इस स्थान का नाम नैमिष हुआ है । नेमि शब्द से तिनिश वृक्ष का भी बोध होता है । तिनिश वृक्ष से पूर्ण वन को भी साधारणतः नैमिषारण्य कहते हैं ।

श्रीरामानुजीय संप्रदाय के आचार्य श्री वीरराघव ने नैमिश पाठ से उक्त क्षेत्र में भगवान के सान्निध्यसूचक तात्पर्य को दिखलाया है । अनिमेष शब्द का अर्थ विष्णु है । विष्णु भगवान् की दृष्टि में प्राकृत मानव चक्षु की पलकों की तरह कोई बाधा नहीं पड़ती । विष्णुक्षेत्र अप्राकृत है । वहाँ जीव की अविद्या उनके रूप वैभव वैकुण्ठ वस्तु को ढकने में समर्थ नहीं होती । श्रीविजयध्वज कहते हैं—जहाँ नृसिंह देवादि का आवासस्थल है, वही अनिमिष-क्षेत्र है ।

ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीभक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद ने इस भागवत-कीर्तन के पीठ की खोज करते-करते सन् १९२४ ई० के जाड़ों में श्रीनैमिषारण्य क्षेत्र में शुभ विजय करके श्रीनैमिष क्षेत्र की भागवत-सारस्वतपीठमयी महिमा को जगत् में फिर प्रकाशित किया है । यागयज्ञनिरत शौनक आदि श्रेष्ठ ब्राह्मण ऋषिगण तक ने अपने याग-यज्ञादि कार्य, अन्यान्य साधन-भजन की चेष्टा, इतर व्रत, तपस्या, ध्यान, योग, ज्ञान, कर्म, अभिलाप आदि सब त्याग करके अपने से नीच कुल में उत्पन्न लोमहर्षण के पुत्र श्रीसूत गोस्वामी प्रभु को उच्च व्यासासन देकर उनके मुख से भागवत-सरस्वती का श्रवण किया था । कर्म, ज्ञान, योग, याग, व्रत, तपस्या तथा अन्याभिलाषारूप संपूर्ण मनोधर्मों के विश्वमोहन अलातचक्र (जलती हुई लकड़ी को घुमाने से आग का जो घेरा बन जाता है, उसे अलातचक्र कहते हैं) को जहाँ पर श्रेष्ठ बुद्धिमान ब्राह्मण ऋषियों ने स्तब्ध कर दिया था, उस जगह काल के प्रभाव से धर्म, व्रत, तपस्या या नाना प्रकार की अन्य अभिलाषाओं के पथ के पथिक ही अधिकांश एकत्र हुए थे । उसी जगह ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद ने पुनः भागवत-कीर्तन की पुनीत गोमती-धारा बहा दी है ।

श्रीनैमिषारण्य क्षेत्र गोमती नदी के तट पर अवस्थित है । गोशब्द का अर्थ है श्रुति, गायत्री, विद्या, वाणी आदि । श्रुति-विद्या या श्रौत शिक्षा में जो बुद्धि को लगावे, अथवा गायत्री सेवा अर्थात् गायत्री के तात्पर्य की जिस श्रीमद्-भागवत में परिपूर्णतम रूप में व्याख्या की गई है, उस भागवत के कीर्तन अथवा श्रवण से ही जीव का त्राण या यथार्थ निस्तार होता है और इस तरह की बुद्धि या मति जो प्रदान करती है, या विद्या भागवतावधि—इस उक्ति की सार्थकता-साधन पूर्वक भागवत विद्या में जो बुद्धि को लगाती है, या वाणी या कीर्तन में बुद्धि को जो बहनेवाली नदी लगाती है, उसी गोमती नदी के किनारे यह नैमिषारण्य क्षेत्र है । श्रीश्रीप्रभुपाद ने उसी गोमती के स्नान का यथार्थ मर्म और श्रीनैमिषारण्य क्षेत्र की वास्तविक महिमा को जगत् में प्रकट किया है, उसका विचार किया है ।

युक्त प्रान्त के निवासी अनेक लोग सोमवती अमावास्या आदि पुण्य तिथियों में स्नान, दान, परिक्रमा आदि करने के उपलक्ष में श्रीनैमिषारण्य क्षेत्र में पहले भी जाते थे; पर गौड़देश या बंगाल के बहुत कम आदमी अब भी वहाँ जाते हैं किन्तु इस जगह को एक दिन जगद्गुरु श्री-नित्यानन्दजी ने निज पद्‌-पंकज पराग से पवित्र किया था। श्रीनित्यानन्द प्रभु ने अपने द्वापर युग के श्रीबलदेव-अवतार में भी इस जगह आकर स्वयं प्रकाशतत्त्व जगद्गुरु लीला-भगवान की अवमानना करने वाले पाखंड के आदर्श-स्वरूप अवैष्णवभाव से व्यासासन पर आरूढ़ रोमहर्षण को व्यासगद्दी से हटाकर उनके पुत्र निष्पाप श्रीव्यासशिष्य महाभागवत श्रीसूत गोस्वामी महाराज को उस गद्दी पर बिठाया था। इस नैमिषारण्य क्षेत्र में श्रीसूत गोस्वामी के व्यासासन के तले बैठकर एक दिन यागयज्ञनिपुण श्रेष्ठ साठ हज़ार ब्राह्मण ऋषियों ने जो छः प्रश्न किए थे, इनके उत्तर में ही समग्र विश्व की संपूर्ण समस्याओं का सम्यक् और चूड़ान्त समाधान हो गया है। वे छहों प्रश्न ये हैं —

(१) पुरुष का सबसे बढ़कर श्रेय (कल्याण) क्या है?

(भागवत १।१। ९)

(२) आत्मा हरि जिससे सुप्रसन्न हों, वह श्रोतव्य-सार क्या है?

(भागवत १।१।११)

(३) भगवान् वासुदेव ने किस किस कार्य को सिद्ध करने के उद्देश्य से अवतार लिया था?

(भागवत १।१।१२)

(४) उन्होंने विविध अवतार-लीला धारण करके कौन कौन अलौकिक कर्म संपन्न किए थे?

(५) श्रीहरि का यश और उदार लीलाएँ क्या हैं?

(६) श्रीकृष्ण के परमधाम जाने पर इस समय धर्मने किसकी शरण ग्रहण की है?

ऋषिगण के इन छहों प्रश्नों के उत्तर ने गोमती तट पर स्थित श्रीनैमिषक्षेत्र में प्रकाशित होकर जीव के संपूर्ण मनो-धर्म की नेमि चूर्णविचूर्ण कर दी थी, उस जगह सुदर्शन का चक्र प्रतिष्ठित किया था और उससे श्री कृष्णचैतन्यवाणी-विधायिनी बुद्धि उद्‌बुद्ध हुई थी।

हमने श्रीनैमिषारण्य के इस इतिहास को श्रीनैमिषारण्य-क्षेत्र के सर्वाङ्ग की इस स्मृति की पूर्ण आत्मसात विस्मृति के विषय-क्षेत्र में निर्वासित कर दिया था। श्रीकृष्णचैतन्य-वाणी के मूर्तिमान विग्रह, भागवत-सरस्वती की समग्र श्रीमूर्ति गौर जनों की कृपा से श्रीनैमिषारण्य में वह इतिहास वही सनातनी स्मृति दीप-मणिका पुनः प्रज्ज्वलित, नान्दित और उत्सवित हुई है।

भागवत-सरस्वती के दीपमालिका महोत्सव से आज विश्व के अन्ध नयन खुल रहे हैं, विश्व की जड़ता आज विशीर्ण हो पड़ रही है। मनोधर्म के अलातचक्र को लेकर जो सब ऐन्द्रजालिक विश्व को ठग रहे थे, उनका स्वरूप भी आज भागवत सारस्वत दीपालोक में, प्रोज्ज्वल महाताप-प्रकाश में खुलकर दिखलाई पड़ रहा है।

श्रीनैमिषक्षेत्र का वर्तमान नाम नीमसार है। नैमिषारण्य के अपभ्रंश रूप में वर्तमान में ई० आई० आर० लाइन में जो नीमसार स्टेशन है, वहीं नैमिषक्षेत्र है। लखनऊ जंकशन स्टेशन से बालामऊ जंकशन ४३ मील है। बालामऊ से (बालामऊ सीतापुर ब्रांच लाइन में) छठा स्टेशन नीमसार १६ मील है। कलकत्ते से नीमसार ६७५ मील है। लखनऊ से मोटर या लारी में बैठकर जाने का भी अच्छा पक्का रास्ता बना हुआ है।

(शेष आगे)



भागवत की प्रथम संख्या के ९ पृष्ठ के पहले कॉलम में निम्नलिखित २ पंक्तियाँ जो छप गई हैं, वे ११ पृष्ठ के पहले कॉलम में "विष्णुस्वामी का नाम देख पाते हैं" इस मेटर के पहले रहेंगी—

"द्वितीय पर्याय के विष्णुस्वामी
द्वितीय पर्याय के विष्णुस्वामियों में
हम श्रीराजगोपाल

सूचना

श्रीविश्ववैष्णवराजसभा की ओर से इस समय निम्नलिखित पारमार्थिक पत्र प्रकाशित होते हैं —

१—**हार्मोनिस्ट** और **सज्जनतोषिणी** (अँगरेजी में) मासिक । ॐविष्णुपाद श्री १०८ श्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती गोस्वामी महाराज इसका संपादन करते हैं । अँगरेजी जाननेवाले भारतवासियों तथा इँगलैंड, जर्मनी, अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में भी इसका प्रचार और आदर बहुत है । इसमें श्रीचैतन्यदेव - प्रचारित भागवत-धर्म-सम्बन्धी प्रबंध रहते हैं । इसकी भिक्षा ३) वार्षिक है ।

२—**गौड़ीय** (बँगला में) साप्ताहिक । ससंघ संपादक—श्रीसुन्दरानंद विद्याविनोद बी० ए० । यह पत्रिका बंगाल तथा प्रवासी बंगालियों में बड़े आदर की वस्तु समझी जाती है । विदेशों में भी इसका प्रचार है । इसमें परमार्थ, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, समाज, वर्णाश्रम, नीति, ब्रह्मतत्त्व, काव्य, शिल्प, कृषि, एकायन, साहित्य, विज्ञान, स्मृति, दर्शन, इतिहास, चिकित्सा, पुराण, ज्योतिष, दैवराशि आदि विषयों की निरपेक्ष समालोचना रहती है । भगवद्भक्ति और प्रेम-संबन्धी प्रबन्ध भी इसमें रहते हैं । इसकी भिक्षा ३) वार्षिक है । ये दोनों पत्र गौड़ीयमठ, बाग़-बाज़ार, कलकत्ता से प्रकाशित होते हैं ।

३—**नदियाप्रकाश** (बँगला में) दैनिक । श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि मायापुर में जो प्रधान श्रीचैतन्यमठ है, उससे यह पत्र नित्य प्रकाशित होता है । इसमें पारमार्थिक बातों के अलावा सामयिक समाचार भी रहते हैं । इसके संपादक हैं अतीन्द्रनाथ वंद्योपाध्याय । इसकी भिक्षा ७) वार्षिक है ।

४—**भागवत** (हिन्दी में) पाक्षिकपत्र । नैमिषारण्य-परमहंस मठ का मुखपत्र । लखनऊ से त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिहृदयवनमहाराज के संपादकत्व में प्रकाशित । युक्तप्रान्त, मध्यप्रदेश, राजपूताना और पंजाब में विशुद्ध भागवत धर्म का प्रचार करने के लिए प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता रहेगा । इसकी भिक्षा १॥) वार्षिक है ।

इन सब पत्रिकाओं के नियामक ॐविष्णुपाद श्री १०८ श्रीमद्भक्ति सिद्धान्तसरस्वती गोस्वामी महाराज हैं।

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जाननगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नबाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मेमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाड़ी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० ४ जगत्‌जीवनपुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाक, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
श्रीनृसिंहदासकुंज, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, करनाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ-कार्यालय
नं० ५, गोपीभवन डाक्टर लेन, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् केथोड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटीपुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) काठालपुली चगादा, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकंदा चीरकुंडा, मानभूमि

(३०) श्रीभागवत जनानन्द मठ
मु० चिरांलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registerd No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् ≈)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम्—सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः –)
६—श्रीतत्वसूत्रम् ।)

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशित) प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्री-रूपगोस्वामी प्रभु कृत उपदेशामृतसहित ।≡)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित –)
१०—सदाचारस्मृति मध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित –)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी कृत-टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची, अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≈)
१२—श्रीकृष्णविजयगुणामृत राघवेन्द्र स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपमाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)
१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद –)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ≈)
१६—नवद्वीपपरिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत ≡)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद-कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति –)
२२—कल्याणकल्पतरु –)॥
२३—गीतावली –)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥≡)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत प्रभुकृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती स्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Ban Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabvat: Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Ban Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

वर्ष १] श्रीश्रीगुरु जयतः [संख्या ३

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

9th Dec. 1931

केशव
कृष्णपक्ष
गौराब्द
४४५

मार्गशीर्ष
अमावास्या
संवत्
१९८८

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डी स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन-छपाई की दर नीचे लिखी है—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, ३ ,,	३)
२ इंच ,, ४ ,,	१॥)
१ ,, ,, ८ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

९४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

प्रकाशक—त्रिदंडी स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

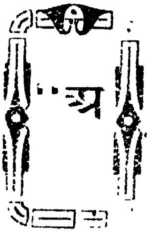
वर्ष १ — मार्गशीर्ष अमावास्या, गौराब्द ४४५, सं० १९८८ वि०, ९ दिसम्बर सन् १९३१ ई० — संख्या ३

नम्र निवेदन

[२]

विद्या के विलास में मैंने समय बिताया कर साहस ।
भजे न तव श्रीचरण कभी, अब शरण एक तुम ही हो, बस ॥
पढ़ते-पढ़ते हुआ भरोसा ज्ञान सहायक होगा अन्त ।
आशा विफल हुई, दुर्बल है ज्ञान, ज्ञान अज्ञान अनन्त ॥
सब जड़ विद्या माया-वैभव भजन तुम्हारे में बाधा ।
मोह अनित्य जगत में जन्मा, जीव गधा मोह आराधा ॥
गधा बना संसार-भार को मैंने लादा बहुत समय ।
अब हूँ वृद्ध, अशक्त, न कुछ भी अच्छा लगता है निश्चय ॥
जीवन हुआ यातना, विद्या हुई अविद्या, उलटा हाल ।
जलन अविद्या बहुत दे रही, विद्या बनी हृदय की सेल ॥
नाथ, तुम्हारे चरण छोड़ अब जग में मेरे और नहीं ।
"भक्ति-विनोद" छोड़ जड़ विद्या, तव श्रीचरण गहे नितहीं ॥

बुद्धि की दौड़



"अरे भगू, एक अच्छी सी कटारी तो देखकर बनवा लाना।"

"जी बाबू साहब, ज़रूर बनवा लाऊँगा एक अच्छी कटारी चार-पाँच रुपयों में ही बन जायगी।"

"अरे चार पाँच रुपये कैसे? बारह आने में, अधिक से अधिक एक रुपये में एक अच्छी कटारी मिल जायगी।"

"जी, मिलेगी क्यों नहीं बाबूजी। लेकिन बात यह है कि यह लोहार बड़ा ही ठग है। इस्पात, लोहा, पानी, मजूरी वगैरह का नाम लेकर ज़्यादा दाम वसूल कर लेता है। नहीं तो रुपये बीस आने से अधिक खर्च एक कटारी में कभी नहीं पड़ता।"

"अरे, इस्पात-बिस्पात की कुछ ज़रूरत नहीं। तू यही सेर सवा सेर लोहा मोल ले ले और उसी में से एक टुकड़ा दिखाकर उससे कह कि यही अच्छा इस्पात है—बस। और यह पानी रखना, धार रखना वगैरह बिलकुल झूठ है। चालाकी करके ज़्यादह मज़दूरी ले लेना है। तू मज़दूरी जहाँ तक कम हो सके, कम कर आना।"

'जी हाँ, कम तो कर आऊँगा ही। कहावत ही है कि जैसा गुरू, वैसा चेला। बाबू साहब मालिक हैं, बाबू साहब ही गुरू हैं।"

इतना कहकर भगुआ कल्लू लोहार के पास जाकर बोला—"अजी मिस्तरी भैया, बारह-चौदह आने दाम की एक कटारी बना दो।"

कल्लू ने कहा—'इतने दाम की कटारी कहाँ से बन सकती है भगू? आजकल लोहे की क्या दर है, सो क्या तुम नहीं जानते? इतने दाम तो लोहा खरीदने में ही लग जायँगे। फिर पानी रखकर इस्पात बनाना होगा, मज़दूरी अलग देनी पड़ेगी। कम से कम साढ़े तीन रुपये ले आओ, तब कटारी बनेगी।"

भगू ने कहा—"नहीं दादा, घुरयाँ का पेड़ काटने वाला एक दाव या कटारी बनाने में यह कुछ करना न होगा। सिर्फ लोहा पीटकर कटारी के आकार का बनाकर ज़रा घिस-घिसकर चमकीला भर बना दो। बस, काम हो जायगा।"

लोहार ने कहा—"अच्छी बात है। बाबू से १।) वसूल करके चार आने तुम ले लेना और एक रुपया मुझे दे देना, मैं बना दूँगा।"

उधर बाबू साहब ने समझा कि साले लोहार को खूब चकमा दिया—हाः, हाः, ! मुझसे चालाकी चल सकती है?

बाबू ने अपने को खूब चालाक समझा। लेकिन फल क्या हुआ? लोहार को चकमा देकर बाबू खुद ही ठगे गए। जो कटारी बीस आने में तैयार हुई, उससे नारियल या हरी लकड़ी, कुछ भी नहीं कट सकता था। वह बेकार हो कर पड़ी रही। इधर कटारी के बिना जो काम अटका था सो वैसा ही अटका पड़ा रहा—सवा रुपया हुपत गया।

ज़रा अच्छी तरह ध्यान देकर देखा जाय तो इस दुनिया में पूर्वोक्त बाबू के समान अपने को बुद्धिमान माननेवाले प्रायः सभी देख पड़ते हैं। भक्तवेशी धर्मध्वजी (पाखंडी) मन ही मन सोचता है कि "लोग कैसे बेवकूफ़ हैं! मेरी बाहर की पोशाक और चाल चलन देखकर मुझे बड़ा भारी भक्त ठहराकर मेरी कितनी पूजा करते हैं—मुझे धन, रुपया-पैसा, गहना, घी, दूध, मक्खन, मिठाई, स्त्री आदि सभी पदार्थ अर्पण कर रहे हैं! मैं बिना मेहनत के सभी सुख भोग रहा हूँ। मूर्ख लोगों को मूँड़कर खाना पीना और ऐश आराम करना ही बहादुरी है। असल में भगवान-बगवान कुछ नहीं है।'

इसी तरह ठाकुरजी की सेवा-पूजा का धंधा करनेवाले मन में यह ठहराते हैं कि "यह जो ठाकुरजी की मूर्ति है सो मेरे सुखभोग का यंत्र है, मूर्ख आदमियों से पैसा लेने की कल है। सब लोग मूर्ख हो कर ठाकुर पर विश्वास अगर न करते तो हम लोगों की कैसी दुर्दशा होती!"

पुरोहित मन ही मन हँसते हैं—"यजमान सब गधे हैं, नहीं तो हम लोग इस तरह उन्हें ठगकर मज़ा कैसे करते!"

यजमान उधर अपने मन में सोचते हैं "ठाकुर देवता वगैरह खूब खुशामद पसंद करते हैं। थोड़ा खर्च वर्च करके अच्छी तरह पूजा कर सको तो बस खुश हो जाते हैं। जो चाहो, जो माँगो, वही पाओगे। मुझे धन दो, यश दो, मान दो, बुद्धि दो—हम जो कुछ माँगते हैं, वही वह देते हैं। यह जो मैं इतना बड़ा बुद्धिमान हूँ, मेरे इतना धन है, इतनी प्रतिष्ठा है, सो समग्र भारत की है, केवल भारत की ही क्यों, सारी पृथ्वी की भी कही जा सकती है! सभी

लोगों की ज़बान पर मेरा नाम है। यह सब इन्हीं देवतों की खुशामद करके, इन्हें फुसलाकर मैंने प्राप्त किया है। इन देवतों ने मुझे अपना भक्त ठहरा लिया है। अरे भाई, कौन किसका भक्त है? बंदा तो अपने सिवा और किसी का भक्त नहीं। देवताजी, तुम्हारे पैरों में नहीं, अपने काम के पैरों में नाक रगड़ता हूँ।"

जो लोग धर्मध्वजी या पाखंडी लोगों को नहीं मानते देवी देवता किसी को स्वीकार नहीं करते, शास्त्र-वास्त्र को कुछ नहीं समझते, क्षमता को ही सबसे बड़ा समझते हैं, उनका मत यह है कि बाबा, अपने शास्त्र की व्यर्थ या फालतू फुलझड़ी फोड़ना रहने दो। ठाकुर वाकुर का हंगामा कैसा? यह न करो, वह न करो, यह करने से नरक होगा, और यह करो, वह करो, ऐसा करने से पुण्य होगा, स्वर्ग पाओगे—यह सब कहने का मतलब और कुछ नहीं, यही है कि लोग स्वयं प्रधान होकर सुख खोजने लगेंगे तो एक दूसरे के सुख में बाधा देगा, झगड़ा-झंझट होगा: इसीलिए ये सब नियम बना दिए गए हैं। हम भी बाहर-बाहर ये सब नियम मानेंगे नहीं तो समाज में रहने की सुविधा नहीं मिलेगी। गुप्त रूप से सब कुछ करेंगे—हरदम सब निषिद्ध कार्य छिपकर करते रहो, समाज के नियम तोड़ने रहो, बाहर भले मानुस बने रहने से फिर तुम्हें कुछ नहीं कहेगा। क्या जाने भाई, कब ये प्राण निकल जायँ। हरदम मज़ा लूटते रहो, नहीं तो अन्त को अफ़सोस ही हाथ लगेगा। मर जाने पर सब ख़तम हो जायगा, इतना सब सुख यहीं पड़ा रह जायगा। इससे समय रहते मज़ा लूटना ही चालाकी है। और जो सब देखते हो, वह सब बेकारों का दल है।"

एक दल कहता है—"यह सब कुछ नहीं है, कुछ नहीं है, मैं ही ब्रह्म हूँ। ब्रह्म ही भूल में पड़कर ये सब तरह-तरह के प्रपंच देखता है। यह भूल भंग होते ही मेरी छुट्टी या छुटकारा है—इस जगत के सुख-दुःख का झमेला नहीं रहेगा। मन को ठीक रास्ते पर लाने या ठीक करने के लिए ही एक ठाकुर-वाकुर को खड़ा करके उनकी पूजा और भक्ति करनी होती है। मन के ठीक हो जाते ही ठाकुर की मूर्ति को तोड़कर अद्वैतसिद्धि लाभ हो जाता है। नहीं तो मेरे सिवा ठाकुर-वाकुर और कौन है। एक के सिवा दूसरा कुछ नहीं है। वह एक ब्रह्म है। मैं ही वह हूँ। तुम लोग इस बात को समझ नहीं पाते। तुम मूर्ख हो। एक मैं ही हूँ, तुम कोई नहीं हो। इसी बात को तुम अच्छी तरह समझो। यह जो भक्ति मैंने कही, वह कुछ भी नहीं है, केवल थोड़े से समय के लिए है। असल वस्तु अद्वैत सिद्धि है। मूर्ख लोग यह सब नहीं समझते।"

इस तरह ये सब परस्पर एक दूसरे को मूर्ख ठहराते हैं, और आप अपने को बुद्धिमान समझते हैं। इनमें से किसी को भी भगवान पर विश्वास नहीं। ये सब उन्हीं बाबू के दल के हैं, जिनका ज़िक्र ऊपर किया गया है, जिन्होंने चकमा देकर लोहार से इस्पात बनवा लेना चाहा था। स्वतन्त्र सर्वेश्वरेश्वर सच्चिदानन्द विग्रह भगवान हैं, सच्चिदानन्द स्वरूप सूक्ष्म जीवगण उनके नित्य सेवक हैं—इस नित्य सत्य पर अविश्वास करके कोई दान और व्रत से देवी देवतों से भोग माँगता है, कोई भोग छोड़कर "सोऽहम्" की भावना करता है, कोई हँस खेलकर ज़िंदगी भर विषय भोग कर लेने में व्यस्त है, कोई ईश्वर के साथ युक्त हो जाने के लिए कितनी ही तरह की कसरतों का अभ्यास करता है। और भी इसी तरह के अनेक लोग जीव का स्वरूप धर्म जो कृष्ण-भक्ति है, जिससे जीव का यथार्थ मंगल होता है, उसमें मन न लगाकर "लोहार को चकमा देकर इस्पात ख़रीदना चाहते हैं", किन्तु इस्पात के बदले भोथी कटारी ही उनके हाथ लगती है, जिससे कोई काम नहीं निकलता। अपने स्वरूप कृष्ण-सेवक वृत्ति को दबा रखकर हमें लाभ यही होता है कि माया के यन्त्र में पड़कर पिसना दिन-दिन बढ़ता ही जाता है। हाय रे, हम कैसे बुद्धिमान हैं! हमारी बुद्धि की दौड़ कितनी है!

श्री १०८ परमहंस महाराज का एक भाषण

त्रियुग-धर्म और कृष्ण-नाम का कीर्तन

(गत संख्या से आगे)

कलियुग के कीर्तन-विधि और उसका व्यभिचार

... त्रिकाल में द्वापर-युग की अर्चा-पूजा नहीं होगी ऐसा नहीं : कलिकाल में तो श्रीनाम के द्वारा भगवान की अर्चा होगी। अर्थात् कलिकाल में श्रीनाम कीर्तन के द्वारा विष्णु का आराधन होगा। किन्तु कलियुग में जिस प्रकार कलि-प्रभावित द्वापर की अर्चना-प्रणाली का व्यभिचार करके हम पेट-पूजा करने के लिए 'देवल' हो पड़े हैं, कलियुग के पहुँचने पर भी उसी प्रकार व्यभिचार से आविष्ट होकर हम नाम-विक्रयी (नाम को बेचनेवाले) हो जाते हैं। हम ग्रन्थ पढ़ते हैं, ग्रन्थ प्रकाशित करते हैं, जिसका उद्देश्य होता है काञ्चन, कामिनी और प्रतिष्ठा का संग्रह करना। हम 'नाम' (?) का उच्चारण करके धन लेते हैं, पेट भरते हैं : हम लोग हरि-कीर्तन करते हैं, पर उसका उद्देश्य कीर्तन नहीं, हरि की सेवा नहीं, इन्द्रियों की तृप्ति या भोग ही होता है। हम अगर और काम में अधिक धन पाते हैं, अधिकतर प्रतिष्ठा पाते हैं, तो कीर्तन छोड़कर अन्य कार्य करने को तैयार हो जाते हैं। यदि कोई कहे कि "भागवत पाठ करके धन न पाओगे" तो हम भागवत का पाठ छोड़ देते हैं। तब हम कहते हैं—"भागवत कुछ दूध नहीं देती।" यदि कोई कहे कि "कीर्तन करने से द्रव्य नहीं पाओगे, मन्त्र से पैसा नहीं पाओगे, वक्तृता देकर धन नहीं पाओगे" तो हम लोगों के द्वार पर कीर्तन करना छोड़ देते हैं, मन्त्र देने का रोजगार छोड़ देते हैं, भाषण देना बंद कर देते हैं। कनक, कामिनी या प्रतिष्ठा पाने पर हमारा कपट-सेवा का अभिनय बंद हो जाता है। अतएव हम लोगों का हरिनाम-कीर्तन (?), हमारा भागवत-पाठ (?) या भाषण जो कुछ है, उसका उद्देश्य कलियुग के सहचर कनक, कामिनी, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति ही हुआ करता है। अतएव ये सब अभिनय कदापि नाम-कीर्तन, भागवत-पाठ या भाषण नहीं हैं। ये सब चेष्टाएँ नामापराध हैं, ये सब चेष्टाएँ रोजगार या वणिक्-वृत्तिमात्र हैं। वणिक् वृत्ति कभी सेवा नहीं है—"न स भृत्यः स वै वणिक्।" ठाकुरजी के दर्शन करके अगर कोई भेंट न चढ़ावे तो मैं ठाकुरजी की पूजा छोड़ देता हूँ। अपने उदर-भरण के लिए ही तो मैं ठाकुर-पूजा (?), भागवत-पाठ (?), या नाम-कीर्तन करता हूँ ?

किन्तु महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव के समय में इस प्रकार के कार्य प्रचलित नहीं थे। महाप्रभु और उनके पार्षदगण ने इस तरह का निन्दनीय नीच व्यवसाय नहीं किया। आगे चलकर लोग भागवत विक्रय, मंत्र-विक्रय या नाम-विक्रय करनेवाले हों, अर्थात् साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन स्वरूप भागवत के द्वारा, साक्षात् नामी-कृष्णस्वरूप से अभिन्न श्रीनाम के द्वारा और साक्षात् सच्चिदानन्द भगवत्स्वरूप श्रीभगवन्मूर्ति को खड़ा करके उनके द्वारा स्व स्व इन्द्रिय-तर्पणरूप सेवा करा लें, उस घृणित उद्देश्य से श्रीगौरसुन्दर, श्रीनित्यानन्द, श्रीअद्वैत महाप्रभु, नामाचार्य ठाकुर श्रीहरिदास अथवा बड़े गोस्वामियों ने कभी जगत् में हरिनाम का प्रचार या भागवत कथा का कीर्तन नहीं किया, और न किसी को ऐसा करने की शिक्षा दी।

ध्यान, यज्ञ, अर्चन और कीर्तन का व्यभिचार

प्रत्येक व्यक्तिविशेष के जीवन में भी चार युगों का कृत्य, अर्थात् ध्यान, यज्ञ, परिचर्या और कीर्तन

न्यूनाधिक परिमाण में उदित हुआ करता है। जब जीव आत्मवृत्ति के अनुशीलन द्वारा विशुद्ध हरि-सेवा में उन्मुख होता है, तभी ये सब कृत्य उसके जीवन में शुद्धभाव से प्रकाशित होते हैं। किन्तु जब जीव मनोधर्म से अभिभूत रहता है, तब उस-उस साधन-प्रणाली का भी व्यभिचार देख पड़ता है। मनोधर्म के वश होकर हम इन्द्रिय-ग्राह्य विषय का ही 'ध्यान' करते हैं, इन्द्रियों के भोगाग्नि में आहुति देने को ही हम 'यज्ञकार्य' समझ लेते हैं, श्रीमूर्ति के निकट नैवेद्य देने के समय मन-ही मन यही सोचते हैं कि यह सब सामान कब अपने घर ले जाकर स्त्री, पुत्र आदि आत्मीय स्वजनों को दूँगा और स्वयं भी इसका उपभोग करूँगा, कीर्तन करने के समय सुर-तान लय मान के अहंकार में आबद्ध रहकर सोचते हैं—कैसे मेरा कीर्तन श्रोताओं के चित्त के अनुकूल होगा, उनके कानों को भला लगेगा इत्यादि। उस समय भगवान हमारे स्मृतिपथ से दूर चले जाते हैं—हम कृष्ण के कानों को प्रसन्न करने के बदले साधारण लोगों के जड़ कानों को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं; तब हमारे कीर्तन से कृष्णेन्द्रिय तर्पण नहीं होता, आत्मेन्द्रिय तर्पण ही होता है, अर्थात् कामाग्नि में ही ईंधन डाला जाता है।

कलिकाल में ध्यान, यज्ञ और अर्चन में विघ्न

कलिकाल में विक्षिप्त चित्त से ध्यान करना असंभव है। मैं विक्षिप्त या चञ्चल चित्त को प्रत्याहार आदि के द्वारा संयत करके फिर ध्यान करूँगा—ऐसी आशा करना भी निष्फल है। कारण, मनोधर्म-युक्त जीव के व्यवहित ध्यान द्वारा नित्य वास्तव चित् विग्रह का ध्यान हो ही नहीं सकता। मनोधर्म का आश्रित ध्यान 'ध्यान' नहीं है। निर्मल आत्मवृत्ति के द्वारा ही ध्यान संभव है। कलिकाल में यज्ञ-विधि की संभावना भी नहीं है। कारण, यज्ञ के करने में बहुत सामग्री और बहुत समय चाहिये। कलियुग में जीव की परमायु बहुत थोड़ी है। उसे इन्हीं के संग्रह में नष्ट करने का समय नहीं है। कलिकाल में दुर्बल जीव के लिए अच्छी तरह परिचर्या करना भी संभव नहीं। परिचर्या करना आरंभ करके कुछ देर आसन में बैठते ही पीठ की हड्डी दर्द करने लगती है। खासकर अनेक स्थलों में और अनेक समय काल, स्थान, पात्र और नैवेद्य आदि की शुद्धि अशुद्धि का विचार करना संभव नहीं। परन्तु शौच अशौच आदि का विचार करना परिचर्या के समय विशेष आवश्यक माना गया है। काल अकाल का विचार करना भी आवश्यक है।

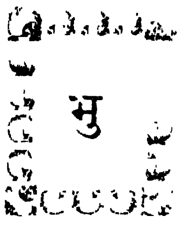
कृष्ण-कीर्तन में स्थान-काल-पात्र के विचार की अपेक्षा नहीं

किन्तु हरिनाम के कीर्तन में स्थान-अस्थान, काल-अकाल और पात्र-अपात्र का विचार नहीं है, जैसा कि चै० भा० मध्य में लिखा है—

> खाते सोते जहाँ चाहो नाम लो।
> देश-काल नियम नहीं सर्वसिद्धि हो॥
> भोजन, शयन, जागरण माहीं।
> ध्याओ कृष्ण कहो, भय नाहीं॥

यहाँ तक कि मल-मूत्रादि के त्याग करते समय भी श्रीहरिनाम लिया जा सकता है। बाहरी सब क्रियाएँ तो अभ्यास से स्वयं हुआ करती हैं। हरि-नाम लेने में कोई बाधा नहीं है। सोते समय, जागते में शयन के समय हम हरि का नाम ले सकते हैं। ऊँचे या नीचे कुल में उत्पन्न होकर चाहे जिस अवस्था में हरि का नाम लिया जा सकता है। शूद्र, अन्त्यज, म्लेच्छ, स्त्री, पुरुष, बालक, जवान, बूढ़े, सभी हरि-नाम लेने के अधिकारी हैं। निर्जन में हरिनाम लिया जाता है, शोर-गुल हुल्लड़ में हरिनाम लिया जाता है, अकेले हरिनाम लिया जाता है, बहुत लोग मिलकर हरिनाम लिया जाता है। हेला या श्रद्धा से भी हरिनाम लिया जाता है। (असमाप्त)

अंबरीष और दुर्वासा



वनविख्यात हरिभक्त महाराज अंबरीष का नाम बालक, बूढ़े, जवान सभी जानते हैं। माया में बँधे हुए जीव हमेशा ही माया के बन्धन में पड़कर इस संसार को सार जानकर कष्ट पाते हैं और उस कष्ट को दूर करने के लिए न जाने कितना सत्‌ कर्मों का अनुष्ठान करते हैं; किन्तु दुःख का विषय यही है कि हम जिस दुःख को दूर करने के लिए चेष्टा करते हैं, वही दुःख आकर हमें जर्जर करता है। अतएव इस संसार में रहकर भक्तगण जिस प्रकार कार्य करते जाते हैं, हम भक्तों के अनुगत होकर यदि उन सब विषयों की आलोचना करें तो निपुणता के साथ कर्मपाश से छुटकारा पा सकते हैं इससे शुद्ध भक्त की जीवनी ही श्रेष्ठ जीवों या भक्तों की एकमात्र आलोचना का विषय है।

महाराज अंबरीष सातों द्वीप पृथ्वी के स्वामी होकर भी सब विषयों को स्वप्न के समान मिथ्या समझते थे। उनके भक्ति के कार्य परम सुन्दर हैं! वह मन को श्रीहरि के चिन्तन में, वाक्य को श्रीहरि की कथाओं में, दोनों हाथों को श्रीहरि के मंदिर के मार्जन में, दोनों कानों को श्रीअच्युत और उनके भक्तों की बातें सुनने में, दोनों आँखों को श्रीभगवान् श्रीविग्रह, मंदिर और भक्तों के दर्शन करने में, अंगों को भक्तों के अंगों के स्पर्श में, नासिका को श्रीभगवान् के पादपद्म में अर्पित तुलसीदल की सुगन्ध सूँघने में और रसना को श्रीभगवान् के प्रसाद का सेवन करने में लगाए रहते थे। वह पैरों से श्रीहरि के क्षेत्रों में भ्रमण करते थे, शिर से श्रीभगवान् की मूर्त्ति को प्रणाम करते थे। काम को विषय-कामना में न लगाकर श्रीभगवान् की सेवा में लगा रक्खा था। उन्होंने श्रीप्रह्लाद आदि भक्तों के आचरित इन भक्ति के अंगों का अनुष्ठान करके श्रीभगवान् में रति स्थापित की थी। उधर वह ब्राह्मणों के आदेश के अनुसार प्रतिनिधि के द्वारा बहुत अच्छी तरह राज्य-शासन भी करते थे।

यद्यपि ऐसे अनन्य अथवा ऐकान्तिक भक्तों के, अन्य मायाबद्ध जीवों के समान, अनित्य कृत कर्म नहीं होते, तथापि लोकशिक्षा के लिए वह क्षत्रिय राजा के लिए उचित अश्वमेध आदि यज्ञ करके यज्ञेश्वर श्रीहरि को प्रसन्न करते थे। वशिष्ठ, असित, गौतम आदि ब्रह्मज्ञ ब्राह्मणों को प्रतिनिधि बनाकर उन्होंने राजधानी से दूर पर धन्य देश में सरस्वती-प्रवाह के अभिमुख में ये यज्ञादि किए। राजधानी में रह कर अपने कृत्य आदि का अच्छी तरह संपादन और तीर्थक्षेत्र की महिमा का विस्तार करने के लिए ही उनके इस प्रकार के ये सब अनुष्ठान थे।

महाराज स्वयं द्वादशीव्रत का पालन करते थे। एक साल कार्तिकमास में इस व्रत के उद्यापन के उपलक्ष में स्त्री-सहित यमुना-स्नानादि करके मधुवन में उन्होंने श्रीहरि का पूजन किया। बाद को ब्राह्मणों को गोदान और भगवान् के प्रसाद आदि द्वारा परितृप्त करके अतिथि सत्कार के उपरान्त जब वह स्वयं आहार करने को उद्यत हुए, उसी समय दुर्वासा ऋषि आकर उपस्थित हो गए। महाराज अम्बरीष ने वैसे ही अपने आहार का आयोजन बंद करके आसन, जल इत्यादि लेकर ऋषि की यथोचित अभ्यर्थना की और आतिथ्य ग्रहण करने के लिए निमन्त्रण दिया। राजा की प्रार्थना से दुर्वासा ने सन्तुष्टचित्त से आतिथ्य ग्रहण किया और मध्याह्न का सन्ध्या तर्पण आदि कृत्य करने के लिए नदी के तट पर गए। वहाँ कालिन्दी के जल में ब्रह्मचिन्ता। गायत्रीजप आदि करने में लग गए। दुर्वासा के लौटकर आने में अधिक देर होने लगी। इधर द्वादशी-तिथि आधे मुहूर्त्त यानी एक घड़ी ही होने के कारण हरि-सेवारूप पारण करने का समय भी अतीत हो आया। तब महाराज सभा में स्थित भक्त ब्राह्मणों के साथ विवेचना करने लगे कि अब क्या करना उचित है? निमन्त्रित ब्राह्मण को भोजन कराए बिना उससे पहले भोजन कर लेना भी पाप है और द्वादशीव्रत के बाद यथासमय पारण न करने से भी हरिसेवारूप व्रत-वैगुण्य या व्रत-भंग का दोष लगता है। अतएव अब मैं क्या करूँ? क्या करने से मेरे लिए मंगल होगा और अधर्म का भागी मैं न होऊँगा? अन्त को विचार किया कि हरिसेवा प्रकार जलमात्र पान करके व्रत को समाप्त कर दूँ। कारण, श्रुति का कहना है कि जलपान भोजन भी है और अभोजन भी है। तब महाराज ने भक्तिपवित्र हृदय से श्रीभगवान् का ध्यान करके जलमात्र पी लिया।

उसी समय दुर्वासा ऋषि अपना कृत्य समाप्त करके

महाराज के निकट उपस्थित हुए। भक्तराज ने कृतांजलि हो कर ऋषि की अभ्यर्थना की। किन्तु योगबल से दुर्वासा पहले ही महाराज के जल-पान की बात जान गए थे। अतएव क्रोध से काँपते काँपते कुटिल दृष्टि से देखकर उन्होंने राजा से कहा—अहो! यह व्यक्ति कैसा नृशंस और धन के मद से मत्त है। यह अब विष्णु का भक्त नहीं है। यह अपने ही को ईश्वर मान बैठा है। इसीसे इसने ऐसा धर्म का व्यतिक्रम (उल्लंघन) किया है। मैं आज इसके आश्रम में अतिथि हूँ। इसने आतिथ्य अर्थात् भोजन करने के लिए मुझे निमन्त्रण दिया था। किन्तु मेरा भोजन सम्पन्न होने के पहले यह स्वयं भोजन कर बैठा। खैर, मैं शीघ्र ही इसे इसका फल दिखाता हूँ।

इतना कहकर क्रोध से प्रज्वलित हो दुर्वासा ऋषि ने अपने सिर से एक जटा उखाड़ ली और उससे राजा के विनाश के लिए कालानल तुल्य एक कृत्या की सृष्टि कर दी। तब वह कृत्या हाथ में खड्ग लिये, पैरों की धमक से पृथ्वीतल को कँपाती हुई अग्नि के समान प्रज्वलित हो कर राजा की ओर आने लगी। भक्तराज अम्बरीष अपने को मृत्यु के मुख में देखकर भी अपने स्थान से विचलित नहीं हुए—जहाँ के तहाँ खड़े रहे। यह दृश्य अत्यन्त अद्भुत था। अनन्यभक्तगण अपना देह, मन, आत्मा तक श्रीभगवान को अर्पण कर देते हैं। अपनी रक्षा के बारे में भी वे निश्चिन्त रहते हैं। कारण, वे जानते हैं कि श्रीभगवान ही जीव के एकमात्र रक्षक, पालक और विनाशक हैं। उनकी इच्छा से ही जीव का जीवन रहता है और उन्हीं की इच्छा से जीवन नष्ट होता है। इसीसे भगवान स्वयं शरणागत जन की रक्षा करते हैं।

तब श्रीभगवान ने ही अपने सुदर्शन चक्र को भक्त की रक्षा के लिए वहाँ भेज दिया। तब सुदर्शन चक्र ने उस कृत्या को वैसे ही भस्म कर दिया, जैसे प्रचण्ड दावानल वन के सर्प को जलाकर राख कर देता है। इतना ही नहीं, उस कृत्या को जलाकर वह चक्र दुर्वासा ऋषि की ओर बढ़ा। तब अपने प्रयत्न को निष्फल और जीवन को संकट में पड़ा हुआ देखकर दुर्वासा डरकर प्राणों की रक्षा के लिए इधर-उधर दौड़ने लगे। मुक्त-अभिमानी ऋषि अपने को अपना रक्षक समझने की गलती करके प्राण रक्षा के लिए अत्यन्त चञ्चल हो उठे।

इधर चक्र ने भागते हुए ऋषि का पीछा किया। अपने पीछे दौड़ रहे चक्र को देखकर योगबल से मुनि दौड़ते हुए सब दिशाओं में, आकाश में भूमि में, अतल आदि विवरों में, सागरों में लोकपालों के लोकों में और स्वर्ग में, सर्वत्र गए; परन्तु चक्र ने पीछा न छोड़ा। तब अन्यत्र कहीं शरण न पाकर दुर्वासा जी ब्राह्मणों के जनक ब्रह्माजी के पास पहुँचे। दुस्सह तेजोयुक्त हरिचक्र से अपनी रक्षा करने के लिए कातरता प्रकट करके उन्होंने ब्रह्माजी की बहुत स्तुति की। किन्तु ब्रह्मा ने कहा—वत्स, मैं उन्हीं भगवान् का सेवक हूँ जिनका यह चक्र है। केवल मैं ही नहीं भव (शिव), दक्ष प्रजापति, भृगु आदि प्रजापतिगण भूतेश सुरेश आदि सब उन विष्णु के आदेश को सिर झुकाकर शिरोधार्य करते हैं और उन्हीं के आदेशानुसार लोकहित के लिए कार्य करते हैं। मेरा यह ब्रह्मा का पद भी अनित्य है। उन सर्वदेवेश्वर की क्रीड़ा का अन्त होने पर अर्थात् प्रलय काल में मेरा यह लोक भी नहीं रहेगा। तुमने उनके भक्त से द्रोह किया है। तुम्हारी रक्षा करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है।

तब दुर्वासा ब्रह्मा के निकट से सूखा जवाब पाकर यह सोचकर कि गुरुदेव ही मेरी रक्षा कर सकेंगे, कैलास पर्वत पर भगवान शंकर की शरण में गए। तब शंकर ने कहा—वत्स, उन परम पुरुष विष्णु भगवान के निकट मेरा प्रभुत्व नहीं चलेगा। हम उनकी अवज्ञा से लोकपाल रूप में वर्तमान होकर उसी अभिमान से सहस्र सहस्र बार भ्रान्त होते हैं। मैं, सनत्कुमार, नारद, भगवान ब्रह्मा, कपिल, व्यासदेव, देवल, धर्म, आसुरि और मरीचि आदि सिद्धेशगण, हम सब सर्वज्ञ होकर भी उनकी माया को नहीं जान पाते, बल्कि उनकी माया के वश हो रहे हैं। उन विश्वेश्वर का चक्र हमारे लिए भी दुर्विषह है। अतएव तुम उन्हीं विष्णु की शरण में जाओ। वही तुम्हारा कल्याण करेंगे।

शिव के इस कथन से निराश होकर तब दुर्वासा ने सोचा, मैं रसातल आदि स्थानों में गया, ब्रह्मा के और अन्त को अपने इष्टदेव शिव के भी लोक को गया, उनका आश्रय भी ग्रहण किया, किन्तु कहीं भी किसी ने भी मेरी रक्षा का आश्वासन नहीं दिया। अन्त को मैं ऐसी दुरवस्था में आ पड़ा हूँ कि जिनके भक्त का अपमान किया है, उन्हीं (विष्णु) के निकट (अपनी रक्षा के लिए) मुझे जाना पड़ेगा।

अन्त को हताश होकर ऋषि उस समय लक्ष्मीदेवी के

साथ विराजमान नारायण भगवान के पास गए और उनके पैरों पर गिर कर काँपते हुए बोले— हे अच्युत, हे अनन्त, हे साधुजनों को अभय दान करनेवाले, मैंने बड़ा अपराध किया है। हे विश्वभावन, आप संपूर्ण विश्व का मंगल चाहते हैं। मैं भी इसी विश्व का एक जीव हूँ, मेरी रक्षा कीजिए। प्रभो! आपके प्रभाव को बिना जाने मैं सोऽहम्-बुद्धि के अभिमान में आकर आपके भक्त का अनिष्ट करने को उद्यत हुआ था। हे विधाता, मुझे इस अपराध से निष्कृति (छुटकारा) देने की कृपा कीजिए। हे भगवन्, आपके भक्त से द्रोह करनेवाले का निस्तार नहीं है, यह जो आप कहेंगे तो मैं नहीं मानूँगा। कारण, नरक का जीव भी जब आपके मंगलमय श्रीनाम का कीर्तन करने से मुक्ति पाता है, तब मेरा उद्धार क्यों न होगा?

सब जीवों के प्रभु श्रीभगवान ने तब कहा—हे ब्राह्मण, मैं भक्तों के वश में हूँ। स्वाधीन नहीं, भक्तों के अधीन हूँ। भक्तजन मुझे प्रिय हैं, इसी से भक्त साधुओं ने मेरे हृदय पर अधिकार कर रक्खा है। हे मुनिवर, मैं ही जिनकी एकमात्र गति हूँ, उनको छोड़कर मुझे आत्यन्तिक श्री, यहाँ तक कि अपना आत्मा भी प्रिय नहीं है। जिन्होंने पुत्र, स्वजन, धन, प्राण, इहलोक, परलोक आदि सब कुछ त्याग करके मेरी ही शरण ग्रहण की है, उन्हें मैं किस प्रकार त्याग कर सकता हूँ? हे विप्र, सर्वत्र समदर्शी साधुगण मेरे प्रति अपने हृदय का भाव रखकर, सती साध्वी स्त्री जिस प्रकार अपने सज्जन पति को वश कर लेती है उसी प्रकार मुझे अपने वश में कर लिया है, वे मेरे भक्त मेरे सच्चे सेवक हैं। अन्य सुखभोग की इच्छा की कौन कहे, मेरे भक्तगण सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य आदि चारों प्रकार की मुक्ति भी, देने के लिए मेरे तैयार रहने पर भी, नहीं लेना चाहते। अतएव हे विप्र, तुम यदि कहो कि तुम्हारा भक्त मुझे यह कष्ट दे रहा है तो मैं उसके उत्तर में कहता हूँ कि ब्रह्मतेज से युक्त जो तुम हो, उनसे वह साधु ही श्रेष्ठ है। अतएव तुम अम्बरीष से द्रोह करके मुझ से ही द्रोह कर रहे हो—मेरे ही हृदय को जलाते हो। फिर अगर कहो कि प्रभो, मैं तो आपके शरणागत हूँ, आप मेरा अपराध क्षमा करें तो उसके उत्तर में मेरा वक्तव्य यह है कि मैं ही साधुओं का हृदय हूँ साधुका प्रसन्न होना मेरा ही प्रसन्न होना है। इस लिए तुम जाकर भक्तराज अम्बरीष को ही प्रसन्न करो। अगर कहो कि अम्बरीष ने पहले मुझे निमन्त्रण दिया और फिर मुझे भोजन न कराकर उसके पहले ही आप भोजन कर लिया इसमें क्या उसका दोष नहीं है? तो उसके उत्तर में मुझे यही कहना है कि मेरे भक्त साधुजन मेरे सिवा और किसी को भी श्रेष्ठ नहीं मानते। फिर यदि प्रश्न करो कि ब्राह्मण और द्वादशी (एकादशी) व्रत में किसका आदर अधिक है तो उसके उत्तर में मैं कहता हूँ—जाओ, अम्बरीष से पूछो। शास्त्र का ज्ञान तुमको नहीं है। तुमको वह इसका यथार्थ उत्तर दे देगा। अपने को विज्ञ समझकर इसमें तुम लज्जित न होना। कारण, मैं साधु के सिवा और किसी को श्रेष्ठ नहीं जानता। मेरे भक्त अभिज्ञान या अज्ञ नहीं हैं। अम्बरीष ने वेदशास्त्र की विधि के अनुसार ही पारण के लिए जलपान कर लिया है।

आइए पाठकगण, हम भी श्रीमद्भगवत्कथित इस श्लोक के भाव के अनुसार नित्यधर्म का पालन करते रहें—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
(भागवत ९।४।६८)

तब भगवान् ने कहा हे विप्र, तुमने जिसका अपराध किया है, शीघ्र ही उसके निकट जाओ। तुम क्या नहीं जानते, जो व्यक्ति साधुओं का अनिष्ट करना चाहता है, उसी का अनिष्ट होता है? तुम अगर तपस्या और विद्या का अभिमान करो, तो मैं कहता हूँ कि तप और विद्या ब्राह्मणों के नैमित्तिक कर्म हैं; किन्तु दुर्विनीत या उद्दण्ड कर्ता को ये उलटाही फल देनेवाले होते हैं। अतएव जाओ, अम्बरीष से क्षमा की प्रार्थना करो।

चक्र की आग से जल रहे दुर्वासा ऋषि ने तब भगवान के आदेश से अम्बरीष के निकट जाकर दुःखित होकर उनके पैर पकड़ लिये। ब्राह्मण के चरण स्पर्श कर लेने से अत्यन्त लज्जित और दुर्वासा की व्याकुलता से बहुत व्यथित होकर महाराज अम्बरीष सुदर्शन चक्र की स्तुति करने लगे। बहुविध वाक्यों से भगवान के अस्त्र सुदर्शन चक्र की स्तुति करने के बाद अन्त को उन्होंने कहा—हे सुदर्शन, यदि कुछ दान अथवा यज्ञ करने का कुछ मेरा सुकृत हो, यदि मैं अच्छी तरह सदैव अपने धर्म का पालन करता रहा हूँ, यदि सभी जीवों के एकमात्र प्रभु भगवान् मुझपर प्रसन्न हों,

तो उनके प्रसाद से यह ब्राह्मण इस संकट से मुक्त हो जायँ। तब महाराज के स्तव से सन्तुष्ट होकर सुदर्शन चक्र ने अपना तेज समेट लिया और शान्त हो गए। विपत्ति से मुक्त हो कर दुर्वासा ऋषि अपने जीवनदाता महाराज की बारबार बहुत-बहुत प्रशंसा करने लगे।

दुर्वासा ने कहा—महाराज, आज मैंने अनन्त भगवान के दासों का अद्भुत महत्त्व देख लिया। ऐसा कोई कार्य नहीं, जिसे वे न कर सकें। मैंने आपके प्रति अपराध किया और आपने उस अपराध का कुछ भी खयाल न करके मेरे साथ यह व्यवहार किया, मेरी जान बचा दी। अहो, सात्वत पति हरि को जिन्होंने वश में कर लिया है, उनके लिए क्या दुस्त्यज है? जिन भगवान का नाम श्रवण करने से मनुष्य निर्मल हो जाता है, उन्हीं तीर्थपाद भगवान् के दासों के लिए कौन काम करना कठिन है? वे क्या नहीं कर सकते! महाराज! आप बड़े ही दयालु हैं। आज आपने मेरे ऊपर बहुत बड़ा अनुग्रह किया; क्योंकि मेरे अपराध का खयाल न करके मेरे प्राणों की रक्षा की।

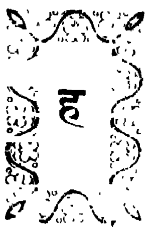
इसके बाद महाराज ने ऋषिवर को प्रणाम करके उनके चरण पकड़ कर उन्हें प्रसन्न करके श्रीभगवान् का प्रसाद उन्हें भोजन कराया। महाराज के आतिथ्य से अत्यन्त प्रसन्न होकर दुर्वासा ने उनसे भी आहार करने के लिए कहा। दुर्वासा ने कहा—राजन, आप परम भगवद्भक्त हैं। आपने मुझे बहुत ही अनुगृहीत किया। आपके इस वार्तालाप और वैष्णवजनोचित आतिथ्य से मैं यत्परोनास्ति प्रसन्न और सन्तुष्ट हुआ। स्वर्ग के रहनेवाले देवता और पृथ्वीवासी मनुष्यगण चिरकाल तक आपकी इस पवित्र कीर्ति को गाकर धन्य होंगे। इस प्रकार विविध वाक्यों से महाराज को सन्तुष्ट करके दुर्वासाजी आकाश-मार्ग से ब्रह्मलोक को चले गए।

अब पाठकों के मन में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि दुर्वासाजी का पीछा जब चक्र ने किया था और जब वह भिन्न-भिन्न लोकों में भ्रमण कर रहे थे और इस प्रकार जितने समय तक वह लौटकर फिर अम्बरीष के निकट नहीं पहुँचे, तबतक महाराज कैसे रहे? भूखे-प्यासे रहे या भोजन इत्यादि करते रहे? इसका उत्तर बड़ा ही सुन्दर है। भगवद्भक्त का त्याग वर्णन नहीं किया जा सकता। तृणादपि सुनीचेन (तृण से भी अधिक नीच या नम्र होने) का भाव उनके कार्यों में अक्षरशः प्रतिपालित होता दिखाई पड़ता है। जीवों पर दया उनके प्रत्येक कार्य में विकास को प्राप्त होती दिखाई पड़ती है। दुर्वासा जबतक लौटकर नहीं आए, तबतक—एक वर्ष के समय तक—अम्बरीष महाराज उनके पुनर्दर्शन की आशा में केवल जलमात्र के आधार पर रहे। सभासदों के बार-बार अनुरोध करने पर भी वह उस स्थान से हटे नहीं। मन वाणी काया से वह श्रीभगवान के निकट ऋषि के मंगल की, कल्याण की कामना करते रहे।

दुर्वासा के चले जाने पर महाराज विष्णु भगवान् का नैवेद्य ग्रहण करके ब्राह्मण की विपत्ति, उनका विपत्ति से छुटकारा, अपने धैर्य और श्रीभगवान के प्रभाव पर विचार करने लगे। महाराज संपूर्ण अन्तःकरण से सफल अनुष्ठान के द्वारा भगवान वासुदेव में परम प्रीति प्रदर्शन करते थे। उसी भक्ति का यह प्रभाव था कि वह ब्रह्मपद के साथ सब प्रकार के भोग को नरक के तुल्य हेय जानते थे।

अन्त को अपने योग्य पुत्र को राज्य-भार सौंपकर राजा अम्बरीष वन को गए और एकान्त में भगवान वासुदेव के ध्यान चिन्तन में लगे रहकर शेष जीवन व्यतीत किया। अब प्रश्न यह हो सकता है कि महाराज घर में रहकर जब सब इन्द्रियों के द्वारा आठो पहर श्रीहरि की सेवा करते रहते थे, तब उनके वन जाने का मतलब क्या है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ व्यक्ति जो आचरण करते हैं, इतर व्यक्ति उसीके अनुगामी होते हैं। गृहाश्रम में यथोचित भगवद्भजन के उपरान्त सब लोगों को वाणप्रस्थ का अवलम्बन करना चाहिए। और महाराज की ओर से देखने से कहना होगा कि धनगृध्नु वणिक् जैसे बहुत सी सम्पत्ति का स्वामी होकर भी धन के लोभ से फिर सागर-तट तक धनोपार्जन के लिए गमन करता है, वैसे ही भगवद्भक्ति धन से धनी महाराज अम्बरीष भी अधिक भक्ति के उपार्जन के लिए वन को गए।

कुएँ की आँख



हम जानते हैं, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि कुछ प्राणियों के शरीर में आँखें हैं। इसी लिए जिस शरीर की आँखें मुंदी होती हैं, उसे अंधा कहते हैं। किन्तु कुएँ के आँख कैसे हो सकती है ?

सुना जाता है, सिराजुद्दौला नाम के बंगाल के एक नवाब ने एक छोटी-सी कोठरी में, जिस में कोई खिड़की वग़ैरह न थी, बहुत-से अँगेरज़ों को बंद कर रक्खा था। उस कोठरी में यथेष्ट हवा और रोशनी न रहने के कारण भीतर बंद लगभग सभी लोग मर गये। इस कोठरी को इतिहास में "अंधकूप" कहा गया है। हमारे घरों में भी जिन कोठरियों में हवा या रोशनी अच्छी तरह और यथेष्ट नहीं आती-जाती, उन्हें हम अंधकूप कहते हैं। इन सब अंधकूपों में खिड़की या झरोखा बहुत कम रहते हैं, अर्थात् बाहर से हवा या रोशनी भीतर घुसने का अवकाश बहुत कम पाती है। मतलब यह कि दरवाज़े या खिड़की को घर की आँख कहा जाता है।

कूप दो प्रकार के होते हैं। जो खूब गहरे और चौड़े हैं, जिनके भीतर उतरने और चढ़ने का अच्छा बन्दोबस्त या सुभीता रहता है, उन्हें केवल कूप या इंदारा कहते हैं। किन्तु जिन कुओं में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है, उन्हें अंधकूप कहा जाता है। लोग अंधकूप को बहुत डरते हैं।

हमारे धर्मशास्त्र में घर को अंधकूप कहा गया है। इस गृहरूप अंधकूप में जो गिरे पड़े हैं, वेही जान सकेंगे कि शास्त्र ने घर को अंधकूप ठीक कहा है या ग़लत

घर कहने से हम समझते हैं, घरबार और उसमें जो कुछ रहता है, सो सब। हमारे इस घर के दरवाज़े और खिड़कियाँ खूब बड़ी-बड़ी हो सकती हैं, उसमें हवा और रोशनी की इफ़रात भी रहती है, फिर भी उसे अंधकूप कहा गया है। लौकिक हिसाब से जिन घरों का नाम अंधकूप होना चाहिए, उन्हें अक्सर लोग खीझकर छोड़ देते हैं। किन्तु जिन्हें अंधकूप नहीं कहा जा सकता, बल्कि जिन में विलास के पदार्थों की कोई कमी नहीं, जहाँ धन रत्न प्रचुर परिमाण में गड़ा हुआ रक्खा है, जहाँ पिता, माता, स्त्री, स्वामी, पुत्र, कन्या आदि बन्धु बान्धव रहते हैं, उसी घर को सर्वप्रधान अन्धकूप कहा गया है! कारण, यहाँ जो वास करते हैं, वे अपने शरीर को 'मैं' समझते और उस शरीर के नाते से पिता, माता, पुत्र आदि तथा घर, रुपये पैसे, असबाब-पत्र वग़ैरह में 'मेरा है' की बुद्धि रखते हुए दिन-रात घोर घबराहट में रहकर आयु बिताते हैं। जो लोग इस भाव से घर में वास करते हैं, उनके लिए वही घर अन्धकूप है।

अंधकूप में गिरने से जैसे प्रकाश का मुख नहीं देख पड़ता, साँप-बिच्छू वग़ैरह के आक्रमण का भय घेरे रहता है, ठंडक से शरीर ऐंठ जाता है और उससे निकलकर फिर रोशनी का मुँह देखने और पृथ्वी पर विचरण करने की आशा नहीं रहती, उसी तरह जो लोग "मैं हूँ, मेरा है" इस बुद्धि को लेकर गृह में वास करते हैं, वे रमणीय ऊँचे महल में रहकर भी अन्धकूप में ही पड़े हैं—शास्त्र का यही कहना है।

श्रीनैमिषारण्य में श्रीप्रभुपाद

(गताङ्क से आगे)

श्रीनैमिषारण्य में बहुत तीर्थ हैं। वहाँ तीर्थपुरोहितों या पंडों की भी कमी नहीं है। कई एक धर्मशालाएँ भी हैं। हर अमावस को नीमसार में आसपास के गाँवों से और दूर-दूर से भी बहुत से यात्री आते हैं। और, सोमवती अमावस को तो लाख पचास हजार यात्री चक्रतीर्थ में स्नान करने के लिए आते हैं। उस समय धर्मशालाओं में भी जगह की कमी हो जाती है। संपत्तिशाली व्यक्ति, ज़मींदार, राजा महाराजा तक सपरिवार स्नान करने के लिए सोमवती को नीमसार आते हैं। भारी मैदान में तंबू कनात लगवाकर एक या दो दिन वहाँ ठहरते हैं। इस समय सरकार की तरफ़ से कुछ समय तक सर्वसाधारण के स्वास्थ्य की ख़बरदारी पर अच्छा ध्यान दिया जाता है। हरएक कुएँ के पानी में बीमारी के कीड़ों को मारनेवाली दवा डाली जाती है, मल-मूत्रत्याग के लिए ख़ास-ख़ास जगहों में टट्टियाँ बनवा दी जाती हैं। ख़ैराती अस्पताल खोल दिये जाते हैं। इस प्रकार मेले के समय सर्वसाधारण के स्वास्थ्य की रक्षा का विशेष प्रबन्ध होता है।

श्रीनैमिषारण्य में श्रीपरमहंस मठ है। वहाँ श्रीगौरसुन्दर और श्री राधागोविन्द अर्चावतार या श्रीभागवत-पाठशाला है। पास ही श्रीललिता देवी का मंदिर, श्रीललिता कुंड, श्रीचक्रतीर्थ, श्रीसूतजी की गद्दी, श्रीव्यासजी की गद्दी, गोमती नदी, श्रीनृसिंहदेव, पञ्च पाण्डवों के स्थान आदि दर्शनीय स्थान हैं। इनके सिवा वसुकुंड आदि तीर्थ और मंदिर आदि भी हैं। वास्तव में एकमात्र श्रीपरमहंस मठ के सिवा अन्यत्र कहीं भी नवधा भक्ति की प्रधान और अग्रणी नायिकास्वरूप श्रौत श्रवण-भक्ति का अनुशीलन नहीं होता। 'श्रवण' के बिना चक्षु की क्रिया 'दर्शन' तथा नासिका, जिह्वा, त्वचा और मनकी क्रियाएँ क्रमशः सूँघना, स्वाद लेना स्पर्श और चिन्तन-ध्यान आदि कुछ भी नियमित रूप से सुपथ में संचालित नहीं हो सकता। श्रीश्रीप्रभुपाद ने भागवत श्रवण-पीठ श्रीनैमिषारण्य क्षेत्र में यह बात विशेष रूप से कीर्तन की थी।

श्रौत सद्गुरुपादपद्म से श्रवण के बिना चक्षु द्वारा तीर्थादि दर्शन, तीर्थादि में श्रीमन्दिर श्रीविग्रह आदि के दर्शन, नासिका द्वारा श्रीविग्रह के निर्माल्य को सूँघना, जिह्वा द्वारा श्रीविग्रह के प्रसाद का आस्वादन या कीर्तन करना, त्वचा के द्वारा श्रीभगवान और भगवद्भक्तों के चरणों का स्पर्श, कुछ भी यथार्थ रूप से नहीं हो सकता।

जो लोग श्रौतगुरु-पादपद्म के "श्रवण" को छोड़कर तीर्थादि दर्शन (?) श्रीविग्रह दर्शन (?), हरिकथा-कीर्तन का अभिनय आदि जो कुछ भी करते हैं उनका वह सभी विपथ-चालित और मनोधर्मयुक्त होता है।

श्रवण पीठ श्रीनैमिषारण्य में वही मनोधर्म का चक्र किस तरह टूट गया है और श्रवण की गोमुखी गंगाधारा गोमती में श्रावण की वर्षा की बाढ़ किस तरह लाई है, यही श्रीप्रभुपाद के कीर्तन में श्रवण का विषय था। परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य ने श्रीपरमहंस मठ में पुनः पारमहंस्य संहिता (भागवत) के कीर्तन द्वारा चक्षु, जिह्वा, नासिका, त्वचा, मन आदि इंद्रियों से संचालित हो रहे हम लोगों को कृपापूर्वक कर्णवेध-संस्कार से सुसंस्कृत करके भागवत-रूप अमृत पिलाया था।

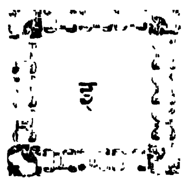
गत ८ नवम्बर को श्रीश्रीप्रभुपाद लखनऊ से डेढ़ बजे के लगभग रवाना होकर तीसरे पहर चार बजे नीमसार में पहुँचे। श्रीप्रभुपाद के साथ श्रीपाद अधोक्षजप्रभु, श्रीपाद परमानन्द ब्रह्मचारी विद्यारत्न, श्रीप्यारीमोहन ब्रह्मचारी, श्रीमान सच्चिदानन्द, श्रीसुन्दरानन्द पर-विद्याविनोद प्रभु आदि कई मूर्तियाँ थीं। लखनऊ से ५२ मील रास्ता तय करने पर सीतापुर मिलता है। वहाँ से २० मील नैमिषारण्य है। श्रीप्रभुपाद की मोटर श्रीपरमहंस-मठ के सामने आकर उपस्थित हुई। श्रीपरमहंस-मठ नीमसार में श्रीललितादेवी के श्रीमन्दिर के पास ही अति उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित है। श्रीप्रभुपाद के शुभागमन से पहले ही त्रिदंडीस्वामी श्रीमद्भक्तिहृदय वन महाराज और श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज, श्रीयुत सखीचरण भक्तिविजय, ब्रह्मचारी श्रीनृसिंहानन्दजी, ब्रह्मचारी श्रीनन्ददुलालजी, ब्रह्मचारी श्रीहयग्रीव आदि ने परमहंसमठ में आकर श्रीमठ को पुष्पमाल्य पताका, आम्रपल्लव, पूर्ण कलश आदि मांगलिक पदार्थों से सुसज्जित किया था। प्रभुपाद की सवारी पहुँचते ही मठ के सेवकगण ने श्रीश्रीगुरुगौरांग की जयध्वनि के साथ श्रीश्रीप्रभुपाद के

पादपद्म की वन्दना करके श्रीश्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना की।

दूसरे दिन उषःकाल में सोमवती अमावस का नहान था। स्नान के उपलक्ष में एक लक्ष से अधिक यात्री नैमिषारण्य में आकर जमा हुए थे। बहुत से संभ्रान्त (प्रतिष्ठित) और शिक्षित व्यक्ति तथा राजकर्मचारी आदि भी वहाँ आए थे। श्रीप्रभुपाद के शुभागमन की खबर सुनकर बहुत से प्रतिष्ठित सज्जन श्रीपरमहंस मठ में श्रीप्रभुपाद के श्रीमुख से हरिकथा श्रवण करने के लिए आए। जिन सज्जनों का नाम और परिचय मालूम हो सका, उनके नाम नीचे दिए जाते हैं—श्रीयुत कृष्णकुमारसिंह डिपुटी कलेक्टर सीतापुर, श्रीयुत आर० डी० भार्गव डी० एम० ओ० एच०, श्रीयुत ललितमोहन मुखोपाध्याय भूतपूर्व प्रिंसिपल हैदराबाद इंजीनियरिंग कॉलेज, श्रीयुत महेश्वरबख्शसिंह आनरेरी मैजिस्ट्रेट और ज़मींदार बड़ताल, श्रीयुत दशरथनन्दनसहाय तहसीलदार मिसरिख, हकीम दीनदयालु मिसरिख, बाबू देवीप्रसाद लखीमपुर, श्रीयुत के० एन० चौबे भूतपूर्व स्टेशनमास्टर मिसरिख, पण्डित अघोराम तांत्रिक गजसिंहपुर, हरदोई आदि। सब लोग महाराज के श्रीमुख से हरिकीर्तन सुनकर कृतार्थ हुए।

जीव का नित्य और नैमित्तिक धर्म

ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्ति विनोद ठाकुर विरचित



स पृथ्वी में जंबूद्वीप श्रेष्ठ है। जम्बूद्वीप में भारतवर्ष प्रधान है। भारत में गौड़ भूमि सर्वोत्तम है। गौड़देश में श्रीनवद्वीपमण्डल परम उत्कृष्ट है। श्रीनवद्वीपमण्डल के एक स्थान में भागीरथी के किनारे श्रीगोद्रुम नाम का एक रमणीय जनपद नित्य विराजमान है। श्रीगोद्रुम के उपवन में प्राचीन काल में अनेक भजनानन्दी पुरुष स्थान स्थान में वास करते थे। जिस स्थल में किसी समय श्रीसुरभि ने स्वीय लतामण्डप में भगवान गौरचन्द्र की आराधना की थी, उससे थोड़ी ही दूर पर प्रद्युम्न-कुंज नाम की एक भजन-कुटी थी। वहाँ घनी लता से ढकी हुई एक कुटी के भीतर श्रीभगवत्पार्षद-प्रवर प्रद्युम्न ब्रह्मचारी के शिक्षा-शिष्य श्रीप्रेमदास परमहंस बाबाजी महाशय निरन्तर भजनानन्द में निरत रहकर अपना समय बिताया करते थे।

श्रीप्रेमदास बाबाजी सब शास्त्रों में पण्डित होकर भी श्रीनन्दग्राम से अभिन्न तत्त्व जानकर श्रीगोद्रुम वन का आश्रय एकान्त मन से ग्रहण किए हुए थे—वहीं रहते थे। नित्य दो लक्ष हरिनाम जपना, सब वैष्णवों के उद्देश से शत-शत दण्डवत तथा गोप-गृह में मधुकरी (भिक्षा) द्वारा जीविका निर्वाह करना—यही उनके जीवन का नियम हो उठा था। जिस समय वह इन सब कामों से छुट्टी पाकर विश्राम करते थे, तब किसी प्रकार की ग्राम्य कथा (वार्तालाप) न करके भगवत्पार्षद प्रधान श्रीजगदानन्द के 'प्रेम-विवर्त' का पाठ करते थे। उस समय उनके नेत्रों में आनन्द के आँसू भर आते थे। इस समय निकटस्थ कुंजवासीगण आकर भक्ति के साथ उनके पाठ को श्रवण करते थे। क्यों न करते? प्रेम-विवर्त ग्रन्थ संपूर्ण रस तत्त्व से परिपूर्ण है। उस पर बाबाजी के अमृत—बरसानेवाले मधुर स्वर को सुनकर संपूर्ण भक्तों के हृदय से विषय-विष की अग्नि दूर हो जाती थी।

एक दिन तीसरे पहर संख्या भर नाम-जप संपूर्ण करके बाबाजी महाशय श्रीमाधवी मालती लता-मण्डप में बैठकर "श्रीप्रेम विवर्त" का पाठ करते-करते भाव-समुद्र में मग्न हो रहे थे, इसी समय एक संन्यासी ने आकर उनके चरणों में दण्डवत प्रणाम किया और बड़ी देर तक उसी तरह चरणों पर पड़े रहे। किन्तु थोड़ी ही देर में बाबाजी को जब बाह्य स्फूर्ति हुई, तब उन्होंने साष्टांग पड़े हुए संन्यासी महात्मा को देखा। अपने को तृण से भी नीच जानकर वह संन्यासी के सामने पड़कर "हा चैतन्य! हा नित्या-

नन्द ! इस अधम पर कृपा करो" यह कहकर रोने लगे। क्रमशः संन्यासी से संभाषण करके उन्होंने कहा—"प्रभो, मैं अत्यन्त हीन और दीन हूँ। मुझे आप क्यों विडम्बित करते हैं?" तब वह संन्यासी बाबाजी के चरणों की रज मस्तक में लगाकर उनके सामने बैठे। बाबाजी ने भी उन्हें बैठने के लिए केले के छिलके का आसन दिया और एक तरफ बैठकर प्रेम से गद्गद स्वर में कहा—"प्रभो, यह दीन व्यक्ति आपकी क्या सेवा करने योग्य है?" तब अपना कमण्डलु रखकर हाथ जोड़कर उन संन्यासी ने कहा—"प्रभो, मैं बड़ा ही भाग्यहीन हूँ। सांख्य, पातंजल, न्याय, वैशेषिक, उत्तर मीमांसा, पूर्व-मीमांसा और उपनिषद् आदि वेदान्त शास्त्र काशी आदि बहु विध पुण्यतीर्थों में मैंने बहुत समय तक अच्छी तरह पढ़े हैं, शास्त्र तात्पर्य-वितर्क में बहुत-सा समय बिताया है। बारह वर्ष के लग भग हुए, मैंने श्रीसच्चिदानन्द सरस्वती पाद के निकट दण्ड (संन्यास) ग्रहण किया है। दण्ड ग्रहण करके सब तीर्थों में भ्रमण करते हुए मैंने भारत में सर्वत्र शंकर-मतानुयायी संन्यासियों का संग किया है। कुटीचक, बहूदक, हंस, इन तीनों अवस्थाओं को अतिक्रमण करके कुछ दिन परमहंस-पद भी मैंने प्राप्त किया था। मौनावलम्बन-पूर्वक वाराणसी-क्षेत्र में "अहं ब्रह्मास्मि", "प्रज्ञानं ब्रह्म", "तत्त्वमसि" आदि श्रीशंकराचार्य-कथित महावाक्यों का आश्रय मैंने लिया था। एक दिन एक कोई साधु वैष्णव ऊँचे स्वर से हरि-लीला गाते हुए मेरे सामने से चले गए। मैंने आँखें खोल-कर देखा कि वह वैष्णव आँसुओं की धारों से नहाए हुए हैं और उनके सारे शरीर में रोमांच हो रहा है। गद्गद स्वर से "श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु नित्यानन्द" यह नाम कह रहे हैं और नृत्य करते-करते चरण स्खलित होने से पृथ्वी पर गिर गिर पड़ते हैं। उनको देखकर और उनका गान सुनकर मेरे हृदय में कैसा एक अनिर्वचनीय भाव उत्पन्न हुआ, सो मैं आपके निकट वर्णन करने में असमर्थ हूँ। भावोदय अवश्य हुआ, तथापि अपनी परमहंस पद की मर्यादा की रक्षा करने के लिए मैं उनसे वार्तालाप कुछ न कर सका। हा धिक्! धिक्कार है मेरी पद मर्यादा को! धिक्कार है मेरे भाग्य को! कह नहीं सकता न जाने क्यों उसी दिन से मेरा चित्त श्रीकृष्ण-चैतन्य के श्रीचरणों के प्रति आकृष्ट हो गया। बाद को मैंने व्याकुल होकर उस वैष्णव साधु को बहुत ढूँढा। किन्तु फिर वह देख नहीं पड़े। मैंने देखा, उन वैष्णव के दर्शन और मुख से नाम-श्रवण से मुझे जो विमल आनन्द हुआ था, उसका अनुभव पहले मुझे कभी नहीं हुआ था। मैंने बहुत दिन विचार करके यह निश्चय किया कि वैष्णवों के चरणों का आश्रय लेना ही मेरे लिए श्रेय है। मैं काशी को छोड़कर श्रीधाम वृन्दावन गया। वहाँ मैंने अनेक वैष्णवों को देखा। वे श्रीरूप, सनातन, जीव गोस्वामी का नाम लेकर बहुत विलाप करते हैं। वे श्रीश्रीराधाकृष्ण की लीलाओं का स्मरण करते हैं और श्रीनवद्वीप का नाम लेकर प्रेम से पृथ्वी पर लोटते हैं। मेरी लालसा हुई कि श्रीनवद्वीप के दर्शन करूँ। श्रीव्रजधाम की चौरासी कोस की परिक्रमा करता हुआ मैं कई दिन हुए श्रीमायापुर में आया हूँ। मायापुर नगर में आपकी महिमा सुनकर आज मैंने आपके चरणों का आश्रय लिया है। आप इस दासको अपना कृपापात्र करके चरितार्थ कीजिए।

परमहंस बाबाजी महाशय ने दाँत में तृण दबाकर रोते रोते कहा—संन्यासी प्रभु, मैं नितान्त अपदार्थ हूँ। उदर-पूर्ति, निद्रा और वृथा की बातों में मेरा जीवन वृथा गया। श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्र के लीला स्थान में रहकर दिन बिताता हूँ। किन्तु कृष्ण का प्रेम क्या वस्तु है, इसे आस्वादन के द्वारा अब तक समझ नहीं पाया। आप धन्य हैं! कारण, एक घड़ी के लिए भी आपने वैष्णव दर्शन करके प्रेम का स्वाद पाया है। आप कृष्णचैतन्यदेव के कृपापात्र हैं। इस अधम को प्रेम-आस्वादन के समय कभी कभी आप स्मरण कर लिया करें, तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।

यह कहते-कहते बाबाजी महाशय ने संन्यासी को गले से लगा लिया और आँसुओं से नहला दिया। संन्यासी महा-शय ने वैष्णव के अंग का स्पर्श करके हृदय में एक अभूतपूर्व भाव के उदय का अनुभव किया। वह भी रोते-रोते नृत्य करने लगे। नृत्य के समय वह यह पद्य गाने लगे-

"जय श्रीकृष्णचैतन्य श्रीप्रभु नित्यानन्द।
जय प्रेमदास गुरु जय भजन आनन्द॥"

बहुत देर तक नृत्य कीर्तन के उपरान्त स्थिर होकर दोनों ने परस्पर बहुत-सी बातें कीं। प्रेमदास बाबाजी महा-शय ने विनीत भाव से कहा—"हे महात्मन्! आप इस प्रद्युम्न कुंज में कुछ दिन निवास करके मुझको पवित्र और कृतार्थ कीजिए।" संन्यासी ठाकुर ने कहा—"मैंने आपके चरणों में अपना यह देह समर्पण किया। कुछ दिन की बात

आप क्या करते हैं, अपने देहत्याग तक आपकी सेवा कर सकूँ, यही मेरी प्रार्थना है।'

संन्यासी महाशय सब शास्त्रों के ज्ञाता थे। गुरुकुल में कुछ दिन वास करके गुरु का उपदेश ग्रहण करना होता है, इस बात को वह अच्छी तरह जानते थे। अतएव परम आनन्द से उस कुञ्ज में वह कई दिन रहे। परमहंस बाबाजी ने कई दिन बाद कहा—हे महात्माजी श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारी महाराज ने कृपा करके मुझे चरणों में स्थान दिया है। वह आजकल श्रीनवद्वीप मण्डल के एक प्रान्त में श्रीदेवपल्लीग्राम में श्रीश्रीनृसिंहदेव की उपासना में मग्न हैं। आज चलिए, मधुकरी समाप्त करके उनके चरणों के दर्शन कर आवें। संन्यासी ठाकुर ने कहा—जो आज्ञा होगी, उसका पालन करूँगा।

दो बजे के समय वे दोनों श्रीअलकनन्दापार होकर श्रीदेवपल्ली में उपस्थित हुए। सूर्यटीला नाँघकर श्रीनृसिंहदेव के मंदिर में भगवत्पार्षद श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारी के चरणों के दर्शन उन्होंने पाए। दूर से परमहंस बाबाजी ने दण्डवत् पृथ्वीपर गिरकर श्रीगुरुदेव को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। ब्रह्मचारी ठाकुर ने भक्त-वात्सल्य से आर्द्र होकर श्रीमन्दिर के बाहर आकर परमहंस बाबाजी को दोनों हाथों से उठाकर प्रेमालिंगन करके कुशल-क्षेम पूछी। बहुत देर तक इष्ट-गोष्ठी के बाद परमहंस बाबाजी ने उन्हें संन्यासी ठाकुर का परिचय दिया। ब्रह्मचारी ठाकुर ने सादर कहा—भाई, तुमने यथायोग्य गुरु पाया है। प्रेमदास के निकट "प्रेम विवर्त" की शिक्षा प्राप्त करो।

संन्यासी हो या विप्र हो शूद्र जाति या होय।
कृष्णतत्त्व जो जानता सच्चा गुरु है सोय॥

संन्यासी ठाकुर ने भी विनीत भाव से परमगुरु के पादपद्मों में साष्टाङ्ग प्रणाम करके कहा—प्रभो! आप चैतन्यदेव के पार्षद हैं। आपके कृपा-कटाक्ष से मेरे जैसे सैकड़ों अभिमानी-संन्यासी पवित्र हो सकते हैं। कृपा करिए।

संन्यासी ठाकुर ने भक्तगोष्ठी के परस्पर व्यवहार को पहले सीखा नहीं था। गुरु और परमगुरु में परस्पर जिस प्रकार का व्यवहार देखा, उसी को सदाचार जानकर अपने गुरु के प्रति निष्कपट रूप से, उसी दिन से, वैसा ही व्यवहार करने लगे। संध्या की आरती देखकर दोनों जने श्रीगोद्रुम को लौट आए।

(क्रमशः)

प्रचार-प्रसंग

१—श्रीरूपगौड़ीय मठ (प्रयाग) का महोत्सव

गत २१ अक्टोबर (१९३१) कार्तिक-कृष्णा तृतीया, बृहस्पतिवार के दिन श्रीश्रीप्रभुपाद ने प्रयाग-प्रवासी और प्रयाग-निवासी बहुत से प्रतिष्ठित पुरुषों के सामने प्रातःकाल, दोपहर और तीसरे पहर के समय हरि कथा का कीर्तन किया था। श्रीरूपगौड़ीय मठ का उत्सव बुधवार से शुरु हो गया था। आज उत्सव सभा के द्वितीय अधिवेशन का दिन था। श्रीरूपगौड़ीय मठ के सामने के विस्तृत प्रमोद उद्यान में भगवत्सेवारूप प्रमोद या कीर्तन-उत्सव का प्रबन्ध किया गया था। चारों ओर कई शिविर स्थापित थे और मध्य-स्थान में सभामण्डपी प्रस्तुत हुआ था। सन्ध्या की आरती के बाद श्रीश्रीप्रभुपाद के आदेश से श्रीपाद अनन्त वासुदेव परविद्याभूषण प्रभु के नेतृत्व में मठस्थ भक्तवृन्द ने गुरु-वन्दना के उपरान्त गौर विहित कीर्तन किया। उसके बाद श्रीश्रीप्रभुपाद की आज्ञा से "गौड़ीय" पत्र के संपादक श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद महोदय ने लगभग २ घंटे तक "वेदान्त, चित्समन्वय और प्रयाग में श्रीरूप शिक्षा" विषय पर एक विस्तृत भाषण किया। सभा में बहुत से शिक्षित और प्रतिष्ठित श्रोताओं ने मन लगाकर ये सब बातें श्रवण कीं और उन्होंने इस जड़सर्वस्व युग में श्रीश्रीप्रभुपाद की असमोर्द्ध कृपा का परिचय प्राप्त किया।

३० अक्टोबर को, चतुर्थी, शुक्रवार के दिन इलाहाबाद विश्वविद्यालय के श्रीअवधविहारी कपूर एम० ए० महाशय

ने श्रीश्रीप्रभुपाद के श्रीमुख से हरिकथा श्रवण की। फलस्वरूप उन्होंने श्रीचैतन्यचरणार्चना ही मानव-जीवन के संपूर्ण अध्ययन, अध्यापन और प्रयत्न की सार्थकता है, इस बात को विशेष विचार के साथ हृदयंगम करके श्रीचैतन्य-निजजनों के पाद-पद्म का आश्रय लेकर श्रीचैतन्यदेव के निर्दिष्ट हरिनाम-महामन्त्र की सेवा आरंभ कर दी। श्रीव्रजविहारी के कण्ठ में तुलसी माला, द्वादशांगों में तिलकांकित श्रीहरिमन्दिर एवं श्रीनामाचार्य गुरु के आनुगत्य से मुख में उच्चैःस्वर से श्रीहरि-नाम का उच्चारण बहुत ही सोहावना जान पड़ता था।

इसी दिन श्रीपाद भक्तिसारंग गोस्वामी प्रभु, श्रीपाद भारती महाराज, श्रीयुत गणेशचन्द्र देव महोदय, श्री अनुपम न्यायकोविद, श्रीयुक्त सारदाचरण मुखोपाध्याय आदि सेवकगण की विशेष चेष्टा से श्रीरूपगौड़ीय मठ के लिए एक बड़ा सा ज़मीन का टुकड़ा खरीदा गया और उसकी रजिस्ट्री भी करा ली गई। परम भागवत श्रीयुत गणेशचन्द्र देव महोदय ने श्रीचैतन्य-मठ के शाखा-मठ श्रीरूपगौड़ीय मठ के लिए यह ज़मीन खरीद दी है। तीसरे पहर पाँच बजे के समय श्रीश्रीप्रभुपाद ने श्रीरूपगौड़ीयमठ के नवीन श्रीमन्दिर की नींव में ईंट रक्खी। मन्दिर की भूमि में सपार्षद श्रीप्रभुपाद का फ़ोटो लिया गया। श्रीप्रभुपाद के मन्दिर की नींव में ईंट रखते समय प्रयाग के स्वनामधन्य वकील श्रीहरिमोहन बाबू और उनके पुत्र तथा मिलिटरी इंजीनियरिंग-विभाग के श्रीयुतचंद्र महाशय वहाँ उपस्थित थे।

इसी दिन श्रीरूपगौड़ीय मठ का साधारण महामहोत्सव था। श्रीमठ की उत्सव सभा में प्रयाग-प्रवासी बहुत से शिक्षित और प्रतिष्ठित व्यक्ति उपस्थित हुए थे। पुत्र-सहित वकील श्रीयुत हरिमोहन बाबू श्रीप्रभुपाद के निकट श्रीमठ के जगमोहन में बैठकर हरि-कथा श्रवण कर रहे थे। वहाँ उपस्थित श्रीयुक्त यतीन्द्रनाथ भट्टाचार्य नाम के एक व्यक्ति ने अपने को विकृत वेदान्त का अनुशीलन करनेवाला और उसकी विकृत धारणा से प्रचलित तथा कथित भक्ति के विकार दर्शन से अधोक्षजसेवामयी भक्ति को भी "अवैदिक धर्म" अपने मन में समझ रक्खा था। कोई भी उनकी इस प्रकार की भ्रान्त और विकृत धारणा के विपरीत कहकर उनके विकृत मनोधर्म या धारणा को दूर न कर सका था। श्रीप्रभुपाद ने शास्त्र और युक्ति के द्वारा उक्त भट्टाचार्य महाशय की पूर्वोक्त धारणा की असारता दिखाकर एकमात्र भक्ति-धर्म की ही श्रौत मौलिकता संस्थापित की अर्थात् यह दिखला दिया कि वेद इसी भक्तिधर्म का प्रतिपादन करते हैं। बाद को उन भट्टाचार्य ने विनम्र भाव धारण करके श्रीप्रभुपाद की बातें सुनने के लिए अपना आग्रह प्रकट किया।

श्रीप्रभुपाद ने इसी दिन सन्ध्या के उपरान्त सभामण्डप में "वास्तव सत्य क्या है?" इस विषय पर एक विस्तृत व्याख्यान दिया। "अवास्तव या तात्कालिक सत्य-समूह की परमायु", "वास्तव शब्द का तात्पर्य", "वास्तव सत्य का संज्ञा निरूपण", "श्रीमद्भागवत के प्रथम और द्वितीय श्लोक में 'वास्तव सत्य' का अर्थ", "श्रीमद्भागवत का स्वरूप", "अधोक्षज वस्तु ही वास्तव सत्य है", "जीव का परम धर्म भगवद्भक्ति", "आध्यक्षिकता का प्रकार", "एकपाद विभूति", "तुरीय वस्तु", "विलक्षण चिन्ता-स्रोत", "अन्तर्यामी", "अन्तर्यामी का स्थूल आवरण", "वास्तव सत्य की पारिपार्श्विकता और उसका ध्यान", "ध्यान शब्द का तात्पर्य", "ध्यान का विषय", "गौणी शक्ति या बहिरंगा शक्ति", "दरिद्र नारायण आदि अवैध और विष्णु विरोधमूलक शब्द", "अभ्युदयवाद के अभ्यन्तर में जो जो ज्ञान प्राप्त होता है उसकी अपूर्णता", "मानव को एक बार में खगोल का आधा भाग ही दृष्टि गोचर होता है, अर्थात् उसको एक बार में १८० डिग्री देख पड़ता है, अन्य १८० डिग्री खगोल का अंश नहीं दृष्टिगोचर होता", "मानव जाति का एकपाद दर्शन", "सभी एकपाद विभूति के वक्ता श्रोता और ध्याता हैं", "सर्वज्ञता का अभाव", "अतन्निरसन व तद्वस्तु के स्थापन द्वारा वस्तु विषय की अभिज्ञता का लाभ", "जागतिक दर्शन शास्त्र और अप्राकृतिक दर्शन", "इन्द्रिय जनित ज्ञान स्वराट् नहीं है", "आकाश के अभाव में आकाश-दर्शन का अभाव", "सूरियों की मोह-शक्ति का बहुत्व", "वस्तु का एकत्व", "वस्तुत्व में शक्ति का वैचित्र्य" "पूर्ण वस्तु जब अपूर्ण हम लोगों के निकट उपस्थित होती है, तब अपूर्ण होने पर भी स्थाचानन्याय कल्पने", "आनन्त्य-शब्द का तात्पर्य", "केवलाद्वैतवादियों के स्वकपोल कल्पित विकृत अर्थ की असंगति", "अखिल-रसामृत-मूर्ति की आलोचना", "श्रीजयदेव कविराज के द्वादशावतार-स्तोत्र की व्याख्या", "वास्तव सत्य का अधिकारी ही केवल अजित भगवान् को जय कर सकता है", "श्रीचैतन्यदेव का जीवन और वाणी ही श्रीमद्भागवत है" इत्यादि बहुत से

विषयों की अवतारणा करके श्रीप्रभुपाद ने एक अत्यन्त-सुन्दर अभिभाषण दिया।

श्रीरूपगौड़ीय-मठ का वार्षिक महामहोत्सव रूपानुगवर श्रीश्रीप्रभुपाद की कृपा से परम सफलता के साथ सुसम्पन्न हुआ। प्रयाग-वासी बहु बहु प्रतिष्ठित और शिक्षित तथा साधारण व्यक्ति आबालवृद्धवनिता सभी हरिकथामृत पान करके और विचित्र महाप्रसाद सम्मान करके धन्य-अतिधन्य हुए। इस महोत्सव में परमभागवत श्रीयुक्त सखीचरण भक्तिविजय महोदय ने अश्रान्त परिश्रम लगातार किया। उनकी सेवा की तुलना नहीं। सपरिवार परम-भागवत श्रीयुत गणेशचन्द्र देव महोदय की प्राणपण से सेवा की चेष्टा भी आदर्श है। परमभागवत श्रीयुत गणेश चन्द्र देव की परम भक्तिमती आदर्श सेवा-परायणा सहधर्मिणी ने पति के हरिभजन में सब तरह की अनुकूलता करके सहधर्मिणी का आदर्श उपस्थित किया।

त्रिदंडी स्वामी श्रीमद्भक्तिविवेक भारती महाराज श्रीमद्भक्तिहृदय वन महाराज और श्रीपाद सखिसरंग गोस्वामी प्रभु की श्रीचैतन्य मनोऽभीष्ट संस्थापक श्रीरूपानुगवर श्रीरूपादपद्म मनोऽभीष्ट प्रचार की सहायता ने श्रीरूपगौड़ीय मठ के इस महोत्सव को श्रीगुरुकृपा से सर्वविध साफल्य से मण्डित किया।

* * *

२—श्रीगौड़ीय मठ (दिल्ली) में उत्सव और श्रीविग्रह की प्रतिष्ठा

गत १७ नवंबर मंगलवार से ६ दिसंबर रविवार तक दिल्ली के श्रीगौड़ीय मठ में श्रीश्रीविश्ववैष्णव-राजसभा के उद्योग से वार्षिक महामहोत्सव सुसम्पन्न हुआ। इस उपलक्ष में नित्य मठ तथा अन्यान्य स्थानों में श्रीमद्भागवत और श्रीचैतन्य चरितामृत ग्रन्थों का पाठ, व्याख्या और कीर्तन आदि होता रहा। ॐविष्णुपाद श्रीश्रीभक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद ने कृपापूर्वक दिल्ली में उतर कर नित्य हरिकथा का कीर्तन करके लोगों को कृतार्थ किया। श्रीप्रभुपाद के शुभविजय से राजधानी दिल्ली महानगरी धन्य हुई। ६ दिसम्बर, रविवार के दिन श्रीराधा गोविन्दजी के श्रीविग्रह की प्रतिष्ठा और महा महोत्सव सुसम्पन्न हुआ। विशेष विवरण फिर दिया जायगा।

* * *

३—शुकरतला के मार्ग में प्रभुपाद

गत २९ नवंबर (१९३१ ई०) रविवार को सबेरे १० बजे श्रीश्री प्रभुपाद भक्तगण के साथ श्रीमद्भागवत के द्वितीय अधिवेशन स्थान राजा परीक्षित् के प्रायोपवेशन के क्षेत्र शुकरतला की ओर शुभ विजय करने को नई दिल्ली से रवाना होकर १२-४५ के समय मुजफ्फरनगर में पहुँचे। रायबहादुर लाला जगदीशप्रसाद के मकान में स्थानीय बहुत से सज्जनों और प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने सपार्षद श्रीश्री-प्रभुपाद की सादर अभ्यर्थना की। सन्ध्या समय जगदीशप्रसाद हाल में एक बहुत बड़ी सभा का अधिवेशन हुआ। उक्त सभा में सब स्थानीय प्रतिष्ठित और शिक्षित लोग उपस्थित हुए थे। श्रीप्रभुपाद ने सभापति के आसन से अँगरेज़ी में एक भाषण किया। "भागवत" पत्र के संपादक त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिहृदय वन महाराज ने भी हिन्दी और अँगरेज़ी में भाषण किया। श्रीचैतन्य-मठ के अन्यतम दण्डी श्रीपाद अनन्त वासुदेव परविद्याभूषण प्रभु ने तारकब्रह्मनाम का कीर्तन करके इस प्रदेश में रहनेवालों को धन्य बनाया।

सपार्षद श्रीप्रभुपाद ने गत ३० नवंबर (१९३१ ई०) को शुकरतला के दर्शनार्थ शुभ विजय की है। विस्तृत विवरण फिर प्रकाशित होगा।

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्द्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जाननगर, बर्द्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नबाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मेमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाड़ी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० ४ जगत्जीवनपुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाक, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
श्रीनृसिंहदासकुंज, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीश्यामगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, करनाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ-कार्यालय
नं० ५, गोपीभवन डाक्टर लेन, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथोड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटीपुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलबरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) काठालपुली चगदा, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्द्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकंदा चीरकुंडा, मानभूमि

(३०) श्रीभागवत जनानन्द मठ
मु० चिरालिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registerd No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम्—सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशित) प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्री-रूपगोस्वामी प्रभु कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति मध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची, अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)
१२—युक्तिमल्लिकागुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित ३)

वंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपमाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)
१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ≡)
१६—नवद्वीपपरिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद-कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म ३)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत प्रभुकृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्री-मद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती स्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Ban Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabvat: Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Ban Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

24th Dec. 1931

केशव गौरपक्ष गौराब्द ४४५

मार्गशीर्ष पूर्णिमा संवत् १९८८

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डी स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक मूल्य १।)

Editor: —Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

९४६ सदर बाजार, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagbat'

946, Saddar Bazar,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदंडी स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष १ | संख्या ४

मार्गशीर्ष पूर्णिमा, गौराब्द ४४५, सं० १९८८ वि०, २४ दिसम्बर सन० १९३१ ई०

नम्र निवेदन

[३]

धनोपार्जन किया मैंने, जवानी में बना कामी।
स्मरण कर धर्म गृहिणी का गहा तब हाथ हे स्वामी ॥
गृहस्थी साथ में उसके जमाने का इरादा कर,
समय यों ही बहुत-सा तो बिताया व्यर्थ ही प्रभुवर ॥
बहुत-से पुत्र-पुत्री फिर हुए, जिन से गया घर भर ;
अनेकों कष्ट, चिन्ताएँ, नहीं थीं छोड़ती दम भर ॥
बुढ़ापा आ गया, दिन दिन बढ़ा बोझा गृहस्थी का ;
हुई अस्थिर, अचल मति गति, हुआ जीवन जगत फीका ॥
सताती नित्य थी चिन्ता, करे पीड़ा बिकल बिह्वल ;
अभावग्रस्त होकर फिर रहा दुःखाग्नि में मैं जल ॥
अँधेरा हर तरफ है, कुछ न सूझे लग रहा है भय।
उबरने के लिए उससे करूँ क्या देव करुणामय ॥
नहीं है थाह जिसकी, वह नदी संसार की भारी।
मरण सिर पर खड़ा है, कूच की भेरी है तैयारी ॥
"यहाँ का काम पूरा कर, बजे जब कूच की भेरी।
भजूँगा तब तुम्हें स्वामी", विफल आशा है यह मेरी ॥
सुनो प्रभु, सत्य कहता हूँ, तुम्हारे बिन नहीं गति है।
बिना प्रभु की कृपा पाए, वृथा संसार की रति है ॥
निराशा सब तरफ़ से है, मुझे चरणों में आश्रय दो।
करूँ सेवा सदा प्रभु की, हृदय की वासना क्षय हो ॥

राजर्षि ध्रुव



यंभुव मनु के औरस से शतरूपारानी के गर्भ में प्रियव्रत और उत्तानपाद नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। उत्तानपाद के दो व्याह हुए। रानियों के नाम थे सुनीति और सुरुचि। सुरुचि अपने पति को बहुत प्यारी थी। सुनीति का वैसा आदर नहीं था। सुनीति के गर्भ से ध्रुव और सुरुचि के गर्भ से उत्तम नाम के राजकुमार ने जन्म लिया। एक दिन राजा उत्तानपाद की गोद में सुरुचि के पुत्र उत्तम को बैठे देखकर सुनीति के पुत्र ध्रुव ने भी पिता की गोद में चढ़ना चाहा। परन्तु ध्रुव को गोद में लेने की कौन कहे, राजा ने उसकी ओर ध्यान भी नहीं दिया। राजसिंहासन पर पति के साथ बैठी हुई सुरुचि ने गर्व के साथ ईर्षा प्रकट करते हुए ध्रुव से कहा—हे ध्रुव, तुम राजपुत्र होने पर भी राजा के आसन पर बैठने के योग्य नहीं हो। राजा के आसन पर अगर बैठने की इच्छा हो तो तपस्या से परम पुरुष भगवान् को प्रसन्न करो और फिर मेरे गर्भ में आकर जन्म ग्रहण करो।

विमाता के ऐसे परम कठोर वाक्य सुनकर ध्रुव को बड़ा दुःख हुआ। वह आँखों में आँसू भरे हुए अपनी माता के समीप उपस्थित हुआ। पुत्र की दशा देखकर और अन्तःपुर के लोगों के मुख से सुरुचि के कहे दुर्वचन सुनकर सुनीति को बड़ा दुःख हुआ। दावानल से झुलसी हुई बन-लता के समान अधीर होकर लंबी साँसें लेती हुई सुनीति ने विलाप करके कहा—हे पुत्र, मेरे समान अभागिन स्त्री के गर्भ में जन्म लेने से ही तुम्हारी यह दशा हुई है। राजा ने मुझे अपनी स्त्री स्वीकार करने में भी लज्जा का अनुभव किया। अगर राजसिंहासन पर चढ़ने की अभिलाषा हो तो विमाता के कहने के अनुसार तपस्या के द्वारा परम पुरुष भगवान् को प्रसन्न करो। ब्रह्मा, रुद्र आदि देवगण द्वारा सेवित, सर्व कामना - कल्पतरु, भक्तवत्सल, भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और किसी के द्वारा तुम्हारा दुःख दूर किए जाने की आशा नहीं है। तुम अनन्यशरण होकर उन्हीं के चरणकमलों की आराधना करो।

जननी के इस विलाप और सारगर्भ उपदेश को श्रवण करके मन में संयम लाकर ध्रुव ने पिता के राज्य को त्याग दिया। ध्यानयोग से ध्रुव के मन की वासना जानकर श्रीनारदजी उनके निकट उपस्थित हुए और बोले—हे वत्स, अदृष्ट (भाग्य) ही सुख-दुःख का मूल है और उसी में सन्तुष्ट रहना उचित है। तुम्हारी माता ने जिस योग का उपदेश किया है, उसके द्वारा भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त करना बहुत ही कठिन है। मुनिगण हज़ारों वर्ष तक तीव्र साधना करके भी ऐसा कार्य सम्पन्न नहीं कर सकते।

ध्रुव ने देवर्षि नारद के उपदेश को सुनकर कहा—प्रभो, अनुग्रह पूर्वक मुझे उत्तम मार्ग का उपदेश कीजिए, जिसका अवलंबन करके मैं त्रिभुवन में ऐसी उत्कृष्ट पदवी प्राप्त कर सकूँ, जिसे मेरे पूर्वज पितर और अन्यान्य व्यक्ति भी न प्राप्त कर सकें।

ध्रुव के ऐसे वाक्य श्रवण कर देवर्षि नारद परम प्रीति के साथ कृपा-परवश होकर बोले—वत्स, तुम्हारी जननी ने जो उपदेश किया है, वही मार्ग अभीष्ट लाभ का एक मात्र उपाय है। धर्म-अर्थ काम-मोक्ष फल पाने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों को भगवान् के चरणारविन्दों की सेवा से ही सर्वार्थ सिद्धि प्राप्त होती है। अतएव यमुनातट पर पवित्रतम क्षेत्र मधुवन में जाकर मन-वाणी-काया से निरन्तर श्रीभगवान् हरि की आराधना करो।

ध्रुव को इस तरह उपदेश करके परम गुह्य द्वादशाक्षर मंत्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) की दीक्षा देकर देवर्षि नारद ने राजा उत्तानपाद के अन्तःपुर में प्रवेश किया और राजा से कहा – राजन, तुम ऐसे विषण्ण और चिन्ता में डूबे हुए क्यों देख पड़ते हो? इसके उत्तर में राजा ने अपने पाँच वर्ष के बालक और उसकी माता के निर्वासन का संवाद बताकर वन में बालक के ऊपर विपत्ति आने की आशंका करके स्वकृत कर्म के लिए पश्चात्ताप प्रकट किया।

ध्रुव ने मधुवन में उपस्थित होकर एकाग्र चित्त से परम पुरुष भगवान् की परिचर्या में अपने को लगा दिया। हर तीसरे दिन कुछ थोड़े से ही कैथे और बेर के फल खाकर भगवान् की पूजा में उन्होंने पहला महीना बिताया। इसके बाद हर छठे दिन शीर्ण (पककर गिरे हुए) तृण, पत्ते आदि खाकर भगवान् की पूजा में दूसरा महीना बिताया। तीसरा महीना हर दसवें दिन केवल जलमात्र पीकर, चौथा

महीना हर पंद्रहवें दिन केवल वायुभक्षण करके व्यतीत किया। इस प्रकार काया, मन, वाणी आदि सब इंद्रियों को एकाग्र भाव से—अव्यभिचारी भाव से विश्वमूर्ति भगवान् में नियुक्त करके वह भगवान् का ध्यान करने लगे। भक्तवत्सल भगवान ध्रुव की निष्कपट सेवा से सन्तुष्ट होकर गरुड़ पर चढ़कर सुदृढ़ ध्यान में मग्न, बाह्य ज्ञान शून्य ध्रुव के सामने प्रकट हुए। ध्रुव ने दोनों आँखें खोलकर श्रीभगवान हरि को सामने खड़ा देखकर साष्टाङ्ग दण्डवत प्रणाम किया। भगवान ने वेदमय शंख ध्रुव के दोनों कपोलों में छुआ दिया, जिससे उन्हें परमार्थ का ज्ञान प्राप्त होगया। तब ध्रुव भगवान की इस प्रकार स्तुति करने लगे—हे भगवन्, आप सर्व देवादिवन्द्य और चौदह भुवनों के स्वामी हैं। परम निर्मत्सर निष्काम व्यक्ति परम पुरुषार्थ जानकर आप के भजन में रत होते हैं। किन्तु सब के हितसाधन में तत्पर आप तुच्छ फललिप्सु अकाम व्यक्तियों की रक्षा किया करते हैं।

सत्यसंकल्प धीमान् ध्रुव के स्तव से सन्तुष्ट होकर अन्तर्यामी भगवान बोले—हे वत्स, मैं तुम्हारे हृदय के संकल्प को जान गया हूँ। तुम्हारे पिता अन्त समय राज्य का भार तुम्हें सौंप कर परम पुरुष भगवान (जो मैं हूँ) उसकी आराधना में तत्पर होंगे। तुम छत्तीस हज़ार वर्ष तक राज्य पालन करोगे। तुम्हारी विमाता सुरुचि के मन में तुम्हारे प्रति ईर्षा थी। तुम में उनके प्रति प्रतिहिंसा (बदला लेने की) प्रवृत्ति न रहने पर भी मैं कभी अपने भक्त के प्रति विद्वेष और द्रोहाचरण नहीं सहन कर सकता। तुम्हारे प्रति सुरुचि के मन में ईर्षाभाव होने के कारण उसका पुत्र उत्तम शिकार खेलने जाकर वहीं मारा जायगा और सुरुचि भी अपने पुत्र को न देखने से व्यथित होकर उसकी खोज करने जाकर दावानल में प्रवेश कर भस्म हो जायगी। राज्य-भोग करने के उपरान्त फिर मेरी परिचर्या में तुम्हारी आत्मा नियुक्त होगी।

इतना कहकर गरुड़ पर चढ़कर भगवान् अपने धाम को चले गए। ध्रुव भी उत्तानपाद के राज्य की ओर लौटे। सब प्रजाओं ने दूर ही से ध्रुव को जो देखा तो आनन्द के साथ वे राजा के पास पहुँचे और राजपुत्र के लौट आने की खबर उनको सुनाई। तब राजर्षि को नारद के वाक्य स्मरण हो आए। पुत्रदर्शन के लिए उत्सुकता के साथ ब्राह्मण, कुलवृद्ध, अमात्य, बन्धुगण आदि को आगे करके उत्तम अश्वयुक्त स्वर्णखचित रथ पर बैठकर राजा अपनी पुरी के बाहर निकले। चारों ओर मंगलार्थ असंख्य शंख, नगाड़े, वंशी आदि बाजे बजने लगे, वेदपाठ होने लगा। दोनों रानियाँ भी यह संवाद प्राप्त कर राजा के साथ चलीं। उपवन के निकट ध्रुव को देखकर राजा रथ से उतर पड़े और प्रेम से विह्वल होकर पुत्र को गले से लगा लिया। पुत्र ने भी पिता, माता और विमाता को प्रणाम किया। राजपुर के प्रत्येक प्रासाद, राजपथ और ऊँचे महलों के ऊपर सब रम्य भूमिकाएँ चन्दन से चर्चित और फल-पुष्प आदि से सुशोभित हुईं।

राजा उत्तानपाद ने अत्यन्त स्नेहवश मणिमण्डित सुवृहत् भवन ध्रुव के रहने के लिए निर्दिष्ट कर दिया। राजा ने अशेष सद्गुणसमूह से विभूषित, प्रजा-रंजन में अनुरक्त पुत्र को प्राप्तवयस्क देखकर राजसिंहासन पर बिठाकर उनका राज्याभिषेक कर दिया। शिशुमार की कन्या भ्रमि के साथ ध्रुव का ब्याह भी हो गया। उत्तम ने ब्याह नहीं किया। वह चिरकुमार रहकर एक दिन शिकार खेलने गए। वन में एक बलवान् यक्ष ने उन्हें मार डाला। उनकी माता सुरुचि भी पुत्र को खोजने के लिए जाकर दावानल में जल मरीं।

इसके बाद राजा ध्रुव अपने भाई के मरने का समाचार सुनकर क्रोध और शोक से अधीर होकर जयशाली रथ पर बैठकर यक्षों से बदला लेने के लिए कुबेर की अलकापुरी को गए। हिमालय की उपत्यका में रुद्र के अनुचर भूतों और यक्षों का निवासस्थान अलकापुरी उन्हें देख पड़ी। पुरी के समीप उपस्थित होकर महाराज ध्रुव ने शंख-ध्वनि की। तब महाबलशाली, पराक्रमी असंख्य यक्षों की सेना ने सशस्त्र होकर ध्रुव पर आक्रमण कर दिया। ध्रुव ने भी अपने सुदृढ़ धनुष पर डोरी चढ़ाकर बड़े ही उग्र बाण बरसाना शुरू कर दिया। उन बाणों के आघात से छिन्न भिन्न होकर यक्षों और राक्षसों की सेना वैसे ही भागने लगी, जैसे सिंह के आक्रमण करने पर असंख्य हाथियों के दल भाग खड़े होते हैं। प्राण भय से कोलाहल करते हुए भाग रहे यक्षों का समुद्रगर्जन का सा शब्द ध्रुव को सुन पड़ा। थोड़ी ही देर में ध्रुव को यक्षों की माया से आकाश में बादल छाए देख पड़े, बार बार बिजली चमकने लगी, भयंकर वज्राघात के शब्द से दिगन्त परिपूर्ण हो गए। ध्रुव के सामने ही रुधिर, श्लेष्मा पीप, विष्ठा मूत्र, मल और मेदा की वर्षा होने लगी। असंख्य कबंध गिरने लगे। गगन-

मंडल स्थित सुबृहत् पर्वत से पाषाण-शिला और गदा, बेलन, निस्त्रिंश, मूसल आदि शस्त्रों की वर्षा होने लगी। प्रचंड काले नाग क्रोध के मारे फुफकारने और आँखों से आग की चिनगारियाँ बरसाते नज़र आने लगे। सिंह, बाघ, हाथी आदि उन्मत्तों की तरह चारों ओर दौड़कर ध्रुव की सेना को रौंदने लगे। समुद्र अतिशय प्रबल तरंगों से भूतल को प्लावित करके प्रलयकाल का सा निर्घात-शब्द करने लगे।

क्रूरमति यक्षों के ऐसे आसुरी मायाजनित उत्पातों को देखकर महाराज ध्रुव तनिक भी नहीं डरे, और न विचलित ही हुए। वह नारायणास्त्र का प्रयोग करके शत्रुओं को मारने लगे। तब यक्षों पर दयार्द्र होकर मनु महाराज सब ऋषियों सहित ध्रुव के निकट आए। उन्होंने ध्रुव के आगे शुद्ध जीवात्मा के स्वरूप और नश्वर देह की असारता वर्णन की। उन्होंने यह भी बतलाया कि जो आत्मतत्त्वज्ञ परमार्थी पुरुष हैं, उनका कर्तव्य यही है कि मन-वाणी-काया से परम पुरुष भगवान् की प्रेम-भक्ति के साथ परिचर्या करते रहें। अद्वयज्ञान के अभाव से जीव अपने स्वरूप को भूलकर प्रकृति के तीनों गुणों में बँधकर अनित्य देहाभिमान से प्राकृत वस्तुओं के भोग में प्रवृत्त होता है और जब भोग में व्याघात उपस्थित होता है, तब वह विवाद में तत्पर होता है।

स्वायंभुव मनु के उपदेश को सुनकर ध्रुव ने युद्ध को त्याग दिया। फिर ध्रुव ने शम, दम, तितिक्षा आदि का अभ्यास करके यज्ञेश्वर विष्णु की आराधना पूर्वक प्रजा-वत्सल होकर छत्तीस हज़ार वर्ष तक पृथ्वी पर प्रजा-पालन किया। उसके बाद अपने पुत्र को राज्य का भार सौंपकर देह, पुत्र, कलत्र (स्त्री), मित्र, सामर्थ्य, वृद्धिशील धनागार, अन्तःपुर, सुरम्य विहार-भूमि और समुद्रपर्यन्त विस्तृत भूमण्डल आदि मायिक वस्तुओं को अनित्य जानकर वह तप करने के लिए बदरिकाश्रम चले गए। निरन्तर भगवत् पूजा में निरत रहकर शान्त, सर्वत्र समदर्शी, निर्व्यलीक, बाहर और भीतर पवित्र तथा श्रीभगवान के प्रिय होकर पार्षदगण के प्राप्य, प्रकृति से अतीत, परमानन्दमय विष्णु-धाम को प्राप्त होकर कृष्णपरायण उत्तानपाद तनय ध्रुव चतुर्दश भुवन के वन्दनीय हुए। ध्रुवलोक में महायशस्वी ध्रुव अब भी विराजमान हैं।

इस जगत में असंख्य जीव हैं। एक जीव-देह के साथ अन्य जीव देह की विषमता देख पड़ती है। अधिक क्या, दो सहोदर (सगे) भाइयों या जुड़वाँ भाइयों की आकृति में भी विशेष भाव से लक्ष्य करने पर पार्थक्य देख पड़ता है। अतएव जब देह के आकार की विभिन्नता वर्तमान है, तब देह के स्वभाव या देह के धर्म में भी विचित्रता होना ही स्वाभाविक है। ग्रीष्मप्रधान देशवासी के साथ शीतप्रधान देशवासी के देहधर्म में भेद है। यहाँ तक कि एक माता की पाँच सन्तानों के देह स्वभावों में मेल नहीं होता। एक आदमी के शरीर को जो सह्य होता है, वह दूसरे के शरीर को सह्य नहीं होता।

स्थूल देह की तरह जीव की मानसिक चिन्ता प्रणाली, बुद्धि-वृत्ति, रुचि और विचार क्षमता परस्पर पृथक् होती हैं। सब की चिन्ताप्रणाली या रुचि कभी एक नहीं हो सकती। एक जने के निकट जो परम उपादेय या बहुत अच्छी वस्तु है, दूसरे के निकट वही अत्यन्त हेय है। देश-भेद से, जल-वायु के अवस्था-भेद से, भाषा शिक्षा और संग के भेद से लोगों की रुचि, प्रवृत्ति, चिन्ता-प्रणाली और विचार-क्षमता अनेक प्रकार की हुआ करती है। ग्रीष्म-प्रधान देश में जो पोशाक बहुत आराम देनेवाली जान पड़ती है, शीतप्रधान देश के लोगों के लिए वही अत्यन्त अप्रीतिकर होती है। असभ्य समाज में जो अत्यन्त आदरणीय होता है, सभ्य समाज में वही अत्यन्त घृणित समझा जाता है। एक युग में जो अत्यन्त उपादेय जानकर ग्रहण किया जाता है, दूसरे युग में उसका आदर नहीं होता। इसी तरह युग-युग में दार्शनिक और वैज्ञानिक सत्य सब परवर्तित होते देखे जाते हैं। एक युग में टालेमी-नामक किसी एक पाश्चात्य मनीषी वैज्ञानिक ने यह निश्चय किया कि पृथ्वी सर्वदा विश्व के मध्यदेश में अवस्थित रहकर स्थिर और अचंचल है, तथा सूर्य और नक्षत्र आदि पृथ्वी के चारों-

ओर परिभ्रमण किया करते हैं। उस युग के जन-समाज ने उन्हीं के इस सिद्धान्त को सत्य मानकर स्वीकार कर लिया। किन्तु दूसरे युग में कपर्निकस नाम के और एक विद्वान ने उत्पन्न होकर इसके बिलकुल विपरीत सिद्धान्त का प्रचार किया। उन्होंने कहा, पृथ्वी अचञ्चल नहीं है, पृथ्वी ही सूर्य के चारों ओर घूमती रहती है। इसी तरह दार्शनिक या वैज्ञानिक जगत में भी देखा जाता है कि एक प्रतिभाशाली व्यक्ति जिस सत्य की स्थापना कर जाता है, उससे अधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति उसका भ्रम दिखा देकर और एक नवीन सत्य का प्रचार किया करता है। इस प्रकार जगत् में नित्य कितने ही मतों की सृष्टि होती है और उन सब मतों की उपेक्षा करके फिर नए नए मतों का आविष्कार भी होता है। यह सभी मनोधर्म के अन्तर्गत है। मनोधर्म का स्वभाव ही यह है कि "यह भला है, यह बुरा है।"

"द्वैत में भद्र-अभद्र का ज्ञान सब मनोधर्म है।
यह भला है, यह बुरा है, यह सब भ्रम है॥"
(श्रीचैतन्य चरितामृत)

अचैतन्य स्वतन्त्र जीव जब अद्वयज्ञानतत्त्व सत्स्वरूप से विच्युत होकर द्वितीय वस्तु माया में अभिनिविष्ट होता है, तब उसके सभी विचार जड़ मन, बुद्धि, अहंकार के ही द्वारा सात्रित हुआ करते हैं। अतएव सभी मतामत या प्रतिभा के स्फुरण मनोधर्म के ही अन्तर्गत हैं। माया-बद्ध जीव अविशुद्ध स्वरूप वृत्ति, मन, बुद्धि और अहंकार की सहायता से कभी विशुद्ध ज्ञान लाभ नहीं कर सकता। कारण, जीव के लिए सब माया की वृत्तियाँ हेय हैं। अधिक क्या, शुद्ध जीव-शक्ति की अपनी सब वृत्तियाँ भी हेय न होने पर भी अप्रचुर हैं। अतएव जीव-शक्ति अपनी वृत्ति की शत चेष्टा से भी वास्तव ज्ञानलाभ का अधिकारी नहीं होता। इसीलिए श्रुति उच्च स्वर से कहती है —

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः।" इत्यादि

चिच्छक्तिगत सम्विद्वृत्ति और ह्लादिनी के संयोग बिना जीव पूर्णानन्द नहीं प्राप्त कर सकता। अतएव श्रुति का आदेश यह है—

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।"
"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।"

श्रीगीतोपनिषद् में भी उसी की प्रतिध्वनि सुन पड़ती है—

"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।"
"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।"
"मामेकं शरणं व्रज।" इत्यादि इत्यादि।

अतएव परिपूर्ण ज्ञान ईश-तत्त्व-निरूपण में मायिक मन, बुद्धि, अहंकार जैसे असमर्थ हैं, वैसे ही अप्रचुर-शक्ति सम्पन्न अणुचैतन्य जीवात्मा भी आत्म-विचार में असम्पूर्ण है। यह लक्ष्य करके ही श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में देवगण श्रीभगवान का स्तव करते हुए कहते हैं—

"येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्ध - बुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रयः॥"

अनन्त शक्ति-सम्पन्न श्रीभगवान में सर्वतो भाव से शरणागति के बिना अणुचैतन्य जीव की बुद्धि प्राकृत-मल रहित हो नहीं सकती। अतएव ब्रह्मवादी संन्यासी लोग भी जब अविशुद्ध बुद्धि के कारण अपने को विमुक्त मानकर भगवान् के आनुगत्य को त्याग करते हैं, तब वे बहुकष्टोपार्जित श्रेष्ठ पदवी तक पहुँचकर भी भगवान् के चरणकमलों के अनादर के कारण अधःपतित होते हैं। अधिक क्या—

"जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्मभिः।
यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः॥"

जीवन्मुक्त लोग भी यदि अचिन्त्य महाशक्तिवाले भगवान् के श्रीचरणों का अनादर करते हैं, अर्थात् भगवान के नित्य दास्यभाव को स्वीकार करने में कुण्ठित होते हैं, तो वे उस अपराध के कारण फिर कर्म-द्वारा बन्धन-दशा को प्राप्त हुआ करते हैं।

देवगण ने फिर भगवान् से कहा-

"तथा न ते माधव तावकाः क्वचित्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो॥"

अर्थात्—किन्तु हे माधव, तुम्हारे अनन्य भक्तगण जीवों के एकमात्र आश्रय जो आप हैं, उनमें सतत युक्त हैं, अतएव वे कभी पतित नहीं होते। कारण, "न मे भक्तः प्रण

श्यति" यह श्रीगीता का श्रीवचन ही इसका प्रमाण है। तुम्हारा आश्रय ग्रहण करने के कारण संपूर्ण विघ्नों की राशि को पददलित करके वे निर्भय विचरते हैं।

इस भागवत के वचन को जो लोग सांप्रदायिक बात अथवा अर्थवाद मात्र समझते हैं, वे परम सत्य से वंचित होते हैं। वे सारग्राही होकर श्रीगीतोपनिषद् की आलोचना करें तो उक्त वचन की यथार्थता को हृदयंगम कर सकेंगे। अणुचैतन्य जीव अनर्थनिर्मुक्त होने पर भी विभुचैतन्य के आश्रय या कृपा के बिना नित्य सत्य परम ज्ञान का लाभ करने में समर्थ नहीं हो सकता। अतएव निरस्त-कुहक सत्य आम्नायपरंपरा और अवरोह-पंथा से समागत है। जहाँ विभुचैतन्य में सर्वतोभाव से शरणापत्ति अस्वीकार करके तत्त्व-निरूपण की चेष्टा है, वहाँ मनोधर्म है—या तो मनोबुद्धिकृत जड़ विचार है और या जड़ व्यतिरेक विचार है। दोनों ही विचार सोपाधिक हैं। मनोबुद्धि-साधित विचार जिस प्रकार जड़ यन्त्र की सहायता से अनुष्ठित होने के कारण प्राकृत है, वैसे ही चित्शक्ति के आनुगत्य को स्वीकार न करके आप ही में आत्मविचार भी सोपाधिक और इसीसे असंपूर्ण है। दोनों ही विचार-प्रणालियाँ भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्सा-दोष से युक्त हैं। किन्तु चित्शक्ति के संपूर्ण आनुगत्य से शुद्धस्वरूप की निरुपाधिक चित्वृत्ति द्वारा जो उपलब्धि है, वही आत्म-धर्म है। एक मात्र वही निरस्त-कुहक परमसत्य के लाभ का उपाय है। वेदान्त के अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवत में "जन्माद्यस्य" इस श्लोक में पहले ही सशिष्य श्रीव्यास देव ने उसी परम सत्य के ध्यान की शिक्षा दी है और "मुह्यन्ति यत्सूरयः" इस वाक्य के द्वारा प्रतिपन्न किया है कि परम सत्य के निर्णय में सूरि (पंडित) गण को भी मोह उत्पन्न होता है। अतएव जगत् में कोई कितना ही प्रतिभाशाली, लब्धप्रतिष्ठ, महापुरुष कहकर मनोधर्मी जगत् के निकट प्रचारित क्यों न हो, वह भी अनेक समय मनोधर्म के द्वारा मुग्ध हो सकता है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही देशों में बहुत से मनीषी विद्वान उत्पन्न हुए हैं। किन्तु उनमें से किसी ने स्पष्टरूप से वेद को अग्राह्य करके और किसी ने मुख से वेद को स्वीकार करके वेद-विरुद्ध मनोधर्म-बहुल मत का प्रचार किया है। हम आगे उपर्युक्त युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणों के साथ इन सब मतों की विशद आलोचना करेंगे। (क्रमशः)

तेली का बैल

जो लोग एकदम बिलकुल मूर्ख होते हैं, उन्हें 'बैल' कहकर बुद्धिमान् लोग उनका उपहास करते हैं। किन्तु "तेली का बैल" कहने से उससे भी अधिक निकृष्ट कोटि के मूर्ख का बोध होता है। जिनकी आँखें खुली रहती हैं, वे बैल तो कभी कभी मौक़ा देखकर एक आध ग्रास खा भी लेते हैं, लेकिन तेली के बैल की तो दोनों आँखों पर टोप चढ़ा रहता है, वह कुछ भी नहीं देख पाता। तेल की घानी के चारों ओर वह दिन-रात घूमता है, किन्तु यह देख नहीं पाता कि किस के चारों ओर घूम रहा है। साथ ही उसके घूमने के फलस्वरूप जो तेल निकलता है, उसका एक बूँद भी उसे नहीं नसीब होता। अगर तेली की विशेष कृपा हुई तो कभी-कभी खली का एक आध टुकड़ा नसीब हो जाता है।

तेल खरीदने के समय कालीदास तेली की दूकान पर बैठा हुआ अपने मन में इसी तरह सोच रहा था। सोचते-सोचते एकाएक उसे जान पड़ा कि वह भी तो एक तेली का बैल ही है। वह सोचने लगा—इस संसाररूप कोल्हू के चारों ओर मैं दिन रात चक्कर लगा रहा हूँ। उसके फलस्वरूप एक दिव्यगृह, तीन पुत्र, दो सुन्दरी कन्याएँ, गऊ बैल इत्यादि बहुत-सा तेल मैंने पाया है, और और भी कुछ तेल पाने की आशा में हूँ। ये तेल भोग करने के लिए कितनी ही चेष्टा करता हूँ, किन्तु एक बूँद भी भोग नहीं कर

पाता। बल्कि ये पुत्र, स्त्री आदि ही मुझे भोग करते हैं, मेरी पीठ पर लदे हुए घूमते हैं। अनेक चेष्टा के फल से गृहिणी की झिड़की, पुत्र की अकृतज्ञता और गऊ का बाँझपन वग़ैरह खली के टुकड़ों के सिवा और कुछ भी नसीब नहीं होता।

इसी समय हवा के झोंके से उड़कर एक टुकड़ा काग़ज़ कालीदास के सामने आ पड़ा। उसमें बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था—"श्रीश्रीनवद्वीप-परिक्रमा।"

परिक्रमा-शब्द पढ़ते ही कालीदास को अपनी संसार-परिक्रमा खूब अच्छी तरह याद आ गई। तेली की दूकान में तो वह बैठा ही था। सामने आँखों में टोप चढ़ाए एक बैल को लगातार घूमते देखकर उसके हृदय में उठे हुए भावों की राशि ने एक आकार धारण कर लिया। वह परिक्रमा का काग़ज़ पढ़कर अपनी व्यर्थ परिक्रमा की असारता समझकर चटपट तेल की हाँड़ी हाथ में लिए चिन्ताकुल मुख से घर को लौटा।

गृहिणी ने कालीदास का चेहरा देखकर पूछा—तुम्हारा चेहरा ऐसा क्यों हो रहा है? कुछ खो आए हो क्या? उत्तर में कालीदास ने एक लंबी साँस लेकर कहा—हूँ, एक बहुत बड़ी चीज़ खो आया हूँ। ओह! अब वह कहाँ मिल सकती है?

इतना कहकर गाल में हाथ रखकर विषण्ण मुख से वह बैठा रहा। गृहिणी से और कुछ न कह सका।

उधर हाँड़ी गरम हो उठी थी। गृहिणी चटपट तेल उँडेलकर प्राणेश्वर की विपत्ति का हाल पीछे पूछने का निश्चय करके रसोईघर में चली गई।

कालीदास दिन भर दफ्तर के कोल्हू के आस-पास घूमता रहता था और शाम से पहले कुछ धनरूप तेल लेकर नित्य लौट आता था। किन्तु आज कालीदास क्यों नहीं अब तक लौटा? देखते-देखते घर-घर सायंकाल के दीपक जल गए। मंदिरों में घंटा, घड़ियाल और शंख बजने लगे। धीरे धीरे एक एक तारा आकाश-मण्डल में उदय होने लगा और थोड़ी देर में सारे आकाश को तारागण ने छा लिया। तब भी कालीदास नहीं लौटा। गृहिणी बहुत ही चिन्तित हो उठी। वह बहुत कुछ सोचने लगी। उसकी प्रधान चिन्ता यही थी कि "अच्छा, अगर किसी कारण से कालीदास मर ही गया है, तो मुझे अब तेली के यहाँ से खालिस सरसों का तेल कौन ला देगा? हाय, कल मैं मछलियाँ काहे में भूनूँगी? इत्यादि अनेक चिन्ताएँ उस परम आत्मीया के प्रेमपूर्ण हृदय में चक्कर काटने लगीं।

जब बहुत रात बीत गई और कालीदास नहीं आया, तब गृहिणी ने कालीदास के लिए थाली भर अन्न-व्यंजन परोसकर रखकर आप खूब पेट भरकर खाया, उसके बाद धीरे-धीरे जाकर वह सो रही। दो-एक लंबी साँसें भी बीच-बीच में वह छोड़ती जाती थी।

आज चैत बदी सप्तमी थी। दोपहर की तेज़ धूप से सारा जगत् तप रहा था। श्रीमायापुर में श्रीगौरांग के जन्मस्थान के दक्षिण पश्चिम कोने में एक बड़ा-सा कटहल का पेड़ था। कालीदास उसकी छाया में वृक्ष की जड़ का सहारा लिये हुए बैठा था। उसका शरीर शिथिल हो रहा था। वह सोच रहा था—देखते-देखते नव दिन बीत गए। श्रीधाम की परिक्रमा क्या आज समाप्त हो गई? ना, श्रीधाम की परिक्रमा-रूप कार्य का अन्त नहीं है। यह जीव नित्य ही आत्मनिवेदन, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दना, दास्य, सख्य इन नवद्वीपों की परिक्रमा करता रहता है। आत्मनिवेदनरूप द्वीप को केन्द्र करके जीव नित्य श्रवण, कीर्तन आदि द्वीपों में परिभ्रमण करता है। इस परिक्रमा का अन्त या अवधि नहीं है। जीव नित्य है, श्रीधाम नित्य है, और यह परिक्रमा भी नित्य है। जो लोग श्रीधाम को जगत् के अन्तर्गत एक स्थान मानकर देशभ्रमण की तरह कुछ दिन वहाँ परिभ्रमण करके यह सोचते

हैं कि यहाँ का भ्रमण समाप्त हो गया, वे गलती करते हैं। यह धाम की परिक्रमा वैसा कार्य नहीं है। यह भक्ति है—जीव का नित्य, सहज, स्वाभाविक धर्म है। ओह, मैं खूब बचगया। अब तेली के बैल की तरह संसार की परिक्रमा नहीं करूँगा—संसार के चक्कर नहीं काटूँगा।

ब्रह्मचर्य

उन्नत मनुष्यकुल के जगत में चार प्रकार के अवस्थान या आश्रम माने गए हैं। इन आश्रमों में ब्रह्मचर्य आश्रम का स्थान सबसे पहले है। असल में ब्रह्मचर्य-आश्रम को अन्यान्य तीन आश्रमों का आधार या नींव कहना चाहिए। संकीर्ण अर्थ में ब्रह्मचर्य कहने से वीर्य-धारण या अष्टांग मैथुन से निवृत्ति समझी जाती है।

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥
(भारवि-टीका, मल्लिनाथ)

अर्थात् स्मरण, कीर्तन, केलि, देखना, एकान्त में बातचीत करना, संकल्प, अध्यवसाय और क्रिया की पूर्ति—यह आठ प्रकार का मैथुन मनीषियों ने कहा है। इस अष्टांग मैथुन से निवृत्ति ही ब्रह्मचर्य है। शेषोक्त ब्रह्मचर्य ही स्वरूपसिद्धि या बृहत् ब्रह्मचर्य है। विशुद्ध भगवद्-भक्तगण परब्रह्मसेवारूप ब्रह्मचर्य में नित्य अधिष्ठित रहते हैं। यह आश्रम-विशेष नहीं है, किन्तु आश्रमातीत जीव के शुद्ध स्वरूप के उद्-बोधन का परम फल विशेष है। पहले संकीर्ण अर्थ को लेकर ही आलोचना की जाती है। व्यापक अर्थ की आलोचना फिर की जायगी।

माणवक या ब्रह्मचारी आचार्य के निकट से जब उपनयन या यज्ञोपवीत ग्रहण कर चुकता है, तो उसके उपरान्त वह गुरुकुल में रहकर वेदाभ्यास गुरुसेवा और संयम आदि का अभ्यास करता है। इसी काल को ब्रह्मचर्य का काल कहते हैं। प्राचीन काल में बालकगण को ब्रह्मचर्य की शिक्षा देने के लिए पिता-माता आदि अभिभावक आचार्य के पास भेजते थे। वर्तमान काल में ब्रह्मचर्य आश्रम एक प्रकार से लुप्तप्राय हो गया है। इसका कारण यही है कि वर्तमान समाज कर्मजड़ भोगवाद से आच्छन्न हो रहा है। यह संपूर्ण रूप से पाश्चात्य शिक्षा का फल है, यह भी नहीं कहा जा सकता। कारण, कुछ दिन पहले एक तंत्रग्रन्थ किसी प्रवृत्ति मार्गानुयायी कर्मपन्थी व्यक्ति ने बनाया था और वंग-देश के भोगप्रवण व्यक्तियों के हृदयों की भोगमूलक श्रद्धा भी उस ग्रन्थ की ओर आकृष्ट हुई थी। उस तंत्र का नाम अनेक लोग जानते हैं। वह है महानिर्वाणतन्त्र। उसमें लिखा है—

ब्रह्मचर्य्याश्रमो नास्ति वानप्रस्थोऽपि न प्रिये।
गार्हस्थो भैक्षुकश्चैव आश्रमौ द्वौ कलौ युगे॥

अर्थात् कलियुग में ब्रह्मचर्य-आश्रम या वानप्रस्थ-आश्रम नहीं रहा। गृहस्थ और संन्यास, इन्हीं दो आश्रमों में मनुष्य को कलियुग में रहना चाहिए। जो निकृष्ट वैद्य ज्वर रोग से पीड़ित व्यक्ति को कच्ची इमली खाने के लिए देता है, वही चिकित्सक (?) रोगी को बहुत प्रिय होता है। इसी तरह भगवान से विमुख और भवरोगग्रस्त व्यक्ति के आगे अगर भोग की बात शास्त्र की आज्ञा के नाम से कही जाय, तो वैसे शास्त्र का आदर संसार के फी सदी निन्नानवे आदमी करते हैं। कारण, भोगमूलक वासना अथवा आत्मेन्द्रिय-प्रीति की वांछा ही तो जगत् के जाल में फँसने या बँधने का कारण है। जो सब शास्त्र अथवा व्यक्ति उस आत्मेन्द्रिय-प्रीति व्यवस्थारूप अग्नि में ईंधन डालने का काम करते हैं, वे अगर संसारी लोगों के निकट आदर या श्रद्धा प्राप्त करें, तो इसमें सन्देह या आश्चर्य की कोई बात नहीं। यह भोगवाद मायावद्ध जीव के हृदय में बहुत तरह से विराजमान है। कभी चार्वाक आदि नास्तिकों के साज में, कभी कर्म जड़ स्मार्तों की ईश्वर-संस्रव-चातुरी के आवरण में, कभी निःस्वार्थपरता, नैतिक और सामाजिक

उन्नति की पोशाक में और कभी ऐहिक एवं पारलौकिक सुख आदि के और अंत को भगवान के नित्य नाम-रूप-लीला-धाम आदि विसर्जनरूप त्याग का मुखावरण डाल-कर उपस्थित होता रहता है। आजकल ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान लुप्तप्राय हो रहा है, यह कहने पर भी ब्रह्मचर्य शब्द का खूब व्यवहार होता दिखाई देता है। राह घाट में, शहर-गाँव में, दवाओं के विज्ञापन में, पंचांग पंजिका के बीच में, डाक्टर वैद्यों और व्यवसायियों की विना मूल्य बाँटी जानेवाली पुस्तिकाओं में ब्रह्मचर्य-संबंधी निबन्ध, आलोचना आदि न जाने क्या क्या देख पड़ता है। पुस्तक-विक्रेताओं के पास भी "ब्रह्मचर्य", "ब्रह्मचर्य शिक्षा", "जीवन-बन्धु", "छात्र-सुहृद्", "जीवन-सहाय" आदि कितने ही नामों से बहुत प्रकार के ब्रह्मचर्य शिक्षा संबंधी ग्रन्थ विक्रय के लिए रक्खे पाए जाते हैं। आजकल स्कूल-कॉलेजों के छात्रगण इन सब पुस्तकों की सहायता से ब्रह्म-चर्य सीखते हैं, लेकिन वे अनेक प्रकार से वञ्चित और बुरे अभ्यासों में निरत होते हैं। अनेक सुकोमलमति बालक, जिन्होंने जिन बुरे अभ्यासों का नाम भी पहले कभी नहीं सुन पाया था, वे पूर्वोक्त पुस्तकों की सहायता से कृत्रिम ब्रह्मचर्य-प्रणाली सीखते समय उन्हीं बुरे अभ्यासों को सीखकर अपना जीवन नष्ट कर डालते हैं। आजकल तथा-कथित ब्रह्मचर्य्य विद्यालय आदि के बालकों की भी यही हालत है। इस प्रकार का कुफल फलने का कारण यही है कि केवल पुस्तक देखकर कृत्रिम उपायों से ब्रह्मचर्य लाभ नहीं होता। ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित होना हो तो शब्द ब्रह्म (वेद) और परब्रह्म में विचरण अर्थात् इनका अनुशीलन करने-वाले आचार्य के समीप जाने की आवश्यकता है। आचार्य की सेवा किए विना ब्रह्मचर्य का लाभ असंभव है—

द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः।
वसन्गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः॥
आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥
सायंप्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत्।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः॥
शुश्रूषमाण आचार्य्यं सदोपासीत नीचवत्।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः॥
एवं वृत्तो गुरुकुले वसेद्भोगविवर्जितः।
विद्या समाप्यते यावद् बिभ्रद्व्रतमखण्डितम्॥
एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः॥

(श्रीमद्भागवत ११।१७।२९–३३)

श्रीभगवान उद्धव से कहते हैं—गर्भाधान आदि संस्कार क्रमशः हो चुकने के बाद उपनयन नामक द्वितीय जन्म को प्राप्तकर द्विज को चाहिए कि गुरु के बुलाने पर गुरुकुल में जाकर निवास करे और दमगुणसम्पन्न होकर वेदों का अध्ययन करे। आचार्य को मेरा प्रियतम अभिन्न स्वरूप समझे। कभी अज्ञजज्ञान से उसमें मनुष्यबुद्धि न रक्खे। कारण, गुरु सर्वदेवमय होता है। सबेरे शाम भिक्षा में मिली हुई तथा भिक्षा से अतिरिक्त और भी जो कुछ प्राप्त हो सो सब अपने गुरुदेव के आगे रख दे, उन्हें अर्पण कर दे। वह जो कुछ दे दें, वही संयत होकर भोजन कर ले। गमन, शयन, उपवेशन और विश्राम के समय आचार्य की सेवा करने के बाद अनुज्ञा लाभ के निमित्त हाथ जोड़े हुए सर्वदा उनके समीप उपस्थित रहे और सेवा करे। विद्या की समाप्ति तक इसी तरह आचरण करके अखण्ड ब्रह्मचारी ब्राह्मण भोगविवर्जित होकर गुरुकुल में वास करे। इस तरह बृहत् व्रतधारी अग्नि के समान तेजस्वी ब्राह्मण अन्या-भिलाष आदि मल से रहित होकर अनन्य निष्ठा के साथ गुरुसेवारूप तीव्र तप द्वारा मेरा भक्त होता है। जीव के नित्य स्वरूपगत स्वभाव भक्ति को प्रकट करनेवाली आचार्य की सेवा ही सात्वत-शास्त्र-शिरोमणि श्रीमद्भागवत में कथित ब्रह्मचर्य है। इसी का अन्य नाम स्वरूपोद्बोधक ब्रह्मचर्य है।

"यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्।"

(कठ श्रुति द्वितीय वल्ली ६। १५)

अर्थात् साधुगण जिसके लिए ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, वह मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ। वह प्रणवाख्य श्री-भगवत्स्वरूप या मुक्तकुल का उपास्य चैतन्य-रस-विग्रह श्री-नाम है। भगवत्स्वरूप की उपलब्धि ही ब्रह्मचर्य की जान है; उसके विना ब्रह्मचर्य सिद्ध नहीं। उसी स्वरूपोद्-बोधक ब्रह्मचर्य को प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठ आचार्य की शरण में जाना आवश्यक है। कारण, आत्म-

तत्त्व की उपलब्धि का मार्ग क्षुर-धार की तरह दुर्गम है— अर्थात् क्षुरे को चलाने में जैसे खूब सतर्कता आवश्यक है, ज़रा भी इधर-उधर बहकने से छुरा लगकर रक्तपात अवश्य होता है, जीव की स्वरूपोपलब्धि के विषय में भी वैसा ही जानना चाहिए।

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।"
"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।"
(कठोपनिषद् ३।१४)

जीव यदि निष्किञ्चन भगवद्भक्तों के चरण-रज से अभिषिक्त होकर लुप्त स्वरूप के उद्बोधन के लिए चेष्टा न करे, तो दुर्गम आत्मोपलब्धि के मार्ग में कर्मरूप कण्टक उसको स्वरूप-ज्ञान लाभ की राह से विच्युत करके कोटि-कोटि जन्म तक तीनों तापों में जलावेंगे अथवा निर्भेद-ब्रह्मानुसन्धान, अष्टादशसिद्धि या कैवल्य-सुखलाभ की स्पृहा इत्यादि स्वरूपेतर वासनाएँ आकर नित्य स्वरूपोद्बोधन का मार्ग बंद कर देंगी। जीव भगवान् का नित्य दास है, यही जीव का नित्य शुद्ध स्वरूप है। अनादि बहिर्मुख जीव उसी नित्य स्वरूप को भूलकर देह और मन के विवर्त में पड़ा है। देह और मन का धर्म ही भोक्तृत्वाभिमान है। इसी अभिमान में व्यस्त होकर भ्रान्त जीव कभी बुभुक्षु कर्मचारी कभी ब्रह्मानन्द या कैवल्य सुखादि की वांछा लेकर मुमुक्षु ज्ञानाचारी अथवा योगाचारी होता है। कहीं भोक्तृत्वाभिमान अप्रच्छन्न भाव अर्थात् प्रकटरूप से विराजता है और कहीं प्रच्छन्न भाव से फल्गु त्याग आदि के आवरण से आवृत रहता है। किन्तु शुद्ध स्वरूप का धर्म इस प्रकार का भोग या त्याग नहीं है। अद्वितीय भोक्ता, स्वराट् पुरुष परेश की सेवा के सुख-तात्पर्य की विशिष्टतारूप नित्य कैंकर्य ही स्वरूप का धर्म है। भगवान् में ऐकान्तिक मति से युक्त आचार्य की सेवा द्वारा ही वह स्वरूप-धर्म जागरित होता है। जैसे पशुराज सिंह भेड़ों के झुंड के बीच लालित-पालित अपने बच्चे को भेड़ के स्वभाव से युक्त देखकर फिर उसके लुप्त स्वभाव (अर्थात् सिंहोचित स्वभाव) को जागरित कर देता है, वैसे ही श्रीआचार्यदेव शिष्य के लुप्त स्वरूप को उद्बोधित किया करते हैं। शिष्य जब ब्रह्मचर्य की या आचार्य की सेवा करता है, तभी वह लुप्त स्वरूप जागरित होता है।

यह ब्रह्मचर्य सीखने की प्रणाली जगत् में साधारणतः दो प्रकार की देख पड़ती है। श्रीगीता कहती है — जगत में दो तरह की सृष्टि होती है दैव सृष्टि और उसके विपरीत सृष्टि। देवगण भगवान् के शरणापन्न हैं। कारण, वे जानते हैं, हम भगवान् की शक्ति से शक्तिमान् हैं।

ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्व-
मिति ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति।
(केनोपनिषद्)

किन्तु देवतों से इतर सृष्टि किसी तरह भगवान की शक्ति को स्वीकार करना या उसके शरणागत होना नहीं चाहती। वे सर्वदा स्व-स्व आत्मकृत शक्ति या चेष्टा को ही बहुत माना करते हैं। इस शक्ति के ऊपर निर्भर करके ही वे भगवान् का आसन तक लेने को अग्रसर होते हैं। इसी कारण देवतों के साथ उनका नित्य विरोध है। विश्रवा ऋषि के पुत्र रावण आदि का आचरण ही इसका प्रमाण है। जो सर्वदा भगवान् के कृपा लाभ की आशा पर निर्भर करके भगवान् के ही नित्य सेवा लाभरूप स्वरूप-धर्म को जागरित करने की इच्छा रखते हैं, वे ही भगवदवतारानुग अवरोहवादी, अधोक्षजवादी या भक्त आदि नामों से परिचित हैं। और जो निज कृत चेष्टा को ही बहुत मानते हैं, अपने इन्द्रियज अभिज्ञान का घमंड करके स्वरूप के विचार में तत्पर होते हैं, वे ही आरोहवादी या अभक्त, निर्विशेषवादी, नास्तिक के नाम से प्रसिद्ध हैं।

उपनिषद् में इन्द्र और विरोचन की आख्यायिका में देखा जाता है कि एक समय देवपक्ष के प्रतिनिधि होकर इन्द्र और असुर पक्ष के प्रतिनिधि होकर विरोचन ब्रह्मज्ञान के लाभ के लिए समिध हाथ में लिए पितामह ब्रह्मा के निकट उपस्थित हुए। ब्रह्मचर्य के बिना ज्ञान लाभ न होने की बात सुनकर दोनों ही ब्रह्मचर्य पालन के प्रस्तुत हुए और आचार्यदेव ब्रह्मा के निकट आत्मतत्त्व के विषय में उपदेश श्रवण करने लगे। बत्तीस वर्ष बीत जाने पर विरोचन ने यह समझ लिया कि मैं आत्मतत्त्व को समझ गया। परन्तु असल में उन्होंने देह और मन को ही आत्मा समझ लिया था और वह इसी भ्रान्त मत का प्रचार करने लगे। किन्तु इन्द्र ने आचार्य को प्रणाम, पुनः पुनः परिप्रश्न और सेवा के द्वारा एक सौ वर्ष तक गुरु-गृह में रहकर श्रवण आदि के प्रभाव से नित्य सिद्ध स्वरूपोद्बोधक ज्ञान लाभ किया।

अक्षजवादी होकर जीव जब ब्रह्मचर्य आदि कृच्छ्रसाध्य व्रतों के पालन में तत्पर होता है, तब वह देहधर्म और मनोधर्म में अभिनिविष्ट हो पड़ता है। अनेक लोग इस तरह कृत्रिम उपाय से स्वकृत चेष्टा के ऊपर निर्भर करके ब्रह्मचर्य का पालन करने में अग्रसर होते हैं: किन्तु उसके द्वारा स्वरूप का उद्बोधक ब्रह्मचर्य सिद्ध नहीं होता। जिसने आचार्य और भगवान् के नित्य दासभाव को स्वीकार नहीं किया, जिसके ब्रह्मचर्य का उद्देश्य भगवान की सेवा नहीं है, उनके ब्रह्मचर्य का मूल्य कानी कौड़ी भी नहीं। असुरगण क्या यह इच्छा मन में रखकर ब्रह्मचर्य का पालन करने में तत्पर नहीं होते कि वे अपने शारीरिक सुख को अच्छी तरह बहुत दिनों तक अधिक परिमाण में भोग कर सकेंगे? विरोचन (असुर) ने भी तो ब्रह्म में लीन हो जाने के इरादे से ब्रह्मचर्य का पालन किया था, रावण ने भी तो कैवल्य-सुख आदि के लाभ के लिए ब्रह्मचर्य और तप किया था। इस उद्देश्य से जो ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है, उसमें भी तो अद्वितीय भोक्ता श्रीभगवान् के सेवा-सुख की आकांक्षा नहीं होती। फिर उसका मूल्य क्या है? श्रीमद्भागवत में कहा है—जिस व्यक्ति के कार्य धर्म के लिए संपादित नहीं होते, जिसका धर्म वैराग्य के उद्देश्य से नहीं होता और जिसका वैराग्य या त्याग आदि तीर्थपाद भगवान श्रीकृष्ण की सेवा के लिए नहीं होता, वह व्यक्ति जीवन्मृत है। जो लोग अधोक्षज श्रीभगवान् की नित्य सेवारूप स्वरूप धर्म से विमुख हैं, उनके ब्रह्मचर्य आदि कठोर व्रतों को बारम्बार धिक्कार है!

"स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्।"
"धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥"

अर्थात् भगवान हरि को सन्तुष्ट करना ही पुरुषों के अपने-अपने अच्छी तरह अनुष्ठित वर्णाश्रमधर्म की सम्यक् सिद्धि है। ब्रह्मचर्य आदि का उद्देश्य जहाँ एकमात्र हरि-तोषण अर्थात् हरि का नित्य दास्य अथवा कृष्णेन्द्रिय-प्रीति की वांछा नहीं है, तो वह यदि अच्छी तरह से साधित हो तो भी जानना चाहिए कि वह केवल व्यर्थ श्रममात्र है। हरिकथा में यदि रुचि न हुई तो इस तरह के धर्म का अनुष्ठान वृथा ही है। अतएव शुष्क ब्रह्मचर्य का कुछ भी मूल्य नहीं। जगत् के अक्षजवादियों की दृष्टि में शोभा पाने पर भी उसके द्वारा नित्य मंगल का लाभ नहीं होता। पतंजलि आदि ऋषिगण ऐसे ही आरोहपंथी थे। वे आत्म-कृत चेष्टा द्वारा ब्रह्मचर्य पालन में तत्पर थे। इस तरह के ब्रह्मचर्य के मूल में हरितोषण का भाव नहीं है, केवल मन और देहेन्द्रिय का तोषण मात्र है।

(क्रमशः)

विष्णु-माया

(१)

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

भगवान श्रीकृष्ण ने प्रिय सखा अर्जुन को सम्बोधन करके कहा है हे सखे, मेरी यह माया दैवी, अलौकिक और दुस्तर है, अर्थात् मनुष्य आदि अन्यान्य बद्ध जीवों की तो बात दूर रही, यहाँ तक कि देवता, ऋषि तक इस माया की मोहनी शक्ति से निस्तार नहीं पाते। इसी से श्रीनरोत्तम ठाकुर ने एक स्थान पर कहा है—

(गाना)

माया को जीत के छुड़ाया न जाय।
साधुकृपा बिना नहीं और है उपाय॥

वास्तव में सत्वरजस्तमोगुणमयी त्रिगुणात्मिका विष्णुमाया को विष्णुभक्त के सिवा और कोई अबतक जीत नहीं सका। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—एकान्तभाव से जो मेरी शरण आते हैं, मैं इस माया के कवल से उनकी रक्षा करता हूँ।

समुद्र मन्थन के समय, जब देवासुर ने मिलकर समुद्र को मथना शुरू कर दिया, तब समुद्र से निकले हुए अमृत को बाँट देने के लिए देवासुर मिलकर तुमुल कोलाहल करते हुए, चारों दिशाओं को कँपाने लगे। देवगण और असुरगण सभी ने मिलकर, पहले अमृत पीने के लिए व्यस्त होकर अन्त को सृष्टि-शक्ति-संहारिणी कालाग्नि सदृश प्रबल समर की अग्नि प्रज्वलित कर दी, तब भगवान् विष्णु ने दैत्यों को मोहित करने के लिए सृष्टि की रक्षा के वास्ते मायाजाल फैलाकर मोहिनी-मूर्ति धारण की। वह कैसी अपूर्व लावण्यमयी रमणी मूर्ति थी! कैसे कटाक्ष थे! कैसी मधुर हँसी थी! जैसे त्रिभुवन को मोहित करने के लिए ही वह ललना-ललाम आविर्भूत हुई थी। मोहिनी के कानों में मणिमय कुंडल चमक रहे थे, हाथों में वलय, गले में पारिजात पुष्पों की माला थी। दाँत मोतियों की लड़ी के समान उज्ज्वल थे। उज्ज्वल बिंबाधर में हँसी थी। सौन्दर्य से कोटि कंदर्प के दर्प को पराजित करके वीणा-विनिन्दित स्वर में देवता और असुरों को मधुर संभाषण से आप्यायित करके मोहिनी ने कहना शुरू किया—हे देवगण, हे असुर वृन्द, तुमने क्यों साधारण अमृत के लिए यह भयानक समराग्नि प्रज्वलित करने का आयोजन किया है? मैं बीच में पड़कर दोनों पक्षों का झगड़ा मिटाए देती हूँ।

जिनकी माया से यह सारा विश्व ब्रह्माण्ड विमोहित है, स्वयं लोक पितामह ब्रह्मा तक ने जिनकी माया का अन्त नहीं पाया—भगवान् की माया के प्रभाव से हतबुद्धि हो गए थे, तब इन क्षुद्र असुरों की कौन कहे! वे तो मोहित होंगे ही। मोहिनी के मधुर वाक्यों से मोहित होकर सभी उनके प्रस्ताव पर सहमत हो गए। विष्णु की माया मोहिनी का प्रभाव कैसा अद्भुत है! केवल देवता और असुर ही क्यों, इस संसार में पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग, वृक्ष, लता आदि से लेकर योगी, ऋषि, कर्मी, ज्ञानी, ध्यानी, यक्ष, राक्षस, नर, नारी, पन्नग, किन्नर, किन्नरी एवं आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सभी विष्णु की माया से मोहित होकर इसी देह को आत्मा मानकर, भगवान् को भूलकर, अनित्य स्त्री, पुत्र, कन्या, भाई, बन्धु, धन, रत्न आदि को जीवन का एक मात्र बन्धु समझकर रोग, शोक, जन्म, मृत्यु आदि त्रिताप की ज्वाला में जला करते हैं। गीता में एक जगह भगवान् ने स्वयं कहा है—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥"

ईश्वर सब भूतों (प्राणियों) के हृदयस्थल में अवस्थित होकर, एक भक्त को छोड़कर, अन्यान्य सभी जीवों को अपनी माया से अभिभूत करके यंत्र की तरह घुमाते हैं। जो लोग सद्गुरु की शरण में आए हैं, वे ही इस दैवी विष्णु माया से मुक्त होते हैं, और नहीं।

सद्गुरु के अर्थ क्या हैं! जैसे एक अंधा दूसरे अंधे को राह नहीं दिखा सकता, दिखाता है तो दोनों ही गड्ढे में गिर पड़ते हैं, वैसे ही एक अज्ञ दूसरे अज्ञ का गुरु नहीं हो सकता। इसलिए जो लोग सद्गुरु के लक्षणों से युक्त गुरु की शरण में जाते हैं, उन्हीं के मुक्त होने की संभावना है अन्यथा बद्ध होने की ही अधिक संभावना है। शास्त्र में लिखा है—

"तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।"
"आचार्यवान् पुरुषो वेद।"
"तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥"

वस्तुतः इस मायामय संसार में कोई भी सुख सच्चा सुख नहीं जान पड़ता; क्योंकि सभी सुख नश्वर हैं, क्षणस्थायी हैं, जल के बुल्ले की तरह मरुभूमि की मरीचिका की तरह देखते-देखते विलीन हो जाते हैं। प्रज्वलित अग्नि में घृत की आहुति के समान एक वासना पूर्ण होते न होते सैकड़ों-हज़ारों वासनाएँ प्रदीप्त होकर मनुष्य के हृदय को जलाया करती हैं। अतुल ऐश्वर्य का स्वामी दुग्धफेननिभ कोमल शय्या में शयन करने पर भी कामरूप वृश्चिक के दंशन से निरन्तर अस्थिर होता है, अतएव समझकर भी कोई नहीं समझता। इसलिए जो व्यक्ति इस दुस्तर विष्णुमाया से उद्धार पाना चाहे, वह अवश्य ही सद्गुरु की शरण में जाय, नहीं तो माया द्वारा हतज्ञान होकर कभी पुण्य-कर्म द्वारा स्वर्ग में और कभी पाप कर्म द्वारा नरक में गमन करके, अनादि कर्मवासना में बँधकर रथ के पहिए की तरह पुनःपुनः कर्म मार्ग में भ्रमण करता हुआ, अशान्ति की आग में दिन रात जला करेगा। सद्गुरु के लक्षण क्या हैं? जो शब्दब्रह्म वेद की व्याख्यानुगत

व्याख्या द्वारा तत्त्व का निश्चय करने में निपुण हैं और भजन के परिपाक के कारण प्रत्यक्षातीत अनुभव द्वारा परब्रह्म अर्थात् श्रीकृष्ण में अवस्थित हुए हैं, उन्हीं का उपदेश देने में यथार्थ अधिकार है। अतएव जो ऊपर कहे हुए लक्षणों से युक्त गुरुदेव के शरणागत होंगे, वही इस दुर्जय विष्णुमाया को जीतने में समर्थ होंगे - कमसे कम उनके लिए इसकी संभावना है। अब यहाँ प्रश्न यह है कि शरणागत के लक्षण क्या हैं? गीता में लिखा है —

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।"

श्रीगुरुदेव के आगे प्रणत होकर परिप्रश्न करना होगा—यथा—हे गुरुदेव, मैं सांसारिक विषयों में पंडित अवश्य हूँ; किन्तु आत्मतत्त्व के विषय में संपूर्ण अनभिज्ञ मूर्ख हूँ। मुझे ज्ञान बिलकुल नहीं है। मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? मैं पहले कहाँ था और अब यहाँ (इस पृथ्वी में) किस लिये आया हूँ? इसके बाद यहाँ से कहाँ जाऊँगा? इन बातों के बारे में अति क्षुद्र मैं कुछ भी नहीं जानता। आप दया करके मुझे तत्त्वोपबोध दीजिए, जिससे भव-सागर को पार होकर निर्विघ्न रूप से उस पार पहुँच सकूँ।

श्रीगुरुदेव जब विनीत शिष्य को उपदेश दें, तब उनके श्रीमुख से विगलित कथामृत को पीकर उनकी आज्ञा के अनुवर्ती होकर उनकी सेवा कर सकने पर मनुष्य इस अलौकिक देवमाया से परित्राण पा सकता है, अन्य कोई उपाय से नहीं।

इस विष्णुमाया से मोहित-चित्त असुरवृन्द के अंतःकरण में वह मोहिनी मूर्ति देखकर कामोद्रेक हुआ। उधर उस विष्णुमाया को साक्षात् जगज्जननी की प्रतिमूर्ति के रूप में देखकर देवतों के मन में भक्ति का उदय हुआ। अन्त को उसका फल यह हुआ कि विष्णु की छलना से मोहित असुरगण उस दुर्लभ अमृत से वञ्चित ही रहे और देवगण अमृत-पान कर आनन्द से विचरण करने लगे।

सुतरां देखा जाता है कि यह संसार विष्णु की माया से गठित है। भूः भुवः, स्वः महः जनः, तपः, सत्य, तल, अतल वितल, सुतल, तलातल, रसातल, पाताल, ये चौदहों भुवन विष्णुमाया के प्रभाव से आवृत हैं। यह संसार एक कारागार के सदृश है। सब जीव इस जेलखाने के क़ैदी हैं। कोई राजा है, कोई प्रजा है, कोई भृत्य है, कोई कुली मजूर है—सब इसी प्रकार माया की सज्जा से सज्जित हैं।

थियेटर में जैसे कोई नीच जाति का मामूली आदमी महाराज हरिश्चन्द्र का अभिनय करता है या दूसरा ऐसा ही व्यक्ति महारानी शैव्या का वेष बनाकर साँप के काटे हुए पुत्र के लिए बहुत कुछ नक़ली विलाप करके दर्शक-वृन्द के हृदय में एक साथ हर्ष और विषाद का संचार करता है और उसके बाद पर्दा गिर जाने पर राजा या रानी के बदले अपने असली रूप में हो जाता है, वैसे ही इस संसार-रूप माया रंगभूमि में विष्णुमाया से मोहित होकर जीव कभी देव, दानव, पशु पक्षी कीट, सरीसृप और कभी वृक्ष, पर्वत, पत्थर आदि के रूप में परिणत होकर आबद्ध होते हैं। नलकूबर अप्सराओं के साथ जल-विहार कर रहे थे; परम वैष्णव नारद मुनि के अभिशाप से उन्हें वृन्दावन में यमलार्जुन वृक्ष होकर रहना पड़ा। ऐसे ही गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या देवी अपने पति के शाप से पत्थर की शिला हो गई थी। मायामुग्ध जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ कभी ऊपर और कभी नीचे जाता और कर्मफल भोगता है।

भ्रमते-भ्रमते जो कभी साधु वैद्य मिल जाय।
तो उसके उपदेश का महा-मन्त्र फिर पाय॥
मायारूप पिशाचिनी भागे उसको देख।
वेद-शास्त्र सब का यही सत्य अमिट है लेख॥
कृष्ण भजो गुरुदेव की सेवा करो अछद्म।
छूटे मायाजाल तो मिलैं कृष्णपद-पद्म॥

यह विष्णु की माया परा और अपरा के भेद से दो प्रकार की है। विद्या-माया, अविद्या-माया—अन्तरंग शक्ति और बहिरंग शक्ति, ये इसके दो प्रकार हैं। अविद्या माया जीवों को मोहित करके संसार की शृंखला में बाँध रखती है। विद्या माया उस संसार-बन्धन को काटकर विष्णु-भक्ति देती है।

'विद्या' कहने से हम क्या समझते हैं? इस अपरा विद्या या अक्षज विद्या के लाभ से हम कुछ दिन सुख-स्वच्छन्दता के साथ जीवन यात्रा का निर्वाह अवश्य कर सकते हैं; किन्तु सभी रात्रि के स्वप्न के सदृश अस्थायी है। आजकल की पाश्चात्य विद्या से शिक्षित, अर्थकरी विद्या में दर्शन, विज्ञान, शिल्प, ज्योतिष, छन्द, धनुर्वेद, आयुर्वेद आदि विचित्रशास्त्र पढ़कर—पण्डित या धनरत्न सम्पन्न होने पर भी कोई विशेष लाभ नहीं। कारण, यह आनन्द ऐन्द्रजालिक के

तमाशे की तरह, बिजली की चमक के समान देखते-देखते काल के अतल गर्भ में पलभर में गायब हो जाता है। अन्त में उसका परिणाम वही हाहाकार - अतृप्तिकरी अशान्ति है। "सा विद्या तन्मतिर्यया"—विद्या वही है, जिसके द्वारा कृष्ण में भक्ति हो। उसीका दूसरा नाम ब्रह्मविद्या या परा विद्या है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ प्रकार की प्रकृति मेरी अपरा शक्ति है। इसके सिवा और भी एक उत्कृष्ट प्रकृति है। यथा—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

अर्थात् इस अपरा प्रकृति से भिन्न और एक उत्कृष्ट प्रकृति है, जो सूत्र में गुँथी हुई मणियों के समान इस जगत् को धारण किए हुए है। वही परा, श्रेष्ठा अर्थात् उत्कृष्ट जीव-प्रकृति है।

इस मायामय संसार में विष्णुमाया से मोहित होकर जीव न जाने कितनी तरह के तमाशे करता है, जिनकी कोई हद नहीं।

कठपुतलीवाला कटपुतली।
यथा नचावे लेकर सुतली॥

जैसे कोई होशियार जादूगर (मदारी) अंगुलिसंचालन करके हस्तस्थित काठ की पुतलियों को दर्शकवृन्द के मनोरंजनार्थ अनेक प्रकार से नचाता है, दर्शकगण आड़ होने के कारण उसके हाथ के इशारे को किसी तरह नहीं देख पाते, वैसे ही भगवान् विष्णु भी अपनी सत्वरजस्तमोगुणमयी माया द्वारा त्रिभुवन को मोहित किए हैं, जिससे इस जगत् के जीवों में से कोई उन्मत्त की तरह हँसता है, कोई नाचता है, कोई रोता है, कोई ज़ोर से चिल्लाता है।

मतलब यह है कि इस माया के संसार में स्वाँग न बनकर जो कोई सार वस्तु को ग्रहण करता है, अर्थात् हरि की सेवा और भजन करता है, वही श्रेष्ठ बुद्धिमान की पदवी पाता है। नहीं तो सन्निपात के रोगी की तरह सभी प्रलाप बकते हैं। विषयतृष्णा पानी का बुलबुला है, उसके लिए छटपटाना है। "मैं अकेले ही सब विषय भोग करूँगा, एक ही घूँट में सब पी जाऊँगा" इस तरह के प्रलाप-वाक्य वह बकता है। भव-रोगी के इन उन्माद-वाक्यों को सुनकर गुरुरूपी वैद्य उसके लिए रोते हैं और कीर्तन करके उसे निकट बुलाते हैं।

इसी से कहते हैं, माया की कैसी विचित्र मोहिनी शक्ति है। माया के प्रभाव से कोई भी अपने स्वरूपतत्त्व की उपलब्धि नहीं कर पाता। एक विष्णुभक्ति के सिवा सभी इस विष्णुमाया में मोहित हो रहे हैं।

श्री १०८ परमहंस महाराज का एक भाषण

त्रियुग-धर्म और कृष्ण-नाम का कीर्तन

(गत संख्या से आगे)

सिद्धि लाभ में व्याघात का कारण

तथापि यह भगवन्नाम का कीर्तन न करके अगर हम कुछ और कर बैठें लोगों को दिखाने के लिए दुपट्टे के भीतर माला की झोली रखकर बाहर तो हमारे कपट दैन्य, तृणादपि सुनीचता के अथवा प्रतिष्ठा की आशा न रखने के विज्ञापन के प्रचार की इच्छा, लेकिन भीतर लोगों को दिखाने भर की वैष्णवता (!) परिपूर्णमात्रा में रहे—हम कपटता करके, "मैं हूँ—मेरा है" इस बुद्धि को रखकर, अवैष्णव को वैष्णव जानकर, वैष्णव को अवैष्णव कहकर, साधु निन्दा आदि नामापराध करके, असाधु को बहुत मानकर, नाम के बल पर पाप-प्रवृत्ति आदि नामापराधों को प्रश्रय देते रहें, तो निश्चय ही

हम फल-लाभ से वञ्चित हुए । गौरसुन्दर ने कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि,
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥

भगवान् के मुख्य और गौण नाम

नामी श्रीभगवान ने अहैतुक कृपा परवश होकर निज नामों की बहुसंख्या प्रकट की है और उन अभिन्न नामों में अपनी सब प्रकार की शक्ति प्रकट की है । "बहु संख्या" शब्द से भगवान के मुख्य और गौण नाम समूह जानना चाहिए । उनमें माधुर्य विग्रह श्रीकृष्ण, राधाकान्त, गोपीजनवल्लभ, यशोदानन्दन, नन्दकुमार आदि और ऐश्वर्यविग्रह वासुदेव, नारायण, नृसिंह, विष्णु आदि मुख्य नाम हैं । और आंशिक अथवा असम्यक आविर्भावात्मक ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर आदि भगवान के गौण नाम हैं । भगवान के मुख्य नाम नामी के साथ संपूर्ण अभिन्न हैं; उनमें सब शक्ति एकावार में संपूर्ण भाव से अर्पित है । परन्तु गौण नामों में विविध शक्तियाँ आंशिक और त्रिगुण के साथ संबंधयुक्त भाव से वर्तमान हैं ।

सभी जातियों के मनुष्यों को हरि-नाम के श्रवण और कीर्तन का अधिकार है

जगत् में सभी श्रेणियों के लोगों को हरिनाम के श्रवण व कीर्तन का अधिकार है । श्रीनित्यानन्द प्रभु और श्रीहरिदास ठाकुर, दोनों ही श्रीनाम के आचार्य हैं । नामसंकीर्तन के प्रवर्तक श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने श्रीहरिदास से यह नहीं कहा कि "तुम यवन के घर पैदा हुए हो, अतएव ब्राह्मण के घर जाकर ब्राह्मण का कृत्य हरिनाम का कीर्तन न करो ।" महाप्रभु ने श्रीनित्यानन्द और हरिदास से कहा था - "तुम दोनों ही समान भाव से जगत् में हर एक के द्वारपर जाकर हरिनाम के प्रेम का प्रचार करो ।" पूर्व-विधि के अनुसार कोई ब्राह्मण अगर किसी ब्राह्मणेतर जाति के साथ किसी प्रकार का व्यवहार रक्खे तो वह ब्राह्मणत्व से पतित हो जाता है । किन्तु श्रीनित्यानन्द प्रभु के प्रत्यक्ष उपाध्याय-कुल में अवतीर्ण होकर भी संपूर्ण पतितगण-पावन थे । क्षत्रिय, वैश्य, नवशाख या सुवर्णवणिक् आदि विभिन्न जातियों या कुलों में उत्पन्न व्यक्तियों को हरिनाम की दीक्षा देने पर भी पतितपावन श्रीनित्यानन्द प्रभु कुछ पतित नहीं हुए ।

नित्यानन्द प्रभु और ठाकुर हरिदास का आदर्श नामाचार्यत्व

नित्यानन्द प्रभु ने कभी उदर भरने की चेष्टा या धन आदि के लोभ से किसी को नामापराध प्रदान नहीं किया । वही चैतन्यरसविग्रह शुद्ध हरिनाम वितरण करने में समर्थ थे । इसीसे वह पतितपावन हैं, जीवोद्धारण हैं । जो लोग "अहं मम" भाव को लेकर धन आदि के लोभ से हरिनाम प्रदान के छल से "नामापराध" प्रदान करते हैं, वे नीच जाति के संसर्ग के फल से पतित हो जाते हैं । हरिदास ठाकुर भी आचार्य का कार्य करने के अयोग्य नहीं थे ।

हरिदास ठाकुर के दृष्टान्त द्वारा महाप्रभु की शिक्षा

श्रीमहाप्रभु ने हरिदास ठाकुर को नामाचार्य रूप से प्रतिष्ठित रखकर सब जीवों को यह शिक्षा दी है कि आभिजात्य (कुलीनता) या सामाजिक मर्यादा के साथ परमार्थिक उच्च-नीच भाव का कुछ भी संबंध नहीं । पारमार्थिक व्यक्ति ही वास्तव में कुलीन और ब्राह्मणोत्तम है और जो पारमार्थिक नहीं है, उसकी सामाजिक मर्यादा छलाभिजात्य मात्र है— वह हरिनाम ग्रहण में प्रतिबन्धक स्वरूप है । श्रीमद्भागवत (१ । ८ । २६) में और कविराज गोस्वामी प्रभु की भाषा (चै० च० अन्त्य ४ र्थ प०) में यही कहा गया है —

"जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥"
"दीनों पर सब से अधिक दया करें भगवान ।
पंडित, धनी, कुलीन को बड़ा रहे अभिमान ॥
जो भजता सोई बड़ा है, अथवा अतिहीन ।
कृष्णभजन में जाति-कुल देखें नहीं प्रवीन ॥"

वैष्णव के आविर्भाव का फल प्रारब्ध-अप्रारब्ध कर्मफल का विचार

प्रपंच में जिस कुल में महाभागवत जन जन्म लेते हैं, उस कुल के पहले के सौ और पीछे के सौ पुरुष उज्ज्वल होते हैं । ऐसे ही जिस कुल में मध्यम भागवत का

आविर्भाव होता है, उस कुल की पहले की चौदह और पीछे की चौदह पीढ़ियाँ उन्नत होती हैं। कनिष्ठ भागवत के जन्म लेने पर पहले और पीछे की तीन तीन पीढ़ियों की उन्नति होती है। वैष्णव कभी कर्मफल के बाध्य नहीं हैं। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' आदि विधि-वाक्य भगवद्भक्त के लिए प्रयोज्य नहीं हैं। अनेक समय जीव का पापफल ऐसा होता है कि वह कुष्टरोगी के यहाँ कोढ़ी होकर जन्म लेता है, और पुण्य के फल से ब्राह्मण-कुल में जन्म पाकर उत्कृष्ट सामाजिक आभिजात्य को प्राप्त करता है। कभी श्रीमान के घर में योगभ्रष्ट होकर कर्मफल के वशीभूत जीव जन्म लेता है और कभी गरीब के यहाँ पैदा होता है। यही सब प्राक्तन फल है। यह कर्म-मार्ग की बात है। किन्तु वैष्णव के लिए यह बात नहीं है। श्रील रूपगोस्वामी प्रभु कहते हैं (श्रीनामाष्टक का चौथा श्लोक —

यद्ब्रह्मसाक्षात्कृतिनिष्ठयाऽपि
विनाशमायाति विना न भोगैः।
अपैति नामस्फुरणेन तत्ते
प्रारब्धकर्मेति विरौति वेदः॥

अविच्छिन्न तैलधारा के समान ब्रह्मचिन्ता के द्वारा भी फल-भोग किए बिना जो सब प्रारब्ध कर्म या पाप-पुण्य का फलाफल विनष्ट नहीं होता, वह सब फलाफल नाम की स्फूर्ति होते ही संपूर्ण रूप से दूर हो जाता है। वेद इसी बात को उच्चस्वर से कहता है।

प्रापंचिक भ्रान्त दृष्टि से वैष्णव के हेयत्वादि जड़धर्मसंस्पर्शाभिनय का सूक्ष्म मर्म

लेकिन तब भी प्रपञ्च में जो यह देख पड़ता है कि भगवद्भक्त नीचकुल में प्रकट होते हैं, प्रपंच की आँखों से 'मूर्ख', 'रोगग्रस्त' आदि के रूप में प्रतिभात होते हैं, उसका भी महान् उद्देश्य है। साधारण लोग अगर देख पावें कि भगवद्भक्त केवल उच्च कुल में ही आविर्भूत होते हैं, बलिष्ठ या जड़विद्या में पण्डित के रूप में ही विराजित रहते हैं, तो वे निरुत्साह हो पड़ेंगे। इसीसे भगवान् गौर-कृष्ण ने सभी लोगों का नित्य-मंगल-विधान करने के लिए विभिन्न श्रेणी के लोगों में, अपने भक्तों का आविर्भाव कराकर अन्यान्य दीन अयोग्य जीवों के ऊपर अपनी परम दया प्रकट की। उनकी इस क्रिया को पाली और सिखलाई हुई हथिनी को भेजकर 'खेदा' में जंगली हाथी पकड़ने की व्यवस्था के समान जाननी चाहिए। श्रीवृन्दावन ठाकुर ने भी कहा है (चै० भा० आदि २ य अ० और मध्य ९ म अ०)

शोच्य देश में शोच्य कुल में अपने ही समान,
वैष्णव उत्पन्न कर सब का करें त्राण।
जिस देश में, जिस कुल में वैष्णव अवतार ले,
उसके प्रभाव से लाख योजन तक तरे।
वैष्णव को जितना देखो व्यवहार-दुःख,
निश्चय ही जानो उसे परमानन्द-सुख।
विषय मदान्ध सब कुछ भी न जाने,
विद्या-धन-कुल-मदसे वैष्णव को न पहिचाने।

गुरु-वैष्णव के प्रति लघु जीव की व्यवहार-विधि

भगवद्भक्त के नीच कुल में उत्पन्न होने से हमें यह न जानना चाहिए कि इस व्यक्ति ने पापयोनि प्राप्त की है; कर्मफल से बाध्य होकर यह नीच-शूद्र-म्लेच्छ आदि के कुल में उत्पन्न हुआ है। बल्कि यह जानना चाहिए कि उसने नीचकुल को भी पवित्र कर दिया है। हम लोग बात चीत में भी पूछा करते हैं—आपने किस कुल को पवित्र किया है? कोई महापुरुष यदि कलियुग की एकमात्र साधन-प्रणाली श्रीनामकीर्तन में सिद्धि लाभ करें तो निश्चय ही वह श्रेष्ठ हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

वैकुण्ठवास

गत १६ दिसम्बर (सन १९३१) को सबेरे सात बजे सीतापुर ज़िले के कुतौना ग्राम में रहनेवाले ज़मींदार ठाकुर-साहब रघुनन्दनसिंह ने श्रीहरिस्मरणपूर्वक इस संसार को छोड़कर वैकुण्ठधाम यात्रा किया। वह परमहंस श्रीश्रीमद्भक्ति-सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद के कृपापात्र दीक्षित शिष्य थे। उन्होंने विविध प्रकार से श्रीश्रीगौरसुन्दर की सेवा की थी। उनका अप्राकृत शरीर गंगा में ले जाते समय रास्ते में नैमिषारण्य के श्रीपरमहंस मठ के श्रीपाद नन्ददुलाल ब्रह्मचारीजी ने उनके मस्तक और मुख में श्रीभगवान् का चरणामृत और निर्माल्य प्रदान किया था। हम उनके विरह से वास्तविक दुःख का अनुभव करते हैं।

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्द्वान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जाननगर, बर्द्वान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमध्वगौड़ीय मठ
नं० १० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मेमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाडी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमखार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० ४ जगत्जीवनपुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाक, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
श्रीनृसिंहदासकुंज, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, करनाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ-कार्यालय
नं० ५, गोपीभवन डाक्टर लेन, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् केथोड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटीपुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) काठालपुली चराटा, नदिया

(२७) ब्राह्मणगाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० मान्जु, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्द्वान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकंदा बीरकंदा, मानभूमि

(३०) श्रीभागवत जनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registerd No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम् सटीक ।)
३—श्रीमध्वमतसारशिखरिणम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसारसंविन्नयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशित) प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बंगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बंगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति मध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८) एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)
१२—युक्तिमल्लिकागुणसौरभ वादिराज स्वामि कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपमाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित =)
१४—नवद्वीपशतक बंगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)
१६—नवद्वीपपरिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद-कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती स्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Ban Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabvat: Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

7 Jan. 1932

नारायण गौरपद गौराब्द ४४५

पौष अमावास्या संवत् १९८८

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

प्रति संख्या -)　} सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन {　वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम			८)
आधा	,, $\frac{1}{2}$	,,	५)
चौथाई	,, $\frac{1}{4}$	,,	३)
२ इंच	,, $\frac{1}{8}$	,,	१॥।)
१ ,,	,, $\frac{1}{16}$	,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये।

पत्र-व्यवहार का पता —

मैनेजर—"भागवत"

६४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

All communications are to be addressed to —

The Manager 'Bhagbat'

946, Saddar Bazar,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

श्री [illegible]

पौष अमावास्या, [illegible] ५ जनवरी सन् [illegible] ई०

संख्या ४

नम्र निवेदन

[४]

सदा पापरत मेरा जीवन, नहीं पुण्य का लेश ।
औरों को उद्विग्न किया बहु, दिया जीव को क्लेश ॥
निज सुख को नहिं किया पापभय, निर्दय, स्वार्थ समाया ।
पर सुख में दुख, मिथ्याभाषी, पर-दुख में सुख पाया ॥
बहु कामना हृदय में मेरे, क्रोधी, दंभ-परायण ।
विषय विमोहित, मदोन्मत्त नित, हिंसा गर्व-विभूषण ॥
सुकृत-विरत, निद्रालस में रत, मैं कुकार्य उद्योगी ।
शठता करूँ प्रतिष्ठा कारण, लोभी, कामी, भोगी ॥
ऐसा दुर्जन, सज्जन वर्जित, अपराधी अतिशय नित ।
भजूँ अनर्थ, सुकार्य शून्य हो, नाना दुःख निपीड़ित ॥
वृद्ध हुआ निरुपाय, अकिञ्चन, दीन, सदा अस्थिर मन ।
"भक्तिविनोद" नाथ-चरणों में करता दुःख-निवेदन ॥



आज एक प्रातःस्मरणीया धर्मशीला महिला का जीवन-चरित संक्षेप में हम अपने पाठकों की भेंट करते हैं। यदि भागवत-पत्र को पढ़नेवाली हमारी प्रिय बहनों में से एक बहन भी इस जीवनी को पढ़कर इस परम भगवद्भक्ता नारी रत्न के अतुलनीय धर्मसाधन के पदाङ्क का अनुसरण करने का यत्न करेंगी तो हम अपना परम सौभाग्य समझेंगे।

दाक्षिणात्य प्रदेश में एक खॉजल नाम का ग्राम है। वहाँ एक राजपंडित धर्म-परायण ब्राह्मण पुरोहित रहते थे। उनका नाम परशुराम था। राजा और पुरोहित, दोनों ही परम वैष्णव थे। पण्डित परशुराम के एकमात्र कन्या ही सन्तान थी। अतएव वह उसे बहुत प्यार करते थे। कन्या का नाम करमैती बाई था। उस समय वैष्णवगण स्त्री, कन्या आदि को अच्छी तरह यत्नपूर्वक सुशिक्षा दिया करते थे। स्त्री और कन्याएँ भी अनेक भाषाओं में पारदर्शिता प्राप्त करके भक्तिशास्त्र की आलोचना में लगी रहती थीं। पण्डित परशुराम की कन्या आदर्श महिला श्रीकरमैती ने पिता के परम यत्न से थोड़ी ही अवस्था में बहुत सी विद्या प्राप्त कर ली और अवस्था बढ़ने के साथ ही साथ निर्मल नित्य कल्याणदायक वैष्णव-धर्म में उनकी गहरी श्रद्धा उत्पन्न हो गई। क्रमशः विवाह के योग्य अवस्था उपस्थित होने पर पण्डित परशुराम ने कन्या करमैती बाई का विवाह कर दिया। किन्तु जिसने जगत्पति श्रीकृष्णचन्द्र को नित्य-पति के रूप में वरण कर लिया है, उसके लिए अनित्य प्राकृत वस्तु में सेवा करने की बुद्धि का रहना असंभव है। श्रीकरमैती बाई ने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए विवाह तो कर लिया, किन्तु घोर विषयी अवैष्णव स्वामी के घर जाने के बदले वह एकान्त में बैठकर श्रीहरि नाम का जप करने लगीं और कृष्ण के प्रेम में पागल होकर "हा नाथ! हा प्राणवल्लभ!" कहकर कभी हँसने, कभी रोने और कभी ऊँचे स्वर से चिल्लाने लगीं। कृष्ण प्रेम के आवेश में, कृष्ण के चरण कमलों के ध्यान में उनका मन रूप भ्रमर मग्न रहने लगा।

कृष्ण प्राण, कृष्ण धन, कृष्ण सुख-सार।
कृष्ण बिना करें नहीं किसी को भी प्यार॥

इसी तरह कुछ दिन बीतने पर कृष्णगतप्राणा करमैती बाई को ससुराल ले जाने की प्रबल चेष्टा चलने लगी। करमैती बाई यह सोचकर कि अवैष्णव स्वामी के घर में जाने से उनके प्राणवल्लभ कृष्ण की सेवा में विघ्न होगा, एकदम व्याकुल हो उठीं। संसार में यन्त्रणोत्पादित उत्पीड़ित और लाञ्छित होकर—सांसारिक लोगों की ताड़ना से शोक और दुःख से अवसन्न-चित्त होकर वह सोचने लगीं कि हाय हाय! अब क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? वैष्णवद्वेषी के कुसंग में पड़ने से अवश्य ही मेरा सर्वनाश उपस्थित होगा। यह सब सोचते सोचते वह विकल हृदय से पृथ्वी पर लोट-लोटकर रोने लगीं। अन्त को उन्होंने यह स्थिर किया कि छिपकर श्रीधाम वृन्दावन को भाग जाऊँ। इस प्रकार निश्चय करके धर्मप्राणा श्रीकरमैती बाई अनुराग से उन्मादिनी होकर घर से चुपके से निकल पड़ीं। चारों ओर द्वारों में जंजीर बंद रहने के कारण दुमंज़िले से नीचे फाँदकर बाहर आईं। किन्तु अनाथों के नाथ, अशरण शरण श्रीहरि की कृपा से करमैती के श्रीअंग में तनिक भी चोट नहीं आई। वह उसी गहरी रात में अपने नित्य-पति श्रीहरि के दर्शनों की आकांक्षा से उन्मादिनी होकर श्रीधाम वृन्दावन की ओर चलने लगीं। पंडित परशुराम अपनी एकमात्र आनन्ददायिनी कन्या को घर में न देख पाकर और सबेरे सब के जानने पर लोकनिन्दा होने के भय से डरकर सिर झुकाए राजा के समीप उपस्थित होकर कहने लगे—महाराज! मेरी कन्या रात को छिपाकर न जाने कहाँ चली गई है; लोकनिन्दा के भय से अब मुझे चारों ओर अंधकार देख पड़ रहा है।

राजा ने यह सुनकर करमैती के खोजने के लिए बहुत से लोगों को अनेक स्थानों में भेजा। लंबे चौड़े मैदान में श्रीहरि का नाम स्मरण करते करते अकेली करमैती चली जा रही थीं, इसी बीच में उन्होंने देखा, राजा के आदमी उन्हें खोजते हुए उसी मैदान में आ पहुँचे हैं। उस जन-मानव शून्य मैदान में अपने को छिपाने का कोई भी उपाय न देखकर वह "हा दीनबन्धो! हा अनाथ-नाथ!" कहकर आर्त्तनाद करके बराबर आत्मरक्षा का उपाय सोचती हुई प्राणपण से दौड़ने लगीं। उनको सामने ही एक मरा हुआ ऊँट देख पड़ा। सड़ जाने के कारण उस ऊँट के शरीर से

घोर दुर्गन्ध निकल रही थी। करमैती बाई उसी ऊँट के उदर में घुसकर तीन दिन तक भजनानन्द में मग्न बैठी रहीं। राजकर्मचारी दुर्गन्ध के मारे उनके पास तक नहीं गए। अन्त को विफल मनोरथ होकर जब राजा के सब अनुचर चले गए, तब चौथे दिन करमैती ने उसमें निकल-कर पतित पावनी गंगा के पवित्र जल में स्नान किया और फिर श्रीवृन्दावन की ओर चल पड़ीं। इसी तरह सब बाधा विघ्नों को नाँघकर वह असाधारण कृष्णप्रेमोन्मादिनी रमणी अपने परम अभीष्ट धाम श्रीवृन्दावन में उपस्थित हुई और आनन्दोत्फुल्ल चित्त से ब्रह्मकुण्ड के किनारे जंगल के भीतर भगवद्भजन करने लगीं। पण्डित परशुराम एकमात्र कन्या को न देख पाने के दुःख और यातना से शोकार्त होकर कन्या को खोजने के लिए घर से निकले और खोजते हुए श्रीवृन्दावन धाम में आकर पहुँचे। वहाँ सब स्थानों में खोज करने पर भी जब उन्होंने अपनी कन्या को नहीं देख पाया, तब एक दिन एक ऊँचे वृक्ष के ऊपर चढ़कर जो उन्होंने चारों ओर देखा, तो उन्हें ब्रह्मकुण्ड के किनारे गंभीर वन के भीतर भजनानन्द में मग्न करमैती बाई देख पड़ीं। करमैती की ज्योतिर्मयी मूर्ति थी। उन्हें कुछ भी बाह्य ज्ञान नहीं था। दोनों नेत्रों से प्रेम के आँसुओं की धारा बह रही थी कन्या के इस अपूर्व भावावेश को देखकर पिता का हृदय पसीज उठा। उस समय वह करमैती को अपनी कन्या समझने में असमर्थ हो गए। वृक्ष से उतर कर करमैती के निकट जाकर वह करमैती के चरणों में गिर पड़े। और कहने लगे—मा! वन में रहने का क्या प्रयोजन है? तुम मेरी एकमात्र हृदयानन्ददायिनी कन्या हो। तुम मेरे गृह की शोभा हो, अतएव घर में ही बैठकर हरि का भजन करना। चलो। तुम्हें देखकर मेरा हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो गया है मैंने जैसे अमृत के सागर में गोता लगा लिया है। बहुत देर बाद करमैती को जब बाह्य ज्ञान हुआ, तब उन्होंने पिता को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा—पिताजी! मेरी स्तुति या बड़ाई करने की कोई बात मुझमें नहीं है। श्रीकृष्णचन्द्र मेरे सर्वस्व हैं मेरा देह, मन प्राण सभी उन नित्य-पति श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित है। इस समय मेरे प्राणशून्य इस शरीर को लेकर इसे आप किस काम में लगावेंगे? मेरी आशा त्याग करके घर जाइए। विषय-विष-पान छोड़कर कृष्णनाम का अमृत पीजिए। उससे आपको नित्य अविनाशी मंगल प्राप्त होगा। यह कहते-कहते करमैती मूर्च्छित हो गई। पंडित परशुराम कन्या को सैकड़ों हजारों धन्यवाद देकर अपने को धिक्कारते हुए, रोते हुए घर को लौट आए और सारा वृत्तान्त राजा को सुना दिया। राजा ने भी परम भक्तिमती करमैती बाई के दर्शन करने की अभिलाषा से श्रीवृन्दावन की यात्रा की। वहाँ जाकर उन्होंने देखा, करमैती बाई यमुना के किनारे कृष्णनाम सुधा-पान में मग्न होकर विराजमान हैं, आँखों से प्रेम के आँसू बह बहकर उनके वक्षःस्थल को भिगो रहे हैं। राजा ने साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। करमैती बाई ने भी राजा को प्रत्यभिवादन किया। राजा ने ब्रह्मकुण्ड के किनारे करमैती के वास्ते भजन-कुटीर बनाने की अनुमति उनसे चाही। परन्तु करमैती बाई ने इस भय से कि ज़मीन खोदने से बहुत से कीट पतंग आदि की हत्या होगी, राजा से यह इरादा छोड़ देने का अनुरोध किया। तो भी राजा ने बहुत कुछ अनुनय-विनय करके एक ईंट का घर वहाँ पर बनवा ही दिया। इस प्रकार साध्वी प्रातःस्मरणीया महिला कर-मैती बाई अवशिष्ट जीवन को हरिभजन में लगाकर अन्त को परमधाम सिधारीं। प्राचीन भारत में बहुत-सी धार्मिक महिलाओं ने इस प्रकार भक्ति-मार्ग को ग्रहण करके भारत-भूमि को पवित्र किया है। किन्तु हाय! काल का कैसा विचित्र परिवर्तन है कि इस बीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य-शिक्षा प्लावित युग में इस प्रकार की पवित्र चरित्रवाली रमणियाँ अब हमें नहीं देख पड़तीं। वर्तमान समय में ललनाएँ विश्वविद्यालय में जाकर शिक्षा के उच्च शिखर पर चढ़कर सांसारिक हिसाब से श्रेष्ठ बनने पर भी ईश्वरो-पासना से विमुख ही देख पड़ती हैं। हमारी माताओं और बहनों से यह सानुरोध प्रार्थना है कि वे आत्मविस्मृत होकर और कब तक भोग विलास परायण बनकर माया की दासी बनी रहेंगी? हमारे इस सुदुर्लभ मनुष्य शरीर के धारण करने का उद्देश्य क्या केवल सांसारिक प्रतिष्ठा की आशा और भोगलालसा की परितृप्ति ही है? जो निष्ठाचारी नहीं हैं, जो आज हैं, पर जिनके कल रहने या न रहने का कोई निश्चय नहीं है, उन सब विषयों के लिए यत्नवती न होकर, सब सुख-दुःख और भोग की लालसा त्याग करके, दयालु वैष्णवों की कृपा से श्रीश्री गुरुदेव के श्रीचरणों में आत्म-निवेदन करके, नित्य कल्याण प्राप्त करना ही एक मात्र

परम मंगलदायक है। दया के सागर, पतितपावन, वैष्णव महाजनगण हर घड़ी कृपा के वितरण द्वारा पतिताश्रम जीव को नित्य कल्याण प्रदान कर विषयगर्त से निकालने के लिए कृतसंकल्प हैं। उनके अभय चरणों में शरणागत होने से नित्यकल्याण का होना अवश्यंभावी है। श्री-श्रीगुरुदेव के पादपद्माश्रय से भजननिरत मानवगण त्रिताप से दग्ध नहीं होते। वे अशोक होकर, अमृत और अभय होकर कृष्ण के दास्यभाव में नित्य काल विराजमान रहते हैं।

कामिनी का स्वप्न

("तेली का बैल" लेख के साथ संयुक्त)

[१]

कालिदास ने तीस वर्ष बैल का काम करके जो बड़ा सा मकान बनवाया था, उसी के दक्षिण ओर के बरामदे में आज कामिनी (कालिदास की स्त्री) लेट रही। कालिदास की नाक में रस्सी और आँखों में टोप चढ़ाकर कामिनी ने उसे इतने दिन जिस तरह से घुमाया और उससे जो तेल प्राप्त किया था, उसके अब न पाने की चिन्ता ने आकर कामिनी के दिमाग़ को गरम और चित्त को चंचल बना दिया था। इसीसे कामिनी बिछौने पर पड़ी इधर-उधर बेचैनी से करवट बदल रही थी। किन्तु फागुनहटे की हवा जैसे ज़िद करके ज़बरदस्ती उसके हृदय में प्रवेश करके उसके अनजान में ही उसके दिमाग़ की गर्मी औ मन की चंचलता को दूर करने लगी। देखते ही देखते कामिनी की आँख लग गई।

बैलों को कोल्हू में जोत देने पर वे उसे खींचने में अनिच्छा अवश्य प्रकट करते हैं, लेकिन एक दम कोल्हू का खींचना बंद कर देने पर वे अस्वस्थ और अस्थिर प्रतीत होते हैं। गुलामी में जिन्होंने बहुत सा समय बिताया है, उन्हें इस विषय की यथेष्ट अभिज्ञता है। वे पेंशन-पेंशन चिल्लाते हैं किन्तु पेंशन देने की इच्छा प्रकट करने पर एक्सटेन्सन चाहते हैं या पेंशन दे देने पर उनका वक्त कटना मुश्किल हो जाता है। तब वे बिना वेतन लिए ही कोल्हू खींचना और घूमना चाहते हैं। कालिदास ने उस दिन तेली के बैल को देखकर अपने को भी वही तेली का बैल ठहराया और "अरे ना रे बाप!" कहकर किसी तरह दो कौर मुँह में ठूँसकर पेट में भरकर—आफ़िस चला गया और आफ़िस के कोल्हू में जुतकर घूमता हुआ तरह-तरह की बातें सोचने लगा। इसी समय एक संन्यासी ने उसके कमरे में प्रवेश कर श्रीधाम परिक्रमा का एक निमंत्रण-पत्र उसके हाथ में देकर यह गाना शुरू कर दिया—

संसार संसार करके वृथा गया काल।
लाभ न हुआ कुछ, होगया जंजाल॥
काहे का संसार यह, स्वप्न ही है हाय।
इस पर करके ममता वृथा दिन जाय॥
गिरने पर देह यह रहे मेरा कौन।
सुख देगा कोई नहीं पुत्र, परिवार, भौन॥
गधे के समान मैं तो करूँ परिश्रम।
किसके लिए इतना करूँ, मिटा नहीं भ्रम॥

संन्यासी ठाकुर का गान समाप्त होने के पहले ही सूखी लकड़ी के ढेर में आग लग गई। कालिदास की सेवोन्मुखी वृत्ति उमड़ पड़ी। वह रोता हुआ संन्यासी के पैरों पर गिरकर पृथ्वी पर लोटने लगा। संन्यासी ने सुयोग समझकर फिर गाना शुरू किया—

बुढ़ापा आगया दिन-दिन बढ़ा बोझा गृहस्थी का।
हुई अस्थिर, अचल मति, गति, लगे जीवन, जगत फीका॥
नहीं है थाह जिसकी, वह नदी संसार की भारी।
मरण सिर पर खड़ा है, कूच की भेरी है तैयारी॥
यहाँ का काम पूरा कर बजे जब कूच की भेरी।
भजूँगा तब तुम्हें स्वामी, विफल आशा है यह मेरी॥

संन्यासी का गान सुनकर कालिदास रोता हुआ उनके दोनों पैरों पर सिर रखकर कहने लगा—

निराशा सब तरफ़ से है, मुझे चरणों में आश्रय दो।
करूँ सेवा सदा प्रभु की, हृदय की वासना क्षय हो॥

[२]

"मा ! मा ! रोती क्यों हो ? क्या हुआ ?" कहती हुई कामिनी की बड़ी लड़की मा को ठेलकर जगाने लगी ! धीरे-धीरे स्थिर होकर बिछौने पर उठ बैठकर कामिनी चकित की तरह आकाश की ओर ताकने लगी। माता के इस भाव को लक्ष्य करके कन्या ने फिर पूछा—"मा, इस तरह किसे ताक रही हो ? यह क्या कर रही हो ?" कामिनी चूमकर, जैसे कुछ लज्जित होकर कन्या से कहने लगी—बेटी मन मोहनी, मुझे कुछ नहीं हुआ अभी अभी मैं एक अद्भुत स्वप्न देख रही थी। सुन, तेरे बप्पा तेली के यहाँ बैठे तेल ख़रीद रहे हैं। इसी समय एक आदमी ने तेली के बैल को, जिसकी आँखों पर टोप चढ़ा था, एक लंबी मोटी लाठी से, जिसमें एक लाल कपड़ा लिपटा हुआ था, खेदा और उसकी आँखों में चढ़े हुए दोनों टोप या टप्पे तोड़ डाले। मौक़ा पाते ही वह बैल पूँछ उठाकर, तेली की पीठ में एक लात मारकर, वहाँ से भाग खड़ा हुआ। तेली उस आदमी की तरफ़ आँखें फाड़फाड़कर ताकने लगा। इस आदमी का वेश अद्भुत था। एक गेरुआ रँगा हुआ कपड़ा पहने था और एक दूसरा गेरुआ कपड़े से शरीर ढके था। मस्तक पर तिलक था। हाथ में वही लाठी थी, जिसमें गेरुआ कपड़ा लिपटा हुआ था। मेरी चालीस वर्ष की अवस्था हुई, ऐसा वेश और ऐसा दण्ड (लाठी) तो मैंने कभी नहीं देखा, ख़ैर, तेरे बप्पा हाँडी में तेल लेकर जब घर का लौटने लगे, तब उसी गेरुआधारी आदमी ने राह रोककर वही लाठी उनके सामने रखकर कहना शुरू किया—कहाँ जा रहे हो कालिदास ? काली का दासत्व और कितने दिन करोगे ? तुम्हीं न अभी इस तेली की दूकान पर बैठे गा रहे थे—

"मा, मुझे घुमाओगी कितना तेली के बैल समान अहो।
भव के कोल्हू में जोत दिया देती यों चक्कर अविरत हो॥"

भैया कालिदास, संसार के कोल्हू में जुतकर अब न चक्कर लगाओ। देखा नहीं, तुम्हारे सामने ही तेली का बैल दौड़ता हुआ भाग गया है ! उस आदमी के इस व्यवहार से तेरे बप्पा ठिठक-कर खड़े हो गए। उसके बाद उस आदमी से बोले यह क्या कहते हो महाराज ! देखते नहीं, मेरे हाथ में तेल की हाँडी है ! घर में मेरी स्त्री राह देख रही होगी। मैं जब तेल लेकर घर जाऊँगा, तब वह मछली वग़ैरह भूनेगी। आप रास्ता छोड़ दीजिए, अभी मुझे घर जाने दीजिये, फिर किसी समय में आपकी बात सुनूँगा।

इसके जवाब में वह आदमी कहने लगा—कालिदास, तुम्हीं तो काली के निकट दुःख प्रकट करके कह रहे थे कि संसार के कोल्हू में जुतकर तेली के बैल की तरह और कितने दिन घूमूँगा ? अब यह बात क्यों कहते हो ? काली ने तुम को संसार के कोल्हू में जोत ज़रूर दिया है; लेकिन घूमते तो तुम अपनी ख़ुशी से हो। काली जैसे जोत देती हैं, वैसे ही खोल भी देती हैं। वह बन्धनकारिणी अवश्य हैं, लेकिन साथ ही साथ मुक्ति देनेवाली भी हैं। उनके निकट छुट्टी चाहो—वह तुम्हें छुट्टी देंगी।

इतना कहकर तेरे बप्पा के सिर में उस आदमी ने अपना वह दण्ड छुआ दिया। बस, तेरे बप्पा तेल की हाँडी रास्ते में फेंक उसी आदमी के साथ दौड़ते हुए चले गए।

लड़की ने पूछा—उसके बाद क्या हुआ मा ?

(गत संख्या के आगे)



किसी महाराज का कथन है "केशव तुम्हरो जगत विचित्र।" अर्थात् हे केशव इस तुम्हारे जगत में कितने ही प्रकार के विचित्र मनोधर्मयुक्त बहिर्मुख मत प्रचलित हैं, उनकी संख्या करना असंभव है। मन का धर्म ही अस्थिरता, चंचलता, तोड़ना और गढ़ना है। मतलब यह कि भिन्न-भिन्न लोगों की भिन्न-भिन्न रुचि है। इसके सिवा एक ही व्यक्ति की भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न प्रकार की अवस्था हुआ करती है। इसी भिन्न भिन्न रुचि या मनोधर्म के अनुसार एक एक व्यक्ति एक एक कार्य या वस्तु को परम आदर्श मानने की कल्पना किया करता है। इस प्रकार की मनोधर्मयुक्त विचार प्रसूत कल्पना से धर्म-जगत में भी नाना मतों और नाना मार्गों की सृष्टि हुई है, हो रही है और आगे भी होती रहेगी। यहाँ तक कि अनेक समय इन सब मनोधर्मों से युक्त मतावलम्बीगण अपने को सनातनधर्म या सनातन-धर्म के अन्तर्गत कहकर प्रचार करने में भी कुंठित नहीं होते। कारण, सभी प्रतिष्ठा चाहते हैं, सभी संख्या वृद्धि चाहते हैं। पूँछ जिसकी कटी हुई है, वह सियार भी अपने पूँछ कटे होने को ही एक आदर्श कहकर उसका प्रचार करता हुआ प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है। किन्तु वास्तव सत्य, निष्कपट सत्य, परम सत्य, त्यक्त-कैतव, निर्मत्सर साधुओं के आत्मधर्म में मनोधर्म का लेशमात्र भी नहीं है। यही सनातन धर्म जीव का धर्म या आत्मा का धर्म है। उच्छृंखल मनोधर्मी इस आत्मधर्म को साम्प्रदायिकता या कट्टरपन अगर कहें तो उससे आत्मधर्म की न कुछ हानि होगी और न उसे लाभ ही होगा। श्रीमद्भागवत में श्रीभगवान ने उद्धव से कहा है—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥

* * * *

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः।
...

बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजः-सत्त्वतमोभुवः।
याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा॥

यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि।
एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम्॥
पारम्पर्येण केषाञ्चित्पाषण्डमतयो परे।
मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ॥
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथा रुचिः।
धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम्॥
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम्।
केचिद्यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान्॥
आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः॥
मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुखं यत्तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम्॥
न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विना न्यत्॥

(११।१४।३—१४)

भगवान ने कहा है उद्धव एकमात्र शुद्ध भक्ति ही आत्मा का धर्म है; और सभी मनोधर्म आत्मेन्द्रिय प्रीति-वांछारूप कैतव से परिपूर्ण हैं। भोग और मोक्ष की कामना रखनेवाले प्राणियों ने अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार इन सब धर्मों को प्रधान बनाकर इनका निरूपण किया है। ये सब पुष्पतुल्य आपात-रमणीय बातें वेद में रहने पर भी वे नित्य, अखण्ड, परिपूर्ण आनन्द के देने में असमर्थ हैं। जिसमें मेरे अनुमोदित, विशेष गोपनीय आत्मधर्म की बातें कही गई हैं, वह यह वेद वाणी प्रलय में काल के द्वारा नष्ट हो गई थी। उसके बाद सृष्टि के पहले मैंने वह ब्रह्मा से कही थी। ब्रह्मा ने मनु और सब ब्रह्मर्षियों से उसे कहा। इन लोगों ने देवता, मनुष्य, दैत्य, दानव आदि में उसका प्रचार किया। उन्होंने किन्तु मनोधर्म के द्वारा उसे सुनकर प्रवृत्ति के अनुसार एक एक स्वतन्त्र मत की सृष्टि कर दी। यदि कहो कि इस प्रकार का मतभेद कैसे

संभव है तो इसका उत्तर यही है कि मनोधर्म में अवस्थित होने पर मतभेद होगा ही। जैसे यदि कोई व्यक्ति कहे कि सूर्य अस्त हो गए तो जैसे इस वाक्य को सुनकर लंपट व्यक्ति समझेगा कि परस्त्रीगमन का समय उपस्थित हुआ चोर समझेगा कि पराया धन हरने का समय उपस्थित हुआ, और साधुगण समझेंगे कि सन्ध्यावन्दन आदि कर्म करने का समय उपस्थित हुआ वैसे ही एक व्यक्ति के वक्ता होने पर भी भिन्न भिन्न मनोधर्मयुक्त जीव अपनी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार एक ही वाक्य के भिन्न-भिन्न तात्पर्य ग्रहण करते हैं। वेद की इस वाणी को मनोधर्म की सहायता से समझने में ही जड़वाद, स्थिरवाद, निरीश्वर कर्मवाद, निर्वाणसुखवाद, सन्देहवाद, केवलाद्वैतवाद, नास्तिक्यवाद आदि बहुत से विचित्र मतों की उत्पत्ति हुई है। किसी का उपदेश-परंपरा द्वारा मतभेद हुआ है और किसी ने अत्यन्त तमोगुणी प्रकृति होने के कारण वेद-विरुद्ध पाषण्ड मत की कल्पना कर ली है। जैसे गंगाजल शुद्ध और मधुर होने पर भी उसके तटवर्ती रेंड, नीम, कैथा बेल आदि के वृक्ष अपनी जड़ों से उसी गंगाजल को ग्रहण करके विषम विरुद्ध रस की सृष्टि करते हैं वैसे ही मनोधर्मी भी वेदार्थ का कुत्सित अर्थ किया करते हैं। भगवान की माया के द्वारा मोहित पुरुषगण कर्म और अभिरुचि के अनुसार श्रेय की व्याख्या करते हैं। कर्म-मीमांसक लोग धर्म को काव्यालंकारकर्त्ता लोग यश को, वात्स्यायन आदि काम को, योगशास्त्रकारगण सत्य, शम और दम को, दृष्टान्तवादी दण्डनीतिकर्त्ता लोग ऐश्वर्य को लोकायतिक लोग त्याग, भोजन आदि को, इसी तरह कोई यज्ञ, तप, दान को और कोई व्रत, नियम, यम आदि को परम पुरुषार्थ कहकर प्रचार करते हैं। इन सब पुरुषार्थों के द्वारा प्राप्त होनेवाले फलस्वरूप सब लोक अनित्य, नश्वर-कर्म निर्मित दुःखोत्पादक, मोहमय तुच्छ, मन्द और शोक से व्याप्त हैं। अतएव शरणापत्ति लक्षणा भक्ति ही वेद का तात्पर्य है। वही आत्मा या जीव का धर्म है। जिन्होंने भगवान में आत्मसमर्पण किया है, उन्होंने ही यथार्थ में निरपेक्ष होकर नित्य परिपूर्ण आनन्द का पता पाया है। वे ही अकिञ्चन और शान्त हैं। भोग या मोक्ष की कामना रखनेवाले सभी अशान्त हैं। कारण, उन्होंने भगवान में आत्मसमर्पण नहीं किया।

श्रुति कहती है—सूक्ष्म मेधा, पाण्डित्य या तर्कमार्ग के द्वारा आत्मतत्त्व का ज्ञान या लाभ नहीं होता। एकमात्र नित्य भगवान के शरणागत जन के हृदय में ही आत्मतत्त्व का उदय होता है। भगवान के शरणागत जन ही एकमात्र मनोधर्म के कहक से निर्मुक्त हैं। अन्यान्य लोग अपने को जितना चाहे मेधावी, पण्डित, आभिजात्य-सम्पन्न समझें, अथवा यह समझें कि भगवान को उन्होंने जान लिया है या भगवान को उन्होंने विचार, तर्क एवं युक्ति के जाल में पकड़ लिया है, परन्तु वे सभी मनोधर्मी हैं। द्वैतराज्य में मन के द्वारा 'यह अच्छा है, यह बुरा है' इत्यादि जो कुछ सिद्धान्त किया जाता है, वह सभी भ्रम युक्त मनोधर्म है। कृष्णैकशरण साधुजन के सिवा जगत् के सभी लोग मनोधर्म के वशीभूत हैं। यदि कोई सुकृती व्यक्ति इन सब कृष्णैकशरण हरिजनों के चरणों में मन-वाणी-काया से अपना सर्वस्व समर्पण करके सर्वतोभाव से उनका आनुगत्य स्वीकार करने का सौभाग्य प्राप्त करे तभी दिव्य ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले मन्त्र के प्रभाव से उसका मनोधर्म दूर हो सकता है। मनोधर्मी लोग चित् और जड़ के समन्वय का प्रयास करते हैं, वे भगवान और माया को एक कर डालते हैं। वे कहते हैं, माया का ही नामान्तर भगवान है। भोगी और त्यागी, आस्तिक और नास्तिक, कामी और निष्काम, दोनों ही धार्मिक हैं। जो कृष्ण हैं, वही काली (महामाया) हैं। मनोधर्मी लोग नीतिवादी, देहारामी, कर्मजड़ स्मार्त और प्राकृत वस्तु के भले बुरे के विचार को लेकर व्यस्त रहते हैं। वे भगवद्वस्तु को प्राकृत दृष्टि से देखनेवाले हैं। वे अप्राकृत श्रीविग्रह को काठ-पत्थर समझते हैं, भक्त में जाति-बुद्धि रखते हैं, श्रीचरणामृत को, जल मानते हैं, महाप्रसाद को दाल भात की दृष्टि से देखते हैं। वे प्राकृत इन्द्रियों की सहायता से प्राकृत आभिधानिक भोगपर जड़ शब्दोच्चारण को नामोच्चारण कहा करते हैं। वे प्राकृत बुद्धि लेकर अप्राकृत भगवत् लीलाओं का स्मरण आदि करने के लिए समुत्सुक हैं। वे आत्मेन्द्रिय प्रीति और कृष्णेन्द्रिय-प्रीति के पार्थक्य की उपलब्धि करने में असमर्थ हैं। वे मूर्खता या अन्धविश्वास को श्रद्धा, तमोभाव को तृण से भी सुनीच भाव, भाव-प्रवणता को हृदय-विकार और कपटता को वैष्णवता जानते हैं। मनोधर्मीगण प्राकृत बहिर्मुख ऐतिहासिक या वैज्ञानिक की गवेषणा-वृत्ति द्वारा परिचालित होकर भवप्रपञ्च में अवतीर्ण भगवत्सम्बन्धी वस्तु के जन्म-कर्म के अनुसन्धान में व्यस्त हैं। तात्पर्य यह

कि उनमें से कोई वञ्चक है, कोई वञ्चित है। उनके दुर्भाग्य की सीमा नहीं है। वे अपने को चाहे जितना बुद्धिमान क्यों न समझें, वे असल में दैवी माया द्वारा विमोहित हैं।

[गत संख्या से आगे]

पातञ्जल के साधन पाद में देखा जाता है—"अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।" अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँच को यम कहते हैं। "ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।" अर्थात् ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित होने से अलौकिक शक्ति प्राप्त होती है। इन यम-नियमादि को या अलौकिक शक्ति का संचय तो असुरगण भी किया करते हैं। सिंह-व्याघ्र आदि जीवों के शरीर में भी तो मनुष्य से कहीं अधिक शक्ति होती है। अथवा ताराव्यूह का ज्ञान, आदित्य आदि ग्रहों की गति का ज्ञान, भूख प्यास की निवृत्ति, चित्त की स्थिरता, सर्वज्ञता, अग्नि के समान तेजस्विता, या प्रतिभा, श्रवण, वेदना दर्शन, आस्वाद, और वार्तासिद्धि का लाभ, पञ्चभूत परिमाण-साधन सामर्थ्य, या अणिमा, लघिमा, महिमा प्राप्ति, प्राकाम्य आदि अष्टविध ऐश्वर्य का लाभ ही ब्रह्मचर्य का उद्देश्य है? अथवा धर्ममेघशक्ति-सञ्चार से समाधि-लाभ करके क्लेश-कर्म निवृत्ति ही क्या ब्रह्मचर्य का उद्देश्य है? गीता के सत्रहवें अध्याय में ब्रह्मचर्य को शारीरिक तप कहा है। इस तप का उद्देश्य यदि पाशविक बल का सञ्चय, मानसिक क्षमता का लाभ, अष्टादश सिद्धियों की प्राप्ति अथवा कैवल्यसुखादि आत्मविनाश का ही कारण हो तो फिर उसका मूल्य कितना है, इसका विचार सारग्राही व्यक्ति करेंगे। पातञ्जलभाष्य में लिखा है—"ब्रह्मचर्यं उपस्थनियमः वीर्यसाधनं वा।" इस प्रकार के ब्रह्मचर्य के पालन की चेष्टा भोग और मोक्ष की कामना रखनेवाले लोग करें; किन्तु पहले ही कहा जा चुका है कि आरोहपंथा अर्थात् भागवत और भगवत्कृपा से विच्युत स्वकृत चेष्टा में ब्रह्मचर्य की सिद्धि नहीं है। भागवत में देवगण श्रीभगवान् से कहते हैं—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।।
(१० । २ । ३२)

अर्थात् हे कमल लोचन, निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान-परायण ज्ञानी या कैवल्यसुख एवं अष्टादश सिद्धि आदि की कामना रखनेवाले योगीगण आरोह मार्ग में ब्रह्मचर्यादि बहु कष्टसाध्य साधन करके "हम तो विमुक्त हो गए, अतएव भगवान् की चरण-सेवा का अब क्या प्रयोजन है?" ऐसा विचार करके एकमात्र नित्य आश्रयणीय जो आपके श्रीचरण हैं, उनका अनादर करने के कारण ब्रह्मपद पर्यन्त पहुँच करके भी वहाँ से अधःपतित होते हैं।

तथा न ते माधव तावकाः क्वचित्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो ।

हे माधव, आपके भक्तगण आपकी कृपा पर सदा निर्भर करते हैं। वे आप पर अत्यन्त प्रीति रखते हैं और निरन्तर आपकी सेवा में लगे रहते हैं। अतएव हे प्रभो, आपके द्वारा रक्षित होकर, पतन के भय से शून्य होकर, वे विघ्न विनाशनगण के सिर पर पैर रखकर विचरण किया करते हैं। विश्वामित्र की तपस्या और ब्रह्मचर्य मेनका अप्सरा के एक चकित दर्शन से नष्ट हो गया था। सौभरि मुनि ब्रह्मचर्य का पालन करके जल के भीतर कठोर तपस्या कर रहे थे। इसी समय कुछ मछलियों ने उनके शरीर को स्पर्श किया। उस स्पर्शजनित सुख से आकृष्ट होकर उन्होंने ब्रह्मचर्य को छोड़ दिया और स्त्री-संग में मन लगाया।

कुछ दिन पहले हरिदास साधु नाम के एक व्यक्ति ने बहुत दिनों तक योगाभ्यास के बल से ब्रह्मचर्य का अभ्यास किया था। यहाँ तक कि उन्हें संदूक में लिटाकर उसमें ताला बंद करके वह संदूक ज़मीन में गाड़कर उसके ऊपर खेती की गई। अन्न के पकने पर खेती को काटकर फिर जब मिट्टी खोदकर संदूक निकाली गई और ताला खोलकर संदूक के भीतर देखा गया तो देख पड़ा कि वह उस समय भी समाधिस्थ अवस्था में हैं। किन्तु सुना जाता है, इस व्यक्ति ने भी एक काश्मीर देश की सुन्दरी के रूप पर मोहित होकर इतने दिन के कष्टसाध्य ब्रह्मचर्य को पल भर में खो दिया था। मगर जो भगवान् के भक्त हैं और सर्वतोभाव से भगवान् के शरणागत हो चुके हैं, उन सब सेवा-परायण पुरुषों के ऐसे पतन की संभावना नहीं है। श्रीहरिदास ठाकुर को साक्षात् मायादेवी भी किसी तरह हरि-सेवा से विच्युत नहीं कर सकीं। उलटे रामचन्द्र खाँ की भेजी वेश्या भी उनके स्पर्श से पवित्र होगई।

प्रसिद्ध वैष्णवी हुई परम महन्ती।
बड़े बड़े वैष्णव दर्शनों को जाते॥ (चै० च०)

भगवद्भक्त के लिए आरोहवादी के समान कृत्रिम उपायों से ब्रह्मचर्य-पालन की दरकार नहीं होती। भगवद्भक्त का ब्रह्मचर्य भगवत्सेवा के समय स्वयं आनुषंगिक भाव से साधित होता है। कृत्रिम उपायों से ब्रह्मचर्य की स्थिरता नहीं होती। जैसे हम जब "यह कार्य करेंगे, यह नहीं करेंगे" इस प्रकार की व्यतिरेक-चिन्ता या बुद्धि के द्वारा प्रेरित होकर उस निषिद्ध कार्य से निवृत्त होने के लिए कृत्रिम उपाय की सहायता लेते हैं, तभी उस व्यतिरेक-चिन्ता की प्रबलता के कारण उस निषिद्ध कार्य को अपने अनजान में सूक्ष्म शरीर से किया करते हैं और बाद को वह हमारे स्थूल शरीर द्वारा भी हो जाया करता है। इस प्रकार आरोह उपाय से अर्थात् नानाविध कृत्रिम उपाय और अस्वाभाविक चेष्टा द्वारा इस समय भी भारत के विभिन्न स्थानों में और बंगाल में जगह-जगह ब्रह्मचर्य-आश्रम आदि खोलकर बालकों को ब्रह्मचर्य की शिक्षा देने का यत्न किया जाता है। किन्तु ब्रह्मचर्य के मूल उद्देश्य से अधिकांश लोग ही विच्युत हो पड़ते हैं। यदि इन सब ब्रह्मचर्याश्रमों में पता लगाया जाय तो सबसे पहले अनेक स्थलों में ही आचारवान् तथा मन-वाणी-काया से अखण्डित ब्रह्मचर्य-परायण आचार्य ही न देख पड़ेंगे। दूसरे यदि इन सब ब्रह्मचर्य-विद्यालयों के नेताओं या शिक्षार्थी बालकों से पूछा जाय कि वे किस उद्देश्य से ब्रह्मचर्य की शिक्षा दे रहे हैं अथवा ग्रहण कर रहे हैं तो उनमें से कदाचित् कोई यह कहेंगे कि इस समय देश की बुरी हालत है—देश पराधीन है, तेजस्वी युवक ही आगे चलकर देश की उन्नति कर सकते हैं। अतएव यदि वे वीर्य-सम्पन्न या शक्तिशाली न होंगे तो देश का और भी अधः-पतन होगा। शायद कोई यह भी कहे कि "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"—शरीर के स्वस्थ और बलिष्ठ हुए बिना जगत् के सभी सुखभोग वृथा हैं, अतएव ब्रह्मचर्य अर्थात् बिन्दु-धारण परम आवश्यक है। एक और श्रेणी के लोग कहेंगे कि सारा देश तमोगुण से आच्छन्न हो पड़ा है। केवल आध्यात्मिक कल्याण के काल्पनिक महल को उठाते-उठाते सब लोग आलसी और अकर्मण्य हो पड़े हैं। इस समय रजोगुण, सिंह-विक्रम चाहिए। कर्म की ओर रजोगुण की प्रबल शोणित-वन्या से युवक-संप्रदाय की धमनी प्लावित करनी होगी। नहीं तो इस देश का धर्म-कर्म सब नष्ट हो जायगा। एक श्रेणी के लोग ऐसे भी हैं, जो शायद यह कहेंगे कि वीर्य के धारण से चित्त स्थिर होता है। स्थिर चित्त से ध्यान, धारणा और समाधि तथा अन्त को निर्विकल्प समाधि या अद्वैतसिद्धि प्राप्त होती है। इसीलिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। ब्रह्मचर्य-पालन के उद्देश्य के सम्बन्ध में इसी तरह के अनेकानेक मत भारत में सुने जाते हैं। इस तरह के विभिन्न मत आजकल कुछ नए नहीं सुन पड़ते, अनादि काल ही से भगवान् की अनादि सृष्टि के साथ-साथ इसी तरह का मतवाद चला आ रहा है।

इस विषय की आलोचना पहले ही हो गई है कि जगत् में दो तरह की सृष्टि है। "द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्" (गीता १६।६)। एक प्रकार की सृष्टि विष्णुभक्त या भगवत्प्रपन्न जन हैं, और दूसरे प्रकार के उनके विपरीत जन हैं। जो लोग भगवान् में षडङ्ग शरणागति याजन करते हैं, वे ऊपर-वर्णित नैमित्तिक देह और मनोधर्मयुक्त प्रलाप में रत नहीं हैं। जीव द्वितीयाभिनिवेशज प्रत्यक्षादि ज्ञान के वशीभूत होकर ही इस प्रकार के नानाविध नास्तिक्यवाद या भगवान् में अविश्वास की वाक्यावली उच्चारण करता है। यह उनकी भक्त्युन्मुखी सुकृति का अभाव है। सात्वत-शास्त्र-शिरोमणि श्रीमद्भागवत में भी

यही लिखा है कि सात्वतभगवद्भक्तगण कभी इस तरह के द्वितीयाभिनिवेशज मनोधर्म से प्रणोदित होकर शुष्क और कृत्रिम ब्रह्मचर्य का आचरण करने में सचेष्ट नहीं हुए। यदि एकमात्र ब्रह्मसम्प्रदाय के वैष्णवगण के चरित्र की आलोचना की जाय तो भी देख पड़ेगा कि ब्रह्मा, नारद, शुकदेव आदि सभी अखण्ड ब्रह्मचारी या ऊर्ध्वरेता पुरुष थे। गौड़ीय वैष्णवों के आदि गुरु माधवेन्द्रपुरी, श्रीईश्वरपुरी और भक्तलीलांगीकारकारी श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु, उनके प्रिय किंकर श्रीस्वरूपदामोदर, श्रीरूपसनातन, श्रीजीव, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी, श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी, श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी, श्रीनरोत्तम ठाकुर आदि कैसे अखण्डित ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित थे, इस बात को वे लोग अच्छी तरह जानते हैं, जिन्होंने उनके चरित्र का अध्ययन किया है। वे साक्षात् ब्रह्मचर्यस्वरूप थे। कल्पना से भी उनके वाक्यवेग अर्थात ग्राम्य कथाओं में स्पृहा, मन का वेग अर्थात् मनोधर्मयुक्त प्रलाप, क्रोध का वेग, जिह्वा का वेग, उदर का वेग या उपस्थ का वेग नहीं था। वे गोस्वामी अर्थात जितेन्द्रिय पुरुष थे। वे जानते थे—

ज्ञान-वैराग्यादि भक्ति के कभी नहीं अंग।
अहिंसा यमनियमादि रहे कृष्णभक्त-संग॥
(श्रीचैतन्यचरितामृत मध्य २२)

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्य प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
(भागवत ११।२०।३१)

भक्ति सर्वत्र और सर्वदा ही अपेक्षा नहीं रखती। अर्थात् ज्ञान-वैराग्यादि साधन करते-करते भक्ति लाभ होगा, यह सोचना भ्रम है। कर्म या ज्ञान का फल निज परिणामशील अनित्यानुभूति का विकार-विशेष है। इसलिए भोग या मोक्ष ही इसकी परिणति है, नित्य भक्ति के साथ कोई संबंध नहीं। ज्ञान या वैराग्य के परित्यक्त होने पर भक्ति हो सकती है। कृष्णभक्त स्वभाव से ही हिंसाशून्य, ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित और सर्वतोभाव से संयत होते हैं। उसे ये सब सद्गुण कृत्रिम चेष्टा या पृथक् भाव से आरोह चेष्टा करके उपार्जन नहीं करना होता है। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
(५।१८।१२)

अर्थात् जिसकी भगवान में अकिञ्चन भक्ति वर्तमान है, उसमें समस्त सद्गुणावली के साथ सब देवगण विराजमान रहते हैं। और जो सब हरि के अभक्त मनोधर्म के द्वारा परिचालित हैं, अतएव भगवान में शरणागति से रहित हैं, उनमें महत् गुण कहाँ? अर्थात उनमें अक्षज ज्ञान से ब्रह्मचर्य, तपस्या आदि जो सब गुण देखने को मिलते हैं, उनका कोई मूल्य नहीं। किन्तु "कृष्णभक्त में कृष्ण के सब गुणों का आविर्भाव होता है।" कृष्णैक-शरणतारूप स्वरूप लक्षणयुक्त भगवद्भक्त में ब्रह्मचर्य या संयमादि गुण तटस्थ लक्षणमात्र हैं। इस तरह के असंख्य तटस्थ लक्षण भागवद्भक्त में देखे जाते हैं। श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के चरित्र में हम देख पाते हैं कि वह कभी शुष्क ब्रह्मचर्य का आदर नहीं करते थे। श्रीचैतन्य भागवत मध्य खंड २३ वें अध्याय में एक ब्रह्मचारी का उपाख्यान है। उसमें देखा जाता है कि एक समय श्रीवास से कुमार अवस्था से ही विरक्त एक ब्रह्मचारी ने बार बार अनुरोध किया तो श्रीवास ने उसे जहाँ पर महाप्रभु नृत्य करते थे, उस घर के एक एकान्त स्थान में छिपा रक्खा। अन्तर्यामी श्रीगौरसुन्दर ने यह हाल जान लिया। तब उन्होंने श्रीवास को बुलाकर कहा—निश्चय ही किसी भक्तिहीन पाषण्ड ने इस घर में प्रवेश किया है, इसी कारण मेरे कीर्तन में प्रेमा नहीं होती। तब श्रीवास ने प्रभु से कहा—

हे प्रभु! कोई पाषंड तो यहाँ नहीं आया। एक ब्रह्मचारी, बहुत सुपात्र ब्राह्मण अभी यहाँ आए हैं। यह सुनकर क्रोध के आवेश से विश्वंभर प्रभु ने कहा—अभी झाड़ू मारकर उसे घर के बाहर निकाल दो। मेरा नृत्य देखने की उसमें कौन शक्ति है? दुग्धाहारी होने से ही क्या मुझ में भक्ति हो जाती है? देखो भुजा उठा कर प्रभु ने कहा—केवल पयः पान करने से कोई मुझे नहीं पाता। चण्डाल भी अगर मेरी शरण ले, तो निश्चय जानो, वह मेरा है और मैं उसका हूँ। किन्तु संन्यासी भी अगर मेरी शरण न ले तो वह भी मेरा नहीं है, यह मैं सच कहता हूँ। गजेन्द्र ने, गोपों ने, वानर सुग्रीव ने कौन तप किया था? बतलाओ, उन्होंने मुझे क्या तप के बल से पाया? असुर भी तप करते हैं, तो उससे क्या होता है? बिना मेरी शरण लिए उद्धार

नहीं है। इसलिए विष्णुभक्ति को ही केवल सर्वश्रेष्ठ जानो।

श्रीमद्भागवत के निम्नलिखित श्लोकों की आलोचना करने से भी यही प्रमाणित होगा कि भक्ति के बिना ब्रह्मचर्यादि तप, ज्ञान, योग, कर्म सभी निष्फल हैं।

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो,
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विंदन्ति यदर्पणं विना,
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥
(२।४।१७)

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
(१०।१४।४)

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाद्धात्मा न शाम्यति ॥

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं,
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे,
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥
(१।५।१२)

नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विनामहत्पादरजोऽभिषेकम्। (५।१२।१२)

कृत्य नित्य और नैमित्तिक

(गत संख्या से आगे)

कुछ दिन इस तरह रहकर संन्यासी ने परमहंस बाबाजी से तत्त्व जिज्ञासा करने की इच्छा की। इस समय वेष के सिवा और सब बातें उन्होंने वैष्णवों की ग्रहण कर ली थीं। शम दम आदि गुणों से सम्पन्न होकर संपूर्ण रूप से ब्रह्मनिष्ठा उन्होंने पहले ही प्राप्त कर ली थी। इस समय उस निष्ठा के ऊपर परब्रह्म की चित्-लीला-निष्ठा भी उत्पन्न हुई। साथ ही साथ दीन भाव भी प्रबल हो उठा।

एक दिन अरुणोदय के समय परमहंस बाबाजी ने स्वच्छ पवित्र होकर तुलसी-माला में संख्या के हरिनाम जपते हुए माधवी-मण्डप में बैठे। कुंज-भंग-लीला की स्मृति हो आने के कारण उनके नेत्रों से प्रेम के आँसू बराबर बह रहे थे। अपने सिद्ध भाव से परिभावित तत्कालोचित सेवा में नियुक्त होकर वह अपनी स्थूल देह की स्मृति को खोने लगे। संन्यासी जी उनके भाव से मुग्ध होकर उनके निकट बैठ गए और उनके सब सात्त्विक भावों को देखने लगे। देखते ही देखते परमहंस बाबाजी ने कहा— सखी, इस कक्ष को शीघ्र निस्तब्ध करो; नहीं तो मेरे राधा गोविन्द की सुख की नींद अगर उचट गई तो सखी ललिता दुःख पावेगी और मुझे भर्त्सना करेगी। वह देखो, अनङ्गमञ्जरी इस बारे में इशारा कर रही है। तुम रमणमञ्जरी हो, तुम्हारी यही निर्दिष्ट सेवा है। इस सेवा के सम्पादन में तुम यत्नवती होओ।

यह कहते-कहते परमहंस बाबाजी बेहोश हो गए। संन्यासी महाशय अपनी सिद्ध देह और परिचय जानकर तभी से इस सेवा में नियुक्त हुए। क्रमशः प्रातः काल हुआ। पूर्व दिशा में उषा आकर शोभा फैलाने लगी। पक्षीगण चारों ओर चहचहाने लगे। मृदु मन्द हवा चलने लगी। सूर्य का प्रकाश पड़ने से उस समय प्रद्युम्न-कुञ्ज के माधवीमण्डप की जो अपूर्व शोभा हुई, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

परमहंस बाबाजी केले के पत्ते के आसन पर बैठे हैं। धीरे-धीरे बाह्य स्फूर्ति हो रही है। नाममाला फेरने लगे। इसी समय संन्यासी ठाकुर ने बाबाजी के चरणों में साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके उनके समीप विनीत भाव से बैठकर

हाथ जोड़कर कहा— "प्रभो ! यह दीनजन एक प्रश्न करता है। उत्तर देकर उसके हृदय को शीतल करिए। ब्रह्म-ज्ञान की अग्नि में जले हुए हृदय में व्रजरस का संचार कीजिए।

बाबाजी ने कहा—आप इसके योग्य पात्र हैं। आप जो प्रश्न करेंगे, उसका मैं यथाशक्ति उत्तर दूँगा।

संन्यासी ने कहा—प्रभो ! मैं धर्म की प्रतिष्ठा सुनकर 'धर्म' क्या है, यह प्रश्न अनेक लोगों से अनेक बार कर चुका हूँ। दुःख का विषय यही है कि इस प्रश्न के उत्तर में उन लोगों ने जो कुछ कहा, वह सब परस्पर विरोधी देख पड़ता है। इसलिए आप कृपा करके बतलाइए, जीव का धर्म क्या है ? और भिन्न भिन्न शिक्षक या उपदेशक क्यों अलग-अलग परस्पर विभिन्न उपदेश को 'धर्म' कहा करते हैं ? धर्म यदि एक है, तो सभी पण्डित क्यों नहीं उसी एक अद्वितीय धर्म का अनुशीलन करते ?

श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु के श्रीचरणकमलों का ध्यान करके परम हंसबाबाजी महाशय कहने लगे—हे भाग्यशाली ! मैं अपने ज्ञान के अनुसार धर्म का तत्त्व कहता हूँ, सुनिए। जिस वस्तु का जो नित्य स्वभाव है, वही उसका नित्य धर्म है। वस्तु के गठन से स्वभाव का उदय होता है। कृष्ण की इच्छा से जब कोई वस्तु गठित होती है, तब उस गठन का नित्य सहचररूप एक स्वभाव भी होता है। वही स्वभाव उस वस्तु का नित्य-धर्म है। बाद को जब किसी घटनावश या अन्य वस्तु के साथ उस वस्तु का कोई विकार होता है, तब उसका स्वभाव भी विकृत या परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तित स्वभाव कुछ दिन में दृढ़ होने पर नित्य स्वभाव की तरह संगी हो पड़ता है। यह परिवर्तित स्वभाव 'स्वभाव' नहीं है। इसका नाम निसर्ग है। 'निसर्ग' जो है, वह स्वभाव की जगह पर बैठकर स्वभाव कहकर अपना परिचय देता है। जैसे जल एक वस्तु है। तरलता (पतलापन) उसका स्वभाव है। घटनावश जल जब जमकर शिला बन जाता है, तब कठिनता उसका निसर्ग होकर स्वभाव की तरह कार्य करती है। वास्तव में निसर्ग नित्य नहीं, नैमित्तिक है। कारण, वह किसी निमित्त (कारण) से उदित होता है और निमित्त दूर होने पर वह स्वयं विगत हो जाता है। किन्तु स्वभाव नित्य है। विकृत होने पर भी वह अनुस्यूत रहता है। काल और घटना के क्रम से स्वभाव अवश्य ही अपना परिचय दे सकता है।

वस्तु का स्वभाव ही वस्तु का नित्य-धर्म है। वस्तु का निसर्ग ही वस्तु का नैमित्तिक धर्म है। जिनको वस्तु का ज्ञान है, वे नित्य और नैमित्तिक धर्म के प्रभेद को जान सकते हैं। जिन्हें वस्तु ज्ञान नहीं है, वे निसर्ग को स्वभाव समझते हैं और नैमित्तिक धर्म को नित्यधर्म समझ बैठते हैं।

संन्यासी ठाकुर ने पूछा—वस्तु किसे कहते हैं ? और स्वभाव शब्द का अर्थ क्या है ?

परमहंसजी ने कहा—'वस' धातु में संज्ञा अर्थ में 'तु' प्रत्यय लगाकर 'वस्तु' शब्द बनता है। अतएव जिसका अस्तित्व है या प्रतीति है वही वस्तु है। वस्तु दो प्रकार की है—वास्तव और अवास्तव। वास्तव वस्तु परमार्थभूत तत्त्व है। अवास्तव वस्तु द्रव्यगुणादि रूप है। वास्तव वस्तु का अस्तित्व है। अवास्तव वस्तु का अस्तित्व केवल प्रतीत होता है। प्रतीति किसी जगह सत्य होती है और किसी जगह भ्रममात्र होती है। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के द्वितीय श्लोक में "वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं" जो कहा है, उसकी "वास्तव वस्तु' एकमात्र परमार्थ है, यह निर्णय किया जा चुका है। भगवान् एकमात्र वास्तव वस्तु हैं। उस वस्तु का पृथक् अंश जीव और उस वस्तु की शक्ति माया है। अतएव 'वस्तु' शब्द से भगवान्, जीव और माया, इन तत्त्वों को समझना चाहिए। इन तीनों के परस्पर सम्बन्ध-ज्ञान को शुद्ध ज्ञान कहा जाता है। इन तत्त्वों की बहुविध प्रतीतियाँ हैं। उन सबकी अवास्तव वस्तुओं में गणना है। वैशेषिकों के द्रव्य और गुणों की संख्या केवल अवास्तव वस्तु की आलोचनामात्र है। वास्तव वस्तु का जो विशेष गुण है, वही उसका स्वभाव है। जीव एक वास्तव वस्तु है। जीव का जो नित्य विशेष गुण है, वही उसका स्वभाव है।

(क्रमशः)

श्रीभक्तिरञ्जन जगबन्धु*

विरह-स्मृति-सभा

विगत २३ अगहन, ९ दिसंबर (१९३१), बुधवार के दिन स्वधामगत श्रेष्ठाचार्य श्रीजगबन्धु भक्तिरञ्जन महोदय के प्रथम वार्षिक विरह-दिवस में शाम को साढ़े छः बजे के समय श्रीगौड़ीय मठ (कलकत्ता) के सारस्वत नाट्यमन्दिर में एक विद्वन्मण्डली मण्डित विराट् सभा का अधिवेशन हुआ था। श्रीप्रभुपाद की आज्ञा से पण्डितप्रवर श्रीपाद अनन्तवासुदेव पर-विद्याभूषण बी० ए० महोदय ने श्रीश्रीगुरुगौरांग-वैष्णव वन्दना और ठाकुर भक्तिविनोद-रचित "शुद्ध-भक्त-चरण रेणु भजन-अनुकूल" शीर्षक संगीत कीर्तन करके मंगलाचरण और सभा का उद्बोधन किया। उद्बोधन-संगीत की समाप्ति होने पर ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद ने कलकत्ता-हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध माननीय विचारपति ब्राह्मणकुलवर्य श्रीयुक्त मन्मथनाथ मुखोपाध्याय एम्० ए०, बी० एल्० महोदय से सभापति का आसन ग्रहण करने के लिए अनुरोध किया। वंगीय गवर्नमेंट की शासन-परिषद् के अन्यतम सदस्य विचारपति-सहचर आनरेबुल मिस्टर बी० बी० घोष ने श्रीप्रभुपाद के उक्त प्रस्ताव का हृदय से समर्थन किया। तब माननीय विचारपति श्रीयुक्त मन्मथनाथ मुखोपाध्याय महाशय ने सभापति का आसन सुशोभित किया।

उसके बाद सभापति के निर्देश के अनुसार गौड़ीय-पत्र (बँगला साप्ताहिक) के संपादक ने श्रीगौड़ीयमठ से प्रकाशित 'विरह-स्मृति'—शीर्षक लेख पढ़कर सुनाया। इसके बाद पण्डित श्रीयदुनन्दनदास अधिकारी बी० ए० महाशय ने "In Memorium" नामक एक अँगरेज़ी कविता पढ़ी। पंडित श्रीयुक्त हरिपद विद्यारत्न एम्० ए०, बि० एल्० महाशय ने श्रीयुक्त मनुजप्रसाद सर्वाधिकारी महाशय की रचित "श्रद्धाञ्जलि"-शीर्षक कविता पढ़कर सुनाई। उसके उपरान्त श्रीप्रभुपाद ने निम्नलिखित भाषण किया—

"सभापति महोदय और श्रोतागण! इसके पहले मैंने सुना था कि दिन भर की थकन के बाद सभापति महोदय को यहाँ अधिक समय तक ठहरने में शायद कुछ कष्ट होगा। इसी कारण मैंने सभापति महोदय के निकट प्रस्ताव किया था कि वह अपना अभिभाषण हम लोगों के कुछ कहने के पहले ही समाप्त कर दें। किन्तु उनकी इच्छा और अनुग्रह यह है कि हमारी बातें सुनने के बाद ही वह भाषण करेंगे। इसी कारण मैं कुछ कहने का साहस कर रहा हूँ।

हम श्रीजगबन्धु भक्तिरञ्जन महाशय के सम्बन्ध की बहुत-सी बातें सुन चुके हैं, इसलिए अब उनकी पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है। हम एक श्लोक पुस्तक में पढ़ते हैं—

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

भगवान् की आराधना सब आराधनाओं से श्रेष्ठ है। और, जो लोग भगवान् की आराधना करते हैं, उनकी आराधना या पूजा भगवान् की आराधना से भी श्रेष्ठ है। विष्णु की सेवा तो अनेक लोग करते हैं। किन्तु भगवान् के जनों की सेवा—जिनकी सेवा के लिए स्वयं भगवान् भी व्यस्त हैं, उन वैष्णवों की सेवा—करने के लिए अज्ञ प्राकृत जनों की प्रवृत्ति नहीं होती। इसीसे हमारा प्रधान कर्तव्य ही है वैष्णवों की सेवा। अनेक प्रचारक या उपदेशक भगवान् की सेवा करने की बात कहा करते हैं; किन्तु श्रीगौरसुन्दर ने भक्तों की सेवा को ही सब से बढ़कर, सर्वोत्तम कहा है।

हम लोग श्रीमद्भागवत के आदेश का पालन और भक्तों की श्रेणी का निर्णय करने में प्रायः उदासीन हो जाते हैं। किन्तु श्रीभागवत में लिखा है—

अर्चायामेव हरये यः पूजां श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

अर्थात् लौकिक श्रद्धा के अनुसार जो लोग अर्चा-मूर्त्ति में हरि की पूजा करते हैं, किन्तु हरि-भक्ति और हरि के अधिष्ठान-स्वरूप अन्य जीवों के साथ श्रद्धा तथा दया का व्यवहार नहीं करते, वे प्राकृत या निम्नश्रेणी के भक्त हैं।

---

* इनका परिचय और जीवनचरित अगली संख्या में प्रकाशित होगा।

(—भा० सं०)

निम्नाधिकार रहने के समय, प्राकृत विचार रहने के समय भगवान के भक्त की अपेक्षा अर्चा ही हमारे विचार में आराध्य वस्तु प्रतीत होती है । किन्तु उनकी अपेक्षा उन्नत सेवा के अधिकारी श्रेष्ठ या उत्तम भक्तगण उन कनिष्ठाधिकारी या वालिश भक्तों पर भी कृपा करते हैं जो लोग भगवत्-सम्प्रदाय की सेवा को समझ नहीं पाते, उन पर कृपा करने के लिए मध्यमाधिकारी भक्त परमेश्वर में प्रेम, भगवद्भक्तों के साथ मैत्री, भगवद् जनों की सेवा की महिमा के विषय में अज्ञजनों पर कृपा और विद्वेष रखनेवालों के प्रति उपेक्षा किया करते हैं—

ईश्वरे तदधीनेषु वालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥
(भागवत ११ । २ । ४६)

जो मूर्तिमान भगवद्विग्रह हैं जिनसे भगवद्विग्रह की सजीव कथा प्रकाशित होती है, जिनसे प्रश्न करके उत्तर पाया जाता है, 'सेवा किसे कहते हैं, यह जाना जा सकता है, उन भगवद्भक्तों की सेवा भगवान् की अर्चा मूर्ति की सेवा से भी बढ़कर है। अर्चा-मूर्ति की सेवा भी भगवद्भक्त की वाणी श्रवण किए बिना अच्छी तरह, सम्यक रूप से नहीं हो सकती ।

अर्चा आठ प्रकार की है । यथा –

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाऽष्टविधा स्मृता ॥
(भागवत ११ । २७ । १२)

(१) शिलामयी अर्थात् पत्थर की, (२) काष्ठमयी, (३) लौह, सुवर्ण आदि धातुओं की बनी, (४) मिट्टी की, (५) चित्रपटमयी, (६) बालुकामयी, (७) मनोमयी और (८) मणिमयी – आठ प्रकार की प्रतिमा होती है ।

लोकाचार्यपाद कहते हैं—भगवान जीव के निकट पाँच प्रकार से प्रकाशित होते हैं । वे पाँच प्रकार के स्वरूप ये हैं – (१) परतत्त्व, (२) व्यूह-तत्त्व, (३) विभव-तत्त्व, (४) अन्तर्यामि तत्त्व एवं (५) अर्चावतार । परतत्त्व – वैकुण्ठ में विराजमान तुरीय वस्तु परमेश्वर, सब जीवों के आराध्य भगवान् । व्यूह तत्त्व – वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध । विभव-तत्त्व —रामचन्द्र, नृसिंह आदि अवतार । अन्तर्यामितत्त्व – परमात्मा । अर्चावतार—नित्यनाम-रूप-गुण-लीलाविशिष्ट भगवद्विग्रह का प्राकृत जीव के मंगल के लिए लोकलोचनगोचर स्थूल अर्चा के आकार में प्रकटित करुणामय सच्चिदानन्द स्वरूप ।

जगत् में एक ही समय व्यक्तिविशेष के निकट द्विपाद-दर्शन, त्रिपाद दर्शन और चतुष्पाद-दर्शन संभव नहीं है । बहिर्जगत में हम १८० अंश (डिग्री) मात्र देख पाते हैं । बाकी १८० अंश पश्चाद्भाग में हमारे अगोचर रहता है ।

खगोल का भी हम आधा ही हिस्सा देख पाते हैं । आधा खगोल नहीं देख पाते । अतएव द्रष्टा के सूत्र से एक काल में यहाँ त्रिपाद दर्शन की बात मेरे निकट अज्ञात है । एक पाद भूमिका में, अर्थात् वर्तमान परिदृश्यमान जगत् में एक काल में पूर्ण वस्तु का दर्शन नहीं होता । भगवान के चार प्रकार के प्रकाशभेद की बात बिना जाने हम पूर्ण ज्ञान की बात नहीं जान सकते । एक ही समय में भगवान् के चार प्रकार के दर्शन भगवत्कृपा से ही संभव हो सकते हैं । एकेश्वरपरायण व्यक्तिगण चतुष्पाद के दर्शन कर सकते हैं । भगवान चतुर्व्यूह से प्रकटित होकर एक ही समय अपने चार प्रकार के चतुष्पाद दर्शन प्रकाशित करते हैं । किन्तु वेदान्त के उत्पत्त्यसंभवाधिकरण षष्ठ पाद के शंकरकृत शारीरक भाष्य में उस चतुष्पाद-दर्शन की बात पर आक्रमण किया गया है । अचिन्त्यशक्तिमय भगवान एक साथ चार रूप से प्रकाशित होकर भी अपने अद्वयत्व की संपूर्ण भाव से रक्षा करते हैं । सर्व शक्तिमान भगवान् जीव की तरह खण्डित अथवा अन्य के द्वारा परिमापयोग्य वस्तु नहीं हैं कि चतुर्द्धा प्रकाशित होने पर अपनी अद्वय-सत्ता के संरक्षण में असमर्थ हो पड़ें ।

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः ।
एकस्तु महतः स्रष्टृ द्वितीयन्त्वण्डसंज्ञितम् ॥
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ।

व्यूहतत्त्व के बाद तृतीय वैभव-तत्त्व है । सौभाग्यवान् लोगों के निकट भगवान् मत्स्य कूर्म-नृसिंह आदि नैमित्तिक अवतार-रूप से यथासमय आविर्भूत होते हैं । वैभव-दर्शन की योग्यता इस काल में हमारे साधारण जीवों को नहीं होती । इसलिए अन्तर्यामी परमात्मसूत्र से भगवान् हमारे अन्तःकरण में प्रकाशित होकर हमारे चेतन की वृत्ति को उन्मेषित करते हैं । उसकी भी योग्यता न होने पर पञ्चम अधिष्ठान का अर्चावतार शिलामयी, दारुमयी, लेप्या, लेख्या आदि प्रतिमाओं के रूप से जगत् में वह प्रकाशित होते हैं । यह वस्तु वैभव-तत्त्व की तरह प्रकटकालीय त त्व-

मात्र नहीं है। किन्तु मेरे समान भाग्यहीन के निकट परम उपयोगी और करुणामय है। अर्चावतार के साथ अपर चार प्रकार के तत्त्वों का कोई भेद नहीं है। केवल उनके बीच विलास-वैचित्र्यमात्र वर्तमान है। अर्चावतार जीव के मन के कारखाने की कोई काल्पनिक सामग्री नहीं है। किन्तु भगवान के निज नित्यरूप का, भगवान के निज नित्य नाम का, भगवान के निज नित्यगुण का, भगवान की निज नित्य लीला का मूर्तिमान अवतार है।

मूर्तिगठनकारी (Iconographer) और मूर्तिध्वंसकारी (Iconoclast), दोनों ही किसी न किसी प्रकार से पौत्तलिक हैं। विष्णु की अर्चा-मूर्ति के उपासकगण उक्त प्रकार के पौत्तलिकों के आक्रमण करने के योग्य नहीं हैं। कारण, वे (Iconographer) की तरह मूर्ति की कल्पना नहीं करते और न Iconoclast की तरह मूर्ति का ध्वंस या विसर्जन ही करते हैं। वे लोग 'काष्ठ के ठाकुर' या 'मिट्टी के ठाकुर' के दर्शन करके अपने को भोगमय दार्शनिक के अन्तर्गत नहीं विचार करते।

कानों में भगवत्कीर्तन के प्रवेश करने पर चेतन-धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति होगी। कानों में भगवत्कीर्तन के प्रविष्ट होने पर चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वचा, मन, वाणी, पाणि आदि सभी इन्द्रियाँ संशोधित, संयमित और सत्पथ में संचालित होंगी। चेतनमय कीर्तन कानों में प्रविष्ट होने पर बहिर्दर्शन और जड़हस्त के स्पर्श से परित्राण मिलेगा और पूर्ण वस्तु का दर्शन प्राप्त होगा।

भगवद्वस्तु का दर्शन और आराधना प्रयोजनीय है। किन्तु वर्तमान में भगवद्वस्तु का दर्शन नहीं होता। बहिर्जगत् का दर्शन 'भगवद्दर्शन' नहीं है। भगवान के प्रकाशित होने पर प्रकाशबाधक सब इन्द्रियाँ फिर बाधा-प्रदान नहीं कर सकतीं। वह बाधा एकमात्र श्रवण के ही द्वारा अपसारित हो सकती है। श्रवण के फल से जीव भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण और भगवत्कृपा-लाभ का अधिकारी होता है।

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।"

इसी कारण श्रीगौरसुन्दर ने जड़ जगत् में जीव की वर्तमान अनुभूति में सब की अपेक्षा निम्नस्तर में रहने का उपदेश दिया है और अभाव, असुविधा, विपत्ति आदि में सर्वतोभाव से सहिष्णुता की आवश्यकता जताई है। बाहर के उपदेश बिना अन्तर के संयम के कारण 'अमानी और मानद' होकर हर घड़ी हरिकथा-कीर्तन करने का आदेश दिया है। हरि-कीर्तन और विश्व कथा के कीर्तन में पार्थक्य है। विश्व कथा कीर्तन अनित्य है; किन्तु हरि-कीर्तन और उनकी कीर्तनीय वस्तु दोनों ही नित्य हैं। उस कीर्तन में आप ही से इन्द्रियाँ संयमित और नियमित होती हैं। इन सब बातों की आलोचना का नाम ही 'हरिकथा की आलोचना है। जो लोग इस हरि-कथा की आलोचना को प्रधान और मुख्य आसन में स्थान देते हैं, उनका क्रिया-कलाप परमाराध्य व्यापार है। इस प्रकार का विचार जिनके हृदय में सदा देदीप्यमान है, वे ही वरेण्य हैं। इस प्रकार के भगवद्भक्तों के द्वारा ही पूज्य वस्तु की पूजा पूर्ण रूप से साधित होती है। केवल भगवान की पूजा में पूर्णता नहीं साधित होती। उसमें बाकी रह जाता है। भगवद्भक्त की पूजा में ही भगवान की पूजा की पूर्णता साधित होती है।

सर्वभूतेसु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
(भागवत ११।२।४५)

सभी भगवान की सेवा करते हैं, मैंने ही केवल भगवान की सेवा नहीं की। मुझसे छोटा और कोई नहीं है—

दुर्लभ मानव-जन्म जगत् में पाया।
कृष्ण नहीं भजे, दुःख होगया सवाया॥

कृष्ण भगवान को बहुत लोग 'ऐतिहासिक' व्यक्ति और बहुत लोग केवल 'रूपक' आदि समझते हैं। किन्तु कृष्ण इतिहास-संपादित कोई वस्तु या काल्पनिक रूपक पदार्थ के साथ समता-प्रदर्शन के लिए नहीं आविर्भूत होते। कृष्ण अखिलरसामृतमूर्ति हैं। कृष्ण के पादपद्म में सभी रसों की कथा हम पूर्ण भाव से देख पाते हैं। अनेक समय विश्व से गृहीत विचार में वासुदेव को ही परतत्त्व मानकर विचार किया जाता है। वासुदेव के साथ महालक्ष्मी की, सीता-राम आदि उपासना का भी प्रचार है। किन्तु श्रीराधा गोविन्द की उपासना के बिना रस की परिपूर्णता कहीं नहीं पाई जाती। शान्त, दास्य और गौरव-सख्यादि के द्वारा भगवान् की उपासना करने की अपेक्षा जिस जगह निकट संबंध से विश्रम्भावस्था में व्रजबालकगण सर्वाराध्य वस्तु कृष्ण के कंधे पर पैर रखते हैं और ताड़ के पेड़ से फल तोड़ते हैं तथा उसी ताल-फल का उच्छिष्ट-अनुच्छिष्ट कृष्ण

को प्रीति के साथ भोजन के लिए देते हैं, उस प्रकार की प्रीतिमयी चेष्टा ही अधिकतर सेवामयी है। कोई कोई आराध्य वस्तु को माता-पिता के रूप में विचारा करते हैं। किन्तु माता पिता के निकट हम द्रव्य आदि की आकांक्षा करते हैं, हमारी निरुपाय अवस्था में वे हमारी सेवा आदि करते हैं, हम यद्यपि उन्हें अपना पूजनीय कहते हैं, और वे हमें सेवक कहते हैं, तथापि कार्यतः हम उनके द्वारा अपनी ही अधिकतर सेवा कराया करते हैं। किन्तु भगवान् के पुत्रत्व-विचार में माता पिता नित्य काल भगवान् की विश्रम्भ सेवा कर सकते हैं। माता-पिता पुत्र के पैदा होने के पहले से ही और उसके जन्म लेने के बाद से ही पुत्र की सेवा कर सकते हैं। भगवान् के पितृत्व विचार में उस प्रकार का सौन्दर्य या रस माधुर्य नहीं है। इसीलिए श्रीमाधवेन्द्रपुरीपाद ने कहा है—

श्रुतिमपरे स्मृतिमितरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परंब्रह्म ॥

भवभीत व्यक्तियों में से बहुत लोग वेदशास्त्र पढ़ें, कुछ लोग स्मृति-शास्त्र को पढ़ा करें, कुछ लोग महाभारत पढ़कर नीति की शिक्षा ग्रहण किया करें। लेकिन मैं तो नन्द की ही वन्दना करता हूँ, जिनके आँगन में परब्रह्म कृष्णचन्द्र खेलते हैं।

फिर गोपियों ने सर्वांग द्वारा सर्वतोभाव से कृष्ण के अनुशीलन का जो आदर्श दिखलाया है, उसमें सभी रसों की एक साथ अवस्थिति प्रकट हुई है—

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदिविचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहं जुषामपि मनस्युदियात्सदा नः॥

जब विरह से व्याकुल सब गोपांगनाओं ने कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण के दर्शन पाए थे, तब उन्होंने कहा था कि वे अगाधबोध योगियों की तरह ध्यान करके कृष्ण को दूर से देखना नहीं चाहतीं। दूर की चीज़ का ही लोग ध्यान करते हैं। जो वस्तु एकमात्र गोपिकाओं की निजस्व वस्तु है, अर्थात जिस पर उन्हीं का एकमात्र स्वत्व है, जो उनके हस्तगत, सहज और सुलभ है, उसका ध्यान वे क्यों करें? सब गोपियाँ गृहत्याग करके कठोर वैराग्य, तपस्या आदि के द्वारा भी उनका भजन करना नहीं चाहतीं। वे कृष्ण-गृह-गता हैं। कृष्ण को लेकर उनका संसार है। वे सर्वांग से कान्त कृष्ण का भजन करती हैं। यह सर्वांगीन, सार्वकालिक, सर्वरस से कृष्ण का अनुशीलन एकमात्र गोपियों की आराधना में ही व्यक्त हुआ है। बालकृष्ण की उपासना की अपेक्षा किशोर-कृष्ण की उपासना अधिकतर चमत्कारपूर्ण है।

साधारण आध्यक्षिक नैतिक विचार से जागतिक प्रत्यक्ष दर्शन के अनुमानोत्थ ज्ञान के प्रतिफलन से जो राधा-गोविन्द की उपासना परम हेय जान पड़ती है—देख पड़ती है, उस विकृत, प्रतिफलित हेय विचार को विनष्ट करके जिस राधा गोविन्द की उपासना ने एकमात्र वास्तव परम उपादेयत्व दिखलाया है, उसी राधा गोविन्द की उपासना की जो लोग आलोचना करते हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं। उनकी आराधना करना ही सर्वश्रेष्ठ कार्य है। इस कार्य में जिनका चित्त लगा था, वे इस जगत् में जब रहेंगे, तब भी हम उनकी सेवा करेंगे और जब वे नित्य लीला में प्रविष्ट होंगे, तब भी उनकी सेवा करेंगे। उनके इस जगत् में रहने के समय प्रायः हम अपराध कर बैठते हैं। हम उन्हें 'उपदेशक', 'गुरु' आदि समझ बैठते हैं। किन्तु जिस समय वे इस जगत् में हमारी सेवा के लिए अधिकार नहीं पाते, ऐसे समय इस जगत् में भी अवस्थान के समय हम उनकी सेवा करने का सुयोग पाते हैं। भगवान जिनपर दया करते हैं, उन्हें नित्यलीला के साथ-साथ नित्य सेवा का अधिकार देते हैं। बहुत लोग समझते हैं कि राम के गुरु शिव हैं, शिव के गुरु राम हैं। यह एक परस्पर विरुद्ध बात है। किन्तु राम यदि भक्तवत्सलता के कारण महादेव की सेवा करें, भगवद्भक्त की उपासना करें, उससे श्रीराम की भगवत्ता कुछ कम नहीं हो जाती।

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

तृण से भी सुनीच, आप उत्तम होकर भी मानहीन और मानद होने से ही हरि-कीर्तन का अधिकार प्राप्त किया जाता है। श्रीजगद्बन्धु महाशय इन सब बातों में अग्रसर हुए थे। उन्होंने केवल भगवान् ही की सेवा नहीं की। किन्तु जो भगवान की सेवा करते हैं, अर्थात् हरि कीर्तन करते हैं, उन हरिकीर्तन करनेवालों के हरिकीर्तन में भी सहायता की है।

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त कौंजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्‌भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्री [illegible]यन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मेमेनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० ४ जगत्‌जीवनपुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
श्रीनृसिंहदासकुंज, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ५, गोपीभवन डाक्टर लेन, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् केथोड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदा, नदिया

(२७) ब्राह्मणगाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चीरकंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)

२—श्रीशिक्षादशमूलम् सटीक ।)

३—श्रीमध्वग्रन्थमालाशिरोमणिम् ≡)

४—श्री[illegible] ॥)

५—श्री[illegible] परिचयः -)

६—श्री[illegible] ।)

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)

२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)

३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)

४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशित) प्रति खंड १)

५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)

६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)

७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)

८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)

९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)

१०—सदाचारस्मृति श्री मध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)

११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची, अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)

एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)

१२—युक्तिमल्लिका (गुणसौरभ) वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)

१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद -)

१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ≡)

१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)

१७—नवद्वीपभावतरंग ।)

१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)

१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)

२०—मणिमंजरी ।)

२१—शरणागति -)

२२—कल्याणकल्पतरु -)॥

२३—गीतावली -)

२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)

२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)

२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)

२७—जैव धर्म २)

२८—साधककंठमाला ।)

२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)

३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)

३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

वर्ष १]　　　श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः　　　[संख्या ६

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

23 Jan.　　　1932

नारायण गौरपक्ष गौराब्द ४४५

पौष पूर्णिमा संवत् १९८८

स वै पुंसां … र्मो यतो भक्तिरधोक्षजे
…तुक्यप्र… ययात्मा सुप्रसीदति

[illegible]

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-
सरस्वती गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -)　} सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन {　वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन-छपाई की दर नीचे लिखी है—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, २ ,,	३)
२ इंच ,, ३ ,,	१॥)
१ ,, ,, ४ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये।

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

९४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

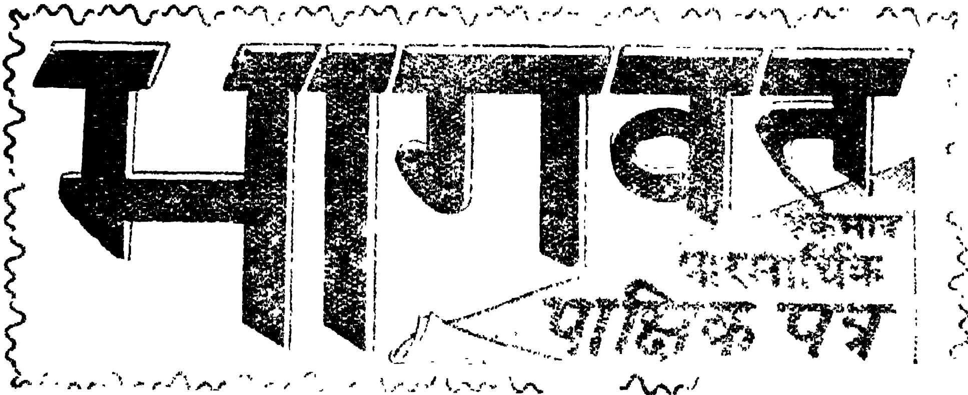
The Manager 'Bhagbat'

946, Saddar Bazar,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



वर्ष १ — संख्या २

पौष पूर्णिमा, [illegible] २३ जनवरी सन् [illegible]

नम्र निवेदन

[४]

मेरे दुख की गाथा सुनिए, हे प्रभु जगदाधार !
सुधा समझ विष पिया विषय का, ऐसा मूढ़ गँवार ।।
जीवन-रवि अब अस्त हो रहा, कौन करूँ उपचार ? ।। मेरे० ।।
बचपन बीता खेलकूद में, पढ़ने में कैशोर ।
नेक विवेक न आया मन में, माया घेरे घोर ।। मेरे० ।।
भोग हेतु यौवन में मैंने ब्याह किया भगवान !
पुत्र, मित्र हो गए अनेकों, पाया कष्ट महान ।। मेरे० ।।
आई जरा, सभी सुख भागे, पीड़ित, कातर भारी ।
क्षीण कलेवर हुआ, इन्द्रियाँ भी दुर्बल हैं सारी ।। मेरे० ।।
नहीं भोग की शक्ति रही है, इससे दुःखित अन्तर ।
ज्ञान लेश से हीन, दीन मैं, भक्तिरहित, अति पामर ।। मेरे० ।।
मेरा क्या उपाय अब होगा ? दीनानाथ ! मुरारे !
पतित बन्धु ! मुझ पतिताधम से सारे पापी हारे ।। मेरे० ।।
मेरा करो विचार प्रभो ! तो पाओ गुण नहिं एक ।
इस कारण दोषों का मेरे करो विचार न नेक ।। मेरे० ।।
निज पद-पंकज अमृत पिलाओ, मिटे प्रमाद प्रमोद ।
पार करो जीवन की नौका, कहता "भक्ति विनोद" ।। मेरे० ।।

श्रीयुत जगबन्धु भक्तिरञ्जन



[जीवनी]

श्री जगबन्धु भक्तिरञ्जन महोदय को हम श्री-जगद्गुरुदास देवता के परिचय से ही देखते हैं। उस परिचय और उसी इतिहास के साथ ही हम लोगों का सम्बन्ध है। तथापि जो लोग अत्यन्त स्थूल दृष्टि रखते हैं, वे भी यदि आमोद-प्रमोद के कौतूहल को चरितार्थ करने की वृत्ति को लेकर श्रीजगबन्धु के पूर्व चरित्र और इतिहास से अपने अपने जीवन की गति को कृष्णानुशीलन की ओर परिवर्तित करने या झुकाने के लिए निर्दिष्ट प्रयत्न हों, तो वे श्रीजगबन्धु के जीवन के सांसारिक पूर्व-परिचय की आलोचना कर सकते हैं।

श्रीजगबन्धु ने बरीसाल ज़िले के सुप्रसिद्ध बानारीपाड़ा ग्राम में सन् १८७२ ईस्वी में जन्म ग्रहण किया था। अपने गाँव के ही स्कूल में १४ वर्ष की अवस्था तक प्राथमिक विद्या-शिक्षा प्राप्त कर एक दिन अपने गाँव से ८ कोस दूर पर 'रामसिद्धि' नाम के ग्राम में अपनी मौसी के घर जाते समय कान में हवा का ज़ोर का झोंका लगने से जगबन्धु कुछ बहरे हो गए, जिससे वह सांसारिक गोलमाल कुछ कम सुनने लगे। उसी समय से उनकी हरि भक्ति में बाधा डालनेवाला पढ़ना लिखना भी बंद हो गया। १६ वर्ष की अवस्था में अपने ही गाँव में उन्होंने एक बहुत साधारण छोटी सी बिसातखाने की दूकान खोल ली। किन्तु धन की कमी के कारण अकेले ही बेचने खरीदनेवालों के साथ सब व्यवहार करना पड़ता था, कोई नौकर रखने की सामर्थ्य नहीं थी. दूसरे कानों से कम सुनाई पड़ने के कारण पग पग पर असुविधा होती थी। इसलिए जगबन्धु के हृदय में बड़ा ही दुःख हुआ। इतना दुःख हुआ कि उन्होंने दो बार अफ़ीम खाकर प्राण दे देने का विचार किया। वैद्यों ने बहुत कुछ कोशिश करके दोनों दफ़े जगबन्धु की जान बचाई। देश में आत्मीय-स्वजनों के निकट रहने से वह मर नहीं सकेंगे, यह सोचकर जगबन्धु मरने के इरादे से केवल १४) रुपए की पूँजी लेकर कलकत्ते भाग आए। कलकत्ते में आकर उनका विचार बदल गया। किन्तु राजधानी कलकत्ते के समान बड़े स्थान ने उनके समान संबल सहाय-हीन आदमी के लिए रहने की जगह भी नहीं थी। रात्रि के समय विश्राम के लिए शय्या वही सड़क का फुटपाथ था, पीने के लिए गंगा का जल और खाने के लिए दो एक पैसे के चनों के सिवा और कुछ नसीब नहीं होता था। तथापि धैर्य, तितिक्षा और सर्वोपरि उनकी सुशिक्षित बुद्धि, उनकी सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक क्लेश से रक्षा करके, उन्हें एक अपूर्व, अज्ञात, महतो महीयान् उद्देश्य के लिए प्रस्तुत कर रही थी।

सुशिक्षित बुद्धि के बल से जगबन्धु की आमदनी, जब से वह कलकत्ते आए, क्रमशः उन पर सुप्रसन्न होने लगी। उन्होंने इसी समय काठ की तिजारत में जे० बी० डी० मार्का माड़ी प्रचलित की। स्वयं एक तरह से, आज कल की शिक्षा को देखते वह निरक्षर ही थे; किन्तु उनकी इस रचना ने उन्हें संपूर्ण बंगदेश के विद्यार्थियों, शिक्षकों और पंडितों के निकट परिचित करा दिया। उन्होंने गंगा के किनारे रहने और नित्य गंगा स्नान करने के इरादे से सन् १९१६ ईस्वी में, बागबाज़ार गंगातट के निकट ही एक ज़मीन का टुकड़ा खरीदकर उस पर एक अच्छा सा मकान बनवाया और अन्यत्र एक स्थान पर एक बाग़ खरीदकर उसमें भी एक मकान तैयार कराया। सन् १९२ ईस्वी में जगबन्धु भाई की तेरहीं के श्राद्ध के उपलक्ष में अपने गाँव को गए। वहाँ उनके दोनों पैर टूट जाने के कारण घाव की जगह में ज़हर पड़ गया। डॉक्टरों ने एकमत होकर उनके पैर काट डालने की व्यवस्था दी और कहा कि पैर अगर न काट डाले जायँगे तो उनके सारे अंग में यह ज़हर फैल जायगा जिससे उनके प्राण बचना असम्भव हो जायगा। जगबन्धु ने जीवन की आशा त्याग करके उस समय भगवान को पुकारना शुरू किया। उसी समय एक दिन अप्रत्याशित भाव से, अचानक, श्रीगौड़ीय-मठ के दो वैष्णवों के साथ उनकी भेंट हो गई।

जगबन्धु पहले एक घोर शाक्त थे। वह बहु देव-पूजक भी थे। वैष्णव धर्म की विकृत अवस्था और विकृत आदर्श देखकर तथा कई एक कपट वैष्णव-वेषधारियों के निकट प्रतारित होकर वह वैष्णवधर्म के प्रति बहुत ही बुरी और

अप्रिय धारणा रखते थे। किन्तु गौड़ीयमठ के वैष्णवों के मुख से वर्तमान युग के आचार्यवर्य ॐ विष्णुपाद श्रीश्री मद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद के श्रीमुख से निकले हुए भक्ति सिद्धान्त को जब उन्होंने श्रवण किया और ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीठाकुर भक्तिविनोद महाराज के 'जैवधर्म', 'शरणागति', 'कल्याण-कल्पतरु' आदि ग्रन्थ पढ़कर उनकी समझ में यह अच्छी तरह आ गया कि वैष्णव धर्म का यथार्थ स्वरूप कितना उच्च और पवित्र है। सन् १९२३ ई॰ में श्रीजगबन्धु श्रीगौड़ीयमठ के बुलावे से रथयात्रा के समय श्रीपुरुषोत्तम ... का उत्सव ... न के लिए पुरी-धाम को गए। वहाँ उन्होंने कासिमबाज़ार के महाराज परलोकगत मणीन्द्रचन्द्र नन्दी के॰ सी॰ आई॰ ई॰ बहादुर को मठ में आकर श्रीश्रीप्रभुपाद के निकट हरि-कथा श्रवण करते देखा। उसी समय श्रीजगबन्धु को श्रीश्रीप्रभुपाद के श्रीमुख से निरन्तर हरि कथा श्रवण करने का सुयोग प्राप्त हुआ था। श्रीजगबन्धु ने हम लोगों के सामने कहा था कि उस समय वह श्रीगौड़ीय मठ के वैष्णवों को स्नान, भोजन, यहाँ तक कि शौच में जाने के समय भी हरि कथा-कीर्तन छोड़ते न देखकर और उनके आदर्शयुक्त वैराग्य तथा आन्तरिकता को देखकर भीतर ही भीतर गौड़ीयमठ के महत्त्व को हृदयंगम करने लगे। उन्हें हृदय से यह उपलब्धि हुई कि सब प्रकार से निष्कपट गौड़ीय मठ के सेवकगण ही वर्तमान युग में श्रीचैतन्यदेव द्वारा प्रचारित विमल प्रेम-धर्म के पुनः प्रचार-कार्य में नियुक्त हैं। पुरीधाम से आकर श्री जगबन्धु ने श्रीगौड़ीय मठ के आचार्य की कृपा प्राप्त की और ताप आदि पञ्च संस्कारों से संस्कृत हुए। तृतीय संस्कार स्वरूप उनका नाम हुआ श्रीजगबन्धु दासाधिकारी। घोर शाक्त और तैंतीस करोड़ देवता के पूजक से वह विष्णु के अनन्य उपासक हो गए। उन्होंने अन्न खाना तक छोड़ दिया। केवल एक बेला भगवत्प्रसाद-स्वरूप दुग्ध और फल मूलमात्र का सेवन करके नित्य रात के ३ बजे तक हरि-नाम कीर्तन किया करते थे।

जिस वस्तु का स्वयं आस्वादन करके वह परम लाभवान हुए थे उसी रस को, उसी धन को अपने गाँव देश में बाँटने के लिए जगबन्धु उसी साल शारदीया दुर्गापूजा के अवकाश में श्रीप्रभुपाद के साथ श्रीगौड़ीयमठ के ३६ भक्तों को बानारीपाड़ा गाँव में अपने घर ले गए। वहाँ नाम-कीर्तन की बाढ़-सी आ गई। श्रीजगबन्धु अत्यन्त आन्तरिकता के साथ सत्य की खोज करते रहते थे। वह अत्यन्त मनोयोग के साथ "गौड़ीय" पत्र पढ़ते रहते थे इस कारण गौड़ीय के सब सिद्धान्त उनके हृदय में जम गए थे।

श्रीजगबन्धु ने कलकत्ता बाग़बाज़ारवाले अपने भवन में सन् १९२९ ईसवी के वैशाख मास में श्रीश्रीप्रभुपाद और उनके अनुग गौड़ीय-संपादक के मुख से श्रीमद्भागवत की कथा और श्रीचैतन्य-चरितामृत की व्याख्या श्रवण की। पहले ही से उनका हृदय श्रीगौड़ीयमठ द्वारा प्रचारित वास्तव सत्य की ओर आकृष्ट हो चुका था और गौड़ीयमठ का एक स्थायी प्रचार केन्द्र बनवाने का उनके हृदय में महान संकल्प वर्तमान था। गौड़ीयमठरक्षक एवं गौड़ीयमठ के सेवकों के निकट हरि-कथा-श्रवण करने के फल से उनकी वह पहले की आकांक्षा और भी अधिक विकसित एवं प्रबल हो उठी। गत १९२९ ईसवी के १० आश्विन, बुधवार को श्रीवामन द्वादशी, श्रीहरि के पार्श्व-परिवर्तन एवं श्रीजीवगोस्वामी प्रभु के आविर्भाव-दिवस को बाग़बाज़ार की कालीप्रसाद चक्रवर्ती स्ट्रीट में श्रीश्रीप्रभुपाद ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज ने कृष्ण संकीर्तन के साथ श्रीगौड़ीयमठ के नवनिर्मित श्रीमन्दिर की नींव रक्खी।

सन् १९३० ईसवी गत ८ वैशाख, रविवार, त्रयोदशी तिथि को श्रीजगबन्धु भक्तिरञ्जन ने श्रीगुरुदेव के आनुगत्य से संकीर्तन के साथ श्रीगौड़ीय मठ के मन्दिर-प्रासाद मूल का काम शुरू कर दिया सन् १९३१ ईसवी गत १८ आश्विन, त्रयोदशी तिथि को विपुल संकीर्तन के बीच श्रीगुरु गौड़ीय-गौर-गान्धर्विका गिरिधारी भगवान श्रीगौड़ीयमठ के नवनिर्मित मन्दिर में प्रविष्ट हुए। श्रीहरि गुरु वैष्णव-पादपद्म को अपने हृदय द्वारा निर्मित सिंहासन में प्रतिष्ठित करके महोत्सव-पूर्णाहुति के ठीक अधिवास दिवस (३ अगहन, १९३१ ईसवी, रात को १२ बजे के समय) को जगबन्धु ने श्रीगुरु और वैष्णवों द्वारा परिवेष्टित होकर शुद्ध वैष्णवों के श्रीमुख से भगवन्नामकीर्तन श्रवण करते-करते सज्ञान अवस्था में महाप्रस्थान किया। उनके विरह-वासर और अन्तिम कृत्य के साथ श्रीमठ प्रवेशोत्सव की पूर्णाहुति वा परिसमाप्ति हुई। वह और उनके आत्मीय स्वजन जिसमें सर्वदा साधुसंग में रहकर निरन्तर हरि-कथा श्रवण कर सकें, इसीलिए उन्होंने अपने भवन के पास ही श्रीगौड़ीयमठ के श्रीमन्दिर का निर्माण कराया था।

लोग अन्त काल में स्त्री, पुत्र, परिजन आदि को बुलाते हैं, उन्हें देखने की इच्छा प्रकट करते हैं और उन्हीं के सुख और सुविधा के लिए व्यतिव्यस्त होते हैं। किन्तु जगबन्धु ने आखिरी घड़ी तक नित्य-आत्मीय श्रीगुरु के पादपद्म और श्रीवैष्णवों को ही देखने के लिए व्याकुलता प्रकट की और जिसमें श्रीगौडीयमठ तथा श्रीहरि-गुरु वैष्णव-गण की सेवा का स्थायी प्रबन्ध हो इसके लिए अत्यन्त विचक्षणता के साथ सज्ञान अवस्था में इसकी भी सुव्यवस्था कर गए। इसीसे जाना जाता है कि गृहस्थ का अभिनय करके भी जगबन्धु मठ-प्राण और श्रीहरि गुरु-वैष्णव-सेवा-प्राण थे। वह घर में रहकर भी श्रेष्ठ संन्यासी थे — संन्यास का चरम फल वैष्णव-गृहस्थ का आदर्श उनके चरित्र में पूर्ण भाव से विकसित हुआ था।

उस मठ के निकट श्रीगुरुपादपद्म के पास रहकर नित्य-काल भगवद्भजन करते रहने के लिए श्रीजगबन्धु की इच्छा, अभिलाषा और आज्ञा थी, इसलिए उनकी हरिसेवामय मनोऽभीष्ट-पूरणकारिणी दोनों सह-धर्मिणियाँ श्रीगौड़ीयमठ से मिली हुई भूमि में शीघ्र ही अपने स्वामी का सुरम्य समाधि-मन्दिर बनवाने की व्यवस्था कर रही है।



श्रीयुत जगबन्धु भक्तिरञ्जन

श्रीजगबन्धु जगत के लिए जो अमन्दोदय दातव्य चिकित्सा का महामंदिर (खैराती अस्पताल) बना गए हैं, कीर्तन दुर्भिक्ष-प्रपीड़ित जगद्वासियों के लिए जो श्रीचैतन्य-वाणी का अन्नसत्र खोल गए हैं, भवरोग-जर्जरित जगत् के लोगों को जो महौषध और महापथ्य के सेवा-सदन का द्वार बता गए हैं, उससे उनके आत्मीय स्वजनवर्ग ही नहीं, बल्कि जगत् के सभी जीव वर्तमानकाल में और अनन्त भविष्यत जीवन में संपूर्ण दुःख तथा दैन्य से मुक्त होकर परा शान्ति के राज्य में विचरण कर सकेंगे जगबन्धु के समान इतना बड़ा दान आत्मीय स्वजनों को, अपने परिवार-वर्ग को, सहधर्मिणी को, सहकर्मी को और विश्ववासियों को वर्तमानयुग में और कोई गृहस्थ व्यक्ति शायद ही दे गया हो।

अन्त में हम श्रीजगबन्धु भक्तिरंजन महोदय के कृष्णानुशीलन का आभास श्रीगुरुपादपद्म की भाषा में जितना कुछ जान सके हैं, उसी का कुछ अंश अपने सुयोग्य पाठकों को उपहार देते हैं—

श्रीजगबन्धु मन की समाधि देने के बाद ही कृष्णदीक्षा में दीक्षित हुवे थे कृष्णदीक्षा में दीक्षित होने के बाद ही कृष्ण-शिक्षा में शिक्षित हुवे थे और कृष्ण शिक्षा में शिक्षित होने के बाद ही हरि गुरु-वैष्णव सेवा में एक साथ दीक्षा और शिक्षा प्राप्त कर ली थी। शिक्षाष्टक के प्रथम श्लोक से शिक्षित होकर उन्होंने जगत् को यही जनाया था कि सात्विक ब्राह्मणता के विना श्रीकृष्णनाम का अप्रोत्कर्ष नहीं साधित हो सकता। वह सप्तजोवा अग्निजिह्वासमूह का अग्निष्वात्त शर्मत्व लाभ करके अग्निहोत्री हुए थे।

चतुर्वेद के एकीभूत होने पर उसी को "एकायन वेद" कहते हैं सुतराम उन्होंने चतुर्वेद-पारंगत होकर श्रीनयनानन्द प्रभु की वाणी को सार्थक किया था, और वह त्र्यम्बक के त्रिनेत्र में त्रय-दर्शन के षट् नेत्र द्वारा षट् दर्शन में पारंगत हो गए थे। वह षोड़श दर्शन के दार्शनिक सायनमात्र को एकदेशदर्शी जानकर तुरीय षोड़श दर्शन-रूपा-चतुःषष्ठिकला-विशिष्ट श्रीकृष्ण के अनुशीलन के एकायन दर्शनमय गौड़ीय वैष्णव दर्शन के दार्शनिक हो गए थे इसलिए फल्गु मर्कट वैरागियों के मर्कट-दर्शन से विमुक्त होकर उन्होंने श्रीगुरुपादपद्म में श्रीगौड़ीय वैष्णव-दर्शन हृदय में सुष्ठु भाव से ग्रहण करते करते प्रापञ्चिक कलेवर को छोड़कर श्रीगुरुगौरांग के मंदिर या मनोऽभीष्ट का संरक्षण किया। उस समय उन्होंने जगत् के बन्धु के रूप में जगत् की दासता (सेवा) करके यथार्थ बन्धु का कार्य किया।

आँखों में उँगली डालकर जगत् के निवासियों को जगद्बन्धुदास का अधिकार दिखाने के लिए ही उन्होंने जगबन्धु-दासाधिकार दिखाया। वह सभी श्रेष्ठ गुणों के अधिकारी होने के कारण 'श्रेष्ठ' (या सेठ थे, आध्यक्षिक श्रेष्ठ जनों के एकमात्र स्वत्वाधिकारी होने के कारण 'श्रेष्ठी' थे और आर्यशास्त्र के अनुगमन लीला प्रदर्शनकारी महापुरुष श्रीचैतन्य महाप्रभु के चिन्मय भक्तियोग माया-मृग के अनुधावनपर होकर श्रीधाम मायापुर के सेवा और सौष्ठव के द्वार श्रीगौड़ीयमठ के भरण में लग को प्राप्त हुए 'श्रीगुरुगौरांग की या हरि गुरु वैष्णवों की सेवा ही श्रीचैतन्यमनोऽभीष्ट या श्रीरूपानुगमत्व है, यह जगद्वासी लोगों को जनाकर उन्होंने अपने कृष्णानुशीलन के आदर्श द्वारा मनोधर्मजीवी लोगों के आध्यक्षिक ज्ञान को निरस्त किया है।

श्रीजगबन्धुदास ने श्रीरूपानुगप्रवर जागतिक महात्मा संप्रदाय की एकमात्र सेवा ही श्रीठाकुर भक्तिविनोद का मनोऽभीष्ट है यह जानकर और श्रीगौरकिशोरदास प्रभु-कथित माया के ब्रह्माण्ड' को — 'जिस दिन गृह में भजन देखता हूँ उस दिन गृह में गोलोक प्रतीत होता है'—इस विचार-दृष्टि से देखकर गोलोक वैकुण्ठ का यहीं आवाहन कर लिया था। इन सब बातों को मुक्तपुरुष ही समझ सकेंगे, और लोग नहीं।

बद्ध जीवगण श्रवण की योग्यता प्राप्त करने से ही यह समझ सक कर कि जगद्बन्धुदास्य और उसका अधिकार-लाभ क्या व्यापार है, गौड़ीय-वैष्णव-दर्शन से दिव्यदृष्टियुक्त हो सकेंगे। गौड़ीय वैष्णव दर्शन के दार्शनिकगण पागल नहीं हैं या दुश्चरित्र नहीं हैं और भवचक्र में घूम रहे तेली के बैल की तरह कामुक-दर्शन को ही 'गौड़ीय-वैष्णव-दर्शन' कहकर जगत-जंजाल उपस्थित करने की इच्छा से मायावाद के प्रचारक भी नहीं हैं। अर्थ और परमार्थ के वैशिष्ट्य-प्रदर्शनकारी के अधिकारमूल में ही विशुद्ध गौड़ीय-वैष्णव-दर्शन है। वह अचिन्त्यभेदाभेदमय श्रीजीवाचार्यप्रभु-प्रदर्शित श्रीरूपानुगत्व है। वह श्रीरघुनाथान्वय श्रीजीव के प्रतिपाद्य श्रीरघुनाथलब्धत्व अर्थात् वही श्रीरूपानुगत्व है। श्रीनरोत्तमानुग महाभागवतगण इसी कारण श्रीगुरुदेव के आनुगत्य में कहा करते हैं—

श्रीचैतन्यमनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले।
स्वयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्॥

सुतराम् श्रीजगद्बन्धुदास देव का प्रभुत्व जिन लोगों के प्राभातिक कीर्तन से नित्य जययुक्त है, वे ही प्राभातिक कीर्तनकारीगण श्रीजगबन्धु के संरक्षित कलेवर रूप श्रीभक्तिविनोदासन सौध के निर्माण-सेवन कार्य का यह गौरव-गान प्रकटकाल और अप्रकट-काल में भी गाते रहेंगे—

जीव जाग, जीव जाग, गोरा चाँद कहे।
माया-पिशाची-गोद में कितना सोओगे?
भजने को कहकर आया तू विश्व में।
भूला हुआ उसको अविद्या के फेर में॥
तारने को तेरे मैंने लिया अवतार।
मेरे सिवा यहाँ कौन तेरा बन्धु और॥
माया के विनाश को मैं लाया हूँ औषध।
हरि नाम महामन्त्र जपा करो नित्य॥
विनोद-सेवक प्रभु-चरणों में लोटे।
हरिनाम महामंत्र लेता है माँग के॥

श्री १०८ परमहंस महाराज का एक भाषण

मनुष्य सर्वश्रेष्ठ क्यों है ?

सब प्राणियों में मनुष्य ही श्रेष्ठ है। किन्तु मनुष्य की श्रेष्ठता काहे में है ? क्यों है विचार करने पर हम देख पाते हैं कि हरि तोषण में ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ अधिकार और योग्यता विद्यमान है। यदि कहो मनुष्य में विचार करने की शक्ति होने के कारण वह श्रेष्ठ है, तो यह विचार शक्ति अनेक समय पशु-पक्षियों में भी देख पड़ती है। किन्तु पशु-पक्षियों में विचार-शक्ति रहने पर भी उनमें दूरदर्शिता नहीं है यह दूरदर्शिता हरि तोषण में पर्यवसित होने पर ही सार्थक होती है। आहार, निद्रा भय आदि व्यापार पशु और मनुष्य, दोनो में समान देखे जाते हैं। पशु को चाबुक दिखाने से वह डरता है और देह पर हाथ फेरने से सन्तुष्ट होता है। किन्तु पशुगण पहले की बात नहीं जानते, बाद की बात भी नहीं जान सकते। अक्षरात्मक या शब्दात्मक वस्तु की सहायता से पूर्व अभिज्ञता की बात में पशुओं का अधिकार नहीं है।

'भजन' और 'पूजन' शब्द का प्राचीनतम उल्लेख

मानव जाति के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋक्संहिता में हम पूज्य, पूजक और पूजा के विषय का निदर्शन पाते हैं। इस संहिता के भीतर भिन्न भिन्न देवतों के स्तव ग्रथित हैं। स्तव करनेवाले लोग उस समय के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। हम इस आदिम सभ्यता के ग्रन्थ से 'पूजन' शब्द को जान पाते हैं। अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ का पूजन करना कर्तव्य है। आनुगत्य धर्म ही पूजन है, श्रेष्ठ वस्तु ही पूज्य है। पूजक जो है, वह पूज्य के अधीन है और पूजन क्रिया जो है, वह आनुगत्य-सूचक है, ये सब बातें उक्त ग्रंथ से संग्रह की जा सकती हैं।

बहुईश्वरवाद और पंचोपासनामूलक मायावाद का सम्बन्ध

परवर्ती काल के विचार में बहु ईश्वरवाद (Polytheism) या पञ्चोपासना (Henotheism) क्रमशः समृद्धि लाभ करके अहंग्रहोपासना (Pantheism) के रूप में परिणत हुई है। पहले बहु वृहत्, श्रेष्ठ या पूज्य वस्तुओं के दर्शन से बहु देवता पूजना की सूचना हुई। इस बहु ईश्वरवाद से ही क्रमशः नश्वर वैचित्र्य में अवस्थिति के समय 'अव्यक्त प्रकृति में लय' या 'मायावाद' अर्थात् बहु से अन्त में किसी एक विदारोपित जड़-निर्विशिष्ट अवस्था में आरोहण की चेष्टा जीव के हृदय में उत्पन्न हुई।

विष्णु के परतम होने का विचार

फिर बहु श्रेष्ठ वस्तुओं या देवतों के प्रति पूज्य ज्ञान होने पर भी, वे बहु श्रेष्ठ देवता जिसे सबकी अपेक्षा अधिक पूज्य जानकर पूजा का विधान करते हैं, और जो असमोर्द्ध्व हैं, निम्नलिखित ऋग्वेद का मंत्र उन्हीं का इस प्रकार स्तव करता है—

"ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः, दिवीव चक्षुराततम्।" (१।२२।२०) अर्थात् सूरिगण यानी विद्वान लोग विष्णु के उस परमपद नित्यपद को नित्यकाल देखते या उसकी सेवा करते हैं।

ऋक् संहिता में ऐसे किसी देवता का उल्लेख नहीं पाया जाता, जो विष्णु के परमपद से श्रेष्ठ हो। विभिन्न देवताओं के प्रति पूज्य, श्रेष्ठ, धनी बलवान, पंडित या कुलीन का सम्मान अर्थात् अपने से श्रेष्ठ वस्तु को प्राप्य सम्मान देना कुछ दोष का कार्य नहीं है। किन्तु स्वतन्त्रोपासना अर्थात् इन देवगण के भगवद्दास्य या वैष्णवता के अभाव को पूज्य जानकर पूजा करना ही दूषणीय है। इसके द्वारा "एकमेवाद्वितीयम्" मन्त्र के प्रतिपाद्य अद्वयवस्तु की सेवा नहीं होती। बल्कि वेदान्त-विरोधी बहु-ईश्वरवाद केवल स्वीकृत होता है।

विष्णु की पूजा और इतर देवताओं की पूजा में पार्थक्य

तत्त्व वस्तु एक और अद्वितीय है। यही अद्वयज्ञान का तत्त्व है। सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्या है, यह भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने "ब्रह्मसंहिता" ग्रन्थ से उद्धृत करके जगत् के जीवों को इस प्रकार शिक्षा दी है—

"ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥"

श्रीव्यासदेव ने भी पद्मपुराण में यही बात कही है—
"विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधीर्यस्य वा नारकी सः ।"

जो लोग सर्वेश्वरेश्वर विष्णु के साथ उनके अधीन तत्त्व को उनके समान पर्याय में देखता है, वह नारकी है। उसमें वास्तव ज्ञान का अभाव है। किन्तु वास्तव अद्वय पूज्य वस्तु की शक्तिमत्ता का अभाव नहीं है। गीता में लिखा है—

"येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥"(९।२३)

मूल विष्णु के सिवा अन्यान्य देवता उसी अद्वय तत्त्व वस्तु के अधीन तत्त्व हैं। इस कारण उनके प्रति जो सम्मान दिखाया जाता है, वह फलतः उस अद्वय वस्तु को ही प्राप्त हुआ करता है। किन्तु पूजक का वह कार्य अवैध है। उस प्रकार के अवैध कार्य के द्वारा पूजक कभी मंगल लाभ नहीं कर सकता। सब वस्तु जिसकी पूजा किया करते हैं, वह तत्त्व ही अद्वय तत्त्व श्रीभगवान हैं। "गृहपति के दरवाज़े पर रहने वाला द्वारपाल ही गृहपति है" ऐसा समझ लेने पर गृहपति का पता अच्छी तरह नहीं लग सकता। इस प्रकार समझ लेने की भ्रान्ति ही अवैध है। किन्तु वस्तुतत्त्व की धारणा के बदले पूज्य जानकर वास्तव वस्तु की पूजा का कार्य अवैध नहीं है।

वैष्णव का मानद धर्म और देव-पूजा

श्रीगौरसुन्दर ने हम लोगों को मानद-धर्म की बहुत अच्छी तरह शिक्षा दी है। यदि हम में मानद-धर्म का अभाव हो, तो बाह्य जगत की वस्तु की कामना के कारण हृदय में मत्सर रहने से जिह्वा में श्रीहरिकीर्तन का उदय नहीं होता। वैष्णवगण निर्मत्सर होते हैं वे मानद हैं अतएव अन्यान्य देवगण या जगत की श्रेष्ठ वस्तुओं को यथोपयुक्त सम्मान देने में वे कुण्ठित नहीं होते। वे कृष्ण का अधिष्ठान जान कर सभी देवताओं और जीवों को सम्मान देते रहते हैं लेकिन हाँ, कृष्ण-सम्बन्ध को छोड़कर किसी को सम्मान देने के पक्षपाती वे नहीं हैं। बाह्य जगत् के कर्मीगण यद्यपि इस प्रकार का तात्कालिक सम्मान देते हैं, किन्तु वह उनके मत्सरग्रस्त हृदय का सामयिक उच्छ्वास या कपटतामात्र होता है।

विष्णु का परतम और परमेश्वर होना

ऋग्वेद के पूर्वोक्त मंत्रस्तव में यदि हम विशेष रूप से लक्ष्य करते हैं, तो देख पाते हैं कि "ओं तद्विष्णोः परमं पदम्" कथन ऋक् का मूल कथन है, यद्यपि अन्यान्य देवगण विष्णु के साथ देव पर्याय में गिने गए हैं, तथापि विष्णु का तुरीय पद ही परमपद है। उसी की सूरिगण नित्य सेवा करते हैं ये सब अन्य देवता परम तत्त्व अद्वय विष्णु की ही विभिन्न शक्तियाँ होने के कारण उनकी देव पर्याय में गिनती करना कुछ युक्तिविरुद्ध भी नहीं है। किन्तु वे कोई स्वतन्त्र या जुदा तत्त्व नहीं हैं हम लोग अक्सर बातचीत में माता-पिता को "प्रत्यक्ष देवता" कहा करते हैं अधिकतर शौर्य-वीर्य सम्पन्न व्यक्ति को देवता के नाम से अभिहित करते हैं। किन्तु वे ही क्या परमेश्वर हैं? उनके ऊपर क्या और ईश्वर नहीं है? इस तरह विचार करने पर हम देख पाते हैं कि वे परमेश्वर नहीं हैं। वे विष्णु के अणु अंश मात्र हैं। भगवान का कोई कोई गुण या विभूति बिन्दु-बिन्दु परिमाण में उन्होंने पाई है, इसीलिए वे हमारी श्रद्धा को अपनी ओर खींचने में समर्थ हुए हैं। किन्तु असमोर्द्ध्व परमतत्त्ववस्तु की तरह एकच्छत्र श्रेष्ठता या स्वतन्त्रता अन्य किसी में भी नहीं है। इसी कारण विभिन्न देवतागण को प्राकृत लोग अपने ज्ञान के परिमाण और योग्यता के अनुसार यद्यपि परम तत्त्व समझते हैं, तथापि सूरिगण अर्थात् पूर्णप्रज्ञ व्यक्तिगण विष्णु के तुरीयपद को ही परम-पद मानकर उसकी सेवा करते हैं। इसी से पूर्णप्रज्ञ श्री-मन्मध्वाचार्यपाद ने प्राचीनतम वेदमंत्ररूप शब्द प्रमाण द्वारा विष्णु को ही परतत्त्व कहकर निर्देश किया है।

अक्षजधारणामूलक निर्बुद्धिता

अन्यान्य अतिकुण्ठ और अव्यापक वस्तुओं को इन्द्रिय-समूह द्वारा दर्शन करते-करते हम में ऐसी दुर्बुद्धि संचित हो गई है कि हम वैसी धारणा और उस प्रकार की का वैकुण्ठ या व्यापक वस्तु अर्थात् अपनी अक्षज धारणा के अगम्य अधोक्षज विष्णु-वस्तु के ऊपर प्रयोग करने के लिए दौड़ते हैं।

मानव की श्रेष्ठता का कारण और परिचय

मानव की श्रेष्ठता काहे में है? मनुष्य श्रौतपथ अर्थात् पूर्व-पूर्व महापुरुषों के प्रदर्शित आचरण का विषय अवश्य

कर सकता है और उसके अनुसार जीवन-गठन करने को समर्थ होने की योग्यता लाभ कर सकता है। बहुजन्म-जन्मान्तर के बाद सुदुर्लभ अनित्य अथच परमार्थप्रद मनुष्य जन्म जीव को मिलता है। अतएव भगवान की सेवा ही मनुष्य जन्म का एकमात्र कृत्य होने में कुछ भी सन्देह नहीं। भगवान का ज्ञान प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का चरम-फल है। इस गमनशील जगत में मनुष्य या तो देवत्व की ओर अग्रसर होगा और या पशुत्व की ओर, अधोगति की ओर पैर बढ़ावेगा। भगवत्सेवा की बात को छोड़कर यह जो 'मैं' है—जो 'मैं' भगवान का नित्य दास नहीं है, उस नश्वर 'मैं' को कभी सुविधा या मंगल का लाभ नहीं होता।

साधु-मुख से हरिकथा-श्रवण के अभाव में ही देह और मनोधर्म का विकास है

हरि-कथा के दुर्भिक्ष से हमारी रक्षा करनेवाला ऐसा बान्धव (हितैषी) हमारा कौन है ? मनुष्य जाति अहंकार के वशवर्ती होकर यहाँ तक दुर्विवेकयुक्त है कि कुसिद्धान्त-वाक्यों को 'सिद्धान्त' कहकर उनका प्रचार करने की दांभिकता करता है और हिताहित विवेचना के विरुद्ध खड़ा होकर आपात-मधुर इन्द्रियतर्पण की बातों को ही वरण करके अपने पैरों में आप ही कुल्हाड़ी मारता है। सतसङ्ग के प्रभाव से यदि हम पशु स्वभाव व्यक्तियों के संग से अलग रहने की सुविधा पावें, तभी हमारे मंगल की संभावना है। मनुष्य जब ऐसे असत्संग में पड़ता है तो कभी खूब प्राकृत बहादुर (?) और कभी प्राकृत पागल हो जाता है "जो सर्वदा हरि सेवा में तत्पर हैं, उनके संग के सिवा और कुछ नहीं करूँगा। हरि-भजन में ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता है। काल विलंब न करके इसी घड़ी से हरि-भजन करता रहूँगा"—इस प्रकार के दृढ़ उत्साह और निश्चय को लेकर हमें मनुष्य-जीवन के चरम कल्याण-साधन का व्रत ग्रहण करना चाहिए। हम यदि इसमें विलम्ब करें, तो अन्य बहिर्मुख असत् लोग हमारे निकट आकर हमें बुरी सलाह देने का सुयोग [illegible]ें। कभी वे कहेंगे कि "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्", कभी कहेंगे कि "स्वदेश की सेवा करना ही हमारा परम धर्म है" कभी कहेंगे कि "जिस गाँव में वास करते हो, उस गाँव का, उस गाँव के देवता का या समाज का महत्त्व बढ़ाना ही तुम्हारा धर्म है।" इस प्रकार नाना देह-धर्म और मनोधर्मों का उपदेश देकर वे हमारा सर्वनाश कर देंगे। उनके मनोहर वाक्यों को सुनकर हम भी उस समय कहेंगे कि "परमेश्वर ने जब हमें कुक्कुर-दन्त (Canine teeth) दिया है जब इतने पशु-पक्षी-मछली आदि की सृष्टि की है और उन्हें हमारे खाद्य तथा शरीर-पुष्टि के उपयोगी करके भेजा है तब हम इन्हें भक्षण करके अपनी देह की पुष्टि व अपने देह से संबंध रखनेवाले सभी लोगों के देह की पुष्टि करेंगे और करावेंगे। साथ ही इन सब वस्तुओं को भक्षण करने के कार्य को ईश्वर-निर्दिष्ट कार्य कहकर प्रचार करेंगे।" उस समय हमारा विचार होगा कि हम युवक हैं, इस कारण हम जवानों के धर्म का पालन अवश्य करेंगे। ईश्वर ने हमको ग्यारह इन्द्रियाँ दी हैं, इस कारण हम उन इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रिय भोग्य सभी सामग्री का संग्रह करके उसका उपभोग करेंगे और अपनी ही इन्द्रिय वृत्ति की परिचालना द्वारा सुख सुविधा-भोग के लिए "ईश्वर के हाथ नहीं हैं, पैर नहीं हैं, आँख नहीं है नासिका नहीं है, अतएव उसे 'निराकार', 'निर्विशेष', 'निर्विलास', 'निरञ्जन' आदि कहेंगे। जितने चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और समग्र बाह्य जगत के विषय समूह हैं, सभी हमारे भोग के लिए प्रस्तुत हुए हैं," इत्यादि अपराधपूर्ण विचारों का जगत् में प्रचार करेंगे। उस समय अपने मंगल के विरोधी व्यक्तियों को ही हम अपना बन्धु कहकर वरण करेंगे। कारण, वे हमारे इन्द्रिय तर्पण के अनुकूल बातें कहकर हमें आपात मधुर सुख का मार्ग दिखा देते हैं। किन्तु ये सब बन्धु कब तक यथार्थ बन्धु का काम करेंगे ? उनकी कितनी क्षमता या सामर्थ्य है ? हम क्या इन सब बन्धुओं के स्वरूप को विचारकर देखने का या कुछ गहरे पैठकर सोचने का थोड़ा भी समय नहीं पाते ?

भगवत्सेवा छोड़ देने से कभी विवर्त-बुद्धि होती है और कभी पाप-पुण्य में प्रवृत्ति होती है

जिन इन्द्रियों के द्वारा हम बाह्य जगत् देखते हैं, उन्हीं इन्द्रियों की समष्टि क्या 'मैं [illegible]ान् हों या न हों, इससे हमारी हानि या लाभ नहीं है; किन्तु हम नित्यधर्म की आलोचना छोड़कर वर्तमान काल में देश या समाज के शासन (Civic administration) लेकर व्यस्त हैं !

हममें से अनेक लोगों ने धर्म का नाम लेकर अधर्म को ही धर्म समझ रक्खा है—अत्यन्त नास्तिक व्यक्ति को ही धार्मिक और ईश्वर-विश्वासी समझते हैं—अत्यन्त विष्णु-विरोधी और वैष्णवापराधी व्यक्ति को ही परम वैष्णव कहते हैं—पुण्य और पाप के उपार्जन के लिए ही नाना प्रकार की चेष्टाएँ करते हैं—कभी पाप और पुण्य त्याग करने की चेष्टा का छल दिखाकर नास्तिक हो पड़ते हैं। मुण्डकोपनिषद् (३.१३) में लिखा है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

श्रुति कहती है—जब ब्रह्मयोनि को, अर्थात ब्रह्म जिनकी अंग-कान्ति है, उस हेमकान्ति (सुवर्णवर्ण) परमेश्वर पुरुषोत्तम को जीव देखता है, तब वह विद्वान् होता है और पुण्य पाप की प्रवृत्ति को त्याग कर देता है; तब वह अञ्जन अर्थात् मनोधर्म की मलिनता से मुक्त होकर हरि-सेवा में नियुक्त हो जाने के कारण परम साम्य या शान्ति की अवस्था को प्राप्त करता है। चै० च० मध्य २०वें छंद में कहा है—

कृष्णभक्त—निष्काम, अतएव शान्त।
भुक्ति-मुक्ति-सिद्धिकामी सभी हैं अशान्त॥

सभीको निरन्तर हरि-भजन के लिए उपदेश

मनुष्य क्या इतना बड़ा मूर्ख है कि कृष्ण-भजन को छोड़कर उसका और कोई कर्तव्य भी हो सकता है, इस तरह का विचार या कल्पना करके वह अपने परमार्थप्रद दुर्लभ मनुष्य-जन्म को नष्ट कर सकता है? कृष्णभजन के सिवा जीव का और कोई कर्तव्य नहीं है, हो ही नहीं सकता। इस विषय में आप लोग क्या एकबार भी विचार नहीं करते, एकबार भी विचार कर नहीं देखते, एकबार भी मनुष्य नाम की सार्थकता नहीं दिखा सकते? निरन्तर हरि-भजन करिए—सब जीवों को हरिभजन में लगाइए। सब जीवों की चेतन-वृत्ति के निकट हरिभजन करने की बात कहिए। सब जीवों की, सब अजीवों की कृष्ण-पाद पद्म में अवस्थान ही एकमात्र परिपूर्ण सार्थकता है। सब इतर चेष्टाओं को त्याग कर कृष्णपादपद्म में चेतन की सब वृत्तियों को नियुक्त करना ही हमारा एकमात्र कर्तव्य है। वह वस्तु कभी हमारी पूज्य नहीं हो सकती। सर्व पूज्यतम वस्तु की प्रभा से म्लान होकर अन्यान्य वस्तुओं का स्वतन्त्र भाव से पूज्यत्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। विष्णु का पद ही परम पद है। वही हमारी एकमात्र सेवनीय वस्तु है।

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

(२)



जैसे ही घर में किसी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, वैसे ही आनन्द से उन्मत्त होकर पास-पड़ोस के सब लोगों को बुलाकर, इकट्ठा कर, गृहस्थ ने बड़ी धूम धाम शुरू कर दी। महल्ले की औरतों ने आकर सबने एकत्र होकर सुमधुर स्वर से परस्पर बात चीत करना शुरू कर दिया। "आहा! हमारे नरेन्द्र का कैसा भाग्य है! ऐसा सोने का चाँद कहीं किसी के होता है? शरीर का रंग जैसे सोने का पत्तर चमक रहा है! जैसे राजपुत्र हो! कैसी मीठी हँसी है! बच्चा जीता रहे, चिरंजीवी हो!" इत्यादि।

लड़का होने की खबर पाकर सभी आनन्द से फूले नहीं समाते। लेकिन इसका परिणाम कैसा भीषण है, यह किसी ने एक बार भी नहीं सोचा। इसके दो दिन बाद जब लड़का विसूचिका-रोग से चल बसा, तब फिर उस आनन्द को भूलकर सिर और छाती पीट-पीट कर रोने लगे। इसी बीच में कोई पड़ोसिन आकर नकीसुर में, आँखों में एक भी आँसू न होने पर भी रो-रोकर लड़के की मा को समझाने लगी—हाय हाय! बहन! तेरा तो सर्वनाश ही हो गया। भगवान् ऐसी मुसीबत किसी पर न डाले। निर्दयी विधाता से तेरा सुख नहीं देखा गया। हम सब ने सोचा था कि चार दिन में छठी-बरहौं-पसनी वग़ैरह होगी—गाना बजाना होगा, हम लोग खुशी मनावेंगी, सो कुछ

भी न हो सका ! क्या किया जाय बहन ! यही भाग्य में लिखा था। इसी तरह समझा बुझाकर सब अपने अपने घर चली गईं।

इसीसे कहते हैं, यह सब माया का प्रपञ्च है। इस मायिक संसार में कोई किसी का नहीं है। सब कुछ दो दिन के लिए है। केवल भगवान की सेवा ही नित्य है। उनकी सेवा को भूलकर ही जीव माया में मोहित हो इस संसार में त्रिविध तापों की ज्वाला भोग करता है।

कोई राजा है, कोई रानी है, कोई मंत्री है, कोई हाकिम है, कोई खानसामा है, कोई मेहतर है, कोई छोटा है, कोई बड़ा है, इस तरह माया का नक़ली चेहरा लगाए स्वरूप को भूलकर मायाधीश भगवान विष्णु को विस्मृत होकर ही जीव ने अपनी यह दुर्दशा उपस्थित की है।

कोई स्त्री स्वामी की मृत्यु होने पर उसकी लाश के सामने ही सब से छिपाकर फुर्ती से बड़ी सावधानी के साथ नेकलेस हार, अनन्त, बाली, झूमका, नथ इत्यादि गहने अंग से उतारकर रखती जाती है और "अरे दैयारे ! मैयारे ! मेरा क्या होगा? मैं कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? मेरे तो कोई भी नहीं है ! हाय ! हाय ! भगवान के मन में यही था !" इत्यादि विविध वाक्यों से विलाप करके महल्ले भरके लोगों को जमा करके अपनी पति-भक्ति तथा पति-प्रेम की पराकाष्ठा दिखाती है।

एकमात्र विष्णु-भक्ति के विना सभी माया है, माया का खेल है। इस रक्त मांस के पिण्ड को, चमड़े की थैली को भोग की वस्तु समझकर, इसी नश्वर शरीर पर आसक्त होकर "मैं हूँ, मेरा है" यह भावना करके जीव अपने लिए घोर अनर्थ उपस्थित कर लेता है। इस माया की जादूगरी से परित्राण पाने का उपाय उन्हीं गुरु-वैष्णवों की कृपा है, जिनकी यह माया है।

देखो न, छोटी छोटी लड़कियाँ खेल की गृहस्थी बनाकर गुड़िया-गुड्डे खेलती हैं, जैसे सचमुच गुड़िया वग़ैरह पर उनकी बड़ी ममता है, जैसे एक घड़ी भर उन्हें न देखपाने पर उनका हृदय छट पटाने लगता है। कभी वे गुड़िया गुड्डे का ब्याह करती हैं, कभी ईंट-मिट्टी वग़ैरह की भोजन सामग्री बनाकर उन्हें भोजन कराती हैं, अन्त को छोटी-सी पालकी पर उन्हें बिठाकर सुसराल भेजकर, आनन्द मनाती हैं। लड़कियों को गुड़ियों के खेल में ही आनन्द मिलता है; किन्तु यह तो केवल खेल ही है न इसी में जब इतना आनन्द है, तब वह लड़की जिस समय बड़ी होकर स्वामी के साथ सुसराल जायगी उस समय इन साथ की गुड़ियों को पिटारी में बंद करके उनके बदले आप ही बहू बनकर पति के घर में गृहस्थी चलाने जायगी। उस समय इस सुख, इस आनन्द की तुलना में वह खेल का आनन्द कुछ भी न था, यह उसकी समझ में आ जायगा। उसी तरह हम सब भी इस माया के संसार में आकर सभी भोक्ता होकर (पुरुष के अभिमान से) पुरुष सजकर रूप, रस, गंध स्पर्श, शब्द आदि सांसारिक सुख-समूह का आप ही एक मात्र भोक्ता अर्थात कर्ता बनकर पूर्वोक्त बालिकाओं की तरह गुड़ियों का खेल करते हैं। किन्तु जब सद्‌गुरु की कृपा से फिर माया का आवरण उन्मुक्त हो जायगा, तब दिव्य नयनों से हम देख पावेंगे कि हम सभी परम पुरुष श्रीकृष्ण के भोग्य अर्थात प्रकृति हैं। स्वयं प्रकृति होकर किस प्रकार अन्य प्रकृति का संभोग किया जा सकता है ? यह कभी संभव नहीं है। इस भ्रान्ति को, इस माया को जब हम गुरु की कृपा से जान सकेंगे, तब उस आराध्य प्रियतम सर्व प्राणेश्वर श्रीकृष्ण को प्राणपति के रूप में पहचान सकेंगे। पूर्वोक्त बालिका जैसे पहले पति को नहीं देखती, नहीं पहचानती, किन्तु बिचवानी जैसे संबंध पक्का कराकर उस बालिका को घर का साक्षात्कार करा देता है उसी तरह गुरुरूपी बिचवानी हमारे प्राणपति श्रीकृष्ण के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित करा देंगे। श्रीकृष्ण ही सम्बन्ध हैं, श्रीकृष्ण ही भक्तिरूप अभिधेय हैं और श्रीकृष्ण ही प्रेमरूप प्रयोजनतत्त्व हैं। जैसे बालिका पहले प्रणय का भला बुरा कुछ नहीं समझ सकती; किन्तु जब वह जवान होती है, तब पति की किस तरह सेवा करनी चाहिए - यह बात अन्य किसी के बतलाए विना ही वह स्वयं समझ लेती है, वह खुद जान जाती है कि किस प्रकार सब अंगों से प्राणपति की सेवा करनी होती है, उसी प्रकार—

"हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।"

सब इन्द्रियों से हृषीकेश (इन्द्रियों के ईश्वर) की सेवा भक्ति कहलाती है।

सर्वेन्द्रियपति श्रीकृष्ण की सब इन्द्रियों से किस प्रकार सेवा करनी होती है, यह हम गुरुरूप सखी के द्वारा (अर्थात् जो गुरुदेव हैं वह सब इन्द्रियों के द्वारा किस प्रकार भगवान् की सेवा करते हैं इसकी शिक्षा उनके निकट) प्राप्त कर सकते हैं। दृष्टान्त-स्वरूप हम प्राकृत जगत में देख पाते हैं कि किसी धनी आदमी को तुष्ट करना

होता है तो उसके किसी पुरातन भृत्य के निकट जाकर अच्छी तरह विशेष रूप से उसका हाल जानना पड़ता है और तभी हम उस धनी प्रभु को तुष्ट कर सकते हैं, वैसे ही जो जगत् के स्वामी हैं, उन्हें तुष्ट करने के लिए पहले जो सर्वदा उनकी सेवा में नियुक्त हैं ऐसे गुरुदेव के निकट हमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। ऐसा किए बिना हम उस ईश्वर को कैसे सन्तुष्ट कर सकेंगे? अतएव गुरुदेव के निकट दीक्षा ग्रहण करने पर हम यह जान सकेंगे कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्डपति श्रीकृष्ण की किस प्रकार सेवा की जाती है। तभी हम सेवानन्द से मत्त होकर दिन-रात उन्हीं की सेवा करते रहेंगे।

इस संसार में हम सम्बन्ध-स्थापन करके रहते अवश्य हैं; किन्तु यहाँ का यह सभी अनित्य, नश्वर अर्थात् जड़ है। कारण, यह सांसारिक आनन्द क्षणिक है, केवल दो दिन का है, चिरस्थायी नहीं है। इसमें निरवच्छिन्न सुख का मिलना कभी संभव नहीं। यह आज है, कल नहीं है। इसका दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे—एक बन्धु से मार्ग में मेरी भेंट हुई। मैंने बन्धु को देखकर नमस्कार किया। उन्होंने भी प्रतिनमस्कार करके कहा—अच्छे तो हो? मैंने भी उत्तर दिया। उसके बाद वह तेज़ी से अपनी राह चले गए—उनके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रह गया। यह जड़ सम्बन्ध है। इसी प्रकार पिता-माता जो सन्तान के प्रति स्नेह करते हैं, अथवा सन्तान पिता-माता के प्रति भक्ति करता है, सो इस कारण कि उन दोनों के हृदय के भीतर कुछ न कुछ स्वार्थ का संस्रव है।

हम इस संसार में न जानें कितने प्रकार के देख पाते हैं। स्वामी स्वार्थ की प्ररोचना से स्त्री को अपनी भोग्य वस्तु समझकर उसे न जानें कितनी तरह से लांछित करता है। उसकी स्त्री भी समय देखकर स्वार्थ के लिए अलंकार आदि लेने के छल से कपट-भक्ति दिखाकर अपने स्वार्थ की सिद्धि कर लेती है।

कोई पुत्र सिंहासन पर बैठकर नीचे बैठे हुए पिता के प्रति अवज्ञा का भाव दिखाता है, कोई पुत्र अपने हाथ से पिता को क़ैद करके स्वयं राजसिंहासन पर बैठता है। कोई भृत्य धन के लोभ से अपने प्रभु को मारकर उसकी आजीवन संचित धन-राशि को हरकर चल देता है। एक मित्र दूसरे मित्र को ज़हर पिलाकर उसका सर्वस्व अपहरण करता है। सर्वत्र यही भाव देखा जाता है। सुतराम् देखा जाता है कि इस संसार में जो शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर भाव है, वे सभी अनुपादेय, हेय और नश्वर हैं। वे किसी तरह शाश्वत, चिरस्थायी, अविनश्वर सुख नहीं दे सकते। कारण, वे सभी जड़ उपादान से निर्मित हैं। परम श्रद्धास्पद, भक्तिभाजन श्रीभक्तिविनोद महाराज ने एक स्थान पर कहा है—

मायाजाल बीच क्यों पड़ता जीव मीन तू हाय !
चिरदिन फँसा रहेगा उसमें, जाने ना असहाय ॥
महातुच्छ भोग शासे तू बन्दी माया-पाश।
विकृत भाव से दण्ड रहेगा पराधीन सु हताश ॥
कहता भक्तिविनोद कृष्ण के प्रेमसिन्धु जल-मध्य।
अनायास क्रीड़ाकर रह तू कृष्णाधीन अवध्य ॥

अतएव जब हम गुरु की कृपा से इस मायिक प्रपंच त्याग करके अप्राकृत राज्य में वैकुण्ठानन्द का पता लगा सकेंगे, तभी नित्य सुख का आस्वादन कर सकेंगे। उस ऐश्वर्यपूर्ण वैकुण्ठ राज्य में सभी कुछ चिन्मय है। जिससे कुंठा-धर्म विगत हो गया है, वही वैकुण्ठ-वस्तु है। यह निर्दोष और आनन्दमय है। उसके ऊपर माधुर्यमय गोलोक वृन्दावन-स्थान में सभी नित्य आनन्द में विराजमान हैं। इस स्थान में मायिक जगत् की कोई नश्वरता या हेयता नहीं है; सभी उपादेय और चिन्मय है। यहाँ भी शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर-भाव है और वे नित्य तथा चिरस्थायी हैं। मायिक जगत में जैसे जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, हाहाकार आदि त्रिविध ताप की ज्वाला से जीव सर्वदा अस्थिर हैं, यहाँ वैसा नहीं है। यहाँ सभी सुखमय है सुखमय वृन्दावन में कोई अभाव नहीं है — यह स्थान दिव्य ज्योति से परिपूर्ण है, पृथिवी में स्थित चंद्र, सूर्य, अग्नि, तारागण और विद्युत् की प्रभा से यह स्थान आलोकित नहीं है। यह स्थान स्वयं प्रकाश, कोटि-सूर्य-सदृश उज्ज्वल और कोटिचन्द्रसम शीतल चिरानन्द की भूमि है। यहाँ जन्म नहीं है, जरा नहीं है, मृत्यु नहीं है, शोक या अशान्ति कुछ नहीं है—केवल नित्य आनन्द है। सच्चिदानन्दमय श्रीविग्रह कृष्णचन्द्र की सेवा में सभी आनन्दमय और चैतन्यमय हैं। यहाँ पर यमुना नदी प्रेम से बह रही है। भूमि चिन्तामणि-सदृश है। वन, पुष्प, वृक्ष, लता, सभी मधुमय हैं यहाँ सभी श्रीकृष्ण की परिचारिका या दासी हैं। नाना भाव से, नाना उपकरणों

से सभी हृदय और मन के द्वारा उन्हीं कृष्ण की सेवा करके सेवा के आनन्द में मग्न हैं। ह्लादिनी शक्ति से परिवेष्टित परम पुरुष भगवान व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र गोपों, गोपियों और सखाओं के साथ व्रजधाम में नित्य लीला करके भी जगत के हित के लिए परिकरसहित इस प्रपञ्च में अवतरण किया करते हैं — अवतार लिया करते हैं—

अद्यापि भी वही लीला गौर राय करें।
कोई कोई भाग्यवान देख पावें उसे॥

जिसके भक्तिचक्षु हैं, वही दिव्य दृष्टि द्वारा श्रीगुरु की कृपा से उनकी इस प्रपञ्चमयी लीला को देख पाते हैं। इस नित्यानन्दधाम में निरानन्द कहलाने योग्य कोई भी वस्तु नहीं है। इस स्थान में सनक, सनन्दन आदि मुनिवृन्द श्रीकृष्ण की परब्रह्मरूप से उपासना करते हैं। रक्तक, पत्रक आदि दासगण दास्यभाव से सेवा करते हैं। श्रीदामा, सुदामदाम, वसुदामा आदि गोपालगण सख्यभाव से सेवा करते हैं। नन्द, यशोदा आदि वात्सल्य भाव से श्रीभगवान् की सेवा करते हैं। श्रीमती वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिका, ललिता, विशाखा आदि व्रजाङ्गनाएँ मधुरभाव से सर्वाङ्ग द्वारा सच्चिदानन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की सेवा करती हैं। धवली, श्यामली आदि गोवृन्द, गोपालगण, वेत्र, वेणु, विषान आदि सभी आनन्द से आत्मविस्मृत होकर भगवान की सेवा में देह-मन समर्पण करके परमानन्द को प्राप्त हैं। किन्तु मधुर-भाव ही व्रज में सर्वश्रेष्ठ भाव है। जैसे आकाश का गुण शब्द, वायु के गुण शब्द और स्पर्श, अग्नि के गुण शब्द, स्पर्श और रूप, जल के गुण शब्द, स्पर्श, रूप और रस, तथा पृथ्वी के गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध क्रमशः पर पर अवस्थित हैं, वैसे ही एक मधुरभाव में ही पर-पर—शान्त की कृष्ण-निष्ठा, दास्य की सेवा, सख्य का असंकोच भाव, वात्सल्य का लालन और पालन तथा कान्तभाव अर्थात् मधुरभाव में सर्वाङ्ग से सेवा ये पाँचों प्रकार के भाव देखने को मिलते हैं। अतः व्रज में यही भाव श्रेष्ठ भाव है। अतएव अन्त को वक्तव्य यही है कि एकमात्र गुरु भक्ति द्वारा इस दैवी विष्णुमाया से परित्राण पाकर नित्य काल के लिए गोलोक में नित्यसेवा लाभ करके हम धन्य हो सकेंगे।

परीक्षित्-पारायण-पीठ के पथ में प्रभुपाद

नैमिषारण्य, लक्षणावती और देहली नगर में हरिकथा-कीर्तन

परमहंसी संहिता श्रीमद्भागवत के श्रवण-कीर्तन-परिषद् के तृतीय अधिवेशन पीठ श्रीनैमिषारण्य श्रीपरमहंसमठ में श्रवण-कीर्तनरूपा मुख्या भक्ति की कथा अनुक्षण अनर्गल कीर्तन करके श्रीप्रभुपाद गत ११ नवंबर (१९३१) से १३ नवंबर तक फिर लक्षणावती में अवस्थित रहे और वहाँ मुमुक्षागन्धयुक्त रामोपासक पण्डित-मण्डली तथा हरिकथा-कीर्तन-दुर्भिक्ष-पीड़ित व्यक्तियों तक को चिद्विलास-राज्य की चरम कथा श्रवण कराकर मथुरा के मार्ग में १४ नवंबर को भारत की राजधानी देहली में आकर उन्होंने आभिजात्य-आसन के सर्वोच्च शीर्ष में प्रतिष्ठित व्यक्तियों को सर्वोच्चतम स्वराट् कृष्ण की कथा श्रवण कराई।

देहली से मुज़फ़्फ़रनगर

गत २६ नवंबर को सबेरे १० बजे के समय देहली से मोटर पर यात्रा करके १२ मील पर गाज़ियाबाद और उसके बाद ३२ मील पर मेरठ नाम के प्रसिद्ध नगर के पास से होते हुए श्रीप्रभुपाद ३३ मील पर मुज़फ़्फ़रनगर पहुँचे। उस समय १२-४५ का समय था। दिल्ली से मेरठ ४४ मील है और मेरठ से मुज़फ़्फ़रनगर ३३ मील। इस प्रकार दिल्ली से मुज़फ़्फ़रनगर ७७ मील के लगभग हुआ। अलग ट्रेन पर सवार होकर श्रीपाद सखीचरण भक्तिविजय, ब्रह्मचारी श्रीसज्जनानन्दजी, ब्रह्मचारी श्रीनिताईदास, श्रीअनादिचरण विश्वास आदि कई मूर्त्तियाँ तीसरे पहर साढ़े चार बजे मुज़फ़्फ़रनगर पहुँचीं।

श्रीप्रभुपाद के साथ मोटर पर थे आचार्यत्रिक श्रीपाद-कुञ्जविहारी विद्याभूषण भागवतरत्न प्रभु, श्रीपाद अनन्त-वासुदेव परविद्याभूषण प्रभु, ब्रह्मचारी श्रीप्यारीमोहनजी तथा गौड़ीय-सम्पादक श्रीपाद सुन्दरानन्द पर विद्या विनोद आदि कई मूर्त्तियाँ।

मुज़फ़्फ़रनगर की राह में

मोटर में चलते चलते श्रीप्रभुपाद गौड़ीय पत्र के हस्त-लिखित प्रबन्ध देखने और संशोधन करने का काम करते हुए भी श्रीकृष्ण के परतम होने के विचार के सम्बन्ध में कीर्त्तन कर रहे थे। श्रीराधागोविन्द की चिद्विलास-सेवा ही सर्वोत्तमोत्तम है, यही श्रीप्रभुपाद के कीर्तन का मूल विषय था। श्रील रूप गोस्वामी प्रभु ने "उपदेशामृत" में "कर्मिभ्यः परितो हरेः" इस श्लोक में आश्रय पात्र-विचार से श्रीवृषभानुनन्दिनी का सर्वोत्तमत्व और "वैकुण्ठाज्जनितोवरा मधुपुरी" इस श्लोक में आश्रय-स्थान-विचार से श्रीराधाकृष्ण की सर्व श्रेष्ठता कीर्त्तन की है। श्रीरूपानुगवर श्रीप्रभुपाद नास्तिक्य-संशय निर्गुण क्लीव-एक कल वासुदेव-लक्ष्मीनारायण-सीताराम-द्वारकेश और श्रीराधामाधव श्रीकृष्ण के स्वरूप विश्लेषण द्वारा युक्तिवादी व्यक्तियों के हृदय में भी विषय-विग्रह श्रीगोपीनाथ श्रीकृष्ण का पारतम्य प्रतिष्ठित करते हैं।

श्रीप्रभुपाद कभी हरि-कथा-कीर्तन और कभी श्रीमालिका श्रीनाम ग्रहण करते थे। सपार्षद श्रीप्रभुपाद की मोटर क्रमशः मुज़फ़्फ़रनगर में आकर पहुँच गई।

मुज़फ़्फ़र नगर में सज्जनवृन्द की अभ्यर्थना

स्थानीय सज्जन वृन्दों ने आनरेबुल कौंसिल आफ् स्टेट के सदस्य रायबहादुर लाला जगदीशप्रसाद महोदय के "पक्का बाग़" में स्थित सुवृहत् सुन्दर बँगले में गौड़ीय-सम्प्रदाया-चार्यवर्य श्रीश्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना की। रायबहादुर लालाजी स्थानीय सुप्रसिद्ध ज़मींदार, श्रेष्ठार्यकुलभूषण, नगर के सर्व प्रधान नागरिक और श्रीशुकदेव-आश्रम तथा स्थानीय सनातनधर्म सभा के सभापति हैं।

श्रीप्रभुपाद की शुभविजयवार्ता के अग्रदूतरूप से "भागवत" पत्र के संपादक और त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद् भक्तिसर्वस्व गिरि महाराज तथा ब्रह्मचारी श्रीधीरकृष्णजी मुज़फ़्फ़रनगर में पहले ही पहुँच गए थे। उक्त दोनों स्वामीजी महाराजों के मुख से श्रीप्रभुपाद के परीक्षित्-प्रायोपवेशन पीठ को देखने के लिए आने का समाचार जानकर मुज़फ़्फ़रनगर के रहनेवाले सभी सज्जन श्रीप्रभुपाद की उपदेश-वाणी सुनने और उनके दर्शन करने के लिए उत्सुक हो रहे थे—आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे।

मुज़फ़्फ़रनगर में भागवत-स्मृति का पुनरुद्बोधन

२६ नवम्बर को मुज़फ़्फ़रनगर में पहुँच कर ही विश्राम आदि की अपेक्षा न करके श्रीप्रभुपाद हम लोगों के आगे परीक्षित्-पारायण पीठ का इतिहास तथा उस जगह किस प्रकार से पुनः सुष्ठु अधोक्षज श्रवण कीर्तनभक्ति प्रकटित हो सकती है. इस विषय में अनेक बातें करने लगे। श्रीप्रभुपाद ने कहा — हम लोग जिस स्थान के दर्शनार्थ यहाँ उपस्थित हुए हैं "पहले श्रवण विना किए" उस परीक्षित्-श्रवण-पीठ या श्रीमद्भागवत-कीर्तन के द्वितीय अधिवेशन-क्षेत्र का दर्शन नहीं हो सकता। "दर्शन" करने को उद्यत होकर श्रवण-विमुख दर्शनकारी-व्यक्ति केवल पेड़, पत्थर, मिट्टी, घर, या प्रत्नतात्त्विक की योग्य-सामग्री के रूप में ही "दर्शन" करेगा। किन्तु श्रवण के प्रभाव से ही यथार्थ दर्शन संभव है। श्रीगुरु के मुख से—श्रीशुकगुरुदेव के आम्नाय-पारम्पर्य से बहु श्रवण करनेवालों की दर्शनेन्द्रिय ही नियमित और दर्शन के अधिकार को प्राप्त हुई है। वे जब दर्शन करने जाते हैं, तब वस्तु का प्रकृत स्वरूप ही दर्शन करते हैं और इसी कारण उनके श्रीमुख से श्रवण करते-करते दर्शन करना होता है। श्रवण-हीन दर्शन में वस्तु के स्वरूप का दर्शन नहीं होता।

परीक्षित्-शुक-श्रवण-कीर्तन-पीठ में जिससे श्रवण और कीर्तन सुष्ठु भाव से अनुक्षण पुनः प्रकाशित हो सके, इसका यत्न करना कर्त्तव्य है। जो लोग मुमूर्षु हैं, वे गंगाजली (अर्धजल में रहकर प्राणत्याग) करने के लिए भी यदि इस स्थान में उपस्थित होकर यथार्थ भागवत-जीवन-सम्पन्न व्यक्तियों के मुख से हरिकथा - ऐकान्तिक श्रेय की कथा—अधोक्षज भगवद्भक्ति की कथा श्रवण करें, जिस समय और अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञान और योग की बहादुरी की बातें सुनकर समय नष्ट करने का अवसर नहीं होता, तो इस तरह के व्यक्तियों का भी मंगल हो सकता है। हम सभी यथार्थ में मुमूर्षु हैं। परीक्षित महाराज के महा प्रयाण को तो बल्कि सात दिन बाक़ी थे, और उनका यह जाना भी था; किन्तु हमारा जीवन तो उसकी अपेक्षा भी अनिश्चित है। हमारा देहावसान तो इसी घड़ी अभी हो सकता है। अतएव परीक्षित् महाराज के आदर्श का अनुसरण करके, सब काम छोड़कर, हमें केवल "श्रवण"—अधोक्षज श्रीगुरुपाद-

से अधोक्षज श्रवण करना होगा। परीक्षित के "श्रवण" करने के समय इस प्रायोपवेशन के क्षेत्र में कितने ही महर्षि, देवर्षि को श्रवण का सौभाग्य प्राप्त हुआ था श्रीसूत आदि ने इसी जगह भागवतकथा श्रवण करके श्रीनैमिषारण्य में शौनकादि साठ हजार ऋषियों ने श्रवण सौभाग्य की परंपरा विस्तृत की थी। श्रवण का ऐसा ही स्वभाव है कि वह अपने को परंपरा में प्रचार अवश्य ही करेगा -- श्रवण का स्वभाव ही है यह कि वह अपनी पुनः-पुनः आवृत्ति कराता है। श्रीसूत गोस्वामी ने मुख्य "श्रवण" करके पुनः उसका अनुकीर्तन किया था। श्रीपरीक्षित् महाराज ने श्रवण करते करते भी परिप्रश्न के द्वारा श्रवणीय विषय की पुनरावृत्ति या अनुकीर्तन किया था। केवल श्रवण के ही फल से परीक्षित महाराज की रानियों का रूढ़ भाव, तद्‌तिरिक्त गोपी गण का अधिरूढ़ भाव और गोपी शिरोमणि श्री वृषभानुनन्दिनी की महाभावमयी विप्रलंभ सेवा की यथातत्व उपलब्धि हुई थी। परीक्षित महाराज ने "श्रवण" या श्रीशुकदेव गोस्वामी प्रभु ने "कीर्तन" परित्याग करके पृथक् भाव से स्मरण करने का प्रयत्न नहीं दिखाया।

श्रीमद्‌भागवत के -

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः
श्रद्धायुतोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

इस श्लोक में श्रीव्रजेन्द्रनन्दन के साथ श्रीव्रजवधुओं के चिद्विलास के अप्राकृत श्रद्धा के साथ "अनुश्रवण" एवं "अनुवर्णन" अर्थात् कीर्तन की बात ही कही गई है। "स्मरण" का कोई अलग उल्लेख नहीं देखा जाता। इसका कारण यही है कि स्मरण जो है सो श्रवण और कीर्तन के अधीन तथा उन्हीं के अन्तर्गत है। श्रीशुक और परीक्षित् के आदर्श में यही प्रकट हुआ है। श्रवण और कीर्तन की ध्वनि लेकर श्रीमद्‌भागवत का प्रारंभ और उपसंहार हुआ है। "सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्", "पिबत भागवतं" आदि उपक्रम श्लोकों में श्रवण की ध्वनि है और सबके अन्त में उपसंहार के श्लोक में भी --

नाम-संकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥

उसी अनुसंकीर्तन की ध्वनि ही व्याप्त हो रही है।

श्रवण करने के अन्त में ही श्रीपरीक्षित् महाराज ने श्रीशुकदेव गोस्वामी प्रभु से कहा है--

(भागवत १२।६।२)

सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना।
श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः॥

श्रवण ही सब सिद्धियों का देनेवाला है

श्रवण के फल में ही सिद्धि है। श्रवण के फल में ही प्रयोजन है। उसी में अनादिनिधन हरि के दर्शन मिलते हैं।-

"पारायण" शब्द का अर्थ

श्रवण-फल में ही यथार्थ पारायण होता है--पार का -- केवलमात्र भव पार नहीं, आनुषंगिक भाव से भव-पार होने के बाद -- चेतन का सर्वश्रेष्ठ काम्य, अभीष्ट जो 'पार' (कृष्ण-चरण कल्पवृक्ष) है, उसका "अयन" अर्थात् 'पथ'--'आश्रय', 'गति' का लाभ। अर्थात् श्रवण के फल श्रीपरीक्षित् महाराज ने श्रीरूपशिक्षा के "कृष्ण चरण कल्पवृक्ष में आरोहण' तक किया था।

प्रायोपवेशन क्या है ?

"प्रायोपवेशन"--प्र --अय, इ-भाव में अल--"प्राय"; 'प्र'--प्रकृष्ट रूप से 'अय' गति--सेवागति--प्रगति, 'इ' गति; 'प्राय' शब्द का अर्थ 'उपवास' भी होता है। सेवा-प्रगति के लिए उपवेशन--अहैतुकी, अप्रतिहता आत्म-सम्प्रसादिनी प्रगति या अधोक्षज-हरिकथा श्रवण-भक्ति मन्दाकिनी के नव नव वर्द्धमान प्रवाह के समीप वास।

नास्तिक कर्मी की चेष्टा से पृथक्

यह निरीश्वर कर्मी का--भोगी कर्मवीर का भोग्यवस्तु की प्राप्ति के अभाव में क्रोधान्वित होकर आहार-त्यागपूर्वक देह विनाश-यज्ञ नहीं है। अन्य के निकट से देवता के निकट से राजा के निकट से--समाज के निकट से - स्त्री-पुत्र-परिवार के निकट से निज अपस्वार्थपरता की काम्य भोग्य वस्तु न पाने पर शरीर को शुष्क करके--निद्रा, आहार त्याग कर देहपात की नास्तिक्य चेष्टा या पत्नियों का सहमरणादि कर्मनिष्ठ समाज में अनादिकाल से चला आ रहा है। वैष्णवसम्राट् श्रीपरीक्षित् महाराज का प्रायोपवेशन उस तरह की कर्मवीरता की कसरत नहीं है।

श्रीपरीक्षित् 'विष्णुरात' हैं, और श्रीशुकदेवजी 'ब्रह्मरात' हैं। श्रीपरीक्षित् महाराज की मृत्यु नहीं है—वह विष्णु के द्वारा नित्य रक्षित वैष्णव हैं—सर्वत्र वह विष्णु के दर्शन करते हैं—प्रत्येकवस्तु को देखते ही वह 'श्रवण' की कसौटी में उसकी परीक्षा करके देखते हैं कि "क्या यही मेरे आराध्यदेव वह विष्णु हैं?" हर घड़ी ही वह परीक्षा करते हैं कि प्रत्येक दर्शनीय विषय में—प्रत्येक सेवा के विषय में उनके द्वारा विष्णु की सेवा होती है कि नहीं? ब्रह्मरात शुकदेव ब्रह्म का, बृहत् का कीर्तन करते-करते सर्वत्र ब्रह्म दर्शन करते हैं ब्रह्म उनकी चारों ओर रक्षा करते हैं। "जहाँ जहाँ आँख पड़े, वहाँ वहाँ कृष्ण (परब्रह्म) देखे।" ऐसे गुरु और शिष्य का सम्मेलन यहाँ हुआ था। कीर्तन और श्रवण दोनों का ही नित्य धर्म था।

श्रीप्रभुपाद ने कहा परीक्षित के प्रायोपवेशन पीठ में मुमुक्षुगण के लिए श्रीव्यास गौड़ीयगण के द्वारा श्रीमद्भागवत सुनाने की व्यवस्था हो और इस स्थान में श्रीशुकदेव एवं महाराज परीक्षित् का एक स्मृतिस्तंभ खड़ा किया जाय। स्मृति-मन्दिर की दीवारों में श्रीमद्भागवत के सारगर्भ श्लोक लिख दिए जायं। यहाँ भागवत-जीवन व्यतीत करने वाले लोग रहकर हर घड़ी आनेवाले यात्रियों के सामने उन सब श्लोकों की व्याख्या करके कीर्तन करें। इस प्रकार का प्रबन्ध यहाँ किया जाना चाहिए। किन्तु जिन लोगों को उन श्लोकों की बातें समझने का भी अधिकार या योग्यता नहीं है, ऐसे अतिस्थूलदर्शी लोगों के लिए यहाँ एक भागवत-प्रदर्शिनी स्थापित की जाय, जो हर घड़ी खुली रहे। इन सब आदर्शों की कीर्तन के द्वारा व्याख्या की जाय। ऐसा करने से स्थूल बुद्धिवाले सर्वसाधारण भी इन सब विषयों में क्रमशः प्रवेश का अधिकार प्राप्त कर सकेंगे।

श्रीप्रभुपाद ने यह भी कहा कि प्रतिवर्ष श्रीमद्भागवत के सम्बन्ध में एक श्रौत गवेषणामय प्रबन्ध प्रतियोगिता में सबको बुलाया जाय। ऐसा करने से भागवत-सिद्धान्त और भागवत-साहित्य का प्रसार होगा। प्रतियोगिता में जो प्रथम और द्वितीय हों, उन्हें दो पारितोषिक देने का प्रबंध किया जाय।

मुज़फ़्फ़रनगर में सभा का अधिवेशन

श्रीप्रभुपाद ये सब उपदेश दे रहे थे। क्रमशः स्थानीय व्यक्तियों के उद्योग और आग्रह की अधिकता से श्रीप्रभुपाद के निवास-स्थान में ही, उसीके अन्तर्गत एक बहुत बड़े हाल में श्रीप्रभुपाद के श्रीमुख की वाणी श्रवण करने के लिए एक सभा का अधिवेशन किया गया। सभा में श्रीपाद अनन्त वासुदेव परविद्याभूषण प्रभु ने प्रथम श्रीगुरु-गौरांग की वन्दना के साथ मंगलाचरण का कीर्तन किया। हिन्दी भागवत पत्र के संपादक आश्रिवर त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिहृदयवन महाराज ने अँगरेज़ी और हिन्दी में सुललित व्याख्यान दिया।

उसके उपरान्त ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीभक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद सभापति के आसन से अँगरेजी भाषा में एक अभिभाषण देकर भागवत सिद्धान्तसुधा की वर्षा करने लगे।

इस सभा में बहुत से स्थानीय प्रतिष्ठित पुरुष उपस्थित थे। बहुत बड़ा हाल लोगों से खचाखच भरा था। श्रवण करके एक अश्रुतपूर्व, अभूतपूर्व अभिनव भूमिका ने अनीत होने का सुयोग पाया था। उपस्थित बहु संभ्रान्त व्यक्तियों में से नीचे कुछ नाम दिए जाते हैं—

माननीय श्रीयुत लाला हरिराजस्वरूप एम. ए., एल. एल. बी., एम. एल. ए.; लाला श्रीयुत गोपालराज स्वरूप एम. ए., लाला पेरूमल (म्यूनिसिपल चेयरमैन मुज़फ़्फ़रनगर); लाला हरिशंकरलाल (आनरेरी मैजिस्ट्रेट); मि० जगदीशनारायणसिंह बी. ए. (सिटी मैजिस्ट्रेट) मि० माखनलाल बी. ए., एल-एल. बी. (एडवोकेट); डॉ० द्वारकाप्रसाद; पं० भगीरथलाल शास्त्री (उपदेशक सनातन धर्म-प्रतिनिधि सभा लाहौर); बाबू केशवदास (ज़मींदार और सेक्रेटरी सनातन-धर्म एसोसिएशन); डा० शैलधर हालदार बी. ए., एल. टी.; मि० मजूमदार (सुपरिंटेंडेंट डी. ए. वी. इँगलिश हाई स्कूल); मि० कुन्दनसिंह (सेक्रेटरी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड; श्रीयुत रमणीरंजन चौधरी (असिस्टेंट हेड मास्टर एडवर्ड सनातन धर्म हाई स्कूल); मि० सीताराम; मि० एम. जी. फ़िगरन हेल्थ आफ़िसर) मि० श्रीचंदजन (जूनियर वाइस चेयरमैन मुज़फ़्फ़रनगर म्यूनिसिपालिटी); मि० अम्बाप्रसाद भेद (कवि और संपादक; मि० दीपचंद एम. ए., एल-एल. बी.) राय बहादुर लाला देवीप्रसाद; मुज़फ़्फ़रनगर गवर्नमेंट हाई स्कूल, एडवर्ड सनातन धर्म हाई स्कूल और डी. ए. वी. हाई स्कूल की छात्रमण्डली।

ब्रह्मचर्य

(गत संख्या से आगे)

अर्थात् जब से सदा चित्त भगवान श्रीकृष्ण की पादपद्म-सेवा के नवनवायमान स्वरसमुद्र में स्नान करने को उद्यत हुआ हूँ, तब से नारी-संग की बात कल्पना में आते ही जुगुप्सा के कारण मुखविकार होता है और मुँह से थूक निकलने लगता है।

श्रीनारद, श्रीशुकदेव, ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष, स्वरूप दामोदर, रघुनाथदास गोस्वामी, गदाधर पण्डित गोस्वामी, जगदानन्द पण्डित गोस्वामी, राय रामानन्द, पुण्डरीक विद्यानिधि, श्रीनरोत्तम ठाकुर, श्रीनिवासाचार्य, ॐ विष्णुपाद गौरकिशोर दास गोस्वामी आदि वर्णाश्रमातीत परमहंसकुल सतत परब्रह्म में विचरणशील सुष्ठु ब्रह्मचर्य में जो लोग इस प्रकार के स्वरूपोदबोधन में प्रतिष्ठित हुए हैं वे बाह्य रूप से चाहे गृहस्थाश्रम में रहें और चाहे वन को जायें, उनके लिए दोनों ही समान हैं। इसी को कहते हैं सिद्ध ब्रह्मचर्य। इस ब्रह्मचर्य से फिर पतन नहीं होता। हम इन सब स्वरूपसिद्ध ब्रह्मचारियों में अन्यतम त्रिदण्डी स्वामी श्रीपाद श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपाद के आनुगत्य से श्रीगौरसुन्दर की स्तुति करके इस प्रबन्ध को समाप्त करते हैं—

कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूराकाशपुष्पायते।
दुर्दान्तेन्द्रियकालसर्पपटली प्रोत्खातदंष्ट्रायते॥
विश्वं पूर्णसुखायते विधिमहेन्द्रादिश्च कीटायते।
यत्कारुण्यकटाक्षवैभववतां तं गौरमेव स्तुमः॥

सात्वतशास्त्र और भागवतों ने एक ओर शुष्क ब्रह्मचर्य के अर्थों को दिखलाया है और दूसरी ओर यह भी अंगुलि निर्देश पूर्वक दिखलाया है कि स्वरूपोदबोधक ब्रह्मचर्य के बिना भगवद्भजन (?) मिथ्या कपट मात्र है। श्रीभागवत में प्रह्लाद की इस उक्ति में —

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥
औपस्थजैह्वं बहुमन्यमानः कथं विरज्येत दुरन्तमोहः।

और एकादश के अन्तर्गत श्रीभगवान कोई से उक्ति में—

न तथाऽस्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसंगतः।
योषित्संगाद्यथा पुंसस्तथा तत्संगिसंगतः॥

तथा इत्यादि अन्य बहुत से वाक्यों द्वारा यह स्पष्टरूप से वारम्बार बतलाया गया है कि गृहव्रत धर्मयाजन और अवैध स्त्रीसंग आदि के द्वारा कभी भगवान में मति नहीं होती। श्रीचैतन्यचरितामृत में श्रीगौरसुन्दर ने अन्याभिलाषी, शुष्क यम नियम ध्यानादिपरायण कर्मी, ज्ञानी, योगी आदि के संग की तरह वैध और अवैध स्त्री में आसक्त व्यक्ति के संग को भी असत्संग बताकर त्याग करने के लिए कहा है। श्रीरघुनाथ गोस्वामी के प्रति उपदेश में देखा जाता है।

जिह्वा की लालसा से इत उत धावे।
शिश्नोदर परायण कृष्ण नहीं पावे॥

छोटे हरिदास को लक्ष्य करके कहा है—

क्षुद्र जीव सब मर्कट-वैराग्य करे।
इन्द्रियपरायण प्रकृति संभाषण॥
दुर्वार इन्द्रिय करे विषय-ग्रहण।
दारु प्रकृति हरे मुनि का भी मन॥

सुतराम् बुद्धिमान पुरुष जैसे एक ओर नित्य स्वरूपोपलब्धि भक्ति के मार्ग को क्षुरधार के समान तीक्ष्ण जानकर कर्मी और ज्ञानी की शुष्क तथा कृत्रिम ब्रह्मचर्य पालनादिरूप असत् चेष्टा से सावधान हों, वैसे ही, दूसरी ओर मिथ्या या कपट भक्तगण के या अनेक उपसम्प्रदायों के अनेक प्रकार के व्यभिचार के जाल से भी बचने की चेष्टा करें। उसका एकमात्र उपाय है

"प्राप्य वरान्निबोधत।" (कठश्रुति)

"विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥" (भागवत)

जो श्रेष्ठ आचार्य की सेवा करके, निष्किञ्चन महाभागवतगण के चरणरज से अभिषिक्त होकर भागवद्भक्ति-परायण होंगे, वही स्वरूपोदबोधक ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित हो सकेंगे और परब्रह्म-सेवा सागर में निष्णात होकर परमहंस पदवी को प्राप्त करेंगे। अच्युत सेवा परायण व्यक्ति कदापि ब्रह्मचर्य से च्युत नहीं होते। ब्रह्मचर्य अनायास ही आनुषंगिक भाव से उन सेवा-परायण व्यक्तियों में परिलक्षित होगा।

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप, श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्री अद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्ति कौंजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्री [illegible]कायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
श्रीनृसिंहदासकुंज, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ५, गोपीभवन डाक्टर लेन, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्री [illegible] चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चरादा, नदिया

(२७) ब्राह्मण [illegible]ड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चीरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर



Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशमूलम् सटीक ।)
३—श्रीमध्वमुखमानशवर्णनम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम्

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशन) प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कण्ठहार शास्त्र भाष्य संग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु के शिक्षाष्टक और श्रीरूप गोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बंगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बंगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्री मध्वाचार्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)
१२—युक्तिमल्लिका (गुणसौरभ) वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

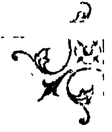
बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित =)
१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म ३)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद्भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अप्रमम ५)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ४)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

6th Feb. 1932

माधव कृष्णपक्ष गौराब्द ४४५

माघ अमावास्या संवत् १९८८

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

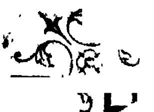
क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-
सरस्वती गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या ‌-) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है ।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है ।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है ।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये । जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे ।

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

९४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

All communications are to be addressed to —

The Manager 'Bhagbat'

946, Saddar Bazar,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि स्वामी भक्तिहृदयवन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



वर्ष १ | [illegible] | संख्या ७
माघ अमावास्या, गौराब्द ४४६, सं० १९८८ वि०, ६ फरवरी सन् १९३२ ई०

नम्र निवेदन

[६]

हे श्रीपति ! तव श्रीचरणों में यह है मेरी विनय प्रभो !
तव पद पल्लव छोड़ दिये, मन मेरा मरु हो गया विभो ॥
विषम विषय विष सेवन ही में मुग्ध रहा मन सदा अहो !
अब भी नहीं छोड़ना चाहे, चाहे जितना विकल रहो ॥
दीनानाथ कहाते तुम हो, मैं हूँ दीन हताश प्रभो !
अब तो केवल तव चरणों की मुझे रह गई आशा प्रभो !
मुझ-सा दीन न और मिलेगा, मुझपर स्वामी ! कृपा करो ।
तव-जन-संग भजूँ मैं तुमको, मेरा सकल प्रमाद हरो ॥
गाऊँ नाम धाम मैं प्रभु के, यों ही समय बिताऊँ मैं ।
“भक्तिविनोद” कहे, प्रभु ! तव पद-शीतल छाया पाऊँ मैं ॥

जीव का नित्य और नैमित्तिक धर्म

(पाँचवीं संख्या से आगे)

... स्वामी महाराज ने कहा—प्रभो ! इस विषय को मैं अच्छी तरह जानना चाहता हूँ ।

परमहंस बाबाजी ने कहा—श्री नित्यानन्द प्रभु के कृपापात्र कृष्णदास कविराज नामक एक व्यक्ति ने मुझे एक हस्तलिखित ग्रन्थ दिखाया है । उस ग्रन्थ का नाम श्रीचैतन्यचरितामृत है उसमें श्रीमहाप्रभु का इस विषय में एक उपदेश है । यथा—

जीव का स्वरूप, होवे कृष्ण का नित्यदास ।
कृष्ण की तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश ॥
कृष्ण भूले वही जीव अनादि बहिर्मुख ।
अतएव माया उसे देती संसार दुःख ॥
(चै० च० मध्य २०।१०८, ११७)

कृष्ण परिपूर्ण चित वस्तु हैं । तुलनास्थल में अनेक लोग उन्हें चित जगत का एकमात्र सूर्य कहा करते हैं । जीव उनकी ... कण-मात्र हैं । जीव अनेक हैं । "जीव कृष्ण का अंश हैं"—यह कहने से पत्थर का एक टुकड़ा जैसे पर्वत का अंश है, वैसे न समझना चाहिए । उस कथन का यह तात्पर्य नहीं है । कारण, अनन्त अंशरूप जीव श्रीकृष्ण से निकला हुआ होने पर भी, उससे कृष्ण के किसी अंश का क्षय नहीं होता । इसी कारण सब वेद अग्नि की चिनगारी के साथ जीव का एकांश में सादृश्य कहते हैं । वास्तव में इस विषय में तुलना की जगह नहीं है । महाग्नि की चिनगारी कहो, चाहे सूर्य की किरण परमाणु कहो चाहे मणि प्रसूत स्वर्ण कहो, कोई भी तुलना सर्वाङ्ग सुन्दर नहीं होती । किन्तु इन सब तुलनाओं की जड़ीय भावांश परित्याग कर सकने पर सहज हृदय में जीव तत्त्व की स्फूर्ति होती है । कृष्ण बृहत् चित् वस्तु हैं और जीव उनकी अणु चित वस्तु है । चितधर्म में दोनों का ऐक्य है; किन्तु पूर्णता और अपूर्णता के भेद से दोनों का स्वभाव भेद अवश्यसिद्ध होता है । कृष्ण जीव के नित्यप्रभु हैं जीव कृष्ण का नित्यदास है, इसी को स्वाभाविक कहना होगा । कृष्ण आकर्षक हैं, जीव आकृष्ट है । कृष्ण ईश्वर हैं, जीव ईशितव्य है । कृष्ण द्रष्टा है, जीव दृष्ट है । कृष्ण पूर्ण हैं, जीव दीन और क्षुद्र है । कृष्ण सर्वशक्तिमान हैं, जीव शक्तिहीन है । अतएव कृष्ण का आनुगत्य या दास्य ही जीव का नित्य स्वभाव या धर्म है । कृष्ण अनन्त शक्ति-सम्पन्न हैं; अतएव चित जगत के प्रकाश में जैसे पूर्ण शक्ति का परिचय पाया जाता है, वैसे ही जीव-सृष्टि के विषय में उनकी एक तटस्था शक्ति का परिचय प्राप्त होता है । अपूर्ण जगत के संगठन में कोई विशेष शक्ति कार्य करती है । उस शक्ति को तटस्था कहते हैं । तटस्था शक्ति की क्रिया यही है कि वह चित वस्तु और अचित वस्तु, इन दोनों के मध्य में ऐसी एक वस्तु का निर्माण करती है, जो चित जगत और अचित जगत दोनों के साथ सम्बन्ध रखने के योग्य होता है । शुद्ध चित वस्तु अचित वस्तु के विपरीत है, अतएव स्वभावतः उसकी अचित वस्तु के साथ सम्बन्ध घटना नहीं होती । जीव चित्कण अवश्य है; किन्तु किसी ऐसी शक्ति के द्वारा वह अचित् सम्बन्ध के उपयोगी हुआ है । उस ऐसी शक्ति का नाम तटस्था है । नदी का जल और भूमि, इन दोनों के बीच में तट होता है । तट जो है, वह भूमि भी है और जल भी है अर्थात उभयस्थ है । उस ऐसी शक्ति तट में स्थित होकर भूधर्म और जलधर्म दोनों को ही एक सत्ता में धारण करती है; जीव चिद्धर्मी अवश्य है, किन्तु उसका गठन ही ऐसा है कि वह जड़-धर्म के वश होने के योग्य है । अतएव शुद्ध चित जगत की तरह जीव जड़ संबंध से अतीत नहीं है । चिद्धर्म के कारण वह जड़ वस्तु भी नहीं है । जड़ और चित् इन दोनों तत्त्वों से पृथक होने के कारण जीव भी एक तत्त्व माना गया है । इसीलिए ईश्वर और जीव में नित्य भेद स्वीकार करना कर्तव्य है । ईश्वर माया का अधीश्वर है, अर्थात माया उसके वशीभूत तत्त्व है । जीव मायावश्य है, अर्थात किसी विशेष अवस्था में वह माया के वश हो पड़ सकता है । अतएव भगवान, जीव और माया ये तीन तत्त्व पारमार्थिक सत्य और नित्य हैं । इनमें "नित्यो नित्यानां" इस वेदवाक्य द्वारा भगवान तीनों तत्त्वों का मूल नित्य तत्त्व हैं ।

जीव स्वभाव से कृष्ण का नित्य दास और तटस्था शक्ति का परिचय है। इस विचार से यह सिद्धान्त होता है कि जीव का भगवत्तत्त्व से एक साथ ही भेद और अभेद है, सुतरां वह भेदाभेद प्रकाश है। जीव मायावश है; किन्तु भगवान् माया के नियन्ता हैं। इस स्थल में जीव भगवान् में नित्य भेद है। जीव स्वरूपतः चित् वस्तु है और भगवान भी स्वरूपतः चित वस्तु हैं तथा जीव भगवान की शक्ति विशेष है। इसी कारण इस अंश में इन दोनों में नित्य अभेद है। नित्य भेद और नित्य अभेद यदि एक साथ हो, तो नित्य भेद का ही परिचय प्रबल है। कृष्ण का दास्य ही जीव का नित्यधर्म है। उसे भूलकर जीव माया के वशीभूत होता है, सुतराम् तभी से जीव कृष्णबहिर्मुख है। मायिक जगत में आने के समय से ही जब बहिर्मुखता लक्षित होती है, तब मायिक जगत के काल के भीतर जीव के पतन का इतिहास नहीं है। इसी कारण "अनादि बहिर्मुख" शब्द का व्यवहार किया गया है। बहिर्मुखता और माया प्रवेश काल से ही जीव का नित्य धर्म विकृत हुआ है। अतएव माया के संग वश जीव का निसर्ग उदय होने पर नैमित्तिक धर्म का अवसर हुआ। नित्य धर्म एक, अखण्ड और निर्दोष है। नैमित्तिक धर्म नाना आकार से, नाना अवस्थाओं में, नाना लोगों के द्वारा, नाना रूपों में विकृत होता है।

परमहंस बाबाजी यहाँ तक कहकर चुप हो गए और हरिनाम का जप करने लगे। संन्यासी ठाकुर ने ये सब बातें सुनकर दण्डवत प्रणाम करने के उपरान्त कहा—प्रभो! मैं आज इन सब बातों पर विचार करूँगा। जो कुछ प्रश्न मन में उठेंगे, उन्हें कल आपके श्रीचरणों में उपस्थित करूँगा।



जिस वस्तु का अपचय एवं नाश नहीं है उसे शास्त्र नित्य या सत्य वस्तु कहता है। इस सत्य वस्तु का विचार करके तत्त्वज्ञानियों ने श्रीभगवान्, जीव और माया को सत्य कहा है। श्रीभगवान पूर्ण हैं, जीव उनका अणु है और माया उनकी बहिरंग-शक्ति है। जैसे सूर्य, किरण और अंधकार। श्रीभगवान् का वही अंश जीव अपने प्रभु की सेवा त्याग करके माया की सेवा लेने में जब व्यस्त होता है, तब माया की अपेक्षा श्रेष्ठ जीवशक्ति का इस दैवी धाम में वास होता है। वासनामय देह या लिंग-शरीर द्वारा आवृत होकर वही नित्य वस्तु निज तत्त्व भूल जाता और जड़ सुख की वासना करता है। किन्तु उस समय स्थूल देह (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से निर्मित) न रहने से उसे जड़ भोग में असुविधा होती है। इसी से बद्ध जीव तब वासना के अनुरूप एक जड़ देह प्राप्त करता है। बाद को उसी देह में वास करके कर्मानुयायी उस देह का नाश होने पर अन्य देह प्राप्त करता है। इस प्रकार विभिन्न वासनाहत जीव विभिन्न योनियों में भ्रमण करता रहता है। शास्त्र में लिखा है -

जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षविंशतिः।
कृमयो रुद्रसंख्यकाः पक्षिणां दशलक्षकम्॥
त्रिंशल्लक्षाणि पशवश्चतुर्लक्षाणि मानवाः।

यह कोई न समझे कि यह केवल कोरी कल्पना मात्र है। शास्त्र श्रीभगवान ही की वाणी है। समाधि द्वारा प्राप्त ज्ञान से ज्ञानी भक्तगण ही श्रीभगवान के आदेशों को तदनुग जीवों के लिए लिख जाते हैं। हम आज, उक्त वाक्य का समर्थन करनेवाली एक घटना यहाँ पर लिखते हैं।

राज-राज कुबेर के नलकूवर और मणिग्रीव नामक दो पुत्र थे। वे पार्वतीपति शिव के शिष्य थे। किसी समय मदिरामद में उन्मत्त होकर असत्प्रवृत्ति वश स्त्रियों के साथ निर्लज्ज नग्न भाव से जलक्रीड़ा कर रहे थे। इसी समय देवर्षि नारद वैकुण्ठ जाते हुए उसी मार्ग से उसी स्थान पर उपस्थित हुए। उस समय स्त्रियां ने जगन्मान्य श्रीनारद को देखकर तुरन्त जल से निकलकर कपड़े पहनकर उनको

सम्मान किया। किन्तु मदोन्मत्त दोनों यक्षों ने देवर्षि की उपेक्षा की। सब प्राणियों पर दया रखनेवाले मुनिवर को उन दोनों भाइयों की वह अवस्था देखकर बड़ा दुःख हुआ। वह कहने लगे - नित्य भगवान का दास जब जन्म, ऐश्वर्य और लक्ष्मी के मद से मत्त होकर श्रीभगवान की सेवा को छोड़ देता है। तब आत्माराम न होकर वह सियार और कुत्तों का भोजन जो यह जड़ देह है, उसी में बुद्धि करता है, जड़ देह को अजर-अमर सोचकर, अजितात्मा होकर उस देह के पुष्टि-साधन में निर्दय भाव से अन्य जीवों के प्राण नष्ट करता है। हाय, हाय! वह उस समय यह नहीं जानता कि जिस देह के लिए वह इतना कर रहा है, वह चाहे देव देह हो और चाहे नर-देह, अन्त को कृमि, कीट, भस्म या विष्ठा के रूप में परिणत होता है (गाड़ने से कीड़े हो जाते हैं, जलाने से भस्म हो जाता है और किसी जीव के भक्षण कर लेने पर विष्ठा हो जाता है)। इस प्रकार जो मदान्ध हो रहे हैं, उनके लिए दरिद्रता ही महौषध है। कारण, जो व्यक्ति स्वयं कष्ट पाता है, वह दूसरे के कष्ट को समझ सकता है। और सबदा अभाव बना रहने के कारण उसे जो क्लेश होता है उसके कारण किसी तरह का अहंकार उसके मन में नहीं आ सकता। इस प्रकार का निरभिमान पुरुष ही साधुओं की कृपा प्राप्त करके श्रीभगवान को पा सकता है। अतएव दया करने के योग्य ये दोनों जीव इस समय मेरे सामने हैं।

इतना कहकर सब जीवों के बन्धु नारदजी ने उन दोनों यक्षों को मनुष्यलोक में वृक्षयोनि में उत्पन्न होने का शाप दिया। परम कारुणिक ऋषि ने तब कहा—मेरी कृपा से तुम्हें पूर्व स्मृति बनी रहेगी और सब जीवों के प्रभु श्रीभगवान् तुम्हें अपने हाथ से पाप और शाप से मुक्त करेंगे।

पाठकवर्ग, अब देखिए, ये दोनों वृक्ष कहाँ हैं? आज चलिए हम साधुमुख से श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के दशम-अध्याय का पाठ सुनें। तब हम सुनेंगे और साधुकृपा से दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर देखेंगे कि एक दिन माता यशोदा स्नेहवश शिशु रूपी भगवान के ऐश्वर्य को भूलकर साधारण माता की तरह उस शिशु के व्यवहार से क्रुद्ध हो उठी थीं और उस बालक अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र को रस्सी से बाँधने की बड़ी चेष्टा की थी—बड़ा प्रयास किया था। किन्तु माता की सभी चेष्टा व्यर्थ हुई। कारण, वह कोई सामान्य बालक तो थे नहीं, वह तो साक्षात् त्रिभुवनपति थे। बहुत कुछ चेष्टा करने के बाद जब माता यशोदा बाँधने में असमर्थ होकर खीझ उठीं, तब माता के दुःख-कष्ट से दुःखित होकर भक्तवत्सल भगवान ने स्वयं बँधना स्वीकार कर लिया। शिशु को उसी बन्धनावस्था में छोड़कर नन्दरानी दूसरे किसी काम को करने के लिए वहाँ से चली गईं, तब दामोदर भगवान ने अपने भक्त नारद के कथन को सत्य करने के विचार से द्वार पर पास ही अवस्थित यमलार्जुन वृक्षों के बीच में वह ओखली, जिसमें यशोदा ने उन्हें बाँध दिया था डालकर जोर से जो खींचा तो वे दोनों वृक्ष तुरन्त ही जड़ से उखड़कर पृथ्वी पर गिर पड़े जिससे बड़ा भारी शब्द हुआ।

वृक्षों की जड़ से दिव्य रूपधारी वे दोनों यक्ष, जो नारद के शाप से अबतक वृक्षयोनि में थे, निकलकर भगवान के सम्मुख उपस्थित हुए। वे शिशु-रूप धारी अपने प्रभु भगवान की स्तुति करने लगे। उन्होंने अपने अपराध को दूर करके श्रीभगवान् की सेवा के लिए उत्कण्ठा जताई। तब श्रीभगवान् ने उन दोनों पर सन्तुष्ट होकर कहा - मैं तुम्हारा सारा हाल जानता हूँ। मद पीकर मतवाले होने के कारण तुम ने अनुचित कार्य किया था इसी से देवर्षि नारद ने तुमको वृक्षयोनि प्राप्त करने का शाप दिया था। तुम श्रीनारद के इस व्यवहार को अन्याय या अनुचित न समझना। कारण, साधु लोग समदर्शी और सूर्य के समान होते हैं। उनका कोई शत्रु या मित्र नहीं होता। सूर्योदय होने पर जैसे आँखों के आगे का अन्धकार दूर चला जाता है, वैसे ही मेरे अनन्य-भक्तों का दर्शन होने पर जीव का संसार-बन्धन छूट जाता है। तुम बड़े ही भाग्यवान् हो। तुम अपने स्थान को जाओ और मुझमें भक्ति रखकर अपने को कृतार्थ बनाओ। तब बन्धन से मुक्त वे दोनों यक्ष श्रीभगवान् की बार बार प्रदक्षिणा और भक्ति के साथ प्रणाम करके अपने लोक को चले गए।

इसी से शास्त्र कहता है कि श्रीभगवान् को भूलने से ही जीव संसार में जन्म लेता और मरता है। दुर्भाग्यवश साधुओं के चरण में दोषी होने से वह जीव निकृष्ट वृक्ष और पत्थर आदि की योनियों में जन्म लेता है। कारण, साधुजन भगवान् के सिवा अन्य कुछ भी नहीं जानते और भगवान् भी भक्त-भिन्न किसी को नहीं जानते। इसी से भक्तगण भगवान् को अपने हृदय में आबद्ध रखते हैं और श्रीभगवान् भी उनके हृदय में सर्वदा विराजमान रहते हैं। अतएव हम भ्रम से भी यथार्थ साधु के चरणों में अपने को अपराधी न बनावें यह ख़याल हमें रहना चाहिये। ऐसा अगर हम कर सकेंगे तो भव-नदी के उस पार जाने के लिए एकमात्र अवलम्बन, नौका के सदृश कृष्ण-चरणों को छोड़कर हमारी अपने उद्धार की सभी चेष्टाएँ वैसे ही व्यर्थ होंगी जैसे तैरना न जानने वाले आदमी का नाव को छोड़कर योंही नदी-पार जाने की चेष्टा व्यर्थ होती है। यह बात हमें अच्छी तरह स्मरण रखनी चाहिए।

स्वप्न है या जागरण?

["तती का खेल" लेख से संयुक्त]

कामिनी—सखी! वह सुन

जीव जाग, जीव जाग, गोराचाँद कहे।
माया-पिशाची गोद में कब तक सोवे ॥

कालिदास की पत्नी, सखी अर्थात् मनोमोहिनी की माता कामिनी ने बिछौने पर उठ बैठकर अपनी कन्या से ऊपर लिखे वाक्य कहे।

कन्या ने कहा—कहाँ, मा, मुझे तो कुछ नहीं सुन पड़ता! तुम यह क्या बक रही हो?

कामिनी—वह सुन—

भजने को कहकर यहाँ आया जग के बीच।
फँसा अविद्या में उसे भूल गया तू नीच ॥

कन्या—मा! तुम्हें क्या हो गया है? तुम यह क्या सुन रही हो?

कामिनी—वह आ रहा है—वह आ रहा है! कैसा अद्भुत वेश है! कैसा अद्भुत गीत है! सुनती है?

"तुझको लेने को लिया मैंने यह अवतार।"

कालीदास तुम्हारा अपना बन्धु नहीं है, सखी तुम्हारी कोई नहीं है—

"कौन बन्धु तेरा भला मेरे बिना विचार ॥"

कन्या—मा! तुम्हें यह क्या रोग हो गया?

कामिनी—सखी! वह इसकी दवा है। तू नहीं देख पाती क्या?

औषध लाया हूँ और माया-नाशन हेत।
महामन्त्र हरिनाम ले माँग और चित चेत ॥

यह कहकर कामिनी मन्त्रमुग्ध की तरह अपने पलँग पर लेट गई। कन्या भय और विस्मय के मारे और कुछ न कहकर सिटपिटाकर चुपचाप बैठी रही।

पूर्व ओर की खिड़की से सूर्यदेव की किरणें आकर कामिनी के मुख पर पड़ रही थीं। कन्या उठकर माता की वह छवि देखती और न जाने क्या-क्या सोचती थी। इसी समय नीचे किसी ने मधुर स्वर में गाना शुरू किया—

नदिया गोद्रुम में नित्यानन्द महाजन।
लगाई है नाम-हाट जीव के कारण ॥

यह गान सुनकर कामिनी पलँग के ऊपर से एक दम उछल पड़ी। उसने खिड़की से झाँककर देखा, वही संन्यासी खड़ा गा रहा था।

इधर संन्यासी महाशय ने फिर गाना शुरू किया—

श्रद्धावाले जन हो—श्रद्धावाले जन हो!
प्रभु की कृपा से भाई माँगूँ यही भिक्षा।
बोलो कृष्ण, भजो कृष्ण, करो कृष्ण-शिक्षा ॥

"ठीक वही तो है"—इतना कहकर कामिनी दौड़ती हुई सीढ़ियों से नीचे उतर गई। पीछे पीछे कन्या भी

भौंचकी सी मा के पीछे चली। उधर संन्यासी ने दो पग आगे बढ़कर घर के भीतर प्रवेश करके फिर गाना शुरू किया—

अपराध-शून्य होके लेना कृष्ण-नाम।
(क्योंकि)' कृष्ण माता, कृष्ण पिता, कृष्ण धन-प्राण ॥

यह क्या संसार (घर-गिरस्ती) आप करती हैं? किसे इस घर का मालिक समझ रक्खा था? कृष्ण ही इस संसार के स्वामी हैं। सुतराम्—

कृष्ण का संसार करो छोड़ अनाचार।
जीव-दया, कृष्ण-नाम सर्व-धर्म-सार ॥

तुरन्त निद्रा से उठी हुई कामिनी नीचे जाकर किंवाड़े की आड़ में खड़ी होकर संन्यासी का गान और बातें सुन रही थी और घूँघट के भीतर से संन्यासी को सिर से पैर तक निरख रही थी। बाहर कन्या मनोमोहिनी खड़ी थी। वह आँखें फाड़ फाड़कर संन्यासी का मुख निहारती जाती थी। संन्यासी का गाना थमा। गृहिणी ने कन्या से क्षीण स्वर में धीरे से कहा—मन्नी, महाराज के बैठने के लिए आसन दे। ऊपर से कुछ भिक्षा ला दे। कन्या आसन लाने को ऊपर गई। इधर गृहिणी दौड़ आकर संन्यासी के पैरों पर सिर रखकर लोटती हुई रो रोकर कहने लगी—महाराज! आप कौन हैं? मेरे स्वामी को कहाँ छोड़ आए? आप जो माँगें, वही दूँगी, मेरे स्वामी को ला दीजिए।

संन्यासी ने खड़े होकर ऊँचे स्वर से कहना शुरू किया—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

कामिनी ने नित्य ही "हरे कृष्ण जय जय गौर। भिक्षा दो मा। तुम्हारा भला होगा।" इस प्रकार कितने ही साधों से, कितने ही मुखों से, कितने ही गेरुआ वस्त्र पहने या माला तिलक धारण किए लोगों के निकट यह "हरे कृष्ण" का उच्चारण सुना था। किन्तु उनका वह उच्चारण तो आज की तरह उसे श्रोत्र-मनो भिराम नहीं मालूम पड़ा। बल्कि उलटे वह तीखी कसैली दवा की तरह विस्वाद और अरुचिजनक ही जान पड़ा। आज यह क्या हुआ? मुहूर्त भर में ही पृथ्वी पर लोट रही उद्वेलिता कामिनी स्थिर होकर उठ बैठी और बहिर्जगत के सभी श्रोतव्य विषयों को दूर हटाकर निविष्ट चित्त से कानों के द्वारा वह अमृत की वर्षा करनेवाला हरि नाम पान करने लगी।

मन्नी आसन ले आकर खड़ी होकर माता के उस अभूत-पूर्व भावावेश को देखने लगी। जब उसने माता को कुछ स्वस्थ देखा, तब बरामदे में वहीं आसन बिछा दिया और कहा—महाराज! बैठ जाइए, मैं भिक्षा लिये आती हूँ। उसने सोचा संन्यासी को शीघ्र भिक्षा देकर विदा कर देने से ही उसकी मा प्रकृतिस्थ हो जायगी। सुतराम् संन्यासी को भिक्षा देकर बिदा कर देना ही ठीक है।

मन्नी ऊपर चली गई। कामिनी धरती पर बैठकर पैर के नाखून से धरती पर कुछ रेखाएँ खींचने लगी। संन्यासी ठाकुर आसन पर बैठकर फिर गाने लगे—

मायावश जाते बहे, गोते बहु विधि खाहिं।
कृष्णदास विश्वास यह करो, फेरि दुख नाहिं ॥

मा! कालीदास कौन है? आपके घर में कालीदास कोई नहीं है, न पहले ही था। कृष्णदास है। जिसे तुम कालीदास जानती थीं, वह इस समय कहता है "मेरा नाम कृष्णदास है, मैं काली का दास नहीं हूँ। काली जिनकी दासी हैं, मैं उन्हीं प्रभु का दास हूँ। "कालीदास" "कामिनी" को अपनी स्त्री जानता है। किन्तु कृष्णदास कामिनी को देखकर कहता है—

काम कामिनी का नहीं कुछ भी मेरे धाम।
मालिक उसके कृष्ण हैं यादव आठों याम ॥

संन्यासी की बातें कामिनी ने सुनीं; किन्तु वह कुछ समझ नहीं सकी। एक तो विगत रात्रि को वह भीषण स्वप्न देखा था, उस पर नींद खुलते ही प्रत्यक्ष ही वह स्वप्नदृष्ट संन्यासी सामने आकर उपस्थित हो गया। इससे वह अल्पबुद्धि नारी, जो अपने को अब तक कालीदास की स्त्री कामिनी समझती थी, एकदम भौंचकी सी रह गई। और ये सब नई-नई बातें सुनकर सोचने लगी—"यह स्वप्न है या जागरण?"

महाराज परीक्षित्

द्रो णाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने, दुर्योधन के अधिकतर प्रिय होने की कल्पना करके, सो रहे द्रौपदी के पाँचों पुत्रों की हत्या करके उनके कटे हुए सिर ले जाकर दुर्योधन को भेंट किए थे। द्रौपदी को शोक से व्याकुल देखकर अर्जुन ने प्रतिज्ञा की कि वह पुत्रों की हत्या करनेवाले का सिर अवश्य ही लाकर द्रौपदी को उपहार देंगे। किन्तु गुरु-पुत्र और ब्रह्मबन्धु (ब्राह्मणाधम) अश्वत्थामा को जान से न मारकर श्रीकृष्ण के अभिप्राय के अनुसार दूसरे ही प्रकार से अर्जुन ने अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया। शास्त्र में आततायी ब्राह्मण के लिए वध-तुल्य कई दण्डों की व्यवस्था दी गई है। यथा सिर मूँड देना, धन छीन लेना, निर्वासन आदि। अर्जुन ने खड्ग के द्वारा अश्वत्थामा का सिर चीर कर उसके भीतर से महामूल्य मणि निकाल ली और कुछ केश काटकर उन्हें छोड़ दिया। उसके बाद क्रुद्ध अश्वत्थामा ने बदला लेने के लिए अर्जुन की बहू अर्थात् अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा के गर्भ को नष्ट करना चाहा और इसके लिए ब्रह्मास्त्र छोड़ा। उत्तरा के गर्भ में पाण्डवकुलतिलक, कलियुग का दमन करनेवाले महाप्रतापी परीक्षित महाराज थे। किन्तु भगवान कृष्णचन्द्र ने गर्भ में स्थित पाण्डु के वंशधर प्रतापी परीक्षित् महाराज की रक्षा की। दस महीने की अवस्थावाले गर्भस्थ शिशु ने अंगुष्ठपरिमित पुरुष विष्णु को गर्भ में देखकर "यह कौन है?" ऐसा विचार किया। वह बालक माता के गर्भ में जिन परमपुरुष का दर्शन किया था, उन्हीं का अनुमान करते-करते संसार में जितने आदमी हैं, सभी की "क्या यह वही पुरुष है?" इस प्रकार परीक्षा करता था, इसीलिए परीक्षित् इस नाम से प्रसिद्ध हुआ।

स एष लोके विख्यातः परीक्षिदिति यत्प्रभुः।
गर्भे दृष्टमनुध्यायन्परीक्षेत नरेष्विह॥
(भागवत १। १२। ३०)

पृथ्वी पर कलियुग का प्रवेश होते जानकर युधिष्ठिर महाराज ने अपने पौत्र परीक्षित् को राज्यभार सौंपकर स्वयं महाप्रस्थान किया। परीक्षित् महाराज ने कलियुग का निग्रह करके द्यूतक्रीड़ा, मद्यादि पान, अवैध स्त्रीसंग अर्थात् व्यभिचार या स्त्रीसंग में आसक्ति, हिंसा और सुवर्ण इन पाँच स्थानों में कलियुग को रहने की आज्ञा दे दी।

एक दिन महाराज परीक्षित् शिकार खेलने गए। वहाँ बहुत ही थके और प्यासे होने पर वह पानी की तलाश में शमीक मुनि के आश्रम में उपस्थित हुए। मुनि उस समय समाधिस्थ थे। राजा ने इसका कुछ ख़याल न करके उनसे पीने को पानी माँगा। पर समाधिस्थ मुनि के निकट कोई उत्तर या अभ्यर्थना न पाकर राजा को क्रोध चढ़ आया। उन्होंने धनुष की नोक से वहीं मरा पड़ा हुआ साँप उठाकर मुनि के गले में डाल दिया और आप वहाँ से चल दिए। मुनि के पुत्र शृंगीऋषि बालकों के साथ खेल रहे थे। उन्हें जब पिता के इस प्रकार के अपमान का समाचार मिला, तब परीक्षित् को शाप देते हुए उन्होंने कहा—राजा को आज से सातवें दिन तक्षक नाग आकर डसेगा।

इधर महाराज परीक्षित शमीक मुनि का अपमान करने के बाद जब राजमहल को लौटकर आए, तब उन्हें अपने कार्य के लिए बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह इस प्रकार आर्त प्रार्थना करने लगे कि शीघ्र ही मेरे इस कुकर्म का प्रायश्चित होना उचित है। इसी समय शमीक मुनि के एक शिष्य ने राजभवन में आकर परीक्षित को मुनि पुत्र शृंगीऋषि के शाप की ख़बर दी। महाराज उदास या दुःखित होने के बदले अपनी विषयासक्ति के परित्याग का समय-सुयोग उपस्थित समझकर आन्तरिक सन्तोष को प्राप्त हुए। महाराज पहले ही इस पृथ्वी और स्वर्ग आदि लोकों की नश्वरता हृदयंगम कर चुके थे। इस समय यह जानकर कि इस जगत् को छोड़ने में और केवल सात ही दिन बाक़ी हैं, उन्होंने गंगातट पर प्रायोपवेशन करने का संकल्प किया।

अथो विहायेममुमुञ्च लोकं
विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात्।
कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान
उपाविशत्प्रायममर्त्यनद्याम्॥
(भागवत १। १९। ५)

महाराज परीक्षित गंगातट पर प्रायोपवेशन के लिए

निश्चय करके समस्त आसक्ति परित्याग पूर्वक एकाग्रचित्त से श्रीकृष्ण के चरणकमलों का ध्यान करने लगे।

इति व्यवच्छिद्य स पाण्डवेयः
प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्याम् ।
दध्यौ मुकुन्दाङ्घ्रिमनन्यभावो
मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसंगः ॥

(भागवत १ । १९ । ७)

महाराज परीक्षित के इस प्रकार के अलौकिक विचार को सुनकर अनेक देशों से ऋषियों सहित अनेकों महानुभाव मुनि ऋषिगण उस प्रायोपवेशन-क्षेत्र में आकर उपस्थित होने लगे। अत्रि, वशिष्ठ, च्यवन, शरद्वान, अरिष्टनेमि भृगु, अंगिरा, पराशर, गाधितनय विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, सुबाहु, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिषेण, भरद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, कुम्भयोनि, अगस्त्य, श्रीद्वैपायन वेदव्यास, श्रीनारद एवं अन्यान्य, देवर्षि महर्षि, राजर्षि, कारुर्षि आदि महामहिमगण वहाँ आकर उपस्थित हुए। महाराज परीक्षित ने उनके आगे प्रणत हो कर हाथ जोड़कर यह प्रश्न किया कि इस तरह का प्रायोपवेशन कर्तव्य है या अकर्त्तव्य ? महाराज ने "ततेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो" इस श्लोक के आदर्श रूप से द्विजशाप की किसी प्रकार की प्रतिहिंसा या उसके निवारण के लिए राजोचित शासनादि का प्रयोग न करके उसे "भगवान की अनुकंपा" मानकर शिरोधार्य किया और इस प्रकार की विपत्ति पड़ना गृहव्रत व्यक्तियों के मंगल का कारण है, यह जानकर "तृणादपि सुनीच", "तरोरपि सहिष्णु", "अमानी", "मानद" के मूर्तिमान आदर्शरूप में समागत मुनियों से उन्होंने एक मात्र हरि कथा कीर्तन करने के लिए कहा -

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा
गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा
दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥

(भागवत् १ । १९ । १५)

अर्थात् हे ब्राह्मणगण ! आप लोग और गंगादेवी सम्प्रति मुझे भगवान में अर्पितचित्त और शरणागत जानें। इस समय ब्राह्मणपुत्र का भेजा हुआ या उसके द्वारा प्रेरित तक्षक या कुहक, कोई भी आकर डसे, कुछ परवा नहीं; आप लोग केवल हरि-कथा कीर्तन करें।

फिर कहा—

पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते
रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु ।
महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं
मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः ॥

(भा० १ । १९ । १६)

और यदि कभी जन्म ग्रहण करना पड़े तो मैं यही चाहता हूँ कि मुझे प्रत्येक जन्म में उन अनन्तगुणसम्पन्न भगवान् कृष्णचन्द्र में रति, उनके चरणाश्रित महानुभाव साधुजनों का संग और सब जीवों की मैत्री प्राप्त हो। यही मेरी प्रार्थना है। ब्राह्मणों के चरणों में मैं प्रणाम करता हूँ।

महाराज परीक्षित अपने पुत्र जनमेजय को राज्य-भार सौंपकर भागीरथी के दक्षिण तट पर प्राचीमूल कुश बिछा कर उनके ऊपर उत्तराभिमुख होकर बैठे।

इति स्म राजाध्यवसाययुक्तः
प्राचीनमूलेषु कुशेषु धीरः ।
उदङ्मुखो दक्षिणकूल आस्ते
समुद्रपत्न्याः स्वसुतन्यस्तभारः ॥

(भा० १।१९।१७)

महाराज परीक्षित के इस प्रकार प्रायोपवेशन को देखकर देवगण स्वर्ग से फूल बरसाने और बार-बार दुन्दुभी बजाने लगे। महर्षिगण 'साधु' 'साधु' कहने लगे। इस समय महाराज परीक्षित केवल मात्र साधुओं के मुख से विष्णु-गाथा श्रवण करने के लिए बारम्बार साधुओं की वन्दना करने लगे।

परीक्षित महाराज ने वहाँ एकत्र हुए महर्षि, ब्रह्मर्षि, मुनि आदि से कहा—मैं अत्यन्त विश्वास के साथ एक विषय आप लोगों से पूछता हूँ। सभी अवस्थाओं में, विशेष कर मुमूर्षु अवस्था में मनुष्य का पापरहित कर्तव्य क्या है, यह विशेष विचार-पूर्वक आप लोग निर्णय करें। राजा के इस प्रश्न के उत्तर में मुनि ऋषिगण के बीच विभिन्न व्यक्तियों ने विभिन्न प्रकार का मतभेद करके किसी ने योग करने की, किसी ने योगसाधन करने की, किसी ने

तपस्या, व्रत इत्यादि करने की नानारूप व्यवस्थाएँ देना शुरु किया।

इसी समय परमहंस कुलमुकुटमौलि, षोडशवर्षीय, अमरोत्तम-कान्तिसम्पन्न दिगम्बर श्रीशुकदेव गोस्वामी प्रभु हरि रस-मदिरा पान से प्रमत्त होकर उस स्थान में कृपापूर्वक पहुँचे। उनके आगमन से सकल मुनि-ऋषियों का परस्पर विवदमान मत तथा शास्त्र समूह का आपात-विरोध सभी प्रशमित और समन्वय को प्राप्त हुआ। परीक्षित महाराज ने सेवोन्मुख होकर प्रणतिपूर्वक परिप्रश्न किया —

अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम्।
पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा॥

अर्थात् आप तो योगियों के भी परमगुरु हैं, अतएव मैं आपसे पूछता हूँ। आपका अज्ञात कुछ भी नहीं है। इस संसार में सम्यक् सिद्धि लाभ का उपाय क्या है? जिन मनुष्यों की मृत्यु निकटवर्ती है, उन्हें कौन कार्य सर्वथा करना एकान्त कर्तव्य है?

श्रीव्यास शिष्य श्रीशुकदेव गोस्वामी प्रभु ने परीक्षित् के प्रायोपवेशन क्षेत्र में उक्त प्रश्न का जो प्रत्युत्तर दिया था, उसी ने शुक परीक्षित भागवत सम्वाद के रूप में निखिल स्थानों के निखिल जीवों की निखिल युगों की सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान कर दिया है —

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः।
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्॥

❀ ❀ ❀

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्॥

❀ ❀ ❀

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिसेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥
इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम्॥
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥
तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान्।
यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती॥
एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

❀ ❀ ❀

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्॥

❀ ❀ ❀

तस्मात्सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम्॥

❀ ❀ ❀

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां
कथामृतं श्रवणपुटेषु संभृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥
एवमेतन्निगदितं पृष्टवान् यद्भवान्मम।
नृणां यन्म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम्॥

श्रीप्रभुपाद के भाषण का सारांश



गत संख्या में हमने लिखा था कि श्रीप्रभुपाद ने मुज़फ़्फ़रनगर की सभा में जो भाषण दिया था, उसका सारांश दिया जायगा, सो यहाँ पर दिया जाता है।

श्रीप्रभुपाद ने कहा — जगत में हम लोगों में से विभिन्न लोगों को विभिन्न प्रकार से विभिन्न प्रकार के कौतूहल चरितार्थ करने का, इन्द्रिय चरितार्थ करने का आग्रह, अभिलाषा और प्रवणता है, यह सत्य है; किन्तु एक विषय में हम सभी Vitally interested हैं। वह है निष्कपट हरिभजन। अन्यान्य विषय हमारे आपात प्रयोजन को पूर्ण कर सकते हैं; मगर हरिभजन ही हमारी नित्य सत्ता, नित्य ज्ञान और नित्य आनन्द के परि-

पूर्ण प्रयोजन को निःसंशयित रूप में सिद्ध करता है। कुछ आगन्तुक और आपात प्रयोजन के तुलनामय चिन्ता स्रोतों ने हमें नित्य प्रयोजन के विचार से आवृत और विक्षिप्त कर दिया है। यदि केवल वर्तमान प्रयोजन की जिगीषिका ही हमारे मनोयोग को आकृष्ट करे, तो अनेक प्रकृत नित्य प्रयोजनों के विषयों के प्रति हमारी उदासीनता और उससे उत्पन्न दुःख तथा सुख के भोग में हमको अपने जन्म-जन्मान्तर बिताने पड़ेंगे। हम सर्वदा अपेक्षायुक्त हैं। दूसरे की सहायता के बिना हम घड़ी भर भी अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकते। हमारी इन्द्रियों की वृत्तियाँ सर्वदा स्वैरिणी स्त्री की तरह रूप, रस आदि विषयों की अपेक्षा में—चक्षु, कर्ण आदि द्वारों पर अपेक्षा करती हैं। जब ये सब इन्द्रिय वृत्तियाँ विषय वरण करके बारंबार उनसे वञ्चित होती रहती हैं तब "वृद्धवेश्या तपस्विनी" की तरह वैराग्य की भिक्षा चाहती हुई मोक्ष की कामना करती हैं किन्तु भोग और मोक्ष की कामना रखनेवाली इन्द्रिय वृत्तियाँ किसी तरह से शान्ति नहीं प्राप्त कर सकतीं। मोक्ष-कामना पदार्थ जो है, वह कपटता या चतुरम्मन्यता के साथ भोग-कामना के सिवा और कुछ भी नहीं। भक्ति के मार्ग में अपेक्षा किए बिना—एकमात्र अद्वय ज्ञान कृष्ण को विषय या कान्तरूप से वरण किए बिना इन्द्रिय-वृत्ति की पूर्ण सार्थकता और पूर्ण पिपासा सिद्ध नहीं हो सकती।

कर्म और ज्ञान का मार्ग जड़-भोग मिश्र विचार से संश्लिष्ट होने के कारण अपस्वार्थपरता परिवर्द्धन का मार्ग है। सौभाग्यवश इन दोनों कुकर्मों में विपथगामी न होने पर ही हम यथार्थ सच्चे साधु की कृपा से भक्तिपथ के पथिक होते हैं। अतैतव श्रीगुरुदेव ही हम लोगों की उस प्राणनाशक कर्म ज्ञान आदि के मार्ग से रक्षा कर सकते हैं। कर्म और ज्ञान की बातें अपस्वार्थपरता का अभियान (चढ़ाई) हैं। भक्त कहते हैं—"हमारा सच्चा स्वार्थ क्या है, सो हम पहचान लेंगे।" भक्त भागवत और ग्रन्थ भागवत हमारे प्रकृत स्वार्थ की—व्यष्टि और समष्टि के स्वार्थ का—जो स्वार्थ निःस्वार्थ और परार्थ को अपनी गोद में लिए हुए है, ऐसे विमल स्वार्थ का प्रचार करते हैं। इसी मुज़फ़्फ़रनगर ज़िले के बीच चार महकमों में अन्यतम जनसत् महकमे में एक दिन श्रीमद्भागवत् का अधिवेशन हुआ था। सदर से श्रीमद्भागवत के अधिवेशन का स्थान केवल १८ मील है। हम इस स्थान का दर्शन करने के लिए आए हैं। श्रीमद्भागवतों की कृपा होने पर इस स्थान का दर्शन करके हम धन्य-अतिधन्य होंगे। जिस स्थान में महाराज परीक्षित अपना राजसिंहासन तथा सब कुछ परित्याग करके एकाग्र होकर आए थे, जिस स्थान में जीवन की क्षणभंगुरता, अवश्यम्भावी अनित्यता का विषय जानकर महाभागवत-मुख निःसृत हरि कथा के श्रवण में जीवन की अवशिष्ट घड़ियाँ बिताना ही मानव-जीवन की सर्वोत्तम सार्थकता है इस आदर्श को उन्होंने स्थापित किया था, जिस स्थान पर परम ज्ञान की बात परम वास्तव सत्य की बात उद्घाटित हुई थी, हम सौभाग्य-वश उसी स्थान में श्रीहरि कथा का कीर्तन श्रवण कर सकेंगे। उस जगह पर कितने ही मुनि ऋषि, धर्मोपदेशक, शास्त्रकर्ता, ब्रह्मज्ञ, पण्डित, योगी, ज्ञानी, कर्मी, तपस्वी और व्रतधारी उपस्थित हुए थे। व्यास के शिष्य महाभागवत वैरस्य शुकदेव ही एकमात्र महा होपदेशक कीर्तनकारी रूप से वृत हुए थे। कारण, उन्होंने श्रौतपरम्परा से भगवद्भक्ति की कथा श्रवण की थी। भागवत श्रवण किया था उस भागवत में अप्राकृत—अधोक्षज राज्य का सन्देश है। श्रीगुरुदेव गोस्वामी ने कहा था—भोग और मोक्ष कभी प्राणिजगत् की समस्या के समाधान का मूलमन्त्र नहीं हो सकता। भोग या मोक्ष की अभिसन्धि से रहित व्यक्त कैतव भागवत-धर्म में ही भक्तिमार्ग में ही हम आत्मा का परम लाभ उपार्जन कर सकते हैं। सकल समस्याओं के समाधान के रहस्य प्राप्त हो सकते हैं। आत्महत्या की प्रणाली का मार्ग निर्भेद ज्ञान की बात छोड़कर हम भक्ति की बातें सुनने में अपने कानों को लगावेंगे। कर्म और ज्ञान के यूपकाष्ठ में अस्मन्मेधा प्रवृत्ति हरिभक्ति (?) को बलि (?) देने की चेष्टा बहिर्मुखी चिन्ताधारा की एक नैसर्गिक प्रवणता के रूप में जगत में परिलक्षित होती है।

हम चाहते हैं वास्तव सत्य—सौ में सौ अंश अंश नहीं, पूर्णतम समग्र वास्तव सत्य। हम वास्तव वस्तु का पूर्णतम प्राकट्य चाहते हैं, कर्म और ज्ञान रूपी राहु के द्वारा ग्रसे हुए किसी भी सत्याभास या सत्याभाव को हम नहीं चाहते।

सबसे पहले अपने स्वरूप का निर्णय आवश्यक है, नहीं तो मनोधर्मियों की शत सहस्र कल्पना और मतवाद हमें किसी भी मंगल की सीमा में नहीं पहुँचा सकेगा।

जब इन सब मनोधर्मों का "अलातचक्र" स्तब्ध होगा, तभी यह प्रश्न उठेगा —"मैं कौन हूँ ?" मनोधर्मी समाज जिस "मैं कौन हूँ ?" इस प्रश्न की मीमांसा करने जायगा, उसमें नास्तिक्य संशय सगुण निर्गुण आदि परस्पर विवदमान मतव्यूह की ही केवल सृष्टि होगी। अभिज्ञतावाद की शेष सीमा और चरम मीमांसा निर्विशेष गति या मायावाद तक ही है। किन्तु चित् जगत का Sexological question उपस्थित होने पर जीव ब्रह्मवाद की धारणा पूर्णता का साधन नहीं कर सकेगी ऐसा जाना जाता है। विषय और आश्रय के विचार बिना वस्तु का पूर्णत्व साधित नहीं हो सकता। Old Testament में भी "It God की धारणा की प्रतिध्वनि पाई जाती है। New Testament में सविशेष विचार के आंशिक भाव की प्रतिध्वनिरूप "He God" एवं श्रीभागवत या श्रीगीता में सविशेष पुरुषोत्तमवाद का विचार देख पड़ता है। श्रीमद्भागवत में पुरुषोत्तमवाद का पूर्णतम विचार अर्थात् स्वराट् लीला पुरुषोत्तम का विषय गाया गया है। वेदान्त-पारिजात सौरभ कौस्तुभ में श्रीगौरजनानुकम्पित केशव काश्मीरी ने त्रिविध लिंग पर्याय की आलोचना की है।

अप्राकृत शब्दब्रह्म ही इन सब विचारों को पूर्ण भाव से प्रकट करता है। अप्राकृत शब्दब्रह्म ही "He God", "She God" और "It God" की पूर्ण मीमांसा और चित्समन्वय दिखलाता है।

अधोक्षज शब्दब्रह्म ब्राह्मी खरोष्ठी, खान्की पुष्करसादि आदि लेख-प्रणालीजात आभिधानिक शब्दों से संपूर्ण स्वतन्त्र है। अप्राकृत शब्द के विशेष नाम, रूप गुण, लीला और परिकर-वैशिष्ट्य है। अप्राकृत शब्द कानों के बिना भी अन्य ४ इन्द्रियों (चक्षु, नासा, जिह्वा और त्वचा) को नियमित करता रहता है प्राकृत शब्द को चक्षु, नासिका, जिह्वा और त्वक् इन्द्रिय माप ले सकती हैं, परीक्षा कर सकती हैं; किन्तु अप्राकृत शब्द इन सब इन्द्रियों की परीक्षा का विषय होना तो दूर रहे, इस शब्द-ब्रह्म के द्वारा नियमित और संयमित हुआ करता है। अप्राकृत शब्द किसी भी प्रकार प्रतिद्वन्द्विता का पात्र नहीं है? वह अप्रतिद्वन्द्वी अमानोदूर्ध्व वैशिष्ट्ययुक्त, सर्वशक्तिमान, एक साथ ही सकल वृत्तियों का आधार, सर्वकल्याण निकेतन, सर्वनियामक और सर्वप्रभु है। वह हमारे मस्तिष्क को, बुद्धि वृत्ति को, हमारी पूर्व अभिज्ञता को, भ्रान्त विचार को, भ्रमपूर्ण नैसर्गिक चिन्ताधारा को मनोधर्मोत्थ प्रतिद्वन्द्विता की प्रबलता को नियमित करेगा। शब्दास्त्र जागतिक अभिमान की संपूर्ण विभीषिका को छिन्न विच्छिन्न करके वहाँ निखिल कल्याणलक्ष्मी के स्वाराज्य की स्थापना करेगा—अप्राकृत वास्तव नाम रूप, गुण लीला, परिकर वैशिष्ट्ययुक्त शब्दावतार का आसन प्रतिष्ठित करेगा।

अभिज्ञतावाद की अकर्मण्यता की अभिज्ञता को मानव-समाज बारंबार प्राप्त करके भी अभिज्ञतावाद के यूपकाष्ठ में ही अपने प्राण देने के लिए कृत संकल्प देख पड़ता है। इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या होगा ? तीस वर्ष की अभिज्ञता पचास वर्ष की अभिज्ञता के निकट पराजित है। पचास वर्ष की अभिज्ञता शतवर्ष की अभिज्ञता के निकट संकीर्ण और दोषपूर्ण है। शतवर्ष की अभिज्ञता सहस्र वर्ष की अभिज्ञता के सामने संपूर्ण विपरीत और भ्रान्त प्रतिपन्न होती है। सुतराम अभिज्ञता का "स्वर्ग का सोपान" या "रावण का विचार पथ" परित्याग करके शब्दावतार के मार्ग में आत्मसमर्पण ही हमारा "सनातन धर्म" है, वही श्रौतपथ है।

आत्मा का नित्यधर्म क्या है ? कर्मजड़ स्मार्तधर्म—पूर्व-मीमांसा के प्रतिपाद्य क्षयिष्णु धर्म, किम्वा घटाकाश, पटाकाश, मटाकाश आदि के विचार में अभिज्ञतावाद के जो सब पिष्टपेषण देख पड़ते हैं, वे आत्मा का नित्यधर्म नहीं हैं। जीवात्मा कभी "जड़सामान्य वस्तु" नहीं है, जीवात्मा कभी "अनित्य" नहीं है, जीवात्मा कभी "मिथ्या" नहीं है, जीवात्मा कभी "परमात्मा" नहीं है। जीव सर्वदा आश्रय की अपेक्षा रखता है। जीवात्मा का परमाश्रय परमात्मा है।

जगत् का आश्रय, विषय— सभी अनित्य है। नाम, रूप, गुण क्रिया और परिकर—सभी अनित्य होने के कारण अनुमान और प्रमाण के बल से हम यदि तुरीयमान, पञ्चममान की बातों को भी तृतीय मान के स्तर में खींच लाने की चेष्टा करें अथवा सम्पत्तिशाली होने के बाद भी "माँझी के नदी के किनारे बिछौना डालकर 'गुन' खींचने के संकल्प' की तरह तृतीय मान के प्रत्यक्ष, अनुमान आदि को तुरीय मान के राज्य में ले जाना चाहें, तो अभिज्ञाधम हम लोगों के समान और अनभिज्ञ कौन होगा ?

हम कभी इस तरह के असमीचीन, अस्थिर सिद्धान्त

पर न पहुँचेंगे कि जीव ब्रह्मवाद ही दार्शनिक शेष मीमांसा है, अथवा हम भगवत्ता के पितृत्व विचार में भी आबद्ध नहीं रहेंगे। हम भगवत्प्रीति का विचार—विश्रम्भसेवा का विचार ग्रहण करेंगे। श्रीमाधवेन्द्रपुरीपाद का अनुगमन करके हम कहेंगे -

श्रुतिमपरे स्मृतिमितरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः।
अहमपि नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परंब्रह्म॥

और भी सर्वाङ्गीन विश्रम्भसेवा के मूल महाजनों के आनुगत्य की लालसा से स्व स्वरूप की नित्य सिद्धवृत्ति उद्घाटित करके कहेंगे -

कम्प्रति कथयितुमीशे सम्प्रति को वा प्रतीतिमायातु।
गोपतितनया कुञ्जे गोपवधूटीविटं ब्रह्म॥

निखिल विचित्रता का विलय किस प्रकार हमारे प्रयोजन को पूर्ण कर सकता है, यह मैं सोच ही नहीं पाता। मैं चाहता हूँ अपने को नित्य पूर्णतम रूप से अभिव्यक्त करना—नित्य विचित्रता के पूर्णतम विकास में प्रस्फुटित करना। श्रीमद्भागवत ही एक मात्र ग्रन्थसम्राट् है जो नित्य विचित्रता के विकास के सम्बन्ध में स्पष्ट भाव से कीर्तन करता है, और कहता है कि यह जगत उसी नित्य विचित्रता-दर्शन का प्रतिबन्धक और विकृत प्रतिबिम्ब है। यदि हम श्रीमद्भागवत की वाणी में अपने श्रवणेच्छु कानों को नियुक्त करें, तो समस्त प्रकार के जटिल और अमीमांस्य प्रश्न के गोरखधंधे से हम निकल सकेंगे। परस्पर विरदमान मतवाद-समूह की श्रीमद्भागवत में अत्यन्त सुन्दर रूप से मीमांसा और समन्वय किया गया है।

हम सर्वतोभाव से श्रीमद्भागवत के शरणागत होंगे। अप्राकृत सरहस्य ज्ञान-विज्ञान एकमात्र शब्दावतार के ही भीतर अवतीर्ण होते हैं -

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।
नातिदीर्घेण कालेन भगवान् विशते हृदि॥
(भागवत २।८।४)

जो हरि की सुमंगलदायिनी कथा को श्रद्धा-पूर्वक नित्य सुनते अथवा स्वयं अपने मुख से कीर्तन करते हैं, उनके हृदय में भगवान बहुत शीघ्र ही प्रकट होते हैं। हरि कथा-श्रवण-कीर्तनकारी के लिए अन्य चेष्टा द्वारा अर्थात् कृत्रिम भाव से अष्टकाल लीला-स्मरण आदि का प्रयोजन नहीं होता।

देह के क्षणभंगुर हाथ पैर वगैरह हैं; किन्तु आत्मा के नित्य हस्त, नित्य पद, नित्य आकार वर्तमान है। भगवान् के पूर्ण चेतनमय हस्त पद आदि, रूप गुण आदि भगवत्कृपा से ही चेतन के विज्ञान में प्रकाशित होते हैं।

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात॥

सच्चिदानन्द-विग्रह भगवान कहते हैं, मेरा रूप जीव की किसी भी प्रकार की कल्पना की वस्तु नहीं है, जीव अपने मनोधर्म के कारखाने में मेरे आकार की सृष्टि करने की धृष्टता न दिखलावे। मैं स्वयं ही अपने नित्य रूप जीव की चेतनमयी सेवोन्मुखी विशुद्ध वृत्ति में प्रकाशित करूँगा। शब्दावतार में ही सारी शक्ति है। पूर्ण चेतन के स्वतःसिद्ध प्राकट्य के मार्ग में अर्गला के रूप से किसी प्रकार की कल्पना का हेयत्व या मिश्र व्यापार रखने की हम लोगों को कोई आवश्यकता नहीं। आश्रय-भिक्षा का नाम ही भक्ति है; वह व्यक्तिगत अपस्वार्थ नहीं है। वह परम श्रेय की लालसा है। हम श्रेय के पथ के पथिक होंगे। हम सर्वदा ही अधोक्षज वास्तव सत्य का अनुसन्धान करेंगे। भगवद्भक्त के भजनीय वस्तु और भजन-वृत्ति नित्य वर्तमान है, वह प्रकृतिजात कोई वस्तु नहीं है। भजनीय वृत्ति की निष्कपटता में पितृत्व, मातृत्व, क्लीबत्व, पुरुषत्व के विचार का यथायोग्य स्थान है य सभी परिस्फूर्ति को प्राप्त होंगे। भक्ति ही आत्मा की वृत्ति है। कर्म एवं ज्ञान प्रवृत्ति वर्तमान आपात-प्रयोजनोचित व्यापार के साथ संश्लिष्ट आवृत-आत्मा का ही परिचय है।

परीक्षित्पारायण-पीठ में

गत ३० नवंबर (१९३१), सोमवार मार्गशीर्ष कृष्ण ४ तिथि को सबेरे १०½ बजे श्रीश्रीप्रभुपाद ने भक्तगण के साथ मुज़फ़्फ़रनगर से परीक्षित्पारायण पीठ या परीक्षित्प्रायोपवेशन-पीठ शुकरतला के दर्शनार्थ शुभ विजय की। मुज़फ़्फ़रनगर से श्रीगौड़ीयमठ की मोटर पर श्रीप्रभुपाद के साथ कई भक्तजन और अलग दूसरी मोटर पर और भी कुछ भक्त लोग चले। ११ मील के बाद भोपा नामक स्थान में सब लोग उपस्थित हुए। मोटर से यहाँ तक आने में आधा घंटा लगा। मुज़फ़्फ़रनगर से भोपा तक रास्ता अधिकांश पक्का और अच्छा है। भोपा से ही कच्ची सड़क शुरू हुई है, जिसमें चलने से बेहद धूल उड़ती है। इस सड़क पर केवल शीतकाल में बैलगाड़ी और इक्के वगैरह ही जा सकते हैं। वर्षा ऋतु में यहाँ बेहद कीचड़ हो जाती है, अतएव किसी सवारी का वहाँ चलना असंभव हो जाता है। भोपा से ७½ मील की कच्ची सड़क नाँघने पर शुकरतला मिलता है। इस सड़क पर अच्छी मोटर का चलना एकदम असम्भव है। किराए की मोटरबस वगैरह को भी इस रास्ते में चलने का हुक्म नहीं है। परिव्राजकाचार्य त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिसर्वस्वगिरि महाराज ने श्रीगुरु-वैष्णव सेवा के सौकर्यार्थ मुज़फ़्फ़रनगर के पुलीस साहब से इसी दिन मिलकर सबेरे ही साक्षात करके भोपा से शुकरतला तक भक्तगण को ले जानेवाली मोटरलारी के लिए उस मार्ग पर चलने की आज्ञा ले ली थी। भोपा में आकर श्रीप्रभुपाद और भक्तगण एकत्रित होकर श्रीप्रभुपाद को आगे करके सभी एक ही मोटरलारी पर सवार हुए। श्रीप्रभुपाद के साथ निम्नलिखित भक्तगण थे—त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिहृदयवन महाराज, त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिसर्वस्वगिरि महाराज, आचार्यत्रिक श्रीपाद कुञ्जबिहारी विद्याभूषण, पण्डितप्रवर श्रीपाद अनन्तवासुदेव परविद्याभूषण बी० ए०, श्रीयुक्त सखीचरण भक्तिविजय, ब्रह्मचारी श्रीसज्जनानन्दजी, ब्रह्मचारी श्रीधीरकृष्णजी, ब्रह्मचारी श्रीनिताई, ब्रह्मचारी श्रीप्यारीमोहनजी, भक्त श्रीआशुतोष, भक्त श्रीअनादिचरण और गौड़ीय सम्पादक आदि।

मुजफ्फ़रनगर से भोपा और वहाँ से शुकरतला जाने के समय रास्ते में दोनों ओर ऊँख के लम्बे चौड़े खेत देख पड़ते हैं। इस प्रदेश में इन दिनों ऊँख की ही खेती प्रधान होती है। दोनों ओर के विस्तृत मैदान में ऊँखों के खेत लहराते हैं। रास्ते में वृक्षों की घनी छाया है और गहरी धूल भरी पड़ी है। जगह जगह पर बंदरों और लंगूरों की उछलकूद, कहीं पर सियारों का अचानक निकलकर इधर से उधर चले जाना और कहीं पास ही देहाती बैलगाड़ियों का चलना आदि बाह्य विषय देखकर पथिकों का मनोरंजन होता रहता है। मुज़फ्फ़रनगर से ८ मील के लगभग भोपा की ओर रास्ते पर एक डाक बँगला बना हुआ है। भोपा में एक थाना भी है। उस ऊँची नीची पथरीली कच्ची सड़क पर मोटरलारी खूब झोंके खाती जाती थी। श्रीश्रीप्रभुपाद के पादपद्मानुसरणकारी भक्तगण श्रीहरि-कीर्तन करते हुए उस सड़क पर चलने लगे।

भोपाथाना से लगभग ३½ मील आगे जाने पर दो तरफ़ दो रास्ते हो गए हैं। बाईं ओर शुकरतला जाने की और दाहिनी ओर बिजनौर जाने की राह है। शुकरतला की राह के सामने दो द्वार स्तंभों में "Suk Deb Gate" ये शब्द पत्थर पर खुदे हुए हैं। मैजिस्ट्रेट की आज्ञा के अनुसार इस प्रदेश में कोई किसी भी समय किसी जीव का शिकार नहीं कर सकता, करने से उसे राजद्वार में विशेष दण्ड देने की आज्ञा भी वहीं लिखी हुई है। शुकदेव आश्रम कमेटी ने सर्वसाधारण के निकट से चंदा लेकर उसी से यह स्तम्भ-द्वार बनवाया है। इस शुकदेव द्वार से और भी ३½ मील आगे जाने पर एक गढ़ देख पड़ता है, जो कि एक सूखा हुआ बड़ा सा तालाब जान पड़ता है। कुछ नीचे उतर आकर धूलिसंमिश्रित बालुकापूर्ण रास्ते से होकर लगभग आधा मील चलने पर शुकरतला मिलता है। मुज़फ़्फ़रनगर की सनातन धर्म सभा के मंत्री और शुकदेव-आश्रम परिचालन-समिति के अन्यतम सदस्य लाला क्षेत्रीदासजी ने कहा था कि जो स्थान आजकल एक सूखे जलाशय के समान देख पड़ता है, वहाँ पर महाराज परीक्षित का गढ़ था और उसके चारों ओर खाई भी थी। उसके आस पास के स्थानों में इस समय भी शायद परीक्षित महाराज के समकालीन गढ़ के कुछ परित्यक्त निदर्शन देखने को मिलते हैं। वर्षा काल में उस विस्तृत विशाल

गढ़े के भीतर प्रबल वेग से जल आकर भरने लगता है। पहले यहाँ शुकरतला नाम का गाँव था; किन्तु बारंबार गंगा के प्रबल प्लावन से वह गाँव विध्वस्त हो गया। लोग इस स्थान को छोड़कर अपेक्षाकृत निरापद स्थान में आश्रय ग्रहण करने को बाध्य हुए। इससे इस जगह अब कोई गृहस्थ नहीं निवास करता। जान पड़ा, जैसे भगवान् की इच्छा से ही ऐसा हुआ है। कारण, जो स्थान परीक्षित् के प्रायोपवेशन का क्षेत्र है, परीक्षितपारायण-पीठ है, परमहंस-कुलमुकुटमौलि श्रीशुकदेवगोस्वामी प्रभुवर के भागवत कीर्तन का आसन है, मुमूर्षु के आदर्श को प्रकट करनेवाला है, कृष्ण सेवा के लिए स्त्री पुत्र-राज्य-ऐश्वर्य आदि का त्याग करने वाले और ऐकान्तिक कृष्ण कथा श्रवण पिपासु श्री-परीक्षित की श्रवण वेदी है, उस स्थान में गृहव्रत धर्म या गृहमेधि सुख के कुटीर कभी अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकते—परमहंस मुखारविन्दगलित कीर्तन-गंगा की बाढ़िया में ये सब गृहान्धकूप विध्वस्त हो जाते हैं। यह स्थान अन्तिम काल की चरम कथा के श्रवण और कीर्तन की वेदी है, सुतराम् जो लोग अन्त समय की बात—मृत्यु-काल की बात भूलकर आपात प्रेय के मार्ग में गृहमेध यज्ञ का "ताश का महल" खड़ा करना चाहते हैं, उनकी चेष्टा यहाँ अवश्य ही विध्वंस को प्राप्त हो जाती है। जो स्थान कृष्णकाम परि-पूरणकारी परमहंस महामुनि के कृष्णनाम कथा कीर्तन या वैष्णवराज परीक्षित के "श्रवण"-माहात्म्य से श्रीधाम बन गया है, उस स्थान में ग्राम का अस्तित्व कैसे रह सकता है? धाम में ग्राम का अवस्थान नहीं है और ग्राम में धाम नहीं है।

श्रीश्रीप्रभुपाद के पादपद्मों की कृपा से इस प्रकार विचार करते करते प्रभुपाद के पदांक का अनुसरण करने वाले हम लोग शुकरतला में अवस्थित गोशाला के निकट आकर पहुँचे। मुज़फ़्फ़रनगर से मोटर पर यहाँ तक आने में आध घंटे के लगभग समय लगा था। बालू से भरा और भी आधा मील रास्ता तय करने में २० मिनट के लगभग और समय लगा। शुकदेव आश्रम-समिति के नाम की एक व्यापारियों की संस्था ने जो गोशालाएँ या पिंजरापोल स्थापित कर रक्खे हैं।

प्रत्येक युग में जब कृष्ण प्रेरितकृष्ण की शक्तिस्वरूप महापुरुषगण कृष्णनाम कीर्तन का संचार करने के लिए इस प्रपञ्च में कृपापूर्वक अवतार लेते हैं, तभी जगत् में एकायन अर्थात् अनन्य कृष्णकीर्तन की गंगा उमड़कर सबको प्लावित कर देती है, नहीं तो जगत् के नैसर्गिक बहिर्मुख चिन्तास्रोत में बह रहे हम लोग सर्वदा अकर्म और विकर्म में डूब रहे हम लोग कृष्ण कीर्तन महा-मरकतमणि का मूल्य नहीं समझ पाते। हम कृष्ण कीर्तन की अपेक्षा पुण्य कर्म आदि का ही अधिक आदर करते हैं। परमहंस-चक्रवर्ती श्रीशुकदेव गोस्वामी प्रभु की पारम-हंसी संहिता (भागवत ग्रन्थ) की कीर्तन-ध्वनि पुनः प्रक-टित करने के लिए ही परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य श्रीश्री-मद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद गौरकृष्ण-शक्ति रूप से इस शुकदेव कीर्तन पीठ में पधारे हैं। जिस स्थान की चर्चा लुप्त हो गई थी, जो स्थान एकायनकृष्णकथा-श्रवणकीर्तन की वेदी होने पर भी मिश्र, विद्ध और विकृत विचारोंवाले प्रापञ्चिक लोकों के विचार से केवल धर्मार्थ कामकामी गणगड्डलिका के सामयिक मेला की जगह बन गया था, जिस हरि कथा श्रवण कीर्तन के मूल-केन्द्र में—मूल शक्ति-सदन में ही हरि-कथा श्रवण कीर्तन का अचिन्त-नीय भीषण दुर्भिक्ष और काममय बाह्य अनुष्ठान के साम-यिक आडम्बर के मेघाडम्बर ने कृष्णनाम-सूर्य को लोक-लोचनों के निकट आवृत कर रक्खा था, उसी श्रीशुकदेवजी के स्थान में सपार्षद श्रीप्रभुपाद ने पुनः हरि-कथा श्रवण-कीर्तन-गंगा की लुप्त धारा को पुनः प्रकटित करने के लिए शुभ विजय की है।

यहाँ २ गोशाला, ८-९ धर्मशाला और कई ज़मींदारों के व्यक्तिगत (निजी) "गंगावास" हैं। त्यागी साधु लोगों की दंडीबाड़ा नाम की एक अलग धर्मशाला है। जाट तगा त्यागी ब्राह्मण), चमार, बढ़ई आदि की बनवाई धर्म-शालाएँ, रायबहादुर जगदीशप्रसादजी का बँगला, भिक्खी गाँव के ज़मींदार लाला मनोहरलाल का बँगला, इनके सिवा "शुकर हेड़ी" के एक सेठ का बनवाया श्रीलक्ष्मी-नारायण-मंदिर, झुंझुनू के एक वैश्य का बनवाया हुआ श्रीकृष्ण मंदिर, मुज़फ़्फ़रनगर-निवासी तुलसीरामदासजी का गंगामन्दिर एवं अन्यान्य कई लोगों के बनवाए कई एक शिव-मन्दिर भी हैं। इस वैष्णवों के क्षेत्र में जैन लोग कोई आनुकरणिक अधिकार नहीं स्थापित कर सके, अतएव उनका कोई मन्दिर या धर्मशाला यहाँ नहीं है।

मुज़फ़्फ़रनगर की नई मंडी के वर्तमान वैश्यगण ने यहाँ एक गोशाला बनवा दी है। मुज़फ़्फ़रनगरवासी पं० नानक-

चंद इस गोशाला के मैनेजर हैं। इस समय यहाँ १२६ गउएँ हैं। गोशाला के पास ही गोसेवकों के रहने को एक पक्का मकान और उसके सामने मैदान है। उसी प्रांगण या मैदान में श्रीप्रभुपाद विराजमान हुए। स्थानीय गोशाला के रक्षक ने अपने को अत्यन्त अनुगृहीत समझा। वह चटपट श्रीप्रभुपाद के बैठने के लिए एक ऊँचा काष्ठासन और उसके सामने रखने को एक टेबुल ले आये। अन्यान्य भक्तों के बैठने के लिए भी उन्होंने अलग अलग आसनों की व्यवस्था की। वहाँ बैठकर श्रीश्रीप्रभुपाद ने श्रीलक्ष्मीनारायण मंदिर के पुजारी श्रीहेमराजजी और पूर्वोक्त गोशाला-रक्षक के निकट शुकरत्ला के स्थानीय तथ्य पूछे और हम लोगों को उन्हें लिख लेने की आज्ञा दी। स्थानीय रक्षक ने इस स्थान में भयानक विषधर सर्पों के रहने की बात बतलाई। शीतकाल में सर्पों का उपद्रव कम रहता है, किन्तु वर्षा और गर्मियों में इस जगह बहुत से विषधर सर्प स्वच्छन्द भाव से सर्वदा विचरण किया करते हैं। ये सर्प ऐसे होते हैं कि एक बार किसी को काट खायँ तो वह जीवित नहीं रह सकता। समय-समय पर बाघ वगैरह हिंस्र जन्तु भी इन स्थानों में घूमा फिरा करते हैं। यहाँ पर कई मंदिरों के पुजारी, दण्डी बाड़ा के कई त्यागी साधु और गोशाला रक्षक के सिवा अन्य कोई मनुष्य नहीं रहता। यहाँ खाने पीने की कोई भी सामग्री नहीं मिलती। गोशाला रक्षक ने खूब सौजन्य का परिचय दिया। उत्कृष्ट ब्राह्मण के द्वारा रोटी बनवाकर साधुओं को मध्याह्न में भिक्षा देने के लिए उन्होंने प्रार्थना की। किन्तु उस समय उपस्थित भक्तों को भोजनादि कुछ ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है, यह जानकर उन्होंने कुएँ का सुमिष्ट जल पिला कर ही साधुओं का सत्कार किया।

श्रीश्रीप्रभुपाद ने हरि-कथा का कीर्तन किया। श्रीपाद वासुदेव प्रभु ने श्रीमद्भागवत और श्रीमहाभारत के आदि पर्व में वर्णित कश्यप या काश्यप मुनि और तक्षक की कथा कही। विष विद्या विशारद कश्यप मुनि ने जब सुन पाया कि महाराज परीक्षित् को अमोघ विषधर तक्षक काटेगा, तब वह एक साथ ही धर्म और अर्थ पाने की आशा से दर्शन के लिए निर्द्धारित सप्तम दिन परीक्षित् के निकट जाने लगे; इसी समय मार्ग में ब्राह्मण वेषधारी तक्षक ने कश्यप को देख पाकर इस तरह तेज़ी से एकाग्रता पूर्वक जाने का कारण पूछा। कश्यप ने बतला दिया कि वह नागराज तक्षक के अव्यर्थ विष से महाराज परीक्षित् का रक्षा करने जा रहे हैं। ब्राह्मण वेषधारी तक्षक ने कहा—मेरा ही नाम तक्षक है। जगत् में ऐसा कोई मन्त्रज्ञ या विष-वैद्य नहीं है, जो मेरे विष से रक्षा कर सके। अतएव आप यह उद्योग छोड़ दें। इसके उत्तर में कश्यप ने भी कहा कि तक्षक चाहे जितनी बार दंशन करे, वे अपनी विद्या के प्रभाव से निश्चय ही राजा को जिला देंगे। तब तक्षक ने कश्यप के मंत्र के प्रभाव की परीक्षा के लिए पास ही के एक बरगद के वृक्ष को काटकर भस्म कर दिया और कश्यप से उसे हरा कर देने के लिए कहा। कश्यप ने अपनी विद्या के प्रभाव से उस वृक्ष को फिर से वैसा ही हरा भरा कर दिखाया। तब तक्षक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने डरकर कश्यप से कहा वह जिस वस्तु के लाभ के लिए परीक्षित् के प्राण बचाना चाहते हैं, यदि वही धन यथेष्ट परिमाण में तक्षक उन्हें दे दे तो उन्हें लौट जाने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। अस्तु, तक्षक से यथेष्ट धन लेकर कश्यप अपने स्थान को लौट गए। *

यह सब प्रसंग सुनने के बाद श्रीप्रभुपाद के पीछे-पीछे हम लोग परीक्षित्पारायण-पीठ के पास पहुँच गए। श्रीशुकदेव गोस्वामी प्रभु ने जिस स्थान पर बैठकर श्रीमद्-भागवत-कथा का कीर्तन किया था, परीक्षित् महाराज ने जिस जगह प्रायोपवेशनपूर्वक भागवत का पारायण श्रवण किया था, वह स्थान एक ऊँचे टीले पर है कुछ ऊपर चढ़ने के बाद श्रीशुकदेवपाद पीठ के सामने ऊपर चढ़ने के लिये ईंट की बनी चौदह सीढ़ियाँ उस टीले से मिली हुई हैं। श्रीशुकदेव टीले पर चढ़ने के समय भक्तगण श्रीगुरुगौरांग की जयध्वनि और श्रीशुकदेव गोस्वामी एवं महाराज परीक्षित् तथा श्रीमद्भागवत की जय जयकार बारबार करने लगे, जिससे वह एकान्त स्थान गूँज उठा। श्रीश्रीप्रभुपाद ने मृदंग और करताल के साथ संकीर्तन करने के लिए भक्तों को आज्ञा दी। श्रीवासुदेव प्रभु ने गाना शुरू किया—

जय जय श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु नित्यानन्द।
जयाद्वैत श्रीगदाधर श्रीवासादि गौरभक्तवृन्द॥

सभी यही कह कहकर कीर्तन करने लगे। इसी तरह कीर्तन करते करते सब सीढ़ियाँ चढ़ चुकने के बाद श्रीशुकदेव-पादपीठ के सामने सब लोग पहुँचे। श्रीप्रभुपाद ने भूमिष्ठ

---

* महाभारत आदिपर्व ४३ अध्याय और भागवत १२ स्कन्ध, ६ अध्याय के ११-१२ श्लोक देखो।

होकर प्रणाम किया। सभी के दर्शनोन्मुख होने के कारण कीर्तन रुक गया। तब श्रीप्रभुपाद ऊँचे स्वर से कह उठे - "उच्च स्वर से हरिनाम का कीर्तन करो। यह स्थान कीर्तन क्षेत्र है। यहाँ कीर्तन बंद न होना चाहिए।" तब फिर सब लोग ऊँचे स्वर से कहने लगे—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

श्रीनाम कीर्तन करते-करते आगे आगे श्रीप्रभुपाद चले। उनके पदांक का अनुसरण करके सब लोगों ने तीन बार श्रीशुकदेवपादपीठ की परिक्रमा की। एक एक बार परिक्रमा पूर्ण करने के बाद श्रीप्रभुपाद ने भूमिष्ठ होकर पाद पीठ के सामने प्रणत होने का आदर्श प्रदर्शित किया।

उक्त टीले के ऊपर एक छोटे मंदिर में श्रीशुकदेवजी के पादपद्मों की प्रतिकृति अवस्थित है। सफ़ेद पत्थर की पाद-पद्मार्चा दो पृथक युग्मों में बनी है। इनके सिवा और भी एक पादयुगलार्चा अधिकतर प्राचीन और खंडित वहाँ देख पड़ी। पादपीठ के सामने एक पत्थर के टुकड़े पर देवनागरी अक्षरों में कुछ वाक्य लिखे हैं। यह लेख जगह जगह पर अति अस्पष्ट हो गया है। बड़ी चेष्टा के बाद निम्नलिखित पाठ असंपूर्ण भाव से पढ़ा गया था —

सन १९१५ वैशाख शुक्ला पञ्चमी रविवार श्रीशुकदेवजी का मन्दिर और चरणकमलों के जीर्णोद्धार में ज़िला × × छुन्नूराम ने किया × × × मिश्रीनाथ ने × × × नहीं होगा। श्रीः पातु।

यह प्रस्तरफलक श्रीशुकदेवजी के मंदिर और श्रीचरणार्चा के जीर्णोद्धार की तारीख़ और जीर्णोद्धार करानेवाले का परिचय देता है। किन्तु दुःख का विषय, नाम विशेष अस्पष्ट है। पाठ का उद्धार करना एकदम असंभव है। यह जीर्णोद्धार संवत् १९१५ या सन १८५८ ई० में हुआ था, इसलिए ७३ वर्ष पहले किया गया था।

श्रीशुकदेव पादपीठ के छोटे से मंदिर के ऊपर नीम और बरगद के पेड़ परस्पर एक दूसरे से लिपटे हुए छाया कर रहे हैं। विस्तृत शाखा पल्लवयुक्त नीम और बरगद की छाया के नीचे यह मंदिर शोभायमान है। मुज़फ़्फ़रनगर की सनातनधर्म सभा के मंत्री महाशय ने बाद को हमें बतलाया कि यह बरगद का पेड़ प्राचीन है। प्रवाद तो यह सुन पड़ता है कि परीक्षित् महाराज के प्रायोपवेशन के समय भी यह पेड़ यहीं पर लगा हुआ था। श्रीशुकदेव टीले के ऊपर से गंगा का प्रबल प्रवाह देख पड़ता है। दृश्य बड़ा मनोरम है, स्थान परम शान्तिमय है। समस्त कर्म कोलाहल से निवृत्त होकर हरिकथा श्रवण और कीर्तन के लिए यह बहुत ही उपयुक्त और अनुकूल स्थान है। आजकल गंगाजी श्रीशुकटीले के निकट से दो मील की दूरी पर बहती हैं। पहले गंगाजी इस श्रवण कीर्तन पीठ के नीचे ही बहती थीं। इस समय भी उस प्राचीन खात का निदर्शन देख पड़ता है। यहाँ गंगा स्नान के लिए देवउठान एकादशी से लेकर रास पूर्णिमा पर्यन्त मेला लगता है। जेठ के दशहरे को भी यहाँ यात्री आते हैं, मेला होता है। मगर रासपूर्णिमा का ही मेला बड़ा होता है, उसमें अधिक लोग आते हैं। लगभग २०-२२ हज़ार यात्री जमा हो जाते हैं। सुना गया कि मेले के यात्री इसी प्रदेश के रहनेवाले अधिकांश अशिक्षित और स्त्रियाँ ही होती हैं। बड़े बड़े ज़मींदार और राजा-महाराजा भी पुण्यसंचय के लिए यहाँ आते हैं। गंगा-स्नान, दक्षिणादान, तर्पण, श्राद्ध और शुकदेव पादपीठ के दर्शन, यही यहाँ कर्मप्रेरणा से अनुष्ठित होते हैं। श्रीमद्भागवत की सिद्धान्त-कथा का अहैतुक आदर्श वक्ता और श्रोता न होने के कारण श्रीमद्भागवत के कीर्तन के प्रकट स्थान में भी श्रवण कीर्तन का नैसर्गिक दुर्भिक्ष विराजता है। भागवतवाणी गंगा को पुनः प्रवाहित करने के लिए ही श्रीश्रीप्रभुपाद ने बहु अनुसन्धान करके और अशेष श्रम स्वीकार करके भी इस स्थान में शुभ विजय की है और वहाँ मृदंग, करताल के साथ श्रीचैतन्य संकीर्तन, श्रीमद्-भागवती वाणी का कीर्तन और व्याख्या करके श्रवण कीर्तन की पुनः प्रेरणा दी है।

देवउठान-एकादशी से रासपूर्णिमा तक इस प्रदेश में गंगातट-वर्ती तीन विभिन्न स्थानों में गंगास्नान के लिए लोग आते हैं। एक शुकरताल में, दूसरे गढ़मुक्तेश्वर में और तीसरे हस्तिनापुर में।

(शेष आगामी अंक में)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० १० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीनदाई गौरांग मठ
बालीबाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
श्रीनृसिंहदासकुंज, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ५, गोपीभवन डाक्टर लेन, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चराद्दा, नदिया

(२७) ब्राह्मणगड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चीरकंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)

२—श्रीशिक्षादशमूलम् - सटीक ।)

३—श्रीमन्मध्वगणगौरगणोद्देशनामम् ≡)

४—श्री [illegible] दिग्विजयः ॥)

५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)

६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)

२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)

३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)

४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशित) प्रति खंड १)

५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रप्रमाणितसंग्रह सजिल्द २)

६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु कृत उपदेशामृतसहित ।=)

७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद - कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)

८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बंगला अनुवाद सहित १)

९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)

१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)

११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी - कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची, अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)

एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)

१२—युक्तिमल्लिका (गुणसौरभ) वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)

१४—नवद्वीपशतक बंगला अनुवाद -)

१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ≡)

१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)

१७—नवद्वीपभावतरंग ।)

१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)

१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद-कृत २)

२०—मणिमंजरी ।)

२१—शरणागति -)

२२—कल्याणकल्पतरु -)॥

२३—गीतावली -)

२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)

२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)

२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)

२७—जैव धर्म २)

२८—साधककंठमाला ।)

२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)

३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)

३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

वर्ष १] श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः [संख्या ८

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

22nd Feb. 1932

माधव गौरपक्ष गौराब्द ४४५

माघ पूर्णिमा संवत् १९८८

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी महाराज

श्रेयसां शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा॥

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १।।)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३.) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा ‐) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

९४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

946 Suddar Bazar,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि स्वामी भक्तिहृदयवन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य
वर्ष १ | माघ-पूर्णिमा गौराब्द ४४५, सं० १९८८ वि०, २२ फरवरी सन् १९३२ ई० | संख्या ८

माया का नशा

नशाखोरों से सब लोग घृणा करते हैं। नशा मनुष्य का मनुष्यत्व मिटाकर उसे पशु बना देता है।

इसका प्रमाण सहित उदाहरण निम्नांकित है। नशा की वस्तुएँ बहुत प्रकार की हैं।

१—द्यूत—ताश, पाँसा, शतरंज इत्यादि।

२—पान—नाना प्रकार के मादक द्रव्य। अफीम गाँजा चा, पान, तम्बाकू, तारी इत्यादि।

३—स्त्री—अवैध स्त्री संगादि।

४—शून—यथा, हिंसा-भाव द्वेषभाव इत्यादि

५—जातरूप—सुवर्ण चाँदी। [यह सब नशे की वस्तुएँ हैं। जैसा कि राजा परीक्षित ने कलियुग को स्थान देते समय उससे कहा था।]

इन कलिके पाँच स्थानों में माया बसती है। और ब्रह्माण्ड भाण्डोदरी मायादेवी कृष्णबहिर्मुख जीवों के ऊपर अपने प्रभाव का विस्तार कर अट्टहास करके ताण्डव नृत्य करती है। कैसे गुलाबी नशे में मायादेवी ने जीवों को उन्मत्त कर दिया है। क्या यह उन्मत्तता और मूर्च्छा हट नहीं सकती?

मतवाले को मतवाला कहने से वह क्रोधित हो जाता है, और नशाखोर को नशाखोर कहने से वह रुष्ट होता है। सत्य बात कहने से मनुष्य उसी समय आगबबूला होकर उसी का सर्वनाश करने के लिये प्रस्तुत हो जाता है।

हे पतितपावन, पतितउद्धारण श्रीगुरुदेव! मैं माया के नशे मे अनाथ पथिक की नाईं इस संसार में भ्रमण कर रहा हूँ। इस दारुण नशे के झोंके से मेरा उद्धार कीजिये। नशाखोर की जो दुर्गति होती है, वह विशेष रूप से विदित है। मायाबद्ध जीव के ऊपर अहैतुकी कृपा-वारि-वर्षण करना आपका नित्य स्वभाव है। मैं उस कृपा से वञ्चित न किया जाऊँ।

जीव की दुर्दशा देखकर श्रीठाकुर भक्तिविनोदजी ने कहा है कि हे जीव! तू मछली की नाई मायाजाल में क्यों फँस रहा है? क्या तुझ को यह नहीं ज्ञात है कि तू उसमें सदैव के लिये बँधकर रहेगा। अति तुच्छ भोग की आशा करके तू माया के पाश में बँध जायगा, विकृत भाव में रहेगा और पराधीन के तुल्य दंड-भोग करेगा।

उक्त पाँचस्थानों के सिवा जीव के लिये और भी नशे की वस्तुएँ हैं। जैसा कुन्तीदेवी ने कहा है—

१—जन्म का अभिमान। यथा मैं कुलीन ब्राह्मण, उच्चकुल में उत्पन्न व्यक्ति हूँ।

२—ऐश्वर्य का अभिमान। यथा हम लोगों के पास कुबेर के तुल्य धन और रत्न हैं।

३—मैं समस्त शास्त्रों का पंडित हूँ।

४—मेरा कंदर्प के तुल्य रूप है।

यह सब अभिमान माया का नशा है।

—

श्रीविष्णुप्रिया देवी

ग[illegible] ११ जनवरी १९३२), श्रीवसन्त पञ्चमी तिथि को श्रीविष्णुप्रिया देवी के आविर्भाव का दिन था। इसके उपलक्ष में श्रीधाम मायापुर के श्रीयोगपीठ में और कलकत्ते के श्रीगौडीयमठ में श्रीनामसंकीर्तन, श्रीभक्तिग्रन्थ पाठ और व्याख्या, इष्टगोष्ठी और महोत्सव आदि का अनुष्ठान हुआ करता है। श्रीविष्णुप्रिया के सम्बन्ध में श्रीठाकुर भक्तिविनोदजी की उक्ति यह है "श्रीविष्णुप्रिया देवी को भक्तगण श्रीनारायण की त्रिविध शक्तियों में से अन्यतम मानते हैं। तत्त्वतः यह ह्लादिनीसारसमवेत सम्बित् शक्ति अर्थात् श्रीभक्तिस्वरूपिणी हैं। श्रीगौरावतार में नाम प्रचार की सहायकारिणी रूप से यह नित्य उदित हुआ करती हैं। श्रीनवद्वीप धाम में जैसे नवधा भक्तिस्वरूप नवद्वीप हैं, वैसे ही श्रीविष्णुप्रिया देवी भी नवधा भक्ति का स्वरूप हैं।"

श्रीश्रीचैतन्यदेव के बंगाल जाने पर उनके विरह में जब श्रीलक्ष्मीदेवी ने अप्रकट लीला का आविष्कार किया, तब शचीमाता ने पुत्र का दुबारा दूसरा ब्याह करने की इच्छा की। श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव ने माता को सन्तुष्ट करने के लिए सनातन मिश्रकी कन्या के रूप से आविर्भूत श्रीविष्णुप्रिया देवी से ब्याह किया। पुत्र बधू का मुख देखकर शची देवी को अपार आनन्द हुआ। विष्णुप्रिया देवी भी शची माता की सेवा में सदा लगी रहती थीं। जैसा कि श्रीभक्तिरत्नाकर में लिखा है—

विष्णुप्रिया देवी पर स्नेह शची देवी करें।
एक मुख से न कोई उसे कभी कह सके॥
श्रीविष्णुप्रिया देवी भी सेवा करें मनोमत।
विष्णुसेवा, शची-सेवा दिनरात रहें रत॥
विष्णुप्रिया देवी की सेवा को कहेगा कौन।
सास स्नेहमयी सदा पावें महासुख भौन॥

श्रीचैतन्यदेव की संन्यास लीला के समय जब श्रीविष्णुप्रिया देवी ने महाप्रभु के संन्यास लेने की बात सुनकर प्रभु के निकट अपना दुःख प्रकट किया था तो उस दुःख निवेदन में भी कितनी बड़ी शिक्षा निहित थी! श्रीविष्णुप्रिया देवी उस समय कहती हैं—

सुनो सुनो प्राणनाथ, मेरे सीस धरो हाथ,
संन्यासी बनोगे तुम हाय!
लोकमुख यह सुने, फटे हिय सीस धुने,
आग में जलूँगी अब जाय॥
जाओगे तुम छोड़ मुझे जब तब यह जीवन मेरा व्यर्थ।
विषज्वाला सी विषम जलन उर मेरे में कर रही अनर्थ॥
यह शरीर हो नष्ट, न चिन्ता उसकी मुझको रत्तीभर।
एक निवेदन श्रीचरणों में दासी करती है प्रभुवर॥
पैदल कैसे आप चलेंगे कठिन भूमि के ऊपर नाथ।
सिरिसमुमन सम चरण सुकोमल, डर लगता फेरें से हाथ॥
वन में काँटे कंकड़ पत्थर चरणकमल छिल जावेंगे।
कैसे आप चलेंगे स्वामी स्वजन-हृदय हिल जावेंगे॥
केवल जाने तव चरणों को, मुझे कहाँ छोड़ जाते?
भय न धर्म का तुम्हें किस तरह मा से मुख मोड़ जाते?
वह बूढ़ी अधमरी हो रही कहो जियेगी किसको देख?
और न कोई उनका आश्रय अहो जियेगी किसको देख॥
मैं ही हूँ संसार तुम्हारा, क्या मेरे ही डर से नाथ?
संन्यासी हो रहे आप हैं, रक्खेंगे संसार न साथ॥
ऐसा हो तो विष खाकर मैं दे दूँगी प्रिय प्राण अभी।
सुख से आप रहें इस घर में, और न पावें कष्ट सभी॥
(चैतन्यमंगल)

इसके उत्तर में श्रीगौरसुन्दर श्रीविष्णुप्रियाजी से कहते हैं—

ख्याल नहीं कुछ करो हृदय में, हित की हमसे बात सुनो।
मिथ्या जगत जान लो सारा, सत्य एक भगवान् गुनो॥
सत्य समझ लो वैष्णव जन को, उसे छोड़ सब मिथ्या है।
मिथ्या सुत, पति, पत्नी, माता, पिता जगत का नाता है॥
अन्त समय कोई न किसी का, कृष्ण चरण ही आश्रय है।
उसके सिवा कुटुम्ब न कोई, यह सब कुछ मायामय है॥
नर नारी सबका तुम उसको आत्मा एक रूप जानो।
मिथ्या माया-बन्धन में पड़ दो का भेद हुआ मानो॥
सबके पति श्रीकृष्णचन्द्र हैं, प्रकृति उन्हीं की हैं सब हम।
इस सर्वांश सत्य को कोई नहीं समझता; कैसा भ्रम!
रक्त-रेत-सम्मेलन होकर विष्ठा-मूत्र-स्थान के द्वार।
हुआ हमारा जन्म जगत में, पाए हमने कष्ट अपार॥
बाल, युवक फिर वृद्ध हुए, त्यों देह गेह में बहु अभिमान।
बन्धु समझकर जिसको पाला देता गाली वही अजान॥
वृद्धावस्था से दुःखित हैं देख और सुन पड़े नहीं।
हो विषण्ण रोते हैं, फिर भी कृष्णचन्द्र हैं भजे नहीं॥

कृष्ण भजन के लिए देह धर मायाबन्धन ग्रहण किया।
इस जगमें आए, पर हमने प्रभु का आश्रय नहीं लिया॥
अहंकार में मनवाले हो अपने प्रभु को भूल रहे।
अन्तकाल में मरे नरक की घोर यंत्रणा नित्य सहे॥
नाम तुम्हारा विष्णुप्रिया है, सार्थक उसे करो देवी।
मिथ्या शोक न मन में लाओ, मन में नहीं डरो देवी॥
तत्त्वकथा यह तुम्हें सुनाई, मनमें इसका ध्यान धरो।
कृष्णचरित में चित्त लगाओ, चिन्ता और न नेक करो॥
(चै० म०)

श्रीविष्णुप्रिया देवी साक्षात् विप्रलंभस्वरूपा हैं। श्रीगौरसुन्दर ने जब संन्यास लीला का प्रदर्शन किया तब श्रीविष्णुप्रिया देवी विप्रलंभ भाव विभाविता होकर श्रीगौरसुन्दर के चरण कमलों का ध्यान करती रहीं। श्रीगौरसुन्दर के अप्रकट (परमधाम-गमन) के बाद भी वह जब तक धरा-धाम में प्रकट रहीं, तब तक वह सर्वदा तद्भावभाविता होकर ही यहाँ रहीं। उनकी निगूढ़ लीला अतीव रहस्य-पूर्ण है। जैसा कि श्रीभक्तिरत्नाकर ग्रन्थ के चतुर्थ तरंग में लिखा है:—

ईश्वरी के कार्मों का कौन करे वर्णन।
प्रभु के वियोग में निद्रा त्यागे लोचन॥
कभी निद्रा आती भी तो पृथ्वी में शयन।
स्वर्णवर्ण अंग हुए दुर्बल मलिन॥
कृष्णचतुर्दशी चन्द्र सम क्षीण अंग।
प्रथम सा रहा नहीं कान्ति और रंग॥
हरिनाम-संख्या पूर्ण चावलों से करतीं।
उनको पकातीं भोग प्रभु का लगावतीं॥
वही अवशिष्ट कुछ करतीं आहार।
रक्खे प्राण किसलिए, जाने कौन सार॥

४

गौर को लाने वाले ठाकुर भक्तावतार भगवान् श्रीअद्वैत हैं। विष्णु तत्त्व, जो कारण समुद्र में शयन करनेवाले महाविष्णु माया के द्वारा इस जगत् की सृष्टि करते हैं, जो जगत् के कर्ता हैं, उन्हीं का अवतार श्रीअद्वैताचार्य हैं। श्रीहरि से अभिन्न तत्त्व होने के कारण उनका नाम अद्वैत है और वह कृष्ण-भक्ति का उपदेश करते हैं, इसीसे आचार्य हैं। उन्हीं भक्तिशिक्षक जगदाचार्य के चरणों का आश्रय लिये बिना जीवों के लिए गौर कृष्णभक्ति प्राप्त करने का अन्य उपाय नहीं है।

सृष्टि-रहस्य

कारणार्णवशायी पुरुषावतार 'महाविष्णु' निमित्त और उपादान इन दो मूर्तियों से विश्व की सृष्टि का कार्य करते हैं। वह निमित्तांश से माया में ईक्षण करते हैं। और उपादान अद्वैतरूप से विश्व-सृष्टि के कार्य का संपादन करते हैं।

सांख्य का मत

सांख्याचार्य कपिल ने अविरोहवाद का अवलम्बन कर प्रकृति को 'कारण' कहकर शक्तिमान् तत्त्ववस्तु को शक्ति के अधीन कर डाला है। वह कहते हैं—जड़ प्रकृति से जगत् का उद्भव है। "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात्पञ्चतन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियं स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गण इति।" अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था प्रकृति है। (प्रकृति के क्षोभ की अवस्था को ही 'प्रधान' कहते हैं)। उस प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्रा (रूप, रस आदि), पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, मन, पञ्च महाभूत और पुरुष, ये पचीस तत्त्व होते हैं।

गौड़ीय वेदान्ताचार्य की शुद्धमत की स्थापना

गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण प्रभु ने गोविन्दभाष्य (ब्र० सू० २ अ०, २ पाद) में अवरोह का विचार करते समय सांख्य की इस जड़ की चेतन-सत्ता के ऊपर कर्तृत्व रूप मतवाद का खण्डन करके वस्तु के ही सर्वकारण-कारणत्व की स्थापना-पूर्वक कहा है जड़ कभी चेतन का कारण नहीं होता। जड़ प्रधान कभी जगत् का उपादान या निमित्त कारण नहीं है। अचेतन वस्तु ईंट आदि के लिए स्वाधीन भाव से महल बनाने का काम

कदापि संभव नहीं हो सकता। चेतन द्वारा अधिष्ठित जड़ का ही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। वास्तव में जड़ की स्वतः प्रवृत्ति कुछ नहीं है। प्रधान को ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण कहने से यह कहना होगा कि प्रधान में चेतन का अधिष्ठान होने के कारण ही प्रधान की क्रियाप्रवृत्ति है। श्रीभगवान निज सृष्टिशक्ति का प्रधान तत्व में संचार करते हैं। किन्तु उन ईश्वर की शक्ति से शक्तिमान होकर ही प्रधान के जगत्सर्जनादि कारणार्णवशायी महाविष्णु निमित्तरूप से और महाविष्णु के अवतार श्री सदाशिव उपादान रूप से माया में विराजमान रहकर जगत् सृष्टि का आदि का कार्य करने पर भी मायाधीश। कोटि ब्रह्माण्डों के स्वामी होकर भी कभी माया से क्षुब्ध नहीं होते।

अद्वैत अवतीर्ण क्यों हैं?

श्रीअद्वैत प्रभु सेव्य विष्णुतत्व होने पर भी जीव के मंगलविधान-कार्य रूप सेवा-प्रवृत्ति दान के सिवा उनका और कुछ कार्य नहीं है। केवल सेवा भाव में स्वीय लीला-प्रचारक होने पर केवलाद्वैतवादी अहंग्रहोपासक हो पड़ते हैं, इसी लिए गौरावतार में भक्तावतार श्रीअद्वैताचार्य के रूप से उन स्वयं भगवान् ने गौरसुन्दर की सेवक लीला प्रकट करके भगवत्सेवा की शिक्षा दी है। वायुपुराण में आचार्य का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

> आचिनोति यः शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
> स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कीर्त्तितः॥

शास्त्र सिद्धान्त को सम्यक् रूप से संग्रह करके और को आचार में स्थापित करते हैं और स्वयं उसी शास्त्र के आदेश के अनुसार आचरण करते हैं, इसी से आचार्य कहलाते हैं, अर्थात् यही आचार्य का लक्षण है। गीता में लिखा है—

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥

श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करते हैं, साधारण जन उसी का अनुसरण करते हैं। वे जिसे प्रमाण मानकर स्वीकार करते हैं लोग उसी का अनुवर्तन करते हैं।

श्रीमद्भागवत के भी "आचार्य मां विजानीयात्" इस श्लोक में श्रीभगवान ही स्वयं लोकशिक्षक आचार्य के रूप से अवतीर्ण होकर लोक में भगवद्भक्ति का प्रचार करते हैं—यही बात कही गई है।

इसी से भक्तावतार अद्वैताचार्य निखिल भक्त या वैष्णव-जगत के गुरु हैं। जगत् को भक्ति का उपदेश करना ही एकमात्र उनका कार्य है। वैष्णवगण उन्हीं के आचरण का अनुसरण कर स्वयं प्रकाश-विग्रह श्रीबलदेव से अभिन्न जगद्गुरु नित्यानन्द के प्रति भक्तियुक्त होते हैं। उन्हीं के आदर्श से अनुप्राणित होकर जीवगण जात्यभिमान का परित्याग कर ब्राह्मणेतर कुलोत्पन्न भगवद्भक्त का सब प्रकार सम्मान करना सीखते हैं।

मायावाद और वैष्णवता

(श्रीयुत अवधविहारीलाल कपूर एम. ए.)



हमारे हृदय में निरंतर तीन प्रश्न उठा करते हैं—संसार की उत्पत्ति कब हुई, कैसे हुई, और क्यों हुई? भिन्न-भिन्न मतवाले इन प्रश्नों का उत्तर अपनी बुद्धि के अनुसार देते हैं; परन्तु मायावादियों और वैष्णवों का मत विशेष कर विचार करने योग्य है।

मायावादियों का कहना है कि संसार मिथ्या है। ईश्वर निर्गुण हैं सगुण नहीं। वे भेद रहित हैं, उनसे पृथक् और कोई वस्तु नहीं है। संसार और जीव उनसे भिन्न नहीं हैं। सब कुछ ब्रह्म ही है। ब्रह्म हर तरह से पूर्ण है उसे कोई कर्म करने की आवश्यकता नहीं, वह संसार की सृष्टि करता है, न संहार। संसार का वास्तविक कारण माया अथवा अज्ञान है जब तक अज्ञान है तभी तक संसार है। तभी तक भिन्नता और अनेकता दृष्टिगोचर होती है। जैसे अँधियारा कोई वस्तु नहीं है। रोशनी के न होने ही को अँधियारा कहते हैं, उसी प्रकार संसार कोई वस्तु नहीं है। ज्ञान का

न होना ही संसार है, जैसे कुत्ते के सींग और बाँझ स्त्री के बालक नहीं है, उसी प्रकार संसार भी नहीं है। कोई पूछेगा कि जब संसार है नहीं, तो हमें दीखता क्यों है? और जीव है नहीं तो उसे अपना होना मालूम क्यों है? मायावादियों का उत्तर है कि जीव और जगत् हैं नहीं, पर दीख पड़ते हैं। इसी का नाम तो माया है, और इसी गोरखधंधे से प्रत्येक जीव को मुक्ति पानी है। जीव की दशा स्वप्न देखते हुए मनुष्य के समान है।

स्वप्न में एक मनुष्य अपने को एक जंगल में शिकारी के रूप में देखता है। उसे अकस्मात् एक हीरों का ढेर दीख पड़ता है। वह हीरों की गठरी बाँध प्रसन्नचित्त होकर घर की ओर भागता है, खुशी के मारे फूला नहीं समाता और धरती पर पैर भी नहीं रख सकता। रास्ते में आशा के पुल बाँधता जाता है और अत्यन्त सुखमय जीवन की विचार तरंगों में गोते लगाता जाता है। इतने ही में उसकी एक शेर से मुठभेड़ होती है। उसे कँपकँपी चढ़ आती है। हाथ पैरों से जान निकल जाती है, हीरों की गठरी हाथ से छूट पड़ती है और वह मूर्छित हो धरती पर गिर पड़ता है। आँख खुलते ही उसका भ्रम मिट जाता है, न शेर रह जाता है न हीरों की गठरी। शेर का भय जाता रहता है और हीरों की प्रसन्नता। ठीक यही दशा मायाजाल में फँसे हुए जीवों की भी है। सब के सब स्वप्न देख रहे हैं। स्वप्न में ही कोई राजा बन बैठा है, कोई फ़कीर, कोई चोर, कोई कोतवाल, कोई ज़िमींदार, कोई किसान, कोई दुकानदार, कोई खरीदार, कोई हिंदू, कोई अंग्रेज, कोई ईसाई और कोई मुसलमान। सब गहरी नींद में पड़कर अपने स्वरूप को भूल गये हैं, और हर्ष-शोक की चक्की में नित्य पिसा करते हैं। कभी सुख की गठरी पाकर नाचे नाचे फिरते हैं। कभी दुःख-रूपी शेर को सामने देख चीख़मार कर रोने लगते हैं। बस, हमें इस नींद से जाग जाना है। हमारे और ब्रह्म के बीच एक मायारूपी दीवार खड़ी है। इस दीवार को हमें ज्ञानरूपी बारूद से उड़ा देना है। फिर हम ब्रह्म में उसी प्रकार लीन हो जायेंगे, जिस प्रकार पानी की एक बूँद सागर में लीन हो जाती है और हमें यह प्रत्यक्ष दीख जायगा कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। आकाश और समुद्र, चींटी और पर्वत, पशु, पक्षी, स्त्री, पुरुष, पिता, पुत्र, गुरु, चेला, पुण्यात्मा और पापात्मा, सब एक ही समान हैं! सब ब्रह्म हैं!

वैष्णवगण मायावादियों के मत से सहमत नहीं हैं। मायावादियों का उपदेश उन्हीं को प्रिय लगता है, जिनके हृदय में अहंभाव भरा है। ऐसे जन मायावादी पंडित के व्याख्यान को खूब कान लगाकर सुनते हैं। इससे उनके अहंकार की अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। वैष्णव का नम्र हृदय अहंकारपूर्ण किसी बात को भी सह नहीं सकता। वह अपने को भगवान् का नित्यदास और तृण से भी छोटा मानता है। "मैं ब्रह्म हूँ" – ये मायावादी के तीन शब्द उसके हृदय में त्रिशूल के समान चुभते हैं। मायावादी ईश्वर और जीव को एक मानकर जीव की पदवी ऊँची नहीं करते, परन्तु ईश्वर को पतित कर देते हैं। उनका ब्रह्म माया का दास बन जाता है; क्योंकि यदि जीव ब्रह्म है, तो ब्रह्म ही माया में बँधता है, और ब्रह्म ही माया से मुक्ति पाता है। ऐसा अनंत समय से हो रहा है। माया अनंत समय से ब्रह्म को यह नाच नचाती है। मायावश एक से अनेक होकर वह नाना प्रकार के कष्ट भोगता है, माया के फंदे से उसे कौन छुड़ावे? यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म कभी माया के फंदे में नहीं फँसता; जीव ब्रह्म होने के कारण वास्तव में माया से मुक्त है, और जीव का मायाजाल में फँसना भी मिथ्या है, तो जीव का माया से मुक्त होना भी नहीं कहा जा सकता। इस लिये जीव का मुक्ति के लिये प्रयत्न करना उसकी भूल है।

एक बार एक मायावादी साधु के पास कोई वैराग्यवान् पुरुष आ कर आर्त स्वर से कहने लगा – बाबा जी, मैं संसार के त्रिताप से पीड़ित एक दुःखी और मलिन आत्मा हूँ। मुझसे इस भवसागर का दुःख अब क्षण भर को भी नहीं सहा जाता। मेरा चित्त बहुत व्याकुल रहता है। मैं किस प्रकार सद्गति प्राप्त करूँ? कृपा कर मुझे भवसागर से पार उतरने का मार्ग बताइये। बाबा जी सच्चे मायावादी थे। उन्हें "मैं ब्रह्म हूँ"—इस सिद्धान्त में अटल विश्वास था। वह हँसकर बोले--"बच्चा, तू तो स्वप्न में बक रहा है। कुछ होश में आ। तू कब त्रिताप से पीड़ित है? तू कब दुःखी और मलिन है? तुझे कब भव-सागर से पार उतरना है। तेरा यह सब विचार मिथ्या है। तू तो सदा मुक्त, निर्लेप, निराकार, आनंदरूप ब्रह्म है। तुझे त्रिताप कैसे हो सकता है? बाबाजी के वचन सुन कर विचारा उलटे पैरों घर लौटा और मार्ग में उनके वचनों पर विचार करता गया। बहुत सिर मारा, पर बाबाजी का बतलाया हुआ ज्ञान उसकी अक्ल में न आया। बार बार वह अपनी बुद्धि

को दोष देने लगा। मायावादी इसी तरह अनेकों मनुष्यों के हृदय में शान्ति के बदले अशान्ति उत्पन्न कर देते हैं। भूखे आये हुए मनुष्य को भोजन देने के बदले बातों से ही उसका पेट भरना चाहते हैं। वैराग्यवान् मनुष्य को वैष्णव की शरण में ही शान्ति मिल सकती है। वैष्णव "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" और "जगत मिथ्या" का पाठ नहीं पढ़ाते। वह ईश्वर, जगत् और जीव को एक ही चद्दर उढ़ा कर सुला नहीं देते। उनके मत में ईश्वर, जीव और जगत् से भिन्न और आलम्यरहित हैं। ईश्वर के अतिरिक्त जीव, जगत और जगत के सुख दुःख भी सत्य हैं। जगत परिवर्तनशील है और ईश्वर और जीव स्वामी और सेवक के रूप में परिवर्तन रहित हैं, ईश्वर सर्वशक्तिमान और माया से परे है। माया उनकी दासी है। वे सारी शक्तियों की खान हैं। जिनमें से तीन के नाम हैं आत्मशक्ति, जीव-शक्ति, और माया-शक्ति। आत्मशक्ति से चिनजगत् अर्थात वैकुंठ का विकास होता है, जीव शक्ति से अपूर्ण आत्माओं अर्थात् जीव का और माया-शक्ति से अचित् जगत् का। इस प्रकार ईश्वर, जीव और जगत् में यद्यपि भेद है, फिर भी वह अभेद है। जैसे सूर्य और उसकी किरणें एक हैं, उसी तरह ईश्वर, जीव और जगत भी एक हैं। ईश्वर, जीव और जगत् में भेद और अभेद का साथ ही साथ होना बद्ध जीव की बुद्धि में नहीं आ सकता। पर ईश्वर के लिये सब कुछ संभव है। हम ईश्वर, जीव और जगत को अलहदा उसी प्रकार नहीं कर सकते, जिस प्रकार सूर्य और उसकी किरणों को पृथक् नहीं कर सकते। सूर्य के साथ उसकी किरणें अवश्य होंगी। उसी प्रकार ईश्वर के साथ जीव और जगत् भी अवश्य ही होंगे। जीव भगवान का नित्यदास है। भगवान की सेवा करना ही उसका स्वाभाविक कर्तव्य है। इसमें उसका हर तरह से कल्याण है। परंतु जीव को भगवान ने पूर्ण स्वतंत्रता दे रक्खी है। यदि वह चाहे तो भगवान् से विमुख हो सकता है। अज्ञानवश जीव जब भगवान् की सेवा का परित्याग कर अपने सुखभोग ढूँढ़ने लगता है, तभी वह स्थूल शरीर में बँध जाता है, जब वह ईश्वर से स्वतंत्र होना चाहता है तभी परतंत्र हो जाता है। स्थूल शरीर उसको दंड के स्वरूप में मिलता है, इसमें आ कर वह अपने को भूल जाता है। शरीर को ही निज स्वरूप मानने लगता है। इस अज्ञान के कारण वह जन्म मरण के चक्कर में पड़ जाता है। और जब तक उसका यह अज्ञान नहीं मिट जाता, वह नानाप्रकार के दुःख भोगता है। इस अज्ञान को वह अपनी चेष्टा से नहीं मिटा सकता। परन्तु जब वह भगवान् से प्रार्थना करता है और फिर से उनकी सेवा ग्रहण करता है तब भगवान अपनी अपूर्व दया से उसे संसार के बंधन से मुक्त कर देते हैं, तब फिर वह कभी माया जाल में नहीं फँसता।

सौभाग्य और दुर्भाग्य

(पं० लोकनाथ मिश्र)

ईश्वर पर विश्वास करना ही एकमात्र सौभाग्य का लक्षण है। उसी के अभाव में दुर्भाग्य उपस्थित होता है। ईश्वर-विश्वास-हीन बुद्धि असती बुद्धि कही जाती है। जिस प्रकार हित या अहित, कर्तव्य या अकर्तव्य के विचार से रहित असती रमणियाँ जगत् में जंजाल-मात्र हैं, उसी प्रकार ईश्वर-विश्वास-विहीन दुर्भागीगण संसार में जंजाल-मात्र हैं।

ईश्वर-विश्वासी वस्तु तत्त्ववित् हैं। वे लोग भगवद्धाम, भगवन्नाम और भगवद्-भक्त में विश्वास-परायण हैं, जिनमें वे सद्भाव में जीवन भर भगवान् और भक्त की कृपा प्राप्त करते हैं और वे ही सौभाग्य-वान् ईश्वर-विश्वासीगण उसी भाव में लालायित होते हैं। ईश्वर-विश्वासी लोग सत्-असत्-विचार में निपुण रहकर साधु व असाधु के निर्णय में समर्थ होते हैं। इसलिये वञ्चित और वञ्चक बकधर्मीगण के आश्रय में पड़नेवाले ईश्वर-विश्वासी नहीं हैं। दैवयोग से स्वकर्मफल से उन लोगों के आश्रय में जाने से भी ईश्वर के विश्वास का प्रभाव उसी समय

नष्ट हो जाता है और तटस्थ लक्षण के द्वारा ईश्वर-विश्वासी के सौभाग्य का परिचय प्राप्त हो जाता है।

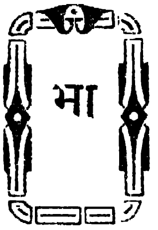
ईश्वर-विश्वास के अभाव में जो दुर्भाग्य उपस्थित होता है, उसके द्वारा मानवगण पद-पद में पतित होते हैं। इस कारण ईश्वर-विश्वास-हीन अवस्था में, नास्तिकवाद, मायावाद, त्यागवाद, या भोगवाद आदि जंजाल प्रत्येक मनुष्य को आत्महत्या के पथ पर ले जाते हैं और उसी समय सत्-असत् विवेचना-रहित होकर अच्छे साधु को दूर करके असत् साधु का समर्थन करते हैं। जिस प्रकार निर्बुद्धि पतङ्ग अग्नि में गिरने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार नास्तिकगण माया का आश्रय लेकर ईश्वर के विरोधी बनकर और सत्य का ध्वंस करके नरक-लाभ करते हैं।

मनुष्य-जन्म पाकर सत्-असत्-विचार का त्याग करना और नास्तिकता का आह्वान करना ही दुर्भाग्य का परिचय है, इसमें संदेह नहीं।

सांसारिक गुण-वस्तु द्वारा विभूषित नास्तिक लोग गुण-हीन दुर्भागी हैं।

अतः भगवत्-भजन द्वारा ही सौभाग्य-लाभ होता है और उसके अभाव में दुर्भाग्य प्राप्त होता है।

श्रीश्रीव्यासपूजा



भारत के अधिवासी महाभारत के देश के आदमी—'ब्रह्मसूत्र' की प्रभा से उद्भासित जनमण्डली में बहुत कम लोग ऐसे हैं, जिन्होंने श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास का नाम नहीं सुना। किन्तु श्रीव्यासदेव का नाम सुनने पर भी हम लोगों में से अनेक ऐसे हैं, जो व्यास-पूजा क्या है, इस विषय में अनभिज्ञ हैं। किसी किसी को 'व्यास-पूजा' शब्द अभिनव, अश्रुतपूर्व ही जान पड़ता है। अनेक लोगों ने व्यास-पूजा का नाम तो सुना है, किन्तु व्यास-पूजा की प्रणाली क्या है, अर्थात् क्या उपहार अर्पण करके किस तरह व्यासदेव की पूजा करनी चाहिए, इस विषय में वे अज्ञ हैं।

हमारे पूर्व पूर्व आचार्यगण ने जगत् को शिक्षा-प्रदान और जगत् में शिक्षा-विस्तार करने के लिए ही युग-युग में इस व्यास-पूजा का आचरण किया है। अनिमेषक्षेत्र नैमिषारण्य में सूत गोस्वामी महाराज ने व्यासदेव के मुख से सुनी हुई हरिजन को तोषण करनेवाली श्रौतवाणी शौनकादि ऋषियों के आगे कीर्तन करके व्यासपूजा की थी। माध्वगौड़ीय संप्रदाय के पूर्वाचार्य श्रीमध्वपादजी ने बदरिकाश्रम में गीता भाष्य का कीर्तन कर इस व्यास-पूजा की अखंड मंगल आरती उतारी थी। फिर विष्णु के श्रीचरणों से निकली हुई गंगाजी के तट पर अन्तर्द्वीप श्रीधाम मायापुर नवद्वीप में कीर्तनस्थली श्रीवास-अंगन में जगद्गुरु बलदेवाभिन्न श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रौतवाणी का कीर्तन करके व्यास-पूजा का आदर्श दिखलाया है। क्या सूत गोस्वामी, क्या मध्वाचार्य और क्या नित्यानन्द प्रभु, सभी ने—

> कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
> द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

इस व्यासोक्त विष्णु पूजा प्रणाली के समर्थन द्वारा—इसी प्रणाली से कीर्तन द्वारा व्यास पूजा करके श्रौतमार्ग से व्यास-पूजा प्रणाली की शिक्षा दी है।

अश्रौत या तर्कपन्था परित्यागपूर्वक श्रौतमार्ग या गुरुवाक्य का ग्रहण ही व्यास-पूजा का तात्पर्य है। आरोहवाद को बहु मानना न करके अवरोहमार्ग में गुरु वैष्णवानुगत्य से ही श्रीहरिसेवा के लिए प्रस्तुत होना ही व्यास-पूजा का उद्देश्य है।

इस व्यास पूजा में किसका अधिकार हो सकता है? श्रीव्यासदेव ने महाभारत में कहा है—"सर्वे वर्णा ब्रह्मजा ब्राह्मणाश्च।" अर्थात् सभी वर्ण ब्रह्म से उत्पन्न और ब्राह्मण हैं। सभी को गुरु-पूजा करने का अधिकार है। किन्तु सभी व्यास-पूजा के अधिकारी होने पर भी व्यास-पूजा की योग्यता कितने आदमियों ने प्राप्त की है? जैसे प्रत्येक पुरुष का पिता और प्रत्येक स्त्री को माता होने का अधिकार रहने पर भी पञ्चवर्षीय बालक या पाँच वर्ष की बालिका को उस समय वह योग्यता नहीं होती, वैसे ही 'व्यास-पूजा

करने का सकल अङ्गों का अधिकार रहने पर भी उसकी योग्यता प्राप्त करने की आवश्यकता है।

पूजा करनी हो या पूजा करने की योग्यता प्राप्त करनी हो तो पहले ही भूतशुद्धि आवश्यक है। कारण, शास्त्र कहता है 'नादेवो देवमर्चयेत्' अदेव कदापि देवता की पूजा नहीं कर सकता। प्राकृत वस्तु कभी अप्राकृत वस्तु की सेवा नहीं कर सकती। पूज्य और पूजक का सहजाती यत्व न रहने से पूजा नहीं होती। अचित् के द्वारा चेतन की पूजा नहीं होती, और चेतन अचेतन का ज्ञानगम्य विषय नहीं हो सकता।

जिन्होंने बाह्य प्रक्रिया को ही भूतशुद्धि समझ रक्खा है, वे कर्ममार्ग के पथिक हैं। स्थूल देह की शुद्धि को ही वे भूतशुद्धि समझते हैं और बाह्य शौच लाभ करके यह समझ लेते हैं कि हमने पूजा की योग्यता प्राप्त कर ली है। प्रकृत पक्ष में इस प्रकार की जड़ की चेष्टा द्वारा चेतन की पूजा नहीं होती। जड़ की चेष्टा से नश्वर जड़ वस्तु की पूजा हुआ करती है। कारण, कर्मपथिकजनों की भूतशुद्धि या बाह्य शौच "कुञ्जर-शौचवत्" अथवा "सुराकुम्भमिवापगाः" है, अर्थात् जैसे हाथी को नहला देने पर भी बाद को वह फिर अपनी सूँड़ से अपने शरीर पर धूल डाल लेता है, अथवा मदिरा का घड़ा जैसे नदी के जल में धोने पर भी वह मदिरा की गंध को नहीं छोड़ता, वैसे ही कर्मचेष्टा के द्वारा स्थूल देह की क्रिया द्वारा कभी चेतनवस्तु की पूजा की योग्यता नहीं पाई जा सकती। इसी कारण श्रुति (मुंडकोपनिषद् १।१२) ने कहा है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्,
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

इस प्रकार हम लोग कर्ममार्ग के हेय होने की बात जानकर अन्तःशौच के द्वारा भूतशुद्धि करने के लिए ज्ञान-मार्ग के पथिक हो पड़ते हैं और कर्मनिन्दा या भोगनिन्दा करके त्याग का बहुमान करते हैं। श्रुति के तात्पर्य को ग्रहण न कर सककर फल्गुत्याग और निर्विशेष उपलब्धि को ही चरम आदर्श जानते हैं। अज्ञान कर्मसंगित्व की अवस्था से हमारा उद्धार करने के लिए शास्त्र ने जो जड़-विशेष या भोगत्याग की बात कही है, हम उसी को अन्तिम बात मानकर वञ्चित होते हैं। जो लोग निर्विशेष ज्ञान पथ के पथिक होने को ही चरमलक्ष्य समझते हैं, वे अवश्य ही वञ्चित होते हैं। इसी से श्रीमद्भागवत (१०।१४।४) में कहा है—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

अर्थात् हे भगवन्, जो लोग श्रेय के मार्ग भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान-लाभ के लिए क्लेश-स्वीकार करते हैं, उन्हें केवल क्लेश-भोग ही हाथ लगता है। वे भूसी में चावलों की खोज करनेवाले हैं। वे भूसी को ही चावल समझकर वञ्चित होते हैं।

सुतराम् जो लोग "नादेवोदेवमर्चयेत्" इस भूतशुद्धि के तात्पर्य को समझ न पाकर "तत्त्वमसि श्वेतकेतो," "अहं ब्रह्मास्मि," "अयमात्मा ब्रह्म" आदि श्रुति-वाक्यों के तात्पर्य को हृदयंगम न कर पाकर निर्विशेष अवस्था को ही चरम प्रयोजन मानते हैं, वे भी व्यासजी के अनुगत नहीं हैं। व्यासदेव ने अपने अकृत्रिम ब्रह्मसूत्र-भाष्य श्रीमद्-भागवत में इस प्रकार की विचार-प्रणाली का आदर नहीं किया।

यम आदि क्रियाओं के द्वारा जो भूतशुद्धि की प्रणाली है, वह भी व्यासदेव का मनोऽभीष्ट नहीं है। जागतिक विचार में इस तरह का व्यापार कुछ अपूर्व और प्रशंसित हो सकता है। जैसे जो व्यक्ति नित्य चार बार आहार किए बिना नहीं रह सकता, वही एक चार दिन के उपवासी व्यक्ति की बड़ाई सुनकर मुग्ध हो सकता है। किन्तु उसके द्वारा आत्मतृप्ति की सार्थकता नहीं हो सकती। यथा भाग-वत (१।६।३६) में लिखा है—

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाद्धात्मा न शाम्यति॥

मुकुन्द सेवा द्वारा ही आत्मा को शान्ति मिल सकती है। कीर्तन द्वारा ही व्यासपूजा की योग्यता प्राप्त होती है—यथार्थ भूतशुद्धि होती है।

श्रुति कहती है कि जिस घड़ी विराग उपस्थित होगा, उसी घड़ी जड़ भोग में विराम लाभ करके भगवत्सेवा में रुचि होगी। उसके कालाकाल का विचार नहीं है। जड़ भोग निवृत्त होते ही जीव परिव्राजक होकर आचार्य के

चरणों का आश्रय लेता है। उस आचार्य चरणों के आश्रय को ही भाषान्तर में व्यासपूजा कहते हैं। व्यासपूजा का अनुष्ठान चारों आश्रमों में विहित है। हाँ, चतुर्थाश्रमी लोग इसे यत्न के साथ सुसम्पन्न करते हैं।

श्रीव्यासपूजा का नामान्तर श्रीगुरुपादपद्म में पाद्यार्पण है। या इसके द्वारा श्रीगुरुदेव का मनोऽभीष्ट जो मुख्य भगवत्सेवन है, वही अदिष्ट होता है। इसी कारण हमारे शुभचिन्तक पूर्वगुरु श्रीनरोत्तम ठाकुर महाशय ने आदिगुरु को अर्घ्य प्रदान के उद्देश से कहा है—

श्रीचैतन्यमनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले।
स्वयंरूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्॥

श्रीमत्कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी भागवत-धर्म के प्रचारक और आचार्य हैं। उन्होंने अनर्थयुक्त जीव की अनर्थ-मुक्ति के उपाय-स्वरूप भक्तियोग की बात ही भागवत में कही है। व्यासानुग सम्प्रदाय में जो आचार्य के आसन पर बैठकर भागवत-धर्म का आचरण और प्रचार करते हैं, उन शब्द-ब्रह्म और परब्रह्म में निष्णात गुरुदेव की पूजा ही व्यासपूजा है। फिर श्रीभागवत-धर्म का आचार और प्रचार ही स्वयं श्रीभगवान चैतन्यदेव का मनोऽभीष्ट है। श्रीगुरुदेव ने ही रूपानुग-रूप से अवतरण करके गौरमनोऽभीष्ट कीर्तनाख्य भक्तिधर्म का आचार और प्रचार किया है। परमकृपा-पर-वश श्रीचैतन्यदेव की कृष्णप्रेम-प्रदान-लीला—जिसे श्रीरूपजी ने अपने अनुगामियों के लिए नित्य सेवावैमुख्य-व्याधिमोचन के वास्ते दवा और पथ्य बतलाया है—वही गौड़ीयों की व्यासपूजा का आदर्श उपायन है।

आगामी २६ फ़रवरी (१९३२ ई०) शुक्रवार कृष्ण-पञ्चमी तिथि को श्रीधाम मायापुर के श्रीचैतन्यमठ में गौड़ीय भक्तजन व्यासपूजा का महामहोत्सव करेंगे। इस उपलक्ष में वे श्रद्धालु जनों से उपस्थित होने के लिए साग्रह अनुरोध करते हैं।

श्रीश्रीनवद्वीप-धाम-परिक्रमा

आगामी १६ मार्च शुक्रवार के दिन श्रीश्रीनवद्वीप धाम परिक्रमा का अधिवास कीर्तन और १२ मार्च शनिवार से २० मार्च रविवार तक नव दिन में नवद्वीप के नव द्वीपों की परिक्रमा होगी। नवद्वीप-परिक्रमा एक देखने की चीज़ है। सारे बंगाल या संपूर्ण भारतवर्ष में ऐसा दृश्य और कहीं भी देखने को नहीं मिलता। महाप्रभु श्रीगौरांगदेव ने अपनी बाल्यलीला से लेकर अप्रकट लीला के पहले तक जिस जिस स्थान में जो-जो लीला की थी, सो सब श्रीमायापुर के श्रीचैतन्यमठ के सेवकगण समागत यात्रियों को दिखाते हैं। प्रत्येक द्वीप में महा-महोत्सव, संकीर्तन, वक्तृता, गान, ग्रन्थपाठ, व्याख्या आदि आनन्दोत्सव हुआ करता है। समागत हज़ारों यात्रियों को श्रीचैतन्यमठ के सेवकगण महाप्रसाद बाँटते हैं। एक द्वीप से अन्यद्वीप में यात्रियों के बिस्तर-बिछौने वग़ैरह ले जाने का सारा खर्च वे ही वहन करते हैं और रोगी तथा आतुर व्यक्ति के लिए ज़रूरी औषध-पथ्य आदि का बंदोबस्त भी कर देते हैं। खोल, करताल आदि बाजों के साथ शोभायात्रा (जलूस) निकलता है। कलकत्ते की सिनेमा कंपनी बायस्कोप के लिए उस दृश्य का फ़ोटो लेती है।

नवद्वीप कहने से केवल म्यूनिसिपल शहर को ही नवद्वीप न समझना चाहिए। वह तो नवद्वीप के नवद्वीपों के अन्तर्गत एक अंशमात्र है। उसे प्राचीन पोथी में 'कोलद्वीप' कहा गया है। इस कोलद्वीप या कुलियाँ शहर और महाप्रभु के जन्मस्थान के बीच गंगाजी बहती हैं। गंगा के पूर्व पार में महाप्रभु का असल जन्मस्थान श्रीमायापुर है। महाप्रभु के जन्मस्थान प्राचीन नवद्वीप मायापुर में ही बल्लालसेन की राजधानी थी। इस समय भी उसके भग्नावशेष देखने को मिलते हैं। बल्लालदीघी नाम से एक सूखी हुई दीघी (तालाब) इस समय भी वहाँ देख पड़ती है।

महाप्रभु का जन्मस्थान अन्तर्द्वीप के अन्तर्गत है। नवद्वीप के नवोद्वीपों के नाम ये हैं— अन्तर्द्वीप, सीमन्तद्वीप, गोद्रुमद्वीप, मध्यद्वीप, कोलद्वीप, ऋतु द्वीप, जह्नुद्वीप, रुद्रद्वीप और मोदद्रुमद्वीप। परिक्रमा में यात्री लोग इन नवद्वीपों की परिक्रमा करके फाल्गुनी पूर्णिमा (होली) के पहले दिन महाप्रभु के जन्म-स्थान में लौट आकर अधिवास कीर्तन

करते हैं। फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन महाप्रभु का जन्मोत्सव होता है। इस दिन वहाँ हजारों लोगों का समागम होता है। केवल बंगाल से ही नहीं, भारत के सभी स्थानों से — बंगाल के हर गाँव, नगर, शहर, राजधानी, उत्तर-पश्चिम प्रदेश, उड़ीसा, मद्रास, पंजाब, बंबई से तथा इनके सिवा यूरोपियन अधिवासीगण भी यह दृश्य देखने को आया करते हैं।

परिक्रमा किसे कहते हैं ?

किसी वस्तु या स्थान के चारों ओर पैदल घूम आने को परिक्रमा कहते हैं। गृहस्थ जब नए घर में प्रवेश करते हैं, तब स्वामी और स्त्री एकत्र होकर आँचल में आँचल बाँध कर हाथ से हाथ पकड़कर घर के चारों ओर परिक्रमा करते हैं। बैल आदि पशु खूँटे के चारों ओर घूम घूमकर धान्य की मड़नी करते हैं। उनके इस तरह के कार्य को भी हम परिक्रमा कहते हैं।

स्वामी और स्त्री जो घर के चारों ओर परिक्रमा करते हैं, वह नित्य नहीं है। अधिक क्या, उस घर में रहकर यदि श्रीहरि की आराधना न हो, तो वह घर ही अधोगति का कारण होता है। भगवान् के भक्त-जन इसीलिए श्रीभगवान के मंदिर, श्रीभगवान के श्रीविग्रह और भगवत्प्रिय तुलसी-मंच आदि का परिक्रमा किया करते हैं।

जिस स्थान के चारों ओर हम घूमते हैं, उसके प्रति हमारे मन में स्वभाव से ही आसक्ति उत्पन्न हुआ करती है। अनित्य गृह के चारों ओर घूमने से अनित्य वस्तु के ऊपर आसक्ति होती है, और नित्य वस्तु के भगवान् के —भगवान् के निवासस्थान के चारों ओर घूमने से भगवान में ही आसक्ति हुआ करती है। इसी कारण साधनभक्ति के ६४ अंगों में परिक्रमा भी एक भक्ति का अंग मानकर रक्खी गई है। यथा हरिभक्तिसुधोदय ने कहा है —

विष्णुं प्रदक्षिणीकुर्वन् यस्तत्रावर्तते पुनः।
तदेवावर्तनं तस्य पुनर्नावर्तते भवे॥

अर्थात् जो व्यक्ति विष्णु की प्रदक्षिणा करने में जितनी बार आवर्तन करता अर्थात् घूमता है, उसे उस आवर्तन के कारण फिर कृष्णाभिमुख होकर संसार में पुनरावर्तन अर्थात् पुनः जन्मग्रहण नहीं करना पड़ता।

स्कन्दपुराण में लिखा है—

चतुर्वारं भ्रमीभिस्तु जगत्सर्वं चराचरम्।
क्रान्तो भवति विप्राग्र्य तत्तीर्थगमनाधिकम्॥

अर्थात् हे विप्रश्रेष्ठ, विष्णु की चार बार प्रदक्षिणा करने से संपूर्ण चराचर जगत् की परिक्रमा करने का फल प्राप्त हो जाता है और गंगादि तीर्थस्थानों में जाने की अपेक्षा भी अधिकतर नित्य मंगल मिलता है; क्योंकि उसके द्वारा बहुत शीघ्र हरिभक्ति लाभ हो जाती है।

धाम-परिक्रमा की आवश्यकता

शास्त्र कहता है—

संसारमरुकान्तार - निस्तारकरणक्षमौ।
श्लाघ्यौ तावेव चरणौ यौ हरेस्तीर्थगामिनौ॥

अर्थात् जो पैर हरि के तीर्थों में जाते हैं, वे ही अतिशय प्रशंसनीय हैं। कारण, उनके द्वारा संसाररूप मरुभूमि के दुर्गम मार्ग को पार किया जा सकता है।

श्रीमद्भागवत में भी लिखा है—

पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥

जो लोग दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर भी दोनों पैरों से श्रीहरि की लीला के स्थानों में विचरण नहीं करते उनके दोनों पैर वृक्षमूलतुल्य हैं, अर्थात् उन सब लोगों के मनुष्य जन्म प्राप्त करने से क्या होता है वास्तव में वे आच्छादित चेतन वृक्ष की तरह हैं। गौड़ीय वैष्णवकुलचूडामणि श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने उपर्युक्त श्लोक की टीका में लिखा है —

"वृक्षमूलतुल्याविति—यमदूतैरेव कुठारैश्छिद्यमानौ तौ भविष्यत इति भावः।" अर्थात् वे वृक्षमूलतुल्य स्थावर हैं। उन्हें यमराज के दूत कुल्हाड़े से काटते हैं।

अतएव इन पैरों के द्वारा यदि हम भगवान और भक्तों के आविर्भाव के स्थानों में भगवद्भक्तों के आनुगत्य द्वारा, उन लोगों के साथ जाकर वहाँ के दर्शन करें तभी हमारे मनुष्य-देह-धारण की सार्थकता है, नहीं तो हममें और पशु, पक्षी, वृक्ष आदि में कोई भेद नहीं है।

हम अनर्थयुक्त बद्ध जीव हैं। अनर्थ से मुक्त होने के लिए हमको बहिर्मुख इन्द्रियों को भगवान के सेवानुकूल कार्य में नियुक्त करना चाहिए। महाराज अम्बरीष पृथ्वी के एकच्छत्र सम्राट् होकर भी समस्त इन्द्रियों के द्वारा श्रीहरि की सेवा करते थे। उन्होंने दोनों चरणों को धाम परिक्रमा के कार्य में नियुक्त किया था। जैसा कि भागवत में लिखा है—

"पादौ हरेः क्षेत्र पदानुसर्पणे।"

शुक-पीठ में प्रभुपाद

(गत संख्या से आगे)

मेला के समय शुकरतला में मुज़फ़्फ़रनगर और भोपा से और दूसरी ओर बिजनौर, शुकरहेड़ी, भिक्खी, गाज़ियाबाद आदि स्थानों से ताँगे, बैलगाड़ी वग़ैरह सवारियाँ आती-जाती हैं। इस स्थान की धर्मशालाएँ भीड़ से ठसाठस भर जाती हैं। इस समय सब धर्मशालाएँ ख़ाली पड़ी थीं। केवल दण्डीबाड़ा में कई उदासी साधु थे। शुकरतला से भिक्खी, शुकरहेड़ी और गाज़ियाबाद आदि स्थान न्यूनाधिक २३ मील के अंदर ही हैं। इन्हीं सब स्थानों से यहाँ खाने-पीने की सामग्री मँगानी पड़ती है। शुकरतला में पीने के पानी के सिवा और कुछ भी नहीं मिलता। श्रीशुकदेव-आश्रम कमेटी मेले का सब बंदोबस्त और यात्रियों के आने जाने के रास्ते की मरम्मत वग़ैरह करती है। नीचे शुकदेव-आश्रम-कमेटी के पदाधिकारियों और सभ्यों के नाम दिए जाते हैं —

प्रेसीडेंट रायबहादुर लाला जगदीशप्रसाद।

सेक्रेटरी लाला रामस्वरूप रहूया।

एक्जीक्यूटिव कमेटी के मेंबर लाला क्षेत्रीदास रहूया, रायसाहब लाला आनन्दस्वरूप, लाला तुलसीराम, सेठ देवीसहाय, चौधरी सूरजमल (वभेरानिवासी) इत्यादि।

मुज़फ़्फ़रनगर की सनातनधर्म-सभा के मंत्री महाशय ने हमें बतलाया कि भिक्खीनिवासी ज़मींदार लाला मनोहरलाल इस "शुकदेवजी" (स्थान) की सफ़ाई और तरक़्क़ी करने की ओर विशेष ध्यान और आग्रह रखते थे। किन्तु छः महीने हुए, उनका देहान्त हो गया है।

शुकरतला या "शुकदेवजी" स्थान से दो मील के अंतर पर "नीलकंठेश्वर" नाम का एक स्थान है। वहाँ भी मेला के समय यात्री लोग जाया करते हैं।

स्थानीय संवाददाता ने कहा—साधारण के चंदे से और शुकदेव-आश्रम-कमेटी के प्रयत्न से शुकरतला टीले की सीढ़ियों का और मंदिर वग़ैरह का संस्कार (या मरम्मत) हुआ करता है। यहाँ उक्त आश्रम-कमेटी के द्वारा नियुक्त एक पुजारी ब्राह्मण जल, पुष्प आदि से नित्य पाद-पीठ की पूजा करता है।

सनातनधर्मसभा के मंत्रीजी ने यह भी हमें बाद को बतलाया कि शुकदेव-टीले के आस पास के टीले भी खूब ऊँचे थे, किन्तु गंगा के प्रवाह से वे सब मिटते-गिरते जा रहे हैं। यह भी मालूम हुआ कि इस भूखण्ड के चार ज़मींदार हैं—लाला मनोहरलाल, लाला तुलसीराम, बिहारीलाल और लालू मसाअहमद।

श्रीश्रीप्रभुपाद श्रीशुकदेवपाद-पीठ के मंदिर के सामने वटवृक्ष की छाया के नीचे बैठे। भक्तगण भी उनके चरणों के निकट बैठकर कुछ देर तक संकीर्तन करते रहे। उसके बाद श्रीप्रभुपाद ने दिग्दिगन्त मुखरित करके श्रीमद्भागवत द्वादश स्कंध के छठे अध्याय से १३वें अध्याय तक के श्लोक उच्चारण करके स्थान स्थान पर उनकी व्याख्या भी सुनाई। श्रीश्रीप्रभुपाद ने श्रीशुक परीक्षित संवाद का सारांश कीर्तन करके महाराज परीक्षित के चरित्र और इतिहास का वर्णन किया। श्रीप्रभुपाद ने इस प्रसंग में यह भी कहा कि देहान्त होने के बाद लोग मनुष्य को गंगा-यात्रा कराते हैं। जड़ वस्तु शरीर को लेकर इस तरह खींचतान करने से क्या मंगल होगा? जब जीवन रहता है, चेतन रहता है, तब यदि इस परीक्षित के प्रायोपवेशन-क्षेत्र में आकर हरिकथा सुनी जाय, तभी जीव का नित्य मंगल हो सकता है। इस स्थान में नित्य श्रीभागवत का पारायण हो और भागवत के कीर्तन की उद्दीपना के चैतन्यकीर्तनमय स्मृतिमंदिर की स्थापना हो।

श्रीप्रभुपाद ने इस प्रकार नाना प्रकार के उपदेश और हरिकथा कीर्तन किया। श्रीशुकदेव पाद पीठ के सामने दण्डवत्प्रणाम करके सपार्षद श्रीप्रभुपाद श्रीशुक-परीक्षित्-कीर्तन-श्रवण-पीठ का स्मृति कीर्तनोत्सव करते करते श्रीशुकटीले से उतरे। अन्यान्य मंदिरों और स्थानों का दर्शन करके तीसरे पहर ३ बजे हम लोग फिर सवारी पर बैठे। विष्णुरात परीक्षित महाराज की राजधानी श्रीकृष्णसखा पाण्डवों की राजधानी, श्रीकृष्ण-चरणाभिषेकक्षेत्र श्रीहस्तिनापुर को देखने के लिए शुभविजय करने की इच्छा जताकर श्रीप्रभुपाद भागवत-कथा कीर्तन करते करते भोपा से संध्या के पहले ही मुज़फ़्फ़रनगर में आ पहुँचे। प्रभुपाद के मुज़फ़्फ़रनगर लौटने पर स्थानीय बहुत से प्रतिष्ठित व्यक्ति प्रभुपाद की वाणी श्रवण करने के लिए आकर उपस्थित हुए। श्रीप्रभुपाद ने उनके आगे भी बहुत रात बीते तक भागवत-प्रसंग का कीर्तन किया।

स्वदेश और विदेश

(पं० लोकनाथ मिश्र)

काल, कर्म और स्वभाव के अनुसार जिस देश में हम लोगों का जन्म होता है, अर्थात् मातृगर्भ से हम भूमिष्ठ होते हैं, उसी देश को हम लोग स्वदेश कहकर उसका आदर व पूजा करते हैं। उसको छोड़कर जितने देश हैं, वे हम लोगों के लिये स्वदेश नहीं। विदेश समझकर उनका आदर व पूजा नहीं होती, वरन् बहुत जगह में उनको घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

जिस देश में हम लोगों का जन्म होता है, उसी देश की सीमा और आचार देश, काल, पात्र के अनुसार विस्तृत होता है। हम लोग जब अपने को भारतवासी कहकर अभिमान करते हैं, तब भारत के बाहर के अफगान फारस, टर्की आदि देशों को विदेश कहते हैं, और जिस समय हम अपने को बङ्गाली कहते हैं, उस समय पंजाबी, उड़िया, मदरासी को विदेशवासी कहकर पुकारते हैं। इस बङ्गाल के अन्तर्गत जो लोग अपने को पूर्व-वङ्गवासी जानते हैं, वे सोचते हैं कि उत्तर-पश्चिम-वङ्गदेश हम लोगों का देश नहीं है।

इस प्रकार हम लोग स्वदेश और विदेश का कल्पित ज्ञान निर्धारित करके स्वदेश की उन्नति करने के लिये भिन्न देशों पर हिंसा-प्रवृति रखते हैं। स्वाभाविक देहधारी जीव इस भाव में स्वजाति-स्वदेश की प्रीति द्वारा आबद्ध है। यह प्रकृति और देहधारी मनुष्य का स्वभाव है।

जिन लोगों को देह और मन के अतीत राज्य के संवाद ग्रहण की सामर्थ्य है, उन लोगों के विचार इस विचार से श्रेष्ठ हैं। उन लोगों को नित्य, अनित्य, स्वरूप, विरूप, स्वदेश, विदेश, आत्मा (जीवात्मा, परमात्मा), जड़, चेतन और ईश्वर इन सब के विषय भोग और तटस्थ स्वरूप का लक्षण ज्ञात है।

उन लोगों की धारणा बद्ध भूमि में आबद्ध नहीं है। वे लोग ससीम विचार द्वारा असीम वस्तु को नाप लेने के लिये इच्छा नहीं करते। वे लोग ससीम वस्तु को परिदृश्यमान और असीम वस्तु को स्वयमागत मानते हैं। उस वस्तु को वे उन्हीं की कृपा से जानते हैं। ये लोग दिव्य ज्ञान-सम्पन्न महात्मा और महापुरुष के नाम से विख्यात हैं।

महापुरुष यह जानते हैं कि यह जगत् स्वकर्म के नियमानुसार कुछ दिन के लिये जीवों का वासस्थान है, और वही एक जीव स्वकर्म-फल भोग के लिये पुनः-पुनः भिन्न-भिन्न देश और भिन्न-भिन्न जाति में शरीर ग्रहण करता है।

अतः इस जन्म में जिसको हम विदेश कहते हैं, दूसरे जन्म में वही हमारा स्वदेश और इस जन्म का स्वदेश विदेश हो जाता है। इसलिये जीव के नित्य स्वरूप में संसार में स्वदेश और विदेश कोई नहीं है; क्योंकि स्वरूप में सबकी गोलोक में स्थिति होती है।

गत २० फरवरी माघ शुक्ल त्रयोदशी शनिवार से ३ दिन तक श्रीनित्यानन्द महाप्रभु जी के आविर्भाव के उपलक्ष में श्रीधाम मायापुर योगपीठ में महा महोत्सव हुआ। श्रीनित्यानन्द प्रभु का विवरण आगामी संख्या में दिया जावेगा।

श्रीसरस्वतीपूजा



भगवान की शक्ति अनन्त होने पर भी जीव को उनकी तीन शक्तियों का ही परिचय प्राप्त है। यथा (१) चित्‌शक्ति, (२) जीवशक्ति और (३) मायाशक्ति। चित्‌शक्ति का दूसरा नाम स्वरूपशक्ति या अंतरंगा शक्ति है। जीवशक्ति का नामान्तर तटस्था शक्ति और मायाशक्ति का नामान्तर बहिरंगाशक्ति है। जीवशक्ति को तटस्थाशक्ति कहने का तात्पर्य यह है कि वह अन्तरंगाशक्ति और बहिरंगाशक्ति, इन दोनों शक्तियों के अधीन होने के योग्य है। जीव जब बहिरंगाशक्ति या मायाशक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ होकर भी अपने को उसके साथ सम्बन्धयुक्त समझता है, तब वह बहिरंगाशक्ति या मायाशक्ति की अधीनता में माया की सेवा करने को बाध्य होता है। इस समय वह "कर्मी" या "ज्ञानी" के नाम से जड़ जगत में परिचित नहीं होता। जब जीव माया की अविद्यावृत्ति की सेवा में नियुक्त होता है, तब वह अपने को 'कर्मी' और जब माया की विद्यावृत्ति की सेवा में लगता है, तब 'ज्ञानी' कहता है। इसके सिवा और भी एक श्रेणी के जीव हैं, वे माया की दोनों वृत्तियों में से किसी की सेवा न करके चित्‌शक्ति, स्वरूपशक्ति या ह्लादिनीशक्ति के दास्य में अपने को नियुक्त करके स्वस्वरूप में भगवत्सेवा में लगे रहते हैं। ये कर्मी या ज्ञानी के नाम से परिचित होने के बदले भक्त के नाम से अपना परिचय देते हैं। अतएव जगत् में जितनी तरह के जीव हैं, उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है माया के वशीभूत या अविद्याश्रित एवं मायामुक्त या विद्याश्रित। अविद्याश्रित व्यक्तिगण माया के सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों में आबद्ध होकर "समशीलम् भजन्ति वै" अर्थात् स्वभाव के अनुसार जीव तत्तद्‌गुणविशिष्ट देवताओं की उपासना करते हैं, इस भागवत-वाक्य के अनुसार माया की नाना प्रकार से उपासना करते रहते हैं। इस प्रकार के उपासकों में शाक्त, वैष्णव शैव, सौर, गाणपत्य और विष्णु के सगुण उपासक या सामान्य वैष्णव, ये पाँच प्रकार के विभाग प्रधानरूप से लक्षित होते हैं। विभिन्न गुणावलम्बी व्यक्तिगण अपनी अपनी रुचि या स्वेच्छाचारिता के वशवर्ती होकर किसी एक विशेष देवता को प्रधानरूप से स्वीकारपूर्वक शैव, शाक्त, सामान्य वैष्णव आदि आख्याओं से आख्यात अर्थात् किसी एक विशेष देवता के उपासक के नाम के परिचित होने पर भी वे भोगार्थ धन की कामना से लक्ष्मी, अर्थ, या प्रतिष्ठादायक विद्या की कामना से सरस्वती आदि देवताओं की लौकिक प्रथा के अनुसार पूजा करते हैं। श्रीजीवगोस्वामिचरण ने तत्त्वसन्दर्भ (१७ अनु०) में लिखा है कि प्रकृतिजनपूजिता सरस्वती देवी संकीर्ण शास्त्र आदि की प्रतिपाद्य देवता हैं। यथा

सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणाञ्च निगद्यते।

'सङ्कीर्ण' शब्द का अर्थ श्रीजीवपाद ने इस प्रकार किया है—सङ्कीर्णेषु सत्त्वरजस्तमोमयेषु। 'सरस्वती' शब्द का तात्पर्य है - "नानावर्णात्मक—तदुपलक्षितनाया देवताया इत्यर्थः" अर्थात् विविध वाक्यों की अधिष्ठात्री देवता। इसके द्वारा नाना देवदेवियाँ भी उपलक्षित होती हैं। तात्पर्य यह कि सरस्वती वाक्य की अधिष्ठात्री देवी हैं। इसके द्वारा वह अपने माहात्म्य को प्रकट करके विविध वाक्यों के द्वारा विभिन्न देवताओं की महिमा का कीर्तन किया करते हैं; इसी कारण श्रीजीवगोस्वामी प्रभु ने 'सरस्वती' शब्द से अनेक देवदेवियों का भी लक्ष्य किया है। सरस्वती के वाक्याधिष्ठात्री देवता होने के कारण नाना देवदेवियाँ उपलक्षित होने पर भी वास्तव में सरस्वती कहने से किसी एक पृथक् देवता का ही बोध होता है। श्रीसरस्वती को विद्या या ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी कहा जाता है।

जड़ जगत में मायादेवी दुर्गा के नाम से परिचित हैं। उनके आवरण के भीतर हम सरस्वती को देख पाते हैं। फिर ऐकान्तिक (अनन्य) भक्तगण भी सरस्वती देवी की भगवत्शक्ति के रूप से पूजा किया करते हैं, यह भी देखा जाता है। श्रीभागवतोक्त महाभागवत-प्रवर श्रीसूत गोस्वामी महाराज भागवत के आरंभ में मंगलाचरण में पराविद्यारूपिणी सरस्वती को प्रणाम करते हैं -

देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्।

(भाग० १।२।४)

श्रीमद्‌भागवत के द्वितीय स्कन्ध में मुनिगणगुरु श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज ने "प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती" (भाग० ११२।२२) इस वाक्य में वेदरूपा वाणी श्रीसरस्वती के भगवान् की आज्ञा से आदिगुरु श्रीब्रह्मा के मुख-

कमल से प्रकट होने की प्रसिद्धि के कथा-प्रसंग में यह जनाया है कि श्रीसरस्वती श्रीकृष्ण को ही एकमात्र उपास्य निर्दिष्ट करती हैं। "सरस्वती कथं भूता - स्वं श्रीकृष्णं लक्षयति उपास्यत्वेन दर्शयतीति वा" (चक्रवर्तिचरण)।

यहाँ आलोच्यस्थल में मायाबद्ध और मायामुक्त, दोनों प्रकार के जीवों की अधिदेवता श्रीसरस्वती देवी की पूजा का प्रसंग दिखलाया गया। सिद्धान्तस्थल में अब विचार्य यह है कि इन दोनों की उपास्य देवता सरस्वती एक ही हैं या अलग अलग दो हैं? मायामुक्त और मायाबद्ध जीव की उपास्य सरस्वती एक नहीं है। एक स्वरूपशक्ति या अन्तरंगा शक्ति की वृत्ति है और दूसरी मायाशक्ति या बहिरंगाशक्ति की वृत्ति विशेष है। एक कृष्णभजनप्रदर्शिनी वेदान्तिका अर्थात् कृष्णकृपारूपिणी सन्मुखीनता वीर्यवती कृष्णकीर्तनसरस्वती है, और दूसरी बहिरर्थप्रदर्शिनी विमुखविमोहिनी कृष्ण की वागविलासिनी है। मायाशक्ति और चित्शक्ति शक्तिविचार में अभिन्न होने पर भी, वस्तु और अवस्तु की छाया जैसे पृथक् है, वैसे ही माया और चित्शक्ति सजातीय और विजातीय विचार से परस्पर विभिन्न हैं। मायाशक्ति शक्तिमान भगवान् की ही शक्ति होने पर भी, दुष्ट पत्नी जैसे स्वामी के समीप जाने में लज्जा का अनुभव करती है, वैसे ही मायाशक्ति भी "विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया" (भागवत २।७।१३) इस भागवत के वचन के अनुसार भगवान के सम्मुख गमन नहीं कर सकती, और चित्शक्ति भगवान के निकट निरन्तर अवस्थित रहकर तदीय सेवासुख प्राप्त करती हैं।

मायाशक्तिगत सरस्वती के उपासकों में सरस्वती के वरपुत्र कहलानेवाले सुप्रसिद्ध महाकवि कालिदास का नाम हम पुराकाल के इतिवृत्त में जान सकते हैं। परवर्तीकाल में श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव के प्रकटसमय में उदित केशव काश्मीरी नाम के एक विख्यात दिग्विजयी पण्डित का नाम भी ग्रन्थ में देख पड़ता है। केशव काश्मीरी ने भी सरस्वती की आराधना के प्रभाव से कवित्व शक्ति प्राप्त की थी। नवद्वीप की तात्कालिक अवस्था के वर्णन प्रसंग में श्रीव्यासावतार ठाकुर वृन्दावन के भागवत-छंद में देख पड़ता है—"सरस्वती प्रसाद से सभी महादक्ष!" चै० भा० २।४८)। पराविद्यारूपिणी श्रीसरस्वती के पति श्रीगौरनारायण के श्रीनवद्वीप में अवतार लेने पर प्रकृति जनोपास्य सरस्वती के वरपुत्रों की सारी पाण्डित्य-प्रतिभा मलिन पड़ गई थी। दिग्विजयी केशव काश्मीरी के प्रति सरस्वती के उपदेश-वाक्य श्रीचैतन्यभागवत के लेखक ने इस प्रकार वर्णन किए हैं—

कृपादृष्ट भाग्यवन्त ब्राह्मण के प्रति।
कहने यों लगी अतिगोप्य सरस्वती॥
सरस्वती बोलीं—अजी सुनो विप्रवर।
वेद गोप्य कहती हूँ तुमसे सादर॥
कहोगे जो किसी से ये वचन हमारे।
शीघ्र अल्प आयु ही में प्राण तो सिधारे॥
हुई है तुम्हारी जिससे ये पराजय।
अनेक ब्रह्माण्डनाथ वह हैं निश्चय॥
नित्यदासी उनके चरणकमलों की हूँ।
सम्मुख में जाते सदा उनके लजाती हूँ॥

(चै० भा० आ० १३।१२७-१३१)

श्रीचैतन्यभागवत के उपरोक्त वाक्यों के साथ भागवतश्लोक-गण के निम्नलिखित वाक्यों का विचार करने से यह स्पष्ट ही उपलब्ध होता है कि इन दोनों की उपास्य सरस्वती देवी पृथक् पृथक् हैं। प्राचीन वैष्णव श्रीश्रीधरस्वामिचरण ने श्रीमद्भागवत की टीका के प्रारंभ में अपने उपास्यदेव श्रीनृसिंहजी की स्तुति करते समय श्रीनृसिंहदेव की शक्ति सरस्वती देवी को श्रीनृसिंहदेव के वदन में, अर्थात सामने अवस्थित कहा है—

वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।
यस्यास्ते हृदये संवित्तं नृसिंहमहं भजे॥

कालिदास, केशव काश्मीरी आदि व्यक्तियों की उपास्य सरस्वती देवी भगवान नृसिंहदेव के वदन में अवस्थित होने की कौन कहे, उनके सम्मुख जाने में भी लज्जा का अनुभव करती हैं। श्रीभागवत (२।५।१३) और श्रीचैतन्यभागवत (आ० १३।१३१) के वाक्य ही इसका प्रमाण हैं। पराविद्या-रूपिणी श्रीसरस्वती देवी शुद्धकीर्तनमयी, श्रीकृष्ण की प्रिया हैं। वह शुद्ध भक्तों की जिह्वा के अग्रभाग में स्थित होकर निरन्तर भगवत्सेवा में लगी रहती हैं। अभक्त और भक्त-ब्रव (मिथ्याभक्त) गण में से यदि कोई श्रीसरस्वती के स्वामी के प्रति कटु वाक्य या सिद्धान्त विरुद्ध वाक्य का प्रयोग करते हैं तो वाणी की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती उन वाक्यों के द्वारा अपने स्वामी की स्तुति ही करती हैं,

यह बात श्रीमद्भागवत के १०।२४।५ श्लोक में इन्द्र के वाक्य में प्रमाणित हुई है, अर्थात् गर्वतावश इन्द्र ने श्रीकृष्ण का तिरस्कार किया तो श्रीसरस्वती देवी ने उन्हीं के मुख से अपने प्रभु श्रीकृष्ण की स्तुति की थी; किन्तु इन्द्र इस रहस्य को जान नहीं सके।

कीर्तनाख्या भक्ति का नामान्तर ही शुद्धा सरस्वती है। वह कृष्ण की अत्यन्त प्रिया हैं। पराविद्यारूपिणी शुद्धा सरस्वती स्वरूपशक्ति की वृत्ति हैं। शुद्ध भक्तगण उन्हीं सरस्वती की नित्य पूजा किया करते हैं। श्रवण कीर्तन द्वारा ही उनकी पूजा सम्पन्न होती है। हम अप्राकृत कविकुलराज श्रीजयदेव गोस्वामी को —

"शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्।"

इस वाक्य में शुद्धा सरस्वती देवी के एक प्रधान पुजारी के रूप में देख पाते हैं। जय शब्द का अर्थ है सर्वोत्कर्ष विशिष्ट श्रीकृष्ण। दिव् धातु से निष्पन्न 'देव' शब्द के द्वारा — जो सर्वोत्कृष्ट श्रीकृष्ण को अपनी भक्ति के प्रभाव से प्रकाशित करता है उसी का बोध होता है, अर्थात् जो अपनी भक्ति के प्रभाव से श्रीकृष्ण को प्रकाशित करे, वही, जयदेव है। 'जयदेव' कहने से सभी शुद्ध कृष्ण कीर्तन परायण भक्तगण उपलक्षित होते हैं। सेवा के लिए उन्मुख भक्तों की जिह्वा में जो शुद्धा सरस्वती स्फुरित होती हैं भाग्यवान जीव श्रवणेन्द्रिय द्वारा उनकी सेवा किया करते हैं। शुद्धा सरस्वती देवी भी भाग्यवान् जीवों के कानों के छिद्र द्वारा हृदय में प्रवेश करके उनके हृदय को निर्मल और अपने कान्त श्रीहरि के उनके हृदय उपवेशन के लिए उपयोगी करके उस सौभाग्यशाली भक्त की जिह्वा में नृत्य करते-करते अपने स्वामी को सन्तुष्ट किया करती हैं। भक्तकविकुल की आराधनीया उन शुद्धा सरस्वती को पुराणादि शास्त्रों में भगवान के मुखपद्म से प्रकट कहा गया है। कृष्णेन्द्रियप्रीतितात्पर्यमयी वाणी के अलावा जीव की इन्द्रियों को सन्तुष्ट करनेवाली इतर वाणी को ही दुष्टा सरस्वती कहते हैं। कृष्णेन्द्रियतोषिणी भक्तों की आराध्य श्रीजयदेव की सरस्वती से भिन्न है। कीर्तनाख्या-भक्तिस्वरूपिणी कृष्णसेवामयी शुद्धा सरस्वती और उसकी छायास्वरूपा मायाशक्ति प्राकृतजनपूज्या सरस्वती का पार्थक्य किसी महाजन ने अपने एक पद्य में इस तरह दिखलाया है—

मन रे क्यों करे विद्या का गौरव।
स्मृति-शास्त्र-व्याकरण, नाना भाषा आलोचन,
वृद्धि करे यश का सौरभ॥
किन्तु देखो चिन्ता करि, यदि न भजे हैं हरि,
तेरी विद्या केवल रौरव।
कृष्ण प्रति अनुरक्ति, उसीसे प्रकट भक्ति,
विद्या से तो वह है असंभव॥
विद्या में मार्जन सार, कभी कभी अपकार,
जग बीच करें अनुभव।
जिस विद्या के अध्ययन, कृष्णभक्ति बढ़े मन,
उसी का आदर जानो सब॥
भक्तिबाधा होती जिससे, उस विद्या के मस्तक पे,
पदाघात करो अकैतव।
सरस्वती कृष्ण-प्रिया, कृष्णभक्ति उनका हिया,
"विनोद" का वही है वैभव॥

(कल्याण कल्पतरु)

श्रीजीवगोस्वामीजी ने भगवान की बहिरंग और अन्तरंग शक्ति के विचार में उन वृत्तियों का जो भेद निरूपित किया है, उसमें भी पराविद्यारूपिणी वेदवाणीरूपा कृष्णेन्द्रिय-तर्पणपरायणा कीर्तनमयी शुद्धा सरस्वती के साथ बहिर्मुख लोकचित्तविनोदकारिणी, नास्तिकता-प्रचारिणी जड़विद्या की अधिष्ठात्री देवी का पार्थक्य निरूपित हुआ है। यथा —

'अथैकमेव स्वरूपं शक्तित्वेन शक्तिमत्त्वेन च विराजतीति। यस्य शक्तेः स्वरूपभूतत्वं निरूपितं तच्छक्तिमत्ताप्राधान्येन विराजमानं भगवत्संज्ञामाप्नोति तच्च व्याख्यातम्। तदेवञ्च शक्तित्वप्राधान्येन विराजमानं लक्ष्मीसंज्ञामाप्नोतीति दर्शयितुं तस्याः स्वरूपभेदेनानन्तायाः कियन्तो भेदा दर्श्यन्ते। यथा —

श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया।
विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्।

शक्तिर्महालक्ष्मीरूपा स्वरूपभूता। शक्तिशब्दस्य प्रथम-प्रवृत्त्याश्रयरूपा भगवदन्तरङ्ग महाशक्तिः। माया च बहिरंगा शक्तिः। अयाद्यस्तु तयोरेव वृत्तिरूपाः। तासां सर्वासामपि प्राकृताप्राकृतभेदेन अयम सत्वात्। ततः श्रियेत्यादौ शक्तिवृत्तिरूपया मायावृत्तिरूपया चेति सर्वत्र ज्ञेयम। तत्र पूर्वस्या भेद. श्रीभागवती सम्पत्। नत्वियं महालक्ष्मीरूपा तस्या मूलशक्तित्वात्। तदग्रे विवरणीयम्। उत्तरस्या भेदः श्रीजागतीसम्पत्। इमामेवाभिकृत्य 'न श्रीर्विरक्तमपि मा विजहाति' इत्यादि वाक्यम्।'

(भागवतसन्दर्भे १०२)

एक ही स्वरूप शक्ति और शक्तिमान के रूप से विराजमान है। जिसकी शक्ति का स्वरूपभूतत्व निरूपित हुआ है, वह अद्वयज्ञानतत्त्ववस्तु ही शक्तिमत्प्राधान्य से विराजमान होकर भगवत्संज्ञा को प्राप्त होती है, यह पहले व्याख्या करके बतलाया जा चुका है। फिर वही शक्ति प्राधान्य से विराजित रहकर लक्ष्मी कहलाते हैं, यह दिखलाने के उद्देश्य से शक्ति की स्थीया वृत्ति के अनन्त भेदों में से कुछ भेद यहाँ दिखलाए जाते हैं। यथा—श्री, पुष्टि गिरा, कान्ति, कीर्ति तुष्टि, इला, उर्जा, विद्या, अविद्या, शक्ति और माया के द्वारा वह सेवित हैं। इन द्वादश वृत्तियों में जो महालक्ष्मीरूपा स्वरूपभूता है, वही शक्ति है। क्योंकि शक्ति शब्द की प्रवृत्ति एकमात्र आश्रयरूपा भगवान की अन्तरंगा महाशक्ति है। 'माया' शब्द से बहिरंगा शक्ति, श्री, पुष्टि आदि शक्ति की इस द्वादश वृत्ति-स्वरूप शक्ति और मायाशक्ति के भेद से दो प्रकार जानना चाहिए। क्योंकि उनके (शक्ति की उक्त वृत्तियों के) प्राकृत और अप्राकृत, ये दो भेद सुने जाते हैं। अतएव श्री, पुष्टि, गिरा अर्थात वागधिष्ठात्री देवता सरस्वती स्वरूपशक्ति की वृत्ति और मायाशक्ति की वृत्ति के रूप से शक्तिमान पुरुष की सेवा किया करती हैं, यह सर्वत्र ही जानना चाहिए। स्वरूपशक्ति-गत वृत्ति का भेद अब दिखलाया जाता है। श्री से भागवती सम्पत् समझना चाहिए। यह महालक्ष्मीरूपा नहीं है; क्योंकि महालक्ष्मी स्वरूपशक्ति और इस जगतवर्णित 'श्री' स्वरूपशक्ति की वृत्तिरूपिणी है। बहिरंगा-शक्ति की वृत्ति 'श्री' जागतिक सम्पत् रूप है (जिसकी जड़ ऐश्वर्य लाभ के लिए कर्मजड़ स्मार्तगण पूजा करते हैं) इसको उद्देश करके ही "विरक्त मुझको भी श्री नहीं छोड़ती" इत्यादि भगवान् की उक्ति देखी जाती है। गिरा अर्थात् जड़विद्याधिष्ठात्री देवता और स्वरूपशक्ति की वृत्तिस्वरूपा कृष्णसेवापरा विष्णुकान्ता सरस्वती के सम्बन्ध में भी ऐसा ही विचार कर लेना चाहिए।

भक्तगण ने मायाशक्ति की अधीनता छोड़कर चित्शक्ति की वश्यता स्वीकार की है। अतएव वे ही यथार्थ में सरस्वती की पूजा किया करते हैं। मूल वस्तु को छोड़कर भ्रमवश वस्तु की छाया को वस्तु के भ्रम से पूजा अगर की जाय तो वह कभी सुफल नहीं दे सकती। उदाहरण स्वरूप कहा जा सकता है कि संपूर्ण दुग्ध के विश्वास खड़िया घोलकर पी लेने से जैसे दूध पीने का फल नहीं पाया जाता, छाया को वास्तव वस्तु के विश्वास से छूने पर भी जैसे छाया को कोई छू नहीं सकता, वैसे ही इस विषय को भी समझना चाहिए।

शुद्ध भक्तगण सरस्वती को अपनी सेवा में नियुक्त न करके उसके द्वारा सरस्वती-कान्त श्रीकृष्ण की ही सेवा किया करते हैं। उसीमें शुद्धा सरस्वती को सन्तोष है। किन्तु प्राकृत व्यक्तिगण सेव्य सरस्वती को सन्तुष्ट करने की चेष्टा से उदासीन रहकर निज लाभ-पूजा-प्रतिष्ठा आदि जड़ेन्द्रिय तर्पण के लिए ही जो सरस्वती-पूजा किया करते हैं, उससे माया शक्ति की आवरणात्मिका और विक्षेपात्मिका दोनों वृत्तियाँ जीव के शुद्ध स्वरूप को ढककर पराविद्यारूपिणी वाणी की पूजा से उन्हें बहुत दूर फेंक देती हैं।

आत्मेन्द्रिय तर्पण ही का दूसरा नाम काम है। उसी को हरि विमुखता या नास्तिकता भी कहते हैं। आत्मेन्द्रियतर्पण परायणता की चरम सीमा में पहुँचने पर ही चार्वाक, एपीक्यूरस, इयांचू, लूसीपास् आदि के मत जीव के हृदय पर अधिकार जमाते हैं। इस तरह की नास्तिकता कभी प्रच्छन्न रूप से और कभी स्पष्ट आकार से देख पड़ती है। प्रच्छन्न नास्तिकगण इन्द्रिय-तर्पण को निर्दोष आमोद-प्रमोद नाम देकर भोगप्रदात्री देवताओं की आराधना में व्यस्त होते हैं।

इस प्रकार आत्मेन्द्रिय-तर्पण परायण व्यक्तिगण 'गायक', 'बजवैये', 'कवि', 'साहित्यिक', 'चित्रकार', 'नानाकला-विद्याविशारद' आदि नामों से जगत् में प्रसिद्ध होकर अपनी-अपनी विद्या की पारदर्शिता प्राप्त करने के लिए सरस्वती देवी की पूजा किया करते हैं। इनका साध्य कनक, कामिनी और जड़ प्रतिष्ठा है, जिसे एक शब्द में आत्मेन्द्रिय-तर्पण या काम कह सकते हैं। बंगाल में बहुत जगह कलवरिया में, वेश्या के घर, शौकिया थियेटरों में, विद्यार्थी सम्प्रदाय में सरस्वती-पूजा एक प्रधान पर्व के रूप से प्रचलित है। किसी किसी जगह अपनी परम पूज्या श्री-सरस्वती माता के सामने वेश्याओं का नाच-गाना होता है, तमाखू सिगरेट गाँजा-शराब वगैरह नशे की चीज़ें पी जाती हैं, ग्राम्य वाग्विलास और अन्य प्रकार की हँसी-दिल्लगी वगैरह हुआ करती हैं। माता के सामने इस तरह का आचरण बड़ा ही नीति-निन्दित है। यह क्या पूजा है?

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्द्वान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्द्वान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ एο, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
श्रीनृसिंहदासकुंज, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीश्यामगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ५, गोपीभवन डाक्टर लेन, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेडल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चगदा, नदिया

(२७) ब्राह्मणगाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्द्वान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चीरकंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० बासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम्—सटीक I)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः II)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः –)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् I)

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १II)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत II)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशित) प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित I≡)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित II)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित –)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित –)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची, अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड I≡)
१२—युक्तिमल्लिका (गुणसौरभ) वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

वंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)
१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद –)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग I)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण I)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद-कृत २)
२०—मणिमंजरी I)
२१—शरणागति –)
२२—कल्याणकल्पतरु –)II
२३—गीतावली –)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत III)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत II=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला I)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत III)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ४)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works Lucknow.

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

7th March 1932

गोविन्द कृष्णपक्ष गौराब्द ४४५

फाल्गुन अमावास्या संवत् १९८८

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है ।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १।।) है ।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है ।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये । जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे ।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम				८)
आधा	,,	१	,,	५)
चौथाई	,,	$\frac{1}{2}$	,,	३)
२ इंच	,,	$\frac{1}{4}$	,,	१।।।)
१ ,,	,,	$\frac{1}{8}$	,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये ।

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

९४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

946 Suddar Bazar,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदयवन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

वर्ष १ | श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य | संख्या ९

फाल्गुन-अमावास्या गौराब्द ४४५, सं० १९८८ वि०, ७ मार्च सन् १९३२ ई०

नम्र निवेदन

(७)

दुर्मति ने ऐसा घेरा, संसार-बीच हूँ पड़ा हुआ।
पर हे प्रभो! आपका मुझपर अहो अनुग्रह बड़ा हुआ॥
किसी महाजन अपने जन को तुमने भेज दिया स्वामी!
उसे दया आई लख मुझको महापतित, कुत्सित, कामी॥
उसने कहा—"पास आ मेरे ओरे दीन, सुन बात भली।
तेरा हृदय उल्लासित होगा, विकसित होगी हृदय-कली॥
नवद्वीप में प्रकट हुए हैं श्रीश्रीकृष्ण देव चैतन्य।
तुम सम दीन तारते हैं वह, लोग देखकर होते धन्य॥
दीन हीन जन तुमसे कितने किए उन्होंने हैं भव पार।
वेद प्रतिज्ञा की रक्षा को रुक्मवर्ण द्विज सुत सुकुमार॥
भाई हैं अवधूत संग में, नाम महाप्रभु का लेकर।
जो सब नदिया के लोगों को करते हैं उन्मत्त उधर॥
नन्द-सुत ही चैतन्य गोसाईं अपना नाम दान करके।
सभी जगत् को तार रहे हैं अहंकार-बाधा हरके॥
तुम भी जाओ परित्राण के पाने को"—मैं यह सुनकर।
चरण-शरण में आया हूँ, मैं नाथ! कृपा करिए मुझपर॥
"भक्ति-विनोद" कहानी अपनी रो रो कर प्रभु! कहता है।
सेवा-भक्ति आपकी केवल करना चित में चहता है॥

ॐ विष्णुपाद

परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज के

अष्टपञ्चाशत्तम आविर्भाववासर में

प्रपत्ति-प्रसूनाञ्जलि

कृष्णचन्द्र-पदकमलों की जब हे गुरुदेव, सतत सेवा—
भूला, भव के क्लेश कठिन अपनाए, जो थे दुख-देवा ॥
"मैं हूँ कौन" "कौन है मेरा" यह विस्मृत हो गया हमें ।
विषयाशक्ति बुद्धिहत करके जागी, मद हो गया हमें ॥
ज्ञान, जो कि आपात-मधुर है, उसमें हुए प्रमत्त महा ।
प्रेय ग्रहण कर, निःश्रेयस की राह छोड़ दी, मत्त रहा ॥
विद्या, धन, कुल अहंकार से गर्व हो गया हमें बड़ा ।
इन्द्रिय-तोषण निरत, न शंकित, पीछे था अज्ञान पड़ा ॥
हम सब का देखा प्रमाद जब, अंगोपांग लिये तब साथ ।
मर्त्यलोक में उदित हुए तुम प्रभो सनातन सबके नाथ ॥
देख पराया दुःख दुखी त्यों व्याकुल हुए जीव के द्वार—
कृष्ण-नाम लेकर तुम धाए सब जीवों के लिए उदार ॥
देख तुम्हारे दीन भाव को गलता महा कठिन पाषाण ।
दाँतों में तृण दाब सभी से कहते थे, करने को त्राण ॥
कहो कृष्ण, भज कृष्ण, कृष्ण का चिन्तन करो भक्ति के साथ ।
हो अपराध-शून्य, लो मन से कृष्ण नाम सब भाँति सनाथ ॥
कृष्ण पिता, माता हैं सब के, समझो कृष्णचन्द्र धन प्राण ।
अनाचार तज करो कृष्ण का तुम संसार, लहोगे त्राण ॥
दया सभी जीवों पर, हरि का नाम सभी धर्मों का सार ।
जीव अधन्य धन्य करने को तुम प्रभु करुणा के आगार ॥
अनुनय बारम्बार जीव से करते हो इस भाँति उदार ।
बिना तुम्हारे प्रकट कर सके कौन दया इतनी संसार ॥
जीवों के संकट हरने को करी प्रतिज्ञा तुमने नाथ ।
मैं कुविषय-विष पीकर स्वामी ज्ञान हीन हो रहा अनाथ ॥
श्रीहरिनाम-महौषधि भव की पान नहीं करते अज्ञान ।
तुम प्रभु अहो दयामय करके यत्न हमें सब भाँति सुजान ॥
भक्तिरसामृतसिन्धु कराते सेवन धन्य धन्य भगवान ।
जीवों को सिखलाते करके आप भक्ति-आचरण महान ॥

गौर-रूप से मायापुर में लिया कृष्ण अवतार।
भिन्न नहीं उनसे बलदाऊ नित्यानन्द उदार॥
पूर्ण करें चैतन्यदेव की इच्छा नित्यानन्द।
नाम-प्रेम-वितरण की लीला, देती जो आनन्द॥
तवपद-आश्रय बिना न देखूँ, मैं अपना निस्तार।
यही सार है सकल शास्त्र का कौन करे विस्तार॥
आत्मसमर्पण बिना तुम्हारे पादपद्म में देव।
भजन साधना होगी सारी व्यर्थ अनर्थ सदैव॥
तव मुखपद्म वाक्य सुनने से निर्मल होगा चित्त।
मुझे मिलेगा कृष्णचन्द्र धन, सबसे बढ़कर वित्त॥
कृपा तुम्हारी होगी जब, तब मेरा मन प्रमुदित होगा।
श्रीचैतन्य चरण-अनुकम्पा पारावार उदित होगा॥
प्रभो तुम्हारी पूर्ण कृपा मैं वही मानता हूँ—सौभाग्य—
ऐसा होगा कभी हमारा, क्या जानें कैसा है भाग्य॥
जय जय गुरुदेव कृपा अवतार। निज-पद भक्ति दे के करिए निस्तार॥
अज्ञान अधम हम, न जानें पूजन। कृपाकर संसिपें दो निज श्रीचरण॥
स्वतंत्र जीवन प्रभो बहु दुःखमय। निजपद धूलिकर राखो दयामय॥

आपके श्रीचरण कमलों के आश्रित
युक्तप्रान्तीय भक्तवृन्द

श्रीश्रीनवद्वीप-धाम का परिचय



नव द्वीपों से नवद्वीप का संगठन हुआ है। इस नवद्वीप के भीतर अनेक छोटे छोटे उपग्राम या पल्ली अवस्थित थीं। नवद्वीपों में से चार द्वीप भागीरथी के पूर्वतट पर और पाँच द्वीप पश्चिम तट में अवस्थित हैं। पूर्व तट के चार द्वीपों के नाम हैं—(१) अन्तर्द्वीप, (२) सीमन्तद्वीप, (३ गोद्रुमद्वीप और (४) मध्यदीप। पश्चिम तट के पाँच द्वीपों के नाम हैं— (१) कोलद्वीप, (२) ऋतुद्वीप, (३) जह्नुद्वीप, (४) मोदद्रुमद्वीप और (५) रुद्रद्वीप। जैसा कि "भक्तिरत्नाकर" के १२ वें तरंग में लिखा है—

पूर्व और पश्चिम गंगातट हैं नवद्वीप तीर्थ जानो।
पूर्व किनारे चार द्वीप हैं, अन्तर्द्वीप प्रथम मानो॥
श्रीसीमन्तद्वीप, गोद्रुम है मध्यद्वीप जानिए साँच।
कोलद्वीप, ऋतु, जह्नु, मोदद्रुम, रुद्रद्वीप ये पश्चिम पाँच॥

भक्तिरत्नाकर के पढ़ने से यह भी जाना जाता है कि नवद्वीप के भीतर इतने ग्राम थे कि श्रीमायापुर जाते समय श्रीनरोत्तम ठाकुर लोगों से पूछकर श्रीमायापुर पहुँच सके थे। साधारणतः "नवद्वीप" नाम ही सर्वसाधारण में प्रचलित और प्रसिद्ध था। जैसा कि श्रीभक्तिरत्नाकर के अष्टम तरंग में लिखा है—

नवद्वीपमध्य ग्रामनाम बहु भए ॥
लोगों ने पूर्व तर मायापुर गए ॥

मूल गंगा के पूर्व पार में १ अन्तर्द्वीप (क) श्रीमायापुर्य्योगपीठ—नाम निर्देश है। इस स्थान पर श्री जगन्नाथ मिश्र का भवन, श्रीगौरांग का जन्मस्थान है।

श्रीनि त्यानन्द प्रभु ने जब परिक्रमा की थी, उस समय नवद्वीप के अनेक ग्राम लुप्त हो गए थे, अनेक ग्रामों के नाम तक लोग भूल गये थे और अनेक ग्रामों के नाम विकृत हो चुके थे। अतएव श्रीमायापुर ग्राम का नाम जो अशिक्षित व्यक्तियों द्वारा विकृत हो गया हो या सर्वसाधारण उसे न जानते हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। भक्तिरत्नाकर के १२ वें तरंग में यही बात लिखी है—

अथवा श्रीनवद्वीप में नवद्वीपों के नाम।
अलग अलग हैं, किन्तु वह होता एक ग्राम।
सत्य और त्रेता तथा द्वापर, कलि आरंभ।
नाम-व्यत्यय है नहीं किसी तरह प्रारंभ॥
कलियुग बढ़ते ही हुआ नामों में जु विकार।
तो भी होता है उनका अनुभव-सार
कुछ दिन में कुछ गाँव तो लुप्त हो गए आप।
कुछ के अस्तव्यस्त ही हुए नाम चुपचाप॥

यह बात अन्यत्र भी देखी जाती है। जैसे वाराणसी का बनारस लक्ष्मणपुर का लखनऊ, मथुरा का मुट्रा, अवध का औध, वृन्दावन का बिन्द्राबन हो गया, वैसे ही अशिक्षितों के द्वारा 'मायापुर' शब्द मेयापुर बन गया। परन्तु जैसे पूर्वोक्त स्थानों के विशुद्ध नामों को पढ़े लिखे लोग अब भी समझ लेते हैं वैसे ही श्रीमायापुर शब्द को भी सब समझ लेंगे।

ऊर्द्ध्वाम्नाय महातन्त्र, कापिल तन्त्र, ब्रह्मयामल, भविष्य-ब्रह्मखण्ड, श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपाद के नवद्वीप-शतक और श्रीभक्तिरत्नाकर ग्रंथ के प्राचीन वाक्यों में श्रीमायापुर शब्द का उल्लेख है। यथा—

ऊर्द्ध्वाम्नाय महातन्त्र में—
वर्त्तन्ते ह नवद्वीपे नित्यधाम्नि महेश्वरि।
भागीरथीतटे पूर्वे मायापुरन्तु गोकुलम्॥

कापिल तन्त्र में
जम्बुद्वीपे कलौ घोरे मायापुरे द्विजालये।
जनित्वा पार्षदैः सार्द्धं कीर्त्तनं कारयिष्यति॥

ब्रह्मयामल में
अथवाऽहं धराधामे भूत्वा मद्भक्तरूपधृक्।
मायायाञ्च भविष्यामि कलौ संकीर्त्तनागमे॥

भविष्य ब्रह्मखण्ड में—
काशारण्यं छेदयित्वा नदीपार्श्वे नृभिः किल।
स्वस्वजातीः समादाय कर्त्तव्या वास एव हि।
मायापुरं कलेः क्वायं वृद्धग्रामो भविष्यति॥

नवद्वीपशतक में—
ये मायापुरवैभवं श्रीनिगतेऽप्युल्लासिनो नो खलाः।

भक्तिरत्नाकर के १२ तरंग में उद्धृत प्राचीन वाक्य—
मायापुरञ्च तन्मध्ये यत्र श्रीभगवद्गृहम्।

(ख) योगपीठ के १०० धनुष उत्तर में श्रीवास अंगन अवस्थित है। श्रीवास अंगन सपार्षद श्रीगौरसुन्दर की महा संकीर्तनस्थली है। इस स्थान को खोलभांगा का डांगा भी कहते हैं।

(ग) श्रीवास-अंगन के १० धनुष उत्तर में श्रीसीतानाथालय श्रीअद्वैतभवन है।

(घ) अद्वैतभवन के पास ही सेन वंश के राजा बल्लालसेन के हृदय की तरह प्राचीन दीर्घिका (तालाब) विराजमान है।

(ङ) बल्लालदीघी के ऊपर श्रीचन्द्रशेखर आचार्य का भवन श्रीव्रजपत्तनक्षेत्र श्रीचैतन्य-मठ है। इस स्थान पर श्रीगौरसुन्दर ने प्रथम नाटकाभिनय किया था। इस स्थान में उन तीस चूड़ा (कँगूरे) वाले श्रीमन्दिर में श्रीश्रीविनोदप्राणजी श्रीराधागोविन्द की अपूर्व श्रीमूर्ति विराजती है चारों ओर चारों वैष्णवसम्प्रदायों के चारों आचार्य अपने अपने सेवाविग्रह के साथ सेवित होते हैं।

(च) इस अन्तर्द्वीप श्रीमायापुर में मायापुर की अधिष्ठात्री देवी प्रौढ़ा माया, (छ) श्रीमायापुर क्षेत्रपाल वृद्ध शिवालय, (ज) श्रीगौरांग का निज घाट, मधाई की तपस्या का स्थान, मधाई का घाट, (झ) विश्वकर्मा का बनाया हुआ बारकोणा घाट, (ञ) पञ्च शिवालय स्थान (ट) श्रीगौरहरि के कीर्तन और विश्राम का स्थान – श्रीधर अंगन, जहाँ पर सौ छेदवाले लोहे के पात्र में रक्खा हुआ जल पीकर श्रीगौरसुन्दर ने भक्त की महिमा का कीर्तन किया था, (ठ) भक्त चाँद काज़ी की समाधि (कृष्णलीला का कंस इसे महाप्रभु ने मामा कहा था)। इस समाधि के ऊपर ४००

वर्ष का पुराना गोलोक-चंपा वृक्ष विराजमान है। (ङ) बल्लाल-स्तूप आदि वर्त्तमान हैं।

(२) श्रीसीमन्तद्वीप श्रवणाख्यद्वीप। श्रीपार्वती देवी ने इस जगह श्रीगौर की चरणरज सीमन्त (माँग) में धारण की थी, इसी लिए विज्ञजन इसे "श्रीसीमन्त-द्वीप" कहते हैं। इस स्थान को साधारण भाषा में "सीमुलिया" कहा जाता है।

(३) श्रीगोद्रुम-द्वीप कीर्तनाख्यद्वीप। अपभ्रंश-भाषा में इसे "गादिगाछा" कहते हैं। इस स्थान में एक बड़ा पीपल का पेड़ था। सुरभी गऊ इस पेड़ के तले रहती थी, इसीसे इस स्थान का नाम गोद्रुम पड़ा है। इस स्थान में श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा प्रतिष्ठित सुरभीकुंज है। इस स्थान को आजकल 'स्वरूपगंज' कहते हैं। सुरभीकुंज से कुछ दूर पर भक्तिविनोद ठाकुर का भजनस्थल "स्वानन्दसुखद कुञ्ज" विराजमान है। ॐ विष्णुपाद श्रीगौरकिशोरदास गोस्वामीमहाराज ने इस जगह कुछ समय तक भजन किया था। इस स्थान में नित्यलीलाप्रविष्ट श्रीभक्तिविनोद ठाकुर और उनके प्रिय सेवक नित्यलीलाप्रविष्ट श्रीपाद कृष्णदास बाबाजी की समाधि वर्त्तमान है।

इस द्वीप में सत्ययुग के श्रीसुवर्णसेन राजा के गृह का ध्वंसावशेष अवस्थित है, जो आज कल "सुवर्ण विहार" के नाम से प्रसिद्ध है। गौरलीला में बुद्धिमन्त खाँ यही सुवर्ण-सेन हैं।

श्रीनृसिंहपुर देवपल्ली—साधारण भाषा में इसे "देपाड़ा" कहते हैं।

(४) मध्यद्वीप—स्मरणाख्यद्वीप। इस द्वीप को अपभ्रंश भाषा में "माजिदाग्राम" कहते हैं। इस स्थान में सप्तर्षियों की भजनस्थली सा टीला आज भी अवस्थित है। मध्याह्न के समय दोपहर के शत-शत सूर्यों के समान प्रभा से युक्त परतत्त्वात्मक श्रीगौरसुन्दर ने सप्तर्षियों को दर्शन दिए थे, इसीलिए इस द्वीप का नाम मध्यद्वीप है।

गंगा के पश्चिम पार में -

(५) कोलद्वीप या कुलिया (वर्त्तमान शहर नवद्वीप) पादसेवनाख्य द्वीप है। गंगा के पूर्व-पार में प्राचीन श्रीधाम मायापुर नवद्वीप और पर पार में कुलिया है। श्रीचैतन्यभागवत में स्पष्ट वर्णित है—"गंगा के उस पार कभी कुलिया को जाते।" "अभी गंगा बीच नदिया में, कुलिया में।" यह कुलिया "अपराध-भंजन का पाट" कहकर प्रसिद्ध है। सत्ययुग में वासुदेव-नामक ब्राह्मण-कुमार की साधना से सन्तुष्ट होकर इस स्थान पर पर्वत समान उच्च शरीरधारी कोल या वराहदेव ने उस विप्र को दर्शन दिया था, इसीलिए इस स्थान का नाम कोलद्वीप है।

(६) ऋतुद्वीप— अर्चनाख्यद्वीप। इस द्वीप में चम्पहट्ट, चम्पकहट्ट या चाँपाहाटी ग्राम विराजमान है। चम्पकलता सखी ने चंपा के फूलों की माला बनाकर इस जगह श्रीराधा-कृष्ण की सेवा की थी। गौर-पार्षद द्विज-वाणीनाथपूजित श्रीगौर-गदाधर की युगल मूर्ति ४०० वर्ष से अधिक हुए, आज भी इस स्थान में विराजमान हैं और श्रीचैतन्यमठ के शुद्ध सेवकवृन्द उनकी सेवा करते हैं। इस स्थान में वसन्त सहित छः ऋतुओं ने श्रीगौरभगवान के अवतार का चिन्तन कर आराधना की थी, इसीसे इस स्थान का नाम ऋतुद्वीप पड़ा है।

(७) जह्नुद्वीप—वन्दनाख्यद्वीप, अपभ्रंश भाषा में जाननगर। इस स्थान में जह्नुमुनि ने श्रीगौरसुन्दर के दर्शन पाकर अपनी तपस्या सार्थक की थी।

(८) मोदद्रुम-द्वीप—दास्याख्यद्वीप। इस स्थान के दर्शन से भक्तों का सेवा-मोद बढ़ता है, इसलिए विज्ञगण इसे मोदद्रुमद्वीप कहते हैं। इस द्वीप के अन्तर्गत मामगाछी ग्राम है। यह स्थान श्रीचैतन्यलीला के व्यास, श्रीचैतन्य भागवत के रचयिता वृन्दावन ठाकुर का श्रीपाटक्षेत्र और जन्मस्थान है। इस स्थान में वृन्दावन ठाकुर की श्रीगौर-नित्यानन्द की श्रीमूर्ति की सेवा श्रीचैतन्यमठ के सेवकों द्वारा सञ्चालित होती है।

(९) रुद्रद्वीप—सख्याख्यद्वीप। इस स्थान में नील, लोहित आदि ग्यारह रुद्रों ने गौरहरि का भजन किया था। आजकल यह द्वीप गंगा के पूर्व पार में अवस्थित है।

जो लोग शास्त्रीय बातों की कुछ खबर रखते हैं, उनमें से अनेक लोग कुछ समय पहले "नवद्वीप" कहने से कोई एक स्थान या शहर समझते थे। कोई कोई 'नवद्वीप' शब्द का अर्थ नया द्वीप करके वर्त्तमान कुलिया के चड़ा के कारण नए शहर नवद्वीप को ही नवद्वीप समझते थे। किन्तु जिन लोगों ने श्रीचैतन्य भागवत, श्रीचैतन्यचरितमहाकाव्य, श्रीगौरगणोद्देशदीपिका, श्रीचैतन्यचरितामृत, श्रीनवद्वीपशतक, भक्तिरत्नाकर, श्रीनवद्वीपधामपरिक्रमा, श्रीधाममाहात्म्य, प्रेमविवर्त्त आदि ग्रन्थ पढ़े हैं, वे जानते हैं कि वर्त्तमान नवद्वीप शहर नवद्वीपों के अन्तर्गत एक द्वीपविशेष है।

उसका नाम कोलद्वीप या कुलिया है। यहाँ पर श्रीचैतन्य-महाप्रभु का जन्मस्थान नहीं है। असल जन्मस्थान श्रीधाम मायापुर ही है। श्रीनरहरिचक्रवर्ती ठाकुर ने भक्तिरत्नाकर ग्रन्थ में लिखा है कि श्रीधाम नवद्वीप में सर्वदा नवधाभक्ति वर्तमान रहती है। श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद की उक्ति से जाना जाता है कि श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नव प्रकार की भक्ति श्रीकृष्ण में अर्पित होने पर प्रेमफल को प्रकट किया करती है। उक्त नवधा भक्ति में आत्मनिवेदन या आत्मसमर्पण ही अन्यान्य आठ प्रकार की भक्ति का प्राण है। कारण, आत्मसमर्पण या शरणागति के बिना श्रवण, कीर्तन आदि सभी मिथ्या या व्यर्थ हैं।

अन्तर्द्वीप के अन्तर्गत श्रीमायापुर उसी आत्मनिवेदन का स्थल है। अन्तर्द्वीप को अष्टदल कमल की कर्णिका-स्वरूप कहा गया है। अन्यान्य अष्टविध भक्ति उसी अप्राकृत प्रस्फुटित पद्म की आठ पंखड़ियाँ हैं। कर्णिकार पद्म मध्यस्थ बीजकोष पंखड़ियों को एकत्र संयुक्त कर रखता है और कर्णिकार से ही चारों ओर और पंखड़ियों में सुगन्ध परिव्याप्त होती है।

श्रीमायापुर धाम अन्तर्द्वीप या आत्म निवेदनाख्य द्वीप ही भक्तिपद्म का बीजकोष है। उसी मूल देश से ही चारों ओर सुगन्ध विकीर्ण होती है। इसी कारण भक्तगण इस आत्म-निवेदन स्थान से ही कृपा की याचना करके नवद्वीप के अन्यान्य द्वीपों की परिक्रमा किया करते हैं। और गौरांग-वासर (होली) के पहले दिन फिर श्रीधाम मायापुर में लौटकर अधिवास-कीर्तन और उसके दूसरे दिन भक्त-मंडली के साथ संकीर्तनानन्द, महोत्सवानन्द, श्रीग्रंथ पाठ इष्टगोष्ठी, वक्तृता आदि के द्वारा निर्मल भजनानन्द प्राप्त किया करते हैं।

आगामी १२ मार्च, शनिवार, शुक्ला पञ्चमी के दिन से २० मार्च रविवार, शुक्ला त्रयोदशी तक, नव दिन में नवद्वीप की परिक्रमा होगी और २२ मार्च मंगलवार, पूर्णिमा के दिन से तीन दिन तक श्रीश्रीगौरजन्म के उपलक्ष में महामहोत्सव का अनुष्ठान होगा। इसके उपलक्ष में श्रीधाम मायापुर में योगदान करके भक्तजनों के आनन्दवर्द्धनार्थ सर्वसाधारण को निमन्त्रित किया जाता है। सबकी उपस्थिति प्रार्थनीय है। उत्सव में योगदान, श्रीविग्रह-दर्शन, प्रसादसेवन या एक द्वीप से दूसरे द्वीप में जाने के लिए किसी तरह की भेंट नहीं लगती।

श्रीधाम-परिक्रमा की सूची

१९ गोविन्द २८ फाल्गुन १२ मार्च शनिवार शुक्ला पञ्चमी परिक्रमा का प्रथम दिन। श्रीनवद्वीप के अन्तर्गत अन्तर्द्वीप (श्रीमायापुर, श्रीचैतन्यमठ, श्रीअद्वैतभवन, श्रीवासअंगन, श्रीयोगपीठ श्रीमंदिर, श्रीमन्महाप्रभु का घाट, मधाई का घाट, तारकेश्वर—घाट, गंगानगर तन्तुवायपल्ली, वामनपुकुर, काजी की समाधि और श्रीधर का अंगन) की परिक्रमा।

२० गोविन्द २९ फाल्गुन १३ मार्च रविवार शुक्ला षष्ठी परिक्रमा का द्वितीय दिन सीमन्तद्वीप (सिमूलिया सरडांगा, सोन डांगा मेघा का चर, बेलपुकुर) की परिक्रमा।

२१ गोविन्द १ चैत्र १४ मार्च सोमवार शुक्ला सप्तमी परिक्रमा का तीसरा दिन गोद्रुम द्वीप (गादिगाछा, महेश, गंज, सुवर्णविहार, स्वरूपगंज, हरिहरक्षेत्र, देपाड़ा) की परिक्रमा।

२२ गोविन्द २ चैत्र १५ मार्च मंगलवार शुक्ला अष्टमी परिक्रमा का चौथा दिन मध्यद्वीप (माजिदा, श्रीनृसिंहपल्ली) की परिक्रमा।

२३ गोविन्द ३ चैत्र १६ मार्च बुधवार शुक्ला नवमी परिक्रमा का पंचम दिन कोल द्वीप (वर्तमान शहर नवद्वीप, गदखाली का चर, तेघरी का कोल, कोल आमाद) की परिक्रमा।

२४ गोविन्द ४ चैत्र १७ मार्च बृहस्पतिवार शुक्ला दशमी परिक्रमा का छठा दिन ऋतुद्वीप (राहुतपुर, चंपाहट्ट) की परिक्रमा।

२५ गोविन्द ५ चैत्र १८ मार्च शुक्रवार शुक्ला एकादशी परिक्रमा का सातवीं दिन जह्नुद्वीप (विद्यानगर, जान्नगर) की परिक्रमा।

२६ गोविन्द ६ चैत्र १९ मार्च शनिवार शुक्ला द्वादशी परिक्रमा का आठवाँ दिन मोदद्रुमद्वीप (मामगाछी अर्क टीला या एडाला मातापुर) की परिक्रमा।

२७ गोविन्द ७ चैत्र २० मार्च रविवार शुक्ला त्रयोदशी परिक्रमा का नवम या अन्तिम दिन रुद्रद्वीप (रुद्रपाड़ा, शंकरपुर, इदराकपुर, गंज का डांगा) की परिक्रमा।

श्रीश्रीनित्यानन्द प्रभु

पाखण्डदलन बाना नित्यानन्द राय ।
आचार्यहुङ्कारे पाप पाखण्डी पलाय ॥
संकीर्त्तन-प्रवर्त्तक श्रीकृष्णचैतन्य ।
संकीर्तन-यज्ञे तारे भजे सेई धन्य ॥
सेई त सुमेधा, आर कुबुद्धि संसार ।
सर्वयज्ञ हते कृष्णनाम यज्ञ-सार ॥
कोटि अश्वमेध एक कृष्णनाम सम ।
येई कहे से पाखण्डी, दण्डे तारे यम ॥ *

(चै० च० आदि ३ य)

गत २० फरवरी शुक्ला त्रयोदशी का दिन श्रीश्रीनित्यानन्द के आविर्भाव का दिन था प्रेम का प्रचार और पाखंड का दलन ये दो जगत् के प्रति श्रीनित्यानन्द की कृपा है। श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीगौरसुन्दर की द्वितीय देह थे। वह संकर्षणरूप कारण-गर्भ-क्षीरवारिशायिगण तथा शेषशायी विष्णु के अंशी हैं। उनका प्राकृत जन्म-मरण नहीं है। वह अप्राकृत अधोक्षज वस्तु हैं। उनकी लीला अप्राकृत है। वह कर्मफलबाध्य जीवकोटि के अन्तर्गत कोई वस्तु नहीं हैं। इसी कारण श्रीगौरसुन्दर ने श्रीनित्यानन्द प्रभु के महत्व वर्णन करते हुए कहा है—

मदिरा यवनी यदि नित्यानन्द धरे ।
तथापि ब्रह्मार वन्द्य कहिल तोमारे ॥ +

इसी कारण श्रीगौरसुन्दर ने दिखाया है कि श्रीश्रीनित्यानन्द प्रभु की संतान श्रीवीरभद्र प्रभु की शौक्र सन्तान-लीला के अस्तित्व की संभावना नहीं है। नित्यानन्दैकप्राण श्रीवृन्दावनदास ठाकुर ने श्रीमन्महाप्रभु की बात का उल्लेख करके कहा है—

अधिकारी बई करे तोहार आचार ।
दुःख पाय सेई जन पाप जन्मे तार ॥
रुद्र विने अन्य यदि करे विषपान ।
सर्वथाय मरे सर्वपुराण प्रमाण ॥

(चै० भ० अन्त्य ६ ष्ठ)

अर्थात् अधिकारी के सिवा यदि कोई और उनका आचार अथवा नक़ल करता है, वह दुःख पाता है और उसे पाप का भागी होना पड़ता है। जैसे रुद्र के सिवा और कोई अगर विष पान कर ले तो वह सर्वथा मर जायगा। इस विषय में सभी पुराण प्रमाण हैं।

स्वयंरूप श्रीकृष्ण की जैसे रासलीला नित्य वर्तमान है, वैसे ही स्वयं-प्रकाश बलदेवाभिन्नविग्रह श्रीनित्यानन्द प्रभु की रासलीला भी शास्त्रविहित है।

श्रीकृष्ण की अप्राकृत रासादि लीला जैसे जीव के लिए अनुकरणीय नहीं हैं, वैसे ही भोक्तृतत्त्व श्रीनित्यानन्द प्रभु की रासादि लीला या दारपरिग्रहादि लीला जीव के साथ समान नहीं। जैसे अद्वितीय भोक्ता श्रीकृष्ण की अप्राकृत लीला का अवैधभाव से अनुकरण करने जाकर प्राकृत जीवों ने गृही बाउल, सहजिया, कर्त्ताभजा आदि नरकदायक अपधर्मों की सृष्टि की है, वैसे ही यदि प्राकृत जीव अभिन्न बलदेव-तत्त्व नित्यानन्द प्रभु की दारपरिग्रहादि लीलाओं को अनुकरणीय व्यापार या स्व-स्व भोगवृत्ति का आदर्शस्वरूप से ग्रहण करें या जगत के निकट अनुकरणीय व्यापार अथवा आदर्श स्वरूप बतलाकर उनका प्रचार करें तो वे भी नरक के मार्ग को प्रशस्त करनेवाले प्राकृत सहजियावाद का ही आवाहन करेंगे।

नित्यानन्द के मनोऽभीष्ट का प्रचार करनेवाले सेवकगण ही श्रीनित्यानन्द प्रभु की सन्तान हैं। अतएव हम लोग उन्हीं नित्यानन्द की सन्तान आचार्य श्रीवृन्दावनदास ठाकुर की भाषा में ठाकुर के अनुगत होकर कहते हैं—

इष्टदेव वन्दो मोर नित्यानन्द राय ।
चैतन्येर कीर्त्ति स्फुरे जाँहार कृपाय ॥
चैतन्यचन्द्रेर प्रिय विग्रह बलाई ।
तार स्थाने अपराधे मरे सर्व ठाँइ ॥
संसारेर पार हइ भक्तिर सागरे ।
जे डूबिबे से भजूक निताई चाँदेरे ॥

---

* पाखण्डदलन का व्रत धारण करनेवाले नित्यानन्द राय हैं। आचार्य के हुंकार से पाप और पाखंडी भागते हैं। संकीर्तन के प्रवर्त्तक श्रीकृष्णचैतन्य हैं। संकीर्तन-यज्ञ में उन्हें जो भजता है, वही धन्य है। वही तो सुबुद्धिवाला है और सब संसार कुबुद्ध है। सब यज्ञों में कृष्णनाम यज्ञ-सार है। कोटि अश्वमेध यज्ञ एक कृष्णनाम के समान हैं, ऐसा जो पाखंडी कहता है, उसे यमराज दण्ड देते हैं।

+ यदि नित्यानन्द मदिरा और यवनी का सेवन करते हैं, तथापि वह ब्रह्मा के भी वन्दनीय हैं, यह मैं तुमसे कहता हूँ।

वैष्णव चरणे मोर एई मनस्काम।
भजि येन जन्मे जन्मे प्रभु बलराम॥
(चै० च० आदि १ म)

अर्थात् मैं अपने इष्टदेव नित्यानन्द राय की वन्दना करता हूँ जिनकी कृपा से चैतन्यदेव की कीर्ति स्फुरित होती है। चैतन्यचन्द्र का निज विग्रह बलाई हैं। उनके स्थान में अपराध ने सब ठौई मरता है। संसार के पार होकर भक्ति के सागर में जो गोता लगावेगा, वह निताई चाँद (नित्यानन्द) को भजे। वैष्णवों के चरणों में मेरी यह मनस्कामना है कि मैं जन्म जन्म में प्रभु बलराम को भजूँ।

अगर कोई संसार के पार होकर, देवीधाम और विरजा को अतिक्रमण कर शुद्ध सत्त्वस्वरूप से भक्तिसागर में निष्णात होना चाहे तो वह श्रीनित्यानन्द प्रभु का ही भजन करे।

श्रीनित्यानन्द के मनोऽभीष्टप्रचारक श्रीकविराज गोस्वामी प्रभु अजस्र धारा से श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रंथ में श्रीनित्यानन्दमहिमा की अमृतधारा बरसाते हैं। यथा—

दुइ भाई एक तनु समान प्रकाश।
नित्यानन्द ना मानो तोमार हबे सर्वनाश॥
एके ते विश्वास अन्ये ना करो सम्मान।
"अर्धकुक्कुटी" न्याय तोमार प्रमाण॥
किवा दोहाँ ना मानिया हओत पाषण्ड।
एक मानि आरे ना मानि—एई मत भण्ड॥
जय जय नित्यानन्द जय कृपामय।
जाँहा हैते पाइनू रूपसनातनाश्रय॥
जाँहा हैते पाइनू रघुनाथ महाशय।
जाँहा हैते पाइनू स्वरूप पदाश्रय॥
जय जय नित्यानन्द - चरणारविन्द।
जाँहा हैते पाइनू श्रीराधागोविन्द॥
× × ×
एमन निर्घृण मोरे केबा कृपा करे।
एक नित्यानन्द बिनु जगत् भितरे॥
प्रेम मत्त नित्यानन्द कृपा - अवतार।
उत्तम अधम किछु ना करे विचार॥
× × ×
प्रेम प्रचारण आर पाषण्ड दलन।
दुइ कार्य अवधूत करेन भ्रमण॥
(चै० च० आदि ५ म और अन्त्य ३ य)

अर्थात् दोनों भाई (गौरांग और नित्यानन्द) एक शरीर के समान प्रकाशमान हैं। नित्यानन्द को न मानने से तुम्हारा सर्वनाश होगा। एक भाई पर विश्वास रखकर अगर दूसरे का सम्मान न करोगे तो तुम्हारा 'अर्धकुक्कुटी न्याय' प्रमाणित होगा। अथवा अगर दोनों को नहीं मानते तो तुम पाषण्ड हो। एक को मानते हैं और दूसरे को नहीं मानते, यह भण्ड मत है। कृपामय नित्यानन्द की जय हो, जय हो। जिनसे मैंने रूपसनातन का आश्रय पाया, जिनसे रघुनाथ महाशय को पाया, जिनसे श्रीस्वरूप का आश्रय पाया। नित्यानन्द के चरणारविन्द की जय हो जय हो, जिनसे मैंने श्रीराधागोविन्द को पाया। ऐसे निर्घृण मुझपर इस जगत् में एक नित्यानन्द के बिना और कौन कृपा करेगा? कृपा के अवतार नित्यानन्द प्रेम में मतवाले हैं। वह उत्तम या अधम का कुछ विचार नहीं करते। प्रेम का प्रचार और पाषण्ड का दलन, इन्हीं दो कार्यों के लिए अवधूत (नित्यानन्द) भ्रमण करते हैं।

श्रीनित्यानन्द का गुणगान पूर्वोक्त आचार्य श्रीठाकुर महाशय ने और एक जगह इस प्रकार किया है—

निताई-पद-कमल, कोटिचन्द्र सुशीतल,
जे छायाय जगत जुड़ाय।
हेन निताई विने भाई, राधाकृष्ण पाइते नाई,
दृढ़ करि धर निताईर पाय॥
से सम्बन्ध नाहि यार, वृथा जन्म गेल तार,
सेई पशु बड़ दुराचार।
निताई ना बलिल मुखे, मजिल संसार-सुखे,
विद्या कुले कि करिबे तार॥
अहंकारे मत्त हवा, निताई पद पासरिया,
असत्येरे सत्य करि मानि॥
निताईयेर करुणा हबे, व्रजे राधाकृष्ण पाबे,
धरो निताईर चरण दुखानि॥
निताई चरण सत्य, ताँहार सेवक नित्य,
निताई पद सदा करो आश।
नरोत्तम बड़ दुःखी, निताई मोरे करो सुखी,
राखो राँगा चरणेर पाश॥

अर्थात् निताई के चरणकमल कोटिचन्द्र के समान सुशीतल हैं, जिनकी छाया में यह जगत् जुड़ाता है। ऐसे निताई के बिना कभी, राधा कृष्ण नहीं मिल सकते, इसलिए दृढ़रूप से निताई के चरण पकड़ो। जिसका उनसे यह सम्बन्ध

नहीं, उसका जन्म वृथा गया और वह बड़ा दुराचारी पशु है। जिसने मुख से निताई नहीं कहा और संसार-सुख में डूबा रहा उसकी विद्या और कुल सब व्यर्थ है। अहंकार में मतवाला होकर निताई के चरणों को भूलकर असत्य को सत्य मानता हूँ। निताई की करुणा होगी, व्रज में राधा और कृष्ण को पाओगे। निताई के दोनों चरणों को पकड़ो। निताई के चरण सत्य हैं, उनका नित्य सेवक बनकर निताई के चरणों की आशा करो। नरोत्तम बड़ा दुखी है। वह कहता है कि निताई प्रभु, मुझे सुखी करो और अपने श्रीचरणों के पास रक्खो।

श्रीनरोत्तम ठाकुर महाशय ने हमारे समान नित्यानन्द पादपद्म-सम्बन्धज्ञान-हीन दुराचार पशुतुल्य जीव के दुःख से कातर होकर जो सब उक्ति की हैं, उनका वह सब पशुत्व और दुराचारत्व हम लोगों में पूर्ण मात्रा में प्रकट है। हमने संसारसुख से आच्छन्न होकर अक्षजधारणा में छला भिजात्य, सुजनहिंसाकारिणी अविद्या का विद्या के भ्रम से ग्रहण, असत्य को सत्य कहकर अवधारणा और असत्य को सत्य सिद्ध करने की जो चेष्टा दिखाई है, जिस वृथा अहंकार में मत्त हुए हैं, उसका मूल कारण नित्यानन्द के चरणों की विस्मृति ही है। हम नित्यानन्द की अवहेला करके अप्राकृत राधाकृष्णलीला की आलोचना करने की धृष्टता दिखाते हैं, कभी नित्यानन्द-चरणों को असत्य जानकर नित्यानन्द-सेवकों के चरणों में अनेक प्रकार से अपराध करते हैं। हमने समझ लिया है, श्रीनित्यानन्द और उनके सेवकगण जब असत्य और अनित्य वस्तु हैं, तब उनके चरणों में अपराध करके हम अपनी बहादुरी दिखा सकेंगे, जगत् में लब्धप्रतिष्ठ हो सकेंगे, सुख से संसार के भोग कर सकेंगे, स्वच्छन्दता के साथ दिन रात बिता सकेंगे। हम में से कोई "रामचन्द्र खाँ", कोई 'ढंगविप्र", कोई "घटपटिया मूर्ख", कोई सुजनहिंसाकारी "हरि नदी ग्राम का दुर्जन ब्राह्मणाधम' हो गया है। "निताई के चरण सत्य, उनका सेवक नित्य" यह बात हम भूल गए हैं। इसीसे हम ईश्वर-विश्वास हीन होकर भगवान और भगवद्भक्तों के चरणों में नाना प्रकार से अपराध करते हैं। हम रामचन्द्र खाँ का परिणाम क्या हुआ था, यह भूल गए हैं, ढंगविप्र (ढोंगी विप्र) की शोचनीय अवस्था हमारे स्मृतिपटल से पुँछ गई है, घटपटिया मूर्ख का प्रसंग हमारे आत्म-संभावित हृदय में स्थान नहीं पाता, हरि नदी ग्राम के दुर्जन ब्राह्मण की बुरी अवस्था—जो ठाकुर वृन्दावन की भाषा में ज्वलन्त अक्षरों से लिखी हुई है—हमारे मत्सरान्ध नेत्रों को देख नहीं पड़ती। हमने समझ लिया है कि इन सब विष्णु और वैष्णवों के अपराधियों को दण्ड उसी समय विहित था, इस समय अब वह सब प्रयुक्त नहीं हो सकता। हमने समझ लिया है—

भक्त का स्वभाव यही, अज्ञ के दोष क्षमा करे।
कृष्ण का स्वभाव निन्दा भक्त को न क्षमा करे॥
(चै० च० अन्त्य ३ य)

इस सत्य बात को हम समझते हैं, आजकल फलवती न होगी! हायरे कलिकाल! नित्यानन्द के चरणों को भूल जाना ही इस समय हमारे सर्वनाश का मूल कारण है। इसी कारण श्रीगौरांगदेव की जन्मस्थली में श्रीगौरसुन्दर की द्वितीय देह प्रिय विग्रह नित्यानन्द प्रभु के प्रकट-वासर में शुद्ध भक्तगण ने नित्यानन्द जन्मोत्सव और तीन दिन तक होनेवाले श्रीनामयज्ञ के अनुष्ठान का आयोजन किया था।

श्रीधाम-मायापुर में श्रीगौर-नित्यानन्द की लीलाभूमि में फिर वही पुण्यस्मृति—वही नाम कोलाहल, वही श्रीभुवनमंगल संकीर्तन-यज्ञ हमारी नित्यानन्दपद-विस्मृति-रूप अचेतन वृत्ति को प्रबुद्ध बनावे, जगावे। फिर विषय-कोलाहल-मत्त जगत् श्रीकृष्णनाम की ध्वनि से मुखरित हो, फिर अचेतन जगत् को चैतन्य हो, फिर जड़ानन्दमत्त, मरु-मरीचिका में भ्रान्त जगत् में शुद्ध नाम पीयूषधारा की गंगा प्रवाहित होकर जगत को नित्यानन्द के प्रेम की बढ़िया में प्लावित करदे, फिर जगत् के मनोधर्म और द्वितीयाभिनिवेश को उखाड़कर श्रीअद्वैताचार्य का शुद्धभक्ति का व्याख्यान अद्वयज्ञान तत्त्व व्रजेन्द्रनन्दन की महीयसी महिमा को विघोषित करे।

इसी कारण श्रीधाम मायापुर में गत २० फरवरी से तीन दिन तक श्रीनित्यानन्द के आविर्भाव बासर में श्रीश्रीनामयज्ञ का अनुष्ठान हुआ था।

मद्रास में श्रीप्रभुपाद

गत ८ जनवरी (१९३२) शुक्रवार को तीसरे पहर ४ बजकर ४८ मिनट (स्टैंडर्ड टाइम) पर सपार्षद श्रीश्रीप्रभुपाद ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज कलकत्तावासी भक्तजनों और सज्जनों की जयध्वनि के बीच हावड़ा से मद्रास मेल पर सवार हुए। श्रीश्रीप्रभुपाद के साथ ये सज्जन थे—गौड़ीय-संपादक-संघपति और श्रीश्रीविश्ववैष्णव राजसभा के अन्यतम मंत्री पंडितप्रवर श्रीयुत अतुलचन्द्र वन्द्योपाध्याय भक्तिशास्त्री, भक्तिसारंग गोस्वामी प्रभु, पंडित प्रवर श्रीपाद अनन्त वासुदेव पराविद्याभूषण बी० ए०, पंडित श्रीपाद परमानन्द ब्रह्मचारी (संप्रदाय वैभव आचार्य) अध्यापक पंडित श्रीपाद यदुवर अधिकारी भक्तिशास्त्री एम्० ए०, बी० एल्०, अध्यापक श्रीयुक्त हरिपद अधिकारी बी० एस्—सी०, श्रीयुक्त गौरसुन्दर-दासाधिकारी, श्रीयुक्त सखीचरणराय भक्तिविजय, श्रीयुक्त नित्यगौरांगदास अधिकारी, श्रीयुक्त मणीन्द्रचन्द्र आचार्य कलाकोविद, आचार्य श्रीयुत वङ्किमचन्द्र दासाधिकारी (संप्रदाय-वैभव), श्रीयुक्त व्रजमोहनदासाधिकारी, ब्रह्मचारी श्रीरासविहारीजी ब्रह्मचारी श्रीकीर्तनानन्दजी, ब्रह्मचारी श्रीसज्जनानन्दजी और गौड़ीय संपादक श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद बी० ए० आदि बीस भक्तगण।

८ जनवरी की रात को १ बजे के लगभग बालेश्वर-रोड स्टेशन पर उपस्थित होकर कुछ भक्तों ने श्रीप्रभुपाद के श्रीचरणों की वन्दना की। कटक-रोड स्टेशन में लगभग डेढ़ बजे रात को अध्यापक श्रीपाद नारायणदास भक्तिशास्त्री भक्तिसुधाकर एम्० ए०, श्रीपाद सुदर्शनदासाधिकारी, श्रीपादविलासविग्रह दासाधिकारी, श्रीयुत शशधर वंद्योपाध्याय आदि कटकवासी गृहस्थ भक्तमण्डली और कटक के श्रीसच्चिदानन्द-मठ के सेवकवृन्द ने बहुतप्रकार की भेंट आदि लेकर श्रीप्रभुपाद की संवर्द्धना की। ९ जनवरी की रात के लगभग आठ बजे राजमहेन्द्री रोड स्टेशन में श्रीयुक्त कुराल्ला रामचन्द्र राव महाशय (जिन्होंने श्रीगौर और रामानन्द के मिलन-स्थल पश्चिम गोदावरी "गोपुर" या "कव्वुर" में पादपीठ और श्रीरामानन्द गौड़ियमठ के लिए ज़मीन दी है) ने आकर पुष्प माल्य आदि के द्वारा श्रीप्रभुपाद की पूजा की। उसके आगे इलोर रोड स्टेशन में उपस्थित होकर मि० वाई० जानकीराम बी० ए० (सब रजिस्ट्रार) और मातानारायण आदि कई भक्तों ने श्रीप्रभुपाद के दर्शन और वन्दना करके उनका अनुगमन किया। १० जनवरी को प्रातःकाल साढ़े आठ बजे के समय "बेसीन ब्रिज" स्टेशन में मद्रास शहर के कुछ खास प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने अग्रसर होकर प्रभुपाद के शुभागमन की अभ्यर्थना की। लगभग ९ बजे के समय मद्रास सेंट्रल स्टेशन में बहुत से मद्रासी विशिष्ट भद्र पुरुषों ने श्रीश्रीप्रभुपाद का अभिनन्दन किया। श्रीप्रभुपाद के सवारी से उतरते ही श्रीश्रीगौरांग की जयध्वनि से स्टेशन गूँज उठा। पहले मद्रास शहर के जनसाधारण की ओर से मद्रास कार्पोरेशन के प्रेसीडेंट मि० टी० एस० रामस्वामी ऐयर ने प्रभुपाद को पुष्पमाला पहनाई। उसके बाद आनरेबुल मिनिस्टर टी० राजन, मि० एस० बी० रामस्वामी मुदालियर, आनरेबुल दीवानबहादुर जी० नारायणस्वामी चेटियर सी० आई० ई०, मि० टी० पुनुस्वामी पिलाई आदि विशिष्ट संभ्रान्त व्यक्तियों ने भी पुष्पमाल्यादि के द्वारा प्रभुपाद का आचार्योचित अभिनन्दन किया। त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिहृदयवन महाराज ने श्रीप्रभुपाद के निकट एकत्र विशिष्ट भद्र लोगों का परिचय कराया।

जो प्रदेश आचार्यों का आविर्भाव क्षेत्र और विचरण भूमि कहकर चिर प्रसिद्ध है जो प्रदेश कावेरी, गोदावरी, कृतमाला, पयस्विनी आदि पुण्य नदियों से युक्त रहकर मनुष्यों के मन में निरन्तर हरिकथामृत-पान की प्यास जगाता रहता है जो प्रदेश एक दिन सर्वावतारी कलियुग-पावनावतार श्रीगौरसुन्दर और उनके चरणकमलों की रेणुओं से अभिषिक्त हुआ है, उस प्रदेश के निवासियों में श्रीगौरसुन्दर के एकान्त निज जन गौरशक्ति युगाचार्यवर्य की पूजा के प्रति स्वाभाविक पिपासा का रहना कुछ आश्चर्य की बात नहीं। इससे मद्रासवासी विशिष्ट और साधारण सभी प्रकार के व्यक्ति गौड़ीय संप्रदाय के एकमात्र रक्षक युगाचार्यवर्य को मर्त्यजगत में अलौकिक गुरु, बन्धु और आचार्यरूप से वरण करने के लिए एकत्र हुए थे।

अर्काट के माननीय युवराज (Prince of Arcot) श्रीश्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना के लिए एक सुरम्य अश्वयान

देने के लिए प्रविश्रुत थे। स्थानीय प्रसिद्ध व्यक्तिगण भी अपने मूल्यवान् यान-वाहन आदि को लेकर स्टेशन पर श्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना करने को उपस्थित थे। इनके सिवा श्रीगौड़ीयमठ की मोटर भी भक्तों के साथ नई दिल्ली से बंबई शहर होकर सपार्षद श्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना के लिए इससे पहले ही मद्रास में लौट आए थे।

मद्रास के श्रीगौड़ीयमठ के सेवकों की ओर से त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिहृदयवन महाराज, त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिरक्षक श्रीधर महाराज, दिल्ली से आए हुए त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिसर्वस्व गिरि महाराज, श्रीपाद सी० वी० कृष्णस्वामी ऐयर, श्रीपाद प्यारी मोहन ब्रह्मचारीजी श्रीयुक्त विजयरत्न पिलाई, श्रीयुक्त गणेश ऐयर, श्रीयुक्त शङ्करनारायण ऐयर, श्रीयुक्त राघवेन्द्र राव, श्रीयुक्त स्वामिनाथ ऐयर आदि भक्तगण मृदंग करताल आदि के साथ संकीर्तन सेनापति को वरण करने के लिए स्टेशन में उपस्थित थे।

श्रीप्रभुपाद और उनके अनुगामी भक्तवृन्द जब स्टेशन से वेस्टकाट रोडपर उपस्थित हुए, तब पाईक्राफ्ट रोड से एक बहुत बड़ा संकीर्तन का जलूस श्रीगौरांगभक्तों को बीच में करके चलने लगा। संकीर्तन का जलूस नीचे लिखे क्रम से सजाया गया था सब के पहले श्रीमद्रास गौड़ीयमठ के नाम से अंकित पताका, उसके बाद एकतानवाद्य, मद्रास युवक समाज के स्वयं सेवकों का दल, मौरिदासजी का संकीर्तन-संघ, मद्रास कार्पोरेशन के स्वेच्छासेवकों का दल, मद्रास जार्ज टाउन के विभिन्न कीर्तन संघ, प्रादेशिक स्वयं-सेवकों का दल, मद्रास माधवसंघ के ब्रह्मचारी जो वेद मंत्र उच्चारण कर रहे थे, मद्रास के प्रतिष्ठित लोगों का समूह, मद्रास गौड़ीयमठ के सेवकों का बड़ा भारी संकीर्तन-संघ, उसके बाद पुष्पमाल्य विभूषित सुरम्य मोटर पर श्रीश्रीप्रभुपाद, दूसरी मोटर पर श्रीगौड़ीयानाथ श्रीगौरसुन्दर, उसके बाद मद्रासी जन-साधारण की मोटरें व और सवारियाँ तथा साधारण लोकसंघ और संकीर्तन मंडलियाँ। संकीर्तन का जलूस वेस्टकाट रोड, पेरोकाट्स रोड, उड्स रोड, बायपेटा हाई रोड, मोरिस रोड, लायड्स रोड और कार्नेस्मिथ रोड होकर नार्थ गोपालपुरम् नामक स्थान में स्थित श्रीगौड़ीयमठ के सामने उपस्थित हुआ।

जिस समय मद्रास शहर के विभिन्न मार्गों से संकीर्तन का जलूस निकल रहा था, उस समय, श्रीश्रीप्रभुपाद के दर्शन और संकीर्तन को सुनने के लिए दोनों ओर के महलों और घरों के ऊपर, बरामदों में, सड़कों में असंख्य बालक, बूढ़े, जवान नर नारी समुत्सुक होकर अपेक्षा कर रहे थे। कोई-कोई अपनी जगह से ही आचार्यवर्य के उद्देश्य से दण्डवत् प्रणाम कर रहा था कोई स्तुति कर रहा था, कोई फूल बरसा रहा था, कोई जयध्वनि कर रहा था कोई मांगलिक बाजे बजा रहा था कोई कटे हुए केले के पेड़ की तरह प्रभुपाद की मोटर के सामने और आसपास पृथ्वी पर लोट कर प्रभुपाद की वन्दना कर रहा था। कोई कोई विशिष्ट भद्र पुरुष श्रीश्रीप्रभुपाद की सेवा-सुकृति पाने के लिए सेवकों की अनुमति लेकर उनके हाथ के व्यजन माँगकर श्रीश्री-प्रभुपाद के ऊपर झुलाते थे। किसी किसी कीर्तन-संघ के परिचालकगण श्रीप्रभुपाद की चरण-रज लेने के लिए अत्यन्त आकुल होकर पुष्प-माल्य आदि अर्घ्य के साथ नृत्य करते करते प्रभुपाद के चरणों के निकट उपस्थित हुए थे और चरण छूकर अधिकतर प्रेम के साथ नृत्य करने लगते थे पुनः पुनः गुरु गौरांग की जयध्वनि से मद्रास-शहर गूँज उठता था। नगर का कर्म कोलाहल बंद हो गया था, शहर की अन्यान्य सवारियाँ तक चलना बंद कर आचार्यवर्य की अप्रतिहत गति के पीछे पीछे चलने लगी थीं। मद्रास गौड़ीयमठ का संकीर्तन-संघ श्रीपाद अनन्त वासुदेव पर-विद्याभूषण प्रभु के नेतृत्व में गौरविहित संगीतों का कीर्तन और नृत्य करता हुआ सड़क के ऊपर चल रहा था। जगह-जगह मंडली नृत्य और घेरा-नृत्य का दृश्य, मधुर मृदंग मुखरिता दिग्वधूगण की प्रतिध्वनिमयी कीर्तनारति सभी के हृदयों में नव नव चमत्कारिता का विधान कर रही थी।

श्रीश्रीप्रभुपाद को लेकर संकीर्तन का जलूस मौब्रेस रोड में जब उपस्थित हुआ, तब मद्रास श्रीगौड़ीयमठ का जो वहाँ पर भूखण्ड था, उसमें श्रीप्रभुपाद ने अवतरण किया। श्रीप्रभुपाद के प्रति श्रद्धा जताने के लिए मद्रासवासियों ने ३२ तोपें दागीं। संकीर्तनसंघ ने इस भूमिपर उपस्थित होकर संकीर्तन शुरू कर दिया। श्रीप्रभुपाद ने फिर मोटर पर बैठकर आगे बढ़ना शुरू किया, बहुत से लोग उनके पीछे पीछे पैदल ही चलने लगे। प्रभुपाद के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए बारंबार तोप की आवाज़ होने लगी। श्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना के लिए सड़क के एक छोर से दूसरे छोर तक पताकाएँ देख पड़ती थीं, जो कि सागर तट से आ रहे चिरवसन्तवायु के साथ मित्रता स्थापित कर नृत्य

कर रही थीं। सड़क के ऊपर भक्तों का नृत्य, आकाश में पताकावली का नृत्य, पृथ्वी पर भक्तों की कीर्तनध्वनि और आकाश में दिग्वधूगण की अनुकीर्तनध्वनि श्रीचैतन्य-वाणी की शुभागमन-वार्ता को दिग्दिगन्त में फैला रही थी।

संकीर्तन का जलूस श्रीश्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना करके गोपालपुरम् में स्थित मद्रास श्रीगौड़ीयमठ के सामने आगे बढ़ने लगा। क्रमशः श्रीश्रीप्रभुपाद के ही चरणाश्रित मद्रासी गृहस्थ भक्तप्रवर श्रीपाद सी० वी० कृष्णास्वामी ऐयर महाशय के भवन के सामने प्रभुपाद की मोटर पहुँची। श्रीपाद ऐयरजी ने फिर श्रीगुरुपादपद्म की अभ्यर्थना के लिए अपने भवन के द्वार पर कदलीश्रेणी-समन्वित वृक्ष, मंगल घट, पुष्पमाल्य आदि संस्थापित किए थे। महासौभाग्य-शाली उक्त भक्तप्रवर ने श्रीप्रभुपाद की चरणवन्दना करके श्रीप्रभुपाद के चरणों में पुष्पाञ्जलि दी और गले में पुष्प-माला पहनाई उस परिवार के किसी किसी व्यक्ति ने देश प्रचलित आचार के अनुसार घृत और कर्पूर की आरती की - बालक, बालिकाओं ने ललित स्वर में गुरुवन्दना-सूचक आरती गाना शुरू कर दिया। श्रीश्रीप्रभुपाद ने सेवोन्मुख सेवकों के प्रति इस प्रकार अहैतुक कृपावर्षण करके पुनः संकीर्तन के जलूस के साथ श्रीमठ की ओर चलना शुरू किया। श्रीमठ के सम्मुखस्थ होते ही फिर बारंबार तोप की आवाज़ होने लगी। भक्तों के आनन्द की सीमा न थी। श्रीकृष्णचैतन्य-संकीर्तन में मस्त होकर भक्तों ने महानृत्य आरंभ कर दिया। उच्च संकीर्तन कलरव, मृदंग का मधुर शब्द और श्रीगुरुगौरांग-जयध्वनि ने एकतान-वाद्य के साथ मिलकर चारों ओर गुँजा दिया।

बीच रास्ते में ही आनरेबुल मिनिस्टर दीवान बहादुर कुमार स्वामी रेड्डियर महोदय श्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना और अभिनन्दन करने के लिए उपस्थित होकर श्रीप्रभुपाद के साथ ही चल रहे थे। श्रीमठ के प्रांगण में श्रीप्रभुपाद के अवतरण करने पर मद्रास शहर के सामयिक समाचार-पत्रों के फोटोग्राफ़र लोग उपस्थित हुए थे। उन्होंने अपनी आँखों से सब दृश्य देखा और फ़ोटो लिए।

हज़ारों कण्ठों से निकली हुई जयध्वनि के बीच श्रीप्रभुपाद ने मद्रास श्रीगौड़ीयमठ में प्रवेश किया। श्रीमठ का द्वार केले के वृक्ष, पूर्ण कलश, आम्र पल्लव आदि मांगलिक पदार्थों से, पुष्पमालिका की तोरणावली तथा श्रीमठ नामांकित पताका से विभूषित किया गया था। तोरण से मठ के श्रीकृष्णहाल तक रंगे कपड़े से मढ़ा हुआ था। श्रीप्रभुपाद ने श्रीकृष्णहॉल में पहुँचकर आसन ग्रहण किया मद्रासी असंख्य व्यक्ति पृथ्वी पर गिरकर श्रीप्रभुपाद के चरणों में साष्टांग प्रणाम करने लगे। आचार्य के सम्मान में, वैष्णव के सम्मान में किसी को भी कोई कृत्रिम लज्जा या रुकावट नहीं थी। अनेक भद्र पुरुष साहबी पोशाक में थे, किन्तु आचार्य के प्रति भक्ति जताने के समय किसी प्रकार की दुबधा के बिना उन्होंने भी साष्टांग-प्रणाम किया। इस प्रदेश में भी फल आदि चढ़ाकर साधु-दर्शन या साधु-चरण-वन्दना करने की रीति प्रचलित है।

श्रीप्रभुपाद के आसन ग्रहण करने पर स्थानीय सुप्रसिद्ध लायोलाकॉलेज (Loyola college) के अर्थनीति के अध्यापक मि० एल० एन० गोविन्दराजन एम० ए० महाशय ने मद्रास-गोपालपुरम् के अधिवासियों की ओर से श्रीप्रभुपाद के उद्देश्य से दिया हुआ एक अभिनन्दनपत्र सभा में पढ़ा। वह अभिनन्दनपत्र नीचे हिन्दी-अनुवाद करके दिया जाता है —

अभिनन्दनपत्र

प्रभुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज !

आप भारतवर्ष के श्रीमाध्वगौड़ीय संप्रदाय के प्रपूज्य आचार्य और श्रीविश्ववैष्णवराजसभा के परम सम्मानित पात्रराज हैं, श्रीगौरजन्मस्थली श्रीधाममायापुर में स्थित श्रीचैतन्यमठ के कल्याणनिकेतन श्रीगुरुवर हैं। कृपापूर्वक गोपालपुरम् नामक स्थान के नव औपनिवेशिकों का यह क्षुद्र अर्घ्य ग्रहण करिए।

हम अत्यन्त आनन्द के साथ यहाँ श्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना करते हैं। प्रभुपाद वर्तमान युग में उत्तर-भारत-वर्ष में भगवद्भक्ति-प्रचार के मूल-महाजन हैं। हमें बड़ा ही आनन्द होता है कि प्रभुपाद अपने अतिमर्त्यप्रभाव पुण्य को भारत में चारों ओर फैला रहे हैं। कुछ काल से मद्रास में भी एक शाखा-मठ की स्थापना की है। हम आशा करते हैं, गोपालपुरम् पल्ली में ही यह मठ स्थायी भाव से प्रतिष्ठित होगा।

सन १९३१ ई० के प्रथम भाग से ही हम लोग प्रभुपाद के द्वारा विशेष विचार-विचक्षणता के साथ निर्वाचित, सर्वस्व-त्यागी उपयुक्त प्रचारकवर्ग की कार्यावली द्वारा उपकृत हो रहे हैं, जिससे हम अपने को विशेषरूप से

सौभाग्यशाली समझते हैं। आपके अनुगत उक्त प्रचारकगण नियमित हरिकथा की आलोचना और हरि-प्रसंग के उपक्रम एवं उपसंहार में चेतना का उन्मेष करानेवाले श्रीहरि संकीर्तन द्वारा हमारे हृदय में प्रभु श्रीहरि और उनके निज जनों के प्रति विशुद्ध भक्ति का संचार कर दे रहे हैं।

हम प्रार्थना करते हैं कि प्रस्तावित श्रीकृष्णहाल का कार्य संपूर्ण होने के साथ ही सत्यानुसन्धान करने की इच्छा रखनेवाले सभी सज्जनों के कल्याणार्थ एक विद्यालय की भी स्थापना की जाय, जहाँ परमार्थ के अनुगत शिक्षा दी जाया करे और शिक्षार्थी लोग निर्दिष्ट काल तक अपनी-अपनी शिक्षा के व्रत को पूर्ण करने के बाद श्रीप्रभुपाद के कल्याणप्रद आशीर्वाद एवं अनुमोदनपत्र को प्राप्त कर श्री-मठ के सेवाकार्य में आत्मनियोग कर सकें अथवा संपूर्ण भगवद्भक्तिमय जीवन में प्रविष्ट हो सकें। इस तरह शिक्षा पाए हुए व्यक्ति श्रीभगवान की सेवा और मानव-जाति के नित्य कल्याण के लिए हरिकीर्तनप्रचारमय जीवन बिताने में समर्थ होंगे।

आज हम अपने को खूब भाग्यशाली समझते हैं और जिसमें हम क्रमशः श्रवण, कीर्तन, भाव, भाषा तथा आचार-प्रचार में परमार्थमय जीवन बिताने की शिक्षा प्राप्त कर सकें, उस प्रकार की शिक्षा में मति-प्रदान की विशेषकर सब ओर अधर्म-प्रवृत्ति-परिपूर्ण इस नास्तिक्य-युग में इस प्रकार का अमूल्य सुयोग देने के लिए श्रीभगवान् के प्रतिनिधि जो आप हैं उनके निकट हम प्रार्थना जनाते हैं। एकमात्र अकैतव परमार्थ की शिक्षा ही हमें महाचित्स-मन्वय परा शान्ति और परमानन्द दे सकेगी।

१० जनवरी, १९३२
गोपालपुरम्, मदरास

श्रीप्रभुपाद के कृपाप्रार्थी
गोपालपुरम्-निवासी
श्रीकृष्णसेवकानु-सेवकाभासवृन्द

उपर्युक्त अभिनन्दन पत्र पढ़ने के बाद आनरेबुल मिनिस्टर दीवान बहादुर कुमार स्वामी रेड्डियर महोदय ने मदरास वासियों की ओर से अँगरेज़ी भाषा में एक संक्षिप्त अभिभाषण दिया। उसका सारांश नीचे हिन्दी में दिया जाता है—

पूर्ववक्ता महोदय के कथनानुसार मैं परमार्थ श्रवण, परमार्थ कीर्तन, परमार्थ-चिन्तन, परमार्थ आचरण और सर्वतोभाव से परमार्थ जीवन बिताना तो दूर, अपना अधिकांश समय ही अन्यान्य कर्मों में बिताता हूँ। इस कारण मेरे समान व्यक्ति को श्रीप्रभुपाद के समान अलौकिक महापुरुषप्रवर के सम्बन्ध में कुछ कहने की योग्यता किसी तरह नहीं है। तथापि इस सभा में इस मंगलमय व्यापार में मैं जैसे अपने भीतर प्रचुर कृपा-शक्ति का संचार अनुभव कर रहा हूँ। मैंने आज जैसे नवजीवन पाया है। इस मठ के साथ घनिष्ठ भाव से मेरा कुछ भी संबंध न रहने पर भी इस मठ की कार्यावली मुझे बिलकुल अविदित नहीं है। मैंने इस मठ के बारे में सुना है, इन लोगों की कार्यावली देखी है और इनके आचार-प्रचार से विशेष भाव से मुग्ध हुआ हूँ। इस मठ की विशुद्ध भक्ति-प्रचार की महाप्रचेष्टा मेरे हृदय में गम्भीर भाव से अंकित होगई है — इस बात को मैं संक्षिप्त तथा निरपेक्ष भाषा में कह सकता हूँ। गुरु महाराज जो सार्वजनीन प्रेम धर्म की बात प्रचारित कर रहे हैं, उससे हम आज उन्हें अपने बीच पाकर विशेष गौरव का अनुभव करते हैं अपने को कृत-कृत्य समझते हैं। उनकी भुवन-मंगलमयी वाणी हमें अन्धकार से निकालकर निश्चय ही महाप्रकाशमय सत्य-पथ में परिचालित करेगी। सुतराम् गोपालपुरम् पल्ली के अधिवासियों की ओर हमारे अध्यापक महोदय ने जो अभिनन्दन पत्र दिया है, उससे सन्तुष्ट न होकर मैं समग्र मदरास शहर के निवासियों की ओर से गुरु महाराज को हम लोगों की आन्तरिक श्रद्धा, अभ्यर्थना, कृतज्ञता और अभिनन्दन जनाता हूँ (करतलध्वनि)।

श्रीप्रभुपाद का प्रत्यभिभाषण

भद्र महोदयगण, आप लोगों के अभिनन्दन-पत्र और माननीय दीवान बहादुर के अभिभाषण में मुझ सरीखे अयोग्य व्यक्ति के प्रति जो सब प्रशस्ति कीर्तित हुई है, उसके लिए मैं आप लोगों के महत्त्व का अनुभव करके आप लोगों को धन्यवाद देता हूँ।

भगवद्भक्ति में—भगवान् की सेवा के कार्य में हम सभी विशेष भाव से संपर्कित हैं। हमारी सत्ता निरन्तर भगवत्सेवामय होने पर भी—हम चेतन होने पर भी वर्त्तमान में स्थूल और सूक्ष्म शरीर के कारागार में बंद पड़े हैं। यहाँ हम हर घड़ी ही प्रत्येक वस्तु के निकट साहाय्यप्रार्थी हैं। यद्यपि हम हर घड़ी ही साहाय्य और सहयोगिता के कंगाल होकर अपनी अपूर्णता और आकांक्षा को परिपूर्ण करने की चेष्टा करते हैं, तथापि हमारी अपूर्णता और आकांक्षा जैसी

की नैमी बनी रह जाती है। सब प्रकार की सहायता पाने का मूल केन्द्र श्रीभगवान के चरण कमल हैं; पूर्ण सविशेष भगवान के निकट ही हमें नित्य साहाय्य या नित्यकृपा की प्रार्थना लेकर उपस्थित होना चाहिए। वह हमें जो सहायता देते हैं उसमें अपूर्णता, क्षणभंगुरता, छलना, हेयता आदि कुछ नहीं है।

हमारे लिए नियमित परमार्थ शिक्षा आवश्यक है। केवल भारतवर्ष के लोगों के लिए ही इस प्रकार की शिक्षा प्रयोजनीय नहीं है; बल्कि सब देशों के, सब कालों के, सब लोकों के लिए भगवद्भक्ति का एकान्त प्रयोजनीय होना नित्य वर्तमान है।

अब जिज्ञास्य यह है कि किस प्रकार उस वास्तव परम सत्य भगवत्पदारविन्द के निकट हम लोग पहुँचें? पहले ही कह चुका हूँ कि हम अपने जन्मकाल से—जन्मकाल से क्यों जन्म के भी पहले माता के गर्भ में रहने के समय से मृत्युकाल तक और उसके उपरान्त भी अर्थात जीवन के अन्त में भी किसी न किसी वस्तु के लिए आकांक्षा से युक्त बने रहते हैं। किन्तु ये सब आकांक्षाएँ हमारी आकांक्षा की शृंखला को ही बढ़ाती हैं। किस आकांक्षा की स्मृति हमारे अभद्र या अकल्याण का विनाश कर सकती है? हम सब उसी आकांक्षा के ग्राहक हैं। वही आकांक्षा हमारे चेतन की नित्य आकांक्षा है। उस आकांक्षा के आविष्कृत होने से ही वह हमें कृष्णचरण-कल्पवृक्ष में चढ़ा देती है—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि च शन्तनोति ॥
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानञ्च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥

(भागवत १२ । १२ । ५५)

श्रीकृष्ण के पादपद्म युगल की अनुक्षण स्मृति जीव के सभी अमंगलों या अनर्थों को नष्ट करके संपूर्ण कल्याण का विस्तार करती है। उनके चरणों का स्मरण करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और ज्ञान, विज्ञान तथा विराग से युक्त प्रेमलक्षणा भक्ति का लाभ होता है।

भगवद्भक्ति के राज्य में अनर्थयुक्त व्यक्ति यदि प्रवेश करना चाहे तो उसको नियमित शिक्षा के बीच से होकर आगे बढ़ना होगा। पहले गुरु चरणों का आश्रय ग्रहण करके श्रीगुरुपादपद्म से कृष्णदीक्षादि की शिक्षा एवं विश्रम्भ (निष्कपटता) के साथ गुरु-सेवा अर्थात् सद्गुरु के मुख से निकली हुई वाणी को निष्कपट होकर निरालस्य भाव से श्रवण करे। केवल वर्तमान के की आपात-प्रयोजनीयता की छलना में जो नश्वर दुःखदायक सुख का स्वप्न है, उसमें हम मुग्ध न हों; वास्तव सुख, कृष्णसेवासुख की कथा—जो श्रीसद्गुरुदेव की वाणी में नित्य प्रकटित है, उसी वाणी की सेवा करें—उसी वाणी को बराबर सुनें। इन्द्रिय-परायणता यथार्थ सुख नहीं है, अधोक्षज कृष्णेन्द्रियपरायणता ही नित्य वास्तव सुख की खान है।

सविशेष पुरुषोत्तम-तत्त्व के सम्बन्ध में मनोधर्मियों के नाना प्रकार परिवर्तनशील मतभेद के फंदे में हमें न पड़ना चाहिए। कोई कोई परात्पर तत्त्व में "क्लीबत्व" का आरोप करते हैं। उनका विचार यह है कि परात्पर तत्त्व में लिंग प्रकरण-विषयक प्रश्न उठाने से उसका परात्परत्व विनष्ट होता है।

किन्तु क्लीबत्व की धारणा एक असम्यक धारणामात्र है। जिस तत्त्व में प्रभुत्व—पुरुषोत्तमत्व प्रकाशित नहीं है जो तत्त्ववस्तु स्वयं प्रेरणा नहीं ग्रहण कर सकता, वह किस प्रकार परात्पर तत्त्व हो सकता है? फिर तत्त्ववस्तु का predominating feature predominated aspect के बिना संपूर्ण नहीं हो सकता। moiety का विचार पूर्ण विचार नहीं है। दो moiety में एक integer या पूर्ण संख्या होती है। predominating and predominated aspect का विचार परस्पर सम्बन्ध रखता है।

हम सुनकर सुखी हुए कि हमारे आनरेबुल मिनिस्टर दीवान बहादुर अब तक सात्वत वैष्णव सम्प्रदाय के साथ अपना संबंध स्मरण करते हैं। इस समय भी वह स्मरण करते हैं कि सात्वत वैष्णव सम्प्रदाय के अन्यतम संप्रदाय के वह एकजन अद्यतन पुरुष हैं। यद्यपि वह दैन्यवश अपने को अत्यन्त लघु और अन्यान्य कार्यों में लगा हुआ समझते हैं, तथापि अपने स्वरूप में वह एक विशिष्ट वैष्णव हैं।

हम केवल वर्त्तमान जीवन को आपात प्रयोजनीयता के प्रति मनोयोगी न होंगे। भविष्यत् जीवन की नित्य और श्रेष्ठ प्रयोजनीयता ही हमारे पूर्णतम मनोयोग का विषय होगी। अपना दैन्य दिखाकर दीवान बहादुर ने यही शिक्षा दी है। अतएव हम दीवान बहादुर की संवर्द्धना की संपूर्ण भाव से अभ्यर्थना करते हैं। जिन सब भद्र पुरुषों ने मेरे समान अयोग्य व्यक्ति को भी नाना प्रकार की

प्रशस्तियों द्वारा संवर्द्धना की है, मैं उन्हें पुनः धन्यवाद देता हूँ। उन्होंने भगवद्भक्ति-प्रचार की इस संस्था के लिए अपनी जो सेवा अर्पण की है, अपना समय दिया है, उसके लिए वे वरेण्य हैं। भगवान् की सेवा हम सबको अवश्य करनी होगी। उस सेवा-कार्य में हम महाजनों के मार्ग का अनुसरण कर सकें—यही हमारा आराध्य विषय हो। मैं पुनः आप लोगों को धन्यवाद देता हूँ (करतलध्वनि और जयध्वनि)।

१० जनवरी (१६३२) को तीसरे पहर मद्रास-श्रीगौड़ीयमठ के श्रीकृष्ण हाल में फिर एक विराट् सभा का अधिवेशन हुआ। अध्यापक श्रीपाद यदुवरदास भक्ति शास्त्री एम्० ए०, बी० एल० और पण्डितप्रवर श्रीपाद अनन्त वासुदेव परविद्याभूषण प्रभु ने श्रीश्रीगौराङ्ग की वन्दना और उद्बोधन-संगीत का कीर्तन किया। उसके उपरान्त श्रीप्रभुपाद ने लगभग २ घंटे तक "श्रीश्रीकृष्ण चैतन्य-शिक्षा" विषय पर एक अभिभाषण दिया। हो सका तो अगली किसी संख्या में उसका सारांश दिया जायगा।

सपार्षद श्रीप्रभुपाद की मद्रासनगर में शुभविजय-वार्ता और उनके अभिभाषण आदि का सारांश स्थानीय भिन्न-भिन्न समाचार पत्रों में विस्तृत रूप से प्रकाशित हुआ है। स्थानीय मद्रास-मेल (Madras Mail) नामक सरकारी दैनिक पत्र में, १२ जनवरी १६३२ की संख्या में सपार्षद श्रीप्रभुपाद का फ़ोटो आनरेबुल मिनिस्टर दीवान बहादुर कुमार स्वामी रेड्डियर आदि विशिष्ट भद्र पुरुषों के चित्र के साथ प्रकाशित हुआ है। "हिन्दू" और "जस्टिस" नाम के प्रभावशाली और बड़ी संख्या में निकलनेवाले दो अँगरेज़ी दैनिक पत्रों की भी १२ जनवरी की संख्या में मद्रासनगर में श्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना, अभिनन्दन और प्रभुपाद के विस्तृत अभिभाषण का विवरण और सारांश प्रकाशित हुआ था।

७

श्रीमद्भागवत में कहा है—

निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदन्तथा॥
(१२ । १३ । १६)

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में भी लिखा है—

नास्ति गंगासमं तीर्थं न च कृष्णात्परः स्मृतः।
न शङ्कराद्वैष्णवश्च न सांहष्णुर्धरापरा॥
(ब्रह्मखण्ड ११ अ० श्लोक १६)

श्रीशंभु वैष्णव शिरोमणि हैं। वह स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के गुणावतारों में गिने जाते हैं। किसी कल्प में विधाता के ललाट से और किसी कल्प में श्रीविष्णु के ललाट से उनका उद्भव होता है। कल्प के अन्त में सङ्कर्षण से भी कालाग्नि रूप से उनका अभ्युदय हुआ करता है। वह दो तरह से लीला पर हैं। प्रथम स्वांश से ईश्वर-कोटि में और दूसरे विभिन्न अंश से जीव कोटि में। प्रथमरूप से वह वैकुण्ठ में शिवलोक में श्रीभगवान् के नित्य सेवक रूप में सदा वर्त्तमान हैं। वह सदाशिव नाम से प्रसिद्ध हैं। और द्वितीय रूप से वह ब्रह्माण्ड में प्रलयकाल पर्यन्त कैलास और काशीधाम में विराजमान रहते हैं। वह तमोगुण से से संहार करनेवाले शिव के नाम से विदित हैं। इस प्रकार यह भी जीव हैं। उनका यह रूप महाप्रलय में तिरोहित होता है। सुदर्शन चक्र के तेज से तापित दुर्वासा ऋषि से उन्होंने स्वयं कहा है—"यह ब्रह्माण्ड और इस तरह के कोटि कोटि ब्रह्माण्ड, काल पाकर परम कारण श्रीविष्णु से उत्पन्न होकर अन्त को उन्हीं में लीन होते हैं।' ब्रह्मा ने भी कहा था—"मैं, भव, दक्ष, भृगु आदि सब प्रजापति, भूतपति और सुरेश, उन्हीं के द्वारा निमंत्रित होकर उन्हीं की आज्ञा मस्तक में धारण कर, द्विपरार्द्धकाल पर्यन्त इस स्थल में उन्हीं की इच्छा पूर्ण करते हैं। काल पूर्ण होने पर उनकी भ्रकुटी के इशारे से ही इस स्थान के साथ हम लोगों को तिरोहित होना पड़ेगा।" (भागवत)

मायाविकृत ब्रह्माण्ड में कैतवकुहकमुग्ध जीवगण कभी धर्म-अर्थ काम की कामना में और कभी आत्मविनाश रूप मोक्ष की कामना में अपने को शिवोपासक कहकर परिचय देते हैं। वह भी उन्हें भगवद्विमुखता के दण्ड-स्वरूप ये सब अशुभ गतियाँ देकर वञ्चित करते हैं। केवल

वे लोग, जो उनके प्रकृत नित्य स्वरूप के निकट निष्कपट कृपाप्रार्थी हैं, उन्हीं को परमार्थ कृष्णभक्ति देकर परागति का मार्ग दिखलाते हैं (प्रचेतागण पर शंकर ने ऐसी ही कृपा की थी यह कथा श्रीमद्भागवत में है) । विष्णु-भाव वर्जित विपर्यी लोग उनकी आराधना करके अभी अगर काम्यफल-लाभ करते भी हैं तो वे उनके प्रीतिपात्र नहीं हो सकते । काल के कवल से भी छुटकारा नहीं पाते । कालयवन, रावण, बाण पौण्ड्रक, वृक, कौञ्च, अन्धक आदि असुर इनके उत्कृष्ट उदाहरण हैं । फिर असुर-विमोहनकारी, मायावाद आदि असत् शास्त्रों का प्रचार करनेवाली, जीव की योग्यता के अनुसार आत्मवृत्ति का ध्वंस करनेवाली रुद्रमूर्त्ति या रुद्रस्वरूप के निकट जो लोग आत्मविनाशगति लाभ के लिए उपस्थित होते हैं, वे भी स्थावर देहादि की तरह अचित्‌गति पाया करते हैं । ये सब भगवान से विमुख होने के दण्ड हैं ।

श्रीमद्भागवत आदि सात्विक पुराणों में शिववाक्य में अमूल्य कृष्ण कथा ने सर्वत्र अजस्र अमृत प्रवाह बहाया है । हाँ, अन्य पुराणों में जो सब कृष्णभक्ति के बाधक विपरीत प्रसंग पाए जाते हैं, वे उन्हीं भगवान की इच्छा से असुर मोहन के लिए दुर्जय मायाजाल मात्र हैं । पद्मपुराण में परम वैष्णव शिव ने ही निज मुख से कहा है—

वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम् ।
मयैव वक्ष्यते देवि जगतां नाशकारणात् ॥

ये सब शास्त्र तमोगुण के सहायक तामस शास्त्र हैं । उनमें मुग्ध होकर जो मूढ़ वैष्णवों में अग्रगण्य शंकर का वैष्णव होना अस्वीकार करके उनको स्वतन्त्र ईश्वर मानकर ऐसी कल्पना या धारणा पोषण करता है, वह कभी शिव की कृपा या सद्गति नहीं प्राप्त कर सकता । अधिकन्तु शिवापराध से ही उसकी दारुण दुर्गति होती है ।

वैष्णव चूड़ामणि महेश विष्णु की सेवा से जैसे सन्तुष्ट होते हैं, वैसे क्या उसका शतांश भी अपनी सेवा करने से प्रसन्न नहीं होते । वह हरि के प्रेम में ही पागल हैं । हरिनाम के गुणगान में ही मग्न रहते हैं । श्रीहरि की महिमा के प्रचार में ही पञ्चमुख हैं । हरिभक्त के निकट ही उनका नित्य निवास है । हरिभक्त ही उनके एकान्त अपने जन हैं । हरिभक्त से बढ़कर उनका प्रिय पात्र और कोई नहीं है । उन्होंने परम भक्त प्रचेतागण से स्वयं भागवत में कहा है—

यः परं रहसः साक्षात् त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात् ।
भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे ॥

"जो व्यक्ति प्रकृति और पुरुष के नियन्ता, गुह्य से भी गुह्य स्वरूप भगवान वासुदेव के चरणों में अनन्य भाव से शरणागत होता है, वही मुझे प्रिय है ।"

श्रीभगवान का स्तव करते हुए श्रीरुद्र ने यह भी कहा है—

क्रियाकलापैरिदमेव योगिनः
श्रद्धान्विताः साधु यजन्ति सिद्धये ।
भूतेन्द्रियान्तःकरणोपलक्षितं
वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदाः ॥

(भागवत ४ । २४ । ६२)

रुद्र ने यह परम सत्य भी जगत् में घोषित किया है कि जो भक्तयोगीजन परम श्रद्धा के साथ श्रीभगवान के स्वयंरूप श्यामसुन्दर मदनमोहन मूर्ति का भजन करते हैं, उन्हीं को वेद और तन्त्रशास्त्र के तत्त्व का ज्ञाता कहना चाहिए ।

यही बात स्वयं प्रभु कृष्ण भगवान् ने भी श्रीमुख से अर्जुन के प्रति कही है (गीता १२।२) ।

पद्मपुराण में शिव-मुख की निकली हुई सुविस्तृत कृष्ण-कथा एक परमानन्दमय परमनिधि है ।

हर को हरि, अतएव हरि को हर भी, इतने प्रिय हैं कि दोनों को अभिन्नात्मा कहा जाता है । "मयि ते तेषु चाप्यहम् ।" (गीता ९।२९)

हरि से जो द्वेष करता है, वह जैसे हर को वैसे ही हर से जो द्वेष करता है, वह हरि का विराग-भाजन होता है । भक्तप्रिय भगवान अपने भक्त को अपने ऊपर आसन या स्थान देकर आनन्दित होते हैं । इसी से—श्रीभगवान् की इस अत्यधिक भक्तप्रियता से ही "राम के गुरु शिव" इस वाक्य की उत्पत्ति हुई है । आत्यन्तिक प्रेम का यह नियम ही है कि प्रेमिक अपने प्रेमपात्र को गुरु का गौरव देकर ही परितृप्त होता है । प्रेममय प्रभु ने इसी भाव से हम में से अनेक को "मेरे गुरु" कहकर गौरव का आसन दिया है । उससे मोहित होकर मूल में भूल करने से ही सर्वनाश का सामना है !

(शेष आगामी संख्या में)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्री अद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्द्धवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्द्धवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नबाबपुर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीनदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
श्रीनृसिंहदासकुंज, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ५, गोपीभवन डाक्टर लेन, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपुरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्री सच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चरादा, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्द्धवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चीरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशमूलम्—सटीक ।)
३—श्रीमध्वमुखभंगाशवर्णनम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशित) प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रप्रभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्री-रूपगोस्वामी प्रभु कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बंगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी - कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड १≡)
१२—युक्तिमल्लिका (गुणसौरभ) वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)
१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ≡)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत ≡)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद-कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ४)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

22nd March 1932

गोविन्द गौरपक्ष गौराब्द ४४६

फाल्गुन पूर्णिमा संवत् १९८८

स वै पुंसां परो ' यतो भक्तिरधोक्षजे
अहैतुक प्रतिहता यात्मा सुप्रसीदति



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-
सरस्वती गोस्वामी महाराज

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये

प्रति संख्या ~)

सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

वार्षिक सडाक ३॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा ‐) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

पत्र-व्यवहार का पता-

मैनेजर—"भागवत"

९४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन-छपाई की दर नीचे लिखी है-

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, ½ ,,	३)
२ इंच ,, ¼ ,,	१॥)
१ ,, ,, ⅛ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये।

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

946 Suddar Bazar,

LUCKNOW

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदयवन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



श्रीपरमहंस मठ, नवद्वीपधाम

वर्ष १ — फाल्गुन-पूर्णिमा गौराब्द ४४६, सं० १९८८ वि०, २२ मार्च सन् १९३ — संख्या १०

(८)

हे करुणानिधि ! मैंने अच्छा कर्म एक भी नहीं किया।
ज्ञान न मुझको हुआ, तुम्हारे चरणों में मन नहीं दिया ॥
अपने ही को ठगा किया मैं, जड़ सुख में मतवाला बन।
चारों ओर अँधेरा छाया, सोचा किया विषण्ण-वदन ॥
आत्मसमर्पण किया तुम्हारे श्रीचरणों में अब स्वामी।
मुझ पर करिए कृपा, जानकर भक्तिमार्ग का अनुगामी ॥
प्रभो ! प्रतिज्ञा यही तुम्हारी, जो कोई शरणागत है।
उसे प्रमाद कभी न सतावे ; यही शास्त्र का भी मत है ॥
मुझ पापी को और न गति है, तव प्रसाद मैं माँग रहा।
और मनोरथ सारे तजकर एक मनोरथ यही रहा ॥
कब मैं हूँगा नाथ ! आपका ; नित्य सत्य तुम हो स्वामी !
"भक्तिविनोद" नित्य है सेवक, भाव-मग्न तव अनुगामी ॥

ॐ विष्णुपाद श्रीजगन्नाथदास बाबाजी

यह बंगाल के मैमनसिंह जिले के टँगाइल सबडिवीजन में, किसी बड़े ग्राम में, अच्छे प्रतिष्ठित घराने में, लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले उत्पन्न हुए थे। बाद को परमहंस-वेश ग्रहण करके श्रीव्रजमण्डल और श्रीगौड़-मण्डल के विभिन्न स्थानों की शोभा इन्होंने बढ़ाई। उस समय के भजनानन्दी वैष्णवों में यह सर्वप्रधान अनन्य कृष्ण-निष्ठापरायण और वैष्णवसमाज के शिरोभूषण थे। इन्होंने बहुत समय तक प्रपञ्च में रहकर अर्थात् इस लोक में रहकर हर घड़ी हरिनाम का कीर्तन किया और औरों को भी ऐसा ही करने के लिए उत्साहित किया। यह अक्सर श्रीराधाकुण्ड के तटपर रहकर श्रीरूपानुग भजन पद्धति से श्रीराधागोविन्द की सेवा में निलिप्त रहते थे। कभी श्रीगौड़मण्डल को व्रजमण्डल से अभिन्न जानकर वहाँ रहकर निरन्तर हरिभजन किया करते थे। यह और इनके सहयोगी ऐकान्तिक भजनपरायण परमहंसकुल जब श्रीवृन्दावन में भजनानन्द के साथ निवास करते थे, उस समय गौड़ के कंटक नगर से एक संस्कृतभाषाभिज्ञ प्रसिद्ध भृतक पाठक विप्र तीर्थवास के छल से वृन्दावन में जाकर श्रीमद्भागवत आदि की व्याख्या करके सुवर्ण, प्रतिष्ठा आदि का संग्रह और उदर पोषण कर रहा था। उक्त कथावाचक ने इन सब भजनानन्दी वैष्णवों को अपने निकट सर्वशास्त्रशिरोमणि श्रीमद्भागवत की परमार्थप्रदर्शिनी व्याख्या सुनने के लिए उपस्थित न होते देखकर उनसे उसका कारण पूछा। तब उन वैष्णवों ने कहा—जो लोग भागवत सुनाने का रोज़गार करते हैं, वे नामापराधी हैं। उनके मुख से अप्राकृत और अधोक्षज श्रीकृष्ण नहीं कीर्तित होते। इस तरह भागवत आदि के कीर्तन का रोज़गार शरीर जिह्वा नर्तनादि रूप वेश्या की तृप्ति मात्र है। इसके द्वारा जीव का कोई मंगल नहीं हो सकता। बल्कि इस तरह के आदमी के मुख से नामापराध श्रवण करते-करते जीव का अधःपतन होता है। कृष्णनिष्ठा के बदले विषय-निष्ठा और निष्कपट भजन के बदले कपट-मिथ्या भक्ति का उदय होता है, जिससे जीव की दुर्गति का द्वार खुल जाता है।

सुकृतिशाली कथक ने वैष्णवों के दिए इस प्रकार के दण्ड को अप्रिय दण्ड नहीं, बल्कि अपने ऊपर उनकी कृपा समझा। उसने शीघ्रही भागवत की कथा बाँचने के व्यवसाय की निन्दा करके उसे छोड़ दिया। बाद को वही कथावाचक महाशय एक परम भगवद्भक्त हुए। यह वृन्दावन में रहते समय कृपा करके उठानेवाले डोम, कुंजे, गधे, चण्डाल तक को साष्टाङ्ग दण्डवत्प्रणाम करने में कभी कुण्ठित नहीं होते थे। विरक्त भगवद्भक्तों की कृपा से उनका जाति, वर्ण, पाण्डित्य आदि का अभिमान दूर हो गया था।

बाबाजी (विष्णुपाद श्रीजगन्नाथ) मन, वाणी, काया से निरन्तर हरिभजन का ही उपदेश देते थे। उनके शिष्य होने की अभिलाषा रखने वाले कोई कोई व्यक्ति कौपीनधारी होकर समझते थे कि उनके अब गृहस्थों की तरह शारीरिक परिश्रम के द्वारा हरिभजन न करना होगा। कारण, वे भेष धारी हैं। अतएव वे समझते थे कि केवल भजनरहित होकर (निश्चिन्त रहकर) माला की झुलिया सरकाते हुए गिनती पूरी कर देने से ही उनका दैनिक कृत्य समाप्त हो गया। किन्तु सिद्ध बाबाजी महाराज अहैतुकी कृपापरवश होकर इन सब नामापराधियों से भजन कुटीर के पासवाले साग-सब्जी के खेतों को साफ़ करके कृष्ण की सेवा के लिए विविध बीज बोवाकर अपना शारीरिक श्रम कृष्ण-सेवा में लगाने के लिए कहते थे। इसमें उनका उद्देश्य यह था कि वे अभिज्ञ मूढ़ व्यक्तिगण कृष्ण के अनुशीलन में शिथिलता प्रकट करके अपनी अपनी इन्द्रियों को सुख पहुँचाने में परिश्रम करते रहकर नरक के मार्ग में अग्रसर न हों; किन्तु काया के द्वारा भी हरि का भजन करें। ऐसा करने से उनके चित्त की वृत्ति भी प्रसन्न रहकर कृष्ण के अनुशीलन के योग्य हो सकती है।

सन १८८० ई० में, जब श्रीसद्भक्तिविनोद ठाकुर श्रीवृन्दावन धाम के दर्शन करने गए थे, तब वहाँ बाबा जगन्नाथदास के साथ पहले-पहल उनकी भेंट हुई थी। श्रीजगन्नाथदास बाबा को देखते ही भक्तिविनोदजी ने यह अनुभव कर लिया कि यह परम भजनानन्दी महापुरुष हैं। बँगला सन १२९२ से अक्सर श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर महाशय ने इन महात्मा के उपदेश और सत्सङ्ग का सुख प्राप्त किया। १२९८ बंगाब्द में फागुन के महीने में जब श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने श्रीधामवृन्दावन की यात्रा की, तब वह राह में बर्दवान जिले के आमलाजोड़ा नामक स्थान में हरिनाम का प्रचार करने के लिए उतरे। वहाँ फिर श्रीजगन्नाथ-

दास बाबा से उनकी भेंट हुई। इसी स्थान में उन्होंने बाबाजी के साथ हरिवासर (एकादशी) के दिन दिनरात गौरकृष्ण की कथा की आलोचना, कीर्तन और श्रीग्रन्थ आदि का पाठ तथा व्याख्या की थी। बाबाजी ने भक्तिविनोद ठाकुर के समान सुशिक्षित और सर्वशास्त्रपारङ्गत व्यक्ति का हरिनाम का प्रचार करने में उत्साह देखकर उन्हें सब तरह से उत्साहित किया। जिसमें श्रीगौर का नाम और धाम जगत् में प्रचारित हो, इस के लिए उन्होंने विशेष रूप से अनुरोध किया।

श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने वृन्दावन से लौटकर विशेष भाव से प्रचार करना शुरू कर दिया। श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर की स्वरचित जीवनी पढ़ने से जाना जाता है कि उसी समय से वह बंगाल के विभिन्न स्थानों में विशेष भाव से नाम का प्रचार और वक्तृता करने लगे थे। सन् १८६३ ई० के माघ महीने में परमहंस कुलशिरोमणि श्रीजगन्नाथ बाबाजी ने अपने परिकर के साथ कुलिया नवद्वीप से वास उठाकर श्रीगौरधाम के सुरभिकुञ्ज में आकर आसन जमाया। संपूर्ण धाम कीर्तन के शब्द से गूंज उठा, आनन्द से उद्भासित हो उठा। श्रीजगन्नाथदास बाबा परिकर सहित श्रीमायापुर के दर्शनों के लिए आकर श्रीयोगपीठ और श्रीमायापुर के विभिन्न स्थानों का निर्देश किया और सब के निकट यह प्रकाशित किया कि यही प्राचीन श्रीमायापुर श्रीगौरांग की जन्मस्थली है। भगवद्भाव में मग्न होकर वह आनन्द से नाचने लगे।

श्रीजगन्नाथदास बाबाजी बहुधा कुलिया-नवद्वीप में भजन-कुटी नामक स्थान में रहकर भजन करते थे। उन्होंने एक समय श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर से भजन कुटी में अपने रहने के लिए स्थान बनवा देने के लिए कहा। श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने उनकी इच्छा के अनुसार उसी स्थान में एक बरामदा बनवा दिया। इसी भजन-कुटीर के प्राङ्गण में इस समय जगन्नाथदास बाबा की समाधि बनी हुई है। हरसाल श्रीश्रीनवद्वीपधाम की परिक्रमा के समय श्रीविश्ववैष्णव राजसभा की विशुद्ध भक्तमंडली ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर के साथ इस स्थान के दर्शन और यहाँ की रज मस्तक में धारण कर धन्य होती है।

ॐ विष्णुपाद श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने श्रीजगन्नाथदास बाबाजी की इस भजन कुटी में आकर अनेक बार उनके दर्शन किए हैं। ॐ विष्णुपाद परमहंस ठाकुर जब बारह वर्ष की अवस्था के बालक मात्र थे, तभी ज्योतिष-विद्या में विशेष पारदर्शिता लाभ करके वह ज्योतिष के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर मीमांसा कर सकते थे। श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर के निकट इतनी थोड़ी अवस्था में बालक की इतनी अद्भुत प्रतिभा का हाल सुनकर श्रीजगन्नाथदास बाबाजी महाराज ने श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर से वैष्णवसिद्धान्तसम्मत पञ्चाङ्ग, श्रीचैतन्याब्द, मास, वार और पर्व तिथि आदि का प्रचार कराया। श्रीजगन्नाथदास बाबा द्वारा संशोधित और अनुमोदित वैष्णव पर्वादि के दिन के अनुसार ही श्रीविश्ववैष्णव राजसभा के सेवकगण समस्त भक्ति के अंगों का अनुष्ठान करते हैं। श्रीजगन्नाथदास ने ही श्रीपञ्चमी के दिन श्रीश्रीविष्णुप्रिया देवी की तथा अपरापर पार्षदों के जन्मदिवस आदि की पूर्व-पारम्पर्य लिपि का यत्न के साथ संग्रह किया। उन्हीं के निर्देश के अनुसार आज भी श्रीविष्णु प्रिया माता के आविर्भाव के दिन हरसाल श्रीमायापुर और कलकत्ते के श्रीगौड़ीय मठ में कीर्तनोत्सव हुआ करता है।

श्रीजगन्नाथदास बाबाजी को कीर्तन और वैष्णव-सेवा करने कराने का विशेष उत्साह था। वह बहुत अधिक समय तक धराधाम में प्रकट रहे। प्राचीनता के कारण वह अपने प्रकट काल (जीवन) की शेष अवस्था में बहुत कुछ ठिंगने हो जाने पर भी जब कीर्तन में उन्मत्त होकर नृत्य करने लगते थे, तब श्रीमन्महाप्रभु के समान आजानुलम्बित भुज, न्यग्रोध परिमण्डल तनु और चार हाथ के लंबे चौड़े पुरुष प्रतीत होते थे।

श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने—

> गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
> उत्पथप्रतिपन्नस्य त्याग एव विधीयते ॥

और "वैष्णवविद्वेषी चेत्परित्याज्य एव" इस शास्त्र-वाक्य के अनुसार विषयी जनों के असत्संग से उदासीन रहकर परमहंस-कुल पुरन्दर श्रीजगन्नाथदास महापुरुष को ही अपने आश्रय रूप से वरण किया था। श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर की वैष्णव निष्ठा उनके निम्नलिखित गीत से व्यक्त होती है—

> वैष्णव-चरित्र, सर्वदा पवित्र, ईर्षा से जो निन्दा करे।
> भक्तिविनोद संभाषण न करे उससे सदा मौन धरे ॥

श्रीभक्तिविनोद ठाकुर के मुख से सदा इन महापुरुष के महिमामय भजनबल का कीर्तन सुना जाता था। वह जगन्नाथ बाबाजी महाराज के गुण और भजन चेष्टा का वर्णन करने में सहस्र मुख हो जाते थे। उसी अत विषय के कुछ अंश को हम यहाँ पुनरावृत्ति करते हैं।

श्रीगौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण प्रभु के शिष्य श्रीउद्धवदास या मतान्तर में श्रीउद्धरदास थे। उनकी शिष्यपरम्परा में श्रीश्रीमधुसूदनदास हुए। श्रीश्रीमधुसूदनदास के शिष्य श्रीजगन्नाथदास थे। श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर भी श्रीजगन्नाथदास महाराज के आनुगत्य से परिचित थे। श्रीश्रीजगन्नाथदास के वेष के शिष्य श्रीभागवतदास थे। यही परमहंस श्रीगौरकिशोरदास गोस्वामी महाराज के वेषगुरु थे।

नीचे भागवत परम्परा या आम्नाय प्रकाशित किया जाता है —

महाप्रभु श्रीचैतन्य राधाकृष्ण नहीं अन्य,
रूपानुग जन के जीवन।
विश्वम्भर प्रियङ्कर, श्रीस्वरूप दामोदर,
श्रीगोस्वामी रूपसनातन ॥
रूप-प्रिय महाजन, जीव रघुनाथ हुए,
उनके प्रिय कवि कृष्णदास।
कृष्णदास प्रियवर, नरोत्तम-सेवापर,
जिन पद विश्वनाथ-आस ॥
विश्वनाथ-भक्तिसाथ, बलदेव जगन्नाथ,
तिन के प्रिय भक्ति विनोद।
महाभागवतवर, श्रीगौरकिशोरवर,
हरि के भजन जिन्हें मोद ॥
श्रीवार्षभानवी-वरा, सदा सेव्य-सेवापरा,
उनका दयितदास नाम।
यही सब हरिजन, गौरांग के अपने जन,
उन्हीं की जूठन मुझे काम ॥

श्रीमायापुर-पूर्णचन्द्रोदय

नवद्वीप में शची-गर्भ-शुद्ध दुग्ध सिन्धु।
उसमें प्रगट हुए कृष्ण-पूर्ण-इन्दु ॥
(चै० भा० आदि ...)

श्रीभक्तिरत्नाकर में श्रीनरहरि चक्रवर्ती ठाकुर ने लिखा है—

नवद्वीप बीच मायापुर स्थान।
जहाँ जन्म लिया गौरचन्द्र भगवान ॥
जैसा वृन्दावन योगपीठ सुमधुर।
तैसा नवद्वीप योगपीठ मायापुर ॥

श्रीचैतन्य चन्द्रोदय नाटक श्रीचैतन्य भागवत और श्रीचैतन्य चरितामृत आदि प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों के वर्णनानुसार जाना जाता है कि गंगा के पूर्वतट में यह नवद्वीप नगर विराजमान है। बहुत पहले ही से इस नवद्वीप नगर में सेनवंश के राजाओं की राजधानी अवस्थित थी। उस समय भारत में विद्याचर्चा का प्रधान केन्द्र यही नवद्वीप नगर और उसके स्थान थे। जहाँ जहाँ विद्या की आलोचना का केन्द्र था, उन सभी स्थानों को उस समय "नवद्वीप" ही लोग कहने लगे थे। श्रीनरहरि चक्रवर्ती ठाकुर ने नवद्वीप-परिक्रमा ग्रंथ में यह लिखा है —

नवद्वीपों से नवद्वीप नाम।
अलग अलग होता किन्तु एक ग्राम ॥
जैसा राजधानी कोई स्थान।
यद्यपि अनेक वहाँ होते एक नाम ॥

इस नवद्वीप नगर में ही सेनवंशी राजों की राजधानी थी, इस बात का उत्कृष्ट निदर्शन बल्लालदीघी नाम की एक विस्तृत दीघी (तालाब) और उत्तर ओर बल्लालढीबी (बल्लाल सेन का टीला) या बल्लालसेन के महल का भग्नावशेष कहकर प्रसिद्ध एक उच्च भूमि अबभी यहाँ मौजूद है। मालदह जिले के अन्तर्गत प्राचीन गौड़ नगर से सेनवंशी राजा लोग अपना साम्राज्य सिंहासन इसी नवद्वीपनगर में ले आए थे, इसी कारण इस नवद्वीपमण्डल को गौड़भूमि भी कहा जाता है सेन राजों के अधःपतन के बाद नवद्वीप नगर मुसलमान राजों के हाथ में चला गया

था। पंद्रहवीं शताब्दि (१४—८८—१४११) में बंगाल के स्वाधीन राजा अलाउद्दीन-सैय्यद-हुसेनशाह के नियोग के अनुसार दण्डविधान और शासन आदि का परिचालन करने के लिए फ़ौजदार मौलाना सिराजुद्दीन चाँद काज़ी इसी नवद्वीप में रहते थे। इस समय भी इस जगह चाँद काजी की क़ब्र है, और काजी के वंशधर अब तक यहाँ मौजूद हैं। प्राचीन नवद्वीप के बेलपुकुरिया ग्राम के स्थानों के कुछ अंश वर्त्तमान बामनपुकुर-नामक गाँव में परिणत हो गए हैं, अर्थात पुराने बेलपुकुरिया की कुछ ज़मीन पर आधुनिक बामनपुकुर ग्राम बसा हुआ है। इसी ग्राम में चाँद काजी की क़ब्र है।

श्रीनवद्वीप धाम का घेरा १६ कोस है, जिसे गंगाजी घेरे हुए हैं। उसमें नवधा भक्ति के पीठस्वरूप अन्तर्द्वीप, सीमन्तद्वीप, मध्यद्वीप, कोलद्वीप, ऋतुद्वीप, जन्हुद्वीप, मोदद्रुम द्वीप और रुद्रद्वीप, ये नवद्वीप विराजमान हैं। उनमें अन्तर्द्वीप के मध्यस्थल में श्रीमायापुर है। इसी स्थान में जगन्नाथ मिश्र का घर, श्रीवासअंगन, श्रीअद्वैताचार्य का भवन, श्रीमुरारिगुप्त का स्थान आदि अवस्थित थे।

श्रीहट्ट-निवासी वैदिक ब्राह्मणवर श्रीउपेन्द्र मिश्र के सात पुत्रों में से एक श्रीजगन्नाथमिश्र गंगातीर में रहने के लिए नवद्वीप में आए थे। जगन्नाथ मिश्र ने उस समय नवद्वीप में रहने वाले ज्योतिष विद्या में सर्वश्रेष्ठ श्रीनीलाम्बर चक्रवर्त्ती की कन्या श्रीशची देवी से ब्याह किया था। श्रीनीलाम्बर चक्रवर्त्ती का वासस्थान काजीपाड़ा था। वहाँ जब चक्रवर्त्ती महोदय रहते थे, तब काजी साहब वृद्ध चक्रवर्त्ती महाशय को गाँव के नाते अपना काका मानते थे। श्रीजगन्नाथ मिश्र श्रीनन्द और वसुदेव के समान सद्गुणों के सागर थे। उनकी पदवी पुरन्दर थी। पुरन्दर की पत्नी पतिव्रता शिरोमणि श्रीशचीदेवी के एक एक करके आठ कन्याएँ उत्पन्न होकर मर मर गई। सन्तान के वियोग से अत्यन्त दुःखित होकर पुरन्दर मिश्र ने पुत्र लाभार्थ विष्णु भगवान् की आराधना की। अप्राकृत सहज धर्म के मूल-आदर्श श्रीजगन्नाथ मिश्र या श्रीशचीदेवी की पुत्रादि प्राप्ति की कामना अक्षजज्ञान से हेय प्रतिफलित राज्य के काम्य कर्मी के आचरण की तरह जान पड़ने पर भी यह केवल जगत में भगवान की अवतार लीला के आविष्कार की ही अनुकूलता मात्र है अर्थात सहायक है। यह उपलब्धि कर सकने से ही हम लोगों के समान बद्ध जीव माया के बन्धन से उद्धार पाकर कृष्ण और कृष्ण के भक्तों की सेवा में नियुक्त हो सकते हैं।

पुरन्दर मिश्र ने विष्णु की आराधना करके वैकुण्ठ के संकर्षण को अपने नवम पुत्र के रूप से जगत में प्रकट किया।

१४०७ शाके में, २३ फाल्गुन, पूर्णिमा, नव वसन्त था। फिर उस दिन श्रीकृष्ण की दोलयात्रा थी। होली के कारण फाग का गुलाल लाल लाल छाया था। सन्ध्याकाल था। पूर्ण चन्द्र प्रति वर्ष इसी दिन इसी समय अपनी अमल धवल स्निग्ध किरणमाला से विश्व को नहलाने के लिए गर्व के साथ उदित हुआ करते हैं। किन्तु आज जैसे उनकी पूर्णता, उनकी स्निग्धता—शुभ्रता, उनकी उदारता, उनकी वदान्यता, उनका कवित्व, साहित्य, छन्द सभी निष्कृत और म्लान होगा, ऐसा समझकर, अथवा यह विज्ञापन प्रचारित करने के लिए कि प्राकृत की पूर्णता अप्राकृत की पूर्णता के निकट परास्त है, सकलंक जगत का चन्द्र राहु-ग्रस्त हो पड़ा। उस दिन चंद्रमा को ग्रहण लग गया। विश्व में चारों ओर "हरि बोलो, हरि बोलो" का कलरव उठा, कर्म-कोलाहल स्तब्ध हो गया, दिग्वधुएँ कृष्ण की कीर्तन की ध्वनि सुनकर नाच उठीं—हँस उठीं। इसी समय सिंह लग्न में, सिंहराशि में शची के गर्भ-सागर से श्रीमायापुर के पूर्णचन्द्र उदित हुए। शान्तिपुरनाथ श्रीअद्वैताचार्य्य ठाकुर हरिदास और नवद्वीपवासी श्रीवास पण्डित आदि वैष्णवगण अपने पर दुःख भार पीड़ित हृदयाकाश की निशा का अन्त अन्तर में लक्ष्य करके अपने अपने स्थान में आनन्द से नृत्य करने लगे। पुरललनाएँ उपायन (भेंट) हाथों में लिए मायापुर चन्द्र के मुख-मण्डल का दर्शन करने आने लगीं। नीलाम्बर चक्रवर्ती ने गणना करके इन अद्भुत नवीन चन्द्र में महापुरुष के सब लक्षण देख पाए एवं यह जान पाकर कि इन्हीं के द्वारा अखिल विश्व का धारण पोषण होगा, चक्रवर्त्ती महाशय ने इनका वेद वेद्य "विश्वम्भर" नाम प्रकाशित किया। ललनाओं ने बालक की गौर कान्ति और हरि कीर्तन सुनते ही रोना बंद कर देना और उल्लास प्रकट करना लक्ष्य करके शचीगर्भ से समुदित श्रीमायापुर-चन्द्र का नाम, गौर हरि रक्खा। आठ कन्याओं के वियोग के बाद इस प्राणपुत्तली का आविर्भाव हुआ जानकर अप्राकृत सहज स्नेहमयी जननी शिरोमणि शची देवी ने यम के लिए कटुता सूचक

निम्ब (नीम) शब्द से निष्पन्न 'निमाई' नाम रक्खा। कोई कोई कहते हैं, नीम के पेड़ के नीचे गौरसुन्दर का आविर्भाव हुआ था, इसलिए शची देवी ने अपने पुत्ररत्न का नाम स्नेह के मारे निमाई रक्खा।

पूर्णकलायुक्त निष्कलङ्क गौरचन्द्र शचीगर्भसिन्धु से उदित होकर क्रमशः वृद्धि लीला का आविष्कार करने अर्थात् बढ़ने लगे। लीलाकल्लोल वारिधि मायापुर-पुरन्दर प्रभु विचित्र बाल्यलीला लक्ष्मी के नित्य नवनवायमान लास्यों का विस्तार करके शची आदि ललनाओं के हृदय में चमत्कार का भाव उत्पन्न करने लगे। निमाई के नामकरण के समय जगन्नाथ मिश्र ने पुत्र की रुचि की परीक्षा करने के लिए उनके निकट पुस्तक, खीलें, धान, कौड़ी सोना, चाँदी आदि बहुत से पदार्थ रख दिए थे; परन्तु बालक निमाई ने सब वस्तुओं को छोड़कर श्रीमद्भागवत की पुस्तक को ही दोनों हाथों से पकड़ लिया। बालक निमाई जब रोने लगते थे ; तब शची आदि ललनाएँ अनेक प्रकार की चीज़ें देकर उसे शान्त करने की चेष्टा करने लगती थीं; किन्तु वह किसी तरह चुप नहीं होने आते थे। केवल जब सब मिलकर ताली बजाकर हरि संकीर्त्तन करते थे, तभी बालक का रोना बंद होता था और वह उल्लास के साथ नाचने लगता था। क्रमशः निमाई घुटनों के बल खिसकते हुए चलने लगे। एक दिन इसी तरह चलते हुए निमाई ने घर के एक कोने में एक सर्प को कुण्डली बनाए बैठे देख पाया तो आपने उसके ऊपर शयन करके शेषशायी-लीला प्रकट की। अप्राकृत सहज शुद्धप्रेमरस-रसिक शची आदि ललनाओं को वात्सल्यरससागर उमड़ पड़ा। सभी व्यस्त होकर 'गरुड़, गरुड़' कहकर चिल्लाने और बालक के अमङ्गल की आशङ्का करके भय से रोने लगे। यह देखकर सर्परूपी अनन्त उस स्थान से चले गए।

निमाई ने जब पैरों से खड़े होकर चलने की लीला का आविष्कार किया, तब उनकी बाल्यलीला लक्ष्मी अतीव चञ्चल होकर प्रकाशित हुई। निमाई अकेले ही घर के बाहर जाते थे। लोग बालक के रूप-लावण्य को देखकर उस पर मोहित होकर उसे सन्देश (मिठाई), केला वगैरह भोज्य वस्तुएँ देते थे। बालक निमाई उन वस्तुओं को अपने उपयोग में न लाकर हरिकीर्त्तन करनेवाली नवद्वीप की ललनाओं को पारितोषिक-प्रसाद स्वरूप प्रदान करते थे। कभी-कभी मित्रों के घर जाकर गृहस्थों के अनजानते में दही, दूध, अन्न आदि खा-पी जाते थे। किसी के घर की गृहस्थी की सामग्री तोड़ फोड़कर उस स्थान से चुपके से भाग खड़े होते थे। किन्तु बालक निमाई जब उनके सामने पड़ जाते थे तो उनके मोहन मुखचन्द्र को देखते ही लोग उलाहना देना भूल जाते थे। एक दिन शची देवी ने निमाई को भोजन के लिए खीलें और सन्देश दे दिया और आप कोई घर का काम करने अन्यत्र चली गई। निमाई सन्देश के बदले मिट्टी खाने लगे। यह देख पाकर शची देवी ने उनके हाथ से मिट्टी छीन कर फेंक दी। ऐसा करने का कारण पूछने पर निमाई ने माता को दार्शनिक ज्ञानगर्भ उत्तर देते हुए कहा—खीलें, संदेश, अन्न आदि भोजन के पदार्थों में और मिट्टी में कोई अन्तर नहीं। कारण, ये सब चीज़ें मिट्टी के विकारमात्र हैं। जीव का शरीर और उसके खाने की सामग्री, सभी मिट्टी है। यह सुनकर शची ने कहा जगत के सब पदार्थ मृत्तिका का विकार या रूपान्तर होने पर भी मिट्टी और उसके विकारों के विशेष या अनुकूल और प्रतिकूल के बीच वैशिष्ट्य या विशेषता है। मिट्टी का विकार अन्न भोजन करने से देह पुष्ट होती है; किन्तु मिट्टी खाने से देह रोगी होकर विनष्ट हो जाती है। मिट्टी के विकार 'घट' में भर कर जल लाया जाता है, किन्तु मिट्टी के पिण्ड या ढेले में अगर पानी लाना चाहो तो सारा पानी उसी में सोख जायगा। माता का यह उत्तर सुनकर निमाई को आनन्द हुआ। उन्होंने इसके द्वारा जीवों को यह शिक्षा दी कि केवल ज्ञानवादियों के एकदेशी विचार को छोड़कर भक्ति के सर्वदर्शी युक्त वैराग्य की सेवा के अनुकूल-प्रतिकूल विचार ग्रहण करना चाहिए।

एक दिन एक गोपालभक्त तीर्थ-ब्राह्मण श्रीमायापुर आकर पुरन्दर मिश्र के घर में अतिथि हुआ। वैष्णव-सेवा परायण मिश्र जी ने ब्राह्मण को रसोई बनाने की सामग्री दी। रसोई बनाकर ब्राह्मण आँखें मूँदकर ध्यान करते हुए गोपाल को भोग लगाने लगे। निमाई आकर ब्राह्मण के चौके में बैठकर थाली में अन्न भोजन करने लगे। निमाई का छुआ हुआ अन्न छोड़कर उन ब्राह्मण देवता ने मिश्र जी के अनुरोध करने पर दुबारा रसोई बनाना शुरू किया। अब की भी भोग लगाते समय वही घटना घटित हुई। अब की फिर रसोई बनी और बालक निमाई को रोक रखने का विशेष प्रबन्ध किया गया। बालक ने नींद आने का अभिनय किया। रात अधिक हो गई थी ; गौरहरि की इच्छा से निद्रा

देवी ने सब को भुला दिया, ब्राह्मण-देवता को रसोई बनवाकर भोजन कराने का होश किसी को नहीं रहा। ब्राह्मण ने अकेले ही रसोई बनाई, और फिर उसी तरह आँखें मूँदकर बाल गोपाल को अन्न अर्पण किया। तीसरी बार भी निमाई एकाएक न जानें कहाँ से आकर पहले की तरह फिर ब्राह्मण की थाली में भोजन करने लगे। ब्राह्मण हताश एवं खिन्न होकर "हाय हाय" करने लगा। तब निमाई उस ब्राह्मण को प्रथम चतुर्भुज और फिर द्विभुज रूप दिखाकर कहने लगे—हे विप्र! तुम मेरे नित्य किंकर हो। मैंने जब व्रज में नन्द दुलारे के रूप में यही लीला प्रकट की थी, तब भी तुम चकित हुए थे। इस बार भी तुम्हारी भक्ति के प्रभाव से आकृष्ट होकर मैंने तुमको अपने रूप के दर्शन दिए हैं। तब वह ब्राह्मण अपने इष्टदेव के दर्शन पाकर महाप्रेम में मुग्ध हो गया और अपने को धन्य मानकर प्रभु की थाली का बचा हुआ प्रसाद आप भोजन किया। प्रभु ने उस ब्राह्मण को यह लीला प्रकट न करने की आज्ञा दे दी थी।

और एक दिन निमाई सुवर्ण के अलंकारों से आभूषित होकर घर के बाहर खेल रहे थे। इसी समय दो चोर उधर से निकले। उन्होंने अपने मनमें यह इरादा किया कि इस बालक को फुसलाकर ले चलें और एकान्त में सब गहने उतार लें। एक चोर ने निमाई के हाथ में सन्देश देकर कहा—चलो, हम तुमको तुम्हारे घर पहुँचा दें। निमाई ने अपनी माया फैलाकर ऐसा किया कि वे राह ही भूल गए। निमाई उन्हीं के कन्धे पर चढ़कर अपने घर के द्वार पर पहुँच गए। दोनों चोर विष्णु की माया के तात्पर्य को न समझकर निमाई को उनके व्याकुल हो रहे आत्मीय-जनों के निकट, मिश्र भवन के द्वार पर छोड़ कर भाग गए।

श्रीमायापुर में मिश्र-भवन से लगभग एक कोस दक्षिण-पूर्व ओर श्रीजगदीश और हिरण्य पण्डित का घर था। किसी एक एकादशी को उनके घर में विष्णु का नैवेद्य बन रहा था। निमाई ने वह नैवेद्य ग्रहण करने की अभिलाषा से जगन्नाथ मिश्र को हिरण्य और जगदीश के घर विष्णु की नैवेद्य-सामग्री लाने के लिए भेजा। हिरण्य-जगदीश ने मिश्र जी के मुख से बालक की यह प्रार्थना सुनकर आश्चर्य चकित होकर कहा—आज एकादशी है और मेरे घर में विष्णुभगवान का भोग लगाने के लिए नैवेद्य तैयार हो रहा है, यह बात बालक को किस तरह मालूम हुई? अवश्य ही इस बालक में कोई दैष्णवी शक्ति है।

ऐसा विचार करके हिरण्य और जगदीश दोनों ने बालक के लिए नैवेद्य भेज दिया। शिशु के लिए इतनी दूर की यह खबर जानना एकदम असंभव था; किन्तु अन्तर्यामी गौर सुन्दर ने अपने भक्त को आत्मप्रकाश जताकर कृपा करने के लिए और लोगों को यह जताने के लिए कि एकादशी के दिन एकमात्र भगवान ही संपूर्ण नैवेद्य ग्रहण करने के अधिकारी हैं, यह लीला प्रकट की।

निमाई की बाल्यलीला क्रमश: चंचल से अतीव चंचलतर हो उठी। नित्य ही शची देवी के निकट नाना स्थानों से नाना प्रकार के अभियोग आकर उपस्थित होते थे—उलाहने मिलते थे। कभी अत्यन्त क्रोध लीला प्रकट करके निमाई अपने घर को सब सामान तोड़ फोड़ डालते थे, कभी माता को प्रहार करते थे और माता की मूर्च्छा देखने से व्याकुल होकर माता की सुस्थता के लिए दुष्प्राप्य नारियल के फल ले आते थे। नित्य गंगा में स्नान करते समय कुमारियों के साथ नानाविध कौतुक करते थे और शिव-पूजा का सामान देखकर कहते थे "गंगा, दुर्गा मेरी दासी और महेश मेरे भृत्य' कुमारियों के निकट से फूल, माला, चन्दन और नैवेद्य छीन लेकर, स्वयं ग्रहण करके, कुमारियों पर कृपा और विष्णु के सर्वेश्वर होने का प्रचार करते थे। वल्लभात्मजा लक्ष्मी देवी के साथ श्रीगौर-सुन्दर की भेंट होने पर उन दोनों की नित्य सिद्ध स्वाभाविक प्रीति और हर्ष प्रकट होता था।

विश्वंभर के बड़े भाई विश्वरूप जन्म से ही विरक्त, सब गुणों के आधार और सब शास्त्रों में सुपण्डित थे। वह जड़ विषयमत्त संसार से अलग रहकर वैष्णवों के संग में हरि-कथा के श्रवण और कीर्तन के आदर्श की शिक्षा फैलाने के लिए प्राय: सभी समय श्रीमायापुर में अद्वैत-सभा में रहते थे। भोजन का समय बीत गया देखकर प्राय: निमाई शचीदेवी की आज्ञा से बड़े भाई को बुलाने के लिए अद्वैत-सभा में जाते थे। श्रीगौरसुन्दर के अलौकिक और अनुपम रूप लावण्य को देखकर सभा में स्थित वैष्णव-मण्डली का चित्त मोहित हो जाता था। कुछ दिन बाद विश्वरूप ने संन्यास लीला प्रकट करके गृहत्याग किया और शङ्करारण्य नाम से प्रसिद्ध हुए। तब से निमाई ने अपनी चाञ्चल्यलीला संकुचित करके पाठ में विशेष मनोयोग देने की लीला प्रकट की। किन्तु जगन्नाथ मिश्र ने जब बालक की चंचलता कम होते और उसे पढ़ने में

विशेष मन लगाते देखा तो उनका हृदय उत्फुल्ल न हो सका। कारण, उन्हें यह आशंका हुई कि विश्वरूप शास्त्र पढ़ने के कारण ही संसार की अनित्यता हृदयंगम करके संन्यासी हो गए हैं। क्या जाने, निमाई भी कहीं लिखपढ़ कर अपने बड़े भाई के मार्ग का अनुसरण न करें। मिश्रजी निमाई का पढ़ना बंद कर दिया। निमाई फिर प्रबल वेग से औद्धत्य और चापल्यलीला प्रकट करने लगे। एक दिन निमाई घर के बाहर विष्णु का नैवेद्य जिनमें पकाया गया था, उन फेंकी गई जूठन से सनी हाँडियों के ऊपर जाकर बैठ रहे। शचीदेवी को जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने बालक से वह अपवित्र स्थान छोड़कर स्नान आदि करके पवित्र होने के लिए अनुरोध किया। बालक निमाई ने माता को जताया कि विद्याहीन व्यक्ति किस तरह भले बुरे या पवित्र अपवित्र का विचार कर सकता है? फिर कहा इन सब हाँडियों में जब विष्णु का भोग पकाया गया है, तब ये कभी अपवित्र या उच्छिष्ट नहीं हो सकतीं; विशेषकर भगवान जहाँपर बैठते हैं, वह स्थान सब पुण्यमय है, वहाँ गंगा आदि सभी तीर्थ रहते हैं। इस लीला द्वारा श्रीगौरसुन्दर ने कर्मजड़ स्मार्तों के मोहन शास्त्रज्ञान से उठनेवाले शुचि अशुचि विचार की जड़ता और शुद्ध वैष्णव के चिन्मय विचारों का सौन्दर्य दिखलाया। अप्राकृत सहज प्रेम रसरसिका शचीदेवी ने निमाई को उस स्थान से उठा लाकर स्नान आदि कराया।

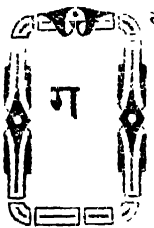
यथासमय निमाई का यज्ञोपवीत हुआ। श्रीमायापुर के पार्श्ववर्ती गंगानगर में अध्यापक-शिरोमणि गंगादास पण्डित की चतुष्पाठी में निमाई व्याकरण पढ़ने के लिए बिठाए गए। निमाई की अद्भुत मेधाशक्ति देखकर अध्यापक को आश्चर्य हुआ। निमाई किसी को छोटा या बड़ा विचार न करके सभी से व्याकरण की फक्किका पूछते और परास्त कर देते थे।

एक दिन निमाई ने माता के पैर पकड़कर उनसे एकादशी के दिन अन्न न भोजन करने की प्रार्थना की।

इसी बीच में एक दिन जगन्नाथ मिश्र ने स्वप्न में गौरसुन्दर की भविष्य संन्यास-ग्रहण आदि लीलाएँ देख पाईं और वह बहुत ही व्याकुल हो पड़े। कुछ समय बाद ही श्रीजगन्नाथ मिश्र का गोलोकवास हो गया। निमाई ने माता को यथेष्ट प्रबोध दिया, समझाया। इधर घर में धन का अभाव रहने पर भी माता के प्रति अनेक प्रकार के हठ और क्रोध आदि की लीला दिखाकर निमाई अप्राकृत सहज वात्सल्य रस की पुष्टि करने लगे। एक दिन घर में कुछ न होने की बात सुनकर आपने माता को कहीं से दो तोले सुवर्ण ला दिया। (क्रमशः)

मदरास के श्रीगौड़ीयमठ के नाट्यमंदिर के

भित्ति-फलक की स्थापना



गत २७ जनवरी, बुधवार को तीसरे पहर श्री-मदरास-गौड़ीयमठ के नाट्यमंदिर के भित्ति-फलक की स्थापना का उत्सव बहुत अच्छी तरह हो गया। मदरास के महामान्य गवर्नर बहादुर ने अपने हाथों से इस फलक की स्थापना की।

इस नाट्यमंदिर का सारा खर्च श्रीयुक्त टी० पोन्नरलू पिल्लाई ने किया है। पिल्लाई साहब एम० एस० एम० रेलवे के एक प्रधान ठेकेदार हैं। आप बड़े ही सरल, उदार और धर्मात्मा हैं। मदरास में मठ की स्थापना के बाद से ही आप मठ के एक पृष्ठपोषक और सेवक हैं। अब से पहले ही आप धन की सहायता और नाट्यमंदिर में लगनेवाली सब ईंटें दे चुके थे। आपने वैकुण्ठप्रिय आचार्यवर्य और उनके अनुगामी वैष्णवों की कृपा उपलब्धि करके अपने पूर्व दान को सार्थक समझा और अपनी सेवा-वृत्ति को और भी बढ़ा दिया है।

उस दिन के नाट्यमंदिर भित्ति-फलक-संस्थापन के उत्सव का सारा खर्च और उस कार्य को पूर्ण करने का दायित्व श्रीयुक्त पिल्लाई महाशय ने स्वयं स्वेच्छा से अपने ऊपर लिया था। उस दिन का अनुष्ठान सर्वांगसुन्दर और

अतीव साफल्य मण्डित हुआ। प्रशस्त सभामण्डप अत्यन्त सुन्दर रूप से सुसज्जित किया गया था। मण्डप के पश्चिम पार्श्व में ऊँचे मंच पर सपत्नीक गवर्नर बहादुर के लिए और उसके दक्षिण में श्रीप्रभुपाद का आसन निर्दिष्ट था। उनके अगल बगल प्राइवेट सेक्रेटरी और मिलिटरी सेक्रेटरी की कुर्सियाँ थीं। मञ्च के नीचे दक्षिण पार्श्व में गौड़ीय भक्तवृन्द के लिए कुर्सियाँ रक्खी थीं। मंच के दोनों ओर पत्रों के सम्वाददाता बैठे थे। मंच के सामने दक्षिण भाग में स्त्रियों के और बाम भाग में खास मेहमानों के लिए कुर्सियाँ थीं। मठभूमि के दक्षिण प्रान्त में प्रवेश के लिए और उत्तर प्रान्त में बाहर जाने के लिए सुसज्जित सुउच्च तोरण-द्वार (फाटक) बनाए गए थे। दक्षिण फाटक में प्रवेश करके आगे बढ़ने पर सभामंडप में प्रवेश करने के लिए सुसज्जित और आस्तरण से आवृत वीथी (राह) बनी थी। उस वीथी में प्रवेश करते ही बाईं ओर परिव्राजकाचार्य त्रिदंडी स्वामी श्रीमद्भक्ति सर्वस्व गिरि और श्रीमद् भक्तिरक्षक श्रीधरमहाराज एवं दक्षिण ओर विश्ववैष्णव राजसभा के मंत्री पण्डित श्रीपाद अतुलचन्द्र वन्द्योपाध्याय गोस्वामी भक्तिसारंग भक्तिशास्त्री प्रभु, मठ वासी ब्रह्मचारियों के मुखपात्र रूप से पण्डितवर श्रीपाद अनन्त वासुदेव परविद्याभूषण प्रभु, आकर मठराज श्री चैतन्यमठ के अन्यतम ट्रस्टी पण्डित श्रीपाद परमानन्द विद्यारत्न संप्रदायवैभवाचार्य, अध्यापक श्रीयुतसुन्दरदास भक्तिशास्त्री एम्० ए०, बी० एल० अध्यापक श्रीयुत हरिपद दस्याधिकारी तथा श्रीयुक्त सखीचरण राय भक्तिविजय, ये महोदय गवर्नर बहादुर के स्वागत के लिए खड़े थे।

गवर्नर बहादुर की मोटर दक्षिण के फाटक से प्रवेश करके वीथी के मुख पर जब खड़ी हुई तब त्रिदण्डी स्वामी श्रीपाद भक्तिहृदय वन महाराज ने सपत्नीक लाट बहादुर की सबसे पहले स्वागत अभ्यर्थना की और एक एक करके त्रिदण्डी स्वामी आदि सब का परिचय दिया। सपत्नीक लाट साहब ने सब से संभाषण करके श्रीपाद वन महाराज के पीछे पीछे सभामण्डप में प्रवेश किया। मण्डप के भीतर सब ने खड़े होकर लाट साहब की अभ्यर्थना की, एवं सर श्रीयुत सी० एस० शिवस्वामी ऐयर के० टी० के० सी० एस० आई०, सी० आई० ई० महोदय ने गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के एक मात्र संरक्षक परमहंस परिव्राजकाचार्य-वर्य श्री १०८ श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद को लाट साहब से परिचित कराया। इसके बाद मंत्री पण्डित श्रीपाद भक्तिसारंग गोस्वामी प्रभु ने श्रीश्री-प्रभुपाद और लाट साहब के गले में गुलाब के फूलों की सुशोभन मालाएँ पहनाकर उनके हाथ में एक पुष्पगुच्छ उपहार दिया। इसी समय मंच के ऊपर बैठे हुए सपत्नीक गवर्नर बहादुर और श्रीप्रभुपाद की फ़ोटो ली गई।

तदनन्तर श्रीपाद अनन्त वासुदेव परविद्याभूषण प्रभु ने अपने स्वभाव-सुलभ कोमल कण्ठ से "केशव तेरे जगत विचित्र" इस महाजनगीति के साथ उत्सव का मंगलाचरण किया। श्रीविश्ववैष्णव राजसभा के अन्यतम मंत्री की हैसियत से श्रीपाद भक्तिसारंग प्रभु ने सपत्नीक लाट बहादुर का अभिनन्दन-पत्र पढ़कर कारुकार्यमण्डित सुन्दर चाँदी के फ्रेम में रखकर लाट साहब को अर्पण किया। लाट साहब ने खड़े होकर सादर उसे ग्रहण किया। इसके बाद त्रिदंडी स्वामी श्रीपाद वन महाराज ने सपत्नीक लाट बहादुर और एकत्रित दाक्षिणात्य भद्रमंडली को संबोधन करके संक्षेप में कहा— "जगत् में शुद्ध भक्ति और विशुद्ध पूर्ण आस्तिक्य का बड़ा ही अभाव है। अपनी अपनी रुचि के अनुसार, मनोधर्म के अनुसार, मुख से श्रीभगवान को स्वीकार करके भी अनेक लोग उनकी सर्वशक्तिमत्ता और नित्यलीलामय स्वरूप में विश्वास नहीं करते। सच्ची बात तो यह है कि ऐसा विश्वास बहुत ही विरल और दुर्लभ है। शुद्ध भक्ति के चारों संप्रदायों के प्रवर्त्तक जो आचार्य हुए हैं, वे समय-समय पर इसी दक्षिण की भूमि में प्रकट हुए हैं। उन्होंने ज्ञान कर्म आदि अपमार्गों का खण्डन करके सुनिर्मल जीवात्मा की स्वरूपवृत्ति भगवत्सेवा-धर्म का ही प्रचार और प्रतिष्ठा (स्थापना) कर गए हैं। किन्तु तब तक भगवत्सेवा-धर्म के परिपूर्ण सौन्दर्य माधुर्य की पराकाष्ठा जगत में नहीं प्रचारित हुई है। लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पहले स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने बंगाल में श्रीनवद्वीप के अन्तर्गत श्रीधाममायापुर में अवतार लेकर स्वयं भगवान श्रीकृष्ण की माधुर्यलीला में पाँचों रसों से परिपूर्ण सेवानन्द-रस की श्रेष्ठता और पराकाष्ठा के परिशिष्ट-रूप औदार्य की सीमा जगत् में प्रकाशित की थी। यही श्रीकृष्णचैतन्यदेव का अनर्पितचर महादान है। उस समय दाक्षिणात्य में प्रचलित भक्तिधर्म-समूह में प्रविष्ट विचार-भ्रान्ति एवं अपूर्णता को निकालकर परिपूर्ण परम मधुर विमल भगवत्सेवा की वार्ता दाक्षिणात्यवासियों को देने के

लिए महावदान्य श्रीमन्महाप्रभु ने स्वयं समग्र दक्षिण देश में भ्रमण किया था। श्रीमन्महाप्रभु के चरणानुचर श्रीरूपानुग आचार्यगण के कीर्तन व्रत के अनुसरण से, श्रीरूपानुग ॐ विष्णुपाद परमहंस आचार्यप्रवर श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद की मंगलकामना और आदेश के अनुसार, 'श्रीगौड़ीयमठ श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेव द्वारा आचरित और प्रचारित मधुरोज्वल प्रेमभक्ति का महान संदेश लेकर, आप लोगों के बीच, आप लोगों के द्वार पर उपस्थित होकर आप लोगों की सद्गुणशीलता, उदारता समादर और आनुकूल्य से, विगत एक वर्ष के समय से, इस महानगरी में और इस प्रदेश में उसी वार्ता की घोषणा कर रहा है। आपके भक्ति धर्म में कोई विपर्यय लाना श्रीगौड़ीय मठ का उद्देश्य नहीं है। बल्कि आप लोगों की भगवत्सेवा में उत्तरोत्तर उत्कर्ष और परिपूर्णता लाभ की सहायता करके और परिशिष्ट ज्ञातव्य बातें कहने की शुभ आकांक्षा लेकर इस मठ का प्रचार अभ्युदित है। आज हमारी उसी शुभाकांक्षा के परम सहायक रूप से परमोदार श्रीयुक्त टी० पोन्नुरुत्तु पिल्लाई महाशय खड़े हुए हैं। वह कर्मनिष्ठा और धर्मनिष्ठा के कारण इस नगरी के सभी लोगों के निकट परिचित हैं—सभी ने उनका नाम सुना है। अपनी इच्छा से अपने ही खर्च से यह नाट्यमन्दिर बनवा देने की प्रतिज्ञा करके वह हम सब के धन्यवाद के पात्र हुए हैं। महामान्य लाट साहब बहादुर उसी नाट्यमन्दिर के भित्तिफलक-संस्थापन के लिए अनुग्रह करके आज इस स्थान पर समुपस्थित हैं। गवर्नर बहादुर के अनुमोदन से श्रीयुक्त पिल्लाई महोदय को मैं उनके निकट उपस्थित करता हूँ।"

इतना कहकर श्रीपाद वन महाराज ने पिल्लाई महोदय को लाट साहब के निकट उपस्थित किया। लाट साहब ने हँसते हुए पिल्लाई महोदय से हाथ मिलाया और अपना आनन्द प्रकट किया। श्रीप्रभुपाद ने "भगवान आप का कल्याण करें" यह कहकर पिल्लाई महाशय के मस्तक में निर्माल्य प्रदान करके ललाट पर चन्दन का विजय-तिलक लगाकर उन्हें शुभाशीर्वाद दिया।

उसके उपरान्त श्रीप्रभुपाद ने नाट्य मन्दिर के भित्तिफलक की स्थापना करने के लिए गवर्नर बहादुर से अनुरोध किया।

फलक-स्थापन का कार्य यथाविधि सुसम्पन्न हो चुकने पर गवर्नर बहादुर ने घोषणा की कि "आज इस नाट्यमंदिर की भित्ति यथार्थ में और सुचारु रूप से स्थापित हुई।" उस समय चारों ओर आनन्दध्वनि होने लगी। लाट साहब तथा अन्य सब लोग लौटकर अपने अपने स्थान पर बैठे गए! इसके उपरान्त लाट साहब ने एक छोटी सी लिखित वक्तृता पढ़ी। उसका सारांश हिन्दी में यहाँ दिया जाता है—

"इस प्रकार के अनुष्ठान में शामिल होने का मौका साधारणतः हम लोगों को नहीं मिलता। इसी कारण आज के इस सादर आमन्त्रण को मेरी पत्नी महाशया ने और मैंने बड़े आनन्द के साथ स्वीकार किया। गौड़ीयमठ का महत् उद्देश्य और कार्य प्रचेष्टा सब के लिए विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। मैं खुद परम आग्रह के साथ एक साल से इस पर ध्यान देता आ रहा हूँ। भगवान और भगवान् की सेवा की ओर प्रेरणा देने की जड़ में जीव की सेवा ही जीवमात्र का कर्तव्य है—यही इस मठ का प्रचार करने का विषय है। इस महत उद्देश्य के विषय में कोई मतभेद नहीं रह सकता। आज कल सर्वत्र विप्लववाद आदि की जड़ में सुख-शान्ति लाभ की जो अंध चेष्टा चल रही है, हम लोगों की तरह श्रीगौड़ीयमठ भी उसका अनुमोदन नहीं करता—यह हमारे लिए विशेष आनन्द का विषय है।

वर्तमान समय में सर्वत्र सारे जगत में वाणिज्य की बड़ी बुरी हालत है और लोगों को विशेष अर्थकष्ट का सामना करना पड़ रहा है। श्रीयुक्त पोन्नुरुत्तु महाशय ने ऐसे अर्थकष्ट के समय में भी भगवान और भगवान की सेवा के इच्छुक जीवों को सेवा का सुयोग देने के लिए इस तरह के महाव्रत की सहायता में इतना भारी खर्च अपनी इच्छा से करना चाहा है, इस पुण्य कार्य को सम्पन्न करने के लिए अग्रसर हुए हैं, यह कोई साधारण बात नहीं है। इसके लिए मैं पिल्लाई महोदय को अपना आन्तरिक विशेष धन्यवाद देता हूँ।

आज मेरे लिए परम सौभाग्य और आनन्द का विषय यह है कि एक विशिष्ट पारमार्थिक सम्प्रदाय के महात्मा आचार्यप्रवर से भेंट परिचय प्राप्त करने का सुयोग मैं प्राप्त कर सका गौड़ीयमठ इस नगर और इस प्रदेश में इतने थोड़े समय और प्रचेष्टा से ही जो ऐसी सिद्धि और सफलता प्राप्त कर सका। है, उसके मूल में अवश्य ही त्रिदण्डी स्वामी श्रीपाद वन महाराज का अदम्य उत्साह और अविराम चेष्टा रही है। इस बारे में आप सब लोग मेरे साथ एकमत होंगे, ऐसी मैं

आशा करता हूं। मुझे जान पड़ता है वह गौड़ीय मिशन की Moving Spirit (जीवन्त प्राण) हैं। आज मैं उनकी कृतकार्यता के लिए उन्हें अपने हृदय का गहरा आनन्द जताता हूँ।"

इस प्रकार भाषण देकर जब लाट साहब अपने आसन पर बैठे गए, तब बड़े लाट की कौंसिल आफ़ स्टेट के मेंबर माननीय दीवान बहादुर श्रीयुत जी० नारायणस्वामी चेट्टि गारु सी० आई० ई० महोदय ने गौड़ीयमठ और मदरास के अधिवासियों की ओर से लाट साहब और उनकी पत्नी महोदया को धन्यवाद दिया। श्रीपाद वन महाराज ने एकत्र भद्रमण्डली को—गौड़ीयमठ के सभी शुभचिन्तकों और सहायकों को, उनके देह-धन-बुद्धि-वाक्य द्वारा श्रीगौड़ीयमठ को विविध प्रकार से सहायता देने के लिए विशेष धन्यवाद दिया। दक्षिण देश में श्रीगौड़ीयमठ की भगवद् भक्ति प्रचार-सेवा के साहाय्यकारी सब लोगों के नामों का उल्लेख करके उन्हें धन्यवाद देना संभव पर नहीं। स्वामीजी ने केवल कुछ आदमियों के नामों का उल्लेख करके उन्हें धन्यवाद दिया था। उनमें परम श्रद्धेय भूतपूर्व एडवोकेट जेनरल सर पी० एस्० शिवस्वामी ऐयर केटी०, के० सी० एस्० आई०, सी० आई० ई० महोदय का नाम सर्वप्रथम उल्लेख योग्य है। उनके सुविचारपूर्ण परामर्श सहानुभूति और सहायता सब तरह से प्रशंसा के योग्य है। गौड़ीयमठ इस नगर में जब से स्थापित हुआ, तभी से सब तरह सहानुभूति एवं सहायता करके, अपनी सहृदयता और उदारता का परिचय देकर, आप हमारे हृदय के गहरे धन्यवाद के पात्र बन गए हैं। 'हिन्दू'-पत्रिका के सर्वजन श्रद्धेय महाप्राण संपादक श्री ए० रंगास्वामी ऐयंगर एवं 'हिन्दू' के स्वत्वाधिकारी मि० के० श्रीनिवासम ऐयंगर ने अपने बहुल प्रचारित प्रतिदिन पत्र में गौड़ीयमठ और गौड़ीयमठ के प्रचार्य विषय की बातें सर्वदा विस्तार के साथ प्रकाशित करके मठ की विशेष सहायता की है, जिसके लिए आप विशेष हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

'जस्टिस' अखबार और "आन्ध्र" पत्रिका ने भी श्री गौड़ीयमठ की बातों का इस प्रदेश में सर्वत्र सर्वदा विस्तार के साथ प्रचार करके इस प्रदेश के बहुत से सत्य की खोज करनेवालों को श्रीमन्महाप्रभु के सेवासदन का परिचय करा दिया है। इसके लिए हम उक्त दोनों पत्रों के सम्पादकों को आन्तरिक धन्यवाद देते हैं। इसके बाद श्रीस्वामीजी महाराज ने श्रीगौड़ीयमठ के विभिन्न सेवाकार्यों में निम्नलिखित विशिष्ट भद्र महोदयों की विभिन्न भाव से सहायता का उल्लेख करके धन्यवाद दिया—

माननीय विचारपति दीवानबहादुर सर सी० वी० कुमारस्वामी शास्त्री अवर्गल के टी०, फ़ाइनेंस सेक्रेटरी मिस्टर एच्० एम्० हुड आई० सी० एस्०, मि० टी० डी० वारेन् आई० सी० एस्०, चुनामपेट के जमींदार दीवान बहादुर अरुणाचलम मुदालियर शिक्षा-मंत्री आनरेबुल, दीवानबहादुर सी० कुमारस्वामी रेड्डियर, लोकल सेल्फ़ गवर्नमेंट के मिनिस्टर आनरेबुल दीवानबहादुर बी० मुनिस्वामी नायडु, पब्लिकवर्क्स के मिनिस्टर मि० पी० टी० राजन, माननीय विचारपति दीवानबहादुर के० सुन्दरम् चेट्टियर, बोब्बिली के राजासाहब, रावबहादुर वी० तिरुवेंकटनाथम चेट्टी (पेरुमल एंड सन्स), मदरास श्रीगौड़ीयमठ को भूमि देनेवाले मि० एम्० रामचन्द्र आई०सी० एस्० (भूतपूर्व विचारपति टी० सदाशिव ऐयर महोदय के पुत्र), मि० टी० पी० रामस्वामी पिल्लाई, काली सम्पोय चेट्टी, मसर्स नेम्बरमल चेट्टी एंडसन्स, मि० एफ़० बी० वादेन (एजेन्ट एम्० एस० एम० रेलवे), मि० एच० ए० बी० वार्नन सी० एस० आई०, सी० आई० ई०, आई० सी० एस० मि० ए० एफ़० बेकर (एक्ज़ीक्यूटिव इंजीनियर साउथ प्रेसीडेंसी डिवीज़न), मदरास-कार्पोरेशन के प्रेसीडेंट एम्० आर० टी० एस्० रामस्वामी ऐयर अवर्गल बी० ए०, बी० एल०, एम्० एल० सी०, आनरेबुल दीवान बहादुर नारायण स्वामी चेट्टी सी० आई० ई०, दीवान बहादुर पी० टी० कुमार स्वामी चेट्टियर, मि० एन० बी० राववन (पेंशनप्राप्त एकाउन्टेन्ट जेनरल), रावबहादुर सुरलक्ष्मी चेट्टी, मि० एम्० वी० रामस्वामी मुदालियर, डॉ० यू० रामराव, डॉ० के वेंकटराव डॉ० बी० वेंकट रामानुजलू नायडु, राव बहादुर वेंकटराम नायडू, डॉ० एस्० आर० यू० सब्बुर डी० एस् सी० (लंदन), सर पी० सी० रामस्वामी ऐयर के० सी० आई० ई०, रावबहादुर डॉ० केशव पी० एम० डी० इत्यादि इत्यादि महाप्राण व्यक्तिगण ने मदरास-श्रीगौड़ीयमठ के हरिकथा के प्रचार में सहायता की है।

धन्यवाद देने के बाद निर्दिष्ट अनुष्ठान की परिसमाप्ति हो चुकने पर सपत्नीक लाट साहब बिदा हो गए। समागत भद्रमण्डली में से बहुत लोगों ने श्रीयुक्त पिल्लाई महोदय को इस सुमहत् कार्य के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद और

हृदय का आनन्द जताकर उनसे हाथ मिलाया। नाट्यमन्दिर निर्मित होने पर उसमें प्रवेश-महोत्सव के दिन महा समारोह के साथ श्रीमूर्ति-भाव से भजनोत्सव दर्शन की महती आकांक्षा भी अनेक लोगों ने उस समय आनन्दोत्साह के साथ प्रकट की।

पिल्लाई महोदय ने दो ही दिन के भीतर नाट्यमन्दिर की अति सुन्दर परिकल्पना करके उसका चित्र श्रीप्रभुपाद के निकट अनुमोदन के लिए उपस्थित किया था। यह कलकत्ता श्रीगौड़ीयमठ के नाट्यमन्दिर से भी कुछ बड़े आकार का होगा।

(गत संख्या से आगे)

भागवत-श्रेष्ठ शिव विषय-वैराग्य की साक्षात् प्रतिमूर्त्ति हैं। उनमें तमोगुण या तदुचित कोई चिह्न नहीं रह सकता। वह केवल तमोगुण को परिचालित मात्र करते हैं। मूढ़जन मनमाने भावसे उनको गढ़ लेते हैं, सजाते हैं— उनके स्वभाव को, उनके स्वरूप को नहीं जानते। वे बहिर्मुखी वृत्ति के वश होकर शिव में नानारूप उद्भट विषयों का संयोग संघटित कर अपनी ही असत् प्रवृत्ति का परिचय देते हैं और अपराध करने के कारण उनका मूलोच्छेद हो जाता है।

हरि की प्रियतम वस्तु हर हैं। हर को जितनी वस्तुएँ प्रिय हैं, वे सब उनको भी प्रिय हैं। हरि प्रिय हरि-प्रसादित उपचारों से ही हरकी पूजा अथवा प्रीति होती है। उनसे भिन्न वस्तुओं से वह कभी प्रसन्न नहीं होते। हरिही उनके प्राण हैं; हरिही उनका ज्ञान हैं; हरिही उनका ध्यान हैं; उनके श्रीमुख और श्रीअंग का सदा भूषण 'हरे कृष्ण राम''-नाम है?

शम्भु शुद्ध ज्ञान-वैराग्य की प्रतिमूर्त्ति हैं। दक्ष की तरह प्रजासृष्टि के कार्य में निपुण अर्थात् प्रवृत्त व्यक्ति ही वैष्णवराज शम्भु के साथ विरोध करने को उद्यत होते हैं। इसी से श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में दक्ष ने शम्भु के प्रति ईर्षा-प्रणोदित होकर जो सब चेष्टाएँ की थीं, वे सब लिखी गई हैं। शिव के प्रति दक्ष की ये सब चेष्टाएँ प्रवृत्त व्यक्तियों के निवृत्त वैष्णवों प्रति के मात्सर्य की ही घोषणा करती हैं।

शम्भु सदैव वासुदेव के चरणों में प्रणत हैं। वह महाभागवत हैं। अतएव अक्षज-दृष्टि से लोग उनके चरित्र को नहीं समझ पाते। उन्होंने यह बात अपने ही श्रीमुख से प्रकट की है -

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं
यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्त्वे च तस्मिन्भगवान्वासुदेवो
ह्यधोक्षजो मे नमसा विधीयते॥

(भागवत ४। ३। २३)

श्रीशम्भु कहते हैं- अप्राकृत विशुद्ध अन्तःकरण ही वासुदेव शब्द के द्वारा अभिहित है। आवरणशून्य पुरुष भगवान् उसी विशुद्ध अन्तःकरण में प्रकाशित होते हैं, इसीसे उनका नाम वासुदेव है। वह इन्द्रियज्ञान के अतीत पुरुष हैं। वासुदेव भगवान सर्वोन्मुख चित्त में नित्य प्रकाशमान हैं। मैं उन भगवान् को सतत विशेष रूप से नमस्कार करता हूँ।

वासुदेव के प्रियतम महाभागवत शम्भु के मुख से इस प्रकार की उक्ति का होना ही स्वाभाविक है।

भगवान् कपिलदेव ने एक श्लोक में भगवान विष्णु और उनके प्रियतम शिव के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—

यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।

(भाग० ३। २८। २२)

अर्थात् जिन भगवान् विष्णु के चरणों का धोवन नदियों में श्रेष्ठ गंगा के संसार ताप-नाशक पवित्र जल को मस्तक के ऊपर धारण करके शिव भी शिवस्वरूप अर्थात् मङ्गलमय हुए हैं।

सुतराम् शम्भु के परम वैष्णव होने में तनिक भी सन्देह नहीं। वह स्वतन्त्र भगवान नहीं हैं; किन्तु वह भगवान के प्रियतम और उनसे अभिन्न विग्रह हैं। शुद्ध वैष्णवगण शम्भु को इसी रूप से देखा करते हैं और यही शम्भु का यथार्थ नित्य स्वरूप है। श्रीमद्भागवत में रुद्रशिष्य प्रचेतागण ने शम्भु का वर्णन इसी रूप से किया है। जो लोग यथार्थ शिवभक्त हैं, वे भी श्रीमद्भागवतोक्त प्रचेतागण के सिद्धान्त का ही अनुसरण करते हैं। अपरापर सिद्धान्त भागवतविरोधी, शुद्धभक्तिविरोधी तथा मनोधर्ममात्र जानने चाहिए। प्रचेतागण भगवान का स्तव करके कहते हैं—

वयन्तु साक्षाद् भगवन्भवस्य
प्रियस्य सख्युः क्षणसङ्गमेन।
सुदुश्चिकित्स्यस्य भवस्य मृत्यो-
र्भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गताः स्म॥

हे भगवन् हम ने आपके प्रियतम शम्भु के क्षणभर के संग के प्रभाव से सुदुश्चिकित्स्य संसार और जन्म-मृत्युरूप रोग के सद्वैद्यस्वरूप आप को आज अपने परम आश्रय-स्वरूप में पाया है।

श्रीजीवगोस्वामी आदि वैष्णवाचार्यगण ने लिखा है—

"शुद्धभक्ताः श्रीगुरोः श्रीशिवस्य च भगवता
सह अभेददृष्टिं तत्प्रियतमत्वेनैव मन्यन्ते।"

(भ० स० २१६)

अर्थात् शुद्ध भक्तगण श्रीगुरु और श्रीशिव के साथ भगवान की अभेद दृष्टि को भगवत् प्रियतमस्वरूप से ही मानते हैं।

शुद्धाद्वैतवादाचार्य श्रीविष्णुस्वामिपाद ने वैष्णवराज विष्णु-प्रियतम श्रीरुद्र को ही आदिगुरुरूप से वरण किया है—

"श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रः"

श्रीविष्णुस्वामिपाद और उनके अनुग श्रीधरस्वामिपाद आदि शुद्धाद्वैतमतावलम्बी वैष्णवाचार्यगण ने भी श्री-शम्भु को भगवत्प्रियतम अभिन्नविग्रहरूप से देखा है। निर्विशेष केवलाद्वैतवादी शिवस्वामी-सम्प्रदाय की विचार-प्रणाली से शुद्धाद्वैतवादी श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदाय की विचार-प्रणाली जुदी है। आचार्य श्रीविष्णुस्वामी के अनुगामी जन शुद्ध वैष्णव हैं। वे कभी तत्त्व का विरोध करके श्रीरुद्र का स्वतन्त्र भगवन् रूप से विचार और चरम में निर्विशेषोपलब्धि ही प्राप्य है—इस प्रकार के पञ्चोपासक के मायावादी मायामय मत का आवाहन नहीं करते। इसी से श्रीधरस्वामिपाद ने श्रीमद्भागवत-टीका के मंगलाचरण-श्लोकों में सबसे पहले भगवान श्रीकृष्ण को प्रणाम किया है, उसके बाद आचार्य विष्णुस्वामी के परमोपास्य तथा सभी शुद्ध वैष्णवों के उपास्य श्रीनृसिंहदेव को प्रणाम किया है। उन्होंने इस श्लोक में यही व्यक्त किया है कि श्रीकृष्ण ही परम तत्व वस्तु हैं—

श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमामि तत्॥

उसके उपरान्त शुद्ध विष्णुभक्ति के वास्तव सत्य-प्रचारकगण के विघ्न-विनाशरूप सरस्वतीपति श्रीनृसिंहमूर्त्ति और तदालिङ्गित-विग्रह उमापति शम्भु को प्रणाम करके कहते हैं—

माधवोमाधवावीशौ सर्वसिद्धिविधायिनौ।
वन्दे परस्परात्मानौ परस्परनतिप्रियौ॥

अर्थात् वाग्देवी सरस्वती के पति और वक्षोविलासिनी लक्ष्मी के पति माधव अथवा विष्णुभक्ति के विघ्न विनाशन-रूप कृष्णमूर्त्ति श्रीनृसिंहदेव एवं उनके प्रियतम शंभु, दोनों ही ईश्वर-तत्त्व हैं। एक जन ईश्वरों का भी ईश्वर परमेश्वर है और दूसरा वैष्णवराज ईश्वर या प्रभु है अर्थात् गुरु और कृष्ण दोनों ही विषय और आश्रयजातीय भगवत्तत्त्व हैं। श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदाय में श्रीरुद्र ही गुरुदेव या आश्रयजातीय भगवान एवं श्रीनृसिंहदेव ही विषय-जातीय उपास्य वस्तु हैं। सुतराम गुरु और कृष्ण दोनों ही परस्पर एकात्मा या आलिङ्गित विग्रह हैं। गुरु और कृष्ण के स्मरण से सब सिद्धियों का लाभ होता है। इसी कारण मंगलाचरण में स्वामिपाद ने गुरु और भगवान को स्मरण किया है। श्रीकविराजगोस्वामी प्रभु भी यही बात कहते हैं—

गुरु वैष्णव भगवान् तीनों का स्मरण।
तीनों के स्मरण से होता विघ्न-विनाशन॥
अनायास होता निजवाञ्छित-पूरण॥

(चै० च० आदि १ म)

उमाधव और माधव को श्रीधर स्वामी ने "परस्पर-नतिप्रियौ" (अर्थात् दोनों परस्पर प्रणति-प्रिय हैं) जो लिखा है, इससे अतात्त्विक अभक्तसम्प्रदाय समझते हैं कि इस विशेषण के द्वारा श्रीधरस्वामिपाद ने उमापति शम्भु को भी स्वतन्त्र भगवान प्रतिपादित किया या माना है। परन्तु कृष्णतत्त्व के ज्ञाता सद्गुरु के चरणों का आश्रय ग्रहण करनेवाले सभी लोग जानते हैं कि गुरु और कृष्ण नित्यकाल इसी तरह के विश्रंभप्रणय से आबद्ध हैं। श्रीगुरुदेव नित्य ही कृष्णालिंगित-विग्रह हैं। विषयजातीय

परमेश्वर और आश्रयजातीय प्रभुतत्त्व श्रीगुरुदेव के बीच इसी प्रकार का विश्रंभभाव नित्य वर्त्तमान है। जो लोग अनर्थमुक्त होकर स्वरूपसिद्ध अवस्था में श्रीराधा-गोविन्द के निगूढ़ भजन में प्रविष्ट हुए हैं, वे गुरुरूप निजजन और श्रीगोपीवल्लभ के बीच किस तरह विश्रंभभाव वर्त्तमान, उपलब्ध कर सकते हैं। वे ही श्रीवरस्वामी के "परस्परात्मानौ" 'परस्परनतिप्रियौ'' शब्दों के ठीक ठीक तात्पर्य को हृदयंगम करने में समर्थ हैं। मनोधर्मी समन्वयवादी लोग अपने दुष्कर्मों के फल से यह नहीं हृदयंगम कर सकते कि श्रीभगवान और गुरुतत्त्व वैष्णवाग्रगण्य श्रीशंभु के बीच किस प्रकार का शुद्ध भाव विराजित है। इसी से शास्त्र कहता है—

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादि दैवतैः।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम्॥

अर्थात जो आदमी परमेश्वर नारायण की तरह ब्रह्मा, रुद्र आदि उनके अधीन देवता को भी स्वतन्त्र भगवान समझता है, अर्थात ऐसा समझता है कि एक परमेश्वर ही नाम-भेद से कभी शिव, कभी शक्ति, कभी ब्रह्मा और कभी विष्णु इत्यादि कहलाते हैं, वह निश्चय ही पाषण्डियों की गति पाता है। शुद्ध वैष्णवजन रुद्र आदि देवतों को भगवान का सेवक ही मानते हैं और वे ही परमोत्तम गति प्राप्त करते हैं। श्रीमद्भागवत में वर्णित प्रचेतागण के चरित्र में और आदर्श में हम यही देख पाते हैं।

कोई कोई समझते हैं कि भागवत में कृष्ण को स्वयं भगवान, शिवपुराण में शिव को भगवान्, इसी तरह भिन्न-भिन्न शास्त्रों में जब भिन्न-भिन्न देवतों का ही श्रेष्ठत्व कीर्त्तित हुआ है, तब शास्त्र का उद्देश्य यही समझना होगा कि विष्णु, शिव आदि देवता एक जन के ही नामान्तर आभिधानिक प्रतिशब्द की तरह नाममात्र हैं। अतएव शम्भु भी स्वतन्त्र भगवान हैं।

श्रीमद्भागवत सात्त्विक पुराण है। फिर केवल सात्त्विक ही नहीं है, सात्त्विक पुराणों में अमलपुराण है। इस अमल-पुराण में प्रोज्झित कैतव धर्म या वास्तव सत्य कीर्त्तित हुआ है। जैसे पूर्वविधि से परविधि बलवान् मानी जाती है, वैसे ही श्रीव्यासदेव ने विमुग्ध पुरुषों को मोहित करने के लिए अथवा अज्ञानी कर्मसंगियों के लिए जो बातें कही हैं और जो बातें कहकर वह स्वयं परमशान्ति का अनुभव नहीं कर सके, ऐसा कहकर उन्होंने लोकशिक्षा के लिए अभिनय किया जो श्रीमद्भागवत के आरम्भ में ही नारद और व्यास के सम्वाद में उल्लिखित हुआ है—उन सब पूर्वविधियों से परविधि, या व्यासदेव के अन्यान्य पुराणों से प्रोज्झित-कैतव अमलपुराण का प्रमाण ही अधिक बलवान मानकर गृहीत होगा।

केवल यही नहीं, श्रीमद्भागवत का अन्य नाम पारमहंस्यसंहिता है। श्रीशुकदेव आदि परमहंसगण ने जिस सिद्धान्त को ठीक और श्रेष्ठ माना है, वही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। तीसरे अन्यान्य पुराणों को श्रीव्यासदेव ने स्वरचित ब्रह्मसूत्र के भाष्यरूप में नहीं कीर्त्तन किया। किन्तु उन्होंने अपने ग्रन्थ में ही यह व्यक्त किया है कि श्रीमद्भागवत उनके स्वरचित ब्रह्मसूत्र या वेदान्त का अकृत्रिम भाष्य है। सुतराम् श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर जैसे श्रुति ही गरीयसी है, वैसे ही अन्यान्य पुराणों के साथ विरोध उपस्थित होने पर श्रुति के निर्मल सारार्थ का प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त के अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवत का प्रमाण ही माननीय है। इस श्रीमद्भागवत में शम्भु को भगवान के प्रियतम आलिंगित विग्रह वैष्णवाग्रगण्य ही कहा गया है। चैतन्य-चरितामृत, चैतन्य भागवत और चैतन्य मंगल आदि वैष्णवग्रन्थों में भी शंकर को परम वैष्णव माना है; पर स्वतन्त्र भगवान् नहीं।

अतएव हम श्रीमद्भागवत और भागवतानुगभक्त भागवत आचार्य वैष्णवों के अनुगामी होकर श्रीव्यासदेव की भागवतोक्त भाषा में इस लेख का उपसंहार करते हुए लिखते हैं

अथापि यत्पादनखावसृष्टं
जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात्
को नाम लोके भगवत्पदार्थः॥

अर्थात जिनके पद नख से निकला हुआ जल (गंगा) ब्रह्मा के द्वारा अर्घ्यरूप से दिया जाकर महादेव के साथ सम्पूर्ण जगत् को पवित्र कर रहा है, उन मुकुन्द के सिवा इस लोक में और कौन 'भगवान्' शब्द का वाच्य हो सकता है। अतएव हम महावैष्णव शम्भु के चरणों में कोटि-कोटि प्रणाम करके उनसे कृष्णभक्ति की प्रार्थना करते हैं।

जीव का नित्य और नैमित्तिक

(गत सप्तम संख्या से आगे)

दूसरे दिन प्रातःकाल प्रेमदास बाबा अपने व्रज भाव में डूबे रहे, जिससे संन्यासी महाशय को उनसे कोई बात पूछने का अवसर नहीं मिला। दोपहर को "मधुकरी" (भोजन) करके दोनों ही श्रीमाधवी-मालती मण्डप में बैठे। परमहंस बाबाजी ने कृपा करके कहा—हे भक्त-प्रवर! आपने धर्म-विषय की मीमांसा सुनकर क्या ठीक किया? यह बात सुनकर संन्यासी ने परम आनन्द के साथ फिर प्रश्न किया—प्रभो! जीव यदि अणु पदार्थ है, तो उसका नित्य धर्म कैसे पूर्ण और शुद्ध हो सकता है? जीव के गठन के साथ यदि उसके धर्म का भी गठन होता है, तो धर्म कैसे सनातन हो सकता है?

ये दोनों प्रश्न सुनकर श्रीशचीनन्दन के चरणों का ध्यान करते हुए परमहंस बाबा ने मुसकिराकर कहा—महाशयजी, जीव अणु पदार्थ है, किन्तु उस का धर्म पूर्ण, शुद्ध और सनातन है। अणुत्व केवल वस्तु का परिचय है। बृहत वस्तु एकमात्र परब्रह्म या कृष्ण चन्द्र हैं। जीवसमूह उनके अनन्त परमाणु हैं। अखण्ड अग्नि से जिस प्रकार चिनगारियाँ निकला करती हैं, वैसे ही अखण्ड चैतन्यस्वरूप कृष्ण से ये जीव भी निकलते हैं। अग्नि की एक एक चिनगारी जैसे पूर्ण अग्नि शक्ति को धारण करती है, हरएक जीव भी उसी तरह चैतन्य के पूर्णधर्म की विकासभूमि होने में समर्थ है। एक चिनगारी जैसे जलाने की सामग्री पाकर क्रमशः महान अग्नि का परिचय देकर जगत् भर को जला डालने में समर्थ होती है, वैसे ही एक जीव भी प्रेम के प्रकृत विषय कृष्णचन्द्र को प्राप्त करके प्रेम की भारी बढ़िया लाने में समर्थ हो सकता है। जब तक अपने धर्म के यथार्थ विषय को वह स्पर्श नहीं करता, तब तक उस पूर्ण धर्म का सहज विकास दिखाने में अणु चैतन्यस्वरूप जीव असमर्थ होकर प्रकाश पाता है। वास्तव में विषय के संयोग में ही धर्म के परिचय का, जीव का नित्य धर्म क्या है - इसका अच्छी तरह अनुसन्धान कीजिए। प्रेम ही जीव का नित्यधर्म है। जीव अजड़ अर्थात् जड़ से अतीत वस्तु है। चैतन्य ही इसका गठन है। प्रेम ही इसका धर्म है। कृष्ण का दास्य ही वह विमल प्रेम है। अतएव कृष्णदास्यरूप प्रेम ही जीव का स्वरूप-धर्म है।

जीव की दो अवस्थाएँ हैं शुद्धावस्था और बद्धावस्था। शुद्ध अवस्था में जीव केवल चिन्मय है। उस समय उसका जड़-सम्बन्ध नहीं रहता। शुद्ध अवस्था में भी जीव अणु पदार्थ है। उसी अणुत्व के कारण जीव के दूसरी अवस्था प्राप्त करने की संभावना है। बृहत चैतन्यस्वरूप कृष्ण के स्वभावतः अवस्थान्तर नहीं है। वह वास्तव में बृहत, पूर्ण, शुद्ध और सनातन हैं। जीव वास्तव में अणु, खण्ड और अशुद्ध होने के योग्य है और अर्वाचीन है। किन्तु धर्मतः जीव बृहत्, अखण्ड, शुद्ध और सनातन है। जीव जब तक शुद्ध है, तभी तक उसके स्वधर्म का विमल परिचय है। जीव जब माया के सम्बन्ध से अशुद्ध होता है तभी वह स्वधर्म में विकार होने के कारण अविशुद्ध, अनाश्रित और सुख-दुःख से पिसा हुआ रहता है। जीव को कृष्ण के दास्यभाव की विस्मृति होते ही संसार-गति आकर उपस्थित होती है।

जीव जब तक शुद्ध रहता है तभी तक उसे स्वधर्म का अभिमान है। वह अपने को कृष्ण का दास समझकर अभिमान करता है। किन्तु माया के संबंध से अशुद्ध होते ही वह अभिमान संकुचित होकर भिन्न-भिन्न आकार धारण करता है। माया के सम्बन्ध से जीव का शुद्ध स्वरूप लिंगदेह और स्थूल देह से आवृत होता है। तब लिंग शरीर का एक अलग अभिमान उदित होता है। वह अभिमान फिर स्थूल देह के अभिमान में मिलकर एक तृतीय अभिमान का रूप धारण करता है। शुद्ध शरीर में जीव केवल कृष्ण का दास है। लिंग शरीर में जीव अपने को स्वकर्मफल का भोग करने वाला समझता है। उस समय कृष्ण के दास्य का अभिमान लिंगदेह के अभिमान से ढका रहता है। फिर स्थूल देह प्राप्त करके—मैं ब्राह्मण हूँ, मैं राजा हूँ, मैं गरीब हूँ, मैं दुःखी हूँ—मैं रोग-शोक के द्वारा अभिभूत हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं अमुक का स्वामी हूँ इस प्रकार के बहुविध स्थूलाभिमान के साथ वह अपना परिचय देता है।

इस प्रकार के मिथ्या अभिमान से युक्त होकर जीव का स्वधर्म विकृत होता है। विशुद्ध प्रेम ही शुद्ध जीव का स्वधर्म

है। सुख-दुःख, राग-द्वेष के रूप में वही प्रेम विकृत भाव से लिंग शरीर में उदित होता है। भोजन, पान और जड़ संगसुख रूप में वह विकार अधिकतर गाढ़ा होकर स्थूल शरीर में दिखाई देता है। अब देखिए, जीव का नित्यधर्म केवल शुद्ध अवस्था में प्रकाशमान होता है। बद्ध अवस्था में जिस धर्म का उदय होता है, वह नैमित्तिक है। नित्यधर्म स्वभाव से ही पूर्ण, शुद्ध और सनातन है। नैमित्तिक धर्म की और किसी दिन अच्छी तरह व्याख्या करूँगा।

श्रीमद्भागवत शास्त्र में जो विशुद्ध वैष्णव धर्म परिलक्षित होता है, वह नित्यधर्म है। जगत में जितनी तरह के धर्मों का प्रचार है, उन धर्मों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। नित्यधर्म, नैमित्तिक धर्म और अनित्यधर्म। जिन सब धर्मों में ईश्वर की आलोचना नहीं है, आत्मा का नित्यत्व नहीं है, वे सब अनित्य धर्म हैं। जिन धर्मों में ईश्वर और आत्मा का नित्य होना स्वीकार किया गया है; किन्तु केवल अनित्य उपाय द्वारा ईश्वर-प्रसाद लाभ करने की चेष्टा की जाती है, वे सब नैमित्तिक धर्म हैं। जिनमें विमल प्रेम के द्वारा कृष्ण का दास्य प्राप्त करने का यत्न किया जाता है, वे सब धर्म नित्य हैं। नित्यधर्म देश, जाति तथा भाषा के भेद से पृथक् पृथक् नामों से परिचित होने पर भी वह एक और परम उपादेय है। भारत में जो वैष्णवधर्म प्रचलित है, वही नित्यधर्म का आदर्श है। फिर हमारे हृदयनाथ भगवान शचीनन्दन ने जगत को जिस धर्म की शिक्षा दी है, वही वैष्णव धर्म की विमल अवस्था होने के कारण प्रेमानन्दी महापुरुषगण उसी को स्वीकार करते हैं, उसी का सहारा लेते हैं।

इस स्थल पर संन्यासी ने हाथ जोड़ कर कहा—प्रभो! मैं श्रीशचीनन्दन के प्रकाशित विमल वैष्णव धर्म का सर्व उत्कर्ष हर घड़ी देखता हूँ। शंकराचार्य के द्वारा प्रकाशित अद्वैतमत के हेयत्व का अनुभव अवश्य करता हूँ, किन्तु मेरे मन में एक बात आती है और उसे आप के श्रीचरणों में प्रकट किए बिना मुझसे रहा न जायगा। मैं उसे आप से छिपाना नहीं चाहता। वह बात यही है कि प्रभु श्रीकृष्ण-चैतन्य ने जो घनीभूत प्रेम की महाभाव अवस्था दिखाई है, वह क्या अद्वैतसिद्धि से पृथक् अवस्था है?

श्रीशंकराचार्य जी का नाम सुनकर परमहंस बाबाने उन्हें दण्डवत प्रणाम किया। फिर कहा—महाशय, "शंकरः शंकरः साक्षात्" इस बात को सदा स्मरण रखिएगा। शंकर जी वैष्णवों के गुरु हैं, इसी कारण महाप्रभु ने आचार्य कह कर उनका उल्लेख किया है। शंकर स्वयं पूर्ण वैष्णव थे। जिस समय वह भारत में उदित हुए थे, उस समय उनके समान एक गुणावतार के होने की बहुत बड़ी ज़रूरत थी। भारत में वेदशास्त्र की आलोचना और वर्णाश्रम धर्म के क्रियाकलाप बौद्धों के शून्यवाद के चक्कर में पड़कर शून्यप्राय हो गए थे। शून्यवाद नितान्त निरीश्वर है। इसमें जीवात्मा का तत्त्व कुछ कुछ स्वीकृत होने पर भी वह धर्म बिलकुल ही अनित्य है। उस समय ब्राह्मणगण प्रायः बौद्ध होकर वैदिक धर्म का परित्याग करने जा रहे थे। असाधारण शक्ति-शाली शंकरावतार शंकराचार्य ने उदित होकर वेदशास्त्र के सम्मान की स्थापना की—शून्यवाद को ब्रह्मवाद में परिणत कर दिया। यह कार्य असाधारण था। भारतवर्ष इस महान कार्य के लिए श्रीशंकराचार्य का सदा ऋणी रहेगा। सभी कार्यों का जगत में दो प्रकार से विचार होता है। कुछ कार्य तात्कालिक होते हैं, और कुछ सार्वकालिक। शंकराचार्य का वह कार्य तात्कालिक था। उसके द्वारा अनेक सुफलों का उदय हुआ है। शंकराचार्य ने जो नींव डाली, उसी नींव के ऊपर बाद को श्रीरामानुजाचार्य और श्रीमध्वाचार्य आदि आचार्यों ने विशुद्ध वैष्णव धर्म का महल खड़ा किया। अतएव शंकरावतार वैष्णवधर्म के परम बन्धु और एक प्रागुदित आचार्य हैं।

भ्रम-संशोधन

गत नवम संख्या के छठे पृष्ठ में प्रेस की कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। पाठकगण कृपा करके अपनी प्रति में संशोधन कर लें—

कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१	कोणद्वीप	कोलद्वीप
१	२१	२२ मार्च	१२ मार्च
२	८	तारकेश्वर	तारकोणा
२	८	तन्तुवायल्ली	तन्तुवायपल्ली
२	१९	कोणद्वीप	कोलद्वीप
२	३०	एडाला	एकडाला

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्द्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्द्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीनदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और 'श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
श्रीनृसिंहदासकुंज, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ५, गोपीभवन डाक्टर लेन, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेडल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चपाड़ा, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्द्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चीरकंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम् –सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् =)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः –)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशित) प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित –)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित –)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी - कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≈)
१२—युक्तिमल्लिका (गुणसौरभ) वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

वंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≈)
१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद –)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ≈)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद-कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति –)
२२—कल्याणकल्पतरु –)॥
२३—गीतावली –)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद्भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ४)

Books in English

Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

वर्ष १] श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः [संख्या ११

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

5th April 1932

विष्णु
कृष्णपक्ष
गौराब्द
४४६

चैत्र
अमावास्या
संवत्
१९८८

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-
सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा

प्रति संख्या ‍-) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है ।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है ।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा ⁻) है ।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये । जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे ।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन-छपाई की दर नीचे लिखी है-

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १/२ ,,	५)
चौथाई ,, १/४ ,,	३)
२ इंच ,, १/६ ,,	१॥)
१ ,, ,, १/१२ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये ।

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

९४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

946 Suddar Bazar,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदयवन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



।।परमहंस मठ, नौलपारगंज

वर्ष १ | चैत्र-अमावास्या गौराब्द ४८८ वि०, ४ अप्रैल सन् १९३४ | संख्या ११

नम्र निवेदन

(६)

गाऊँ का कहौं सरम की बात

ऐसो पाप नाहिं या जग मे जो न कियो दिन-रात ॥

सोइ कर्मफल अब मैं भोगौं देहुँ दोष क्यहि नाथ ।

तब परिणाम-विचार न करिके कीन्यो अपनो घात ॥

अब पाछे पछिताय हाय मैं चहौं होइबो पार ।

दोष विचारि दंड तुम देहौ भोगौं मैं संसार ॥

करत गतागति भक्तजनन-सँग, मति तव चरन मँझार ।

सौंपी तव पद माहिं चतुरता अपनी प्रभो उदार ॥

गरब गयो सब जम्यो हृदय को, दीन दयालु अपार ।

पाय कृपा तव निर्मल आशा भक्तिविनोद सँभार ॥

आचार्यदेव की

अष्टपञ्चाशत्तम आविर्भाव तिथि में

श्रीव्यासपूजा

गत २६ फरवरी (१९३२) को आचार्यवर्य की अष्टपञ्चाशत्तम आविर्भाव तिथि में आचार्यनिकवैष्णव राजसभा के सुप्रभाति प्रतिष्ठान सम्हरे में श्रीव्यासपूजा का अनुष्ठान हुआ था। श्रीव्यासदेव कीर्तन विग्रह आश्रयजातीय भगवदवतार थे। श्रीगुरुमूर्ति में ही श्रीव्यासदेव की सब कीर्तनशोभा प्रस्फुटित है। श्रीव्यास के कीर्तन में जो सब अपूर्व शोभा विद्यमान है, वह भी श्रीमान् रूपानुगवर श्रीकृष्णचैतन्य-निज-जन श्रीगुरुदेव में परिस्फुट है। श्रीगुरु-महिमा के कीर्तन में ही श्रीगौरसौन्दर्य और गान्धर्विका गिरिधर की महिमा-मधुरिमा कीर्तन परिपूरित है। सुतराम् विभिन्न शुद्ध भक्तिकेन्द्र में निर्मत्सर भागवतगण के हृदयानन्दवर्द्धक और सेवाकुमुद विकाशक हरिजनमहिमा-कीर्तन-सेवा के द्वारा ही श्रीव्यास-पूजा की गई थी।

वर्तमान कलि-कोलाहल कवलित कृष्णसेवा-विरोध पूर्ण युग में प्राकृत वीर-पूजा, नायक पूजा आदि पौत्तलिकता जैसे "जयन्ती" आदि अवैध नामों को अपनाने की अवैध प्रवृत्ति दिखलाते हुए जगत में प्राप्य शब्द विभ्राट और अव्यासपूजा के दूषित बीज बिखेर रहे हैं, उसके प्रतिकार के लिए शुद्ध हरिजन प्रशस्ति-गाथामय कीर्तन यज्ञ आज कई वर्षों से निर्मत्सर भागवत ऋत्विजों ने आरम्भ किया है। जो लोग मत्सरहीन और सहिष्णु होकर इन सब हरिजन की प्रशस्तियों को सुनेंगे, उनके हृदय में निश्चय ही शीघ्र श्रीकृष्णचैतन्यदेव कथित सर्वाभिधावर्त्ता संकीर्तनयज्ञाग्नि उदित होकर गोलोक का आलोक प्रदान करेगी।

परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद श्रीचैतन्यवाणी के उद्बोधन के लिए मदरास में अब तक विराजमान थे। मदरास की विभिन्न भाषाओं में उस देश के रहनेवालों ने आचार्यवर्य को अभिनन्दनाञ्जलि देकर अपने को कृतकृतार्थ बनाया। कनाड़ी, तामिल, तेलगू, मलयालम, अँगरेज़ी आदि भाषाओं में मदरास में, हिन्दी, उर्दू, संस्कृत आदि भाषाओं में युक्तप्रदेश में, उड़िया भाषा में उड़ीसे में, आसामी भाषा में आसाम प्रदेश में और बँगला में बंगाल में विभिन्न अभिनन्दनपत्र पढ़े गए हैं। श्रीविश्ववैष्णवराजसभा के चारों सामयिक पत्रों में इन अभिनन्दन पत्रों में से अनेक प्रकाशित किए जायेंगे।

श्रीश्रीव्यास-पूजा का अर्घ्य

(मदरास में प्रभुपाद के पास भेजे गए तार का हिन्दी अनुवाद)

प्रभुपाद! हम दिखलाई पड़ रहे जगत में आपके आविर्भाव-तिथि-महोत्सव में आज हम लोग अपनी आन्तरिक भक्ति का अर्घ्य आपके श्रीपादपद्मों में अर्पित करते हैं। हम दृष्टि से बहुत दूर पर अवस्थित रहने पर भी हमारा अन्तःकरण आपके श्रीपादपद्मों के निकट अवस्थित है। आप दूर से हम लोगों के आग्रह के आतिशय्य को बढ़ा रहे हैं। हम सर्वत्र आपके प्रभाव और उपस्थिति को सभी इन्द्रियों के द्वारा अनुभव करते हैं और हम लोगों का चित्त आपके श्रीचरण-सरोज की मधुर सुधा को गंभीर भाव से पान करता है।

धन्य हैं वह सूर्य—जिन्होंने आज का सुप्रभात जगत में लाकर हमारे नित्याराध्य और प्रियतम प्रभु को हमारे बीच पाने का सुयोग प्रदान किया है।

अपने निज अनुगत भृत्यों के संशोधन और पतित जीवों के उद्धार के लिए आप कृपापरवश होकर इस पृथ्वी में अवतीर्ण हुए हैं। मनुष्य जाति के निकट विहित सब साधनों में भक्ति ही श्रेष्ठ और परतम साधन है यह आपने यथार्थ ही दिखला दिया है और दुर्बल मानव जाति को वञ्चना के हाथ से बचाने के लिए जगत में प्रचलित विभिन्न धर्मों के तुलना मूलक विचार को तीक्ष्ण भाव से दिखलाकर संपूर्ण अपधर्मों के यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर दिया है।

आस्तिक्यवाद के अप्राकृत मौलिकत्व को ही आपने अपने तुलनामूलक विचार की भित्ति बनाया है। श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित कृष्ण स्वरूप के प्रदर्शन द्वारा आपने भक्ति की विजय वैजयन्ती फहराई है। परमेश्वर कृष्णचन्द्र ही जड़ और भौम जगत के एकमात्र भोक्ता हैं और कृष्ण ही स्वराट पुरुष हैं, यह आपने जगत के निकट अच्छी तरह प्रकट कर दिया है।

देह, मन और आत्मा—इन तीन के भेद को आपने पूर्ण विश्लेषण के द्वारा दिखला दिया है। देह और मन दोनों आत्मा के नाशशील स्थूल और सूक्ष्म आवरण हैं, और अणुचैतन्य आत्मा विभु चैतन्य कृष्ण का अणु अंश है तथा कृष्ण की सेवा ही आत्मा का एक मात्र कार्य है ये सब विषय हमको सिखलाए हैं। अणुत्व के कारण आत्मा माया के द्वारा अभिभाव्य होने पर भी एक मात्र भक्ति ही के द्वारा उद्धार साधन योग्य है। आपने शिक्षा दी है कि कृष्ण का प्रेम ही जीव की एक मात्र खोज करने की वस्तु है।

शास्त्रीय उपदेशों का अब तक शुद्ध भाव से आचरण न होने के कारण सर्वसाधारण में वे निरर्थक प्रतीत हुए हैं। किन्तु आज वे आपके जीवन में ज्वलन्त भाव से आचरित और प्रचारित होने से उनकी सार्थकता हृदयंगम होती है। आप ही एक मात्र आचार्य हैं, जिनके अभाव का अनुभव भारत बहुत दिनों से कर रहा था।

आपकी उपस्थिति से आज द्राविड़ देश धन्य हुआ है। जो द्राविड़ देश बहुत दिनों से सनातन शास्त्र की आलोचना का आश्रय-स्थल है, वही द्राविड़ देश दीर्घकालव्यापी वेदालोचना की सार्थकता को आज अपने भीतर अनुभव करेगा। सभ्यता के नाम से इन्द्रिय सुखान्वेषण में उच्छृंखल जीवन यापन के विदेशी प्रभाव को बाधा देने में समर्थ होने से दाक्षिणात्यवासी धन्यवाद के योग्य हैं। प्राचीन शिक्षा और साधना, जिसने उनके जीवन और अनुशीलन को अक्षुण्ण रक्खा है उसी शिक्षा और साधना की साक्षात मूर्ति आपको पाकर दक्षिण भारत क्या अपनी महिमा की उपलब्धि नहीं करेगा? आचार्य चतुष्टय के आनुगत्य से सात्वत संप्रदाय के प्रभाव से प्रभावित दक्षिण देश ने वर्तमान में आपकी अप्राकृत वाणी ग्रहण करके निश्चय ही उसका अनुशीलन करने में समर्थ होकर अपनी बहुकाल की साधना को सार्थक किया है।

कुछ एक जड़भोगवादी अपसंप्रदायों के प्रादुर्भाव से दाक्षिणात्य देश कुछ समय के लिए कलुषित हो गया देख कर हम लोगों ने अत्यन्त दुःख का अनुभव किया था। किन्तु आप की वर्तमान अवस्थिति ने दक्षिण देश के निवासियों को परम पवित्र कर दिया है और वे आपकी चैतन्य-वाणी को हृदयंगम करके अपधर्म तथा वैदिक सनातनधर्म के प्रभेद को समझने में समर्थ हुए हैं।

आपके पवित्र संस्पर्श से दूरवर्ती दाक्षिणात्यवासी लोग हमारे आत्मीय हो गए हैं और हम आशा करते हैं कि आप की कृपा के बल से ही बहुत शीघ्र समग्र विश्व वासियों को हम भ्रातृरूप से गले लगा सकेंगे। हम सर्वान्तःकरण से आप के श्रीपादपद्मों में प्रणत होते हैं। सौभाग्यशाली दक्षिणदेश वासी लोग आज आपकी पूजा कर रहे हैं यह देखकर हम आनन्द प्रकट करते हैं।

पितः! हम हर वर्ष अपने प्रियतम स्वधामगत श्री-जगबन्धु भक्ति रंजन प्रभु का स्मरण करते हैं। वह गत वर्ष इस मठ में आपके श्रीपादपद्मों की पूजा करने की तीव्र आकांक्षा हृदय में पोषण करते थे। किन्तु उनकी यह आशा पूर्ण होने के पहले ही भगवान श्रीगौरसुंदर ने उनको आत्मलीन कर लिया। आप अनुगत जनों की वासना परिपूर्ण करनेवाले हैं। श्रीजगबन्धु भक्तिरंजन की पवित्र स्मृति से विमंडित इस मठ में आप के श्रीपादपद्मों में अर्घ्य अर्पण करने की—उनकी आन्तरिक कामना पूर्ण करने की दृढ़ आशा हम अपने अन्तर में क्या पोषण नहीं कर सकते?

भवदीय श्रीपदाश्रित
श्रीगौड़ीय मठ के सेवकवृन्द

६

["नली का बैल" लेख से संयुक्त]



संन्यासी महाराज कृष्ण-नाम का कीर्तन करते करते उठकर चल दिए। कामिनी की अवस्था न सोने की थी और न जागने की। पृथ्वी पर नज़र गड़ाए यह न जाने क्या क्या सोच रही थी, इसी कारण संन्यासी के जाने पर ध्यान नहीं दे सकी। कन्या मनोमोहिनी ने संन्यासी के पीछे पीछे जाकर बाहर का सदर दरवाज़ा बंद कर लिया; तब उसके जी में जी आया। उसने अपने मन में कहा—कुशल हुई जो संन्यासी बाबा चले गए। बाप रे! कैसा अद्भुत संन्यासी है! मेरे पिता का घर छुड़ा दिया और माता को पागल बना गया! मैया रे! क्या हुआ! अब मैं कभी इसे दरवाज़ा नहीं खोलूँगी।

यही सोचते मन्नी ने भीतर आकर मा से जैसे कुछ कहना चाहा, वैसे ही सदर दरवाज़े की ज़ंजीर कोई ज़ोर ज़ोर से खटखटाने लगा। वह शब्द सुनते ही मन्नी चौंक पड़ी। सोचने लगी, शायद वही संन्यासी फिर आया है। हाय! अब क्या करूँ? किन्तु शब्द वह इतने ज़ोर से होने लगा कि मन्नी से रहा न गया—उसे अधिक सोचने का अवसर ही नहीं मिला। वह कह उठी—कौन है?

बाहर से उत्तर आया—मैं नटवर गोसाईं हूँ। दरवाज़ा खोल दे मन्नी!

नाम और कण्ठस्वर सुनकर मन्नी विह्वल होगई अपनी माता का आँचल पकड़कर खींचती हुई बोली—मा! ओ मा! गोसाईं जी आए हैं! सुनती नहीं हो? प्रभु आए हैं।

कामिनी जैसे चौंक पड़ी। उसने कन्या के मुख की ओर ताककर कहा—क्या कहा मन्नी, कौन आया है? प्रभु आए हैं? मेरे स्वामी आए हैं?

इतना कहकर कामिनी बेहोश होकर वहीं गिर पड़ी।

इधर बार बार ज़ोर-ज़ोर से ज़ंजीर खटखटाने और पुकारने से अस्थिर होकर मन्नी ने जाकर दरवाज़ा खोल दिया। देखा, सामने नटवर गोसाईं खड़े हैं, और उनके साथ पुजारी कार्तिक चन्द्र भी है। मन्नी ने प्रभु को अर्थात् गुरु महाराज को प्रणाम किया।

उधर उस गली की दूसरी लाइन के सामने वाले मकान के बरामदे में दो युवक खड़े हुए यह सब तमाशा देख रहे थे। गोसाईं जी की वेषभूषा पर ही उनका विशेष लक्ष्य था। उन युवकों में एक का नाम था अक्षज और दूसरे का अधोक्षज।

अधोक्षज ने अक्षज से कहा—क्यों भाई, यह आदमी कौन है जी? सिर पर घूँघरवाले बाल तेल से तर हैं। बीच में माँग निकली हुई है। मुँह पर "बटर फ्लाई" फ़ैशन की मूछ है। मस्तक पर उज्ज्वल तिलक का छापा है। गले में महीन दानों की तुलसी-माला है। हाथ में मलाका बेंत की छड़ी है। शरीर पर बूटीदार महीन मलमल का ढीली आस्तीन का कुर्ता है। दूसरे हाथ में चाँदी की बनी बढ़िया इलायचदानी है। मन्नी ने देखते ही कहा—आइए प्रभु जी! पालागन। मामला क्या है जी?

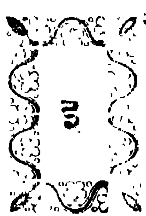
अक्षज ने कहा—मामला क्या है भाई, कुछ नहीं। इन महाशय को तुम नहीं पहचानते? यह गोस्वामी प्रभु हैं। यह प्रभु-सन्तान कालीदास बाबू के कुलगुरु हैं। बड़े भले आदमी हैं। इस मोहल्ले में इनके बहुत से शिष्य हैं। यह जैसे अमायिक हैं, वैसे ही मधुरभाषी भी। गाने-बजाने में बड़े निपुण हैं। चाहे यात्रामण्डली का खेल हो, चाहे थिएटर हो और चाहे घुड़दौड़ हो, सब में समान निपुण हैं। उधर धर्म-जगत में भी खूब अग्रसर हैं। घर में ४०० वर्ष की पुरानी ठाकुर जी की मूर्ति की सेवा करते हैं। छप्पन पीढ़ी के वैष्णव हैं। दोलयात्रा, दुर्गोत्सव आदि सभी पर्व मनाते हैं। बारहो महीने इनके यहाँ धर्म की धूमधाम लगी ही रहती है। अभी उस दिन इन्होंने पिता के श्राद्ध में बहुत धन ख़र्च कर डाला है। नटवर प्रभु गोसाईं प्रसिद्ध पुरुष हैं। इनका नाम कौन नहीं जानता? बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम इनके बारे में कुछ नहीं जानते! आओ, मैं तुमको इनके साथ परिचित करा दूँ—इनके साथ तुम्हारी बातचीत करा दूँ।

अधोक्षज चुपचाप अक्षज की बातें सुनता रहा। उसके बाद धीरे धीरे बोला—भैया! तुम्हारी कोई भी बात मेरी समझ में तो नहीं आई। तुम जिन के साथ मेरा परिचय

कराना चाहते हो, पहले उनके बारे में दो एक बातें मैं जान लेना चाहता हूँ। मुझे बतलाओगे क्या ? अगर बतलाने को कहो तो आओ, भीतर आकर बैठो।

इधर नटवर प्रभु कालीदास की सहधर्मिणी कामिनी के निकट आकर उपस्थित हुए। प्रभु के दर्शन करके कामिनी की कामना जाग उठी। कालीदास के वियोग की आग पूर्ण वेग से प्रज्वलित हो उठी। वह चिल्लाकर रोती हुई प्रभु के पैरों पर गिरकर विलाप करने लगी। प्रभु के स्निग्ध शीतल चरण कमलों को अपने तप्त हृदय में धारण करके कामिनी अपनी कामना की अग्नि में आहुति डाल रही थी, इसी समय एकाएक बाहर दरवाज़े पर किसी ने पुकारा—कौन है ?

आनन्द कहाँ है ?



इस संसार में सर्वत्र निरानन्द का भाव है। जन्म, मरण, जरा, बाल्य, कौमार, यौवन और वृद्धावस्था इत्यादि दशान्तर हैं और सुख, दुःख, हर्ष, शोक इत्यादि भावान्तर ये सब सांसारिक निरानन्द के लक्षण हैं।

मनुष्य की दैववशात् उन्नति और अवनति का कारण क्या है ? परिवर्तन उसका कारण है। फूल जब विकसित होता है, उस समय चारों ओर अपनी सुगन्ध फैलाता है और मनुष्य की नासिका आनन्द का अनुभव करती है। किन्तु वह कितने समय तक ? घड़ी ही भर में उसके दशान्तर और भावान्तर दिखाई देते हैं। जब फूल की पंखुड़ी गिर जाती है, तब उसकी सुगन्ध चली जाती है।

जीव जन्म-ग्रहण करके भाग्य की सहायता से उन्नति के उच्च शिखर पर चढ़कर चारों तरफ अपने गौरव को फैला रहा है, जिसमें बहुत से मनुष्यों का मन और प्राण विपुल पुलक से आनन्दित हो रहा है। किन्तु वह कितनी देर तक ? काल के स्रोत में एक तरङ्ग आकर उनको बहा ले जाती है और उसी समय उनका अन्त हो जाता है।

मनुष्य कहते हैं कि वे सुवर्ण के संसार में, धन में, मान में, कुल में, शील में, सर्वाङ्ग में उज्ज्वल हैं। स्थूलदर्शी हम लोग मन में सोचते हैं कि वह मनुष्य नित्य सुख में और नित्य आनन्द में रहता है ! किन्तु विशेषरूप से देखने में उनके सुख और सब आनन्द नित्य नहीं हैं। वर्षाऋतु के आकाश के तुल्य किसी समय अन्धकार और किसी समय प्रकाश दिखाई देता है। चपला जिस प्रकार क्षण-मात्र अपना स्वरूप प्रकाशित कर जगत् को चमत्कृत करती है और उसके पश्चात् क्षणमात्र में ही अन्धकार कर मनुष्य की आँखों को अँधेरे से ढक देती है, उसी प्रकार जीव की अवस्था प्रकाश और अन्धकार के तुल्य है।

जिस संसार में जन्म है, मरण है, यौवन है, वार्धक्य है, वसंत है, ग्रीष्म है, जरा है, विष है, अमृत है, उजेला है, अँधेरा है, भोग है, रोग है, ऐसे द्वन्द्वपूर्ण संसार में जीव के सुख का विषय क्या है ?

भगवान् का अनुसरण करने से निरवच्छिन्न आनन्द का अधिकार हो सकता है। योगीगण परमानन्द-रस-पान में उन्मत्त होकर इन्द्र की पदवी को भी तुच्छ जानते हैं।

महर्षि शतकर्णि भगवान के अनन्यभक्त थे। वह माता-पिता के एकलौते पुत्र थे। अतः उनके प्राणों के प्यारे थे। पुत्र के क्षण-मात्र अदर्शन में जनक-जननी प्रलय-ज्ञान करते थे। किन्तु शतकर्णि

परमानन्द-रस-पान में इतने उन्मत्त थे कि उन्होंने अपने जनक-जननी के स्नेहपाश को तोड़कर निर्जन अरण्य में आश्रय प्राप्त किया था।

भगवान् के स्मरण, मनन, चिन्तनादि में प्रवृत्त होने से अकथनीय आनन्द-लाभ होता है। संसार की कोई वस्तु उसके तुल्य आनन्दप्रद नहीं होती, अथवा किसी वस्तु के साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती।

भगवत्-भक्त किसी समय शोकादि के वशीभूत नहीं होता। वे लोग शोक व विपत्ति में परमानन्द का अनुभव करते हैं। शोक पर शोक, विपत्ति पर विपत्ति महासागर के उत्ताल तरङ्ग विस्तार की तरह होने पर भी भगवत्-भक्त किञ्चिनमात्र भी हृदय में शोक नहीं करते।

राजा वेन ने दुर्भाग्यवश सुमन्त-नामक किसी भक्त को बड़े गहरे कूप में फेंक दिया था; किन्तु वह उससे किञ्चिनमात्र दुःखित नहीं हुए थे। परमानन्द में मग्न होने के कारण उनको लेशमात्र भी भय नहीं हुआ था।

अतएव सिद्ध होता है कि आनन्द जड़ जगत् की जड़ वस्तु में नहीं है, वह केवल चिद् अनुशीलन या चिद् वस्तु में है। इसके उदयमात्र से समुदय सन्ताप हट जाता है, समुदय विपत्ति विदूरित हो जाती है। हृदय के अभ्यन्तर से अमृत-उत्साह प्रवाहित होता है और आत्मा के एक मृत-भाव का भावान्तर आ जाता है।

श्रीमायापुर-पूर्णचन्द्रोदय

(दशम संख्या से संयुक्त)



श्री गौर नारायण ने अब की गृहस्थ लीला प्रकट करने की अभिलाषा की। तब श्रीवनमाली घटक ने जैसे दैव की प्रेरणा पाकर ही शची देवी से वल्लभाचार्य की कन्या लक्ष्मी देवी के साथ गौर-सुन्दर के विवाह का प्रस्ताव निवेदन किया। शुभ दिन और शुभ लग्न में गौर-लक्ष्मी की विवाह लीला सुसम्पन्न हो गई।

एक दिन श्रीमाधवेन्द्रपुरी के शिष्य श्रीईश्वर पुरी नवद्वीप में आकर अद्वैत के घर में ठहरे। गौरसुन्दर के साथ ईश्वर पुरी की रास्ते में भेंट हुई और गौरसुन्दर ने उन्हें भिक्षा-निमंत्रण देकर अपने भवन में भोजन कराया। पुरीपाद के साथ नानाविध कृष्ण प्रसंगों की आलोचना आपने की। एक दिन ईश्वर पुरी ने स्व रचित श्रीकृष्ण लीलामृत नाम ग्रन्थ का संशोधन कर देने के लिए प्रार्थना की तो महाप्रभु ने कहा कि श्रौतपंथी शुद्ध वैष्णव की रचना में और श्रौत बातों में किसी प्रकार का दोष नहीं रह सकता। जो अक्षज-ज्ञान-प्रमत्त व्यक्ति उस में दोष प्रदर्शन करते हैं वे निश्चय ही पाखण्डी हैं।

एक समय श्रीगौर-सुन्दर ने वायुव्याधि के बहाने से प्रेम प्रकट किया।

एक दिन महाप्रभु नवद्वीप नगर का भ्रमण करने को निकले और तन्तुवाय (जुलाहे), गोप, गन्धवणिक, माली, तमोली, शंखवणिक आदि नगरवासियों के घरों में पहुँचकर, उनके दिए हुए पदार्थों को स्वीकार करके उन पर कृपा की। उसके बाद एक ज्योतिषी के घर में उपस्थित होकर उनसे अपने पूर्वजन्म का हाल बतलाने के लिए कहा। ज्योतिषी ने गोपालमंत्र का जप करके जब गणना करना आरंभ किया तो वह चतुर्भुज, द्विभुज आदि भगवान के रूपों को देखने लगे। इसके बाद महाप्रभु ने श्रीधर के घर जाकर उनके साथ नाना प्रकार से प्रेम कलह किया और श्रीधर के बाग से नित्य फल-मूल आदि बिना मूल्य मिलने की उनसे प्रतिज्ञा कराई।

अब महाप्रभु अध्यापक शिरोमणि के रूप से नवद्वीप में

शोभायमान हुए। सरस्वती देवी से वर पाकर एक पंडित दिग्विजय करने निकला था और सब देशों के पण्डितों को परास्त करके नवद्वीप से विजयपत्र ग्रहण करने की इच्छा से वह नवद्वीप में आकर उपस्थित हुआ। एक दिन महाप्रभु अपने विद्यार्थियों के साथ गंगा के किनारे बैठे थे, इसी समय वह दिग्विजयी पंडित उस सभा स्थान में आकर उपस्थित हुआ। महाप्रभु ने उससे गंगा की महिमा का सूचक एक स्तव रचकर सुनाने के लिए कहा। उस दिग्विजयी विद्वान ने दम भर में एक स्तव की रचना कर डाली और उसे आँधी की तरह तेज़ी से पढ़ने लगा। सरस्वती पति महाप्रभु ने दिग्विजयी के पढ़े हुए स्तव में शब्दों और अलंकारों के बहुत से दोष दिखला दिए। दिग्विजयी पंडित परास्त हो गया। रात को दिग्विजयी ने स्वप्न में देख पाया कि सरस्वती देवी उसके निकट उपस्थित होकर कह रही हैं कि—"निमाई पंडित मेरे प्रभु हैं। मैं प्राकृत सरस्वती हूँ—उनकी बहिरंग-शक्ति हूँ—उनकी अन्तरंग-शक्ति शुद्धा सरस्वती की छाया मात्र हूँ। मैं नारायण के सम्मुखस्थ नहीं हो सकती, केवल उनके अपाश्रित भाव से अवस्थान करती हूँ। तुम शीघ्र ही गौरनारायण के शरणागत होओ।" उसके दूसरे दिन प्रातःकाल ही दिग्विजयी पंडित ने महाप्रभु से ये सब बातें कहीं, तो महाप्रभु ने उसे कृष्ण भजन का उपदेश दिया और यह बतलाया कि विष्णु और वैष्णवों की सेवा ही विद्या का फल है।

इसके बाद अर्थ-संचय के बहाने से अध्यापकवर निमाई पंडित पूर्वबंग में गए और वहाँ जाकर सर्वत्र नाम-संकीर्तन का प्रचार करने लगे। उनकी विद्या का प्रभाव देखकर सैकड़ों विद्यार्थी दूर-दूर से आकर उनसे पढ़ने लगे। इसी समय उस देश में तपन मिश्र नाम के एक ब्राह्मण जब से नाना शास्त्रों और नाना मुनियों के नाना मतों से यथार्थ साध्य-साधन-तत्त्व के निर्णय में असमर्थ हुए, तब स्वप्न में आदेश पाकर महाप्रभु के निकट उपस्थित हुए। प्रभु ने तपन मिश्र को यही उपदेश दिया कि हरिनाम संकीर्तन ही एकमात्र साध्य और साधन है और काशी जाने की आज्ञा दी। महाप्रभु ने पूर्वबंग से लौटकर सुना कि उनके विरह में लक्ष्मी देवी ने वैकुंठ-विजय किया। तब उन्होंने लोकानुकरण करते हुए दुःख प्रकट किया तथा अपनी माता को संसार की अनित्यता के सम्बन्ध में उपदेश दिया।

गौरसुंदर अगर किसी विद्यार्थी के ललाट में तिलक न देखते थे तो उसे सबसे पहले तिलकादि सेवा के लिए घर भेज देते और कहते थे कि "तिलक हीन कपाल श्मशान-सदृश होता है।" इसके उपरान्त नवद्वीपवासी राजपण्डित श्रीसनातन मिश्र की कन्या श्रीविष्णुप्रिया देवी के साथ शुभ दिन और शुभ लग्न में महाप्रभु की पुनः विवाह-लीला संपन्न हुई। बुद्धिमन्त खान नाम के एक सुकृतिशाली व्यक्ति ने लक्ष्मी नारायण की इस विवाह लीला का सारा व्यय-भार आप वहन किया।

इसके बाद सेवोन्मुख जनों के निकट तुलना द्वारा यह प्रचारित करने के लिए कि गुरु वैष्णव-चरण-प्रपत्ति ही जीवों का एक मात्र नित्य-धर्म है; तीर्थ भ्रमण आदि का फल केवल मात्र साधुसंग-लाभ है; साधुचरणों में आत्म-समर्पण पूर्वक कृष्णभजन ही एक मात्र कर्तव्य है; साधुगण ही एक मात्र परम तीर्थस्वरूप हैं; साधुजनों का दर्शन-मात्र ही कोटि-कोटि पिण्डदानों से अनन्तगुना श्रेष्ठ है तथा जबतक जीव यथार्थ वैष्णव सद्गुरु का पता पाने का सौभाग्य-लाभ नहीं करता, तभी तक नाना प्रकार के काम्य कर्मों में उसकी रुचि रहती है—श्रीगौरसुन्दर ने ज्वर लीला प्रकट करके काम्य कर्मी की तरह विप्र पादोदक पान का अभिनय, गया यात्रा करके पिण्डादि प्रदान का अभिनय, उसके उपरान्त गदाधर भगवान के पादपद्मों का दर्शन, ईश्वर पुरी के साथ भेंट और उनके निकट आत्मसमर्पण, दशाक्षर-मंत्र ग्रहण आदि परम शिक्षाप्रदायिनी लीलाओं का आविष्कार किया।

अब प्रभु के अपने को प्रकट करने का समय उपस्थित हुआ। गया जी से लौटकर महाप्रभु ने भाव-परिवर्तन-लीला का आविष्कार किया। पहले की वह चपलता, औद्धत्य, विद्या-विलास का गर्व, आस्फालन जैसे गायब हो गया। दो चार जन भक्तों के साथ एकान्त में गया का विवरण वर्णन करते-करते आप 'कृष्ण' 'कृष्ण' कह उठते और अश्रु-गंगा में स्नान करने लगते थे। कम्प, क्षण-क्षण भर पर दीर्घ श्वास और कृष्ण-कथा के सिवा और कोई बात न करना—ये सब लक्षण दिखलाई पड़ने लगे। विद्यार्थियों को सूत, वृत्ति, टीका की व्याख्या समझाते-समझाते कृष्ण-नाम की व्याख्या करने लगते—सभी शास्त्रों में कृष्ण नाम के सिवा और कोई बात नहीं है—यही बात सबसे कहते। कभी भगवान् कपिल देव के भाव से माता शची देवी को जीव के गर्भवास आदि के दुःख बतलाते और

साधुओं के साथ हैर घड़ी कृष्ण के नाम लेने का उपदेश देते। विद्यार्थी लोग धातुओं की संज्ञा पूछते तो प्रभु धातु को श्रीकृष्ण की शक्ति कह कर व्याख्या करते, विद्यार्थियों को अन्य चर्चा छोड़कर निरन्तर कृष्ण नाम-कीर्तन का आदेश करते तथा संकीर्तन की शिक्षा देते थे। कभी लोक में वैष्णव सेवा की शिक्षा देने के लिए वैष्णवों की नाना विध दैन्य परिचर्या करने की लीला दिखलाते। कभी भक्तों के आशीर्वाद और वैष्णवों की चरणरज शिर पर धारण करने की लीला दिखलाकर इस बात का प्रचार करते कि एक मात्र वैष्णवों की कृपा से ही श्रीकृष्णभजन का लाभ हो सकता है।

इसी तरह गया में संन्यास-वेषधारी श्रीईश्वर पुरी के निकट कृष्णमन्त्र की दीक्षा लेने की लीला के बाद से ही महाप्रभु ने भावपरिवर्तन लीला तथा प्रेम प्रकट करके यह जनाया कि कृष्णतत्त्व को जाननेवाला पुरुष ही केवल गुरु होने के योग्य है, वह चाहे संन्यासी का वेष धारण किए हो और चाहे नीच-कुल में उत्पन्न हो, यह नहीं विचारना चाहिए, तथा सद्गुरु के पास से दिव्य ज्ञान या कृपा प्राप्त करने के बाद शिष्य का संपूर्ण पहले का इतिहास परिवर्तित हो जाता है एवं निरन्तर हरि-कथा के श्रवण और कीर्तन के सिवा उसका और कोई कृत्य नहीं रह जाता। प्रभु गया से नवद्वीप में आकर सर्वत्र प्रेम का प्रचार करने लगे।

एक दिन श्रीगौरसुन्दर ने श्रीवास के भवन में विष्णु-खट्वा के ऊपर बैठकर कहा कि शची देवी ने श्रीअद्वैताचार्य के निकट अपराध किया है; सुतराम् वैष्णवापराध क्षमापन न होने तक उन्हें किसी तरह प्रेम भक्ति का लाभ न होगा। श्रीविश्वरूप के संन्यास ग्रहण कर लेने से वात्सल्य-रस-रसिका शची देवी ने ऐसा कहा था कि श्रीअद्वैताचार्य ने ही उनके हृदय में वैराग्य का उदय कराया है। भक्तगण जब अद्वैत प्रभु को ले आए तो श्रीअद्वैताचार्य "आई" के माहात्म्य का कीर्तन करते-करते प्रेमाविष्ट हो पड़े। शची देवी ने भी उसी अवसर में अद्वैताचार्य की चरण-रज ग्रहण करके अपराध क्षमा करने की भिक्षा माँगी। इस लीला के द्वारा महाप्रभु ने यह दिखलाया कि वैष्णवापराध रहने पर किसी को भी प्रेम भक्ति का लाभ नहीं हो सकता।

एक दिन अद्वैताचार्य ने श्रीवास-भवन में महाप्रभु से श्रीकृष्ण लीला का विश्वरूप दिखलाने के लिए कहा। तब महाप्रभु ने अद्वैताचार्य को विश्वरूप दिखलाया। और एक दिन श्रीवास-गृह में भक्तगण ने सम्मिलित होकर महाप्रभु का अभिषेक किया। महाप्रभु ने विष्णुखट्वा में बैठकर अपना राजराजेश्वर ऐश्वर्य प्रकट किया। जिसकी जो अभिलाषा थी उसको वही वर महाप्रभु देने लगे।

श्रीगौरसुन्दर के द्वितीय देह स्वरूप अभिन्न-रोहिणीनन्दन श्रीनित्यानन्दजी वीरभूम ज़िले के एक चक्राग्राम में ही हाड़ाई पण्डित के घर पद्मावती के गर्भ से उदित हुए। नित्यानन्द की बाल्यकाल लीला में ही एक वैष्णव संन्यासी ने अतिथि रूप से उपस्थित होकर हाड़ाई पण्डित के निकट से नित्यानन्दजी को भिक्षा में माँग लिया। तभी से संन्यासी के साथ नित्यानन्दजी बहुत देशों का भ्रमण करते करते मथुरा-मण्डल में आकर बहुत दिन रहे। महाप्रभु के आकर्षण से नित्यानन्द नवद्वीप में आकर नन्दन आचार्य के घर में गुप्त रूप से रहने लगे। महाप्रभु ने यह जानकर नित्यानन्द को अपने स्थान में लाकर रक्खा।

इसी समय महाप्रभु ने ठाकुर हरिदास और नित्यानन्द प्रभु को नवद्वीप के नगर-नगर और घर घर में कृष्णनाम का प्रचार करने में नियुक्त किया। एक दिन नित्यानन्द प्रभु गृह गृह में नाम का प्रचार करके रात्रि के समय महाप्रभु के घर की ओर लौट रहे थे, इसी समय जगाई, मधाई नाम के दो शराबी ब्राह्मणों से उनकी भेंट हो गई। ये दोनों व्यक्ति शाक्त-ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होने पर भी सुरा-पान, गोमांसभक्षण, परस्वापहरण और परस्त्रीगमन आदि जितने प्रकार के महापातक हो सकते हैं, वे सभी करते कराते थे। हर घड़ी मद्यप-समाज के बीच रहने के कारण इन दोनों ब्रह्मबन्धुओं को केवल वैष्णव-निन्दारूप अपराध करने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ था। असीम पर-दुःख-दुःखी पतित-पावन नित्यानन्द और हरिदास ठाकुर ने जगाई-मधाई पर कृपा करने का इरादा किया। नित्यानन्द प्रभु जैसे उन दोनों पर कृपा करने के लिए ही बहाने से उस दिन रात को विचरण कर रहे थे। जगाई मधाई ने नित्यानन्द प्रभु को देख पाया। मधाई ने अवधूत नाम श्रवण करते ही क्रोधोन्मत्त होकर नित्यानन्द प्रभु के सिर पर मुटकी (कलसी का टूटा हुआ सोहाग) खींच मारा। यह देखकर जगाई ने मधाई को ऐसा कार्य करने से रोकने की चेष्टा की। इसी समय महाप्रभु सांगोपांग-सहित उस जगह आकर उपस्थित हुए। उन्होंने क्रोध से सुदर्शन-चक्र का जब आवाहन किया, तब नित्यानन्द ने महाप्रभु से कहा—जगाई ने मेरी रक्षा की है, उसे क्षमा

करना चाहिए। महाप्रभु जगाई के ऊपर प्रसन्न हुए। इससे मधाई का चित्र भी परिवर्तित हो गया। नित्यानन्द प्रभु ने मधाई को क्षमा कर दिया। वे दोनों अत्यन्त अनुतप्त हुए और जीवन में फिर कभी कोई कृष्णसेवा से भिन्न कार्य न करने की प्रतिज्ञा की। इससे उनके ऊपर महाप्रभु और भक्तों की कृपा हुई। महाप्रभु की कृपा से ये दोनों दस्यु भी महाभागवत हो गए। इनके पूर्व चरित को स्मरण करके भविष्य में इनका कोई अनादर न करे—ऐसी महाप्रभु ने भक्तों को आज्ञा दी। महाप्रभु ने अगणित ब्राह्मण-कुलीन-परिपूर्ण नदिया-नगर में यवनकुल में अवतीर्ण हरिदास ठाकुर के द्वारा नाम प्रचार का आदर्श और नित्यानन्द के द्वारा जगाई-मधाई की उद्धार-लीला प्रकट करके यह जनाया कि निखिल ब्राह्मणकुलगुरु वैष्णवाचार्य का विचार प्राकृत जाति-कुल के द्वारा नहीं करना चाहिए। वह अप्राकृत वस्तु—जगद्गुरू हैं। और यह भी जनाया कि सब प्रकार के अपराधों की क्षमा है—किन्तु वैष्णवापराध क्षमा करने की सामर्थ्य भगवान में भी नहीं है। वैष्णवापराधनिर्मुक्त व्यक्ति पर ही नित्यानन्द प्रभु और महाप्रभु कृपा करते हैं।

प्रति रात्रि को महाप्रभु श्रीवास पण्डित के घर में दरवाज़ा मूँदकर सांगोपांग सहित निरन्तर कीर्तनानन्द का आस्वादन करने लगे। पाषण्डगण वहाँ प्रवेश का अधिकार न पाकर श्रीवास पण्डित का अपमान करने की अनेक प्रकार से चेष्टा करते थे। "गोपाल चापाल" नामक एक ब्राह्मण ने देवी पूजा का सामान और एक मद्य-भांड बंद दरवाज़े के बाहर रख गया था। इसी वैष्णवापराध से उसके गलित कुष्ठ का रोग हो गया। असह्य यंत्रणा से कातर होकर महाप्रभु से उसने कृपा की भिक्षा माँगी। परन्तु उसके अपराध का भारीपन ख़याल करके उस समय महाप्रभु ने उसे क्षमा नहीं किया। महाप्रभु संन्यास-ग्रहण करने के बाद नीलाचल से लौटकर जब कुलिया में विराजमान थे, उस समय फिर "चापाल गोपाल" महाप्रभु की शरण में आया। तब श्रीमहाप्रभु ने उससे श्रीवास पण्डित को सन्तुष्ट करने के लिए कहा। श्रीवास की कृपा से "गोपाल चापाल" का अपराध भंजन हो गया।

बहिर्मुख-दुःसंग परित्याग और अनधिकारी व्यक्तियों के प्रवेश को मना करके अधिकारी साधुजनों के साथ हरिकीर्तन के आदर्श की शिक्षा दिखलाने के लिए एक दिन रात्रि को महाप्रभु श्रीवास पंडित के घर में द्वार बंद करके कीर्तन कर रहे थे। श्रीवास की सास कीर्तन गृह में छिपी हुई देख रही थी। अन्तर्यामी महाप्रभु ने यह जानकर कीर्तन में अपने उल्लास न होने की लीला सूचित की। कोई बहिर्मुख आदमी निश्चय ही कहीं छिपा है ऐसा विचार करके श्रीवास ने बड़ी खोज के बाद घर के एक कोने में लुकी हुई अपनी सास को देख पाया और उनके बाल पकड़कर वहा से निकाल देने की आज्ञा दी।

किसी एक पूर्णिमा रजनी में महाप्रभु के आदेश से श्रीनित्यानन्द प्रभु ने व्यास-पूजा करने का संकल्प किया। तब श्रीवास पण्डित व्यासपूजा के आचार्य हुए। संकीर्तन करते-करते श्रीनित्यानन्द प्रभु ने संपूर्ण पुष्पमालाएँ महाप्रभु के कंठ में अर्पण कर दीं। गौरसुन्दर ने नित्यानन्द प्रभु के निकट षड्भुज मूर्ति प्रकट की।

इसी प्रकार महाप्रभु नवद्वीप में नानाविध ऐश्वर्य प्रकट करते रहे। महाप्रभु के आकर्षण से चट्टग्राम-निवासी वैष्णव परमहंस-मुकुटमणि श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि का नवद्वीप में आगमन और महाप्रभु के साथ मिलन हुआ। महाप्रभु ने एक दिन श्रीवास के भवन में विष्णुखट्वां के ऊपर बैठकर अद्भुत ऐश्वर्य प्रकाशित किया। यह अद्भुत भाव सात पहर तक प्रकट रहने से उसे भक्तगण सातप्रहरिया भाव या महाप्रकाश कहते हैं। प्रभु के इस सप्त प्रहर भाव के समय महाप्रभु के अभिषेक के लिए जल लानेवाली दुःखी नाम की एक भाग्यवती दासी को महाप्रभु ने सुखी नाम दिया और श्रीधर का महत्त्व प्रकाशित किया। प्रभु ने हरिदास के प्रति प्रसाद-वितरण किया।

(क्रमशः)

ब्रह्मण्यदेव

ब्रह्मण्य शब्द का अर्थ है ब्राह्मण सम्बन्धी। जो ब्राह्मण का एकमात्र सम्बन्ध या विषय वस्तु हैं, वही ब्रह्मण्यदेव हैं। हम शान्तिपर्व में विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्र में देख पाते हैं—

ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद्ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मविवर्द्धनः।
ब्रह्मविद् ब्राह्मणो ब्रह्मी ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणप्रियः॥

ब्रह्मनिष्ठ या ब्रह्मज्ञ पुरुष ही ब्राह्मण है। ब्राह्मणप्रिय पुरुष ही ब्रह्मण्यदेव हैं अर्थात् भजनशील या सेवारत जन ही भक्त हैं और भक्तप्रिय भगवान् हैं।

श्रीआह्निकचन्द्रिका में लिखा है—

ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः।
ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः॥

देवकीपुत्र, मधुसूदन, पद्मपलाशलोचन, च्युतिरहित विष्णु ही ब्रह्मण्यदेव हैं।

ऋग्वेद कहता है कि उस विष्णु के परम पद का दिव्य सूरिगण सर्वदा दर्शन करते हैं—

ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततं विष्णोर्यत्परमं पदम्॥

इस ऋग्वेद के मंत्र के मूल में दृश्य, विषय या शक्तिमत्तत्त्व का एकत्व, द्रष्टा, आश्रय या शक्ति का बहुत्व और दर्शन क्रिया का नित्यत्व संस्थापित है।

ब्रह्मण्यदेव की पूजा कभी अब्राह्मण नहीं करता। शास्त्र कहता है—

"नादेवो देवमर्चयेत्।"

पूजक और पूज्य वस्तु समजातीय हुए बिना पूजा सिद्ध नहीं होती। पूजा करने में पूजक को पूज्य के सामने बैठना होता है और भूतशुद्धि क्रिया के द्वारा अपने स्वरूप का ध्यान करके पूजा में नियुक्त होना होता है।

पूज्य वस्तु दो मंज़िले पर और पूजक नीचे के खंड में अगर रहे तो सर्वाङ्गीन परिचर्या नहीं हो सकती। पूज्य वस्तु अगर दिव्य या अप्राकृत हो और पूजक यदि भूत प्रेत-स्थानीय हो तो पूजक पूज्य को भूत-प्रेत के रूप में ही देखता है और उसके द्वारा भूत प्रेत की पूजा ही सिद्ध होती है, दिव्य वस्तु की पूजा नहीं होती। यह स्वाभाविक है कि पूज्य और पूजक में परिमाणगत भेद रहे; किन्तु जातीयत्व में कोई भेद नहीं होना चाहिए। पूज्य और पूजक में परिमाण का भेद न रहने से पूजा की कोई सार्थकता नहीं रह सकती। उधर दोनों के एकजातीय या समजातीय हुए बिना पूजा का अधिकार मिलना भी असंभव होता है। अतएव उक्त वेदवाक्य का सिद्धान्त यह है कि पूजक और पूज्य समजातीय अर्थात् दोनों ही दिव्य या अप्राकृत वस्तु हैं। पूज्य विभु वस्तु होने के कारण पूजक का विषय है। पूजक अणु वस्तु होने के कारण विषय के आश्रित या अधीनतत्त्व है। पूजा रूपक्रिया नित्य है और पूज्य, पूजक तथा पूजा क्रिया के दिव्य समन्वय से एक अद्वयज्ञान है।

शूद्र अर्थात् जो शोक से अभिभूत है उसका विषय माया या जड़ाधिष्ठात्री देवी है। ब्राह्मण अर्थात् जो ब्रह्म जिज्ञासा परायण या सेवोन्मुख है, उसी का विषय ब्रह्मण्यदेव या मायाधीश भगवान हैं।

जीवमात्र सब ब्राह्मण हैं। "सर्वे ब्रह्मजा ब्राह्मणाश्च।" सभी ब्रह्म से उत्पन्न हैं। सभी जीवों को ब्रह्मण्यदेव की सेवा का अधिकार होने के कारण वे ब्राह्मण हैं। फिर सभी ब्रह्मण्यदेव से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण हैं। याज्ञवल्क्य संहिता में लिखा है—"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः नृमात्रस्याधिकारिता।" कारण, सभी स्वरूप में भगवान के दास हैं और स्वरूप-विचार से आत्मा में सभी ब्रह्मण्यदेव के नित्य उपासक ब्राह्मण हैं। नित्य स्वरूप के विस्मरण से जीव का द्वितीय अभिनिवेश उपस्थित होने पर जीव शोक से अभिभूत होता है। तभी वह शूद्र की संज्ञा से परिचित होता है। किन्तु सुषुप्ति के समय भी जैसे प्राणिमात्र की चेतन क्रिया नष्ट नहीं हो जाती, उसी तरह शोकाच्छन्न जीव के शूद्र संज्ञा प्राप्त करने पर भी उसका नित्य स्वरूपगत ब्रह्मण्यधर्म तिरोहित नहीं होता। जिस समय जीव फिर ब्रह्मण्यदेव की सेवा के प्रति उन्मुख वृत्ति से युक्त होकर ब्रह्मज्ञ आचार्य के निकट ब्रह्म जिज्ञासा के लिए पहुँचता है, तब वह ब्राह्मण के नाम से निर्दिष्ट होता है।

विष्णुपुराण (१।१९।६८) में हम को ब्रह्मण्यदेव के प्रति प्रणति की शिक्षा दी गई है—

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

इस श्लोक में पहले ही 'नमः' शब्द का प्रयोग देखा जाता है और अन्त में भी दो बार 'नमः' शब्द का उल्लेख मिलता है। शास्त्रकारों ने 'न' अक्षर को निषेध-सूचक और 'म' अक्षर को अहंकार-याचक कहकर व्याख्या की है। अर्थात् 'नमः' शब्द के द्वारा जीव संपूर्ण वस्तुओं के अहंकार को त्याग कर भगवान् की शरण में प्राप्त होता है। श्रीमद्-भागवत में बद्ध जीव के चतुर्विध अहंकार का उल्लेख किया गया है। उस-उस अहंकार से अभिभूत होने पर जीव ब्रह्मण्यदेव की कृपा ग्रहण करने में असमर्थ होता है।

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥

बद्धजीव का सर्वप्रथम अहंकार जन्म का होता है। जीव नित्य स्वरूप को भूलकर जब द्वितीय अभिनिवेश के वशी-भूत हो अपने को रक्त मांस की देह समझता है, तभी उसे जन्म का अभिमान उपस्थित होता है। इस प्रकार के अभि-मान से युक्त जीवों को वेद ने 'शूद्र' और भागवत ने "गोखर" कहा है।

दूसरा अभिमान ऐश्वर्य का होता है। भगवान् ही एक मात्र भोक्ता और सभी जीव उनके भोग्य हैं—यह सम्बन्ध ज्ञान आच्छादित होने पर ही ऐश्वर्यगत अभिमान की उत्पत्ति होती है।

तीसरा अभिमान पाण्डित्य का होता है। चौथा अभिमान सौन्दर्य का हुआ करता है। ये चार प्रकार के अहंकार ही शूद्र या शोककारी का धर्म हैं। ब्राह्मण का धर्म एक मात्र ब्रह्मण्यदेव की नित्य सेवा या आत्मधर्म भक्ति है। जैसा कि कल्किपुराण में लिखा है—

यो धर्मो ब्राह्मणानां हि सा भक्तिर्मम पुष्कला।

सुतराम् ब्राह्मण इन चारों प्रकार के अहंकारों को संपूर्ण-रूप से त्याग करके ब्रह्मण्यदेव के प्रति प्रणत होता है।

ब्रह्मण्यदेव परम कृपालु, उदार विग्रह, नित्य सर्वमंगल-कारी वस्तु के शुभचिन्तक हैं। वह साधुओं के पालक और पापियों का विनाश करनेवाले हैं। दुष्कृति करनेवाले जनों के प्रति दण्ड भी उनकी व्यतिरेक कृपा है। वह इसी प्रकार जगत् का हित किया करते हैं। वही श्रीकृष्ण, परमेश्वर और सब कारणों के कारणस्वरूप हैं। वही सर्वेन्द्रिय-पालक हृषीकेश या गोविन्द हैं। वही जीव के पुनः पुनः प्रणम्य हैं।

अभिन्न-श्रीकृष्णचन्द्र गौरसुन्दर ने लोक-शिक्षा के लिए श्रीजगन्नाथ देव के रथ के आगे यह श्लोक उच्चारण करके श्रीजगन्नाथ देव को दण्डवत् प्रणाम करके जीवों को प्रणिपात की शिक्षा दी है। उसके बाद जीव के शुद्ध स्वरूप और भगवान् के साथ सम्बन्ध का ज्ञान कराने वाले इस श्लोक का उच्चारण करके कहा है—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥

अर्थात् मैं शम-दमादि गुणसम्पन्न सद्गुण ब्राह्मण नहीं हूँ; प्रजापालक क्षत्रिय नरपति नहीं हूँ; गो-वाणिज्य कृषि आदि वृत्तियों से संपन्न वैश्य नहीं हूँ; अथवा त्रिवर्ण सेवक शूद्र भी नहीं हूँ। या मैं ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी भी नहीं हूँ। मैं एकमात्र सर्वेश्वर गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण के दासों का दासानुदास हूँ।

भगवद्भक्त कृष्णदास शुद्ध जीवात्मा है। वह प्रकृत वर्ण या आश्रम के अन्तर्गत नहीं है। जिसकी आत्मा प्रबुद्ध है, जो सेवोन्मुख या सेवारत है, वह निर्गुण ब्राह्मण है, अथवा उसके निर्गुण ब्रह्मण्य की चरम परिणति भक्तावस्था है। भक्त में जो लोग ब्राह्मणता का अभाव देखते हैं, जो लोग लक्ष मुद्रा में सहस्र मुद्रा का अभाव देखने का प्रयास करते हैं, वे मात्सर्यपरायण नास्तिक हैं।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।

चित् अचित् ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध ज्ञान का लाभ करके ब्राह्मण प्रज्ञा अर्थात् प्रेम-भक्ति का याजन करे। अब्राह्मण में भक्तिवृत्ति का उदय नहीं होता। शूद्र या शोकाच्छन्न जीव में जो मिथ्या-भक्ति देख पड़ती है, वह मायिक अनित्य वस्तु के प्रति रागमात्र है। अधोक्षज और अक्षर वस्तु के प्रति सेवा वृत्ति नहीं। इसी कारण वेद फिर कहते हैं

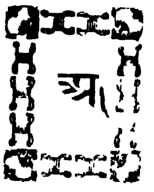
"एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः।"

हे गार्गी, उस अक्षर वस्तु के साथ सम्बन्धज्ञान-विशिष्ट न हो कर जो इस लोक से प्रयाण करता है, वह कृपण अर्थात् शूद्र है।

"अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः।"

और जो अक्षर वस्तु में सम्बन्धज्ञानयुक्त है, वही ब्राह्मण है। ब्राह्मण्य-लाभ करके श्रद्धा उदित होने पर ही जीव भक्त की पदवी में अधिरूढ़ होता है।

श्रेयः और प्रेयः



आत्मा में हितकर वस्तु ही श्रेयः-शब्दवाच्य है और आपात-मधुर या क्षणिक प्रीतिदायक वस्तु को प्रेयः कहते हैं। जीव की धारणा और आदर्श के अनुसार श्रेयः के प्रकार भी विभिन्न हुआ करते हैं। इसी कारण प्राच्य और पाश्चात्य दोनों प्रकार के दार्शनिकों में श्रेय विचार के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मत देख पड़ते हैं। मिल्, एपीक्यूरस् और चार्वाक आदि नास्तिकगण प्रेयः को ही श्रेयः के नाम से अभिहित करते हैं। शून्यवादीगण अचित् परिणति या निर्वाण को ही श्रेयः समझते हैं। अहंब्रह्मोपासकगण "स्वगत सजातीय विजातीय भेदरहित चिन्मात्र विज्ञान" को ही श्रेयः कहते हैं। आस्तिक भागवतगण भगवत्सेवा लाभरूप प्रयोजन को ही निश्चित श्रेयः जानते हैं। गौड़ीयगण के परम उपास्य श्रीकृष्णचैतन्यदेव ने श्रेयः कैरव-चन्द्रिका-वितरणकारी श्रीकृष्ण-संकीर्तन की विजय-घोषणा की है—

श्रेयः कैरवचन्द्रिका वितरणं—
परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥

परं शब्द के द्वारा अन्याभिलाष, कर्म, निर्विशेष ज्ञान कल्याण का उपाय नहीं है, परन्तु श्रीकृष्ण का सम्यक् कीर्तन ही जीव का परम श्रेयोविधायक है, यह बतलाया गया है। वही गौड़ीय के ठाकुर श्रीचैतन्यचरितामृत में राय रामानन्द के मुख से जीव के श्रेयः का निर्णय करते हैं—

श्रेयः बीच कौन श्रेय जीव का है सार।
कृष्णभक्त-संग विना श्रेय नहीं और ॥

भगवद्भक्तसंग, साधुसंग ही जीव के एकमात्र चरम कल्याण की सोपान है। श्रीभागवत (१।१८।१३) में लिखा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

निमेष कालमात्र भगवत्संगी के संग द्वारा जीव को जो असीम श्रेय का लाभ होता है, उसके साथ कर्मफल स्वर्ग या ज्ञानफल मोक्ष या मर्त्यजीव के आकांक्षित तुच्छ राज्य आदि की कुछ भी तुलना नहीं होती।

कठोपनिषद् में नचिकेता के उपाख्यान में श्रेयः और प्रेयः के सम्बन्ध की विशेष आलोचना की गई है। उद्दालाकि के पुत्र नचिकेता क्रुद्ध पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए यमगृह में जाकर अनशन पूर्वक यमराज से मिलने की अपेक्षा करने लगे। प्रत्यागत यमराज ने अतिथि का तेज देखकर उनका उपयुक्त सत्कार करके तीन वर माँगने के लिए उनसे कहा। नचिकेता ने तृतीय वर में आत्मा का स्वरूप जानना चाहा। यमराज ने नचिकेता को उस वर के बदले शतवर्षजीवी पुत्र, पौत्र, बहुपशु, हाथी, घोड़े, सुवर्ण, साम्राज्य, इच्छा मृत्यु, अप्सरा, उत्तम स्त्री और मनुष्यों के लिए प्रीतिप्रद सभी वस्तुएँ देना चाहा; किन्तु बुद्धिमान नचिकेता ने इन सब आपातप्रीतिकर क्षणिक वस्तुओं की नश्वरता जताकर यमराज के निकट बारंबार आत्मा का स्वरूप जानने की इच्छा ही प्रकट की। तब यमराज ने सन्तुष्ट होकर कहा—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्य मेतस्तौ
संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दोयोगक्षेमाद्वृणीते ॥

अर्थात् श्रेयः और प्रेयः दोनों ही पुरुष के आयत्ताधीन वस्तु हैं। बुद्धिमान व्यक्ति श्रेयः और प्रेयः इन दोनों वस्तुओं के तत्त्व को अच्छी तरह विचार करके श्रेयः को प्रेयः से पृथक् करके श्रेयः को ही ग्रहण करते हैं। मंदबुद्धि के लोग देहादि नश्वर वस्तुओं की रक्षा के लिए प्रेयः का ही वरण किया करते हैं।

श्रेयः और प्रेयः दोनों ही पुरुष के बन्धन का कारण हो सकते हैं—

"ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।"

प्रेयः जिस प्रकार क्षणिक भोगसुख प्रदान करके जीव की आत्मोन्नति में बाधा डालता है, श्रेयः भी उसी तरह आत्मा के चरम प्रयोजन के लिए उद्दिष्ट न होने पर आत्मविनाश का कारण होकर जीव का बन्धनस्वरूप हो जाया करता है। प्रोज्झितकैतव भक्तिधर्म ही चरम श्रेयः या निःश्रेयस-शब्दवाच्य है। श्रीभागवत में कहा है—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसंभवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्
निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

जीव लाखों जन्मों के बाद बहुत सुकृत के फल से अप्रत्याशित भाव से परम प्रयोजनसाधक इस अतिदुर्लभ मनुष्य जन्म को पाता है। किन्तु वह भी चिरस्थायी या बहुत दिनों तक रहनेवाला नहीं। कमलदल पर पड़े हुए जल बिन्दु की तरह चंचल और अनित्य है। मृत्यु हर घड़ी जीव को ग्रसने के लिए सिर पर सवार है। अतएव जो बुद्धिमान हो, वह क्षण भर भी विलम्ब न करके अन्यान्य अनिश्चित क्षुद्र श्रेयः या प्रेयः के लाभ में समय का अपव्यय न करके एकमात्र निश्चित श्रेय को प्राप्त करने का प्रयत्न करे। कारण कुत्ते, शूकर आदि निकृष्ट योनियों में भी प्रेयः के विषय प्राप्त होते हैं, किन्तु श्रेयः तो मनुष्य जन्म के सिवा और किसी योनि में नहीं प्राप्त किया जा सकता।

श्रेयःप्रार्थी जीवों की संख्या बहुत थोड़ी है। इसी से यम ने नचिकेता से कहा है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

बहुसंख्यक व्यक्ति ही आत्मतत्त्व श्रवण करने के इच्छुक नहीं हैं, और अनेक श्रवण करके भी प्रणिपात और सेवोन्मुखता के अभाव से उसकी उपलब्धि नहीं कर सकते। आत्मतत्त्व का कीर्तनकारी तत्त्वज्ञ आचार्य भी दुर्लभ है और प्रपन्न शिष्य भी खूब विरल है। प्रपन्न या शरणागत जन ही एकमात्र श्रेयोलाभ में समर्थ होते हैं। हम श्रीगीता के द्वितीय अध्याय में देख पाते हैं कि श्रीकृष्ण ने लोकशिक्षा के लिए बद्धजीव मनोधर्म के वशीभूत होकर स्वयं कितने प्रकार से श्रेयः की कल्पना करता है, इसका अभिनय दिखलाया है। अर्जुन ने गुरुरूपी भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा से क्षात्र धर्मयुद्ध से निवृत्त रहकर ब्राह्मण की सात्त्विक वृत्ति भिक्षा द्वारा जीवन यापन करना ही अपने लिए श्रेयः समझ लिया था—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

अर्जुन ने जब देखा कि वह स्वकपोलकल्पित श्रेयः के द्वारा शान्ति नहीं पाता, तब वह भगवान के शरणागत होकर उनके निकट श्रेयः पूछने लगा—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

हे भगवन, अब तक तुमको सखा समझकर तुम्हारे शरणागत न होकर मनोधर्म के द्वारा श्रेयः का निर्णय मैंने करना चाहा था; किन्तु धर्म विमूढ़ चित्त हो पड़ा हूँ। मैं आपका प्रपन्न शिष्य हुआ। मुझे कृपा पूर्वक निश्चित श्रेयः के विषय में शिक्षा दीजिए।

अक्षज ज्ञान की सहायता से आरोहवादी होकर निर्णय करने की चेष्टा करने से हम लोगों को निःश्रेयस का लाभ न होगा। या तो हम श्रेयः को वरण करके भुक्तिवादी हो पड़ेंगे अथवा मुक्तिवादी होकर आत्मविनाश कर लेंगे। इसी कारण श्रीभागवत शास्त्र आदेश करता है—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपसमाश्रयम्॥

उत्तम श्रेय का जिज्ञासु व्यक्ति शास्त्र सिद्धान्त के ज्ञाता, परम ब्रह्म की नित्यसेवा में परायण और षड्वेगजयी गोस्वामी श्रीगुरुदेव के शरणागत हो। सद्गुरु के बिना असत् गुरु कभी श्रेयः प्रदान नहीं कर सकता। असत् गुरु भुक्ति-मुक्ति कामी है, सुतराम् आत्मधर्म के बदले देह और मन के धर्म को ही श्रेयः समझेगा। अतः, श्रेय की जिज्ञासा रखने वाले व्यक्ति को उक्त त्रिविध लक्षणों से युक्त सद्गुरु की शरण में जाना ही एकान्त कर्त्तव्य समझना चाहिए।

जीव का नित्य और नैमित्तिक

(गत दशम संख्या के आगे)

श्रीशंकर ने जो विचार-मार्ग दिखलाया, उसकी सम्पत्ति इस समय वैष्णवगण अनायास भोग करते हैं। जड़ और बद्ध जीव के लिए सम्बन्धज्ञान का बड़ा ही प्रयोजन है।

इस जड़ जगत् में स्थूल और लिंग देह से चित् वस्तु पृथक् और अतिरिक्त है, इस सिद्धान्त पर श्रीशंकर और वैष्णवगण दोनों ही विश्वास करते हैं। जीव की सत्ता के विचार में उन दोनों के बीच कोई पार्थक्य नहीं है। जड़ जगत् के सम्बन्ध-त्याग का नाम मुक्ति है, इस बात को दोनों ही मानते हैं। मुक्तिलाभ होने तक श्रीशंकर और वैष्णवाचार्यों के बीच बहुत कुछ, अनेक प्रकार का, मतैक्य है। हरिभजन के द्वारा चित्तशुद्धि और मुक्तिलाभ होता है, यह भी शंकराचार्य की शिक्षा है। केवल इस विषय में शंकर चुप हैं कि मुक्ति लाभ के बाद जीव की क्या अपूर्व गति होती है। शंकर इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि हरिभजन के द्वारा जीव को मुक्तिमार्ग में अच्छी तरह चला सकने ही से जीव भजन-सुख में आबद्ध होकर क्रमशः शुद्ध भक्त हो जायगा। इसी कारण शंकर ने केवल राह दिखा दी, और अधिक कुछ वैष्णवधर्म का रहस्य नहीं खोला। उनके सब भाष्यों को जिन्होंने विशेष मन लगाकर पढ़ा है, वे ही शंकर के गूढ़मत को समझ सकते हैं। जो लोग केवल उनकी शिक्षा के बाहरी अंश को लेकर उसी की उधेड़ बुन में अपना समय बिताते हैं, वे वैष्णव-धर्म से दूर ही बने रहते हैं।

एक प्रकार से विचार करने पर अद्वैत-सिद्धि और प्रेम एक ही जान पड़ते हैं। अद्वैत सिद्धि का जो संकुचित अर्थ किया जाता है, उससे उसमें और प्रेम में अलगाव हो पड़ता है। प्रेम क्या पदार्थ है, इसपर विचार कीजिए। एक चित् पदार्थ अन्य चित् पदार्थ के प्रति जिस धर्म के द्वारा स्वभावतः आकृष्ट हो, उसी का नाम प्रेम है। दो चित् पदार्थों के पृथक् अवस्थान बिना प्रेम नहीं सिद्ध होता। समस्त चित् पदार्थ जिस धर्म के द्वारा परम चित्पदार्थरूप कृष्णचन्द्र की ओर नित्य आकृष्ट होते हैं, उसका नाम है कृष्ण-प्रेम। कृष्णचन्द्र का नित्य पृथक् अवस्थान और जीवसमूह का उनके प्रति जो अनुगतभाव के साथ नित्य पृथक् अवस्थान है, वह प्रेमतत्त्व में नित्यसिद्ध तत्त्व है। आस्वाद लेनेवाला, आस्वाद की वस्तु और आस्वादन, इन तीन भावों की पृथक् अवस्थिति सत्य है। यदि प्रेम के आस्वादक और आस्वाद्य एक ही हों तो प्रेम नित्य सिद्ध नहीं हो सकता। यदि अचित्सम्बन्ध शून्य चित्पदार्थ की शुद्ध अवस्था को अद्वैतसिद्धि कहा जाय तो प्रेम एवं अद्वैत सिद्धि एक ही चीज़ ठहरते हैं। किन्तु आधुनिक शंकर-मतावलम्बी पण्डितगण चिद्धर्म की अद्वैत सिद्धि से सन्तुष्ट न होकर चित् वस्तु की एकता-साधन के यत्न द्वारा वेदोदित अद्वयतत्त्वसिद्धि के विकार का प्रचार करते हैं। उससे प्रेम के नित्यत्व की हानि होने से वैष्णवगण ने उस सिद्धान्त को बिलकुल अवैदिक सिद्धान्त ठहराया है। शंकराचार्य ने केवल चित् तत्त्व के विशुद्ध अवस्थान को अद्वैत अवस्था कहा है; किन्तु उनके अर्वाचीन चेले गुरु के गूढ़ भाव को समझ न पाकर क्रमशः उनको अपदस्थ करते जा रहे हैं। विशुद्ध प्रेम की सब अवस्थाओं को मायिक कहकर वे मायावाद नामक एक सर्वाधम मत का जगत् में प्रचार करते हैं। मायावादी लोग पहले तो एक के सिवा और अधिक चित् वस्तु का होना स्वीकार नहीं करते। वे यह भी नहीं स्वीकार करते कि चित् वस्तु में प्रेमधर्म है। वे कहते हैं कि ब्रह्म जब तक एकावस्था को प्राप्त है, तब तक वह माया से अतीत है। जब वह कोई स्वरूप ग्रहण करता है और जीव रूप से नाना आकार प्राप्त करता है, तब वह मायाग्रस्त है। सुतराम् वे भगवान के नित्य शुद्ध चिद्घन विग्रह को मायिक मानते हैं। जीव की पृथक् सत्ता को भी मायिक समझते हैं। इसी कारण प्रेम और प्रेम विकार को मायिक मानकर अद्वैत ज्ञान को निर्मायिक कहकर उसकी स्थापना करते हैं। उनके भ्रान्त मत की अद्वैत-सिद्धि और प्रेम कभी एक पदार्थ नहीं होता।

किन्तु भगवान् चैतन्यदेव ने जिस प्रेम का आस्वादन करने के लिए उपदेश दिया है और अपने लीला चरित्र-द्वारा जिस की जगत् को शिक्षा दी है, वह माया से सम्पूर्ण

अतीत है—विशुद्ध अद्वैतसिद्धि का चरम फल है। महा भाव उसी विशुद्ध प्रेम का विकार-विशेष है। उसमें कृष्ण-प्रेमानन्द अत्यन्त प्रबल है। सुतराम् संवेदक और संवेद्य का पार्थक्य और निगूढ़ सम्बन्ध एक अपूर्व अवस्था में पहुँचाता है। तुच्छ मायावाद इस प्रेम का किसी अवस्था में कोई कार्य नहीं कर सकता।

संन्यासी ठाकुर ने आदर के साथ कहा—प्रभो ! यह मेरे हृदय में अच्छी तरह बैठ गया कि मायावाद बहुत ही अकिञ्चित्कर है। उसके सम्बन्ध में मुझे जो संशय था वह भी आप की कृपा से आज दूर हो गया। अपने इस मायावादी संन्यासी वेष को त्याग करने की मेरी बड़ी इच्छा होती है।

बाबाजी ने कहा—महात्मन ! मैं वेश के ऊपर किसी तरह का राग-द्वेष रखने का उपदेश नहीं करता। अन्तःकरण का धर्म साफ़ होने पर वेष सहज में ही स्वच्छ हो जाता है। जहाँ बाह्य वेष का विशेष आदर है, वहाँ भीतर के धर्म पर विशेष रूप से ध्यान नहीं दिया जाता। मेरी समझ में पहले अन्तःशुद्धि करके जब साधुओं के बाहरी आचार में अनुराग होता है, तभी बाह्य वेष आदि निर्दोष होते हैं। आप अपने हृदय को सम्पूर्ण रूप से श्रीकृष्णचैतन्य के अनुगत करिए। तब फिर जिन सब बाह्य सम्बन्धों में रुचि होगी, उनका आचरण करियेगा। श्रीमन्महाप्रभु के इस वाक्य को सर्वदा स्मरण रखिएगा—

मर्कट-वैराग्य न करो लोगों के दिखाने को।
यथायोग्य विषय भोगो अनासक्त होय के॥
अन्तर में निष्ठा करो बाह्य लोक-व्यवहार।
बहुत शीघ्र कृष्ण तेरा करेंगे उद्धार॥

(चै० च० मध्य १६ श० २३८—३६)

संन्यासी ठाकुर ने इस विषय का भाव समझकर फिर वेश परिवर्तन की बात नहीं उठाई। हाथ जोड़कर कहने लगे—प्रभो ! मैंने जब आपका शिष्य होकर चरणों का आश्रय लिया है, तब आप जो उपदेश करेंगे, उसे बिना बहस किए मैं शिरोधार्य करूँगा। आप का उपदेश श्रवण करके मेरी समझ में यह आ गया कि विमल कृष्ण-प्रेम ही एकमात्र वैष्णव-धर्म है। वही जीव का नित्यधर्म है। वही धर्म पूर्ण, शुद्ध और सहज है। नाना देशों में नाना प्रकार के जो धर्म प्रचलित हैं, उन धर्मों के विषय में मैं कैसी भावना करूँ ?

बाबाजी ने कहा—महात्मन, धर्म पदार्थ एक है, दो या अनेक नहीं। जीवमात्र का ही एक धर्म है। उस धर्म का नाम वैष्णव धर्म है। भाषा भेद, देश-भेद और जाति भेद से धर्म-भेद नहीं हो सकता। अनेक लोग जीव के धर्म को नाना नामों से पुकारते हैं; किन्तु पृथक् धर्म की सृष्टि नहीं कर सकते। परम वस्तु में अणु वस्तु का जो निर्मल चिन्मय प्रेम है, वही जीवका धर्म है। जीव सब नाना प्रकृतियों से युक्त हैं, इस कारण जीव-धर्म भी कुछ प्राकृत आकारों के द्वारा विकृत रूप में देख पड़ता है। इसी कारण वैष्णवधर्म नाम से जीव के धर्म की शुद्धावस्था को अभिहित किया गया है। अन्यान्य धर्मों में जिस परिमाण में वैष्णवधर्म है, उसी परिमाण में वह धर्म शुद्ध है।

कुछ दिन पहले मैंने श्रीव्रजधाम में भगवत्पार्षद श्रीसनातन गोस्वामी के श्री चरणों में एक प्रश्न किया था। मुसलमानी मज़हब में जो 'इश्क़' शब्द है, उसका अर्थ निर्मल प्रेम है या और कुछ ? यही मेरा प्रश्न था। गोस्वामीजी सब शास्त्रों में पंडित हैं, ख़ासकर अरबी फ़ारसी में तो उनके पाण्डित्य की सीमा ही नहीं है। श्रीरूप, श्रीजीव गोस्वामी आदि अनेक महामहोपाध्याय उस सभा में उपस्थित थे। श्रीसनातन गोस्वामीजी ने कृपाकरके मेरे प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया—

"हाँ, इश्क़ शब्द का अर्थ प्रेम अवश्य है। यावनिक उपासकगण ईश्वर भजन के विषय में भी इश्क़ शब्द का व्यवहार करते हैं; किन्तु प्रायः इश्क़ शब्द से मायिक प्रेम ही उनका लक्ष्य रहता है। लैला-मजनूँ का इतिहास और कविवर हाफ़िज़ के इश्क़ वर्णन को देखने से जान पड़ता है कि यवनाचार्यगण शुद्ध चित्-वस्तु क्या है यह उपलब्धि नहीं कर सके। स्थूल देह के प्रेम को या कभी लिंगदेह के प्रेमको इश्क़ कहकर उन्होंने लिखा है।

विशुद्ध चिद्वस्तु को अलग करके कृष्ण के प्रति जो विमल प्रेम होता है, उसका उन्होंने अनुभव नहीं किया। वैसा प्रेम मैंने यवनाचार्य के किसी भी ग्रंथ में नहीं देखा। वह केवल वैष्णवग्रंथों में ही देख पाता हूँ। यवनाचार्यों की 'रूह' शुद्ध जीव है, यह भी नहीं बोध होता। बल्कि बद्धदशा को प्राप्त जीव को ही वे रूह कहते हैं, ऐसा जान पड़ता है। अन्य किसी भी धर्म में मैंने विमल कृष्णप्रेम की शिक्षा नहीं देखी। वैष्णव धर्म में साधारणतः कृष्ण-प्रेम का उल्लेख है। श्रीमद्भागवत में "प्रोज्झित कैतव धर्म"

रूप श्रीकृष्ण-प्रेम विशद रूप से वर्णित हुआ है। किन्तु मेरा विश्वास है कि श्रीकृष्णचैतन्य के पहले किसी ने भी विमल कृष्णप्रेम धर्म की दीक्षा नहीं दी। मेरी बात पर अगर तुमको श्रद्धा हो तो यह सिद्धान्त ग्रहण करो।' मैंने यह उपदेश सुनकर गोस्वामी जी को बारम्बार दण्डवत्-प्रणाम किया। संन्यासी ठाकुर ने भी बाबा जी के मुख से यह सुनकर उस समय दण्डवत्प्रणाम किया।

परमहंस बाबा जी ने कहा—हे भक्तश्रेष्ठ! अब आपके दूसरे प्रश्न का उत्तर देता हूँ; मन लगाकर सुनिए। जीव-सृष्टि और जीवगठन आदि शब्द मायिक सम्बन्ध में व्यवहृत होते हैं। जड़ीय वाक्य कुछ कुछ जड़ भाव का आश्रय लेकर कार्य करते हैं। भूत, भविष्य और वर्त्तमान इन तीन अवस्थाओं में जो काल विभक्त है, वह मायागत जड़ीय काल है। चित् जगत का जो काल है, वह सर्वदा वर्त्तमान है। उसमें भूत-भविष्य रूप विभागगत व्यवधान या अन्तर नहीं है। जीव और कृष्ण उसी काल में अवस्थान करते हैं। अतएव जीव नित्य और सनातन है एवं जीव का कृष्णप्रेम रूप धर्म भी सनातन है। इस जड़ जगत् में आबद्ध होने के उपरान्त जीव की सृष्टि, गठन, पतन इत्यादि मायिक कालगत सब धर्म जीव में आरोपित हुए हैं। जीव अणु पदार्थ होने पर भी चिन्मय और सनातन है। जड़ जगत में आने के पहले ही उसका गठन होता है। चित् जगत में काल की भूत-भविष्यरूप अवस्था न रहने से उस काल में जो जो रहता है, वह सभी नित्य वर्त्तमान है। जीव और जीव का धर्म वास्तव में नित्य वर्त्तमान और सनातन है। यह बात मैंने कही अवश्य, किन्तु आपने जहाँ तक शुद्ध चित् जगत् का भाव पाया है, वहीं तक आपको इस कथन के यथार्थ अर्थ की उपलब्धि होगी। मैंने आपको आभासमात्र दे दिया, आप चित्समाधि के द्वारा इसके अर्थ का अनुभव कर लीजिएगा। जड़जात युक्ति और तर्क द्वारा ये सब बातें आपकी समझ में नहीं आवेंगी। जड़ बन्धन से अनुभव-शक्ति को जितना शिथिल कर सकेंगे, उतना ही जड़ातीत चित्जगत् का अनुभव उदित होगा। पहले अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव और उस स्वरूप के शुद्ध चिन्मय कृष्णनाम का अनुशीलन करते-करते जीव के धर्म का प्रबल रूप से उदय होगा। अष्टांग-योग या ब्रह्मज्ञान के द्वारा चित्-अनुभव विशुद्ध न होगा। साक्षात् कृष्ण का अनुशीलन ही नित्य सिद्ध धर्म का उदय कराने में समर्थ है। आप निरन्तर उत्साह के साथ हरिनाम का कीर्तन करिए। हरिनाम का अनुशीलन ही एकमात्र चिदनुशीलन है। कुछ दिन हरिनाम जपते जपते उस नाम पर अपूर्व अनुराग का उदय होगा। उस अनुराग के साथ साथ ही चित्-जगत का अनुभव उदित होगा। भक्ति के जितने प्रकार के अंग हैं, उनमें श्रीहरिनाम का अनुशीलन ही प्रधान है और शीघ्र फल देता है। इसी से श्रीकृष्णदास के उपादेय ग्रंथ में यह बात श्रीमहाप्रभु का उपदेश कहकर लिखी हुई है—

भजनों में जानो श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
कृष्णप्रेम कृष्ण देते धरे महाशक्ति॥
उस बीच सर्वश्रेष्ठ नाम का कीर्तन।
निरपराध नाम जपे पावे प्रेमधन॥
(चै० च० अन्त्य ४ र्थ ७०—७१)

महात्मन, यदि आप यह बात पूछें कि "वैष्णव किसे कहना चाहिए?" तो मैं इसके उत्तर में इतना ही कहूँगा कि जो अपराधहीन भाव से कृष्णनाम को जपता है, वही वैष्णव है। वैष्णव तीन प्रकार के होते हैं—कनिष्ठ मध्यम और उत्तम। जो बीच-बीच में कृष्णनाम लेते हैं, वे कनिष्ठ वैष्णव हैं। जो निरन्तर कृष्ण-नाम जपते हैं, वे मध्यम वैष्णव हैं। और जिन्हें देखते ही मुख से हरिनाम निकलने लगे, वही उत्तम वैष्णव जानो। श्रीमहाप्रभु की शिक्षा के अनुसार और किसी लक्षण से वैष्णव का निर्णय न करना चाहिए।

संन्यासी ठाकुर बाबाजी की शिक्षा के अमृतसागर में निमग्न होकर—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

कहकर नाम-गान करते हुए नाचने लगे। उस दिन उनकी हरिनाम में रुचि उत्पन्न हुई। गुरु के चरण कमलों में साष्टांग प्रणाम करके उन्होंने कहा—प्रभो! दीनबन्धो! दीन पर कृपा कीजिए।

(क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीगौरद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जाननगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० १० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ५, गोपीभवन डाक्टर लेन, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेडल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चग्दा, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चीरकंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० बासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)

२—श्रीशिक्षादशकमूलम्—सटीक I)

३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् =)

४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः II)

५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)

६—श्रीतत्त्वसूत्रम् I)

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)

२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १II)

३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत II)

४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशित) प्रति खंड १)

५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)

६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्री-रूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित I=)

७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित II)

८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)

९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)

१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)

११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २=)
एकादश स्कंध से प्रति खंड I=)

१२—युक्तिमल्लिका (गुणसौरभ) वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित =)

१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद -)

१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)

१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)

१७—नवद्वीपभावतरंग I)

१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण I)

१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद-कृत २)

२०—मणिमंजरी I)

२१—शरणागति -)

२२—कल्याणकल्पतरु -)II

२३—गीतावली -)

२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत III)

२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)

२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत II=)

२७—जैव धर्म २)

२८—साधककंठमाला I)

२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)

३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत III)

३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof. Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

20th April 1932

विष्णु गौरपक्ष गौराब्द ४४६

चैत्र पूर्णिमा संवत् १९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

प्रति संख्या -)

सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

वार्षिक सडाक ११)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन-छपाई की दर नीचे लिखी है—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, ½ ,,	३)
२ इंच ,, ¼ ,,	१॥)
१ ,, ,, ⅛ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये।

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

९४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

946 Suddar Bazar,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

वर्ष १ | श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य | संख्या १२
चैत्र-पूर्णिमा गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, २० अप्रैल सन् १९३२ ई०

नम्र निवेदन

(१०)

दोहा

देह, गेह, सर्वस्व सब जो कछु है प्रभु, मोर ।
पाद-पद्म में तुव कियो अर्पण नन्दकिशोर ।।
वरण किए तुव श्रीचरण, जीवन मरण मँझार ।
सम्पद, विपदा में गयो मम दायित्व अपार ।।
मारो अथवा राखियो जो इच्छा तुव नाथ ।
नित्य दास हौं मैं सदा अधिकृत तेरे हाथ ।।
जन्म देन की होय जो इच्छा देव, तुम्हार ।
भक्त-भवन में जन्म तौ दीजो करुणागार ।।
जहाँ तुम्हारे दास तहँ कीट-जन्म स्वीकार ।
नहीं बहिर्मुख ब्रह्म को जन्म चहौं बेकार ।।
भुक्ति-मुक्ति की कामना-रहित तुम्हारे भक्त ।
तिन को संग लहौं रहौं तिन ही में अनुरक्त ।।
तुमहीं जननी त्यों जनक, दयित, तनय सब मोर ।
प्रभु, पति, गुरु तुम सर्वमय साँचे नन्दकिशोर ।।
"भक्तिविनोद" कहै प्रभो ! देहु विनय पै कान ।
राधानागर, आप हैं गुनआगर मम प्रान ।।

मदरास के इलोर शहर में

श्रीप्रभुपाद को दिया गया अभिनन्दन-पत्र

और

श्रीप्रभुपाद का प्रत्यभिभाषण

मदरास के पश्चिम-गोदावरी जिले के अन्तर्गत इलोर शहर के "श्रीजनार्दन-प्रार्थना-समाज" के सभापति और मंत्री महोदय ने वर्तमान गौड़ीय वैष्णव-संप्रदाय के एकमात्र संरक्षक, परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद को अंगरेजी भाषा में जो अभिनन्दनपत्र दिया गया था और श्रीप्रभुपाद ने अँगरेजी में जो प्रत्यभिभाषण किया था, उसका हिन्दी-अनुवाद यहाँ दिया जाता है।

स्वागत-अभिनन्दन

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज

श्रीचैतन्यमठ

श्रीधाम-मायापुर (वंगदेश)

परमाराध्य स्वामीजी !

कृष्ण-सेवा के इरादे से देश-पर्यटन के सूत्र से आन्ध्र देश में आज आपके पहले-पहल श्रीचरण अर्पण करने के शुभअवसर में हम इलोर के "श्रीजनार्दन-प्रार्थना-समाज" के सभापति और सभ्यगण विनय और श्रद्धा के साथ आपको और आपके लब्धप्रतिष्ठ पार्षद भक्तों को अपना सर्वान्तःकरण का स्वागत-अभिनन्दन ज्ञापित करते हैं।

हम सुनकर सुखी हुए कि आपने प्रसिद्ध धनाढ्य वंश में आविर्भाव के कारण प्राप्त संपूर्ण पार्थिव सुख-संपदा को तुच्छ जानकर मानव-जाति को चरम-मंगल-लाभ के उपाय की शिक्षा द्वारा उनके सब प्रकार के दुःख दूर करने का कर्त्तव्य-भार स्वेच्छा से ग्रहण किया है।

हमको मालूम है कि आप नास्तिक्यवाद की चरम सीमा में अवस्थित केवलाद्वैतवाद या चिन्मात्रवाद के प्रचारक नहीं हैं, बल्कि आस्तिक्यवाद के उच्च-

तमस्तर में अवस्थित षड़ैश्वर्यपूर्ण भगवान् के चिद्विलास से परिपूर्ण उन्नत उज्ज्वल रस प्रेम-भक्ति का प्रचार करनेवाले आचार्य हैं। कृष्णभक्ति की सर्वश्रेष्ठता, श्रीनामभजन की महिमा और पूर्ण आस्तिक्यवाद के प्रचार के लिए आपने भारत के विभिन्न स्थानों में कुछ प्रचार-केन्द्रों की स्थापना की है। हम यह भी जानते हैं कि आप श्रीगौरांग महाप्रभु के आचरित धर्म का स्वयं आचरण करके प्रचार कर रहे हैं। यद्यपि यह प्रसिद्ध है कि श्रीमन्महाप्रभु ने अपने भक्तों को कृष्ण प्रेम-प्रदान करने के लिए भारत-परिभ्रमण करते समय हमारे देश में भी शुभागमन किया था, तथापि उनके प्रचारित परिपूर्ण धर्म का विषय हमारे निकट संपूर्ण रूप से अपरिज्ञात है।

हम विश्वास करते हैं कि आपके समान एक जन वैष्णवाचार्य के पवित्र पाद-स्पर्श से आज समग्र आन्ध्र प्रदेश, विशेषकर हमारा यह इलोर शहर सहस्र गुण धन्य-अतिधन्य हुआ है। आपने जीव की नित्य उपास्य वस्तु भगवान् श्रीकृष्ण के अप्राकृत तनु से निकली हुई ज्योतिर्मय कान्ति के निरवच्छिन्न प्रेम-स्रोत में अवगाहन करने में हर घड़ी लगे रहकर, अपने श्रीचरणों के दर्शनों की इच्छा रखनेवाली बहुत सी आत्माओं को उसी भगवत्प्रेम-प्रदानरूप अप्राकृत चुम्बक के द्वारा आकर्षण करने के लिए आज कृपापूर्वक यहाँ शुभागमन किया है।

बहु प्रकार के सेवा-कार्य और जगत् के लोगों को दर्शन, श्रवण आदि का सुयोग देने के कार्य में आप हर घड़ी व्यस्त रहते हैं, तथापि कृपा-परवश होकर आपने हमारा निमंत्रण स्वीकार कर लिया, इसके लिए हम अत्यधिक अकृत्रिम सरलता और श्रद्धा के साथ आपको अपना आन्तरिक धन्यवाद जताते हैं। हमारी यह भी प्रार्थना है कि इस जगह आपके सामयिक अवस्थान काल के बीच हम जिसमें शुद्ध भक्तिमार्ग में अग्रसर हो सकें, इसके लिए आप कृपापूर्वक भगवत् ज्ञान का प्रकाश प्रदान करके हमें उद्भासित करिए।

आपके दीन सेवकगण

इलोर, ३०।१।३२

मोथे गंगाराजू (ज़मीदार, इलोर, श्रीजनार्दन प्रार्थना के सभापति)

और

कोहामनू श्रीमन्नारायण मूर्ति (मंत्री)

श्रीप्रभुपाद का प्रत्यभिभाषण

प्रिय भ्रातृवृन्द,'

इन्दोर के श्रीजनार्दन-प्रार्थना-समाज के भक्तवृन्द द्वारा अभिनन्दित होकर मैं अपने को गौरवान्वित समझता हूँ। मैं इस अभ्यर्थना को ग्रहण करने के योग्य पात्र नहीं। कारण, मेरे न कर्मबल है, न ज्ञानबल है, न भक्तिबल है। आप लोगों ने अभिनन्दन-पत्र में मेरे जिस प्रचार का उल्लेख किया है, मैं जानता हूँ कि मैं प्रचार का कुछ भी काम कर नहीं पाता। श्रीमहाप्रभु ने इस देश में प्रचार के उद्देश्य से शुभागमन करके किस विषय का प्रचार किया था, इस विषय की अनभिज्ञता आपने अपने अभिभाषण में जताई है। उस सम्बन्ध में मैं आपके निकट कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। श्रीरूप गोस्वामी प्रभु ने विदग्ध-माधव के मंगलाचरण में यह श्लोक लिखा है --

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः॥

इस श्लोक में श्रीराधामाधव के उन्नत उज्ज्वल रस की बात वर्णन की गई है। यह उन्नत उज्ज्वल रस इससे पहले किसी अवतार में नहीं बाँटा गया। श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु कलियुग में जीवों के प्रति करुणा परवश होकर यह उन्नत उज्ज्वल रस, पात्रा-पात्र का विचार न करके हर एक को बाँट गए हैं। हम उनके चरणों में एकान्त भाव से शरणागत होने पर अनर्थ-निवृत्ति के क्रम से स्वरूप में अवस्थित होकर इस रस का आस्वादन कर सकते हैं। इसके पहले वैकुण्ठ में शान्त, दास्य, गौरव-मिश्र सख्य—इन ढाई रसों का विषय भगवद्भक्तों के निकट परिचित था, उन्हें परिज्ञात था। किन्तु विश्रम्भसख्य, वात्सल्य और मधुर रस भगवान कृष्णचन्द्र की सेवा का किस तरह अच्छी तरह अनुशीलन किया जाता है यह गौरसुन्दर ने स्वयं आचरण करके शुश्रुषु जीवों को शिक्षा दी है। मधुर रस से सेवा का उत्कर्ष एकमात्र गौरसुन्दर की शिक्षा में ही पाया जाता है।

अप्राकृत चिन्मय देह में नीचे के आधे हिस्से को छोड़ कर उत्तमार्द्ध द्वारा ही भगवान की सेवा हुआ करती है, यही हम जानते थे; किन्तु अणु सच्चित् चिदानन्दमय आत्मा का विषय हम नहीं जानते थे। बहिःप्रज्ञा से आचरित मनोधर्म के साथ आत्मधर्म की सामञ्जस्य करने के कारण सुविमल आत्मा की बात हमें अज्ञात थी। आत्मा की स्वाभाविक वृत्ति श्रीकृष्ण का नित्य दास्य है। वह सर्वशक्तिमान परमेश्वर हैं। उन्नत उज्ज्वल रस से भगवान हमारे निज जन हैं यह विषय पहले हमारा जाना न होने के कारण ही हम भगवान की गौरव और संभ्रम के साथ सेवा करते थे। भगवान की सख्य वात्सल्य और मधुर रस से सेवा की जा सकती है, यह श्रीगौरसुन्दर के आविर्भाव के पहले अज्ञात था। जगत् की विचार-प्रणाली का अवलम्ब लेकर पहले भगवान की सेवा होती थी; किन्तु जीवन्मुक्त पुरुषगण किस प्रकार भगवान में अहैतुकी भक्ति का विधान करते हैं, यह हमको अज्ञात था।

हम देख पाते हैं कि श्रीकृष्ण यदि हमारी सेवा ग्रहण करें, तभी हम उनकी सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव से विश्रंभ सेवा करते हैं। भगवान् के मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन और राम अवतारों में जो सेवा प्रचलित है, वह असल में गौरव मिश्रित संभ्रम सेवा है। सुतराम् वह आत्मा का संप्रसारण करने में सीमाबद्ध है। चिन्मय धाम का विकृत प्रतिफलन —इस जड़ जगत् में पाँच रसों से पञ्चविध सेवा देख पड़ती है। किन्तु यह असंपूर्ण और हेय है। श्रीकृष्ण ही एक मात्र लक्ष्यीभूत वस्तु हैं—वह सभी रसों के आकर हैं। हम इन पाँच रसों में से किसी भी रस से स्वीय सिद्ध-स्वरूप से उनकी सेवा कर सकते हैं। किन्तु श्रीकृष्ण के अन्यान्य अवतारों में उस तरह की विश्रंभ-सेवा संभव नहीं है।

दृष्टान्त स्वरूप कहा जा सकता है कि श्रीरामचन्द्र की हम मधुर रस से सेवा नहीं कर सकते। ऐसा करें तो श्रीसीतादेवी असन्तुष्ट होंगी। एकपत्नी व्रतधारी श्रीरामचन्द्र के नैतिक चरित्र में लाघव देख पड़ेगा। दण्डकारण्यवासी ऋषिगण जब श्रीरामचन्द्र का सौन्दर्य देख कर आकृष्ट हुए थे, तब एकपत्नी व्रतधारी श्री रामचन्द्र उन्हें प्रत्याख्यान करने को बाध्य हुए थे।

श्रीरामचन्द्र अपने प्रजावर्ग की, विशेष कर बजरंगजी, लक्ष्मणजी आदि सेवकों के गौरवाश्रित दास्य रस की सेवा ग्रहण कर सकते हैं ; किन्तु कान्त रस की सेवा नहीं ग्रहण कर सकते । श्रीकृष्ण बहुवल्लभ हैं, वह अपनी मधुर रसाश्रित कान्ताओं के संभोग-विग्रह हैं । श्रीरामचन्द्र शान्त, दास्य, गौरव-सख्य और वात्सल्य रस से सेवित होने पर भी मधुर रस से, कान्तभाव से उनकी सेवा न हो सकने के कारण बहुत से सेवक उस रस से वञ्चित हैं । श्रीकृष्ण गोपीजनवल्लभ हैं । कोई भी आत्मा गोपी आनुगत्य से कान्तभाव से उनकी सेवा कर सकता है । इस सेवा से उन्होंने किसी को वञ्चित नहीं किया । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने जड़ काम को बिन्दु मात्र भी प्रश्रय दिया हो । कोई भी आत्मा स्वरूप-शक्ति का आश्रय लेकर श्रीकृष्ण के सेवा-माधुर्य का आस्वादन कर सकता है । कारण, श्रीकृष्ण गोपीजन-वल्लभ हैं । किन्तु श्रीकृष्ण के अन्य किसी अवतार में, सेवकों की इच्छा रहने पर भी, इस प्रकार की सेवा उन्होंने नहीं ग्रहण की ।

मनोधर्म के द्वारा चालित न होकर यदि शुद्ध सत्त्व में प्रतिष्ठित होकर हम निर्व्यलीक चित्त से शुद्ध सेवाभिलाषी हों, तो श्रीभगवान का सान्निध्य-लाभ कर सकते हैं । तब वह किसी का प्रत्याख्यान नहीं करते । व्रजवासी के आनुगत्य बिना और विश्रंभ सेवा के सिवा वह अन्य कोई सेवा ग्रहण नहीं करते । सुतराम् श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए सर्वस्व अर्पण कर देना हमारा कर्त्तव्य है ।

वह आत्मा के ही अधीश्वर हैं । सुतराम् अपना सर्वस्व अर्पण करके कृष्ण का भजन करना हमारा कर्त्तव्य है और अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी बाक़ी रखना हमें उचित नहीं । मतलब यह कि वह पूर्ण-वस्तु हैं, वह हमारे सर्वस्व के स्वामी हैं । किन्तु कृष्ण के अन्यान्य अवतारों की सर्वस्व देकर सर्वतोभाव से उपासना नहीं की जाती ; की ही नहीं जा सकती ।

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने हमसे मानव-पूजा करने को नहीं कहा अथवा मानुषोचित गुणों या धर्मों का भगवान में आरोप करने को नहीं कहा । किन्तु साधारण लोग मर्त्यजीव को भगवान कहकर उसकी पूजा करते हैं । यह महाप्रभु के बिलकुल विरुद्ध मत है । भगवान सर्व शक्तिमान हैं । वह पूर्ण वस्तु हैं, खंड वस्तु नहीं । खंड ज्ञान से अखंड वस्तु की धारणा नहीं होती । मनुष्य-ज्ञान से नैतिक ज्ञान और बुद्धि जहाँ तक विकसित हो सकती है, भगवान उतना ही खंड ज्ञान के खंड नैतिक के अधीन तत्त्व नहीं हैं । कारण भगवान स्वतन्त्र, पूर्ण और सर्व शक्तिमान हैं । श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने हम सबसे पहले आत्म-ज्ञान में प्रतिष्ठित होने को कहा है । नहीं तो हम आत्मा के साथ देह और मन का सामञ्जस्य कर डालेंगे । आत्मा मन नहीं है और मन आत्मा नहीं । मन बाह्य जगत् का द्रष्टा और कर्त्ता है । दस इंद्रियों के द्वारा बाह्य जगत् का अभिज्ञान लाभ करके जड़ भोक्ता है । उसका जितना कुछ ज्ञान विचार या आनन्द है सब बाह्य जगत को लेकर; सुतराम् मन कुछ आत्मा का अनुसन्धान नहीं करता, बल्कि शत्रु बन खड़ा होता है ।

जब हम भगवान का अनुसन्धान करते हैं, तब चतुः श्लोकी भागवत में देख पाते हैं कि श्रीभगवान ने ब्रह्मा से उपदेश के बहाने कहा है—

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः ।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥

अर्थात् मेरा जो रूप है, मेरे जो गुण हैं, जो परिकर-वैशिष्ट्य और लीलाएँ हैं, सो तुम मेरे अनुग्रह से अवगत होओ । जो लोग मनस्तत्त्व से अभिन्न हैं या मनोधर्म की प्रधानता स्वीकार करते हैं वे भगवान् के इस सविशेष तत्त्व को भगवत्कृपा के प्रकाश के बिना जान नहीं सकते । सुतराम् श्रीकृष्ण चैतन्य देव ने इस प्रकार के अक्षज ज्ञानियों को, उनका पार्थिव-नीति पुष्ट चरित्र बल रहने पर भी, और उनके जड़ दर्शनों को बहुमान नहीं दिया ।

सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्णस्वरूपयोः ।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः ॥

कोई इससे यह न समझ लें कि हम श्रीकृष्ण भजन करते हैं, इसलिए श्रीरामचन्द्र के प्रति हमारा अनुराग शिथिल हुआ है । श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण वास्तव में एक होने पर भी उनमें लीलागत पार्थक्य है । हम श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण में कोई भेदबुद्धि स्थापन करने के लिए किसी से नहीं कहते । हम केवल यही कहना चाहते हैं कि, जड़ जगत् में जैसे कोई व्यक्ति किसी का पिता, किसी का पुत्र, किसी का चिकित्सक है, वैसे ही चिन्मय धाम में भी एक ही वस्तु एक ही परमेश्वर के बहुत से रूप, गुण और लीला के भेद हैं ; सुतराम् कोई यह न समझ ले

कि हम श्रीकृष्णतत्त्व कहते हुए श्रीकृष्ण के सिवा अन्य विष्णु तत्त्वों में भेद देखने की बात का प्रचार कर रहे हैं। वासुदेव-तत्त्व ही श्रीलक्ष्मीनारायण हैं और श्रीलक्ष्मीनारायण ही जगत (अयोध्या) में श्रीसीता राम के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। ऐश्वर्यमय सीता राम ही माधुर्यमय श्रीकृष्ण हैं। सुतराम् वैकुण्ठतत्त्व में राम और कृष्ण एक ही तत्त्व हैं, इसमें सन्देह नहीं और दोनों तत्त्वों में हम भी कोई पार्थक्य देखते या करते नहीं हैं। हाँ, रस के विचार में हम रासलीला में श्रीकृष्ण-तत्त्व की प्रधानता देख पाते हैं। वास्तव सत्य के रस विचार में इस तरह की प्रधानता अन्य किसी अवतार में नहीं देख पड़ती। हम इतना ही कहना चाहते हैं कि मुक्तात्मा लोगों के साथ श्रीकृष्ण की जो गुह्य अतिगुह्य रासलीला है, वह अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है। श्रीकृष्ण के सिवा यह रासलीला और किसी विष्णुतत्त्व में नहीं देखी जाती। सेवा का सौ में सौ भाग अर्थात् संपूर्ण सेवा हम कृष्ण को ही अर्पण कर सकते हैं, अन्य किसी विष्णु को नहीं दे सकते। हमारे सोलहों आने स्वार्थ की एकमात्र गति श्रीकृष्ण हैं। हम इस जगत् में देख पाते हैं कि कोई व्यक्ति समझता है "मैं कुछ भृत्यों का प्रभु हूँ, मैं बहुत संपत्ति का मालिक हूँ, मैं खूब विद्वान हूँ" इत्यादि। जड़जगत के खण्ड-ज्ञान के ऐसे घेरे के भीतर हमारे आबद्ध होने पर जैसे अपर वस्तु के सम्बन्ध में हमारा पूर्ण आधिपत्य अथवा पूर्ण ज्ञान संभवपर नहीं होता वैसे ही अखण्ड, अव्यय, असीम, पूर्ण, शुद्ध, नित्य, मुक्त, सब शक्तियों के अधीश्वर श्रीकृष्ण-तत्त्व में सर्वस्व समर्पण किए बिना, श्रीकृष्ण की कृपा के अभाव में, यह हमारी उपलब्धि का विषय नहीं होता कि श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण से इतर अवतारों की लीलागत पार्थक्य कहाँ पर है।

भक्तस्वरूप में कृष्ण सेवा के सिवा हमारा और कोई कृत्य नहीं है। कृष्णसेवा को छोड़कर अन्य कार्य में नियुक्त रहने से हम भक्त नहीं हो सकते। मान लीजिए, हम यदि घोड़े की सेवा करें, तो साईस होंगे; हम यदि चिकित्सा करें तो डाक्टर होंगे। यह जड़ जगत में विभिन्न उपाधियों की सेवामात्र है। किन्तु इन सब उपाधियों की सेवा में व्यस्त रहकर हम कृष्ण से भिन्न अन्य की सेवा कर डालते हैं।

जगत में जो कुछ हम देख पाते हैं, वह सब चित् और अचित् के अधीश्वर श्रीकृष्ण हैं। सुतराम् मानव ज्ञान से उन्हें खण्ड-ज्ञान या खण्ड-नीति के अधीनस्थ वस्तुओं में से एक समझना उचित नहीं। वह स्वतन्त्र एवं मानव-कल्पित ज्ञान के अधीन वस्तु नहीं है। वह परिपूर्ण वस्तु, सब ईश्वरों के ईश्वर, अखिल रसामृतसिन्धु, सच्चिदानन्द मूर्त्ति हैं, अतएव सज्जनमात्र की उपास्य वस्तु हैं। वह हमारे मनोधर्म के कारखाने की वस्तु नहीं हैं, अथवा किसी इन्द्रिय को तृप्त करने की वस्तु नहीं हैं। ऐसा समझने पर हम गन्तव्य स्थान में नहीं पहुँच सकेंगे। हमें जानना चाहिए कि वह सब गुणों के आकर हैं, रसामृत के सागर हैं, और हमारे खण्ड दर्शन की इन्द्रियग्राह्य वस्तु नहीं हैं। हाँ, कोई कोई उनके एकांश को देखकर उनमें आविष्ट अवश्य होते हैं। संपूर्ण दर्शन भगवत्कृपा की अपेक्षा रखता है।

यदि हम पूर्वोक्त मनोधर्म के हाथ से निस्तार पाना चाहें तो हमारे लिए निर्गुण हरिकथामृत पान के सिवा अपनी प्रकृति से उद्धार पाने की और राह नहीं है। यह हरिकथामृत ही नाम-संकीर्त्तन है। यह नाम संकीर्त्तन शब्दब्रह्म श्रीकृष्ण का आवाहन है। यह नाम ब्रह्मनामी से अभिन्न है। "अभिन्नत्वान्नामनामिनोः।" यह शब्द ब्रह्म या नाम, शब्द-सामान्य नामापराध या मानव-रचित कोष का शब्द-मात्र नहीं है। यदि हम इस हरिनाम को या कृष्ण संकीर्त्तन को शब्दसामान्य के साथ समान समझें, तो नामापराधी होंगे। जब तक हमें शुद्ध नाम और नामापराध के पार्थक्य की उपलब्धि न होगी तब तक हम "प्राकृत सहजिया" या नामापराधी गिने जायँगे। शुद्ध नाम अप्राकृत वैकुण्ठ वस्तु है। वह चिन्तामणि, स्वयंरूप कृष्ण, चैतन्यरस-विग्रह, नित्य, शुद्ध, पूर्ण, मुक्त और अखिल रसामृत-सिन्धु हैं। शुद्ध नाम-कीर्तन के फल से हम कृष्णप्रेम लाभ कर सकते हैं। किन्तु नामापराध के फल से हमें धर्म, अर्थ, काम अथवा अधर्म, अनर्थ या अकाम (कामना की अतृप्ति) प्राप्त हुआ करती है।

श्रीकृष्ण प्रेममय सच्चिदानन्द विग्रह हैं। समस्त सौन्दर्य, समस्त माधुर्य, समस्त औदार्य उन्हीं में पूर्ण मात्रा में विराजमान है। वह प्रेमवश्य, प्रेम के देवता हैं। ऐश्वर्य-शिथिल प्रेम में उनकी प्रीति नहीं होती।

प्रेममय की सेवा अच्छी तरह कर सकने पर हम शुद्ध भक्त हो सकेंगे।

"आत्मेन्द्रिय-प्रीति-वांछा तारे कहे काम।
कृष्णेन्द्रियप्रीति-वांछा धरे प्रेम नाम॥"

अतएव हम श्रीचैतन्यचन्द्र की दया से समझ सकते हैं कि श्रीकृष्ण ही अखिलरसामृत मूर्त्ति, सर्व शक्तिमान श्रीभगवान हैं —वह सभी अवतारों के अवतारी हैं। सब अवतार अपने समस्त रूप, गुण और कर्म (लीलाओं) के साथ उन्हीं में अवस्थित हैं। उनका भजन करने से ही सब व्यष्टि और समष्टि विष्णु का भजन सम्पन्न हो जाता है। हम स्वरूप सिद्धि की उपलब्धि के क्रम से अप्राकृत चिन्मय देह में उनकी सर्वविध अन्तरंग सेवा-शोभा में अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। कोई यह न समझे कि हम किसी संप्रदाय विशेष, किसी धर्म-प्रणाली या किसी दर्शन पर आक्रमण करके अन्य एक जुदा संप्रदाय प्रमाणित करने के लिए इन सब बातों का उल्लेख करते हैं। किन्तु सकल संप्रदाय और सभी धर्म प्रणालियों के प्रति यथायोग्य सम्मान दिखलाते हुए हम सविनय निवेदन करते हैं कि श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभु के द्वारा आचरित और प्रचारित धर्म श्रीमद्भागवत के प्रोज्झित कैतव (निष्कपट) परम धर्म से अभिन्न वास्तव सत्य में प्रतिष्ठित है। वह सनातन जीव का धर्म या प्रेम-धर्म है—वह साम्प्रदायिक नहीं है, वह सार्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वदेशिक है। जीवमात्र का उसमें अधिकार है। महाप्रभु का यही संक्षिप्त मत है।

भगवत्-ज्ञान

ज्ञान शब्द से प्रतीति, अनुभूति इत्यादि का बोध होता है। मनुष्यों में यह ज्ञान 'साक्षात्', 'व्यतिरेक' और 'अन्वय' भेद से तीन आकारों में देख पड़ता है। इन्द्रियाँ ही अभिभावक रूप से जब वस्तु का दर्शन करने वाली होती हैं, तब वह साक्षात् अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। इस अवस्था में नानाविध माया की विचित्रताओं में अनुरागयुक्त होकर इन्द्रियाँ पुत्र-कन्यादि, घर द्वार, रुपए-पैसे के प्रति ममत्व बुद्धि करके उनके भोग की मालिक होती हैं। यही जीव का बद्धाभिमान या स्वरूप विस्मृति है। इस प्रकार के कर्मचक्र में प्रविष्ट होकर जीव नानाविध सुख-दुःखों के भीतर से गुजरता है। और जब यह मालूम पड़ जाता है कि ये सब विषय माया-मरीचिका के समान अस्तित्व-विहीन हैं, केवल भ्रम के द्वारा बारम्बार हमें धोखा देते हैं, तब इन्द्रिय ज्ञान के प्रति श्रद्धाहीन होकर अपरोक्षानुभूति के लिए चेष्टा करने जाकर शरणागति के अभाव से युक्ति को बार बार पीसकर व्यतिरेक भाव से जो ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता की अभिन्नता के प्रतिपादन की चेष्टा करते हैं, उससे भगवान वासुदेव नृसिंहरूप से आविर्भूत होकर उनकी सत्ता के विनाशक बनते हैं। यह हमारे बहुजन्मार्जित अपराध का फल या हरि-विमुखता की पराकाष्ठा है। ऐसे ज्ञानी की भगवान् की निरंकुश इच्छा को ध्वंस करने के इरादे से जो सेवा की छलना होती है, वह कपटी पूतना की चित्त-वृत्ति है।

ऐन्द्रियक (इन्द्रियजनित) और केवलाद्वैत—इन दो प्रकार के ज्ञान के अलावा और एक प्रकार का ज्ञान है, वह विज्ञान-समन्वित, भक्तियोग-परिभावित हृदयकमल में उदित होता है। यही भगवत्सम्बन्धी अद्वयज्ञान है। इस प्रतीति में एक अखण्डतत्त्वपूर्ण पुरुष विद्यमान हैं और उनमें अपाश्रित रूप से माया-तत्त्व है। इन दोनों के सन्धिस्थल में 'जीव' नाम का एक और तत्त्व है। वह भगवान की माया के द्वारा सम्मोहित होकर संसार में भ्रमण कर रहा है। फिर अधोक्षज कृष्ण में भक्ति के द्वारा उसकी माया से छुटकारा होता है। यही अखिल मानववृन्द के गुरु श्रीव्यासदेव की समाधिलब्ध अचिन्त्य भेदाभेद दर्शन या भगवान की अचिन्त्यगुण ज्ञान है।

अनेक भक्ताभिमानी, विचार-विहीन, सिद्धान्त के विषय में अपटु होकर कहा करते हैं—"महाशय, भगवान की भक्ति करनी चाहिए, बस इतने ज्ञान की क्या आवश्यकता है? कौन भक्त है, कौन अभक्त, यह जानने का हमें क्या प्रयोजन है? जिसके शरीर में तिलक माला देख पड़े, वही वैष्णव है, उसी की सेवा करना उचित है।" यह कहकर वे भागवत के "ततो दुःसंगमुत्सृज्य" श्लोक के प्रति अनादर करके जिस काल्पनिक भक्ति का अनुष्ठान करते हैं, उससे उनके मन की धारणा यह है कि भक्ति-पदार्थ मूर्ख लोगों की सम्पत्ति है, मुख को विकृत करना और बगलाभक्ति या वक-धार्मिकता ही उसका प्रधान अंग है। अच्छा, हम

ज्ञान विहीन होकर क्या एक क्षण भी व्यतीत कर सकते हैं ? जब मैं हूँ तभी मेरी प्रतीति है। या तो जब मैं बद्ध हूँ, तब मेरे अहंभाव में जड़ बुद्धि और जगत की समस्त वस्तुओं में भोग्य बुद्धि या संबंध ज्ञान-शून्य जड़ ज्ञान है, और नहीं तो विषय सब हरि-सम्बन्धी हैं और मैं हरि का दास हूँ — यह ज्ञान है। वस्तु के जड़ भाव-परित्याग होने पर ही अपरोक्षानुभूति या अप्राकृत बुद्धि होती है। और भी देखिए, अर्जुन जब श्रीकृष्ण सारथी के साथ रण क्षेत्र में उपस्थित हुए, तब उनको युद्ध के लिए उद्यत योद्धाओं में आत्मीय बुद्धि होने से मोहाभिभूति और विषाद हुआ। बाद को जब कृष्ण ने उन्हें आत्मानात्म-विवेक के द्वारा ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म इत्यादि तत्त्व समझा देकर आत्मस्वरूप का प्रदर्शन कराया, तब उनका ज्ञान दिव्य हुआ यही प्रकृष्ट दीक्षा है। उनका युद्ध ही भगवत् ज्ञान का आनुगत्य या हरि का दास्य था। नहीं तो केवल राज्य के लोभ से कामान्ध होकर युद्ध करने से क्या अर्जुन मंगल लाभ कर सकते थे ?

अब देखिए, प्रत्येक भक्ताभिमानी को दीक्षा का प्रयोजन है। 'दीक्षा' का अर्थ कोई यह न समझ ले कि उपयुक्त समय में कुलगुरु के गृह में आकर कान फुकवा लेने से ही दीक्षा का कार्य सम्पन्न हो जाता है। दिव्य ज्ञान-लाभ और पाप की अच्छी तरह क्षय न होने तक दीक्षा का कार्य समाप्त नहीं होता। इस अवस्था तक दिव्य ज्ञान देने-वाले सद्गुरु के निकट सम्बन्ध-ज्ञान के श्रवण में मन लगाना होता है। श्रीगुरुकृपा के बल से मन्त्र की स्वरूपानुभूति होने से ही भगवान की सेवा का आरंभ होता है, नहीं तो केवल प्राकृत विश्वास का आश्रय लेकर कनिष्ठाधिकार संगत आंशिक चेष्टा में मनोनिवेश करने से समय पर खूब पद्यान भावग्राही और मूर्ख आदमी के निकट उच्च भक्त-पदवी संज्ञा पाने पर भी वह भक्ति नहीं है। कर्म-चेष्टा और निर्विशेष ज्ञान को जड़ से न उखाड़ सकने पर शुद्ध भक्ति के लाभ की आशा सुदूर-पराहत है साधन, भाव और प्रेम-भक्ति की तीनों अवस्थाओं में केवल इन्द्रियगत अनुष्ठान को साधन कहते हैं। वह भाव के अनुगत है। भाव लाभ के विना साधन केवल व्यर्थश्रम है। भाव जब प्रेम के अधीन होकर सिद्धरस प्रकट करता है, तब वह स्वरूपसिद्धि का नाम पाता है। साधन और भाव कभी कभी विकृत भाव से जो आभास-रूप से परिचय देने की चेष्टा करता है, वही कर्म और ज्ञान के नाम से अभिहित होती है। यद्यपि भक्ति निरुपाधि या केवला है—उसका कोई अंग प्रत्यंग नहीं है, तथापि साधन-अवस्था में शुद्ध ज्ञान को अंगीभूत न करने से भक्तिराज्य में प्रवेश लाभ नहीं होता। फिर रहस्य यह है कि बद्ध जीव में देह, मन, आत्मा का जो भेद है, संपूर्ण आत्मधर्म के विकाश में देह मन और आत्मा की अति-वस्यता के कारण उनकी क्रिया की पृथक् स्थिति नहीं होती। भक्ति-भेद, भक्त-भेद, कर्म ज्ञान और भक्ति के पार्थक्य तथा देह, मन और आत्मा के विषय में अभिज्ञान हुए बिना भक्ति का साधन कैसे होगा, समझ में नहीं आता।

विचार के अभाव से देह में ही अहं-बुद्धि एवं कर्म को ही भक्ति तथा भोग को ही प्रेम संज्ञा देकर जो अनभिज्ञता का संचय करते हैं, उसके फल से आजकल श्रवण कीर्तनादि भक्ति के असह योग से एकदम सिद्ध प्रणाली का प्रदान, बाह्य देह के ऊपर सखी वेष का धारण, श्रीगुरु-गौरांग की नागरभाव से उपासना इत्यादि नाना विध कुमत उत्पन्न किए गए हैं। वे भक्ति के मार्ग में कंटक स्वरूप हैं सत्य की प्राप्ति में विघ्न स्वरूप हैं। श्रवण-कीर्तनादि जब तक सुष्ठु भाव को नहीं प्राप्त होते तब तक स्मरण संभव नहीं। सम्बन्ध ज्ञान के अभाव से वृथा काल्पनिक चेष्टाएँ करने से जड़भाव ही मिलता है। शुद्ध ज्ञान का अनादर करके भक्ति की जो चेष्टा है, वह विडम्बनामात्र है। शुद्ध ज्ञान कदापि घृणा के योग्य नहीं। जीव का स्वरूप ही ज्ञान है और उसकी वृत्ति ही भक्ति है। दुर्भाग्यवश स्वरूप में अवस्थित होकर जो सेवा नहीं पाते, वैसी मूढ़ निर्विशेष चिन्ता हमें सब तरह से त्याग देनी चाहिए। जिसे अशेष करुणासागर की उद्वेल तरंग ने भागवत के चित्त को भक्तिरस से पूर्ण किया है जो वह रस जगद्वासियों को पान कराने के लिए विषय-विमूढ़ मोहगर्त्त में पतित हैं, साक्षात् ज्ञानद्वारा अमान्य और निर्विशेष ज्ञान द्वारा वञ्चित लोगों के हृदय में अचिन्त्य भेदाभेद ज्ञान का विकास करने में व्यस्त है, वही दिव्यज्ञान के देनेवाले सद्-गुरु हैं। उनके चरणयुगल की ही भागवत जन नित्य आराधना करते हैं।

संस्कृत की शास् धातु से 'शास्त्र' शब्द बना है। शास् धातु का अर्थ है शासन करना। जो हमारी मनोधर्मरूप उच्छृंखलता का शासक है, वही शास्त्र है। हम नासिका, जिह्वा, श्रवण, चक्षु, त्वचा और मन के छः प्रकार के प्रत्यक्ष द्वारा द्वैत वस्तु का विचार करते हुए जब अस्थिर और असत सिद्धान्त कर बैठते हैं अथवा अनुमान, आर्ष, अर्थापत्ति, अभाव, ऐतिह्य आदि प्रमाणों पर निर्भर करके वास्तव वस्तु भगवान और शुद्ध जीव का अस्तित्व तक अस्वीकार करने का साहस करते हैं, तब आप्तोपदेश शब्द या शास्त्र हमारे नियामक और शासकरूप से उपस्थित होकर निरस्त-कुहक सत्य की वाणी कहा करता है। जड़ीय वस्तु के विचार में ही हम प्रत्यक्ष आदि का व्यभिचार देख पाते हैं। सुतराम् अचिन्त्य अलौकिक वस्तु के ज्ञान के प्रत्यक्ष आदि के द्वारा आच्छादित होने में सन्देह ही क्या है? एक मात्र भ्रम प्रमाद-विप्रलिप्सा-करण पाटव के दोष से रहित वचनात्मक शास्त्र ही प्रमा अर्थात यथार्थ ज्ञान देने म समर्थ है।

आम्नाय-परम्परा से अवतीर्ण, निरस्त-कुहक, नित्य सत्य ही यथार्थ शास्त्र है। स्वकपोल कल्पित या देश-काल परिच्छिन्न मत कभी शास्त्र नहीं कहला सकता। बृहदारण्यक (२।४।१०) उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी के संवाद में हम देख पाते हैं कि चार वेद, इतिहास और पुराण आदि शास्त्र परमेश्वर के निःश्वास रूप से जगत् में प्रकट हुए हैं। मुण्डकोपनिषद् के प्रथम श्लोक "स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह" श्रीभागवत के प्रथम में "तेने ब्रह्म हृदाय आदिकवये", चतुःश्लोकी भागवत के प्रारम्भ में "तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्" इत्यादि श्रुति-स्मृति-वाक्यों से एवं मत्स्यपुराण, तृतीय अध्याय, शास्त्रोत्पत्ति-प्रसंग में तत्त्वसन्दर्भधृत स्कान्द-प्रभास-खण्ड वाक्य से हम विशेष भाव से जान पाते हैं कि एक मात्र भगवदुपदिष्ट आम्नाय वाक्य ही शास्त्र है। स्कान्द पुराण के वचन को उद्धृत करके श्रीपाद मध्वमुनि कहते हैं—

ऋग्यजुःसामाथर्वाश्च भारतं पञ्चरात्रकम्।
मूलरामायणञ्चैव शास्त्रमित्यभिधीयते॥
यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम्।
अतोऽन्यग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत्॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, भारत (महाभारत) और सात्वत पञ्चरात्र लक्षणात्मक ग्रन्थ समूह, रामायण,ये सब शास्त्र कहे गए हैं। इनके अनुकूल जो सब ग्रन्थ हैं,उनकी भी शास्त्रों में गिनती है। इनके सिवा जो ग्रन्थ हैं, वे कुमार्ग स्वरूप हैं।

मनुष्यों के अधिकार-भेद से शास्त्र तीन प्रकार के हैं—सात्त्वत, राजस, तामस। जैसा कि मत्स्यपुराण में लिखा है—

सात्त्विकेषु च शास्त्रेषु माहात्म्यमधिकं हरेः।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः॥
तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च।
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणाञ्च निगद्यते॥

सात्वत शास्त्र में सर्वेश्वर परमपुरुष भगवान् श्रीहरि का माहात्म्य और जीव के आत्यन्तिक मंगल की बात वर्णन की गई है। राजसशास्त्र में ब्रह्मा आदि देवतों का माहात्म्य और युद्ध विग्रह आदि का उपदेश तथा तामस पुराणों में अग्नि, शिव व दुर्गा की महिमा अधिक वर्णित हुई है। साथ ही पशु वध और मद्य पान आदि का विधान भी उनमें पाया जाता है। संकीर्ण (फुटकल) शास्त्रों में सरस्वती और पितृलोक की महिमा का कीर्तन किया गया है। राजस और तामस शास्त्रों का उद्देश्य एकान्त बहिर्मुख जीवों को गौणफल से प्रलुब्ध करके भगवान् की ओर उन्मुख करना है। लगे हुए काँटे को दूसरे काँटे से निकाल कर दोनों काँटों को फेंक देना ही शास्त्र का उद्देश्य है; किन्तु अविवेकी लोग एक काँटे को निकालते-निकालते दूसरा काँटा भी चुभो लेते हैं। हम देख पाते हैं कि जैमिनि आदि ऋषिगण तक वेदत्रयी के मधुपुष्पित वाक्यों में आबद्ध हो पड़े हैं और उन्हें निरस्तकुहक सत्य का पता नहीं लगा। श्रीजीवपाद ने तत्त्वसन्दर्भ (१७ संख्या) में लिखा है—"तेषामपि सामग्र्येनाप्रचारात्तद्रूपत्वान्नानादेवताप्रतिपादक प्रायत्वाद्दर्वाचीनैः क्षुद्रबुद्धिभिरर्थो दुरधिगम इति तदवस्थएव संशयः।" अर्थात् पुराणादि वेद-प्रामाणिक शास्त्रों का संपूर्ण अंश दृष्टिगोचर न होने से प्रचलित अंशों में नाना देवताओं

की महिमा और उपासना के विषय का उल्लेख देखकर अर्वाचीन क्षुद्रबुद्धि व्यक्तिगण शास्त्र के तात्पर्य के निर्णय में असमर्थ हो पड़ते हैं। सुतराम् जीवात्मा के उपास्य या सम्बन्ध वस्तु के सम्बन्ध में भी उन्हें संशयापन्न होना पड़ता है।

आगे चलकर उसी ग्रंथ की १५ संख्या में आप लिखते हैं—'यः खलु पुराणजातमाविर्भाव्य ब्रह्मसूत्रञ्च प्रणीयाप्यपरितुष्टेन तेन भगवता निजसूत्राणामकृत्रिमभाष्यभूतं समाधिलब्धमाविर्भावितम्। यस्मिन्नेव सर्वशास्त्रसमन्वयो दृश्यते।' अर्थात् श्रीवेदव्यास ने निखिल पुराण शास्त्र और वेदान्त का प्रणयन करके भी जब चित्त में प्रसन्नता का अभाव देखा, तब श्रीनारदजी के निकट उसका कारण जानने की इच्छा प्रकट करने के बाद समाधिस्थ हो गए और समाधि में ही उनको ब्रह्मसूत्र के अकृत्रिम विशद भाष्य के सदृश श्रीमद्भागवत-संहिता प्राप्त हुई। इस श्रीमद्भागवत शास्त्र में सभी शास्त्रों का समन्वय या तात्पर्य पाया जाता है। श्रीगीताशास्त्र भी सब शास्त्रों का सारांश होने के कारण सभी आचार्यों ने उसे ग्रहण किया है। बृहत्संहिता में—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता — फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये॥

उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वताफल अर्थवाद और उपपत्ति का शास्त्र के तात्पर्य को जानने का कारण कहकर उनका उल्लेख किया गया है। उपक्रम का अर्थ है ग्रन्थ का आरम्भ। श्रीमद्भागवत और श्रीगीता के सारग्राही होकर विचार करने से देख पड़ता है कि श्रीभगवान ने अर्जुन को आरंभ में, उपसंहार अर्थात् ग्रंथ की समाप्ति में, अभ्यास अर्थात् पुनः पुनः सर्वेश्वर भगवान में आत्मधर्म भक्ति की बात ही का उपदेश किया है। बाहुल्य के भय से इस जगह सब श्लोक उद्धृत करके नहीं दिखाए जाते। शास्त्र जो है सो कर्म-ज्ञान योग आदि विविध मार्गों को अवतारणा करके इन सब की कितनी प्रयोजनीयता तथा मूल्य है, यह दिखलाता है। किन्तु इसी कारण उन्हें (उक्त मार्गों को) जीव का धर्म जानकर ग्रहण करना सारग्राही पुरुष का कर्तव्य नहीं है। जैसे गीता में कर्म-ज्ञान आदि की प्रशंसा देखी जाती है; किन्तु आत्मधर्म के उद्देशक होने से ही उनका मूल्य है, नहीं तो नहीं।

यत्करोषि यदश्नासि तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः॥"

इत्यादि वाक्यों में भगवान के उद्देश से किए गए कर्म की ही प्रशंसा देखी जाती है। तथा सांख्ययोग नामक गीता के छठे अध्याय के अन्त में ज्ञानी और योगी से

श्रद्धावान भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।

तथा उपसंहार में -

"मामेकं शरणं व्रज।"

इत्यादि वाक्यों में शास्त्र का यही तात्पर्य प्रमाणित होता है कि अधोक्षज भगवान में भक्ति ही आत्मधर्म है।

अपार करुणामय भगवान् से विमुख जीव को उनकी ओर उन्मुख करके नित्य सेवा रूप परमपुरुषार्थ प्रदान करने के लिए शास्त्र ने प्रकट किया है—

मायामुग्ध जीव को नहीं कृष्ण-स्मृति-ज्ञान।
जीव की कृपा को किए कृष्ण वेद पुराण॥
शास्त्र गुरु-आत्मारूप निज को बतावें आन।
कृष्ण मेरे प्रभु-त्राता जीव को होता ज्ञान॥
इसका दृष्टान्त जहाँ दरिद्र के घर में।
सर्वज्ञ आय दुःख देख पूँछे मृदु स्वर में॥
तुम क्यों हो ऐसे दुखी, तुम्हारे है पितृधन।
तुम से न कहा और अन्यत्र छोड़ा जीवन॥
सर्वज्ञ के वाक्य में करे धन का उद्देश।
यही वेद पुराण में जीव को कृष्ण उपदेश॥
(चैतन्य चरितामृत मध्य २० परिच्छेद)

वेदान्त (१।१।३) के 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र में कहा है कि प्रत्यक्ष प्रमाण आदि के अविषय अधोक्षज भगवान् शास्त्र ही के द्वारा जीव के निकट परिचित होते हैं।

श्रीभगवान की शिष्ट का पालन और दुष्ट का दमन—यह द्विविध लीला ही नित्य है। परम कारुणिक भगवान ने एक ओर जैसे जीव की दुर्गति देख कर आत्मधर्म प्रतिपालक शास्त्रों का प्रणयन किया है, वैसे ही दूसरी ओर उन्होंने मोहनशास्त्र का भी जगत् में प्रचार करके अहंभावपरायण दुष्टबुद्धिसम्पन्न दुष्कृती लोगों को और भी मोहित किया है। जैसा कि कूर्मपुराण में लिखा है—

एवंविधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि तु।
मया सृष्टानि चान्यानि मोहो येषां भवार्णवे॥

हिमालय से उमादेवी कहती हैं—वामाचार-कथित पाशुपत, योग, नाकुल, भैरव आदि शास्त्र मोहित जीव के मोहनार्थ मैंने ही निरज हैं।

वराह पुराण में श्रीभगवान महादेव को मोहकशास्त्र के प्रणयनार्थ आदेश देते हैं –

एष मोहं सृजाम्याशु यो जनान मोहयिष्यति।
त्वञ्च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय॥

पद्मपुराण में शंकर स्वयं उमादेवी से कहते हैं कि कलियुग में वह प्रच्छन्न बौद्धवाद मायावाद रूप असत्शास्त्र का प्रचार करेंगे—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।
मयैव विहितं देवि कलौ ब्राह्मणमूर्तिना॥

एक ओर जैसे जैमिनि आदि ऋषिगण वेद के कर्मवाद में मोहित हैं, दूसरी ओर वैसे ही शांकरिकगण अतिविद्या में पड़कर मोहित हैं। बौद्धलोग वेद को अस्वीकार करके नास्तिक हैं और मायावादीगण वेद को स्वीकार करके भी उनसे बढ़कर नास्तिक हैं। स्पष्ट प्रमाण द्वारा स्वीकार करने पर भी कार्यतः वे प्रत्यक्ष विचार की प्रधानता प्रदर्शित करते हैं; अतएव भगवान् की माया में मोहित हैं। गीता में कहा है—

"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।"
"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।"
"श्रद्धावान लभते ज्ञानं..."

उपनिषद् उच्च स्वर से कहती है—

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।"

शास्त्र ज्ञान की अभिन्न मूर्ति है। जो शास्त्र के शरणागत है, जो शास्त्र में अविक सेवाप्रवृत्ति-विशिष्ट है, वही शास्त्र के सिद्धान्त को उपलब्ध करने में समर्थ है।

भक्त भागवत ही भागवत ग्रंथ का मर्मार्थ दूसरे को बतला सकता है। इसी कारण श्रीगौरसुन्दर की यह आदेशवाणी है—

"जाओ भागवत पढ़ो वैष्णव के पास।"

सुतराम् यदि शास्त्र का अर्थ हृदयंगम करना हो तो हमें सबसे पहले श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्रीगुरुदेव के सामने प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा वृत्ति के साथ जाना चाहिए। शास्त्र में प्रवेश के लिए दूसरा मार्ग नहीं।

"आचार्यवान पुरुषो वेद।"

आचार्य से युक्त पुरुष ही जानता है, यह उक्ति सर्वथा ठीक है।

श्रीगुरु-सेवा

(श्रीनन्दुदुलाल ब्रह्मचारी)

गुरुचरणौ संविहाय भगवदन्तर्भुक्वीकर्तुं प्रपतन्तं तेषु तेषु उपायेषु खिद्यन्ते, अतो व्यसनशतान्विता भवन्ति, अतएव इह संसारे तिष्ठन्त्येव। (भ. स.)

हम लोग इस श्लोक की सदैव आलोचना करते रहे हैं, किन्तु इसका भावार्थ नहीं जान सके। यदि हम लोगों को इस श्लोक का भावार्थ ज्ञात होता तो हम उक्त श्लोक में कही हुई दुर्दशा में न पड़ते। हम लोग श्रीगुरुदेवजी की सेवा के निमित्त उनके पादपद्म के शरणागत होते हैं। श्रीगुरुदेवजी हमारी सेवा से संतोष लाभ करके हम लोगों को भगवत् ज्ञान का उपदेश दान करते हैं। यदि हम लोग सौभाग्यवान् हैं, तो श्रीगुरुदेवजी की मुखपद्म-निःसृत वचनवाणी समझ सकते हैं और यदि भाग्यहीन हैं तो भगवत्वाणी से वञ्चित रह जावेंगे।

यदि हम लोग सौभाग्य से श्रीगुरुदेवजी की सेवा करने के लिये प्रवृत्ति-विशिष्ट हुए हैं, तो हम लोगों के कानों में श्रीगुरुदेवजी के मुखपद्म से निःसृत वाणी प्रवेश करती है। और उसी समय में हम लोग उस बात को सुन पावेंगे, समझ सकेंगे, और जिस अवस्था में हैं, उस अवस्था से उन्नति कर सकेंगे।

माया देवी हम लोगों को प्रतिमुहूर्त भगवत्-विमुख करने के लिए चेष्टा करती रहती है। जिस मुहूर्त में हम

लोग श्रीगुरुदेवजी का आनुगत्य धर्म त्याग करते हैं, उसी समय मायादेवी हम लोगों का ग्रास करती है, और उसी मुहूर्त में दुर्निग्रयगण शत्रु होकर हम लोगों पर आक्रमण करते हैं। उसी समय श्रीगुरुदेवजी के पादपद्म त्याग कर हम लोग ज्ञानी, कर्मी होने के लिये प्रयास करते हैं। यथार्थ में यदि हम लोग श्रीगुरुमुखनिःसृत वाणी सुनने के लिये उन्नत हुए हैं, तो हम जान सकते हैं कि गुरुपादपद्म और उनकी सेवा नित्य है। श्रीगुरुदेवजी चैतन्य वस्तु हैं और हम भी चैतन्य वस्तु हैं। चैतन्यवाणी श्रवण करना हमारा एकमात्र कर्तव्य है। श्रीगुरुदेवजी एकमात्र चैतन्यवाणी का आचार व प्रचार कर रहे हैं। हम लोगों को उसी चैतन्यवाणी में मनोनिवेश करना चाहिये। जगत का विषय लेकर सिर में पसीना ले आने की कोई आवश्यकता नहीं है। श्रीगुरुदेवजी वैकुण्ठ से आविर्भूत हुए हैं, और उनके मुखनिःसृत वाणी वैकुण्ठवाणी है। इस विषय को हम लोगों को उपलब्धि करना होगा। यदि हम लोग इस जगत का विषय लेकर सिर धुनें तो उस चैतन्यवाणी की उपलब्धि नहीं कर सकते। इस संसार में जो चैतन्यवस्तु नहीं है, वही सब हम लोगों के विपरीत भाव उदय कर देती हैं।

सेवा

(पं० लोकनाथ मिश्र)



र्मपथ अवलम्बन करके अपना बहुत समय हम लोग कार्य और समय की नियमावली के लिये लगा देते हैं। किस प्रकार हमको कार्य करना होगा, ऐसे नियमों को ढूँढ़ा करते हैं। इस प्रकार का भाव बुरा नहीं है और इसके पहले एक और बात जानने योग्य है।

हम लोग इस बात को भलीभाँति जानते हैं कि कुमारी कन्या विवाह के पहिले अपने पति के गृह के लिये समय न कार्य-नियमावली में व्यस्त नहीं होती। पति के साथ कन्या का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये अभिभावकों को चेष्टा करनी पड़ती है। सबसे पहिले पति के साथ सम्बन्ध स्थापन करना, दूसरे पति के गृह में गमन करना उसके पश्चात गृहस्थी करने के लिये कार्य-नियमावली रचना चाहिये।

जिस प्रकार यदि कोई लड़की विवाह के पश्चात् अपने पति के गृह न जावे और वहाँ जाकर स्वामी की सेवा न करे, तो उसका सम्बन्ध ठीक न कहना चाहिये। जिस समय वह लड़की नाना प्रकार के अभाव असुविधा रोग, दुःखादि का विचार न करके अपने सुख को तिलाञ्जलि देकर स्वामी ही का अपना सर्वस्व काम जानकर गृहस्थी का कार्य करती है, उसी समय उसको अपने स्वामी से सम्बन्ध जानना चाहिये।

भगवानजी हम लोगों के नित्य पति हैं। गौरजन श्रीगुरुदेव हम लोगों का उसी पति के साथ सम्बन्ध कर देते हैं। जिस समय श्रीगुरुदेवजी की कृपा से हम लोगों को सम्बन्ध ज्ञान होता है, उसी समय हम लोग उस लड़की की नाईं एकमात्र अपने पति श्रीकृष्णचन्द्रजी के पादपद्म में आसक्त होते हैं। उस समय हम लोग रोग शोक, अभाव, असुविधा दुःखादि अग्राह्य कर प्राणपण से हर घड़ी भगवानजी की सेवा कर सकते हैं।

स्वामी के साथ सम्बन्ध होने के पहिले लड़की जो कुछ कार्य करती है, वह गुड़िया का अनुकरणमात्र है गुड़िया के खेलद्वारा अपने स्वामी की सेवा नहीं होती; किन्तु उसके चित्त में आनन्द की धारा उत्पन्न होती है।

सम्बन्धविहीन होकर हम लोगों का हरि-सेवा करने का अभिनय उसी प्रकार का है। सती स्त्री किसी समय भी दूसरे से यश पाने की लालसा से सेवा नहीं करती, किंवा सेवा के बदले अपने सुख के लिये आभूषण आदि नहीं माँगती। उसकी चेष्टा अपने पति के सुख के लिये है, अपने सुख के लिये नहीं।

जो लोग भक्त हैं, उन्होंने भगवान् को अपना सर्वस्व दे दिया है। उन लोगों ने सती स्त्री के समान अपना सुख भूल कर एकमात्र अपने पति श्रीकृष्णचन्द्रजी की प्रीति

के लिये उनके पादपद्म में जीवन समर्पित कर दिया है। भक्तवत्सल भगवान भी भक्त के वशीभूत होकर सर्वक्षण उसके हृदय में विराजमान होकर उसको नित्य आनन्द प्रदान करते हैं।

जिस समय हम लोगों को गुरु-वैष्णव की कृपा से भगवान के साथ सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है, उस समय सती स्त्री की पतिसेवा की नाईं हम लोगों के प्राण अपने नित्य पति श्रीकृष्णचन्द्र के लिये रोदन कर उठते हैं। हम लोग योग्यता लाभ करके धन्य हो सकते हैं, एवं उसी समय हम लोगों के जीवन के कर्तव्य वा कार्यावली की सार्थकता उपलब्धि का विषय होती है, इसके अतिरिक्त दूसरे उपाय से नहीं।



बातचीत के सिलसिले में पूतना की चर्चा उठते ही हम लोगों की क्या धारणा होती है? हम सोचते हैं कि उस द्वापरयुग के कृष्णावतार में भोजराज कंस ने जिस मायाविनी राक्षसी को कृष्णवध करने के लिए गोकुल को भेजा था, वही राक्षसी पूतना है। उस मायाविनी राक्षसी ने सुन्दरी रमणी का वेश बनाकर नन्द के भवन में जाकर स्तनों में विष का लेपकर दूध पिलाने के बहाने कृष्ण को गोद में उठा लिया था। किन्तु बाद को शिशुरूपी भगवान के हाथों से ही उसकी सारी माया भर-भंड हो गई। श्रीभगवान् के चरणों में अपराध करने के कारण उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़े।

यद्यपि हमने उस द्वापरयुग के पूतना-वध की लीला अपनी आँखों से नहीं देखी, तथापि श्रीभागवत पढ़कर और लोकमुख से पूतना की कथा सुनकर हम मायाविनी के कपट या छलना का आदर नहीं करते, बल्कि उसके उस व्यवहार को हम अपने लिए भी सर्वनाश ही का कारण जानते हैं। यहाँ तक कि हम अपने बन्धु बान्धवों में से किसी के कपट व्यवहार को देख पाकर कह उठते हैं—यह आदमी बन्धु नहीं, जैसे पूतना है। उसी पूतना की कथा पर आज हम संक्षेप में विचार करते हैं।

पहले तो हम यह देख पाते हैं कि पूतना ने अपना असल रूप और वेष छिपाकर बाहर सबके मन को अपनी ओर खींचने के लिए एक सुन्दरी स्त्री का रूप धारण कर लिया था।

दूसरे अपने हृदय की कृष्ण को मारने की प्रवृत्ति या इच्छा को छिपाकर स्नेहशीला जननी का व्यवहार दिखाकर कृष्ण को गोद में उठा लिया था।

तीसरे आप अपरिचित होकर भी बाहर सबके साथ आत्मीय भाव दिखाकर बिना किसी बाधा के नन्द के घर में घुस गई थी।

चौथे व्रज के सभी लोगों के प्रीतिपात्र कृष्ण को उसने भी प्यार किया था।

इस प्रकार विशेष भाव से आलोचना करने पर बाहर वेशभूषा, हाव-भाव और कार्य के द्वारा हम पूतना को किसी तरह कृष्णद्वेषिणी नहीं समझ पाते। एकान्त अन्तर के भाव से उसे देखने पर किन्तु वर्ण वर्ण में उसके कृष्ण-द्वेष का परिचय हमें मिलता है। आजकल कलिकाल में भी भगवान की कृपा से प्राप्त ज्ञान के द्वारा इस पूतना के समान लाखों पूतना देखने का सुयोग हमें प्राप्त होता है। जान पड़ता है, पाठकवर्ग भी इस तरह की पूतना के दर्शन पा चुके होंगे और सर्वदा पाते रहते होंगे। अस्तु, हम आज कलियुग की पूतना का चरित्र लोक-समाज में प्रचारित करने की चेष्टा करेंगे।

हमारे प्रतिपक्ष अगर कहें कि गले पड़कर इस तरह पराए चरित्र की आलोचना करना उचित नहीं, तो उसके उत्तर में हमारा वक्तव्य यही है हम इस प्रकार के मत के पक्षपाती नहीं हैं, बल्कि शास्त्र और साधुजनों के आदेश को शिरोधार्य करके समाज के, केवल समाज के ही क्यों, परमार्थ जगत् के मार्ग में कण्टकसदृश मायाविनी छद्मवेश-धारण करनेवाली पूतना का हाल ऊँचे स्वर से प्रत्येक जीव के सामने द्वार-द्वार घूम कर प्रचार करते हुए इस "जीव-दया" के अनुष्ठान में कुण्ठित न होंगे। अवश्य ही हम यह जानते हैं कि पूतना के दुष्ट विचार को पकड़ लेने या जान लेने से पूतना के ही उद्देश्य की सिद्धि में

विघ्न होगा; किन्तु हम यह भी समझते हैं कि एक पूतना का चरित्र भी यदि प्रकट कर दिया जाय तो बहुत अनभिज्ञ लोगों का मंगल होगा। इसी कारण द्वापर में कृष्णचन्द्र ने बालघातिनी पूतना को मारकर व्रज के बालकों को विपत्ति से मुक्त किया था।

आजकल जहाँ देखो वहाँ साधु के वेश में भेड़श्रेणी के भक्तों को हम सर्वदा देख पाते हैं। वे बाहर केवल सर्वज्ञ नाटक वेश धारण करते हैं, किन्तु उस वेश में जो आचार व्यवहार होना चाहिए, वह न करने के कारण हम उन्हें प्रथम श्रेणी की पूतना कहेंगे।

दूसरे जो लोग बाहर प्रेम-विभोर भाव दिखाकर रसिक भक्त के नाम से लोगों की दृष्टि में सुप्रतिष्ठित प्राप्त करने के लिए यत्न करते हैं, किन्तु भीतर कृष्णभक्त के विरोधी भावों—भुक्ति (या जड़ विषय-भोग), मुक्ति (या भगवत्सायुज्य लाभ) और सिद्धि की स्पृहा—का पोषण करते हैं वे भी पूतना की श्रेणी के ही जीव हैं।

तीसरे जगत् के सभी लोग हमारे आत्मीय हैं—हृदय में इस उदार भाव को बाहर प्रकट करके जड़ीय स्वार्थसिद्धि के लिए जो लोग लोकसमाज में घूमते हैं, वे भी पूतना हैं।

चौथे सर्वाराध्य भगवान की सेवा ही हमारा उद्देश्य है—इस भाव को दिखाकर एवं उक्त भजन के कुछ कुछ आचरण बाहर अनुशीलन करके मूर्ख या बुद्धिहीन लोगों की आँखों में धूल झोंककर उन लोगों को जो ठगते हैं, वे भी पूतना हैं।

अब पाठकगण, देखिए, आज इस विद्यमान कलियुग में उपर्युक्त लक्षण किसके हैं, सो शायद अधिक स्पष्ट करके कहने की आवश्यकता नहीं।

इसीसे हम कह रहे थे कि द्वापरयुग की तरह उपर्युक्त पूतनाओं का त्याग अत्यन्त आवश्यक है; नहीं तो धर्मजगत में हम जो बालक हैं, उनको ये अवश्य ही भारी हानि पहुँचावेंगे।

मायापुर-पूर्ण चन्द्रोदय

(गत संख्या से संयुक्त)

महाप्रभु के महाप्रकाश के दिन श्रीमुकुन्द दरवाजे के बाहर थे। प्रभु एक-एक करके सब भक्तों को जब कृपा-वितरण कर चुके, तब भक्तों ने प्रभु को यह सूचित किया कि श्रीमुकुन्द बाहर ही हैं। प्रभु ने कहा - मैं मुकुन्द के ऊपर शीघ्र प्रसन्न न होऊँगा; क्योंकि वह भक्तों के निकट शुद्ध भक्ति की बात कहता है, और मायावादियों के निकट योगवाशिष्ठ-लिखित मायावाद स्वीकार करता है। मुकुन्द की मायावादियों का संग छोड़ने की दृढ़ता जान पाकर प्रभु ने उसी घड़ी उनको अपने पास बुलाया और उनके ऊपर अपनी प्रसन्नता प्रकट की। इस लीला के द्वारा महाप्रभु ने जनाया कि जो लोग तथाकथित समन्वयवादी हैं, उन सब व्यक्तियों का दुःसंग परित्याग करके अन्याभिलाष कर्म ज्ञान-निर्मुक्त शुद्धभक्ति में एकान्त निष्ठा से युक्त हुए बिना भगवान की प्रसन्नता नहीं प्राप्त होती।

श्रीअद्वैताचार्यजी जगद्गुरु महाप्रभु के गुरुरूपी श्रीईश्वर पुरी के गुरुभाई थे। इसी कारण महाप्रभु अद्वैताचार्य पर गुरु के समान भक्ति रखते थे। श्रीअद्वैताचार्य ने श्रीगौरसुन्दर के इस प्रकार के गौरव प्रदान कार्य से दुःखित होकर महाप्रभु का दण्डप्रसाद लेने के लिए शान्तिपुर में जाकर कुछ वञ्चनायोग्य दुर्भाग्य व्यक्तियों के निकट ज्ञान मार्ग का व्याख्या करना शुरू कर दिया। यह सुनकर महाप्रभु क्रोधाविष्ट हो गए, और शान्तिपुर में उपस्थित होकर अद्वैत प्रभु को अच्छी तरह प्रहार किया। इस प्रहार-प्रसाद को प्राप्त कर अद्वैत प्रभु नाचते-नाचते कहने लगे—आज मेरी मनस्कामना पूर्ण हुई।

एक दिन महाप्रभु ने भक्तों के निकट श्रीनाम की असमोर्द्ध महिमा का वर्णन किया। उसे सुनकर कोई दुर्भाग्य विद्यार्थी कह उठा - यह नाम की यथार्थ महिमा नहीं है; केवल अतिस्तुतिमात्र है। महाप्रभु ने भक्तों को उस नामा-

पराधी विद्यार्थी का मुख देखने को मना करके अपने गणों सहित सचैल स्नान कर डाला।

किसी दिन प्रभु भक्तों के साथ नगर संकीर्त्तन में श्रमयुक्त होने की लीला दिखाकर जिस स्थान में पहुँचे थे, वहाँ के उस भक्त के आँगन में एक आम की गुठली आपने गाड़ दी। दम भर में वृक्ष तैयार होगया और उसमें फल भी लग गए। उसी आम के द्वारा आम्रोत्सव हुआ था यह स्थान आजकल आम्रहट (आमघाटा) कहलाता है।

एक दिन महाप्रभु द्वर भूमि में संकीर्त्तन करते थे, उसी समय अत्यन्त बादल घिर आए। प्रभु ने बादलों को हट जाने की आज्ञा दी और मेघ उसी समय हट गए। इसी कारण उस गंगाचर भूमि को लोग "मेघ का चर" कहते थे। एक दिन महाप्रभु ने बलदेव के आवेस से यमुनाकर्षण लीला प्रकट करके "मधु लाओ, मधु लाओ" कहना शुरू किया। इसी समय चन्द्रशेखर आचार्य, वनमाली आचार्य आदि भक्तगण ने प्रभु के श्रीकर में स्वर्ण मुशल देखा था।

महाप्रभु ने नाम प्रचार करने के समय श्रीवासआँगन के निकटवर्ती नगरवासियों को पहले करतालों के साथ हरिनाम उच्चारण करने की आज्ञा दी। क्रमशः नवद्वीप के द्वार द्वार में मृदंग, करताल आदि बाजों के साथसंकीर्तन प्रचारित हो पड़ा। बख्तियार खिलजी के आने के बाद नवद्वीप के शासनकर्त्ता फ़ौज़दार चाँदकाजी तक नवद्वीप में हिंदूपन बहुत ही कमज़ोर हो पड़ा था। हिन्दूगण भय के मारे कभी भगवान के नाम का उच्चारण करने का भी साहस नहीं करते थे। किन्तु महाप्रभु के आविर्भाव के बाद उनकी आज्ञा के अनुसार जब नवद्वीप में घर-घर मृदंग करताल आदि के साथ ऊँचे स्वर से हरिनाम का कीर्त्तन होने लगा, तब नवद्वीप के तत्कालीन शासक चाँदकाजी ने यह जान कर एक दिन संध्या के समय श्रीमायापुर के श्रीवास आँगन के निकटवर्ती एक कीर्त्तनकारी नगरवासी के घर में उपस्थित होकर उसका मृदंग तोड़ डाला और यह भय दिखा गया कि भविष्य में अगर कोई नगरवासी इस प्रकार कीर्त्तन आदि करेगा तो उसे विशेषरूप से दंड दिया जायगा और वह जाति भ्रष्ट कर डाला जायगा। जिस जगह पर चाँदकाजी ने उस नगरवासी के मृदंग का खोल तोड़ डाला था, वह भूखण्ड उसी समय से 'खोल भाँगार डाँगा" के नाम से प्रसिद्ध हो गया और अभी तक श्रीमायापुर में मौजूद है। नगरवासी सज्जनों को इस घटना से बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने महाप्रभु के निकट जाकर सब वृत्तान्त निवेदन किया। महाप्रभु ने अत्यन्त क्रोधलीला प्रकट करके सबको और भी ज़ोर शोर के साथ संकीर्त्तन करने का आदेश दिया। नागरिकगणों के अन्तर में काजी का भय बना हुआ जानकर महाप्रभु उसी दिन सन्ध्या केसमय श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीअद्वैत प्रभु और श्रीहरिदास ठाकुर आदि भक्तों के साथ मिलकर सभी नगरवासियों को बुलाकर, तीन विभिन्न संप्रदायों में कीर्त्तन मण्डली को बाँटकर उच्च संकीर्त्तन के साथ नवद्वीप नगर का भ्रमण करते करते उक्त काजी के घर के द्वार पर उपस्थित हुए। काजी भय के मारे अपने घर के भीतर छिप रहा। तब महाप्रभु ने आदमी भेजकर काजी को घर के बाहर बुलाया और इस्लाम धर्म के बारे में नानाविध प्रश्न करना शुरू कर दिया। काजी प्रभु का सिद्धान्त सुनकर निरुत्तर होकर अपने धर्मशास्त्र की असम्पूर्णता स्वीकार करने को बाध्य हुआ।

काजी ने प्रभु के निकट कहा जिस दिन उसने मृदंग तोड़कर नवद्वीप-वासियों को कीर्त्तन करने के लिए मना किया था, उसी दिन रात को नर-देह तथा सिंह मुख एक महा भयंकर मूर्त्ति उसकी छाती के ऊपर उछलकर चढ़ बैठी थी और दाँत किटकिटाती हुई उसे भय दिखाकर उसने कहा था कि मृदंग के बदले यह काजी का हृदय फाड़ डालेगी और उसका सर्वश नाश कर डालेगी।

काजी ने यह वर्णन करके प्रत्यक्ष प्रमाणस्वरूप अपनी छाती में नृसिंह-मूर्त्ति के नख-चिह्न दिखलाए। काजी ने यह भी कहा कि उस दिन उसका एक प्यादा—जिसे उसने कीर्त्तन रोकने के लिए भेजा था—उसने उसके पास आकर कहा कि एकाएक एक आग की उल्का न जाने कहाँ से आकर उस के मुँह पर गिरी कि उसकी दाढ़ी जल गई और चेहरे पर घाव हो गए। काजी ने यह भी कहा कि उसके प्यादे ने उससे कहा था "मैंने हिंदुओं से कहा कि तुम लोग कोई कोई कृष्णदास, रामदास, हरिदास आदि नाम-परिचय में 'हरि हरि' कहा करते हो। 'हरि हरि' शब्द का अर्थ तो बँगला में होता है—चोरी करते हैं, चोरी करते हैं। इससे जान पड़ता है कि तुम लोग दूसरों के यहाँ का धन चुराने के अभिप्राय से ही हरि-हरि उच्चारण करते हो। जिस दिन मैंने उनके साथ ऐसी दिल्लगी

की उसी दिन से मेरी इच्छा न रहने पर भी मेरी ज़बान बराबर हरि हरि कहा करती है।" काजी ने यह भी जताया कि इसके बाद एक दिन कुछ काफ़िरों ने उसके निकट अभियोग उपस्थित करके कहा कि निमाई हिन्दू-धर्म को नष्ट करता है। पहले मंगलचंडी, विषहरि आदि की पूजा में रात्रि को जागरण करना एक धर्म का कार्य था, किन्तु निमाई ने गया से लौट आकर सब विपरीत धर्म-मत चलाए हैं। मृदंग-करताल के साथ ऊँचे स्वर से वक्र-बे-वक्र कीर्त्तन सुनकर उनके कान फटने लगते हैं, रात को नींद में खलल पड़ने से नगर की शान्ति नष्ट होती है। निमाई अपना नाम बदलकर अपने को गौर-हरि के नाम से प्रसिद्ध कर रहा है इससे हिन्दू धर्म नष्ट हो गया। नवद्वीप भ्रष्ट हो गया। इसके फल-स्वरूप केवल कुछ नीच व्यक्तियों का साहस अतिमात्रा में बढ़ता जाता है।

आने में अकेला जाने में अकेला

(पं० लोकनाथ मिश्र)

एक प्रवाद वाक्य है 'आने में अकेला जाने में अकेला' औरों के साथ केवलमात्र पथ का दर्शन। इस संसार में आगमनकाल में अर्थात जन्मग्रहण-काल में जीव किसी के साथ नहीं आया, अकेला इस संसार में आना पड़ता है और जिस समय मरण होता है, उस समय भी अकेले जाना पड़ता है। कोई किसी के संग नहीं जाता।

जीव कृष्णबहिर्मुखता की दशा में इस जगत में आगमन करते हैं, और कुछ दिन तक कर्मफल भोग करके अवशेष में मृत्युमुख में पतित होते हैं। किन्तु जो बहुत दिनों तक इस संसार में अवस्थान करते हैं, उनका उसी समय के मध्य में बहुत मनुष्यों के साथ सम्बन्ध हो जाता है, और बहुत से मनुष्य उनके शत्रु भी हो जाते हैं। अपने स्वार्थ के अनुकूल वायु के प्रदानकारी व्यक्तिगण आत्मीय हैं और उसके विपरीत गामी व्यक्तिगण शत्रु हैं। परन्तु कौन शत्रु है और कौन मित्र? कुछ शत्रुता और मित्रता दिखाई भी नहीं देती।

जिस समय जीव कर्मफल भोगकर चला जाता है, तो उन लोगों के साथ सब सम्बन्ध टूट जाता है, जिनके साक्षात दर्शन हुए थे। जैसे पथ में परिभ्रमण करते करते बहुत से मनुष्यों के साथ मिलाप हो जाता है, और सब अपने अपने गन्तव्य स्थान में चले जाते हैं, कोई किसी के लिये चिन्ता भी नहीं करता, उसी प्रकार इस संसार में जीवगण की आत्मीयता और शत्रुता है। परन्तु हम लोग दुर्बुद्धिवश इस शिक्षा पूर्ण वचन को भूल जाते हैं।

जिन लोगों का साथ दो दिन के लिये भी हो गया है—वे लोग अपने को परम आत्मीय ज्ञान करके, सुख में सुखी, दुःख में दुःखी मन में सोचकर इस प्रकार अमूल्य जीवन को दिन रात चिन्ता में अतिवाहित करते हैं; किन्तु जिस समय यमराज के निकट जाकर अपने अपने कर्मफल भोग करके और पुनः मातृगर्भ में प्रवेश करते हैं, उस समय श्री-श्रीमहाप्रभु श्रीचैतन्यदेवजी की यह स्मृतिवाणी पथ में उदित होती है:—

"ये पुत्र करिलाम पोषण, अशेष विधर्मे।
कोथा वा से सब ग्यालो, मोर निज कर्मे॥"

मैंने स्वधर्म को छोड़कर विधर्म के साथ जिसका पालन-पोषण किया, वह मेरा पुत्र कहाँ चला गया? मैं अपना कर्मफल भोगता हूँ अर्थात मनुष्य का साथी उसका कर्म ही है, न कि पुत्र आदि।

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप · श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्द्वान

(८) श्रीमोद्द्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्द्वान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
म्हेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ५, गोपीभवन डाक्टर लेन, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्द्वान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चीरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)

२—श्रीशिक्षादशकमूलम् सटीक ।)

३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् ≡)

४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)

५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)

६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)

२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)

३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)

४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशित) प्रति खंड १)

५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसभाषितसंग्रह सजिल्द ५)

६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)

७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बंगला अनुवाद सहित ॥)

८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बंगला अनुवाद सहित १)

९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)

१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)

११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी - कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)

१२—युक्तिमल्लिका (गुणसौरभ) वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

वंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)

१४—नवद्वीपशतक बंगला अनुवाद -)

१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ≠)

१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)

१७—नवद्वीपभावतरंग ।)

१८—गोद्रुमंडलपरिक्रमादर्पण ।)

१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)

२०—मणिमंजरी ।)

२१—शरणागति -)

२२—कल्याणकल्पतरु -)॥

२३—गीतावली -)

२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)

२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)

२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)

२७—जैव धर्म २)

२८—साधककंठमाला ।)

२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)

३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)

३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

वर्ष १] श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः [संख्या १३

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

5th May 1932

मधुसूदन कृष्णपक्ष गौराब्द ४४६

वैशाख अमावास्या संवत् १९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा =) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन-छपाई की दर नीचे लिखी है—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम			८)
आधा	,, १	,,	५)
चौथाई	,, ½	,,	३)
२ इंच	,, ⅓	,,	१॥)
१ ,,	,, ⅙	,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये।

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

९४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

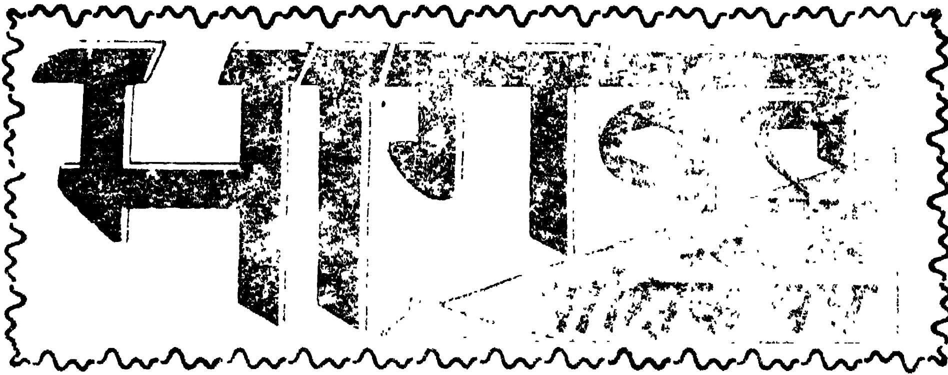
The Manager 'Bhagwat'

946 Suddar Bazar,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय बन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष १ | वैशाख-अमावास्या गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, ५ मई सन् १९३२ ई० | संख्या १३

नम्र निवेदन

(११)

"मैं" "मेरा है"—शब्द-अर्थ से जो कुछ भी प्रभु, होता हो।
अहो दयामय, तव चरणों में अर्पण करता हूँ मैं सो॥
अब तो स्वामी, रहा नहीं हूँ मैं अपना—सच कहता हूँ।
सभी तरह से हुआ तुम्हारा, चरण-शरण में रहता हूँ॥
जीव देहधारी ने "मैं" के अहंभाव को छोड़ दिया।
आज हृदय में बस, त्वदीय-अभिमान एक है बसा लिया॥
देह, गेह, सर्वस्व हमारा, अनुचर, भाई-बन्धु हजार।
पत्नी, पुत्र, रत्न, धन सारा, पोती, पोते, यह घरबार॥
सभी तुम्हारा हुआ आज से! मैं चरणों का दास हुआ।
नाथ! तुम्हारे गृह में अब से मेरा नित्य निवास हुआ॥
तुम हो घर के स्वामी सच्चे, मैं सेवक भजनेवाला।
सदा करूँगा यत्न तुम्हारे सुख का, सब तजनेवाला॥
स्थूल-लिंग-तनु में अब मेरा कुछ भी नहीं सुकृत-दुष्कृत।
प्रभु, मैंने छुटकारा पाया, अब न रहा मैं जीवन्मृत॥
मेरी इच्छा मिली तुम्हारी इच्छा में—यह जन्म नया।
भक्तिविनोद आज अपने को है करुणानिधि! भूल गया॥

काम



मनुष्य के छः शत्रुओं में काम भी एक है। शत्रु अर्थात् विरोधी। काम शब्द का अर्थ वासना या इच्छा है। यह रजोगुण से उत्पन्न है। काम के समान दुर्द्धर्ष और कोई मनुष्य का वैरी नहीं है। इसके द्वारा चलाए जाने पर ऐसा कोई अनुचित-अन्याय कर्म नहीं, जिसे मनुष्य न कर सके। मोह या संबन्ध-ज्ञान के अभाव से ही हमारी सब प्रकार की कामनाओं का उद्भव होता है। काम द्वारा चित्त के हरे जाने पर जीव की संसार-गति उपस्थित होती है और वह अविद्या से आवृत होकर बहु भोग के विषयों की कल्पना करता है। भोग के विषय सत्य न होने पर भी वर्तमान में हम लोगों की अवस्था के अनुसार अर्थात् संबंध-ज्ञान के अभाव से वे सत्य से प्रतीत होते हैं। हमारा वर्तमान जो औपाधिक "अहं" है, वह भी इतना बद्धमूल है कि कोई कहता है मैं ब्राह्मण हूँ, कोई कहता है मैं क्षत्रिय हूँ, और कोई-कोई मैं वैश्य, शूद्र, अँगरेज़ मुसलमान, बौद्ध, जैन, अंधा, लँगड़ा- लूला इत्यादि नाना प्रकार के अभिमानों में व्यस्त हैं। न्यूनाधिक परिमाण में ये सभी काम को ग्रहण करके नीति का समादर करते हैं। कारण, नीति के बिना कोई मनुष्यत्व नहीं है। नीति ने ही मनुष्य को पशु-जीवन से पृथक् किया है। इस नीति-शास्त्र से पवित्र भारतवर्ष में वर्णाश्रम नाम के एक धर्म की सृष्टि हुई है। उसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के भेद से चार प्रयोजन स्थिर करके असंख्य विधि-विधानों की भी सृष्टि हुई है। उसमें न्यूनाधिक परिमाण में काम के परित्याग की जो चेष्टा है, वह भी अन्यान्य वासनाओं द्वारा आवृत है। सब प्रकार का काम कामदेव श्रीकृष्ण में नियोजित हुए बिना काम दूर नहीं होता। श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ में काम का स्वरूप और उसके परित्याग का जो वैज्ञानिक उपाय बतलाया गया है, वह यह है—

काम प्रेम दोनों के हैं विभिन्न लक्षण।
लोहा और सोना जैसे रूप में विलक्षण॥
आत्मेन्द्रिय प्रीति-वांछा उसे कहें काम।
कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-वांछा जानों प्रेम नाम॥
काम का तात्पर्य निज संभोग केवल।
कृष्ण-सुख-तात्पर्य प्रेम में प्रबल॥
लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म कर्म।
लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख-मर्म॥
दुस्त्यज है आर्यपथ निज परिजन।
स्वजन में करो जो ताड़न भर्त्सन॥
सर्व त्याग कर करो कृष्ण का भजन।
कृष्णसुख हेतु करो प्रेम का सेवन॥
कहा इसे कृष्ण में सो दृढ़ अनुराग।
स्वच्छ धौत वस्त्र में ज्यों नहीं कोई दाग॥
अतः काम प्रेम में है बहुत अन्तर।
काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर॥
अतएव गोपियों में नहीं कामगन्ध।
कृष्णसुख ही के लिए कृष्ण सों सम्बन्ध।

इससे जाना जाता है कि काम अन्धतम एक अवस्था है और आत्मेन्द्रिय-प्रीति ही उसकी प्रवर्त्तक है। कृष्णेन्द्रिय प्रीतिरूप प्रेम-सूर्य के उदय से ही वह दूर होती है। एक मात्र गोपियों की वांछा ही कामगन्ध हीन है। कारण, उनके सब प्रकार के कृत्य कृष्णसुख ही के लिए हैं। वे ही यथार्थ निष्काम हैं।

हिन्दू-शास्त्र में प्रवृत्ति-मार्ग में स्त्रीग्रहण, मदिरापान, पशुवध आदि की जो सब व्यवस्था है, वह नैसर्गिक प्रकृति को क्रमशः विधि के वशीभूत करके निवृत्ति-मार्ग में प्रवेश करने की चेष्टा होने पर भी, उससे सत्य-प्राप्ति संभावना कितनी है—यह शास्त्र ने अन्य स्थान में कहा है। यथा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

काम उपभोग के द्वारा शान्त नहीं होता; बल्कि घी की आहुति पड़ने से आग की तरह और भी उससे वासना की वृद्धि होती है। विचार के द्वारा यह स्थिर हुआ है

कि काम जो है, वह मनुष्य का स्वरूपगत धर्म नहीं। विरूप धारण करने से काम हमारे प्रतिपालक के स्थान पर अधिकार कर लेता है। हम भी काम की उपासना आरंभ कर देते हैं। कुछ समय तक उपासना करने पर समझ पाते हैं कि काम हमारा प्रतिपालन नहीं कर सकता। तब विचार आकर देश काल और कारण की कठिन बेड़ियों में हमारे बँधे होने का अनुभव करा देता है। उस से अतिक्रान्त होने जाकर श्रीगीताशास्त्र के 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥' इस श्लोक की ओर ध्यान न देकर मुक्ति के लिए जो चेष्टा करना है, वह भी काम ही का एक प्रकार है। जो लोग अपनी चेष्टा के ऊपर श्रद्धाहीन होकर भगवान की शरण में गए हैं, उनके सम्बन्ध में—

कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशा-
स्तेषां जाता मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः।
उत्सृज्यैतानथ यदुपते साम्प्रतं लब्धबुद्धि-
स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुंक्ष्वात्मदास्ये ॥

दुःख की बात है कि इस प्रकार शरणापन्न होने जाकर भी हम लोग नाना प्रकार की गुप्त कामनाओं की सेवा कर बैठते हैं। आयुर्वेदशास्त्र में पारा नाम का एक पदार्थ है, उसका अच्छी तरह संशोधन कर उसे भस्म करके खिलौने से अनेक दैहिक व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। किन्तु असंशोधित कच्चा पारा खा लेने से उसे कोई पचा नहीं सकता। वह शरीर को फोड़ देता है। इसी तरह काम को कृष्ण-सेवा में अर्पण न करके जो कामानुगत लोगों ने अनेक अपधर्मों की सृष्टि की है, उन्हें भी समझना चाहिए।

जीव बहुत चेष्टा करके भी कामना के हाथ से छुटकारा नहीं पाता। बद्धजीव में विप्रलिप्सा नाम का एक प्रकार का दोष है, इसी से मायादेवी पुनः पुनः वञ्चना करती हैं। भगवान में और साधु-गुरु के चरणों में निष्कपट शरणापत्ति अर्थात् निर्व्यलीक जबतक नहीं होते, तबतक कामना के हाथ से छुटकारा नहीं मिल सकता। अनेक लोग साधु-गुरु-चरणों की शरण में आकर भी जिस तरह काम के प्रबल प्रवाह को हृदय में छिपाकर रखने की चेष्टा करते हैं उसका फल यह होता है कि उनकी असली हालत यथासमय प्रकट ही हो जाती है। बहुत लोग ऐसे भी होते हैं, जो श्रीगुरुदेव के उपदेश और मानसिक चिन्ता धारा के विपरीत ही कार्य करते हैं। वे सब अनभिज्ञ लोग यह नहीं जानते कि श्रीगुरुदेव हमारे हृदय की सभी वृत्तियों के दर्शक हैं—उनसे कुछ छिपाया नहीं जा सकता। वह मर्त्य जीव नहीं हैं - देश, काल, कारण की बेड़ियों में बँधे नहीं हैं। हम ऐसा कोई न्याय नहीं जानते कि हृदय की कपट-वृत्तियों को ढककर दूसरे को धोखा दे सकें। दूसरे को धोखा देने से अपने ही को धोखा खाना पड़ता है। यदि हमें विश्वास हो तो श्रीगोपालदेव ही साक्षी देकर हमारे सब सन्देहों को दूर करते हैं। वह हमारे हृदय के द्रष्टा, सर्व-साक्षी पुरुष हैं। सद्गुरु की दीक्षा के प्रभाव से ही आज "भागवत" सब प्रकार के हृद्गत काम श्रीकृष्ण-सेवा में नियोजित करके भक्ति-पथ के पथिकों का मार्ग प्रकाशित करने के कार्य में लगा है।

वर्णाश्रम-विधि



सूक्ष्मदर्शी आचार्य ऋषियों ने बद्ध मानव के स्वभाव या प्रवृत्ति को चार भागों में विभक्त किया है, और उसके साथ ही उनके चार प्रकार के अवस्थानों या आश्रयों का भी निर्णय कर दिया है। मुक्त पुरुष जो हैं, वे उक्त चतुर्विध स्वभाव और अवस्थान से परे हैं; वे लोकशिक्षा के लिए सर्वश्रेष्ठ स्वभाव और किसी भी एक आश्रम को स्वीकार कर सकते हैं और नहीं भी कर सकते। जिस स्वभाव में संयम, सदाचार, सत्य, सरलता, आत्म-तत्त्व की आलोचना, भगवान में भक्ति आदि प्रवृत्तियाँ परिस्फुट देखी जाती हैं उसे ब्राह्मण स्वभाव ऋषियों ने कहा है। जिस स्वभाव में धीरत्व, साहस, तेज, पालन और शासन स्पृहा की प्रबलता देख पड़ती है, वह क्षात्र-स्वभाव है। जिस स्वभाव में कृषिकार्य वाणिज्य-प्रवृत्ति



और पशु आदि के पालन की वृत्ति की अधिकता देखी जाती है, वह वैश्य-स्वभाव और जिस स्वभाव में परदास्य आदि के द्वारा उदर के प्रतिपालन की वृत्ति और शोक-मोह आदि से अभिभूत होना देखा जाता है, वह शूद्र-स्वभाव है। प्रथमोक्त तीन प्रकार के स्वभावों में सर्वप्रथम ब्रह्म-स्वभाव ही सर्वोत्तम है और चतुर्थ अर्थात् शूद्र-स्वभाव अधम है। इनके अलावा और एक स्वभाव को "अन्त्यज-स्वभाव" की आख्या दी गई है। अत्यन्त निकृष्ट स्वभाव होने के कारण इस स्वभाव की गणना संख्या में नहीं की गई। यह सर्वविच्छिन्न स्वभाव धार्य हुआ है। अन्त्यज-स्वभाव में कलह-प्रियता, स्वार्थपरता, उदर-लम्पटता पर-स्त्री-लम्पटता पर-द्रव्य-लम्पटता, मिथ्या, कपटपटुता, ताश-पाँसा आदि जुआँ खेलना और कुत्सित आमोद प्रमोद में रति और नशे की आदत आदि वृत्तियाँ देखी जाती हैं।

उक्त चारों प्रकार के स्वभाव जिसमें परिवर्द्धित होकर उत्तरोत्तर सर्वोत्तम निर्गुण स्वरूपता प्राप्त कर सकें, इसके लिए वर्णोचित कर्म की व्यवस्था की गई है। इसी कारण प्राचीन इतिहास में देखा जाता है कि यथोचित वर्णधर्म का पालन करके कोई उन्नत वर्ण में चढ़ गया है और कोई अपने वर्ण-धर्म से पराङ्मुख होकर नीचे के वर्ण में उतर गया है। हरिवंश के १०वें अध्याय में देखा जाता है—

नाभागारिष्टपुत्राश्च क्षत्रिया वैश्यतां गताः।

फिर उसी के ग्यारहवें अध्याय में देखा जाता है—

नाभागारिष्टपुत्रौ द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणतां गतौ।

अर्थात् नाभाग और अरिष्ट पुत्र कर्मवश क्षत्रिय से वैश्य हो गए थे, और फिर वैश्य से ब्राह्मण हो गए। इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण शास्त्र में देख पड़ते हैं।

वर्णधर्म का पालन करने के लिए किसी आश्रम में रहना ही होगा। इसलिए ऋषियों ने चार आश्रमों या अवस्थानों का निर्देश किया है। जिस आश्रम में वीर्यधारण, स्वाध्याय, गुरु-सेवा आदि के द्वारा शरीर, मन, मेधा और बुद्धि की सब वृत्तियाँ परिवर्द्धित होकर स्वरूपोपलब्धि की सहायक बन जाती हैं, उसे ब्रह्मचर्य कहा गया है। यही आश्रम अन्य तीन आश्रमों की नींव माना गया है। इस आश्रम को लाँघकर अन्यान्य आश्रमों को ग्रहण करने से विपर्यय घटित होता है। कोई जीवन भर नैष्ठिक ब्रह्मचारी रह सकता है, अथवा प्रवृत्तिमूलक रुचि की अधिकता रहने से आचार्य की आज्ञा लेकर समावर्त्तन संस्कार के उपरान्त गृहस्थाश्रम में निवास कर सकता है। इस गृहस्थाश्रम का उद्देश है प्रवृत्ति को संकुचित करके क्रमशः निवृत्ति के मार्ग पर चलना। प्रवृत्ति को निवृत्त करने की चेष्टा न करके उसमें और इंधन डालने से वह असीम उत्पात का कारण बनकर गृहव्रत-धर्म में परिणत हो जाती है। भगवद्भजन, देव-द्विज के भक्ति, आतिथ्य सत्कार से गृहस्थाश्रम को शोभित रहना चाहिए। गृहस्थाश्रम से ही अन्य आश्रमों का भरण पोषण होता है। मनुष्य को २५ वर्ष ब्रह्मचारी रहकर ५० वर्ष की अवस्था तक—अर्थात् २५ वर्ष—इस आश्रम में रहकर निवृत्ति-धर्म का अवलम्बन करके वाणप्रस्थ आश्रम ग्रहण करने की व्यवस्था है। आजीवन गृहस्थाश्रम में रहना शूद्र अर्थात् शोक मोह आदि से आच्छन्न अधम वर्णों के लिए ही है। सब बन्धनों का परित्याग करके परिव्राजक और धर्मप्रचारक के रूप से संन्यास आश्रम में रहने का अधिकार शोक मोह से आच्छन्न शूद्र को नहीं है।

निविष्ट चित्त से विचार करके देखने से देखा जायगा कि आर्य ऋषियों ने वर्णों और आश्रमों का विभाग संपूर्ण रूप से वैज्ञानिक भित्ति पर किया है। सुतराम् जिस स्थान में मानव के स्वभाव और अधिकार के प्रति विशेष लक्ष्य न रखकर वर्ण और आश्रम का निर्णय किया जायगा, वहाँ पर बहुविधि उत्पात आकर वर्णाश्रम धर्म की सूक्ष्म वैज्ञानिक प्रणाली नष्ट कर देंगे, और उसके द्वारा जगत् का कल्याण न कर संपूर्ण रूप से अमंगल ही होगा। जिस समय इस प्रकार स्वभाव, प्रवृत्ति और लक्षण आदि देखकर भारत में वर्णों और आश्रमों का निर्णय होता था, उस समय भारत का सौभाग्य सूर्य मध्याह्न-गगन में उदित रहकर उज्ज्वल किरणें फैलाकर संपूर्ण जगत् की श्रद्धा का पात्र बन रहा था। उस समय यथार्थ ब्राह्मणगण के सामगान से सब स्थान गूँजते रहते थे, उनके आदर्श चरित्र के निकट महाराज चक्रवर्ती का रत्न-खचित मुकुटशोभित शिर पृथ्वी पर लोटता था और सब प्रजा सुख-शान्ति से रहती थी। रोम, ग्रीस, ईजिप्ट आदि प्राचीन जातियों ने भारत को अपना वाणिज्य-शिक्षा देनेवाला गुरु मान लिया था।

महाभारत आदि शास्त्रों में देखा जाता है कि पहले ब्रह्माजी की उत्पन्न की हुई सृष्टि में सभी ब्राह्मण थे। बाद को स्वभाव अभिव्यक्ति रूप कर्म के द्वारा वर्णों का

निरूपण हुआ। महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म के १८८ अध्याय में लिखा है —

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

श्रीभागवत में भी देखा जाता है कि सत्ययुग में हंस नामक केवल एक ही वर्ण था। बाद को त्रेतायुग में यह वर्ण विभाग हुआ।

अनाधिक, आचारग्राही लोग कहा करते हैं कि सब से पहले स्वभाव के अनुसार विराट् पुरुष के अंगों से चारों वर्णों का प्रादुर्भाव हुआ और उसके बाद उसी-उसी वंश-परम्परा में अर्थात् जन्मानुसार वे वर्ण भगवान के निर्दिष्ट विधान के रूप में चल रहे हैं और बराबर चलते रहेंगे। किन्तु शास्त्र के सार को ग्रहण करनेवाले मर्मज्ञ लोग किसी तरह इस श्रौत्तों के मे शास्त्र पर अनुमान को ग्रहण नहीं कर सकते। कारण, शास्त्र का पुन: पुनः आदेश और पूर्व पूर्व श्रेष्ठ व्यक्तियों के बहु-बहु आचारों के उदाहरण दोनों ही प्रमाणित करते हैं कि एकमात्र स्वभाव या कर्म से ही मर्यादा वर्णों का निरूपण हुआ है। विज्ञान और सद्युक्ति इसी का समर्थन करती है। यदि एक बार निर्दिष्ट वर्ण-विभाग के अनुसार ही सदैव वर्ण-विभाग होने की व्यवस्था दी जाती तो श्रीमद्भागवत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के स्वभाव की सूची देकर बाद को इस प्रकार का आदेश न दिया जाता —

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥

इस पर श्रीधरस्वामिपाद की टीका है कि "शमादिभिरेव ब्राह्मणादिव्यवहारो मुख्यः न जातिमात्रादिति। यस्येति यद् यदि अन्यत्र वर्णान्तरेऽपि दृश्येत तद्वर्णान्तरं तेनैव लक्षणनिमित्तेनैव वर्णेन विनिर्दिशेत् न तु जातिनिमित्तेन।" अर्थात् जिस जिस वर्ण के जो सब लक्षण कहे गए, यदि वर्णोत्पन्न व्यक्ति में भी कोई एक विशेष वर्ण का लक्षण देखा जाय तो उसका जातिनिमित्तक वर्ण निरूपण न करके उस विशेष धर्म-लक्षण के अनुसार ही उसका वर्ण विशेषभाव से चिह्न आदि के द्वारा निरूपित करे। प्राचीन इतिहास आदि में देखा जाता है कि सन्तान जब उपयुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाती थी तो कुलवृद्धगण, कुलाचार्य, भूस्वामी, ग्राम के पण्डितवर्ग आदि उस सन्तान के स्वभाव का विचार करके वर्ण का निरूपण करते थे। किन्तु वर्ण-निरूपण के समय यह अवश्य विचारणीय होता था कि पुत्र पिता के वर्ण को प्राप्त करने के योग्य है या नहीं। यदि योग्य होता था तो उसे पिता के गोत्र से ही निर्दिष्ट किया जाता था, और जो अयोग्य ठहरता था तो उसके स्वभाव के अनुसार वर्णान्तर में निर्दिष्ट किया जाता था। किन्तु आजकल अनुपयुक्त, स्वार्थान्ध, पेशेदार, पुरः-अहितकारी पुरोहितनामधारी व्यक्तियों के हाथ से इस गुरुतर कार्य का भार सौंप दिया जाने के कारण, पिता के गोत्र के अनुसार ही पुत्र का भी स्वभाव होगा—इस अनुमान के बल से ही वर्ण का निरूपण होने के कारण समाज में कूड़ेकरकट का ढेर जमा हो रहा है। पाप का परिमाण परिपूर्ण मात्रा को पहुँच जाने पर कभी भगवान् स्वयं आते हैं और कभी किसी महत्तम जीव में अपनी शक्ति का आवेश कर उसे भेजते हैं। इसी से समाज के इस दुर्दिन में आशा का संचार होता है कि शीघ्र ही दैव वर्णाश्रम धर्म की पुनः प्रतिष्ठा होगी। वर्णाश्रम-धर्म अनेक दिन से विशुद्ध भाव से चला आ रहा था। किन्तु कुलाचार्यगण की वर्ण-निर्णय में अक्षमता के कारण क्षात्रस्वभाव जमदग्नि और उनके पुत्र परशुराम को ब्राह्मण कहकर उनके निरूपण करने से वर्ण-व्यभिचार का सूत्रपात हुआ, ब्राह्मणों और क्षत्रियों में विरोध उठ खड़ा हुआ और उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप जन्मगत वर्णव्यवस्था की जड़ मज़बूत होने लगी। मनुस्मृति आदि शास्त्रों में अवैध मतवाद ने प्रवेश किया, क्षत्रियगण ने ब्राह्मणवर्णलाभ की असंभावना देखकर बौद्ध-धर्म चलाकर ब्राह्मणों के विनाश का उपाय उत्पन्न किया। वाणिक-वृत्तिहीन वैश्यगण ने जैनधर्म के प्रचार का बीड़ा उठाया—भारत का वाणिज्य लुप्त होने लगा, और शूद्रगण नाना प्रकार की अवैध दस्युवृत्ति ग्रहण करने लगे। सुतराम् जातिगत वर्णाभिमान विशेष भाव से जड़ जमाने लगा।

हम छान्दोग्य श्रुति (उपनिषद्) में देख पाते हैं कि हारिद्रुमत गौतम ने जाबाल-तनय सत्यकाम के पिता के गोत्र को न जानकर और माता के चरित्र दोष को श्रवण करके भी बालक की सरलता और सत्यनिष्ठा देखकर उसे ब्राह्मण का संस्कार दिया था। जानश्रुति और चित्ररथ के उदाहरण भी इस बात की गवाही देते हैं कि प्राचीनकाल में एकमात्र स्वभाव ही से वर्ण का निरूपण किया जाता था। सामवेदीय वज्रसूचिकोपनिषद् भी इसी का समर्थन करती है। इसमें लिखा है—"एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण

इति श्रुतिस्मृतिपुराणेति हासानामभिप्रायः । अन्यथा हि ब्राह्मण्यासिद्धिर्नाम्येव।" अर्थात् इन सब स्वभावों या लक्षणों से युक्त व्यक्ति ही ब्राह्मण है। यही श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहासों का अभिप्राय है। निश्चय ही और किसी प्रकार से ब्राह्मणत्व नहीं सिद्ध होता।

यदि वंश के अनुसार ही वर्ण का निर्देश होता तो महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ सत्यप्रिय ऋषि-मुखोद्गीर्ण श्रुतिमन्त्र उद्धृत करके न दिखाते—"न चैतद्विद्मो ब्राह्मणाः स्मो वयमब्राह्मणा वेति।" हम जानते नहीं कि हम ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण। मनु ने यह दिखलाने के लिये कि गुणविहीन वंशगत वर्णाभिमान कुछ भी नहीं है उक्तप्रकार के वर्णाभिमानी की लकड़ी के हाथी और चर्ममय मृग से तुलना की है।

कोई कोई कहते हैं कि अन्यवर्ण में ब्राह्मण के गुण रहने से उसे ब्राह्मण के तुल्य जानना और ब्राह्मण के समान सम्मान देना उचित है, किन्तु ब्राह्मण के संस्कार से संस्कृत करना उचित नहीं। किन्तु तनिक भी बुद्धिमान व्यक्ति इन लोगों के मात्सर्यपूर्ण कपट को पकड़ ले सकता है। श्रीमद्-भागवत की 'विनिर्दिशेत्' (अर्थात् विशेष भाव से निर्देश करे) यह उक्ति भी इनके मात्सर्य-बधिर कानों में प्रवेश नहीं करती। हारिद्रुमत गौतम क्या सत्यकाम को दुख से ब्राह्मण या ब्राह्मणतुल्य केवल कहकर ही चुप हो गए थे? या उन्होंने उसका उपनयन-संस्कार करके उसे वेदपाठ का अधिकारी भी बना दिया था? राजा के द्वारा नियुक्त विचारक ही राय पेश कर सकता है. अन्य को वह क्षमता नहीं होती। इसी तरह स्वतन्त्र आचार्यगण या साधुगण ही युग के प्रयोजन के अनुसार जीव के कल्याण के लिए कोई एक विशेष विधान चला सकते हैं। उन्हें यह क्षमता भगवान् की दी हुई है। वह स्वकपोलकल्पित मात्सर्यपर चेष्टा नहीं है। शास्त्र कहते हैं—

समयश्चापि साधूनां प्रमाणं वेदवद्भवेत्।

वेद का प्रमाण जैसे स्वतन्त्र है, वैसे ही साधुओं का आदेश भी प्रामाणिक है।

सुनीच

कलियुगपावनावतार श्रीगौरसुन्दर ने यह निर्देश किया है कि कलियुग में श्रीनाम-संकीर्त्तन ही जीवों के लिए निःश्रेयस-लाभ का उपाय और चरम में उपेय है। निरपराध से श्रीनाम के कीर्तित होने पर पंचम पुरुषार्थ प्रेम लभ्य होता है। किस अवस्था में निरपराधभाव से श्रीनाम का कीर्त्तन हो सकता है, यही अच्छी तरह निर्देश करते समय, शिक्षाष्टक के तृतीय श्लोक में, आपने अपने श्रीमुख से यह उपदेश दिया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

अर्थात् तृण से भी सुनीच (नम्र), वृक्ष से भी बढ़कर सहिष्णु, स्वयं मानहीन और दूसरे को मान देनेवाला होकर सदा हरि का कीर्त्तन करना चाहिये। कीर्त्तनकारी के लिए तृणादपि सुनीच भाव का जैसे पालन करना चाहिए, वैसे ही मान देने का धर्म भी प्रतिपालनीय है। इस भगवद्वाक्य में कुछ भी स्व-विरोध नहीं है। एक के पालन से अन्य के पालन में कुछ भी व्याघात नहीं पड़ता।

जीवमात्र ही जानकर या बिना जाने कृष्ण के दास हैं। कृष्ण का दास होना ही आत्मा की नित्य वृत्ति है। जीव बहुजन्मसञ्चित सुकृत के फल से जब सर्वशुद्ध पादाश्रय-लाभ करता है, तब उसमें इस सम्बन्ध ज्ञान का उदय होता है। गुरुदास जितना ही व्यवधानरहित अवस्था में श्रीगुरुचरणों का आश्रय लिया करता है, उतना ही उसका देह और मन का सम्बन्ध तिरोहित होकर कृष्ण के संबंध का उदय होता है। नित्य कृष्णदास ज्ञान से आत्मा के नित्यधर्म में संपूर्ण जीवों को उनके प्रति परम आत्मीयता का बोध होता है और वे उनको उपेक्षा की वस्तु नहीं रहते। "भागवत" के सर्वस्व-धन विलास-विग्रह श्रीनित्यानन्द प्रभु स्वयं आचरण करके शिक्षा देने जाकर अति कुत्सित-स्वभाव, अस्पृश्य सुरापायी दुर्वृत्त दस्यु जगाई-मधाई की आत्मवृत्ति की उपेक्षा नहीं कर सके। जगद्गुरु नित्यानन्द ने उनकी बद्धावस्था की रुचि और प्रकृति को अच्छी तरह जान करके भी, उनके

नवद्वीपवासी सभी नागरिकों के अस्पृश्य और अक्षम होने पर भी, दयालुशिरोमणि ने उनकी नित्य कृष्ण-दास्य-वृत्ति उपेक्षा नहीं की—उपेक्षा की उनकी मायाबद्ध अवस्था की रुचि और प्रकृति की। जीवमात्र ही कृष्ण के दास और भक्ति के अधिकारी हैं, इसीसे नित्यानन्दजी ने शुद्ध हरि-कीर्त्तन-श्रवण और साधुसंग की सुकृति देकर उन्हें आत्म-धर्म में प्रतिष्ठित किया। वे भुवनपावन भक्त होकर नवद्वीप में विराजने लगे। यह अवश्य ही जीव के नित्य स्वरूप के प्रति गुरुश्रेष्ठ के मानदधर्म का परिचायक कार्य है। तृणादपि सुनीच और तरोरपि सहिष्णु धर्म के साथ इसका पूर्ण सामञ्जस्य है—तनिक भी विरोध नहीं।

देह और मन के धर्म में आबद्ध होकर जीव चाहे जितनी हीन अवस्था में क्यों न रहे, उसे नित्य कृष्णदास और स्वरूप में पूर्ण शुद्ध जानकर उनके आत्मधर्म का सम्मान करने को गुरु के दास मन और प्राण से सर्वदा सचेष्ट हैं।

आत्मा का स्वरूप और वृत्ति बद्ध जीव के वाक्य और मन के अगोचर है। इसी से परम कारुणिक नित्य मंगलमय श्रीभगवान् ने जीव के अशेष कल्याण की कामना से स्वयं वेद, गीता, भागवत आदि शास्त्र और उपयुक्त पात्रों में शक्ति संचार करके श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु, श्रीचैतन्यचरिता-मृत आदि भक्तिग्रन्थों में जीव को जनाया है, भगवान् क्या वस्तु हैं, और दोनों में परस्पर का संबंध क्या है, इत्यादि नित्य तत्त्व बतलाए हैं। आम्नाय पर्याय में श्रीगुरु की कृपा से गुरु दास के लिए यह सम्बन्ध-ज्ञान सुलभ हुआ है। दैवी माया से मुग्ध जीव जब देह और मन के धर्म में आबद्ध होकर भगवान् और शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन करता हुआ अपनी बद्ध अवस्था की रुचि या प्रकृति के अनुसार हरि-कीर्त्तन के अभिनय से अपना और साथ ही अन्य दस आदमियों का अपघात और सर्वनाश करने का प्रयास करता है, तब गुरु-दास अपने और परमात्मीय के इस प्रकार सर्वनाश के प्रयास को देखकर फिर स्थिर नहीं रह सकते। निर्भय भाव से शत-सहस्र बाधा विघ्नों को अकातर होकर सहन करते हुए तृणादपि सुनीच और अ-मानी होकर, बद्ध जीव की नित्य शुद्ध आत्म वृत्ति के प्रति पूर्ण सम्मान-प्रदर्शन द्वारा मानद होकर, अपने और बद्ध जीव के चरम कल्याण की कामना से गुरुपादपद्म में प्राप्त भगवान् और शास्त्र के निर्देश के अनुयायी शुद्ध हरिकीर्त्तन का आचार और प्रचार करने का व्रत ग्रहण करते हैं। इससे यदि शास्त्र और सन्मार्ग का उल्लंघन करनेवाले किसी के हरिकीर्त्तन के अभिनय में बाधा पड़े तो वह अनिवार्य है। स्वयं आचरण करके गुरु और शास्त्र के द्वारा अनुमोदित जो कीर्त्तन और प्रचार उसमें कुछ भी हिंसा या द्वेष के लिए स्थान नहीं है। दक्षिण-देश उद्धार-लीला में श्रीमन्महाप्रभु ने दुष्ट मत को दूषित कर खण्ड खण्ड करके वहाँ के मत वादियों के प्रति अशेष कृपा ही की है—

तार्किक, मीमांसक, मायावादी गण।
सांख्य, पातंजल, स्मृति, पुराण, आगम॥
निज निज शास्त्र कहें सब ही प्रचण्ड।
सर्व मत दोषें प्रभु, करें खण्ड खण्ड॥
सर्वत्र स्थापित किया वैष्णव-सिद्धान्त।
काट नहीं सका कोई प्रभु का सिद्धान्त॥
(चै० चरि० मध्य ९ म)

निरीश्वर बौद्धों से संभाषण का निषेध है। महाप्रभु ने उन पर भी कृपा करके जीव के आत्मधर्म के प्रति यथेष्ट सम्मान दिखाकर उनके गर्व का खंडन कर उनका भी कल्याण किया।

पाषंडों का दल आया पाण्डित्य सुन के।
गर्व कर आए लिए शिष्यगण उनके॥
यद्यपि असंभाष्य बौद्ध अयुक्त देखिए।
तथापि बोले प्रभु गर्व तोड़ने के लिए॥

यही यथार्थ मानद धर्म का प्रकृष्ट उदाहरण है। इसमें तृणादपि सुनीच धर्म का कुछ भी व्यत्यय घटित नहीं हुआ। किन्तु यह अहैतुकी कृपा भी पाषण्डियों को उनके स्वभावो-चित आचरण से निवृत्त नहीं कर सकी। उस समय भी जैसे पाषंडियों की चेष्टा से उनके गुरु ने ही दण्ड भोग किया था, महाप्रभु का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सका, वैसे ही इस समय भी असत चेष्टा के फल से असत् गुरु का ही सर्वनाश उपस्थित होगा, महाप्रभु के चरणों का आश्रय लेनेवाले जीव का कोई केशाग्र भी स्पर्श न कर पावेगा। यह महाप्रभु की भक्तरूप लीला का अनिवार्य विधान मन्त्र है। स्वयं आचरण करके शुद्ध हरि कीर्त्तन का प्रचार करना ही गुरुदास की नित्य वृत्ति है—एक साथ ही स्वार्थ और परार्थपरता। यह शुद्ध हरिकीर्त्तन ही सब साधनों का

साधन है ? इसका भाव ही बद्ध जीव के लिए परम कल्याण-कर और आत्मवृत्ति के उन्मेष का कारण है।

अभिन्न व्रजेन्द्रनन्दन श्रीगौरसुन्दर ने भक्त की सज्जा से सज्जित होकर अपने आचार और प्रचार से भक्त के आचार और प्रचार को सुप्रतिष्ठित किया। उड़ीसा और मद्रास-राज्य के प्रतापशाली स्वाधीन नरपति प्रतापरुद्र महाराज को दीक्षा देने के लिए जिस समय उनसे सार्वभौम ने अनुरोध किया तब ऊँचे स्वर से वह कह उठे—

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य
पारं परं जिगमिषो र्भवसागरस्य।
सन्दर्शनं विषयिनामथ योपिताञ्च
हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु॥

और सावधान कर दिया —

ऐसी बात मुँह पे न लाना देखो फिर कभी।
फिर यदि कहा मुझे यहाँ नहीं देखोगे जी॥

(चै० च० मध्य ११ श)

किन्तु फिर जब उन्हीं प्रतापरुद्र ने राय रामानन्द की वृत्ति स्थिर करके "चैतन्य पदों में रहो यदि आज्ञा होय" कहकर भक्त सेवा का और पाण्डुविजय में —

स्वर्ण-मार्जनी लिये करे पथ-संमार्जन।
चन्दन जल से करे पथ-निषिंचन॥

द्वारा श्रीजगन्नाथदेव की दास्य-वृत्ति का पूर्ण परिचय दिया, तभी श्रीमहाप्रभु के चरणों में उनको आश्रय मिल गया—षड्भुजी मूर्त्ति का दर्शन पाया। महाप्रभु ने पूर्ण कृपा के मूल में प्रतापरुद्र के औपाधिक नरपति-वेश की अनायास ही उपेक्षा की; किन्तु उसकी आत्मवृत्ति, भक्त और भगवान् की सेवा के प्रति मानद हुए बिना नहीं रह सके।

हरि-गुरु वैष्णवों के आनुगत्य से निरपराध रूप से हरि-कीर्तन करना ही जीव का श्रेष्ठ साधन अथवा अभिधेय सार है। जिस जगह उस आनुगत्यधर्म का अभाव है, महाप्रभु के भवरोग-महौषधि श्रीहरिनाम-महामंत्र की जगह मनः-कल्पित शब्दावली का आवाहन है, गुरु वैष्णव वर्ग के प्रति जाति बुद्धि, अवज्ञा और महा वैष्णवापराध है, नामबल से पापबुद्धि है, श्रीनाम, श्रीविग्रह और श्रीभागवत के द्वारा निज इन्द्रियतर्पणपर भोगविलास का आवाहन है, महदति-क्रम रूप अपराध आदि का उदय होता है, वहीं गुरुदासगण अपराधी को परम आत्मीय समझकर, उसकी आत्मवृत्ति के प्रति मानद होकर उसकी तात्कालिक बद्ध अवस्था के — शास्त्र और गुरु तथा वैष्णवों के आदेश के [illegible] रुद्ध रुचि और प्रकृति के—प्रतिकूल कार्य करने को बाध्य होते हैं। बद्ध जीव को तात्कालिक अवस्था में अवश्य ही यह प्रीतिकर नहीं होता। किन्तु और उपाय भी तो नहीं है। बद्ध जीव के देह और मन को जो कार्य प्रीतिकर होते हैं, उन से उस बन्धन की ही वृद्धि होती है। ऐसी जगह निज चरित्र में पूर्ण भाव से आचरण करके शास्त्र और गुरु वैष्णव (षड् गोस्वामी) के वाणी प्रचार द्वारा शुद्ध कीर्तन के बिना बद्ध जीव के मनोव्यासंग को काटने का और कोई उपाय नहीं है। गुरुदास के लिए शास्त्र और गुरु की उक्ति के बिना इस बन्धन को छिन्न करने का अन्य कोई अस्त्र नहीं है। इसी से सर्वधर्मसंस्थापक श्रीकृष्ण भगवान ने प्रिय भक्त उद्धव को इसके प्रतिकार का उपदेश दिया है—

सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः।

(भाग० ११।११।३२)

श्रीगुरु के आश्रय में महाप्रभु और प्रभु नित्यानन्द के पदानुसरण के सिवा गुरु-दास के लिए अन्य उपाय नहीं है।

मायापुर-पूर्णचन्द्रोदय

[मत … …]

हिन्दू धर्म में ईश्वर का नाम मन ही में लेने की व्यवस्था है किन्तु यह निमाई विपरीत मत का प्रचार करके समस्त नवद्वीप की शान्ति नष्ट करता है। विपरीत मत चलाकर संपूर्ण नवद्वीप की शान्ति भंग कर रहा है। अतएव आप जब हमारे ग्राम के शासनकर्ता हैं, तब इसकी भी व्यवस्था कीजिए। निमाई को बुलाकर उसे गाँव से निकाल दीजिए। महाप्रभु काजी के मुख से हरिनाम का उच्चारण श्रवण करके उसके ऊपर प्रसन्न हुए और उसे स्पर्श करके कहा कि जब उन्होंने 'हरि,' 'कृष्ण', 'नारायण' का उच्चारण किया, तभी उनके सब अशुभ दूर हो गए। काजी ने भी महाप्रभु के चरणों को छूकर प्रभु के चरणों में भक्ति की याचना की।

महाप्रभु ने काजी के निकट यह भिक्षा माँगी कि नवद्वीप में संकीर्तन करने में अब फिर किसी को कोई बाधा न पहुँचावे। काजी ने प्रतिज्ञा करके कहा कि मेरे वंश का कोई भी आदमी कभी किसी दिन कीर्तन में बाधा न डाल सकेगा। मैं अपने वंश में यह "तलाक" दे जाऊँगा। अब भी श्रीमायापुर-नवद्वीप में काजी के वंशधर लोग श्रीश्रीनवद्वीप परिक्रमा के समय कृष्ण-संकीर्तन में संमिलित होते हैं। इसमें वे लोग कुछ भी आपत्ति नहीं करते।

एक रात को महाप्रभु श्रीवास आँगन में कीर्तन कर रहे थे इसी समय श्रीवास के एक पुत्र का परलोकवास होगया; महाप्रभु के इंद्रिय तर्पण अर्थात कीर्तन में रसभंग होनेके भय से श्रीवास ने अपने घर में परिवार वालों को शोक प्रकाश करने की विशेष रूप से मनाही कर दी। अधिक रात गए तक श्रीवास के घर में महाप्रभु का नृत्य कीर्तन होता रहा। कीर्तन समाप्त होने के बाद महाप्रभु को मालूम हुआ कि इस घर में कोई विपत्ति की घटना घटित हुई है। अब तक इस प्रकार की विपत्ति का समाचार अपने को न देने के लिए प्रभु ने दुःख प्रकट किया और मृत बालक को अपने सामने मँगवाकर उसी के मुख से श्रीवास के घर के परिवार वालों को आपने तत्वोपदेश कराया। मृत शिशु के मुख से तत्वोपदेशपूर्ण वाक्य सुनकर परिवार वालों का शोक दूर हो गया। प्रभु ने श्रीवास से कहा—तुम्हारा जो पुत्र था वह तुम को छोड़ गया; मैं और नित्यानन्द तुम्हारे नित्य पुत्र हैं। मैं तुमको कभी छोड़ नहीं सकूँगा।

श्रीवास गृह के निकटवर्ती कोई मुसलमान दर्जी श्रीवास के वस्त्र सिया करता था। दर्जी एक बार श्रद्धा के साथ महाप्रभु का नृत्य देखकर मुग्ध हो गया। प्रभु ने उस भाग्यवान दर्जी को अपने स्वरूप के दर्शन कराए। वह दर्जी "मैंने देखा! मैंने देखा!" कहकर प्रेम से पागल हो नाचने लगा।

एक रात को चन्द्रशेखर आचार्यरत्न के घर महाप्रभु ने स्वयं रुक्मिणी का वेष धारण करके और श्रीअद्वैत, श्रीनित्यानन्द, श्रीश्रीवास, श्रीहरिदास आदि भक्तगण को विभिन्न भाव और वेष ग्रहण कराकर एक अपूर्व लीला का अभिनय किया था। इसी चन्द्रशेखर के घर में महाप्रभु के द्वारा बंगदेश में सर्व प्रथम अभिनय की अवतारणा की गई थी। वर्तमान युग में विश्व भर में सर्वत्र शुद्ध सनातनधर्म के प्रचार का मूल केन्द्र स्वरूप महाराज श्रीचैतन्यमठ इसी चन्द्रशेखरजी के भवन में स्थापित है।

एक दिन महाप्रभु के नृत्य की समाप्ति होने पर एक ब्राह्मणी ने प्रभु के चरण छू लिये। इस पर लोकशिक्षक जगद्गुरु की लीला का अभिनय करनेवाले महाप्रभु प्राकृत सहजिया पंथियों को सतर्क करने के लिए गंगा में प्रविष्ट हो गए और नित्यानन्द, हरिदास आदि भक्तों ने महाप्रभु को गंगा से बाहर निकाला।

एक दिन विप्रलंभ विग्रह श्रीगौरसुन्दर अपने घर में बैठकर गोपी भाव से, विरह व्याकुल हृदय से "गोपी" "गोपी" नाम उच्चारण कर रहे थे। इसी समय एक दुष्ट विद्यार्थी ने पास आकर महाप्रभु से कहा— आप कृष्ण का नाम न लेकर "गोपी-गोपी" कह कर स्त्रियों के नाम का उच्चारण क्यों कर रहे हैं? यह सुन कर महाप्रभु गोपीभाव से कृष्ण के ऊपर क्रोध और दोषारोप करने लगे। दुर्भाग्य विद्यार्थी उसके भाव को समझने में जब असमर्थ

हुआ, तब गोपीभावमय प्रभु उस विद्यार्थी को कृष्ण का पक्षपाती जानकर पीटने के लिए क्रोधपूर्वक उसके पीछे दौड़े। विद्यार्थी भागा। यह सुनकर कर्मजड़ हरिविमुख ब्राह्मणगण ने मोहवश महाप्रभु पर प्रहार करने का षडयन्त्र रचा।

महाप्रभु ने नवद्वीप के अध्यापक, विद्यार्थी, धार्मिक, कर्मी तपस्वी आदि दुर्जनगण को विष्णु-वैष्णव द्वेषापराध से मुक्त करने के लिए प्राकृत समाज की दृष्टि में श्रेष्ठ कुलीन और वर्णाश्रमाभिमानी गुरु के चतुर्थाश्रम स्वीकार करने की अभिलाषा की—अर्थात यदि वह संन्यास-लीला प्रदर्शन करें तो संन्यासी को सब का प्रणम्य जान कर सभी उनको प्रणाम करेंगे और इससे निंदक ब्राह्मणों को भी सुबुद्धि प्राप्त हो सकेगी।

इस प्रकार का विचार करके महाप्रभु अपने चौबीस वर्ष प्रकट के अन्त में माघ के शुक्ल पक्ष में उत्तरायण के समय, रात्रि के अन्त में, नदिया के घाट में, तैरते हुए गंगा पार होकर कटोआ ग्राम में उपस्थित हुए और कटोआ में रहनेवाले केशवभारती पर कृपा करने के बहाने पहले उनके कान में संन्यास-मन्त्र देकर पुनः उनके निकट से उसी मंत्र को सुनने और दण्ड ग्रहण करने की लीला दिखलाई। प्रभु कृष्ण-कीर्त्तन के द्वारा अचैतन्य विश्व को चैतन्य-प्रदान करेंगे, इसीलिए शुद्ध सरस्वती ने केशव भारती की जिह्वा में अवतीर्ण होकर उनके द्वारा महाप्रभु का संन्यास-लीला का नाम "श्रीकृष्णचैतन्य" रूप से प्रकाशित कराया। महाप्रभु की आज्ञा के अनुसार चन्द्रशेखर आचार्य-रत्न ने विधि-योग्य सब कार्यों का साधन किया। दिन भर कीर्त्तन करते करते बहुत से भक्तों के विरह-क्रन्दन कलरव के बीच सन्ध्या के समय महाप्रभु का क्षौरकार्य समाप्त हुआ। दूसरे दिन प्रातःकाल भागवतीय अवन्ती नगर के त्रिदण्डिभिक्षुक की गाथा गान करते-करते आप राढ़ देश में भ्रमण करने लगे।

श्री १०८ परमहंस महाराज का एक भाषण

श्रीमती वृषभानुनन्दिनी

गोविन्दानन्दिनी श्रीराधा

यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ-
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी ।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि ॥

अर्थात् जिन श्रीमती वृषभानुनन्दिनी के वस्त्राञ्चल-सञ्चलन से उठे हुए धन्य-अतिधन्य पवन के स्पर्श से योगीन्द्र जिनकी गति को नहीं जानते, वह मधुसूदन भी अपने को कृतार्थ मानते हैं, उन श्रीमती वृषभानुनन्दिनी की दिशा को भी प्रणाम करते हैं। यह श्लोक श्रीराधारससुधानिधि ग्रंथ में त्रिदण्डिपाद श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती महाराज ने कीर्त्तन किया है। श्रीप्रबोधानन्दजी स्वयं एक यूथेश्वरी थे; वह कृष्णलीला में तुंगविद्या हैं। हम भी श्रीप्रबोधानन्दपाद का अनुगमन करके वृषभानुकुमारी को प्रणाम करते हैं।

गोविन्दमोहिनी श्रीराधा

जगत् में शोभा सौन्दर्य और गुणों के आधारस्वरूप नाना प्रकार की वस्तुएँ विद्यमान हैं। श्रीकृष्णचन्द्र अखिलरस और शोभा-सौन्दर्य आदि गुणों के मूल समाश्रय हैं। वह समस्त ऐश्वर्य, वीर्य और ज्ञान के मूल आश्रयतत्त्व हैं। फिर वही पूर्णतम भगवान हैं—जिनका 'आश्रय' और 'विषय', वह स्वरूप कितना बड़ा है, यह मानव ज्ञान की, यहाँ तक कि अनेक मुक्त पुरुषों की भी धारणा से अतीत है। जिन श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य और माधुर्य में समस्त जगत् लालायित और मोहित है, जो अपने माधुर्य में आप मोहित हैं, वह भुवनमोहन मदनमोहन भी जिनके द्वारा मोहित होते हैं, वह कितनी बड़ी वस्तु हैं, सो भाषा के द्वारा दूसरे को समझाया नहीं जा सकता।

अभिन्न आश्रय-विग्रह श्रीराधा की महिमा स्वयं कृष्ण ही जानते और उसका प्रचार करते हैं

यद्यपि कृष्ण विषय-तत्त्व हैं, तथापि वह आश्रय ही का विषय हैं। जड़ जगत् में जिस तरह पुरुष और स्त्री के बीच वास्तव में पार्थक्य और जड़ सम्बन्ध विद्यमान है—उच्चावच भाव विद्यमान है परस्पर भेद मौजूद है—श्रीमती राधिका और कृष्ण के बीच उस प्रकार का भेद या सम्बन्ध नहीं है। कृष्ण की अपेक्षा वृषभानुनन्दिनी कम श्रेष्ठ नहीं हैं। श्रीकृष्ण ही 'आस्वादक' और 'आस्वादित' रूप से नित्यकाल दो देह धारण किए हुए हैं। जिन कृष्ण के अपूर्व सौन्दर्य से वह स्वयं ही मुग्ध होती हैं, उन कृष्ण की अपेक्षा यदि श्रीमती राधिका का सौन्दर्य अधिक न हो, तो उन्हें मोहित करने का कार्य नहीं हो सकता। श्रीमती राधा भुवनमनोमोहिनी, हरि-हृदय भृंग-मंजरी मुकुन्द-मधु-माधवी, पूर्णचन्द्र कृष्ण की पूर्णिमास्वरूपिणी और कृष्ण की कान्ताओं की शिरोमणिस्वरूपा अंशिनी हैं। वृषभानुनन्दिनी का तत्त्व जीव-समष्टि की भाषा में समझाया नहीं जा सकता। सेवक की ऐसी भाषा नहीं है, जो सेव्य वस्तु का सम्यक् वर्णन कर सके। किन्तु सेवक का तत्त्व वर्णन करने में सेवा ही समर्थ है; इसीसे भगवान कृष्णचन्द्र स्वयं हम लोगों को श्रीमती राधारानी का तत्त्व जना सकते हैं। और एक जन हैं, वह भी गोविन्दानन्दिनी का तत्त्व हम लोगों की शुद्ध आत्मा की उपलब्धि का विषय कराने में समर्थ हैं—जो वृषभानुसुता और कृष्ण की साक्षात् सेवा करते हैं—अर्थात् वह हैं श्रीगौरसुन्दर के निजजन श्रीगुरुदेव या गौरशक्तिगण। जो कृष्णचन्द्र "राधाभावद्युति-सुवलित-तनु" हुए हैं, अर्थात् राधिका के भाव और कान्ति को जिन्होंने ग्रहण किया है, वह कृष्णचन्द्र ही प्रपञ्च में श्रीमती की महिमा प्रकट कर सकते हैं। उनके प्रियतम दासगण भी उस परम तत्त्व को कह सकते हैं। उनके सिवा और कोई भी व्यक्ति समर्थ नहीं।

श्रीगौरसुन्दर की शिक्षा के पहले श्रीमती की माध्याह्निक सेवा की बात अज्ञात थी

पहले जगत् में जैसे वृषभानु राजकुमारी की कथा प्रचारित हुई थी, अर्थात् आचार्य निम्बार्कपाद ने श्रीराधा-गोविन्द की जैसी सेवा-प्रणाली कही थी, उसमें श्रीमती की महिमा प्रपञ्च में उतने सुसमृद्ध भाव से प्रकाशित नहीं हुई थी। माध्याह्निक लीला में जिनका प्रवेशाधिकार नहीं था, उनके निकट ही श्रीराधा गोविन्द की इस प्रकार की नैश-लीला कथा बहुमानित हुई थी। कलिन्द-तनया के तट पर नैश-विहार की कथा, जो श्रीनिम्बार्कपाद ने कीर्त्तन की है, उससे श्रीगौरसुन्दर के प्रियतम श्रीरूपपाद और उनके अनुगामियों द्वारा कथित श्रीराधा गोविन्द की माध्याह्निक लीला मधुरिमा के उत्कर्ष की बात तारतम्य के विचार से बहुत उन्नत और मर्मपूर्ण है। द्वैताद्वैत विचार से अचिन्त्य भेदाभेद विचाराश्रित रस के उत्कर्ष की बात, गोलोक के निभृततर की बात, राधाकुण्डतट कुञ्ज के निकटवर्त्ती चिन्मय कल्पतरु के तले नवनवायमान अपूर्व विहार की बात गौरसुन्दर के पहले कोई भी उपासक या आचार्य अच्छी तरह वर्णन करने को समर्थ नहीं हुआ। उनमें से किसी किसी को रासस्थली की लीलामात्र मालूम थी; किन्तु मध्याह्न के समय श्रीवृषभानुनन्दिनी किस प्रकार कृष्णसेवा का अधिकार प्राप्त किया करती हैं, पहले किसी को भी यह विदित नहीं था और न उस माधुर्य सौन्दर्य सेवा का अधिकार ही किसी को प्राप्त था। वंशीध्वनि से आकृष्ट होकर अन्तरा और परोढ़ा आदि बहु बहु कृष्ण सेविकाओं ने रासस्थली में सम्मिलित होने का अधिकार पाया था। किन्तु श्रीरूप-कथित "दोलारण्यास्त्ववंशीहृतिरतिमधु-पानार्कपूजादिलीलौ" पद से निर्दिष्ट लीला पराकाष्ठा में प्रवेश-सौभाग्य की बात मधुर-रस-सेवी गौरजन गौड़ीय के सिवा अन्य किसी को नहीं प्राप्त हो सकती—यह बात नियमानन्द-संप्रदाय के किसी भी व्यक्ति को मालूम नहीं है।

अप्राकृत मधुर रस प्राकृत रसाश्रित के लिए अगम्य है

श्रीमती की पाल्यदासी की उन्नत पदवी को देख पाना मानव-ज्ञान के अन्तर्गत नहीं है। वृषभानुजा की नित्यकाल अन्तरंग सेवा में निरत निज जन के सिवा ये सब बातें कोई कभी किसी तरह जान नहीं सकता। जिस दिन आप लोगों को किसी तरह की बाह्य जगत् की अनुभूति नहीं रहेगी, तुच्छ नीति, तप, कर्म, ज्ञान और योग आदि की चेष्टा थूकने के योग्य जान पड़ेगी, ऐश्वर्यपथ। श्रीनारायण की बात भी उतनी रुचिकर नहीं जान पड़ेगी, रासस्थली

का नृत्य भी उतनी बड़ी बात न मालूम होगा, उसी दिन आप लोग ये सब बातें समझ सकेंगे। श्रीराधा गोविन्द की सेवा की बात इस देश की भाषा में नहीं कही जा सकती है। "स्वकीया", "परकीया" शब्दों को कहने से हम उन्हें अपने इन्द्रिय-तर्पण की धारणा के साथ मिला डालते हैं इसी कारण श्रीराधा गोविन्द की लीला की कथा कहने, सुनने और समझने के अधिकारी विरले ही हैं— बहुत ही कम हैं। जगत में हैं ही नहीं, यह कहना भी कुछ अत्युक्ति न होगा।

प्राकृत सहजिया लोगों का विचार-भ्रम और उसे दूर करना

एक श्रेणी के "प्राकृत सहजिया" पंथी लोग कहा करते हैं कि श्रीरूपपाद ने परकीया सेवा की उन्मत्तता दिखलाई थी, किन्तु श्रीजीवपाद वैसे नहीं हैं। वे अज्ञजवारणकारी लोग भोगपरताकल से विचार करके जो सिद्धान्त करते हैं, यथार्थ बात वैसी नहीं है। श्रीरूपानुगप्रवर श्रीजीवपाद श्रीरूपगोस्वामी प्रभु के स्थान में ही आचार्य पद में अभिषिक्त थे। श्रीजीवपाद ने "गोपालचम्पू" ग्रन्थ में श्रीराधा और गोविन्द के विवाह की कथा वर्णन की है—और सन्दर्भ आदि ग्रन्थों में उन्होंने विचार प्रधान मार्ग का अवलम्बन किया है इसीलिए प्राकृत सहजिया सम्प्रदाय यह कहकर कि श्रीजीवपाद ने श्रीरूप-प्रवर्तित विशुद्ध परकीया विचार को स्तब्ध कर दिया है, मिथ्या कल्पना या आरोप करते हैं। लेकिन असल घटना यह नहीं है। हम दो तीन सौ वर्ष पहले के प्राकृत सहजिया लोगों के इतिहास में इस प्रकार की कुविचार देख पाते हैं। आज भी प्राकृत सहजिया सम्प्रदाय में वही पुराना उद्गार प्रचलित देखने को मिलता है। श्रीजीवपाद महाराज श्रीरूपानुग गौड़ीयगण के आचार्य हैं। उन्होंने हमारे समान क्षुद्र जीवों की कुपथ से रक्षा करने की चेष्टा की है। रुचि-विकार ने जिनको ग्रस लिया है, अप्राकृत चिद्वैचित्र्य की बातें समझने की सामर्थ्य जिन में नहीं है, वे सब जड़ स्तब्ध लोग जिस में महाअसुविधा के बीच न पड़ सकें, इसीलिए श्रीजीवपाद ने इस प्रकार का सुसिद्धान्त विचार दिखाया है। जिन लोगों ने नीति की पराकाष्ठा लाभ की है, जिन्होंने अति-कठोर वैराग्य और बृहद्धर्मयाजन में पारदर्शिता प्राप्त की है, इस तरह के व्यक्ति भी जिस अद्भुत लीला का एक कण भी समझने में समर्थ नहीं होते उस परमचमत्कारमयी चिन्मयी पारकीया लीला को अनधिकारी लोग समझने में समर्थ न होंगे यह सोचकर ही श्रीजीवपाद ने किसी किसी स्थल में उन उन अधिकारियों की योग्यता के अनुसार नीतिमूलक विचारों का प्रदर्शन किया है। इसके द्वारा कृष्णभजन में किसी प्रकार का दोष नहीं आया। गोपालचम्पू में वर्णित राधा-गोविन्द का वैध विवाह उनके पारकीय भाव के प्रति आक्रमण नहीं है। पारकीयरस की परमश्रेष्ठा नायिका वृषभानुसुता मायिक अभिमन्यु के साथ प्राजापत्यबन्धन विच्छिन्न करके, सम्पूर्ण रूप से पतिवञ्चना करके सब समय अद्वय ज्ञान व्रजेन्द्रनन्दन की सेवा के लिए प्रस्तुत हुई थीं। इसके द्वारा प्राकृत-विचार-परिपूर्ण-मस्तिष्कयुक्त सहजिया लोग ख्याल कर सकते हैं कि श्रीमती राधिका प्राकृत जार-रत थीं; किन्तु पतिव्रता शिरोमणि अरुन्धती की अपेक्षा भी वृषभानुनन्दिनी का पातिव्रत्य अधिक है—वृषभानुनन्दिनी से ही समग्र पातिव्रत्य धर्म का उद्भव हुआ है। सम्पूर्ण सुनीति की मूलवस्तु वृषभानुनन्दिनी के चरणारविन्दों में ही आबद्ध है। यथा। चै० च० मध्य ८ वीं पंक्ति)—

"जिनका सतीत्वधर्म चाहें अरुन्धती"

(क्रमशः)

समय नहीं है !!



मेरे पास सभी कामों के लिए समय है; किन्तु हरिभजन के लिए समय नहीं। मैं आहार, निद्रा, कुटुम्ब-भरण, इन्द्रिय-तर्पण आदि सभी काम करने को समय पाता हूँ; किन्तु हरिभजन के लिए समय नहीं पाता! लड़कपन में जब स्कूल में पढ़ता था तब सोचा था, और ज़रा सयाना होकर हरि की आराधना करूँगा। जवान हुआ, पिता माता मेरे लिए मन को हरण करने वाली एक सुन्दरी भार्या ब्याह लाए। उसके साथ भोग-विलास आदि करने में, उस की फ़रमाइशें पूरी करने में सारा समय चला जाता है। बाक़ी समय में इतना थका रहता हूँ कि उस समय विश्राम और स्त्री की चिन्ता के सिवा और किसी विषय में उत्साह नहीं होता। गुलग़ाम मुझे हरिभजन का समय नहीं मिलता। जिससे हरिभजन का अवसर न आकर उपस्थित हो, इसलिए इन्द्रियतर्पण-निरत मन की युक्ति लेकर कहता हूँ "भगवान् ने मुझे जगत् में भेजा है, नाना कर्तव्यों के भीतर डाल दिया, अतएव स्त्रीचिन्ता पुत्रचिन्ता पिता-माता की सेवा करना, और जिससे मेरे इन सब भोगों के उपकरण जगत में सर्वाङ्ग-पालन करके मेरे इन्द्रिय-तर्पण के सहायक हो सकें, इसके लिए बहिर्मुखी देश और समाज की रक्षा करना और उनकी बहिर्मुखता को प्रश्रय देना ही भगवान की मर्ज़ी है उनका अभिप्रेत कार्य है।" अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए भोग के संसार को "कृष्ण का संसार" कहकर हरि-भजन से छुट्टी लेने के लिए मैं कहा करता हूँ - "स्त्री, पुत्र आदि के प्रतिपालन रूप कर्तव्य का पालन ही मेरा भजन है।" तब योषित्‌रूपा स्त्री, जननी या जन्मभूमि के भजन को ही एकमात्र भजन कहकर मैं लोगों के निकट प्रचार करता हूँ।

इसी से कहता था कि मुझे सभी कामों के लिए समय होता है, केवल हरि भजन के लिए ही नहीं होता। कभी ऐसा होता है कि मैं घर गिरस्ती के बहुत से कामों से कुछ विश्राम पाने के लिए अथवा परिश्रम लाघव के लिए एक छोटी सी कोठरी तैयार कराता हूँ; उसमें बाज़ार से अपने इन्द्रियतर्पण के अनुकूल (अर्थात् जो मेरी चक्षु इन्द्रिय की लालसा और भोगतृष्णा चरितार्थ करने में समर्थ हो) किसी एक देवी या बहुत देवियों के चित्र बाज़ार से ख़रीद लाता हूँ और धूप, कम्बलासन या कुशासन लाकर रख देता हूँ। किन्तु उस कोठरी में जाकर भी मुझे हरि भजन का समय नहीं मिलता। दुष्ट मन सदा इन्द्रियतर्पण चाहता है। मन कभी हरिभजन के लिए समय नहीं पा सकता। मन का धर्म ही बाह्यजगत के पीछे दौड़ना है। अनेक चेष्टा करके मन को शान्त करने का प्रयत्न करता हूँ, ध्यान करता हूँ, कभी रेचक पूरक और कुम्भक (प्राणायाम) करके अजपा जप जपता हुआ मन को शान्त करना चाहता हूँ। किन्तु वहाँ भी मुझे हरिभजन का समय नहीं होता। इस तरह मन को प्रशान्त करने की चेष्टा में मेरे द्वारा हरितोषण नहीं होता, केवल चित्ततोषणमात्र होता है। वह कृष्णेन्द्रिय-प्रीति की वाञ्छा नहीं है केवल मेरी आत्मेन्द्रिय प्रीति की इच्छा या 'काम' मात्र है। इसीसे कहता हूँ, मुझे हरिभजन का समय नहीं है।

प्रौढ़ावस्था में सोचा था, पुत्र बालिग़ हुआ है। उसके हाथ में विषय-संपत्ति सौंपकर जीवन भरके क्लेश और ज्वाला को शान्त कर सकूँगा अर्थात् अपने इन्द्रियतोषण का एक उपाय खोज लूँगा। लोगों के निकट भक्त की प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए और देश भ्रमण आदि के द्वारा चित्त की प्रसन्नतारूप आत्मतर्पण के लिए काशी, वृन्दावन आदि तीर्थस्थानों में जाऊँगा। अब बुढ़ापा आ गया है। इस समय स्त्री-पुत्रादि मेरे इन्द्रियतर्पण की आग में विशेष ईंधन नहीं डाल सकते। कारण, सब इंद्रियाँ शिथिल हो पड़ी हैं। किन्तु मेरी सब इन्द्रियों की अपरितृप्त आकांक्षाएँ जैसे इस समय जीभ में आकर बैठ गई हैं। इसीसे प्रसाद-सेवा का छल करके विनाशिताबद्ध बेकार बैल की तरह मैं तीर्थ और वैष्णव आदि के मठ आदि में भ्रमण करके इन्द्रिय तर्पण की चेष्टा करता हूँ। स्त्री-पुत्रादि मुझे संसार का एक व्यर्थ का बोझ समझकर उस बोझे से अपनी जान बचाने के लिए मुझे साधु-सन्तों के मठ में भेजने की व्यवस्था करते हैं, मुझे रेल का किराया देकर छुटकारा पाने की चेष्टा करते देखे जाते हैं। घर लौटने का ख़र्च देने की ज़रूरत

नहीं समझते। किन्तु मैंने अपने लड़कपन से प्रौढ़ावस्था तक उन लोगों के निकट से पहले कभी ऐसी सहायता नहीं पाई। मैं कहीं भूलकर भी हरिभजन न कर बैठूँ या यथार्थ साधु सद्गुरु का संसर्ग न हो जाय इस डर से स्त्री पुत्रादि सबने मिलकर इतने दिन मुझपर कड़ी नज़र रक्खी है पहरा दिया है। मैं निष्किञ्चन कृष्णतत्त्व के ज्ञाता शुद्ध वैष्णव के निकट जाकर उनके अर्थात् स्त्री, पुत्र आदि आत्मीय स्वजनों के इन्द्रिय तोषण में कहीं विघ्न न डालूँ, इसलिए उन्होंने मुझे, मेरे हाथ का दिया जल शुद्ध करने का बहाना करके, गृहव्रत गुरु से मन्त्रदीक्षा दिला दी है। जिसमें मैं हरिभजन का समय न पाऊँ इसके लिए उन्होंने मुझको समाज-नीति, देश नीति, साहित्य और काव्य की आलोचना करने का परामर्श दिया है। मुझे शुक्राचार्य के पुत्र षण्ड और अमर्क के समान गृहव्रत गुरुओं के निकट से उपदेश ग्रहण करने के लिए उन्होंने प्ररोचना दी है।

किन्तु मुझे जान पड़ता है, दोष मेरा ही है, और किसी का नहीं। मैं हरि को भजना नहीं चाहता, इसीसे हरिभजन के लिए समय भी नहीं पाता। मैं यदि प्रह्लाद का आदर्श ग्रहण कर सकता, तब तो षण्ड अमर्क रूप गृहव्रत गुरुब्रवगण के अथवा उसी प्रकार के हिरण्यकशिपुसदृश आत्मीय नामधारी शत्रु के दुःसंग को दूरकर श्रीनारद-गोस्वामी के समान निष्किञ्चन परमहंस वैष्णव की शरण ग्रहण करता।

इसी से कहता हूँ, हरि-भजन के लिए समय नहीं है। मैं कभी कभी इस तरह के निष्किञ्चन शुद्ध वैष्णव के निकट जाने का अभिनय करके भी नहीं जाता। उनके श्रीपादपद्मों की शरण एकान्त भाव से नहीं पकड़ता। कभी कभी मैं "हरि का भजन करूँगा" ऐसा कहकर विवाह करने को राज़ी नहीं होता। लोग मुझे ब्रह्मचारी कहते हैं और मैं भी अपने को ब्रह्मचारी कहकर प्रसिद्ध करता हूँ! किन्तु ब्रह्मचारी बनने पर भी मुझे हरि-भजन का समय नहीं मिलता। मेरे स्त्री अथवा पुत्र न रहने पर भी एक दुखिया माता और वृद्ध पिता मौजूद हैं। मैं उनकी सेवा का बहाना करके अपनी इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने में लगा रहता हूँ। स्वरूप को भूलकर विरूप के साथ मित्रता करता हूँ—हरि की सेवा छोड़कर माया की सेवा करने दौड़ता हूँ।

फिर कभी "कृष्ण का संसार जमाकर स्त्रीसहित भजन करूँगा, स्त्री को सच्ची सहधर्मिणी बनाऊँगा", इस प्रकार का मनोरूपी गुरु का परामर्श लेकर मैं इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने में लग जाता हूँ। इसी से कहता हूँ, हरि-भजन के लिए समय नहीं है।

वह सुनो, वैष्णव ठाकुर ने दुःख से दुःखित होकर क्या कहा है-

"गोरा-चरण न मैं भजि लीने।
प्रेमरतनधन गँवाय दीने॥
धन त्याग कर यत्न अधन में।
कर्म दोष से डूबा मन में॥
तजि सत्संग असत को पकड़ा।
कर्मबन्ध में जिससे जकड़ा॥
विषम विषय-विष पिया निरन्तर।
गौरकीर्तिरसमग्न न अन्तर॥
रक्खा यह जीवन किस सुख को?
अधम दास यह मरा नहीं क्यों?"

ैमित्तिक धर्म असंपूर्ण, हेय, मिश्र और अचिरस्थायी है

५(जीव का नित्य और नैमित्तिक धर्म्म से संयुक्त

एक दिन एक पहर रात के बाद संन्यासी महाराज हरिनाम गान करते करते श्रीगोद्रुम के उपवन के एकान्त में एक उच्च भूमि में बैठकर उत्तर ओर देखने लगे। उस समय पूर्णचन्द्र का उदय हो चुका था और श्रीनवद्वीपमण्डल की अपूर्व शोभा हो रही थी। थोड़ी ही दूर पर श्रीमायापुर नयनगोचर होने लगा। संन्यासी महाराज कहने लगे वाह ! यह तो मैं एक विचित्र आनन्दमय धाम देख रहा हूँ। बड़ी बड़ी रत्नमयी अट्टालिकाएँ, मन्दिर और फाटक अपनी किरणें फैलाकर गंगा के तटमण्डल को उज्ज्वलित कर रहे हैं ! अनेक स्थानों में हरिनाम-संकीर्तन का शब्द तुमुल होकर गगनमण्डल को जैसे विदीर्ण कर रहा है। नारद के समान कितने ही सैकड़ों भक्तगण वीणा बजाकर नामगान करते हुए नाच रहे हैं। किसी तरफ श्वेत-शरीर देव-देव महादेव डमरू हाथ में लिये "हा विश्वंभर दया करो" कहकर उद्दण्ड ताण्डव नृत्य करते-करते गिर पड़ रहे हैं। किसी स्थल पर चतुर्मुखब्रह्मा बैठकर वेदवादी ऋषियों की सभा में:—

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्वस्यैपः प्रवर्त्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥

यह वेदमन्त्र पाठ करके इसकी निर्मल व्याख्या कर रहे हैं। किसी स्थल पर इन्द्रादि देवगण "जय प्रभु गौरचन्द्र, जय नित्यानन्द" कहकर उछलकूद रहे हैं। पक्षी सब डालों पर बैठ कर "गौर निताई" ही पुकार रहे हैं। भ्रमर सब गौर-रस पान से मत्त होकर चारों ओर पुष्पों के उद्यानों में गुनगुना रहे हैं। प्रकृति देवी सर्वत्र गौर-रस से उन्मत्त होकर अपनी शोभा फैला रही हैं। संन्यासी महाराज कहने लगे अहा, दिन में जब मैं श्रीमायापुर के दर्शन करता हूँ, तब तो यह कुछ देख नहीं पाता। आज यह क्या देख रहा हूँ। तब श्रीगुरुदेव को स्मरण करके वह कहने लगे—प्रभो आज मैंने जाना कि आपने कृपा करके मुझे अप्राकृत मायापुर के दर्शन कराये हैं। आज से मैं श्रीगौरचन्द्र का निजजन कहकर अपना परिचय देने का एक उपाय करूँगा। मैं देखता हूँ कि इस अप्राकृत नवद्वीप में सभी तुलसी की माला, तिलक और नामांकित उत्तरीय धारण किए हुए हैं। मैं भी यही करूँगा — यह कहते कहते संन्यासी महाराज की एक प्रकार की अचेतन अवस्था उपस्थित हुई।

बहुत थोड़ी देर में ही उन्हें फिर होश आगया। ज्ञान तो अवश्य हुआ ये सब अपूर्व चिन्मय दृश्य फिर नयनगोचर न हो सके। तब संन्यासी महाराज ने रोते रोते कहा—मैं बड़ा ही सौभाग्यशाली हूँ, क्योंकि श्रीगुरु की कृपा प्राप्त करके क्षणभर नवद्वीपधाम के दर्शन कर लिए।

दूसरे दिन संन्यासी महाराज अपना दंड जल में विसर्जन करके, गले में त्रिकंठी तुलसी की माला और ललाट में ऊर्द्धपुण्ड्र धारण करके, हरि हरि कहकर नाचने लगे। गोद्रुमवासी वैष्णवगण उनके अपूर्व नूतन वेष और भाव को देखकर उन्हें धन्य-धन्य कहकर दंडवत प्रणाम करने लगे। संन्यासी महाराज ने इस समय कुछ लज्जित होकर कहा—वाह, मैंने वैष्णवों का कृपापात्र होने के लिए यह वैष्णव-वेश ग्रहण किया, किन्तु यह और एक मुशकिल आकर खड़ी हुई। मैंने गुरुदेव के मुख से वारम्वार यह बात सुनी है —

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिनामानदेय कीर्त्तनीयः सदाहरिः॥ (१)
(चै० च० अन्त्य २१।२१)

अब जिन्हें मैं अपना गुरु मानता हूँ, वेही वैष्णवगण मुझको प्रणाम करते हैं। मेरी क्या गति होगी ? इस प्रकार मन में आलोचना करते करते वह परमहंस बाबाजी के निकट गए और उनको साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया।

माधवी-मण्डप में बैठकर बाबाजी हरिनाम का जप कर रहे थे। संन्यासी महाराज का संपूर्ण वेश परिवर्तन और नाम के प्रति भावोदय देखकर प्रेम के आँसू बरसाकर

(१) अर्थात तृण से भी सुनीच अपने को जानकर, वृक्ष से भी बढ़कर सहनशील होकर, स्वयं अभिमान वर्जित होकर, औरों को सम्मान देते हुए सदा हरि का कीर्तन करना चाहिए।

अपने शिष्य को उनसे स्नान कराते हुए परमहंस बाबा ने उनको गले से लगा लिया। और बोले – अजी वैष्णवदास, आज तुम्हारे मंगलपूर्ण शरीर को स्पर्श करके मैं कृतार्थ हो गया।

यह बात कहते ही संन्यासी महाराज का पहले का नाम दूर हो गया। अब इस समय वह वैष्णवदास के नाम से परिचित हुए। संन्यासी को आज से एक अपूर्व जीवन प्राप्त हुआ। मायावादी संन्यासी का वेश, संन्यासाश्रम का अहंकारपूर्ण नाम और अपने को महत समझने की बुद्धि, यह सब दूर हो गया।

तीसरे पहर श्रीप्रसन्नकुंज में श्रीगोद्रुम और श्रीमध्य द्वीप के निवासी अनेक वैष्णव परमहंस बाबाजी के दर्शन करने आए थे। परमहंस बाबाजी को घेर कर उनके चारों ओर वे बैठे थे। सभी तुलसी की माला में हरिनाम का जप कर रहे थे। कोई कोई 'हा गौरांग नित्यानंद' कोई कोई 'हा सीतानाथ' और कोई कोई "जय शची-नन्दन' इत्यादि कहते हुए आँसुओं से नहा रहे थे। सब वैष्णव परस्पर इष्टगोष्ठी कर रहे थे। समागत सब वैष्णव तुलसी परिक्रमा करके वैष्णव को दण्डवत प्रणाम कर रहे थे। इसी समय वैष्णवदास आकर श्रीवृन्दादेवी (तुलसी) की परिक्रमा करके वैष्णवों के पदरज में लोटने लगे। कोई कोई महात्मा आपस में कानाफूसी करने लगे –यही न वह संन्यासी महाराज हैं ! आज इनकी कैसी अद्भुत मूर्ति हो गई है।

वैष्णवों के सामने पृथ्वी पर लोटते हुए वैष्णवदास कह रहे थे––आज मैं वैष्णवों की चरणरज पाकर कृतार्थ हो गया। श्रीगुरुदेव की कृपा से मैंने अच्छी तरह जान लिया है कि वैष्णवपदरज के बिना वैष्णव की और गति नहीं है। वैष्णव की पदरज, वैष्णव का चरणोदक और अधरामृत ये तीन वस्तुएँ भवरोग की औषधि और भवरोगी का पथ्य हैं। इससे केवल भव रोग ही दूर होता हो, यह बात नहीं है, किन्तु विगतराग पुरुषों को परमभोग का लाभ भी होता है। हे वैष्णवगण ! ऐसा न समझिएगा कि, मैं अपने पांडित्य का अहंकार प्रकट करता हूँ। मेरा हृदय आजकल सब अहंकारों से शून्य हो गया है। ब्राह्मणवंश में जन्म हुआ था सब शास्त्रों का अध्ययन किया था और चतुर्थाश्रम में प्रवेश भी किया था। उस समय मेरे अहंकार की सीमा न थी। किन्तु जब से मैं वैष्णव-तत्त्व में आकृष्ट हुआ हूँ, तब से मेरे हृदय में एक दीनता का बीज रोपित हो गया है। मैं क्रमशः आप लोगों की कृपा से जन्माहंकार, विद्यामद और आश्रमगौरव को दूर कर चुका हूँ, इस समय मुझे जान पड़ता है कि मैं एक निराश्रित क्षुद्र जीव हूँ। वैष्णव चरणाश्रय के बिना मेरी और किसी प्रकार की गति नहीं। ब्राह्मणत्व, विद्या और संन्यास, ये मुझे क्रमशः अधःपतित कर रहे थे। मैंने सरल भाव से आपके चरणों में सब बातें कह दी हैं। अब अपने दास को जो करना हो, सो आप करें।

वैष्णवदास के ये दीन वचन सुनकर उनमें से अनेक कह उठे—हे भागवत प्रवर, आपके समान वैष्णव की चरणरेणु प्राप्त करने के लिए हम लालायित हैं। कृपापूर्वक हमें अपनी पदधूलि देकर कृतार्थ करिए। आप परमहंस बाबाजी के कृपापात्र हैं हमें भी अपना संगी बनाकर पवित्र करिए। बृहन्नारदीय पुराण में लिखा है––

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसंगेन परिजायते।
सत्सङ्गः प्राप्यते पुंभिः सुकृतैः पूर्वसंचितैः ॥

अर्थात भगवद्भक्तों के संग के प्रभाव से भक्तिवृत्ति का उदय होता है। सब पुरुष पूर्व-पूर्व जन्म के संचित सुकृत के फल से ही विशुद्ध भक्त के संग को पाते हैं।

हमारा कोई भक्तिपोषक सुकृत था, इसीसे आपका सत्संग हमने पाया। इस समय हम आपके संग के बल से ही हरिभक्ति लाभ करने की आशा करते हैं।

वैष्णवों की परस्पर दैन्योक्ति और प्रणति समाप्त होने पर उस भक्तगोष्ठी में वैष्णवदास महाशय एक तरफ बैठकर गोष्ठी की शोभा बढ़ाने लगे। उनके हाथ में हरिनाम की माला शोभायमान हो रही थी।

उस गोष्ठी में उस दिन और एक भाग्यवान आदमी बैठे थे। वह लड़कपन से ही अर्बी फार्सी भाषा पढ़कर बहुत कुछ मुसलमान राजाओं के व्यवहार का अनुकरण करके देश के एक गण्य मान्य व्यक्ति समझे जाते थे। निवास शान्तिपुर में था। ब्राह्मण जाति और उसमें भी कुलीन थे। बहुतसी ज़मींदारी के मालिक भी थे। और दलबंदी खड़ी कर देने के काम में बड़े पटु थे। बहुत दिन तक ये सब पद भोग करके उनमें उन्हें कुछ सुख नहीं मिला था। अन्त को उन्होंने हरिनाम का संकीर्तन आरंभ कर दिया।

(क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्द्धवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जाननगर, बर्द्धवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीमदाई गौरांग मठ
बालीआटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ५, गोपीभवन डाक्टर लेन, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपुरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणगड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्द्धवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चोरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् ≈)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम्—सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजय: ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचय: -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशित) प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्री-रूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।≈)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बंगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≶)
१२—युक्तिमल्लिका (गुणसौरभ) वादिराज स्वामि-कृत अनुवादसहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≈)
१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ≈)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत ≈)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥≈)
२७—जैव धर्म ३)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by B. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

वर्ष १]

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

[संख्या १४

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

20th May 1932

मधुसूदन
गौरपक्ष
गौराब्द
४४६

वैशाख
पूर्णिमा
संवत्
१९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-
सरस्वती गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १।।)

Editor: —Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

९४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

All communications are to be addressed to —

The Manager 'Bhagwat'

946 Suddar Bazar,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष १ वैशाख-पूर्णिमा गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, २० मई स० १९३२ ई० संख्या १४

नम्र निवेदन

(१२)

मेरा कहने को प्रभो नहीं रहा कुछ और ।
मातु - पिता प्रिय भ्रात सब तुम्हीं मित्र की ठौर ॥
दारा - कन्या - मित्र - सुत सभी तुम्हारे दास ।
तुम्हरे ही सम्बन्ध सब मैं भी करूँ प्रयास ॥
धन - जन तेरा ही प्रभो तेरा ही घर - द्वार ।
तुम्हरे हि नाते मैं करूँ सेवा सकल सँभार ॥
तुम्हरी सेवा से करूँ धन - अर्जन का कार ।
तुम्हरे नाते व्यय करूँ तुम्हरे ही संसार ॥
भला - बुरा जानूँ नहीं, सेवा करूँ तुम्हार ।
तुम संसारी विषय का, मैं हूँ पहरेदार ॥
दरश श्रवण की वासना भूख - प्यास औ ज्ञान ।
तुम्हरी इच्छा से सभी इन्द्रिय - चालन मान ॥
अपने सुख के हेतु मैं करूँ नहीं कुछ कार ।
तेरे भक्ति - विनोद को तेरा ही सुख-सार ॥

सामयिक प्रसंग

जगत् में जब जैसी हवा चलती, तब मनोधर्म द्वारा परिचालित जगत के लोग भेड़ियाधसान का ही साथ दिया करते हैं। कितने ही लोग हुल्लड़ को ही धर्म समझते हैं; फिर, कोई-कोई मुँह से हुल्लड़ के लिये घृणा करने पर भी काम के समय उसमें ही डूब जाते हैं।

मनुष्य स्वभाव से ही अनुकरण-प्रिय होता है। यह जो एक वर्ष का बालक हाथ-पैर फेंकते हुए जगत की जानकारी के भाण्डार को लूट लेना चाहता है, उसका सहारा यही अनुकरण है।

मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है, कि वह अकेले कोई काम करना नहीं चाहता। अकेले कोई काम करने के लिये उसके हृदय में उत्साह ही नहीं होता; दस आदमी मिलके कोई बुरा काम ही क्यों न करें, मनुष्य उसे करना पसन्द करता है। मनुष्य की यह प्रवृत्ति अस्थि-मज्जागत हो बैठी है।

हम लोगों को जगत् में तीन प्रकार के जीवों के होने की चर्चा सुनाई देती है—पशु पक्षी आदि इतर जीव, मनुष्य और देवता। हम यह भी जानते हैं, कि पशु-पक्षी से मनुष्य और मनुष्य से देवता श्रेष्ठ हैं।

हम सभी लोग भले बना चाहते हैं; यह भी मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यदि कोई हममें से किसी को 'पशु' कह दे, तो उसके लिये अदालत में मुकदमा दायर हुए बिना न रहेगा। फिर, अगर कोई हमें मनुष्य ही समझे, तो सिर्फ मनुष्य कहलाने से भी हम सन्तुष्ट नहीं होते। हाँ, यदि कोई हमें देवता कहे, तो अवश्य प्रसन्न हो सकते हैं।

पशु का स्वभाव है;—आहार, निद्रा, दूसरे पशुओं से अपनी रक्षा, इन्द्रिय-तर्पण इत्यादि। पशु-पक्षी अपने लिये आहार का संग्रह करते हैं। बच्चों के लिये बहुत दूर-दूर से दाने चुनकर लाते और खिलाते हैं। वृक्षों की सींकें इकट्ठी कर किसी पहाड़ी या गुफा में या कहीं गड्ढा खोदकर अपने-अपने रहने की जगह बनाते हैं। एक जाति के पशु एक साथ रहना पसन्द करते हैं और अपनी रक्षा के लिये गैर जाति के जीवों को भगा देते हैं। मधुमक्खी और बन्दर जैसे इतर जाति में बड़ी एकता है, इनमें आहार-संग्रह के बारे में अच्छी सुशृङ्खला दिखाई देती है।

कितने ही इतर जीवों में दूसरे के प्रति ऐसा प्रेम, सौहार्द और विश्वस्त भाव दिखाई देता है, जितना अक्सर किसी मनुष्य में दिखाई नहीं देता। ऐसे कितने ही पशु देखे गये हैं, जिन्होंने अपने प्राण तक दे दिये, फिर भी अपने कर्त्तव्य कार्य से भ्रष्ट नहीं हुए। हम लोग अक्सर इन सब सत्य घटनाओं को देख, सुन और पुस्तकों में पढ़कर विस्मित होते हैं; हम लोगों के ख़याल में यह बहुत ऊँचे विचार हैं।

कैसाबियङ्का की कर्त्तव्य परायणता के दृष्टान्त हम लोग कितने ही कुत्ते आदि अश्रेष्ठ जीवों में देखते हैं। अकबर की राज्य-शासन प्रणाली का बहुत कुछ दृष्टान्त मधुमक्खियों में दिखाई देता है। अतएव कर्त्तव्य-परायणता, राज्य-शासन में दक्षता, परोपकार, सत्यवादिता और अहिंसा आदि को ही श्रेष्ठ मनुष्यों का धर्म नहीं कहा जा सकता; यह धर्म तो श्रेष्ठ पशु पक्षियों का भी हो सकता है। श्रेष्ठ मनुष्य का धर्म—भगवदुपासना है। यही मनुष्य का मुख्य धर्म है; अन्यान्य धर्म इतर जीवों के धर्म के समान ही हैं। 'नरतनु एक भजन आधारा'।

संसार के मनुष्य भगवान से विमुख हैं, विमुखता ही पशुता है। विमुख अवस्था में अपनी इन्द्रिय की प्रसन्नता ही चरम लक्ष्य जान पड़ती है। इन्द्रिय-प्रसन्नता दो प्रकार की है,—एक अपने लिये और दूसरी हमारे साथ जिन लोगों या जिन-जिन चीज़ों का सम्बन्ध है, उनके हृदय में सुख पहुँचाने के लिये। विमुख अवस्था में मनुष्य अपनी सुविधा, अपने से सम्बन्ध रखनेवाले देश की सुविधा तथा दस आदमियों की सुविधा को ही अधिकतर मानते हैं। श्रेष्ठ पशु-पक्षियों के धर्म को ही मनुष्य अपना धर्म समझते हैं। लोग पहले परोपकार, देश के दस आदमियों के उपकार का अभ्यास और बाद को भगवदुपासना आरम्भ करने को ही क्रमिक पन्थ या भगवत् विमुख-अवस्था के कामों को ही भगवदभिलषित कार्य्य समझते हैं।

जगत् में सैकड़े पीछे प्रायः पूरे एक सौ मनुष्यों के विचार ऐसे ही हैं। क्यों न हों? इसका विचार ही कौन करता है? वही न, जिन्होंने भगवान् को भूल, इस संसार में

आकर अपने स्वरूप को भी भूल गये हैं? इसीसे उनके विचार में भी भूल है!

सच्चे आत्मतत्त्ववित् साधु लोगों का विचार जगत् के विचार से बिलकुल ही विपरीत है। उन लोगों का कहना है,—जीव श्रीकृष्ण का नित्यदास है। भगवान की नित्य सेवा को छोड़ जीव के लिए और कोई काम हो नहीं है हो ही नहीं सकता; कभी भी हो नहीं सकता। आपाततः इसमें जो कुछ कर्तव्य जान भी पड़ता है, वह केवल बहिर्मुखावस्था का भ्रान्त विचार है। दैवी माया द्वारा विमोहित होने से ही जीव नित्य कृष्णसेवा को छोड़ दूसरे कर्तव्यों को अपनाता और बहिर्मुख कर्तव्य को ही कृष्णसेवा समझ बुद्धि को दुबला करता है। जिस उपासना में एकमात्र भगवान की इन्द्रियप्रीति नहीं वह भगवदुपासना नहीं है, वह 'कपटता' या 'काम' है। दूसरे की कौन कहे, जैमिनि आदि ऋषि, जो जगत के लोगों में श्रेष्ठ मनुष्य समझे जाते हैं, वे भी दैवी माया से विमोहित हो भगवदुपासना को समझ नहीं सके। इसी से गीता में कहा है,—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

असंख्य जीवों में कदाचित कोई मनुष्य जन्म पाता है, उसमें भी हजार-हजार मनुष्यों में कोई एक नित्य मङ्गल के लिये यत्न करता है। फिर, हजार हजार सिद्धों में कोई एक ठीक-ठीक भगवान को पहचानता और उनकी सेवा का लाभ उठा सकता है।

भगवान की माया सत्त्व, रजः और तमोगुणमयी है। इस माया से लोग सहज ही पार नहीं पा सकते। जो लोग सब तरह से एकमात्र भगवान के ही शरणापन्न होते हैं, वे ही माया के हाथ से छुटकारा पा सकते हैं।




तों की खानि भारत-भूमि में द्राविड़ प्रदेश एक महापुण्य भूमि है। जैसे एक ओर गौड़ देश में व्यक्त औदार्य अव्यक्त माधुरी भरी मूर्त्ति भगवान श्रीगौर-सुन्दर ने अपने पार्षदों के साथ प्रकट हो गौड़ देश को महातीर्थ बनाया है, वैसे ही दूसरी ओर द्रविड़ देश में भी चार सम्प्रदायों के चार आचार्यों ने प्रादुर्भूत हो जगत् में भक्ति की चाँदनी छिटकाई है। विष्णु-भक्ति नित्य और सनातन होने पर भी, सरस्वती किनारे, ब्रह्मावर्त्त की कुशमयी भूमि में वेदव्यास की समाधि से विकसित होकर विशेष रूप से लोगों की आँखों के सामने आई। क्रमशः गोमती-किनारे नैमिषारण्य-क्षेत्र में बाल्य और कैशोर बीता। द्रविड़ देश के अनेक तटों पर चार आचार्यगणों की सेवा से भक्ति की यौवनावस्था परिपुष्ट हुई; फिर पुण्य-सलिला जगत् को पवित्र करनेवाली गङ्गा के किनारे गौड़ देश के नवद्वीप नगर में श्रीभगवान् के चरण-स्पर्श से भक्ति परिपूर्णता लाभ कर उन्नत, उज्ज्वल रस के रूप में जगत् में फैल पड़ी।

द्रविड़ देश में, कावेरी नदी की कोलिरन धारा के सुन्दर तट पर श्रीरङ्ग क्षेत्र है। विष्णु-मूर्ति श्रीरङ्गनाथ के नाम से इस स्थान का नाम श्रीरङ्गम् या रङ्गक्षेत्र पड़ा है।

श्रीरामानुजाचार्य के पहले की गुरु-गद्दी की परंपरा में तिरुमङ्गाई अलोवर नामक एक बड़े ही प्रतिभाशाली महापुरुष दाक्षिणात्य प्रदेश में आये। तामिल भाषा में परम भागवत वैष्णवगण को 'अलोवर' या 'दिव्यसूरि' कहते हैं। 'अलोवर' शब्द का अर्थ 'शासनकर्त्ता' है अर्थात् वैष्णवगण ही वास्तव में जगत के गुरु हैं। जीवमात्र को ही वैष्णव-शासन के अधीन होना चाहिये।

एक दिन तिरुमङ्गाई ने घूमते-फिरते शिष्यों-सहित कावेरी की दो शाखाओं के बीच श्रीरङ्गनाथ-मन्दिर के मण्डप में पहुँचकर देखा, कि मन्दिर बहुत ही पुराना और नीचों की निवास-भूमि सा बन गया है। चारों ओर जङ्गल ही जङ्गल है। वह स्थान बाघ और सियार आदि हिंसक जानवरों के रहने की जगह बन गई है। यह देखकर तिरुमङ्गाई के हृदय में बड़ा दुःख हुआ। वे अपने शिष्यों से कहने लगे—"भोगी' लोग भगवदर्थ को अपहरण कर विलास में मतवाले हो रहे हैं और

विश्वेश्वर के भी ईश्वर, जगत् के जीव को सेवा की शिक्षा देने के लिये पूज्य श्रीविग्रह के रूप में प्रकट हो इस प्रकार सेवा से परित्यक्त हो रहे हैं।'' शिष्यों के साथ तिरुमङ्गाई हर एक धनवान् मनुष्यों के घर जाकर मन्दिर बनवाने के लिये धन की भिक्षा माँगते हुये कहने लगे—

"तुम्हारा कनक, है भोग-जनक,
कनक द्वारा सेवो हो माधव।"

धन-दुर्मद से अन्धे आदमियों ने उनके उपदेश पर कान नहीं दिया, किसी-किसी ने तो उन्हें तरह-तरह के कुवचन कहकर भगा दिया। तिरुमङ्गाई ने भगवत् के धन को हरण करनेवाले धन से मतवाले उन आदमियों के आचरण देख, अद्वितीय भोक्ता श्रीभगवान् के भोगयोग्य धनराशि को धनी महाजनों के पास से छलबल द्वारा किसी भी उपाय से संग्रह करने का विचार किया। अज्ञजनीतिवादी मनोधर्म के विचार से इस काम के दूषित होने पर भी उनका यह काम कृष्णैकशरण निवेदित-मनोदेहात्म भक्त की भगवन्निष्ठा का ही परिचायक हुआ। तिरुमङ्गाई ने अपने शिष्यों के साथ वैधावैध किसी भी उपाय से असंख्य धन संग्रह करें श्रीरङ्गम् के सप्तप्राकार के चौथे प्राकार-निर्माण का काम सम्पूर्ण किया। जगत् में श्रीरङ्गनाथ मन्दिर एक अतुलनीय कीर्ति है। भारत में इतना बड़ा देव-मन्दिर और कहीं नहीं है।

आषाढ़ का महीना है। १४३३ शकाब्द का समय है। आकाश में घोर घटा छाई हुई है और बीच बीच में चपला चकाचौंध के साथ चमक कर अपूर्व शोभा धारण कर रही है। आषाढ़ी शुक्ला एकादशी का दिन है; भक्त लोग इस तिथि को शयन-एकादशी भी कहते हैं। इसी तिथि से चातुर्मास्य व्रत आरम्भ होता है। ऐसे समय एक गौरकांति नवीन संन्यासी, आजानुलम्बित बाहु चारों ओर एक प्रकार की अलौकिक ज्योति फैलाते हुए अपने भाव में मगन होते चले जा रहे हैं, उनके श्रीमुख से ऊँची आवाज के साथ—

"राम! राघव! राम! राघव!
राम! राघव! रक्ष माम्।
कृष्ण! केशव! कृष्ण! केशव!
कृष्ण! केशव! पाहि माम्॥"

—की ध्वनि हो रही थी। संन्यासी के पीछे-पीछे एक ब्राह्मण कमण्डलु लिये चले आ रहे हैं। संन्यासीजी कितने ही तीर्थों में भ्रमण करते हुए उन सब तीर्थों को महातीर्थ के रूप में परिणत करते चले आ रहे हैं और अतीर्थ-स्थानों को भी तीर्थ का रूप देते आ रहे हैं। संन्यासीजी ने गोदावरी-किनारे के विद्यानगर में अपने एक बहुत प्रेमी अपने जन के साथ भांति भांति से हरिकथा की आलोचना की है। अब वे विद्यानगर से गौतमी-गङ्गा मल्लिकार्जुन, अहोबल नृसिंह, सिद्धवट, स्कन्दक्षेत्र, त्रिमठ, वृद्धकाशी, बौद्धस्थान, त्रिपदी, त्रिमल्ल, पाना नृसिंह, शिवकाञ्ची, विष्णु-काञ्ची, त्रिकाल हस्ति, वृद्धकोल, शृगाल-भैरवी आदि स्थानों में घूमते-फिरते कावेरी के रमणीय किनारे पर आ उपस्थित हुए हैं। संन्यासी ने कावेरी में स्नान किया। स्रोतस्विनी उन संन्यासीजी के चरण स्पर्श से धन्य हो तरङ्गों द्वारा अपना आनन्द प्रकट करने लगी। स्नान के उपरान्त संन्यासीजी ने श्रीरङ्गनाथ का दर्शन किया; वे प्रेम से मगन हो नाचने और गाने लगे। इस प्रकार जगत् को उज्ज्वल बनानेवाली कान्ति, ऐसे तेज और उनके ऐसे प्रभाव को किसी ने कभी नहीं देखा। इसी से सब लोग अनिमेष नेत्रों से उन नवीन संन्यासी का दर्शन करते हुए चित्र-लिखे के समान हो गये।

पाठक, कुछ समझ सके हैं, कि यह उज्ज्वलकान्ति परि-व्राजक नवीन संन्यासी कौन है? ये बने-ठने संन्यासी हैं। इनका संन्यासी वेश एक बनावट भर है। ये योगियों और ऋषियों की तपस्या के भी अगम्य हैं। पण्डित लोग भी मोह को प्राप्त हो इनके स्वरूप को समझने में असमर्थ होते हैं। वे स्वयं स्वप्रकाश हैं। जो भक्त नहीं हैं, वे उनकी दैवीमाया द्वारा समावृत हो उनके अचिन्त्य स्वरूप को समझ नहीं सकते। इनसे श्रेष्ठ या इनके समान कोई नहीं है। ये ही एकमात्र ईश्वर हैं और यह दृश्यादृश्य सब उनके भृत्य हैं। ये ही एकमात्र परतत्त्व हैं। उपनिषद् के प्रति-पाद्य ब्रह्म इनके अङ्ग की कान्ति है, योगियों के आराध्य परमात्मा इनके ही अंश-प्रकाश हैं, भगवत्तत्त्व के पर्याय में भी यही श्रेष्ठ हैं। ये बलदेव के प्रभु, नारायण के प्रभु, वासुदेवादि चतुर्व्यूह के प्रभु, पुरुषावतारगण के पति हैं; मत्स्य-कूर्मादि नैमित्तिक अवतार इनके ही अंश या कला हैं। ये स्वयं भगवान् हैं। यही कलियुग के पावन अवतार अभिन्न व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्णचैतन्य हैं। माधुर्यगुण को कुछ न कुछ औदार्य द्वारा आच्छादित कर ये जगत् में अपना अभिन्न नामप्रेम प्रदान करने को प्रपञ्च में अवतीर्ण हैं।

इन प्रेममय उदारमूर्ति श्रीगौराङ्गसुन्दर के प्रभाव को देख श्रीरङ्गक्षेत्र के निवासी श्रीसम्प्रदाय के एक सुकृत-सम्पन्न वैष्णव ने उनके चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उन्हें अपने घर भिक्षा पाने के लिए निमंत्रित किया। इन वैष्णव का नाम वेङ्कट भट्ट है, वेङ्कट भट्ट श्रीरङ्गनिवासी उत्तरदेशीय द्राविड़ ब्राह्मण हैं। ये बड़गलई शाखा के रामानुजीय वैष्णव हैं। यह तीन भाई हैं, उनके उन दो भाइयों में एक का नाम त्रिमल्ल या तिरुमलय भट्ट और दूसरे का त्रिदण्डी स्वामी प्रबोधानन्द है, प्रबोधानन्द रामानुजीयाचार्य स्वामी त्रिदण्डी हैं। शास्त्र में अद्वितीय पण्डित होने के कारण ये 'सरस्वती' नाम से विख्यात हैं। वेङ्कट भट्ट नारायण परायण गृहस्थ वैष्णव हैं। इनके पुत्ररत्न का नाम गोपाल है। श्रीमन्महाप्रभु जिस समय वेङ्कट के घर, पहुँचे उस समय गोपाल बालक थे, अभी तक उन्होंने यौवनावस्था में पदार्पण नहीं किया था। बालक का रूप अपूर्व और तेज अद्भुत था। बालक होने पर भी गोपाल में सेवा की प्रवृत्ति बहुत अधिक थी। वे अपने नित्य-प्राणनाथ गौरसुन्दर को आज अपने घर में पाकर मन के शौक से प्रभु की सेवा करने के लिये उत्सुक हुए। वेङ्कट भट्ट ने महाप्रभु को अपने घर ले जाकर उनका पादप्रक्षालन किया और परिवार सहित उस चरणामृत को पान किया। बाद को श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु को षोड़शोपचार से भिक्षा करा महाप्रभु के सामने अपनी अभिलाषा प्रकट करते हुए कहा,—"प्रभो! चातुर्मास्य व्रत समुपस्थित है। आप कृपा कर इन चार महीनों तक इस अधम की कुटी में अवस्थान करें और कृष्ण की कथा सुनाकर मुझ जैसे सेवाविमुख मनुष्य का उद्धार करें।"

भगवान नित्य काल ही भक्तों के वश हैं। श्रीगौराङ्गसुन्दर ने वेङ्कट के अनुरोध को मान लिया। नित्य कावेरी में स्नान, कृष्ण कथा-आलापन नृत्य, कीर्तन और श्रीरङ्गनाथ के दर्शन आनन्द में दिन बीतने लगे। श्रवणपुट से कृष्ण-कथामृत का पान करते हुए लक्ष्मीनारायण के उपासक वेङ्कट भट्ट ऐश्वर्यशिथिल प्रेम से माधुर्य की अधिकाधिक माधुरी की उपलब्धि करने लगे। क्रम से व्रज के निर्मल राग ने उनके चित्त को आकृष्ट किया। (क्रमशः)

एक कबूतर वन के एक बहुत बड़े वृक्ष पर घोंसला बना के अपनी भार्या कबूतरी के साथ कई वर्षों से स्वच्छन्द निवास करता था। यह कबूतर-दम्पती आपस में प्रेम-लिप्त हृदय से गृहधर्म का पालन करते हुए एक साथ सोना, एक साथ बैठना, एक साथ घूमना, बातें करना, आनन्द करना, खाना-पीना करते हुए वन में निडर हो विचरण करते थे। उनके दिन बड़े आनन्द से कटते थे। वह कबूतरी जब मन्द मुसकान से कटाक्ष करती हुई अपने प्रियतम का चित्त हरण कर कुछ माँगती थी, तो वह इन्द्रिय के वश में रहनेवाला अजितेन्द्रिय कबूतर उसे गुरू की आज्ञा समझकर वे चीज़ें हथेली पर प्राण रख बड़े कष्ट झेलता हुआ संग्रह कर लाता था। इस प्रकार अतीव सुन्दर दाम्पत्य प्रेम का उपभोग करता हुआ वह स्वर्ग-सुख की कल्पना किया करता था।

कुछ काल बीतने पर कबूतरी ने गर्भ धारण कर घोंसले में अपने पति के सामने अण्डे दिये। क्रमशः भगवान् की अज्ञात शक्ति के प्रभाव से उन अण्डों में बच्चों का शरीर बना। तब वह कबूतर का जोड़ा पुत्रस्नेह से लिप्त हो उनके अस्फुट स्वर सुनकर परमानन्दित होते हुए बच्चों का पालन करने लगा। उनके आनन्द की सीमा न रही मन में विचार करने लगे, कि इसी प्रकार सब दिन कटेंगे। उनके अतिव कोमल नये निकले हुए मुलायम पंखों का स्पर्श कर, उनके मुग्ध भाव से अङ्गचेष्टा और सुमधुर बोलियाँ तथा माता-पिता के घोंसले में लौट आने पर परमानन्दित हो मिलना देखकर दोनों को जो अकथनीय आनन्द प्राप्त होता था—मालूम होता है, वह इस जगत के लिये दुर्लभ है। माया द्वारा विमोहित आपस के प्रेम-सूत्र में बँधे हुए विवेकशून्य कबूतर-दम्पति बड़े आनन्द से शिशु-पालन में मस्त थे।

एक दिन वह कबूतर-दम्पती बच्चों का खाना लाने के लिए घोंसले से निकलकर वन में चारों ओर घूम रहे थे, ऐसे समय स्वेच्छावश घूमते-घूमते एक बहेलिया ने घोंसले

से निकले हुए कबूतर के बच्चों को थोड़ी दूर पर खेलते हुए देखकर जाल फैलाकर उन्हें फँसा लिया। इसी समय कबूतर-कबूतरी बच्चों को खिलाने के लिये आहार-संग्रहकर घोंसले के पास पहुँचे देखा, कि उनकी अतीव आदरणीय वस्तु, परमस्नेही पुत्र कन्या बहेलिये के जाल में फँसे हैं। हाय, हाय, कैसा भीषण दृश्य है। जिन बच्चों को इतने क्लेश से गर्भ में रख और सब वेदना सहनकर पैदा किया है, जिन्हें इतने यत्न से पालन किया है, जो हमारी आँखों को आनंद देनेवाले जीवन के एक मात्र सहारा हैं, प्रेम की एक मात्र पुतली हैं, आज वे निर्दय निर्मम बहेलिये के हाथ में हैं! हाय रे भाग्य! कौन जानता था कि जीवन में इतना शोक सहना पड़ेगा! किसने सोचा था, कि इतना सौभाग्य, इतना सुख, इतना आनन्द—सब एक क्षण में काल के अतल समुद्र के सुगभीर गर्भ में डूब जायगा! कैसी हृदयभेदी यातना इसके बदले मर जाना कहीं अच्छा है! इस प्रकार विलाप करते-करते प्रेम में अन्धे हो चारों दिशाओं मे चक्कर काटने लगे। कबूतरी इस दुख को अधिक सहन न कर प्रेम में बहेलिये की जाल की बात भूल गई। वह उसी समय रोते-रोते वेदना से तड़पती हुई बच्चों की तरफ उड़ी। उस समय अत्यन्त प्रेम के वशीभूत हो जाल में फँसे हुए बच्चों को देखती हुई कपोती स्वयं जाल में आ फँसी। ऐसी दशा में कबूतर हृदयाधिक प्रिय स्वजनों को और प्राणों से भी प्रिय पत्नी को फँसा देखकर अत्यन्त शोक प्रदर्शित करता हुआ रोने लगा, हाय,—हाय! मैं पापी दुर्मति! मुझपर यह क्या विपद आई! मैं अभी भी सुखभोग से अतृप्त और अकृतार्थ हूँ। धर्म, अर्थ, काम इन तीन से बना हुआ घर नाश हो गया। आहा, मेरी अनुरूपा, अनुकूला, पतिव्रता सती भार्या मुझे सूने घर में छोड़कर सन्तानों के साथ स्वर्ग जा रही है। अब सूने घर में दीन-चेता मरी हुई स्त्री, मारे गये पुत्रों के शोक में कातर हो दुःखमय जीवन बिताने से क्या लाभ? इस प्रकार करुण विलाप करता हुआ मृत्युग्रस्त उड़ता हुआ पारावृत स्त्री पुत्र को देखता हुआ स्वयं जाल में गिर पड़ा। तब वह क्रूर व्याध उस गृहसुखमत्त गृहमेधी कबूतर, कबूतरी और उसके बच्चों को लेकर सन्तुष्ट हो घर लौट आया।

दाम्पत्यप्रणयी, गृहसुख में मस्त कुटुम्ब पालक अशान्त-चित्त दुर्भाग्य जीव इस प्रकार कबूतर की तरह वंश-सहित दुःख भोगते हैं, उनकी दुर्दशा की सीमा नहीं रहती। उनकी अवस्था—

आशा कर सुख की, सदा बँध बाँधन हार।
अन्त समय में कुछ नहीं आग लगी सब द्वार॥

इस प्रकार यह गृहप्रेम तिर्यग्योनि में उत्पन्न नीच प्राणियों के लिये ही ऐसा अनर्थकारी है, और यह जो मनुष्यों के लिये अतीव निन्दाजनक है, इसमें सन्देह ही क्या! जो जीव मुक्ति का द्वारस्वरूप मनुष्य-जीवन पाकर भी इस कबूतर की तरह गृह से प्रेम करता है, ज्ञानी लोग उन्हें "आरूढ़च्युत" कहते हैं, अर्थात वह ऊँचे पद पर पहुँच कर भी उससे गिर पड़ता है।

"नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्त्तव्यः क्वापि केनचित्।
कुर्व्वन विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः॥"

श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध के सप्तम अध्याय में ययाति-पुत्र यदुसे एक साधु अवधूत कहते हैं—

"किसी भी वस्तु के लिये कोई भी कारण से अत्यन्त प्रेम और अत्यासक्ति न करना। जो ऐसा करता है, वह दुरात्मा कबूतर की तरह अवश्य दुःख पाता है।" यही उपदेश देते हुए उपरोक्त आख्यान कहा गया है। अवधूत ने कहा था, कि उनके चौबीस गुरुओं में एक कबूतर था, अर्थात इस कबूतर की दुर्दशा से उन्होंने गृह-तृष्णा त्याग की प्रयोजनीयता की शिक्षा ग्रहण किया था। किन्तु हम लोग ऐसे मोहान्ध हैं, कि कबूतर से शिक्षा ग्रहण करना तो दूर रहा, कबूतर कबूतरी के जीवन को आदर्श समझकर कबूतर-कबूतरी बना चाहते हैं। हाय, हाय, हम लोगों की यह घृणित गृहमत्तता या "घरौआ लालच" कब दूर होगी? कब हम लोग साधु गुरुचरण के शरणागत हो उनके आश्रय में उनकी सेवा में चित्त लगाकर भगवान् के चरण पाने के लिए राह ढूँढ़ेंगे। हम एकक्षण के लिये भी चिन्ता नहीं करते, कि यह "घरौआ लालच" ही नरक का दरवाजा है; "घरौआ लालची" ही यमदूतों का दण्ड्य है। श्रीयमराज अपने दूतों को इन्हीं 'घरौआ लालच' वाले लोगों को नरक में लाने का आदेश करते हैं:—

'तानानयध्वमसतो विमुखान् मुकुन्द-
पादारविन्द मकरन्दरसादजस्रम्।

निष्किञ्चनैः परमहंस - कुलैरसङ्गै-
र्जुष्टाद् गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान् ॥"
(भा.६।५।२८)

उन्हीं मन्द भाग्य दुरात्माओं को ले आओ, जो दुःसङ्ग वर्जित, निष्किञ्चन परमहंसगण सेवित मुकुन्दपादपद्ममधु-पान में विरत हो नरक का रास्ता जो घर है, उसमें आसक्त रहते हैं।

गृहव्रतगण ऐसे निर्बोध हैं कि घरके लालच में नित्य सैकड़ों दुर्दशाएँ देखते हैं, फिर भी वे गृहव्रत धर्म को यत्न के साथ पकड़े बैठे रहते हैं, सोचते हैं कि उनकी वैसी दुर्दशा न होगी। उस पर वे और भी निर्बुद्धिता का परिचय तब देते हैं, जब वे स्वयं भुक्तभोगी होकर भी गृहासक्ति का दण्ड पद पद पर पाकर भी —

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् ।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं
पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम् ॥
(भा ७।५।३० प्रह्लाद महाराज की उक्ति)

गृहव्रतगणों की मति किसी प्रकार भगवान कृष्ण के चरणों में नहीं लगती। उनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं रहतीं; वे स्वयं इन्द्रियपरिचालित हो परिणाम में दुःखदायी संसार-सुख में प्रमत्त होते हैं। उनके चबाने पर मीठा रस न पाकर भी उसे बार बार चबाते रहते हैं। यही उनका घोर दुर्भाग्य है।

गृहव्रत, गृहमेधी या गृही पागल की विशेषता यह है, कि वे पारमार्थिक साधुओं की चेष्टा को बिलकुल नहीं समझते। वे समझते हैं; कि गृहधर्म का पालन करना ही परमधर्म है। ऐसा ही समझ जो लोग गृहव्रत धर्म का आदर न कर युक्त वैराग्य के साथ भगवत्-भजन में लगे हैं, वे उन्हें अपने हेय आदर्श में गठित देखना चाहते हैं। अथवा ऐसा न कर अपने विपरीत धर्मी असार वैरागी का सम्मान करने के बहाने युक्तवैराग्य को भोग के साथ समान समझ वैष्णव अपराध कर बैठते हैं। गृहव्रत भोगी यह न समझ के कि वैष्णवदास जगत् के सब पदार्थों द्वारा हरि भजन करने में प्रवृत्त हैं,—द्वेषवश वृथा भक्तों से द्रोह कर अपने ऊपर अमङ्गल लाते हैं। वैष्णवों की कृपा से हम कब मत्सरतारूपी घोर शत्रु के हाथ से रक्षा पाकर वैष्णवों की शरण में वैष्णव-अपराध से छुटकारा पायेंगे। और स्वयं गृहवृत धर्म को छोड़ वैष्णवों के आनुगत्य में युक्त वैराग्य की शिक्षा ग्रहण करेंगे। शुद्ध वैष्णव कब हम पर कृपा करेंगे? हाय, काल मुँह फैलाये हुए हमारा ग्रास करने को आ रहा है, उसे देखकर भी हम लोग देख नहीं रहे हैं। ऊँचे स्वर में साधुओं के सतर्क बचन को भी सुनकर अनसुनी कर रहे हैं; अपनी आई हुई विपद को समझ के भी समझ नहीं रहे हैं। हाय, हमारी कौन सी दुर्दशा होगी? वह देखो, कालरूपी व्याध दुःख से भरी हुई भोगरूप जाल को फैलाकर हमारी चित्तवृत्ति की स्वाधीनता को पूर्णरूप से फँसाने की कोशिश कर रहा है। वह देखो, उस जाल ने हम लोगों को आच्छन्न कर लिया। हाय-हाय, उस जाल को ही भोग का उपकरण समझ उसे लपेट कर हम अपने बन्धन को और भी दृढ़ किये डालते हैं, हे अनाथ के नाथ! पतितपावन प्रभो! हे मुकुन्द-प्रियतम गुरुवर! मैं तुम्हारा सबसे अयोग्य दास होकर भी कृपा के अयोग्य तो नहीं हूँ, क्यों कि मैं अधम-पतित हूँ, तुम पतित-पावन हो, मेरे शिर के बालों को पकड़ इस भीषण पाश से उबार कर मुक्त करो, मुझमें सामर्थ्य नहीं, बुद्धि नहीं, जिससे मैं उद्धार पा सकूँ। मैं अपने ऊपर भरोसा करूँगा तो और भी जकड़बन्द में पड़ूँगा। हाय, मैं तुम्हारे ही भरोसे रहूँगा।

श्रीहरि-सेवा की नित्यता

स्थान—अविद्या-हरण-नाट्य-मन्दिर श्रीचैतन्य मठ, श्रीधाम-मायापुर

समय—सन्ध्या के उपरान्त, शनिवार, ७ वीं ५ चैत्र शकाब्द १३००

(श्रीनवद्वीप-धाम प्रचारिणी सभा का तैंतीसवाँ वार्षिक अधिवेशन में श्री प्रभुपाद का भाषण)

गौर के प्रिय-कार्यानुष्ठान के करने वाले ही सौभाग्यवान् और धन्यवादार्ह हैं



"हम लोग गत वर्ष मनुष्यों के लिये सबसे हितकर और परम प्रयोजनीय वस्तु के—जिसे श्रीचैतन्यदेव ने जगत् में वितरण किया है—प्रचारार्थ प्रयासी होकर बहुतेरे स्थानों में श्रीगौराङ्गसुन्दर की वाणी का प्रचार करने में समर्थ हुए हैं। जिन लोगों ने प्राण, अर्थ, बुद्धि, वाक्य अथवा किसी भी उपाय से जीव-जगत के इस सर्व श्रेष्ठ हितकर कार्य में आनुकूल्य का विधान किया है, विश्वम्भर श्रीमन्महाप्रभु उनका मङ्गल विधान करेंगे। जिनकी तुलना इस जगत के अन्य किसी काम के साथ नहीं होती या हो ही नहीं सकती, उस सर्वश्रेष्ठ जगन्मङ्गलकर कार्य में जिन्होंने कुछ भी अनुकूलता दिखाई है, वे निश्चय ही सौभाग्यवान और धन्यवादार्ह हैं। कितने ही लोग समझ सकते हैं कि वह भी जगत् के अन्यान्य कामों में एक काम है, किन्तु ऐसा नहीं। तत्त्वकोविदगण के विचार से यही एक मात्र कार्य है, अन्यान्य कार्यों में समय बितानेवाले को वृथा श्रम का ही लाभ होता है।

भुक्ति और मुक्ति की राह—बुभुक्षु और मुमुक्षु की आत्मवञ्चना और आत्मविनाश

मनुष्य अपने आगे पीछे का विचार कर सकता है किन्तु मनुष्य-समाज के विचार में अनेक समय हम लोगों में मत-भेद दिखाई देता है। मनुष्यों में जो लोग सभ्य के नाम से अपना परिचय प्रदान करने में विशेष आग्रह दिखाते हैं, उनका कहना है,—'यदि हम लोग Civic rule (नगरनिवासियों के पालनीय नियम) का पालन करें, तो आपस में झगड़ा न खड़ा हो, हम लोग सुख-स्वच्छन्दता के साथ इस संसार में वहिर्मुखता का अवलम्बन कर रह सकते हैं।' यह सब विचार कर्मपन्थी मनुष्यों के लिये बहुत ही आदरणीय हैं। और भी कुछ लोगों का विचार है,—'यह जगत् कष्ट का स्थान है इस स्थान से निवृत्त होने की ही आवश्यकता है, वस्तु की अभिन्नता ही एक मात्र प्रयोजनीय है, वही मुक्ति है, वह मुक्ति ही चाहिये।' भगवद्भक्त लोग इन दो प्रकार के मनुष्यों की तरह सहसा कोई मत प्रकाश नहीं करते। जो लोग भोग के द्वारा अभाव की निवृत्ति करना चाहते हैं वे 'भुक्तिकामी' हैं, और जो लोग त्याग के द्वारा अभाव की निवृत्ति करना चाहते हैं, वे 'मुक्तिकामी' हैं। भगवद्भक्त लोग 'भुक्ति' या 'मुक्ति' दोनों ही की इच्छा नहीं करते। हम लोग परिपूर्ण वस्तु ज्ञान के अभाव से आपेक्षिक-ज्ञान में मन लगाते हैं, इससे हम लोगों का अभाव दूर नहीं होता। हम लोग जो सब काम करते हैं, वह कपूर की तरह हवा हो जाता है। अभाव भी न रहे और ऐसे भाव में निर्विशिष्ट भी न हों; यही चित् विलास की राह है। मुक्त होने के बदले, यदि मुक्त होने की सुविधा ही नष्ट हो गई, तो ऐसी मुक्ति को मुक्ति नहीं कहा जा सकता;—यह तो आत्मविनाश है। रोग और रोगी को एक साथ ठण्डा कर देने की प्रणाली बुद्धिमत्ता का परिचायक नहीं। किसी के गले में फोड़ा हुआ हो, तो यथा-नियम नश्तर से फोड़े की चिकित्सा कर रोगी को नीरोग और आराम करना चाहिये; किन्तु रोगी को सदा के लिये रोग से छुटा देने के बहाने फोड़े में नश्तर लगाने के बदले रोगी के गले पर छुरी फेर देना किसी तरह भी उचित नहीं।

मोक्ष का गुप्त भोग—चतुरों के आगे कृष्ण-भजन प्रत्यक्ष है; भोग और मोक्ष की तुलना

कितने ही लोग सांसारिक क्लेश से दुःखी हो मन में ऐसा सोचते हैं, कि संसार से मुक्त होना ही कर्त्तव्य है। एक

बुढ़िया बड़े ही कष्ट से अपना भोजन—कपड़ा जुटाती थी, इस बुढ़ापे की असमर्थ अवस्था में उसे वन में जाकर लकड़ी बटोरना पड़ता और लकड़ी बेचकर अपनी जरूरी चीज़ों को जुटाना पड़ता था । सांसारिक क्लेश और अभाव से तकलीफ पाने पर बुढ़िया अक्सर कहा करती,—"मुझे मौत क्यों नहीं आती ?" एक दिन सचमुच ही मौत आ गई, किन्तु बुढ़िया किसी तरह भी मरने को तैयार न हुई ; उसे इस संसार के अभाव और असुविधा के बीच भी जीते रहने की प्रबल इच्छा हुई । जो लोग सांसारिक क्लेश से घबराकर मुक्ति की प्रार्थना करते हैं, उनके हृदय में भोग की लालसा इसी प्रकार, फल्गु नदी की तरह, लहराया करती है । फल की इच्छा रखने वाला भोगी या फल-विरागी त्यागी के विचार का अवलम्बन कर जीव का कभी नित्य-मङ्गल हो नहीं सकता । यह सभी धोखा और छल है । सौभाग्य का यथेष्ट उदय न होने से इनकी कपटता लोगों को दिखाई नहीं देती ।

आत्मवित् पुरुषगण का आदर्श

आत्मविद्‌गण इस जगत् में भगवान् की सेवा करते हैं,—यह लोग फलभोक्ता भोगी की तरह प्रपञ्च का भोग करने के लिये व्यस्त नहीं होते या फलगुत्यागी की तरह भगवत् सेवा के उपकरण को प्रापञ्चिक विषय-मात्र समझ अपने मङ्गल के पथ से विच्युत नहीं होते । आत्मविद्‌गण इस जगत् में तो भगवान् की सेवा करते ही हैं, पर जगत् में भी भगवान् की सेवा करते हैं । वे लोग सदा यही कहा करते हैं, भगवान् की सेवा के अतिरिक्त जीव के लिये और कोई कर्त्तव्य है ही नहीं । आत्मवित् पुरुषगण जीवहिताकाङ्क्षी प्रवीण पुरुष हैं । मानव जाति परमार्थ राज्य में बालक के समान है ; जैसे बालक अपना मङ्गल समझ नहीं सकता, कभी आग की लपट पर हाथ लगाने को तैयार होता है, कभी आकाश के चन्द्रमा को मुट्ठी में लाने के लिये व्याकुल होता है, वैसे ही मानव-समाज भी बालकों की भाँति तरह-तरह के अभिनय किया करता है । आत्मवित् प्रवीण पुरुषगण उसी बालक-समाज के मङ्गल-विधान के लिये सदा चेष्टा करता रहता है । मानव-समाज यदि अपने-अपने मनोधर्म से निकले विचारों को परित्याग कर परम हिताकांक्षी इन सब प्रवीण पुरुषों की सलाह ग्रहण करे और सब तरह से आनुगत्य दिखावे, तभी उसका मङ्गल भी है । भगवान् की कथा—श्रौतवाणी की आलोचना करने से सबका सब तरह का मङ्गल होता है । भगवान् की कथा की आलोचना के सिवा मनुष्यजाति के आपस में आलोचना करने लायक और कोई विषय है ही नहीं ।

मुक्ति के लिये विष्णु ही आराध्य हैं

पूर्वाचार्य श्रीमन्मध्वमुनि ने कहा है,—"मोक्षं विष्णवंघ्रिलाभम्"—सब प्रकार की मुक्ति के लिये विष्णु ही एक मात्र आराध्य हैं । विष्णु की उपासना में कोई अभाव ही नहीं । जहाँ वैकुण्ठ की प्रतीति है, वहाँ माया की प्रतीति ही नहीं । फिर, जहाँ माया की प्रतीति है, वहाँ भगवत्-प्रतीति है ही नहीं । भगवत् की उपासना का चौथा अर्थ अर्थात् मोक्ष प्रयोजनीय प्राप्य वस्तु न होकर स्वयं ही हमारे लिये सेवक-वस्तु हो जाती है । भगवत् की उपासना ही एक मात्र आत्मा की वृत्ति है, भगवत् की आलोचना के सिवा और किसी भी उपाय द्वारा अभाव दूर नहीं होता ।

उपासना-पथ अनादि है; नाम-भजन की राह ही वेद-प्रतिपाद्य है

किसी-किसी के मत से ईसा की दशवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के भीतर उपासना का पथ आरम्भ हुआ है । शाक्यसिंह की विचार-प्रणाली से उत्पन्न Hero-Worship की (विख्यात पुरुषों की पूजा) प्रणाली से भगवत् उपासना की प्रणाली पृथक् है । प्राचीनतम शब्द-प्रमाण ऋक्संहिता ने भगवत-उपासना की प्रणाली के सम्बन्ध में बहुत पहले से जगत् में प्रचार किया है,—"ॐ आऽस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन् महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे । ॐ तत्सत् ।" (ऋग्वेद १ म मण्डल, १५६ सूक्त ३ य ऋक्),—वर्त्तमान समय श्रीगौरसुन्दर ने इस ऋक् मन्त्र को सब लोगों को सब समय कीर्त्तन करने को कहा है । शब्द के साहाय्य से उपासना-प्रणाली जगत् में सर्वत्र प्रचारित हुई । भगवद्भक्तों के लिये एक मात्र आलोचना का विषय जो 'नाम कीर्त्तन' है, वह ऋग्वेद-संहिता में मिलता है ।

सर्वज्ञ विष्णुस्वामी और श्रीधरस्वामी; प्रागुवन्ध युग में वैष्णवधर्म

सर्वज्ञ विष्णुस्वामी ईसा के दो हजार वर्ष पहले मादुरा-ग्राम में आविर्भूत हुए । आदि विष्णुस्वामी के बाद के सात सौ त्रिदण्डियों का हाल इतिहास ग्रन्थों में दिखाई देता है । सर्वज्ञ विष्णुस्वामी ने "संक्षेप-शरीर" की जो शुद्ध

विष्णु-उपासना की बातें कही हैं, वह उनके बाद के असत् साम्प्रदायिकों के हाथ में पड़ हर तरह से भ्रष्ट हो गई हैं । इन सर्वज्ञ ऋषि का हाल श्रीधरस्वामीजी ने अपने ग्रन्थ में लिखा है । प्रागवन्ध युग में वैष्णवधर्म के विषय के प्रचलित होने के बहुतेरे उदाहरण दिये जा सकते हैं । जीवमात्र का ही विष्णु के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध है । परमेश्वर-वस्तु सब के लिए ही प्रयोजनीय वस्तु है;— विष्णुसेवा और वैष्णव-सेवा—सबके लिए ही कर्त्तव्य है ।

नैमित्तिक धर्म असम्पूर्ण, हेय, मिश्र और अचिरस्थायी*

(गत संख्या से आगे)



थोड़ी अवस्था के समय दिल्ली के कलावतों से उन्होंने राग रागिनियों की शिक्षा पाई थी । उसी शिक्षा के बल से वह हरिनाम-संकीर्तन में भी मुखिया हो पड़े थे । यद्यपि वैष्णवगण उनके कलावतों के से स्वर को पसंद नहीं करते थे, तथापि संकीर्तन में वह थोड़ी-थोड़ी गलेबाज़ी दिखाकर अपना माहात्म्य प्रकट करते करते औरों के मुँह की ओर प्रशंसा की अभिलाषा से ताकने लगते थे । कुछ दिन तक ऐसा करते करते उन्हें नाम संकीर्तन में कुछ कुछ सुख मिलने लगा । उसके बाद उन्होंने श्रीद्वीप में वैष्णवों के निकट गान-कीर्तन में सम्मिलित होने के लिए श्रीगोद्रुम में आकर एक वैष्णवाश्रम में डेरा डाला । उसी वैष्णव के साथ वह प्रद्युम्नकुंज में आकर मालती-माधवी-मण्डप में बैठे थे । वैष्णवों के परस्पर व्यवहार, दैन्य-प्रकाश और वैष्णवदास की बातें सुनकर उनके मन में कई सन्देह उपस्थित हुए । वह बोलने में निपुण थे, इसलिए साहस पूर्वक उस वैष्णवों की सभा में इस विषय की जिज्ञासा कर बैठे । उनका प्रश्न इस प्रकार था; यथा—

मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण वर्ण को सर्वोत्तम वर्ण कहा गया है । नित्यकर्म बतलाकर ब्राह्मण के लिए सन्ध्यावन्दन आदि का विधान किया गया है । यदि वह कार्य नित्य है, तो वैष्णवों के व्यवहार सब क्यों उसके विरुद्ध होते हैं ?

वैष्णवगण तर्क-वितर्क को पसंद नहीं करते । कोई तार्किक ब्राह्मण यदि इस तरह का प्रश्न करता तो वे कलह के भय से कोई उत्तर न देते । किन्तु समागत प्रश्नकर्ता को हरिनाम गान करनेवाला देखकर उन सबने कहा —श्रीयुत परमहंस बाबाजी महाशय इस प्रश्न का उत्तर देंगे, तो हम सब सुखी होंगे । परमहंस बाबाजी ने वैष्णववृन्द के आदेश को श्रवण करके दण्डवत्प्रणाम करने के उपरान्त कहा—महोदयगण, यदि आपकी इच्छा हो तो भक्तप्रवर श्रीवैष्णवदास उक्त प्रश्न का सम्यक् उत्तर देंगे । इस बात का सभी ने अनुमोदन किया ।

वैष्णवदास श्रीगुरुदेव के वाक्य श्रवण करके अपने को धन्य जानकर दीनता के साथ कहने लगे—मैं अति अधम और अकिंचन हूँ । ऐसे महामान्य विद्वानों की सभा में मेरा कुछ बोलना अत्यन्त अनुचित है । किन्तु गुरुदेव की आज्ञा सर्वदा शिरोधार्य है । मैंने गुरुदेव के मुखारविन्द से निकले हुए जिस तत्त्वोपदेशरूप मधु का पान किया है, उसी को स्मरण करके यथाशक्ति बोलता हूँ । इतना कहकर वैष्णवदास ने परमहंस बाबाजी की चरण-रज सारे शरीर में लगाकर खड़े होकर कहना शुरू किया -

जो साक्षात् परमानन्दमय भगवान हैं, ब्रह्म जिनके अंग की कान्ति और परमात्मा जिनका अंश हैं, वहीं समस्त प्रकाश और विलास के आधाररूप श्रीकृष्ण-चैतन्यदेव हम लोगों को बुद्धि वृत्ति प्रेरण करें । मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र वेद शास्त्र के अनुगत विधि-निषेध निर्णायक शास्त्र होने के कारण जगत् में सर्वत्र गण्यमान्य हुए हैं । मनुष्य की प्रकृति दो प्रकार की है, वैधी और रागानुगा । जब तक मानव-बुद्धि माया के अधीन है, तब तक मनुष्य की प्रकृति अवश्य ही वैधी रहेगी । माया के बन्धन से मनुष्य की बुद्धि परिमुक्त होने पर फिर वैधी प्रवृत्ति नहीं रहती— रागानुगा प्रवृत्ति प्रकट होती है । रागानुगा प्रकृति ही जीव की शुद्ध प्रकृति—स्वभावसिद्ध, चिन्मय और जड़-मुक्त है । श्रीकृष्ण की इच्छा से शुद्ध चिन्मय जीव का जड़ सम्बन्ध दूरीभूत होता है किन्तु जब तक कृष्ण की इच्छा नहीं होती, तब तक जड़ सम्बन्ध केवल क्षयोन्मुख होकर रहता

है। उस क्षयोन्मुख अवस्था में मानव-बुद्धि स्वरूपतः जड़-मुक्त होती है, अर्थात् वास्तव में उस समय भी जड़-मुक्ति नहीं हुई होती है। वास्तव में जड़-मुक्त होने पर शुद्ध जीव की रागात्मिका वृत्ति स्वरूपतः और वस्तुतः उदित होती है। व्रजजन की जो प्रकृति है, वह रागात्मिका प्रकृति है। क्षयोन्मुख अवस्था में उसी प्रकृति के अनुगत होकर सब जीव रागानुग हो पड़ते हैं। जीव के लिए यह अवस्था बड़ी ही उपादेय है। यह अवस्था जब तक नहीं होती, तब तक मानव-बुद्धि मायिक वस्तुओं में ही अनुराग करती है। बद्धस्वभाव से मायिक विषय के अनुराग को मूढ़ जीव अपना अनुराग समझने की भूल करता है। चिद्विषय का विशुद्ध अनुराग उस समय भी नहीं होता। मायिक विषय में "मैं और मेरा" ये दो बुद्धियाँ गाढ़ रूप से कार्य करती रहती हैं "यह देह मेरी है और यह देह ही मैं हूँ"—इस बुद्धि द्वारा इस जड़-देह के सुखसाधक व्यक्ति और वस्तु में प्रीति तथा दुःखसाधक व्यक्ति और वस्तु में द्वेष सहज ही हुआ करता है। इस राग-द्वेष के वशीभूत होकर मूढ़ जीव अन्य के प्रति शारीरिक, सामाजिक और नैतिक प्रीति एवं विद्वेष प्रकट करके अन्य को शत्रु-मित्र जानता है—विषय को लेकर विवाद करता है। कनक और कामिनी में अन्यथा प्रीति करके सुख-दुःख के अधीन हो पड़ता है। इसी का नाम संसार है। इस संसार में आसक्त होकर जन्म, मरण, कर्मफल, उच्च, नीच अवस्था लाभ करके सब मायाबद्ध जीव भ्रमण करते हैं। इन सब जीवों का चिदनुराग सहज नहीं जान पड़ता। चिदनुराग क्या है, इसकी भी उपलब्धि नहीं होती। आहा! चिदनुराग ही जीव की स्वधर्म और नित्यप्रकृति है, इसे भूलकर जड़ानुराग में विभोर होकर चित्कण-स्वरूप जीव अपनी अधोगति का भोग करता है। संसार में प्रायः सभी इस दुर्दशा को दुर्दशा ही नहीं समझते।

रागात्मिका प्रकृति की बातें तो दूर रहीं, मायाबद्ध जीव के लिये रागानुगा प्रकृति भी बिलकुल ही अपरिचित है। कभी कभी साधु-कृपा के सहारे जीव के हृदय में रागानुगा प्रकृति का उदय होता है। इसलिये रागानुगा प्रकृति विरल और दुर्लभ है। संसार उस प्रकृति से वञ्चित है।

किन्तु भगवान् सर्वज्ञ और कृपामय हैं। उन्होंने देखा कि मायाबद्ध जीव चित्प्रवृत्ति से वञ्चित हुआ है। तब कैसे उसका मङ्गल होगा? कैसे मायामुग्ध जीवों में कृष्ण-स्मृति के ज्ञान होने का कुछ उपाय हो? साधुसङ्ग होने से जीव अपने को कृष्णदास समझ सकेगा। साधुसङ्ग के लिये कोई निर्द्धारित विधि नहीं। और इसकी आशा भी कैसे हो सकती है, कि यह सबके ही लिये घटित होगी? अतएव साधारण लोगों के लिये कोई विधि मार्ग न होने से उनका कोई उपकार न होगा। भगवान् की ऐसी ही कृपादृष्टि से शास्त्र उदित हुए। आर्य-हृदय रूपी आकाश में भगवत्-कृपा-प्रसूत शास्त्र-सूर्य ने उदित हो सर्वसाधारण के लिये सब प्रकार की आज्ञा-विधियों का प्रचार किया।

वेद और शास्त्र आदि हैं। वेद-शास्त्र के किसी अंश में कर्म, किसी अंश में ज्ञान और किसी अंश में प्रीति-रूपी भक्ति की आज्ञा हुई है। माया से मोहित जीव भाँति-भाँति की अवस्थाओं में पड़े हैं। कोई बिलकुल ही मूढ़, तो कोई कुछ-न-कुछ समझदार हैं। कोई-कोई बहुतेरे विषयों की समझदारी रखते हैं। जीव की बुद्धि की जैसी अवस्था होती है, शास्त्र में उसके प्रति वैसा ही आदेश है। इसीका नाम अधिकार है। यद्यपि जीवों की संख्या के अनुसार अधिकार अनन्त हैं, किन्तु अनन्त अधिकार भी प्रधान लक्षणों के अनुसार तीन भागों में विभक्त हुए हैं;—अर्थात् कर्माधिकार, ज्ञानाधिकार और प्रेमाधिकार। वेद-शास्त्रों में ऐसे ही त्रिविध अधिकार निर्दिष्ट हुए हैं। वेद ने विधि बनाते हुए इन तीनों अधिकारों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय किया है; इसीसे निर्दिष्ट धर्म का नाम वैध-धर्म है। मनुष्य जिस प्रवृत्तिक्रम से उस धर्म को ग्रहण करता है, उसी प्रवृत्ति का नाम वैधी प्रवृत्ति है। जिनमें वैधी प्रवृत्ति नहीं, वे ही नितान्त अवैध हैं। अवैध मनुष्य पापाचरण में रत होते हैं। उनका जीवन सदा अवैध कामों में लगा रहता है। ऐसे लोग वेद से बहिर्भूत होते और म्लेच्छ इत्यादि नामों से पुकारे जाते हैं। वेद-शास्त्रों ने जिन त्रिविध अधिकारों का निर्णय किया है, उन्हीं को ऋषिगण ने संहिताशास्त्र में बढ़ाकर वेदानुगत अन्यान्य शास्त्रों का प्रकाश किया है। मनु आदि पण्डितों ने बीस धर्मशास्त्रों में कर्माधिकार का वर्णन किया है। दर्शन-वादियों ने तर्क और विचारशास्त्र में ज्ञानाधिकार का विचार किया है पौराणिक और विशुद्ध तान्त्रिक महोदयों ने भक्ति-तन्त्र के अधिकारगत उपदेश और क्रियाओं का निर्णय किया है। यह सभी वैदिक ही हैं।

उन सब शास्त्रों के मीमांसकों ने सब शास्त्रों के तात्पर्य की ओर दृष्टि न रख किसी-किसी स्थल में एक अङ्ग की सर्वोत्कृष्टता का वर्णन कर कितने ही लोगों को वितर्क और सन्देह के गड्ढे में ढकेल दिया है। उन सब शास्त्रों की अपूर्व मीमांसा गीताशास्त्र को देखने से जान पड़ता है, कि कर्म ज्ञान का उद्देश न होने से कर्म पाखण्ड समझ कर परित्याज्य हो जाता है। फिर कर्म और ज्ञान का योग भक्ति के उद्देश से न हो, तो कर्म और ज्ञान दोनों ही पाखण्ड ठहरते हैं। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग वास्तव में एक ही योग हैं; यही वेद से उदित वैष्णव-सिद्धान्त है।

माया से मोहित जीव को पहले ही कर्म का आश्रय लेना पड़ता है। इसके बाद कर्मयोग और ज्ञानयोग ;— अन्त में भक्तियोग है। माया से मोहित जीव को जब तक कोई सीढ़ी न दिखाई जाय, तब तक वे किसी तरह भी भक्ति-मंदिर में पहुँच नहीं सकते।

कर्माश्रय किसे कहते हैं? जीवन धारण करके शरीर और मन से जो काम किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। कर्म दो प्रकार के हैं—शुभ और अशुभ। शुभ-कर्म से जीव को शुभ फल मिलता है और अशुभ-कर्म द्वारा जीव को अशुभ फल मिलता है। अशुभ-कर्म को 'पाप' या 'विकर्म' कहते हैं। शुभ कर्म के न करने को "अकर्म" कहते हैं। यह दोनों ही बुरे हैं, शुभ-कर्म ही उत्तम है। शुभ-कर्म भी तीन प्रकार के हैं,—अर्थात् नित्य, नैमित्तिक और काम्य। काम्यकर्म बिलकुल ही स्वार्थ से पूर्ण होने की वजह से हेय है। नित्य और नैमित्तिक कर्म शास्त्र से उपदिष्ट हैं। हेयता और उपादेयता के विचार से शास्त्र में नित्य, नैमित्तिक और काम्यकर्मों को ही कर्म कहते हैं; अकर्म और कुकर्म को कर्म नहीं कहते। इस तरह जब काम्यकर्म भी हेय समझकर त्याग दिया गया है, तब नित्य और नैमित्तिक कर्म ही कर्म हैं। शरीर, मन, समाज और परलोक के मङ्गल-जनक कर्म को नित्यकर्म कहते हैं। नित्यकर्म सबके लिये ही कर्त्तव्य कर्म है। जो कर्म किसी निमित्त का आश्रय कर जब-जब नित्यकर्म की तरह कर्त्तव्य बनता है, तब उसे नैमित्तिक कर्म कहते हैं। सन्ध्या, वन्दना, पवित्र उपायों द्वारा शरीर और समाज रक्षण, सत्य व्यवहार और पालनीय का पालन—यह सब नित्यकर्म हैं। मृत माता पिता के प्रति कर्त्तव्य का आचरण आदि और पाप होने से प्रायश्चित्त करना—यह सभी नैमित्तिक हैं।

यह नित्य और नैमित्तिक कर्म सुचारु रूप से जगत् में अनुष्ठित हो सकें, ऐसा ही विधान करने के अभिप्राय से शास्त्रकारों ने मनुष्य-स्वभाव और स्वाभाविक अधिकार का विचार कर 'वर्णाश्रम' के नाम से एक धर्म की व्यवस्था की है। इस व्यवस्था का मतलब यह है, कि कर्म का अनुष्ठान करने लायक मनुष्य स्वभावतः चार प्रकार के हैं,— अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये लोग जिस अवस्था का अवलम्बन कर संसार में अवस्थित होते हैं, वे चार प्रकार के हैं, और उनका नाम आश्रम है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—यह चार आश्रम हैं। जो अकर्म और कुकर्म-प्रिय हैं, वे अन्त्यज वर्ण और बिना आश्रम के हैं। यह सब वर्ण स्वभाव, जन्म, क्रिया और लक्षण द्वारा निरूपित होते हैं। जहाँ केवल जन्म के द्वारा ही वर्ण निरूपित होता है, वहाँ तात्पर्य की हानि ही एक-मात्र फल है। विवाहित अवस्था, अविवाहित अवस्था और स्त्रीसङ्गत्याग के बाद विराग की अवस्था के अनुसार सब आश्रम निर्दिष्ट हुए हैं। विवाहित अवस्था ही गृहस्थाश्रम है। अविवाहित अवस्था ब्रह्मचारी का आश्रम है। स्त्री-सङ्ग से विरक्त होने की अवस्था ही वानप्रस्थ और संन्यास है। संन्यास ही सबसे श्रेष्ठ आश्रम है और ब्राह्मण ही सबसे श्रेष्ठ वर्ण हैं।

(क्रमशः)

जीव और ब्रह्म



जीव क्या तत्त्व है इस विषय में अनेक मतवाद प्रचलित हैं। माया के तीनों गुणों में मुग्ध व्यक्तिगण अपनी-अपनी वृत्ति में उस-उस गुण की अधिकता के कारण जीव के विचार में विभिन्न सिद्धान्तों को पहुँचे हैं। तामसिक, रजस्तमोयुक्त, राजसिक, सत्त्वरजोयुक्त और सात्त्विक के भेद से जगत् में पाँच प्रकार की गौण प्रकृतियाँ जगत् में वर्त्तमान हैं। मनुष्यगण निज-निज प्रकृति के अनुसार जीवगत धारणा के वशवर्त्ती होते हैं। तमोमिश्र मतवाद में जीव के परलोक आदि का स्वीकार नहीं किया जाता। यथा—

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

इनकी देहात्म बुद्धि अत्यन्त प्रबल है, ये देहनाश के साथ ही जीव का नाश देखते हैं। रजोमिश्र प्रकृति में कर्मफल से उन-उन लोकों की प्राप्ति या योग के प्रभाव से ईश्वर-सायुज्य स्वीकृत होता है। प्राकृत सत्त्वगुण का आश्रय करने जाकर मनुष्य ब्रह्मसायुज्य स्वीकार करके निर्भेद ब्रह्मानुसन्धित्सु हो पड़ता है। प्राकृत गुण के विचार में लोग और अधिक दूर अग्रसर नहीं हो सके। यथार्थ बुद्धिमान लोग इन गौण सिद्धान्तों को "सिद्धान्त" मानकर उनका समादर नहीं कर सके। इन सब मतवादों में कुछ वेद-विरुद्ध हैं, और कोई-कोई वैदिक व्यवस्था के अनुवर्त्ती होने पर भी अपने निम्न अधिकार के कारण वेद-विहित तत्त्व के निरूपण में असमर्थ हैं। कोई वेद के एक अंश को स्वीकार करके सामंजस्य-बोध के अभाव से वेद के अन्य अंश को अस्वीकार करने के कारण वेद-लंघन-द्वारा वह भ्रम उत्पन्न होता है।

जिनकी प्रवृत्ति त्रिगुणातीत या विशुद्धसत्त्वाश्रित है, वे अपौरुषेय, स्वयं श्रीभगवान् के दिये हुए, ब्रह्मा, नारद, व्यास, शुक आदि की आम्नाय परम्परा से अवतीर्ण, वेद-विहित, निरस्तकुहक सत्य के सुनने में श्रद्धा रखते हैं और निर्गुण महापुरुष के भक्तियोग से प्राप्त तथा वेदोल्लिखित पुराण विस्तृत तत्त्व के ग्रहण करने में तत्पर हैं। वे श्रीभगवान् के सर्वेश्वरत्व या सर्वशक्तिमत्ता को, नित्य चिद्घन आनन्द-विग्रह का तथा जीव के भगवद्विभिन्नांशत्व व नित्यत्व को स्वीकार करके भगवान् की नित्य सेवा में निर्मलभाव से अधिष्ठित रहते हैं। बुद्धिमान् लोग उन्हीं का आश्रय लेकर उसी भाव की साधना करते करते निर्गुण-वृत्ति में अधिष्ठित होने की योग्यता प्राप्त करते हैं।

प्राकृत गुणविकार में जड़ धारणा ही प्रबल है, तमोभाव में अत्यंत स्थूल है, और रजोभाव में कुछ-कुछ सूक्ष्मता को प्राप्त है। और सत्त्वभाव में व्यतिरेक मुख में तत्संश्लिष्ट है। तमोगुण में नास्तिक्य बुद्धि, रजोगुण में मिश्र आस्तिक्य-बुद्धि तथा सत्त्वगुण में आस्तिक्याभास बुद्धि ही परिलक्षित होती है। इस आस्तिक्याभास बुद्धि में जड़-निरसनरूप जड़ीय ज्ञान की व्यतिरेक आलोचना ही प्रबल है। जड़ीय विचार में भेद प्रतीत होता है, इस कारण तत्त्वातिरिक्त विचार में भेद परित्यक्त है। इस श्रेणी के चिन्ताशील मनीषी लोग परमार्थ के विचार में भेद का निरास करके जीव और ब्रह्म में अभेद स्वीकार करते हैं, ब्रह्म संज्ञा में विभु-तत्त्व स्वीकार करके उसके साथ जीव को स्वगत, स्वजातीय और विजातीय भेद-शून्य उपलब्धि का उपदेश करते हैं। यह अभेदवाद या विवर्त्तवाद परिच्छिन्नवाद और प्रतिबिम्बवाद इन दो धाराओं में विभक्त है। परिच्छिन्नवाद मत में अविद्या के अध्यास-द्वारा महाकाश से घटाकाश की तरह ब्रह्म से जीव का भेद भ्रम है। खंड वस्तु परिच्छिन्न हो सकती है, जैसे एक बड़ा पत्थर छोटे छोटे खंडों में विभक्त या परिच्छिन्न हो सकता है। किन्तु सर्वव्यापक ब्रह्म भूमा वस्तु अखंड तत्त्व है। वह कैसे घटाकाश की तरह परिच्छिन्न होकर जीव-रूप से व्यक्त हो सकता है? यह असंभव है। सुतराम् बन्ध्या स्त्री के सन्तान होने के समान परिच्छिन्नवाद का कोई मूल्य नहीं। प्रतिबिम्बवाद में भी तीन दोष देख पड़ते हैं। पहला यह कि व्यापक वस्तु का प्रतिबिम्ब हो सकता है, पर उसका आधार कहाँ है? यदि बिम्ब के भीतर प्रतिबिम्ब हो तो उसमें आरोपित तद्वत्तत्त्व दोष आता है। दूसरा यह कि विवर्त्तवाद में स्वीकृत ब्रह्म निर्धर्म है, सुतराम् उसकी ज्योति संभवपर नहीं, अतएव उसका प्रतिबिंब भी असंभव है। तीसरा यह कि ब्रह्मतत्त्व इन्द्रियों के गोचर नहीं है; तब फिर उसका इन्द्रिय ग्राह्य प्रतिबिम्ब किस तरह स्वीकृत हो सकता है? विवर्त्तवाद वेद का केवल एक देशीय वचन स्वीकार करता है। इसलिए वह वेद का सिद्धांत नहीं है।

इस केवल ब्रह्मवाद के स्वीकार करने में विवर्त्त के लिए ही स्थान कहाँ है ! विवर्त्त किसका ? ब्रह्म का। ब्रह्मवस्तु का ही यदि विवर्त्त या भ्रम हुआ, तो फिर अभ्रान्त तत्त्व क्या है ? और काहे से ब्रह्म को भ्रम हुआ ? तो फिर वह तो ब्रह्म से अधिक या बड़ा तत्त्व ठहरा ? ऐसा होने से तो वेद का यह वचन कहाँ सत्य रहा कि "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" ? ब्रह्मतत्त्व या विभुतत्त्व कहाँ रहा ? और एक तत्त्व के स्वीकार करने पर केवलाद्वैत या केवल ब्रह्मवाद कहाँ रहा ? स्वयं-प्रमाण वेद-वाक्य के और उसके अनुगामी ब्रह्मसूत्र के मुख्यार्थ को छोड़कर शब्द की अभिधा वृत्ति स्वीकार करने के बदले लक्षणा शक्ति का आश्रय ग्रहण कर, अपौरुषेय वेद के स्वयं प्रमाण होने के मूल में कुठाराघात करके, उसे अपने इन्द्रिय-ज्ञानगम्य जानते हुए, शब्द के कष्टकल्पनासाध्य गौण अर्थ को स्वीकार करके इस प्रकार के विवर्त्तवाद का प्रचार करना निर्गुण वृत्ति का अनुशीलन नहीं है। इस जगह पर श्रुति के एक वाक्य में इस गौणार्थ के आरोप का एक उदाहरण हम नीचे देते हैं। इसी से पाठकगण उनके मतवाद-स्थापन में आग्रह के कारण मुख्य अर्थ को ढकने की प्रणाली कुछ कुछ समझ लेंगे—ऐसी आशा हम करते हैं।

ऋग्वेद का मन्त्र है –

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः

इस स्थल में "विष्णु का पद" शब्द का अर्थ उन लोगों ने किया है "व्यापक का पदनीय या गमनीय अर्थात् ब्रह्मरूप"। अब देखिए, इसका यह कैसा अर्थ हुआ ? जभी अपने मत के स्थापन के लिए आवश्यक हुआ है, तभी उन लोगों ने ऐसा ही खींचतान कर अर्थ किया है। अन्यत्र "प्राज्ञ" शब्द का अर्थ किया है "प्र – प्रकृष्टरूप से अज्ञ"। व्याख्या का ढंग देखिए। अवश्य ही इस प्रकार गौण अर्थ की स्थापना करने में उनको विपुल पांडित्य प्रकट करना पड़ा है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु इस प्रकार पांडित्य के अन्धकार द्वारा सरलार्थ से परिस्फुट प्रतिपाद्यतत्त्व को छिपाकर क्या नित्य मंगल प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्तियों का सर्वनाश नहीं किया गया ? कहाँ निरस्तकुहक सत्य, और कहाँ जड़पांडित्यविजृंभित भ्रान्त मतवाद ! पाठकगण ही विचार करके देखें, उन्हें किसका प्रयोजन है।

केवलाद्वैतवाद का और एक नाम है मायावाद; क्योंकि इस मत में जीव माया के ही द्वारा परिच्छिन्न या प्रतिबिम्बित अनित्य तत्त्व माना गया है। हम आगे चलकर इस पर विचार करेंगे कि बद्धजीव भगवान् की शक्ति माया के वश तत्त्व है। यह मायावाद नहीं है। कारण, इसमें जीव की उत्पत्ति में माया का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसकी आलोचना आगे की जायगी। अब हम मायावाद के विषय में ही कहते हैं। इस मत में ब्रह्म को कलाहीन, निर्लेप, निर्विकार और निष्क्रिय स्वीकार किया गया है। किन्तु जो परिच्छिन्न या प्रतिबिम्बित होने के योग्य कहकर स्वीकृत हो रहा है, उसके सम्बन्ध में क्या इन विशेषणों का प्रयोग किया जा सकता है ? माया को ब्रह्मलीला प्रकृति कहकर स्वीकार करने से केवलाद्वैत भाव की हानि तो नहीं हुई ? अच्छा, विचार के लिए यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय तो माया से यह सब कैसे संभवपर हो सकता है ? यदि कहो कि ब्रह्म की इच्छा ही जड़ माया की प्रवृत्ति का कारण है, तो फिर ब्रह्म का निर्विकार होना कहाँ रहा ? यदि कहो कि माया की इच्छा ही उसका कारण है, तो फिर निष्क्रिय ब्रह्म का प्रतिद्वंद्वी और एक तत्त्व स्वीकृत होने के कारण केवलाद्वैतवाद की क्या दशा होगी ? और माया की इच्छा के अधीन ब्रह्म का गौरव भी बढ़ेगा न ? सरल युक्ति से ही मायावाद नहीं टिक सकता।

जो लोग निर्गुण वृत्ति में अधिष्ठित होकर, निरस्तकुहक सत्य का अवतरण स्वीकार पूर्वक कठोपनिषद् के "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः" इत्यादि वाक्य का अनुसरण करते हुए परम्पराक्रम से अव्याहत भाव से आनुगत्यधर्मलक्षित सत्य के मूल श्रीभगवान् से अवतीर्ण क्रमागत गुरुप्रणाली का अवलम्बन करके योग्य हुए हैं, वे श्रीभगवान् की वेदोक्त अचिन्त्य शक्ति को स्वीकार करके उसके परिणामगत चित् जगत्, जीव-जगत् और जड़ जगत् का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वे वेद के परिस्फुट अर्थवाले वाक्यों के सामंजस्य की रक्षा करके सब गड़बड़ मिटाने में समर्थ हुए हैं और उन्होंने जगत् में अपरिभाव्य नित्य सत्य की मर्यादा का स्थापन किया है। यह कुछ मतवादों में से एक मत नहीं है। यथार्थ सत्य एक ही हो सकता है, दो नहीं। सुतराम् तत्त्व एक ही है—वह किसी मतवाद की अपेक्षा नहीं रखता। श्रुति में "तत्त्वमसि," "एकमेवाद्वितीयं" आदि जो सब अद्वैतपर वाक्य देख पड़ते हैं, उनके साथ ही

"द्वा सुपर्णा सयुजा" तथा "यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगाः" आदि द्वैतपर वाक्य भी देख पड़ते हैं। दोनों के सामंजस्य द्वारा ही वेद के यथार्थ तात्पर्य का निर्णय हो सकता है, अन्यथा नहीं। उनमें नित्य भेद और नित्य अभेद को स्वीकार करना ही पड़ेगा अर्थात् जीव के गठन माया या अचित् की कोई क्रिया नहीं है, स्वरूप-गठन में जीव और ब्रह्म एक हैं, किन्तु वस्तु और परिमाणगत सत्ता में दोनों ही परस्पर नित्य भिन्न हैं। यह अचिन्त्य तत्त्व है। प्रकृति के अतीत तत्त्वमात्र ही अचिन्त्य हैं। यह अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व ही समस्त मतवादों का खंडन करके सभी प्रकार के तत्त्वों की मीमांसा कर सकता अतएव यहां एक सत्य का निर्णायक है। ब्रह्म (भगवान) शक्तिमान तत्त्व हैं। "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।" पराशक्ति स्वीकार करने से एक अपराशक्ति स्वतः स्वीकृत हो पड़ती है। जीव शक्तितत्त्व है। "शक्तिशक्तिमतोरभेदः" स्वीकार करने पर भी शक्ति कुछ शक्तिमान तत्त्व नहीं है। सौन्दर्य कुछ स्वयं सुन्दर वस्तु नहीं हो सकता। अतएव एक साथ ही भेद और अभेद, दोनों स्वीकृत होते हैं।

ब्रह्म विभुचित् है। जीव अणुचित्-भेद से भिन्न है। विभुचित् माया-शक्ति का अधीश्वर है, अणुचित् उसकी वश्यता के योग्य है, और वश्यतापन्न नहीं भी हो सकता। अतएव जीव चित् के अधीन और माया के वश, दोनों ही हो सकता है। इसी कारण जीव को तटस्थ कहा गया है मायाधीन और मायावश ब्रह्म और जीव का यह नित्यभेद वेद में स्पष्ट स्वीकृत हुआ है। यथा—

यस्मिन्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो (जीवो) मायया सन्निरुद्धः। इत्यादि।

अद्वैतवादी ऐसे एकदेशदर्शी हैं कि इन सब वाक्यों को अपने मत का खंडन करनेवाला जानकर स्वीकार तक नहीं करते। वे जिस बृहदारण्यक उपनिषद् को स्वीकार करते हैं, उसमें भी जीव का तटस्थ-शक्ति होना अच्छी तरह व्यक्त है। यथा—

"तस्य वा एतस्य पुरुषस्य (जीवस्य) द्वे एव स्थाने भवत् इदञ्च (जड़जगत्) परलोकस्थानञ्च (चिद्धाम) सन्ध्यं (सन्धिस्थं) तृतीयं स्वप्न। तस्मिन्सन्ध्येस्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदञ्च परलोकस्थानञ्च।"

जीव जड़ जगत् के भी योग्य है और चित् जगत् के भी योग्य है। दोनों का सन्धिस्थल (तटस्थान) उसका अपना स्थान है। वहाँ से वह चित् और अचित् दोनों जगतों को देख सकता है। जिसे देखेगा, उसी के अधीन हो जायगा। इस तटस्थ-धर्म के ज्ञापक और भी वचन वेद में हैं। "बालाग्रशतभागस्य" इत्यादि श्रुतिवचनों में जीव की सूक्ष्मता स्पष्ट कही गई है। इसीसे मायावादी लोग श्वेताश्वतर उपनिषद् को पराश्रुति मानने को तैयार नहीं हैं इससे उनकी संकीर्णता ही प्रकट होती है। इसी श्रुति में कहे गए "परास्य शक्तिः" इस वचन को भी अस्वीकार करके उन्होंने उसे शक्तिहीन भी बना दिया है। अवश्य ही प्रचलित श्रुतियों में वराहोपनिषद् आदि कई श्रुतियाँ अप्रामाणिक हैं, किन्तु श्वेताश्वतर को भी उन्हीं के अन्तर्गत मानना केवल मायावादियों का अपने मत को खण्डन बचाने का प्रयास ही जानना चाहिए।

चित् और जड़ के सन्धिस्थल में तटस्थ शक्ति प्रकटित होकर चित् जगत और अचित् जगत् दोनों को देखने में समर्थ जीव जब भगवदुन्मुख होकर चित् की ओर आकृष्ट होता है, तब उसके फलस्वरूप श्रीबलदेव प्रभु से चित् बल प्राप्त होकर और चित् जगत् में नित्य भगवत्सेवा में लगा रहकर नित्यमुक्त है। उनकी मायावश-योग्यता एकदम सोई रह गई। और, जो जीव चिद्दर्शन न करके, भगवद्विमुख होकर माया जगत् में अभिनिवेश करता है, तभी—"निकटस्थ माया उस से लिपट जाती है" वह मायाकृष्ट और मायामुग्ध होकर मायाधीश पुरुषावतार कारणसागरशायी द्वारा जड़ जगत में फेंका जाता है। मायिक काल-सृष्टि के पहले से उसकी यह बद्ध दशा है, इसी से उसको अनादिबहिर्मुख कहा जाता है। जीव का बद्ध होना इसी तरह संभवपर हो सकता है। किन्तु मायाधीश ब्रह्म कैसे बद्ध हो सकते हैं?

फिर जड़ पाण्डित्याभिमानी जीव की बद्धता यहाँ तक प्रगाढ़ है कि वह भगवत्कृपा और भगवान् के अवतार तक को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। श्रीभगवन्मुख निःसृत श्रीगीतोपनिषद् का लंघन करना ही उसकी दुर्भाग्यजनित वृत्ति बन गया है। वह मुख से वेद को मानने की बात कह कर भी वेद के तात्पर्य को नष्ट करने को ही जीवन का प्रधान कृत्य समझ कर दल बाँधता है। ये प्रच्छन्न नास्तिक हैं, बौद्ध आदि स्पष्ट नास्तिकों से भी बढ़कर भयंकर हैं।

वे ऐसे अंधे हैं कि वेद में जो स्पष्ट अवतार-तत्व का बीज वर्तमान है, उसे नहीं देख पाते।

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

इत्यादि कई वाक्य वेदाध्ययन करनेवालों को देखने को मिलेंगे। इनकी अन्धता देखकर आँखवालों को दुःख होता है। किन्तु उपाय नहीं है। अंधता ही उनके लिए वरणीय है। पर हम चाहते हैं, उनके हाथों निरीह सरल व्यक्तियों का पतन तो न हो। वे वेद में स्वीकृत पुराण-इतिहास आदि को स्वीकार न करके वेदोल्लंघन को ही अपना व्रत बनाए हुए हैं। भगवान् उनको सुबुद्धि दें, हमारी यही करुण-प्रार्थना है।

वृषभानुनन्दिनी

(गत संख्या से आगे)

रसका अथवा रति और सामग्री का विचार



श्रीकृष्ण—सकल विष्णुतत्व के अंशी हैं; श्रीमती भी सकल महालक्ष्मी की अंशिनी हैं। अंशावतारीस्वरूप श्रीकृष्ण जैसे प्राभव, वैभव और पुरुषादि अवतार गणका विस्तार करते हैं, वैसे ही अंशिनी श्रीमती राधिका भी लक्ष्मीगण, महिषीगण और ब्रजांगनागण का विस्तार करती हैं। श्रीकृष्ण ही सर्वपति हैं और वृषभानुनंदिनी ही उनकी नित्यकाल परिपूर्णतम सेवाकारिणी हैं; सुतराम् वह नित्यकान्ताशिरोमणि के सिवा और कुछ नहीं हैं।

श्रीकृष्ण ही एकमात्र "विषय" हैं। स्थायीरतिविशिष्ट सब जीवात्मा उसी भगवत्तत्व का ही "आश्रय" हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर, यह पाँच प्रकार की श्रीकृष्णविषयक रति या स्थायी भाव जीवात्मा के लिए स्वरूपसिद्ध है। यह स्थायी भावस्वरूपिणी रति स्वयं आनन्दरूपिणी होकर भी सामग्री के मिलन में रसावस्था को प्राप्त करती है। सामग्री चार प्रकार की है—विभाव, अनुभाव, सात्विक, व्यभिचारी या संचारी। रसास्वादन हेतु-रूप विभाव दो प्रकार का है—आलंबन और उद्दीपन। आलंबन के भी दो प्रकार हैं—विषय और आश्रय। जो रति का विषय है, अर्थात् जिसके प्रति रति क्रियावती है, वह विषयरूप आलंबन है, अर्थात् विषयरूप आलंबन ही रति का आधेय है और जो रति का आधार है, अर्थात् जिसमें रति वर्त्तमान है, वही आश्रय रूप आलंबन है।

अप्राकृत धाम और अखंड काल

वैकुंठ आदि धामों में त्रिविध काल ही एक साथ वर्त्तमान हैं। वैकुण्ठादि लोकों के हेय प्रतिफलनस्वरूप इस जड़ जगत् में जैसे भूतकाल या भावी काल का सौभाग्य वर्तमानकाल में अनुभूत नहीं होता मूल-आकरस्थानीय अप्राकृत वैकुंठ आदि धामों में वैसा नहीं है। वहाँ समस्त सौभाग्य एक ही समय में एक साथ अनुभूत हुआ करता है।

विषय, आश्रय का परस्पर सम्बन्ध-विचार

गोलोक में अद्वयज्ञान श्रीकृष्ण ही एक मात्र 'विषय' हैं और अनन्त कोटि जीवात्मा ही उनका 'आश्रय' हैं। आश्रयगण कुछ विषय से पृथक् या द्वितीय वस्तु नहीं हैं। वे अद्वयज्ञान विषय का ही आश्रय हैं। वस्तुत्व में 'एक' और शक्तित्व में 'बहुत'—यही विषय और आश्रय के बीच सम्बन्ध है। अक्षजधारणाकारी लोग इस विषय और आश्रय की बात को समझ नहीं सकते। निर्विशेषवादियों के निकट विषय और आश्रयों के लिए स्थान नहीं है। श्रीनरहरि तीर्थ के पूर्वाश्रम के अधस्तन पीढ़ी में उत्पन्न विश्वनाथ कविराज अपने सुप्रसिद्ध 'साहित्य-दर्पण' नाम के अलंकार-ग्रंथ में विषय और आश्रय की बात को इतनी अच्छी तरह नहीं कह सके। यहाँ तक कि 'काव्य-प्रकाश'-कार या भरत मुनि भी इसे कहने में समर्थ नहीं हो पाए। किन्तु श्रीरूपपाद की लेखनी से अप्राकृत विषय और आश्रय की बात बहुत परिस्फुटरूप से प्रकाशित हुई है। अद्वयज्ञान विषयतत्व ब्रजेन्द्रनन्दन में अनन्त कोटि जीवात्मा आश्रय रूप से विराजमान रहने पर भी मूल आश्रय-तत्व (विग्रह) पाँच ही हैं। यथा—मधुर रस में श्रीवृषभानुनन्दिनी, वात्सल्य रस में नन्द-यशोदा, सख्य-रस में सुबल आदि सखा, दास्य-रस में रक्तक आदि और शान्त रस में गोगण, वेत्र, वेणु आदि। शान्त रस में संकुचित चेतन चिन्मय गो, वेत्र, वेणु, कदंब वृक्ष एवं यमुनापुलिन आदि अज्ञात भाव से श्रीकृष्ण की निरन्तर सेवा करते हैं।

विश्वबै

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्री अद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीश्यामगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १३ हनुमान रोड, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणगाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चीरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम्—सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशित) प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≤)
१२—युक्तिमल्लिका (गुणसौरभ) वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

वंगभाषाग्रन्थ

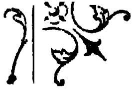
१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)
१४—नवद्वीपशतक बंगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद-कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

वर्ष १]　　श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः　　[संख्या १५



भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

4th June　　1932





त्रिविक्रम
कृष्णपक्ष
गौराब्द
४४६

ज्येष्ठ
अमावास्या
संवत्
१९८९

पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
तुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च स



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-
सरस्वती गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या)　}　सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन　{ वार्षिक सडाक ३॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.



विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन-छपाई की दर नीचे लिखी है—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, १/२ ,,	३)
२ इंच ,, १/४ ,,	१॥)
१ ,, ,, १/८ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये।

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

९४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

946 Suddar Bazar,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष १ — ज्येष्ठ-अमावास्या गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, ४ जून सन् १९३२ ई० — संख्या १५

(१३)

वास्तव में सब तेरा है नहिं जीव किसी निश्चय में।
अहं और मम के भ्रम भ्रमता भोग-शोक औ भय में॥
अहं तथा मम अभिमान यही मात्र है तो धन।
बद्ध जीव इन दो ही को समझे अपना मन ही मन॥
रहा उसी अभिमान चढ़ा मैं संसारी हो अड़ के।
डुबकी पै डुबकी खाता हूँ भव-सागर में पड़के॥
नाथ, तुम्हारे अभय चरण में शरण आज मैं धरता।
होकर दीन प्रभो यह सेवक आत्म-निवेदन करता॥
अहं तथा मम अभिमान छोड़ मुझे अब दोनों जावें।
अब मेरे मन में हे स्वामी जगह नहीं ये पावें॥
प्रभो, यही विनती है अपनी ऐसा बल हम पावें।
जिससे अहं और ममता को मन से दूर भगावें॥
दृढ़ हो करके आत्मनिवेदन भाव हृदय में आवे।
हाथी के स्नान-सरिस वह क्षणिक न होने पावे॥
जिससे "भक्ति-विनोद" प्रभो इस नित आनँद को पावे।
माँग रहा परसाद यही अभिमान सदा को जावे॥

सामयिक प्रसंग

आजकल जगत में सर्वत्र ही "अभाव-अभाव" का शोर हो रहा है। किन्तु किसी ने भी थाह नहीं पाया, कि इस अभाव की जड़ क्या है? स्वभाव की ओर कोई पलटकर नहीं देखता। इस अभाव के मूल में भगवद् वहिर्मुखता है। शारीरिक और मानसिक क्लेश, बाढ़, दुर्भिक्ष, उत्पात, ज्वालामुखी का उत्पात, अतिवृष्टि—यह सभी दैवी ताप हैं; हर साल सहस्र-सहस्र लोगों का हिंस्र जन्तुओं के कराल कवल में पड़ना, मच्छरों के उपद्रव से मलेरिया राक्षसी का अत्याचार होना—यह सभी आधिभौतिक ताप हैं। इस त्रिताप के मूल में क्या है? इस जगत् में हम लोग जिसे सुख समझते हैं, जिस अभाव की क्षणिक निवृत्ति के लिये हम लोग इतने लालायित होते हैं, उससे क्या हमें नित्यशान्ति मिल सकती है? इस जगत् का सुख ही क्या नित्यसुख या वास्तविक सुख है? क्या वास्तव में जगत् के अभाव और असुविधाओं का दूर होना ही अभाव और असुविधा का दूर होना है? इस जगत् के सुख-दुःख कैसे हैं?

कभी उठावे स्वर्ग तो कभी नरक ले जाय।
जैसे पापी मनुज को राजा नदी डुबाय॥

पूर्व समय राजा अपराधी को नदी में डुबाकर दण्ड दिया करते थे। अपराधी आदमी को कुछ देर के लिये नदी में डुबाये रखते थे, साँस के रुकने और मरने-मरने होने पर उसे छोड़ देते थे। अपराधी जब होश में आ जाता तो फिर डुबाया जाता था।

जगत् के सुख-दुःख भी ऐसे ही हैं। दुःख से कुछ समय के लिये छुटकारा पाने को ही हम लोग सुख समझते हैं। किन्तु यह सुख असार है, यह कुछ ही समय में फिर दुःख उत्पन्न करता है। जब तक हम लोग स्वभाव में प्रतिष्ठित न होंगे, तब तक हम लोगों का अभाव दूर न होगा? हो ही नहीं सकता। किसी का हुआ भी नहीं। कहते हैं—

रोगी को क्या बालाखाना।
कैदी क्या सोने बँधवाना॥

रोगी को ऊपरी कमरे में सुलाने या कैदी को सोने की बेड़ी पहनाने से क्या उसे शान्ति मिल सकती है? वैसे ही इस संसाररूपी कैदखाने में—अभाव के राज्य में रह कर, कोई भी शान्ति पा नहीं सकता।

जीव का नित्य स्वभाव—भगवान् की दासता है—भगवान् की निष्काम सेवा है। यह सेवा नित्य है; सेवक और सेवा का सम्बन्ध भी नित्य है। जीव के स्वभाव में ही दासता बसी हुई है, जीव इस जगत् में प्रभु बनने की चेष्टा करता है, किन्तु बन नहीं पाता; प्रभु बनने की जगह दास बन बैठता है। हम लोग स्त्री के प्रभु, धन के प्रभु, पुत्र के प्रभु, सम्मान के प्रभु, मान के प्रभु, न जाने कौन-कौन के प्रभु बनना चाहते हैं, किन्तु वास्तव में हम उन्हीं के दास बन जाते हैं; उन्हीं की सेवा के लिए उनके पीछे-पीछे दौड़ते फिरते हैं। किन्तु जिस दिन हमारी यह विकृत दासता, एकमात्र नित्य वस्तु एकमात्र स्वराट्-पुरुष—एकमात्र प्रभु श्रीकृष्ण में नियुक्त होगी, उसी दिन हम लोग अपने लुप्त स्वभाव को फिर से पायेंगे। अतएव वह नित्य स्वभाव ही जीव का नित्य धर्म है, वही सब का धर्म है। यह धर्म केवल पशु का धर्म नहीं, पक्षी का धर्म नहीं, भारतवासी या युक्तप्रान्तीय धर्म नहीं—बल्कि यह विश्व ब्रह्माण्ड के यावत् जीवों का धर्म है। यही सनातन धर्म है।

किन्तु हम लोग इस सनातन धर्म के विषय में उदासीन हो कई प्रकार के नैमित्तिक मनमाने धर्म में व्यस्त हो पड़े हैं। हम लोग नित्य स्वभावजात धर्म को छोड़ भयावह शरीरी और मानसिक धर्म में फँसे पड़े हैं। हम अपने नित्य स्वभाव का धर्म कृष्णसेवा को छोड़ 'स्वर्ग के तारे' का विचार बाँध रहे हैं।

अधिक दिन की बात नहीं, चार सौ वर्ष पहले की बात है, बङ्गाल देश में; बङ्गाली-भाइयों के वेश में, शस्य-श्यामला भूमि में गङ्गा-किनारे, गोलोक वैकुण्ठ धाम से जीव के कल्याण के लिये, वास्तव में परदुःख से दुःखी एक विश्व-प्रेमी देवता आये थे। हम में कोई भी उन्हें पहचान न सका आज भी कोई पहचान नहीं रहा है। अवश्य ही कुछ सौभाग्यवान पुरुषों ने उन्हें पहचाना था। वे पहचानने वाले उनके पार्षद थे। वे विश्वप्रेमी देवता स्वयं अपने साथियों के साथ लोगों के दर्वाजे-दर्वाजे घूम-घूम कर ये अमृतवत वचन कहे थे,—

भारत-भू में जिसने आके लिया मनुज अवतार।
करें जन्म वे सार्थक अपना कर जग का उपकार॥

उन विश्वप्रेमी प्रभु ने विश्व के लिये संन्यासी का वेश धारण किया था। इन प्रभु का मूल मन्त्र — परोपकार-वितरण था। उनके एक प्रिय भक्त का कहना है,—

वरं दुःख लेकर जीवों का करूँ नरक का भोग।
पर हे प्रभु, तू जीव-जगत् का हर ले सब भवरोग॥

जिनका हृदय संसारी जीवों के दुःख पर इतना रोता था,—जीव के रोग से जो लोग अपने को रोगी समझते थे, उन लोगों ने आजकल की तरह कोई अस्पताल नहीं खोला, दवा बँटवाने का प्रबन्ध नहीं किया,—दुर्भिक्ष की सहायता (Famine relief) नहीं की—अनाथाश्रम, आजकल की तरह सेवाश्रम, विधवाश्रम नहीं खोले; इस तरह के कोई काम ही नहीं किये। वे लोग जिस समय अपने बङ्गाल में थे, उस समय वहाँ का राजा विधर्मी था। केवल विधर्मी ही नहीं, हिन्दूधर्म पर यथेष्ट अत्याचार करनेवाला। उनके कर्मचारी कीर्तन के ढोल फोड़ देते, किसी को कीर्तन न करने देते, आदमियों को पीटते, जात बिगाड़ते, कुल की देवियों पर पाशविक अत्याचार करते, धन छीन लेते थे; किन्तु वे पराये दुःख से दुःखी होनेवाले महापुरुषों ने 'स्वाधीनता-स्वाधीनता'' की चिल्लाहट नहीं मचाई या 'पहले देशोद्धार, फिर धर्मसुधार'' का विचार प्रकट नहीं किया। उस समय के इतिहास के पढ़ने से जान पड़ता है, कि दुर्भिक्ष, बाढ़, महामारी आदि तब भी मौजूद थी। प्रकृति का नियम सदा के लिये एक ही है, किन्तु हम लोगों को ऐसा समझने की एक आदत पड़ गई है कि गुजरा जमाना बड़े आनन्द का था, वर्त्तमान ही ठीक नहीं।

उन विश्वप्रेमी उदार-मूर्त्ति महापुरुष ने छोटे छोटे, नश्वर परोपकार के काम में हाथ नहीं लगाया; उन्होंने जीव में दया का प्रचार किया था। उन्होंने विश्वब्रह्माण्ड भर में अपना बहुत बड़ा अस्पताल खोल रक्खा था। उन्होंने स्वयं अपने को और अपने सहचरों को indoor और outdoor relief में नियुक्त किया था। उनके out door relief कार्य्य के प्रधान सहायक नित्यानन्द और हरिदास थे। इन दोनों से उन्होंने कहा था,—

सुनो-सुनो नित्यानन्द, सुनो हरिदास।
सर्वत्र मेरी आज्ञा का करिये प्रकाश॥
प्रति घर-घर जाके माँगो ऐसी भिक्षा।
बोलो कृष्ण, भजो कृष्ण, करो कृष्ण शिक्षा॥
कृष्ण बिना और कोई बात न बोलो।
सन्ध्या समय लौटो तो मुझे भागी खबर दो॥

औषध की व्यवस्था में नव-विध भक्ति के अङ्ग और पथ्य दिया गया सदाचार।

जो लोग उन जगद्गुरु के Indoor Hospital में रहते, वे अपना यथासर्वस्व Admission fee (प्रवेशशुल्क) स्वरूप प्रदान करके तब उसमें प्रवेश करते और उनके अन्तरङ्ग भक्तों के रूप में परिगणित हो जगद्गुरु की सेवा का अधिकार पाते थे।

उन जगद्गुरु श्रीगौराङ्गसुन्दर की आज्ञा थी—

"जिन्हें देखो, उन्हें देवो कृष्ण-उपदेश।
मेरी आज्ञा से गुरु बनो तारो सर्व देश॥
न बाँधेगा, इससे तुम्हें विषय-तरङ्ग।
फिर आके पाओगे यहाँ मेरा सङ्ग॥

इसी आज्ञा को सिर पर धारणकर वर्त्तमान युग में दुर्भिक्ष, महामारी, बाढ़, देश की तरह तरह की दुरवस्थाओं में नित्य मङ्गल की वाणी को लिये हुए श्रीगौराङ्गसुन्दर के आविर्भाव स्थान श्रीमायापुर के योगपीठ में आज कई वर्ष से लगातार श्रीचैतन्यमठ प्रचार के क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ है। इस आकर-मठराज ने भारत के विभिन्न स्थानों में कितने ही मठ और भारत के अतिरिक्त स्थानों में कितने ही सामयिक पत्रादि भेजकर जगत् में सर्वत्र फैले हुए हरिकथा के दुर्भिक्ष, नास्तिकता की महामारी, असदाचार की बाढ़, दैव-वर्णाश्रम के व्यभिचार आदि देश की बहुतेरी दुरवस्थाओं को दूर करने के लिये जगत में सर्वत्र प्रचारकों को भेज Out door relief किया है और मठादि में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि की नित्य मङ्गल व्यवस्था के लिये Indoor Hospital खोल दिये हैं।

श्रीगोपाल भ:

(गत संख्या से आगे)



श्री गौराङ्गसुन्दर अनर्पितचर उन्नत उज्ज्वल रस को प्रदान करने के लिये कलियुग में अवतीर्ण हुए। माधुर्य-रस के रसिक एकमात्र रसिकशेखर श्रीकृष्ण हैं। माधुर्यरस में ऐश्वर्य का अभाव नहीं है, बल्कि माधुर्य की माधुरी के आगे उसका कोई प्रभाव नहीं है। ऐश्वर्य के विषय श्रीकृष्ण के विलास-विग्रह परव्योम निवासी श्रीनारायण हैं। ऐश्वर्यरस में 'गौरव' वर्त्तमान है, 'गौरव' आश्रय के विषय से कुछ दूर रहता है। किन्तु माधुर्यरस में वैसा गौरव जनित व्यवधान नहीं, उसमें सम्पूर्ण प्रणय वर्त्तमान है।

ऐश्वर्य-ज्ञान में ही सब जगत् मिश्रीत।
ऐश्वर्य- शिथिल प्रेम से है नाहीं मेरी प्रीत॥
मुझे ईश मान और अपने को हीन।
उसके प्रेमवश मैं कभी होता ना अधीन॥
मेरा पुत्र मेरा सखा मेरा प्राणपति।
इसी रूप करे कोई मेरी शुद्ध भक्ति॥
आप ही को मान बड़ा मुझ सम-हीन।
इसी रूप होता सदा उसके मैं अधीन॥
पुत्रवत् माता करें मेरा बन्धन।
अति दीन जान करें लालन-पालन॥
सखा खेल-खेल चढ़ें काँधे हरदम।
तुम कहाँ के बड़े हम तुम दोनों सम॥
प्रिया यदि रूठ करे मेरा भर्त्सन
वेदस्तुति से अधिक हरे मेरा मन॥

माधुर्यभाव हृदय से मिला हुआ एक भाव है। इस भाव में छोटे-बड़े का विचार नहीं, बिलकुल ही अपनापन है,—हृदय-हृदय की मिलावट है। पाठक, इस शुद्ध काम-गन्ध-रहित निर्मल ब्रजराग को जड़ भाव के साथ एक न समझें। जड़ीय भाव इस अप्राकृत निर्मल भाव का ही हेय और विकृत प्रतिफलन है। जड़ीय भाव में स्वार्थ की दुर्गन्ध भरी हुई है। जड़ीय भाव का नाम— काम है। अप्राकृत कृष्णसेवा-जनित अनुराग का नाम प्रेम है।

कामगन्धहीन स्वाभाविक गोपी प्रेम।
निर्मल उज्ज्वल शुद्ध मानो तप्त हेम॥

देवीधाम के अन्तर्गत प्राकृत मनुष्यों की बात तो दूर रही, जो लोग देवीधाम की मायारूपी अनुभूति से विगत-रजा हो चुके हैं ब्रह्मलोक को भेद कर परव्योमस्थ विशुद्ध चिन्मय ऐश्वर्यानुभूति को लाभ कर चुके हैं, उनमें भी यदि स्वतःसिद्ध कृष्णरस का माधुर्य भाव न हुआ, तो वे भी कृष्णप्रेम की माधुरी को समझ नहीं सकते। आज अभिन्न व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीगौरसुन्दर के श्रीमुख से ब्रज के निर्मल राग की कथा सुन वेङ्कट भट्ट का स्वरूपगत कृष्णानुराग फूट पड़ा।

वेङ्कट भट्ट आदर्श गृहस्थ वैष्णव थे। आज कल के हिरण्यकशिपु जैसे गृहमेधी पितृकुल की तरह पुत्र के हरि-भजन में विघ्न डालनेवाले नहीं थे।

गोपाल की गौराङ्ग सेवा में देख प्रीत।
श्रीवेङ्कट भट्ट हुए महा उल्लासित॥
गोपाल को सौंपा गौरचन्द्र-चरण में।
दिना रात आनन्द करें प्रभु शरण में॥

नहीं कह सकते, कि आजकल कितने पिता ऐसे हैं, जो पुत्र को हरि-सेवा में नियुक्त देख ऐसा आनन्द प्रकाश किया करते हैं। कुछ लोग मुँह देखा आनन्द दिखाते हैं सही, किन्तु जब उनके स्वार्थ पर हाथ पड़ता है, तब उनके हृदय की कपटता आप ही खुल पड़ती है। किन्तु वेङ्कट भट्ट इस प्रकार के पिता नहीं थे। ऋषभ-देव ने पुत्रगण को जो उपदेश दिया था, उसे वे जानते थे—

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्,
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्यात्,
न मोचयेद् यः समुपेत मृत्युम्॥

अर्थात् —वह गुरु गुरु नहीं; वह आत्मीय आत्मीय नहीं; वह पिता पिता नहीं; वह जननी जननी नहीं; वह देवता देवता नहीं; वह पति पति नहीं; जो भगवत्-बहिर्मुखता रूप आसन्न मृत्यु के काल-कवल से उद्धार न कर सके।

श्रीमन्महाप्रभु गोपाल की ऐसी अतुलनीय सेवाप्रवृत्ति देख उन पर बड़ी कृपा करने लगे। किन्तु गोपाल के हृदय में मानो एक भारी विरह वेदना का आभास जान पड़ने लगा। वे प्रायः ही सोचा करते थे, कि प्राण-प्रभु श्रीगौरसुन्दर कदाचित् शीघ्र ही हम लोगों को छोड़कर चले जायेंगे। हाय! विधि ने क्यों मुझे दूर देश में पैदा किया। क्या मैं गौराङ्ग-सुन्दर की ब्रज विहार-लीला का दर्शन कर न सकूँगा? इस प्रकार सोचते, विचारते एक दिन गोपाल चिन्ता से बेहोश हो गये। भाव में मग्न होने के कारण उन्होंने अचानक नेत्रों से देखा, श्यामल सुन्दर द्विभुज मुरलीधर रासरमण श्रीकृष्ण सामने हैं; इसके बाद देखा, कि अरुण सुन्दर कान्ति स्वर्णमयी मूर्ति है, इसके बाद ही देखा, कि नवीन संन्यासवेशी कोई एक आजानु-लम्बित बाहु, कमलाक्ष भुवनमोहिनी मूर्ति से चारों दिशाओं को उद्भासित करते हुए खड़े हैं। गोपाल उन प्रभु के चरणों पर लोट पड़े। प्रभु ने कहा,—'गोपाल! शीघ्र ही तुम्हें व्रजभूमि में आश्रय मिलेगा। वहाँ मेरे अभिन्न-आत्मा श्रीरूप सनातन के साथ तुम्हारा साक्षात् होगा। वह लोग मेरे उपदेशित व्रज के निर्मल प्रेम को जगत में प्रकट करेंगे। तुम भी सदा उनके साथ रहकर मेरी कथा सुनोगे और सेवा का आनन्द उठा सकोगे।"

किसी प्रेमिक भक्तराज ने गाया है—

"तीर्थ-रत्न साधुसङ्ग, साधुसङ्ग अन्तरङ्ग,
श्रीकृष्ण भजन मनोहर।
जहाँ साधु वहीँ तीर्थ, स्थिर कर निज चित्त,
साधुसङ्ग करो निरन्तर॥
जिस तीर्थ में वैष्णव नाहिं, उस तीर्थ में जाय नाहिं,
क्या लाभ चले जो दूरदेश।
जहाँ हैं वैष्णवगण, वहाँ ही है वृन्दावन,
वहीं है आनन्द अशेष॥
कृष्णभक्ति जिस स्थान, मुक्तिदासी वहीं जान,
सलिल वहीं मन्दाकिनी।
गिरि वहीं गोवर्द्धन, भूमि वहीं वृन्दावन,
आविर्भूता स्वयं आह्लादिनी॥"

आज श्रीरङ्गक्षेत्र और वेङ्कट भवन में गोलोकधाम उतर आया है। क्यों न हो?—जहाँ साक्षात् अभिन्न व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीगौराङ्ग-सुन्दर हैं, वहाँ उनका वैसा ही वैभव भी वर्तमान होकर प्रभु की सेवा में नियुक्त है। विशेषतः वेङ्कट-भट्ट भजन परायण गृहस्थ वैष्णव हैं। जिस गृहस्थ के घर में हरिभजन हो रहा है, वही तो साक्षात् गोलोक है।

"जिस दिन गृह में, भजन देखता,
गृह में गोलोक समझता।"

इसीसे आज सचमुच ही वेङ्कट के घर में गोलोक उतर आया है। गोलोक के अधीश्वर, प्रेम के ठाकुर ने चार महीने तक श्रीरङ्गक्षेत्र में हरिकथामृत की धारा बहा दी है। माधुर्यरस की बाढ़ से सबका ही ऐश्वर्यभाव शिथिल हो पड़ता है। श्रीगौराङ्ग-सुन्दर का नाम सुन कितने ही देशों से लाख-लाख मनुष्य आये। प्रभु के दर्शन से सभी के मुख से कृष्णनाम निकलने लगा और सभी कृष्णभक्त हो गये।

साधुगण या सच्चे वैष्णवगण जब गृहस्थों के घर जाते हैं, तब वे लोग वैसा ही करते हैं, जिसमें गृहस्थ का यथार्थ मङ्गल हो; कारण—

महन्तों का स्वभाव सदा तारन को पामर।
निज कार्य नहीं तब भी जाते औरों के घर॥

गौर-सुन्दर ने देखा, कि भट्ट सदाचार-सम्पन्न वैष्णव तो हैं, किन्तु उनके स्वरूप में और भी उन्नततरस का भाव भरा है; भट्ट ने अब तक इसका पता ही नहीं पाया। वेङ्कट भट्ट, श्रीसम्प्रदायी वैष्णव लक्ष्मीनारायण की सेवा में नियुक्त हैं। श्रीमन्महाप्रभु भट्ट द्वारा लक्ष्मीनारायण का सेवासौष्ठव देख बहुत सन्तुष्ट हुए। एक दिन श्रीगौराङ्ग सुन्दर ने भट्ट से हँसी-हँसी में कहा, "भट्ट! पतिव्रता-शिरोमणि लक्ष्मीजी महारानी सदा श्रीनारायण के हृदय में निवास करके भी मेरे हृदय के ठाकुर गोचारक ग्वालाओं के सङ्ग के लिये इतनी उत्कण्ठिता क्यों हो रही हैं? केवल उत्कण्ठिता ही नहीं, साध्वी सारे सुख-विलास को परित्याग-कर तपस्विनी हुई हैं।

यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपो
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता।"
(भागवत १०। ११।३०)

अर्थात्,—"श्रीकृष्ण के चरण-पराग को पाने के लिये कमला ने बहुत दिनों से समस्त कामनायें छोड़ व्रत धारण कर तपस्या किया था।"

भट्ट ने कहा,—"प्रभो! श्रीकृष्ण और नारायण में कोई भेद नहीं, फिर भी श्रीनारायण चतुर्भुज शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधर हैं और श्रीकृष्ण द्विभुज मुरलीधर; श्रीकृष्ण जैसा लालित्य होने पर भी उनमें कृष्ण की वैदग्ध्यादिरूप लीला नहीं है।

सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्णस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥

नारायण और कृष्ण के दोनों स्वरूपों में सिद्धान्ततः कोई भी भेद नहीं, फिर भी शृङ्गार रस के विचार से श्रीकृष्ण-रूप ने रस के द्वारा उत्कर्षता प्राप्त किया है। इस रूप में ही रसतत्त्व का निवास है। सुतराम्—

कृष्ण सङ्ग पतिव्रता धर्म नहीं नाश।
अधिक लाभ पायेंगे रस औ विलास॥
विनोदिनी लक्ष्मी को हुआ कृष्ण-अभिलाष।
इसमें क्या दोष करो नाहक परिहास॥

लक्ष्मी ने देखा, कि कृष्ण के सङ्ग से पातिव्रत धर्म का नाश नहीं होता। फिर भी रास-विलास रूपी अधिक लाभ कृष्ण में ही पाया जाता है, नारायण के सङ्ग में नहीं। इसीलिये लक्ष्मी देवी ने श्रीकृष्ण के सङ्गम की इच्छा की—इसमें दोष ही क्या?"

"भट्ट! मैं जानता हूँ, कि इसमें कोई दोष नहीं; किन्तु शास्त्र का कहना है, कि लक्ष्मी महारानी ने रास में प्रवेश का लाभ नहीं पाया।"

'नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्त रतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।'

व्रज की सुन्दरियों ने रासोत्सव में जो प्रसाद लाभ किया था, वे वैकुण्ठ के बहुत ही अनुगत वक्ष में रहनेवाली लक्ष्मी आदि को भी नहीं मिला।

"प्रभो! नारायण के वक्ष में रहनेवाली होकर तथा तपस्या आदि व्रत को आचरण करके भी लक्ष्मीमहारानी ने रास में प्रवेश का अधिकार क्यों नहीं पाया? और श्रुतिगण ने तपस्या न करके भी कैसे कृष्ण-सेवा का लाभ उठाया? प्रभो! मैं बहुत ही छोटा जीव हूँ, कोटि-समुद्र-गम्भीर श्रीभगवान की लीला को मैं क्योंकर समझ सकता हूँ! आप साक्षात् व्रजेश-नन्दन हैं, आप ही अपनी लीला समझते हैं - कृपाकर मुझे बताइये।"

"भट्ट! श्रीकृष्ण का एक सजीव लक्षण यह है कि वे अपनी माधुरी से सब के चित्त को – यहाँ" तक, कि आप ही अपने चित्त को भी आकर्षित करते हैं। व्रज के लोग उन माधुर्यमय श्रीकृष्ण को ईश्वर के रूप में नहीं देखते। व्रजवासियों के आगे श्रीकृष्ण का सारा ऐश्वर्य माधुरी से ढका हुआ है। श्रीकृष्ण में, परिपूर्ण रूप से समस्त ऐश्वर्य रहने पर भी, माधुरी के सामने उसका कोई प्रभाव नहीं श्रीकृष्ण आनन्दमय रसस्वरूप प्रेम के विषय हैं, श्रीकृष्ण का सभी माधुर्यमय है। और जगह के लिये परब्रह्म स्वरूप ऐश्वर्यशाली भगवान् के रूप में सब के पूज्य और सम्मान के पात्र हैं; किन्तु वही इस धाम के एकमात्र प्राणपति, प्रिय पुत्र, प्रिय मित्र और प्राणनाथ हैं—कभी उपासक के समान हैं, तो कभी उससे भी हीन हैं।

कोई उनको पुत्र समझ के करे उदूखल बन्धन।
कोई सखा समझ के अपना चढ़ता उनके कन्धन॥
व्रजेन्द्र के ये नन्दन, ऐसा जाने उनको व्रज जन।
नहीं कोई ऐश्वर्य है इन में ऐसा हठ मानें मन॥

व्रजवासियों के भाव से व्रजवासियों की भाँति ही जो उनको भजते हैं, केवल वही व्रज में व्रजेन्द्र नन्दन की सेवा पाते हैं।

श्रीकृष्ण परमेश्वर सर्वाराध्य परात्पर-परम-पुरुष होकर भी अपनी अविचिन्त्य विरोध भञ्जिका शक्ति के बल से वे युगपत सर्वाराध्य और गोपालों में लीला स्वीकार कर सकते हैं। सुतरां उन गोपेन्द्र-नन्दन की प्रेमिकायें भी गोपियों के सिवा और कोई नहीं। श्रुतिगण ने जब गोपियों के अनुगत हो "व्रजेश्वरी पुत्र" का भजन किया था, तभी वह सब नन्दसुत का दर्शन पा सकी थीं।

पाठक, सावधान हों! यह गोपीरागानुग-भाव जुबानी बातें नहीं हैं, कवि की कल्पना नहीं है, उपन्यास की प्रहेलिका नहीं है। काम क्रोधासक्त जीव,—तरह-तरह के अनर्थों से भरा जीव—काञ्चन-कामिनी की प्रतिष्ठा में विभ्रान्त जीव—रूप-रसादि के विषय में डूबा हुआ द्वितीय अभिनिवेश में मत्त जीव जिसे याद कर नहीं सकता, उसके मन ही मन कल्पना करने से क्या होता है, उसे सुनें—

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथाऽरुद्रोऽब्धिजं विषम् ।

जैसे रुद्र ने कालकूट का पानकर (नीलकण्ठ) नाम धारण किया, किन्तु जो रुद्र नहीं, वह यदि मूर्खतावश कालकूट पीने को उद्यत हों, उसकी क्या दशा होगी, यह कहा नहीं जा सकता, वैसे ही वह भी अकाल ही विनष्ट होते हैं, जो श्रीभगवान की रसादि क्रिया के अप्राकृत भाव समूह को अनर्थयुक्त अवस्था के साथ मन में उसका अनुसरण करने को अग्रसर होते हैं ।

जगत् किसके भोग्य है ?

फूल और फल से भरी यह वसुन्धरा, यह रमणीय प्रकृति, सागर, कानन, मनुष्य-जगत की सभ्यता का फलस्वरूप अनेक विलास सम्भार—यह सब किसके भोग्य है ? भोगी लोग कहेंगे, कि यह सब हमारे लिये है । धनवान कहेंगे, कि हमारे वास्ते है ; हमारे धन की सहायता से जगत् में कुछ सुन्दरता, सभ्यता या जो कुछ आविष्कृत वस्तु है, उन सबका उपभोग हमी लोग करेंगे । त्यागी लोग कहते हैं—कि हम लोग इस विलास को चाहते ही नहीं, यह सब तो माया है । किन्तु अनादिकाल से यह जो झगड़ा चला आ रहा है, उसे कौन निपटाये ? परम हितकारिणी श्रुति माता ने यह झगड़ा मिटा दिया है, किन्तु हम लोग उनके मंगल-उपदेश की उपेक्षा कर रहे हैं । उनका कहना है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥
(ईशोपनिषत् प्रथम मन्त्र)

इस जगत् में जो कुछ 'जगत्' अर्थात् नश्वर वस्तु है, सब में ही हर तरह से परमेश्वर की ही सत्ता और चैतन्य-परिव्याप्त है । अतएव युक्त-वैराग्य के साथ भगवान् का उच्छिष्ट ग्रहण करो । भगवान् के धन पर लोभ न करो ।

किन्तु हम लोग कैसे अवाध्य लड़के हैं ! कैसे कुलाङ्गार हैं ! माता की आज्ञा पर ही सब तरह की लापरवाही दिखा रहे हैं । हममें से कोई भगवान् की भोग्य-वस्तु पर हाथ पसार रहे हैं, भगवान् ने हमारे पास जो अमानत सम्पत्ति रखी है, उसे असद्व्यवहार में ला रहे हैं; हममें से कितने ही भगवान् की उच्छिष्ट वस्तु को नश्वर समझ उसे परित्याग कर रहे हैं । श्रीभगवान् ने अपने मुख से ही कहा है,—"मद्भक्तपूजाभ्यधिका" अर्थात् "मेरे भक्तों की पूजा मुझसे बड़ी है ।" उन्होंने ब्रह्मा से और भी कहा है,—"भक्तस्य रसनाग्रेण रसमश्नामि पद्मज" । अर्थात्— हे पद्मयोनि ब्रह्मन ! मैं भक्तों की रसना से रस ग्रहण करता हूँ ।" सुतरां यह सभी वस्तु भगवान् की और भगवान् के सेवक की है । भगवान् के सेवक उनकी सेवा के लिये जगत् की सब वस्तुओं को ग्रहण करते हैं और उसे भगवान् की सेवा में लगाते हैं । किन्तु हम मूढ़ हैं, अन्धे हैं;—"कामुकाः पश्यन्ति कामिनीमयं जगत्"—कामी लोग जगत् को कामिनीमय ही देखते हैं; कमल रोग का रोगी सब चीज़ों को पीली ही देखता है;—वैसे ही हम भी भक्तों के आचार को अपने आचार के समान समझते हैं । किन्तु यह बात तो है नहीं, यह हमारे दर्शन में भूल है ।

गीता की वाणी है, कि जगत् में जो कुछ श्रेष्ठ वस्तु है, वह सभी भगवान् के अंश से सम्भूत है । सुतरां यदि उन सब वस्तुओं का व्यवहार भक्त लोग करें, तभी उनका यथार्थ सद्व्यवहार होगा, उससे ही भगवान की सेवा होगी । जगत् में जितने बड़े बड़े महल हैं, वह सब यदि भगवत्-मन्दिर हो जायें, तभी उन सब स्थानों से भोग का पैशाचिक नृत्य दूर होगा । जगत् जितनी सुन्दर ज्योति है, उसके भगवान् के श्रीविग्रह के दर्शन और भक्तों की सेवा में नियुक्त होने से ही वेश्याओं के मुख दर्शनरूपी नरक गमन के काम से निवारित होगा—मलय-पवन और बिजली का पंखा यदि भगवान् और भगवान् की सेवा करनेवाले भक्तों की सेवा में नियुक्त हो, तभी वेश्यालय और थियेटरों में भोगियों के नरक जाने की राह बन्द होगी । यदि पुष्पक-

रथ, एरोप्लेन, मोटरकार, रेलगाड़ी आदि भोगियों की सेवा न कर भगवान की सेवा में रत भक्तों की सेवा करें, तभी सभ्यता की सार्थकता होगी और अनित्य जगत् में नित्य फल का प्रपञ्च होगा। बिजली के पंखे, मोटरकार, सुन्दर-सुन्दर अट्टालिकाओं के निवास को भक्त लोग अपने भोग की वस्तु न समझकर उसमें ही भगवत्-सेवा किया करते हैं। मूढ़ मनुष्यों का बाहरी चिन्ताओं से भरे हुए माथे में यह आ ही नहीं सकता, कि भक्त सेवित होकर भी किस प्रकार सेवा करते हैं। गोपियाँ, मार्जित, विचित्र अलङ्कार-भूषित, भाँति भाँति के वस्त्रों से सुसज्जित, अनेक भाव से सेवित हो भगवान की ही सेवा करती हैं। सुनो, भक्तचूडामणि क्या कह रहे हैं, —

गोपी के निज देह में जो देखो प्रणय।
वह सभी है कृष्ण जन्य जानो ये निश्चय॥
यह शरीर किया मैंने कृष्ण के अर्पण।
उन्हीं का है धन और सम्भोग का कारण॥
इस देह के पास होता कृष्ण-सन्तोषण।
कृष्ण-जन्य करें अङ्ग का मार्जन-भूषण॥

सावधान! शरीर को आराम-देनेवाले, यदि तुम इसका अनुकरण करोगे, तो नरक में जाओगे। क्योंकि तुम कृष्ण की सेवा नहीं जानते। किन्तु जो कृष्ण की सेवा जानते हैं, वही दूसरों से भी कृष्ण की सेवा कराना जानते हैं। जगत् में जो कुछ श्रेष्ठ, सुन्दर और मनोरम है यदि वह सेवक की सेवा में लगे तभी उसका श्रेष्ठत्व, सुन्दरत्व और मनोरमत्व है; नहीं तो वह मल-मूत्र की तरह त्याज्य है। उसमें नरक के पूतिगन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

जिनकी बहिर्मुख दृष्टि प्रबल है [illegible] विचार प्रबल है, वे लोग भोग के बदले असार त्याग को ही अधिक समझते हैं; यह बहिर्मुखता और प्राकृत-अभिनिवेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सेवक भगवान् की सेवा के लिये रथ पर चढ़ सकते हैं,—विश्व-ब्रह्माण्ड के मनुष्य उसी रथ को रस्सि छू लेने से ही कृतार्थ होते हैं। सेवक भगवान् की सेवा के लिये जगत के समस्त ऐश्वर्य को स्वीकार कर सकते हैं। जगत में तो श्रीनारायण के अनन्त ऐश्वर्य का कुछ विकृत प्रतिफलनमात्र दिखाई देता है। विष्णु और वैष्णवों का ही जगत् है। वे ही जगत के एकमात्र अद्वितीय भोक्ता हैं। इसी से श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक में श्रीव्यासदेव भक्तों-सहित उन स्वराट् पुरुष का ध्यान करते हैं।

५

सूर्य स्वयं—प्रकाश वस्तु है, और किसी रोशनी के सहारे सूर्य को देखना नहीं पड़ता। सूर्य की रोशनी से ही सूर्य का दर्शन होता है। भागवत भी सूर्य के ही समान हैं। वे भी स्व प्रकाश वस्तु हैं। यदि वे कृपा कर किसी भाग्यवान जीव को अपना स्वरूप दिखाते हैं, तभी वह जीव उन्हें देख सकता है। श्रीमद्भागवत में (१।३।४२ श्लोक में) कहा है—

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह।
कलौ नष्टदृशामेषपुराणार्कोऽधुनोदितः॥

अर्थात् - घोर अन्धकार की वजह से रात को मनुष्यों की आँख से कुछ भी दिखाई नहीं देता, फिर प्रातः सूर्य उदित होकर उन आँखों की दर्शन शक्ति के बाधक अन्धकार को दूर कर देते हैं; केवल दूर ही नहीं करते, जगत की समस्त वस्तु को उसके आगे प्रकाशित कर देते हैं; वैसे ही श्रीमद्भागवत ने इस प्रपञ्च में उदित हो कलिहत अज्ञान के अन्धकार में ढँके जीवों की ज्ञानदृष्टि के अज्ञान आवरण को दूर कर दिया; केवल दूर ही नहीं किया, वरन् उनके सामने तीनों युग में दुर्लभ कृष्णभक्ति, कृष्णज्ञान और कृष्णप्रेम को प्रकाश कर कलि के जीव को कृतकृतार्थ किया है। भागवत दो हैं- (चै० च० आदि १। ११। १००;

एक भागवत वह है जो बड़ा भागवत शास्त्र।
और भागवत भक्त हैं—भक्ति-रसामृत पात्र॥
दो भागवत द्वारा सदा देकर भक्ति-रस।
करते उसके हृदय को वशी प्रेम के वश॥

श्रीगौराङ्गसुन्दर और श्रीनित्यानन्द प्रभु ने जीव के

हृदय-अन्धकार को दूर कर इन दो भागवत-सङ्ग का साक्षात् कराया और उनके द्वारा जीव के हृदय के नित्य सम्बन्ध ज्ञान को प्रकाश कर वे जीव-प्रेम के वशीभूत हुए।

प्रकृति के सूर्य्य और चन्द्र बाहरी अन्धकार का विनाश करते और जगत् की वस्तुओं पर प्रकाश डालते हैं, किन्तु श्रीगौरनित्यानन्द के अचिन्त्य भेदाभेद प्रकाश-स्वरूप भागवत ग्रन्थ और भागवत-भक्त ने संसार में उदित हो जीव की चित्तरूपी गुफा में कोटि-कोटि जन्म के सञ्चित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की इच्छारूपी अन्धकार का नाशकर वस्तुतत्त्व का प्रकाश किया है।

भागवत नित्य, पूर्ण, शुद्ध, मुक्त और चैतन्य-रस-विग्रह वस्तु हैं खण्डकाल में इनका जन्म या भंग नहीं। वे लोग जीव के कल्याण के लिये युग-युग में इस संसार में प्रकट होकर भी संसारी मायाधर्म के वशीभूत नहीं होते। जो लोग भागवत-ग्रन्थ को छापाखाने की छपी पुस्तक या किसी समय में की गई रचना समझते हैं, वे लोग जैसे अधोक्षज भागवत के मर्म को समझ नहीं सकते, वैसे ही जो भगवत् भक्त को भी किसी माता-पिता के औरस से या किसी कुल में उत्पन्न हुए मनुष्य समझते हैं,—वे भी दुष्कृतिसम्पन्न हैं। श्रीश्रीरूपपाद कहते हैं—"न प्राकृतत्व मिह भक्तजनस्य पश्येत्।" श्रीमद्भागवत का कहना है—

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्तः आत्माहमेव च॥

भक्त भागवतगण बाहरी संसार में उदित सूर्य की तरह भागवत्-दर्शन के निमित्त-स्वरूप ज्ञानदृष्टि प्रदान किया करते हैं, अतएव भक्तिमार्ग में विचरण करनेवालों के लिये साधुगण ही देवता, बान्धव, आत्मस्वरूप परम प्रिय पदार्थ और भगवान से अभिन्न हैं। भागवत-ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय निर्मत्सर, निष्कपट साधुओं का परम धर्म है, यह श्रीमद्भागवत के द्वितीय श्लोक में प्रकट किया गया है। वैसे जो भक्त भागवत हैं, उनकी पहचान यह है कि वे कभी भगवत्-सेवा-रहित इच्छा, कर्म, ज्ञान, योग, तप आदि छल से भरे मनोधर्म का प्रचार नहीं करते, बल्कि सदा द्वेष-रहित साधुजन-प्रिय शुद्ध भक्ति का प्रचार किया करते हैं। जो लोग भागवत-धर्म के नाम पर कनक, कामिनी और जड़-प्रतिष्ठा के संग्रह में तत्पर हैं, वे जड़ दर्शन में यशोदा के समान होकर भी वास्तव में पूतना के समान हैं। जैसे सूर्य स्वयं अपने को प्रकाशित करते हुए जगत् की समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करते हैं, वैसे ही भक्त भागवत-सूर्य स्वयं सदा कृष्ण-सेवा में नियुक्त रह जीवों के सम्बन्ध-ज्ञान को प्रकट करते हैं। भक्त-भागवत् नित्य-सम्बन्ध-ज्ञान के प्रचारक हैं। जैसे उलूक पक्षी सूर्य-किरण को सह न सकने की वजह से अन्धकार से पूर्ण बिल आदि में छिपे रहते हैं, वैसे ही जब भागवत्-सूर्य जगत् में सत्य की किरणें प्रकाश करते हैं, तब उसके प्रभाव को न सह सकने के कारण पापरूपी अन्धकार में छिप जाते हैं।

अभिमान

(१)



जिस वृत्ति का उदय होने से मनुष्य अपने को पहचानने में समर्थ होता है, उसका नाम 'अभिमान' है। अभिमान दो प्रकार के हैं—चित् और जड़ात्मक। जिस प्रकार के अभिमान के उदय से चित्कण जीव समूह अपने शुद्ध तात्त्विक चित्-स्वरूप का परिचय पाने में समर्थ होते हैं, उसे 'चिद्भिमान' कहते हैं। एकमात्र भगवत्-सेवा-परायण चिद्भिमान-मूलक स्वरूप-ज्ञान के बदले जब जीव अपने को भोगमोक्ष पर स्वतन्त्र पदार्थ समझता है, उस समय जिस प्रकार के अभिमान की उत्तेजना से वह इस प्रकार के सिद्धान्त पर पहुँचता है, उस अभिमान को जड़ाभिमान कहते हैं। अज्ञानाच्छन्न अवस्था में जीवगण माया नाम की एक अपरा प्रकृति की वश्यता स्वीकार करते हैं और उसके फल से वे लोग मायिक अहङ्कार-तत्त्व से उत्पन्न जड़ाभिमान द्वारा अपने को अनित्य जड़ पदार्थ के साथ सम्बन्धित चिदितर तत्त्व का निर्द्धारण

करने में बाध्य होते हैं। जब तक माया से अन्धे मनुष्य किसी निष्किञ्चन महाभागवत के शरणापन्न न होंगे, तब तक वे भगवान् की पराप्रकृति के अन्तर्भूत विमल चिदभिमान की उज्ज्वल ज्योति को पाकर भी उसकी सहायता से अपनी भगवत्-दासता के नित्य चित्कणस्वरूप का परिचय पाने में समर्थ न होंगे।

जड़ाभिमानवश मनुष्य अपने को ब्राह्मण या शूद्र, मोटा या दुबला, पण्डित या मूर्ख, बालक या वृद्ध, नर या नारी, हिन्दू या म्लेच्छ, स्वदेशी या विदेशी, राजा या प्रजा, तन्दुरुस्त या रोगी, धनी या दरिद्र, दुर्बल या सबल, कर्त्ता या भोक्ता, योगी या भोगी, तापस या त्यागी, कर्मी या ज्ञानी, नैतिक या सकाम भक्त इत्यादि अनेक प्रकार से अनित्यभावापन्न समझते हैं। वास्तव में यह सब अनात्म-भाव जीव की भगवत्-दासता के तात्त्विक-स्वरूप में अवस्थित नहीं है। विभुचित् पदार्थ भगवान श्रीकृष्ण की नित्यकाल-व्यापिनी अहैतुकी सेवा की प्रवृत्ति ही केवलमात्र चित्कण जीव के शुद्ध स्वभाव में वर्त्तमान है और वह चिदभिमान के उदय हुए बिना समझ में नहीं आती। इसीलिये षडैश्वर्य-पूर्ण श्रीकृष्ण ने अधर्म भाव से भरे कलियुग में जगद्-गुरु श्रीमद्गौरसुन्दर के रूप में संसार में उत्पन्न हो लोगों की शिक्षा के लिये कहा है—

"नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो,
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्द - पूर्णामृताब्धे-
गोपीभर्त्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥"

"मेरा हाथ", "मेरी आँख", "मेरा मन", "मेरी बुद्धि"—इस प्रकार के बहुतेरे प्रयोग साधारण मनुष्यों में सदा ही दिखाई देते हैं। इससे जान पड़ता है, कि "मैं" के नाम से जो पदार्थ है, वह निश्चय ही स्थूलदेह और सूक्ष्म मनो-बुद्धि के अतिरिक्त तत्त्व है; किन्तु यह अतिरिक्त पदार्थ कैसा तत्त्व है और उसका स्वभाव ही क्या है, इससे यह अज्ञ-समाज विशेषरूप से परिचित नहीं। भोग या मोक्षसुख की आशा से सदा चञ्चल-चित्त नासमझ मनुष्य, प्राकृत अभिज्ञान का अवलम्बन कर अनुमान-शक्ति के बलसे "मैं"-पनका स्वरूप निर्द्धारण करने में प्रवृत्त होते और उनमें (१) कोई कुछ भी स्थिर न कर सकने की वजह इस नास्तिकोचित सिद्धान्त पर पहुँचते हैं, कि देह की उत्पत्ति से "मैं"-पनका एक दुर्लक्ष्य तत्त्व आप ही उत्पन्न होता और देह के ध्वंस से उसका भी विनाश हो जाता है; (२) कोई इतना ही समझने पर बाध्य हुए हैं, कि स्थूल देह के ध्वंस से मन-बुद्धि आदि सूक्ष्म शरीर-विशिष्ट अपने कर्म के फल-भोगी जीवात्मा का विनाश सिद्ध न होने का स्थिर होना और मृत्यु के बाद उसे पुण्य या पाप का फल भोगने के लिये स्वर्ग या नरक में जाना पड़ता है और (३) कोई कोई नेति नेतिरूप व्यतिरेकमुखी चिन्तन-प्रणाली के क्रम से "मैं" तत्त्व को स्थूल-सूक्ष्म-देहातीत निराकार और निष्क्रिय ब्रह्मरूपता का स्थिर करने और सोऽहं-वादरूपी अपसिद्धान्त का प्रचार करने में बाध्य होते हैं। शास्त्र का कहना है -

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(—श्रीगीतोपनिषत्)

"भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्॥
यया सम्मोहितो जीवः आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥
अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे।

(—श्रीमद्भागवत)

इन दो प्रमाणों से जान पड़ता है, कि स्थूलसूक्ष्म शरीरद्वय भगवान की जड़ा (अपरा) प्रकृति की परिणति और त्रिगुणात्मक (उत्पत्ति-स्थिति-लयधर्मयुक्त) है, जीव-गण चित् (परा) प्रकृति की परिणति और नित्यचिद्गुण-विशिष्ट हैं। और भी समझ में आता है, कि स्वजातीयता और अणुत्व की वजह चित्कण जीव का एकमात्र कर्त्तव्य — विभुचित् पदार्थ भगवान् के नित्यकाल अहैतुक भाव की सेवा करना और उसके अभाव से उनकी मायाद्वारा विमोहित होना, जड़ पदार्थ में आत्म-बोध करना और माया के कार्य को अपना कार्य समझने को बाध्य होना पड़ता है। सुतरां जो लोग अपने चित्कण स्वरूप और उसमें अवस्थित अहैतुक भगवत्-दासता को समझने में

असमर्थ हैं, वे दिन के समय सूर्य को देखने में अक्षम उल्लू की तरह निशाचर और जड़ाभिमानी हैं; यह युक्ति-पूर्ण और शास्त्र-सम्मत है।

मन नामक अन्तरिन्द्रिय सङ्कल्प-विकल्पात्मक है। वह इच्छा, द्वेष, भय, क्रोध, सुख, दुःख इत्यादि तरह तरह के आकार में परिणत होने के योग्य है और अपने अभिप्राय के अनुसार यह बाह्यज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों को काम में नियुक्त करते हैं। मनुष्य के हृदय में इस मन के अतिरिक्त बुद्धि और अहंकार नामक और भी दो सूक्ष्म जड़तत्त्व रहते हैं। बुद्धि के द्वारा हेय और उपादेय रूपी विचार का काम चलता और यह मन के ऊपर आधिपत्य करता है अर्थात् जिसे हेय रूप समझता, उस काम के करने में मन को नियुक्त होने नहीं देता। मन, बुद्धि और अन्यान्य वाह्येन्द्रियाँ जड़ वस्तु और कार्य साधन के लिये यंत्र विशेष मात्र हैं। तलवार से किसी वस्तु के काटने से जड़ता की वजह जैसे तलवार को कोई काटने के काम का कर्त्ता नहीं मानता, वैसे ही जड़ मन बुद्धि आदि को भी कर्त्ता कहना उचित नहीं। अतएव इनके अतिरिक्त और किसी चेतनसत्ता को कर्त्ता मानने का प्रयोजन दिखाई देता है। मन-बुद्धि आदि के अतिरिक्त जो चित्कण जीवतत्त्व है, उसका स्वभाव नित्यकाल अहैतुक भाव से भगवत् सेवा में नियुक्त रहना ही है। सुतराम् हेतुगर्भ भोग-मोक्षपर अपने सुख के तात्पर्य से जेर काम के कर्तृत्वभार को उस पर रखना सम्भव होता नहीं। क्योंकि जीव की तात्त्विक सत्ता के कन्धे पर हेतुमूलक जड़कार्य का कर्तृत्व लादा जा नहीं सकता और यन्त्रों के लिये भी एक निमित्त-कारण अर्थात् कर्त्ता का अवस्थान अपरिहार्य है; इससे जगत् की सृष्टि के समय भगवत्-सेवा-विमुख जीवों को मुग्ध करने के लिये मायाशक्ति से अहंकार नामक चिदाभासयुक्त एक और ही अभिनव सूक्ष्म से सूक्ष्म जड़यन्त्र उत्पन्न हुआ था। अन्यान्य जड़यन्त्रों के द्वारा किये गये कर्म के साथ ही साथ "मैं - मैं" आदि कर्तृसत्ता-बोधक धारणा का प्रकट करना ही इस अहंकार-तत्त्व का एक मात्र काम है। अहङ्कार-यन्त्र से उत्पन्न जो "मैं" की धारणा है, वह गूलर के फूल की तरह शून्य विकल्प ज्ञान का परिचायक है। अतएव जो इस सत्ताहीन "मैं" पन की धारणा को जीवतत्त्व समझते हैं, वे नितान्त भ्रान्त और पूरे जड़ाभिमानी हैं।

सुवर्ण एक पदार्थ है और यह अपने स्वभाव को नष्ट हो जाने के पहले तक कभी परित्याग नहीं करता। अहङ्कार से उत्पन्न "मैं" की धारणा यदि किसी प्रकार की सत्ता का परिचायक होती, तो वह नित्य ही एक ही भाव से रहती। क्यों कि वर्तमान में सुखी और भविष्यत् में दुःखी, आज मोटे और कल दुबले, बचपन में मूर्ख और बड़े होने पर पण्डित, इत्यादि प्रकार की विभिन्न धारणा में उस "मैं" शब्द के साथ खिल उठती दिखाई देती है। इस लिये उसके मूल में स्थायी रूप की किसी प्रकार की सत्ता का होना कभी स्वीकार किया नहीं जा सकता। वह केवल वाग्विलास और गन्धर्वनगर की तरह असत्-पदार्थका बोधक है। सुतराम् भोग में आसक्त नास्तिक और स्वर्गकामी कर्मी लोग जिसे सुखी करने के लिये हर तरह से उद्यमशील हैं, वह अलीक पदार्थ है और अलीक पदार्थ में आत्माभिमान करने वाले जड़ाभिमानी हैं; इसे कौन न स्वीकार करेगा? जिनके सौभाग्य का उदय हुआ है, वे जानते हैं, कि अहङ्कार जड़ पदार्थ है, उसमें चेतनधर्म हो ही नहीं सकता और उसके काम के लिये किसी चेतनसाक्षी का होना आवश्यक है। साक्षी वस्तु निरपेक्ष है और वे ही उस निरपेक्ष के साक्षी हैं। जो लोग अपने को जड़ कार्य का साक्षी समझते हैं, उन्हें उस कार्य की हेयता और अनित्यता भी दिखाई देती है। जो लोग प्राकृत विषय की अनित्यता और हेयता को देखने में समर्थ होते हैं, वे कदापि उसमें आसक्त हो नहीं सकते और यह भी समझ जाते हैं, कि कौन कार्य नित्यकाल स्थायी है। जो नित्य-कालव्यापी कार्य का पता पा जाते हैं, वे समझ जाते हैं, कि भगवान् नित्य-सत्य-वस्तु हैं, जीव भी उनके आश्रित सत्य-वस्तु है और भगवत्सेवा रूपी कार्य ही नित्य जीवों के साधन के योग्य है। वे और भी समझते हैं, कि भगवत्-सेवा में जो आनन्द प्राप्त होता है, उसका एक कण मात्र भी भोग या मोक्ष के द्वारा नहीं मिलता। जो ऐसे सेवानन्द के आस्वाद के लेने में समर्थ हैं, वे ही चिदभिमानी हैं; और कोई नहीं।

ब्रह्म-पदार्थ को शास्त्र में चिज्ज्योति कहा गया है। वह पूर्ण चित्तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण के अङ्ग की कान्ति है, श्री चैतन्यचरितामृत में कहा है—

"यदद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि तदप्यस्य तनुभा।"

हम लोग जब किसी फूल के रङ्ग की शोभा को देखते

हैं, उस समय खिली या अवखिली कली को भी देखना ही पड़ता है। सुतराम् जिन लोगों ने भगवान् की श्रीमूर्ति को कभी नहीं देखा और उसके अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करना चाहते, वे उनके अङ्ग की ज्योतिरूपी प्रकृत ब्रह्मतत्त्व का भी अनुभव करने में असमर्थ हैं। अतएव सोऽहं-वादियों द्वारा स्वीकृत ज्ञातृ ज्ञान ज्ञेय भावशून्य ब्रह्म पदार्थ के उपनिषदोक्त ब्रह्म समझा जा नहीं सकता। ज्ञानशक्ति का जरा भी स्फुरण न होने की वजह उनका ब्रह्म-पदार्थ गुणसाम्यावस्थाप्राप्त अव्यक्त प्रकृति अर्थात् जड़ सूक्ष्म तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं। "द्रष्टारमरेकेन विजानीयात्"—'तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वां", "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः", "दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्" इत्यादि प्रकार की उपनिषत् की उक्तियों से जान पड़ता है, कि ब्रह्म ही एकमात्र विज्ञाता, द्रष्टव्य पदार्थ हैं, वे जड़चक्षु से देखे नहीं जा सकते; वे जिसे दिव्यदृष्टि प्रदान करते हैं, वही मनुष्य उन्हें देखने में समर्थ होता है। ज्ञान-रहित अवस्था को ब्रह्म का लक्षण स्थिर करने से सोऽहं-वादिगण भगवत्तत्त्व या ब्रह्म ज्योति के दर्शन के अयोग्य हैं। अतएव वे भी नास्तिक और कर्मियों के समान ही जड़ाभिमानी हैं।

श्रीमती क 

(गत संख्या से आगे)

मधुरादि रसके अधिकारी का निर्णय

जिन्हें बहिर्जगत् की बातों में समय नष्ट करने का अवसर नहीं है, वही इन सब बातों के मर्म को समझ सकते हैं। श्रीरूपपाद ने यह दिखाने के लिए ही विषय-त्याग का अभिनय करके सूखी रोटी और चने चाब कर, एक-एक वृक्ष के तले एक-एक रात बिताकर, "कृष्णप्रीति के लिए भोगत्याग" का आदर्श दिखाकर ये सब बातें समझने का अधिकार और योग्यता प्रदान की है। हम जिस स्थान और जिस भूमिका में अवस्थान करते हैं, उसमें कृष्ण-प्रणय की मूर्ति श्रीराधा के तत्त्व की बात हमारी स्थूल जड़ेन्द्रियों के गोचर नहीं हो सकती। वृषभानुनन्दिनी, आश्रय जातीय कृष्ण-वस्तु हैं। जिस राज्य में स्थूलजगत्, सूक्ष्म जगत् या निर्विशेष चिन्मात्र की अनुभूति नहीं है, जिस अप्राकृत धाम में चिद्विलास चमत्कारिता परिपूर्णरूप में वर्त्तमान है, उसमें श्रीराधिका सर्वश्रेष्ठ स्थान पर अधिकार किए वर्त्तमान हैं। वह कृष्ण की सेवा करने के लिए कृष्ण की ताड़ना भर्त्सना तक करती हैं। ये सब बात साधारण मानव युक्ति के उन्नत स्तर में अधिरोहण करने की बातें नहीं हैं, निर्विशेष वादी की चिन्मात्र-तक बातें नहीं हैं। बल्कि जिनके हृदय में कृष्ण की सेवा के लिए उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई है, वे ही केवल आत्मवृत्ति में इन सब बातों के मर्म की उपलब्धि कर सकते हैं।

श्रीमती वृषभानुजा का तत्त्व और महिमा

श्रीमती राधिका—स्वयंरूप श्रीकामदेव की स्वयंरूपा कामिनी हैं। स्वयं श्रीरूप गोस्वामी जिनके अनुगत हैं, वही श्रीवृषभानुनन्दिनी संपूर्ण अप्राकृत नारीकुल का मूल आकर वस्तु हैं। श्रीकृष्ण जैसे अंशी हैं, श्रीमती भी वैसे ही अंशिनी हैं। श्रीमती वृषभानुजा के स्वरूप वर्णन (चै० चरि० मध्य ८ म पं०) में मिलता है—"कृष्णलीला-मनोवृत्ति सखी आस पास।" सहस्र सहस्र गोपियों की यूथेश्वरियाँ, मूल अष्ट सखियों की सहस्र-सहस्र परिचारिकाएँ वृषभानुनन्दिनी की हर घड़ी सेवा करती हैं। मनोवृत्ति-रूपिणी सखियाँ आठ प्रकार की हैं। यथा अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा कलहान्तरिता, प्रोषितभर्तृका और स्वाधीनभर्तृका।

वृषभानुनन्दिनी विभिन्न सेविकाओं के द्वारा सेव्य के विप्रलंभ को समृद्ध करके चिद्विलास-चमत्कारिता उत्पन्न करती हैं। वृषभानुनन्दिनी के आठों ओर आठ सखियाँ हैं—वृषभानुजा एक साथ आठों सखियों के आठों भावों से परिपूर्ण हैं। कृष्ण जिस भाव के भावुक, जिस रस के रसिक, जिस रति का विषय होते हैं, अर्थात् कृष्ण जब जो

चाहते हैं, श्रीराधाजी उन्हीं सब भावों के परिपूर्ण उपकरण रूप से कृष्णेच्छापूर्तिमयी होकर अनन्त काल श्रीकृष्ण की अन्तरंग-सेवा के रस में निमग्न रहती हैं।

श्रीकृष्ण का तत्त्व और गुण-समूह

श्रीकृष्ण में ६४ गुण परिपूर्ण रूप और शुद्ध विन्मय भाव से सर्वदा देदीप्यमान हैं। श्रीनारायण में ६० गुण वर्त्तमान रहने पर भी श्रीकृष्ण में वे और भी अति अद्भुत रूप से विराजमान हैं। फिर, श्रीकृष्ण जिन अपूर्व ४ गुणों के नायक हैं, वे श्रीनारायण में भी नहीं प्रकाशित हैं। श्रीकृष्ण सर्वलोक-चमत्कारिणी लीला कल्लोल के सागर हैं। वह असमोर्द्ध रूप शोभाविशिष्ट हैं; वह त्रिजगत् के चित्त को आकृष्ट करनेवाली मुरली को बजाने वाले हैं; वह शृंगार-रस के अतुल प्रेम द्वारा शोभा विशिष्ट प्रेष्ठमण्डल के साथ विराजमान हैं, अर्थात् वह क्रीड़ा (लीला)-माधुरी, श्रीविग्रह (रूप)-माधुरी, वेणुमाधुरी और सेवक-माधुरी—इन चार असाधारण गुणों के साथ नित्यधाम में विराजमान हैं। ये चार गुण श्रीकृष्ण के सिवा नारायण तक में नहीं हैं।

चिज्जगत् और अचिज्जगत् के परस्पर भेद और धर्म का विचार

यह जड़-जगत् चिद्धाम का ही विकृत प्रतिफलन है। चिद्धाम में एक ही सेव्य और सभी उनके सेवक हैं; अचिज्जगत् में सेव्य और सेवक की संख्या बहुत है। चिद्धाम में एक मात्र सेव्य वस्तु का सुख-तात्पर्य ही सेवकगण का नित्य चिन्मय स्वार्थ है। उस चिद्धाम के विकृत प्रतिफलन से ही इस अचित् जगत् में बहुत से सेव्य और बहुत से सेवक थे, हैं और होंगे। इस जड़ जगत में सेवक और सेव्य का स्वार्थ परस्पर भिन्न है। यहाँ सेवक अपने सुख में विघ्न होने से ही सेव्य की सेवा को परित्याग कर देते हैं अर्थात् एक वाक्य में,—यहाँ सेव्य और सेवक में निःस्वार्थपरता नहीं है और यहाँ सभी एक तात्पर्य के अभाव या व्यभिचार के दोष से दूषित हैं। अपने अनित्य स्वार्थ के लिये पत्नी पति की सेवा करती है; और पति अपने भोग या इन्द्रिय-तर्पण के लिये पत्नी से प्रेम करता है अर्थात् पति और पत्नी का स्वार्थ एक ही नहीं है। यहाँ कितनी ही बड़ी सती स्त्री या कितने ही नीतिपरायण स्वामी क्यों न हुए हों, देहधर्म और मनोधर्म में उनके आबद्ध रहने की वजह उनकी चेष्टायें—हैतुकी, अनैकान्तिकी और अव्यवसायात्मिका है। आत्मधर्म में एकमात्र कृष्ण सेवा के सिवा और कहीं भी अव्यभिचारिणी सेवा नहीं है। इस जड़-संसार में पुत्र के प्रति पिता-माता का जो स्नेह है, माता-पिता के प्रति पुत्र की जो श्रद्धा दिखाई देती है, उसमें भी स्थूल या सूक्ष्म इन्द्रिय-तर्पण की लालसा या व्यभिचार है। देह और मन के राज्य में परस्पर भोक्तृ भोग्य का सम्बन्ध है, सुतरां शुद्ध सेव्य-सेवक का सम्बन्ध नहीं है अथवा हो ही नहीं सकता।

जहाँ अद्वयज्ञान व्रजेन्द्र नन्दन एक ही शक्तिमान पुरुष या विषय तत्त्व हैं—जहाँ और दूसरा पुरुष नहीं, वहाँ व्यभिचार हो ही नहीं सकता। वहाँ एक ही "विषय" है—'एकमेवाद्वितीयम'; शक्ति—अनन्त अर्थात् शक्ति मत्तत्त्व और शक्तितत्त्व के विचार में अद्वयज्ञान विषय या वस्तु का एकत्व, आश्रय या शक्ति का अनन्तत्त्व है। यथा श्वेताश्वतर (६। ८) में कहा है—

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते,
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
स्वभाविकी ज्ञानबल-क्रिया च॥"

शक्ति और शक्तिमत्-तत्त्व के सम्बन्ध में विचार

अद्वयज्ञान शक्तिमत्तत्त्व "एक" होने पर भी शक्ति विविध होने की वजह, शक्ति के विचार में विशेष-विशेष धर्म वर्त्तमान हैं। विशिष्टाद्वैतवादीने शक्ति वैशिष्ट्य का निरूपण किया है अर्थात् विशिष्टाद्वैतवाद में वस्तु का अद्वयत्व और शक्ति का वैशिष्ट्य स्थापित हुआ है। सुतराम् इसमें आश्रयजातीयत्व-रहित केवलाद्वैत-परता का विचार नहीं।

आश्रय विग्रह के आश्रय लाभ का उपाय

इस देवीधाम में भोग्य वस्तुसमूह इन्द्रियज-ज्ञान से नाप लेने लायक हैं। उस इन्द्रियज-ज्ञान की सहायता से अतीन्द्रिय-राज्य की अधीश्वरी श्रीमती वृषभानु-नन्दिनी और उनके परिकरगण को अर्थात् चतुर्विध-रस के रसिक आश्रय तत्त्व-समूह के साथ विषय तत्त्व को कोई झमेले में न बैठें। आलङ्कारिक की परिभाषा में विषय और आश्रय,—दार्शनिक की भाषा में 'शक्तिमान् और शक्ति',—भक्त की भाषा में 'सेव्य और सेवक' कहा जाता है।

हम लोग यदि नित्य आश्रयजातीय विग्रह का आश्रय ले सकें, तभी वास्तव में विषय का पता पा सकेंगे। वृषभानुनन्दिनी के 'सुदुर्लभादपि सुदुर्लभ' चरणों का आश्रय विभिन्नांश जीव के हक़ में कैसा लोभनीय व्यापार है। वह श्रीगौरलीला से पहले ऐसे सुन्दर भाव से प्रकाशित नहीं हुआ। 'राधा-भावद्युति-सुवलित' 'अनर्पितचर-प्रेम-प्रदाता' 'महावदान्य' श्रीगौरसुन्दर ने ही इस गूढ़ से गूढ़ बात को बड़े ही सुन्दर भाव से जगत् के जीवों को समझाया।

गौड़ीय के अतिरिक्त अन्यान्य वैष्णव आचार्यों की श्रीराधा-सेवा के सम्बन्ध में अभिज्ञान

आचार्य निम्बार्कपाद के श्रीवृषभानुनन्दिनी की उपासना की बातें कहने पर भी उसमें उतनी सुन्दरता दिखाई नहीं दी; कारण, उसमें स्वकीयवाद की बातों का उल्लेख होने से वस्तुतः उसमें रुक्मिणी-वल्लभ की उपासना का तात्पर्य ही रखा गया है।

(चै० च० आदि ४ र्थ प० और मध्य ८ म प०)

परकीय भाव से बहुत रस का उल्लास।
व्रज विना इनका नहीं अन्यत्र वास॥
व्रजवधूगण में यही भाव निरवधि।
उनमें है श्रीराधा के भाव की अवधि॥

× × ×

गोपी आनुगत्य विना ऐश्वर्य ज्ञान।
भजन से भी नाहीं मिलें ब्रजेन्द्र - नन्दन॥"

श्रीविष्णुस्वामीपाद के आनुगत्य विचार से लीला-शुक श्रीविल्वमंगल (सूरदास?) के कृष्णकर्णामृत-ग्रन्थ में मधुर-रसाश्रित लीला के विषय का कीर्तन होने पर भी उसमें श्रीमन्महाप्रभु का प्रचारित वृषभानुसुता की माध्याह्निक-लीला की परम चमत्कारिता दिखाई नहीं गई। यहाँ तक, कि श्रीजयदेव के गीतगोविन्द-ग्रन्थ में भी उसका कीर्तन हो नहीं सका।

श्रीजयदेव के 'गीतगोविन्द' ग्रन्थ से हम लोग यह समझ सके हैं, कि श्रीमती वृषभानुनन्दिनी रास-क्रीड़ा के समय 'साधारणी' विचार से अन्यान्य गोपियों के साथ समान रूप से गिनी जाकर अभिमान के साथ रासस्थल को परित्याग किया था। रासस्थल परित्यागकर श्रीमती वृषभानुनन्दिनी कृष्ण द्वारा एकमात्र अपने अनुसन्धान-कार्य के द्वारा, श्रीमती कैसे कृष्णाकर्षिणी हुईं, यही स्पष्ट रूप में प्रमाणित किया गया है

श्रीमती वृषभानुनन्दिनी की मूल आकर पर-शक्तित्व

वृषभानुनन्दिनी की गूढ़ कथा श्रीमद्भागवत् में अस्पष्ट-भाव से इशारों में कही गई है। श्रीमती राधिका की कथा बहुत ही गोपनीय और गुह्य विषय होने की वजह श्रीमद्भागवत् में श्रीशुकदेव ने अर्वाचीन बहिर्मुख पाठकों के आगे इस प्रकार अस्पष्ट भाव से वर्णित किया है।

श्रीवृषभानुनन्दिनी जगन्माता हैं; वह समस्त शक्ति-जातीय वस्तुसमूह की माता हैं; वह विभिन्न शक्ति परिचय से निकले हुए धर्म और संज्ञा समूह की आकर हैं, वह स्वयंरूप परमेश्वर कृष्ण की परमेश्वरी 'पर-शक्ति' हैं। 'शक्तिमद्वस्तु' कहने से वही समझी जाती हैं, शक्ति कहने से भी उन्हीं का ज्ञान होता है। श्रीमतीजी बलदेवादि की भी पूज्या हैं; श्रीअनङ्ग-मञ्जरी भी श्रीमती राधिका की सेवा के लिये सदा व्यस्त हैं। वही श्रीअनङ्गमञ्जरी ही श्रीनित्यानन्द-बलदेव प्रभु की अभिन्न विग्रह ईश्वरी के नाम से विख्यात हैं।

श्रीवृषभानुनन्दिनी के आश्रिताश्रित का आश्रय ही परम-मंगल

जो लोग श्रीवृषभानुनन्दिनी को परम-लोभनीय नहीं समझते, उनके विचार को धिक्कार है। वृषभानुनन्दिनी के आश्रित मनुष्य ही परम धन्य हैं। जिन्होंने उन वृषभानुनन्दिनी के आश्रित मनुष्यों के सुमहान् आश्रय को पाया है, उनका आश्रय ग्रहण कर सकने से ही हम लोगों का परम मङ्गल होगा। अतएव—

"दिव्यद् वृन्दारण्य कल्पद्रुमाधः
श्रीमद्रत्नागार सिंहासनस्थौ।
श्रीश्रीराधा श्रीलगोविन्ददेवौ
प्रेष्ठालीभिः सेव्यमानौ स्मरामि॥"

'अप्राकृत ज्योतिर्मय वृन्दावन में चिन्मय कल्पतरु के नीचे रत्नमंदिर-स्थित सिंहासन पर बैठी और सेवा में लगी श्रीललितादि प्रिय सखियों द्वारा परिवृत श्रीराधागोविंद को मैं स्मरण करता हूँ।"

प्रचार-प्रसंग

नवीन दिल्ली हनुमान रोड के श्रीगौड़ीय मठ में विगत श्रीगौर-जन्म की तिथि को नाम कीर्त्तन-महोत्सव, श्रीचैतन्य-चरितामृतोक्त श्रीगौरसुन्दर के आविर्भाव की लीला का पाठ और व्याख्या, श्रीगौराङ्गसुन्दर के प्राकृत चरित्र और शिक्षा के सम्बन्ध में अभिभाषण, श्रीविग्रह की पूजा, भोग-राग और महाप्रसाद वितरण प्रभृति भक्तयज्ञ अनुष्ठित हुए। त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति-सर्वस्वगिरि महाराज, त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति-विज्ञान आश्रम महाराज, श्रीयुक्त कृष्णचन्द्र वन्द्योपाध्याय और मठ के अन्यान्य भक्तवृन्द सबने ही श्रीगौराङ्ग जन्मोत्सव में विशेष सेवा-सौष्ठव प्रदर्शन किया। रायबहादुर एफ, सी, मलहान, मि० यस, एन, मिल्ल, मि० मनोहरलाल, रायबहादुर सतीशचन्द्र विश्वास (सुपरिण्टेण्डेण्ट फारेन और पोलिटिकल डिपार्टमेण्ट), रायसाहब टी, पी, राय (सुपरिण्टेण्डेण्ट होम डिपार्टमेण्ट), डा० जे, के, सेन, श्रीयुक्त योगेन्द्रनाथ सेन, श्रीयुक्त पङ्कजकुमार सेन, डा० हरिपददास और श्रीयुक्त तारकानाथ चट्टोपाध्याय प्रभृति कितने ही उच्चशिक्षित और सम्भ्रान्त लोग इस उत्सव में योगदान कर श्रीमन्महाप्रभु की जन्म-लीला, चरित्र और शिक्षा की बातें सुन बहुत प्रसन्न हुए।

उसके दूसरे दिन अर्थात् २३ वीं मार्च १९३२ को वहाँ की हरिसभा के सभ्यों द्वारा आहूत हो त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति-सर्वस्व गिरि महाराज ने हरिसभा के वार्षिक अधिवेशन के लिये बने हुए मँडवे में वक्तृता देने के लिये उपस्थित हुए। "गीता-दर्शन और श्रीचैतन्य महाप्रभु का वैष्णव दर्शन" वक्तृता का विषय था। रामकृष्ण मिशन के 'सत्-प्रकाशानन्द' नामक एक संन्यासिवेशधारी व्यक्ति ने भी, वहाँ गीता के सम्बन्ध में वक्तृता देने को बुलाये जाने पर, वक्तृता के बहाने स्वकपोल-कल्पित कुसिद्धांत के स्थापन करने का प्रयास करते हुए फ़रमाया, —"गीता में कर्मयोग का विषय ही कहा गया है; भक्ति और ज्ञान की अपेक्षा कर्म का ही प्राधान्य दिखाया गया है, वेद में भी भक्ति का विशेष उल्लेख नहीं है।" उनकी वक्तृता के बाद श्रीपाद गिरि महाराज ने सभास्थल में खड़े हो सभापति और श्रोतृवृन्द के अनुरोध से निर्दिष्ट विषय पर बँगला भाषा में एक गवेषणामयी वक्तृता दी। श्रीस्वामीजी महाराज ने सबको ही समझा दिया, कि उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वताफल, अर्थवाद और उपपत्ति द्वारा भक्ति ही गीता का एकमात्र उद्दिष्ट विषय है और वेद, रामायण, पुराण और महाभारत के आदि, मध्य और अन्त—सब में भक्ति के विषय का कीर्तन किया गया है। स्वामीजी महाराज की शास्त्रयुक्ति पूर्ण सुगवेषणामयी वक्तृता को सुन उपस्थित श्रोतृमण्डली और सभापति डा० जे० के० सेन महोदय ने विशेष आनन्द प्रकाश करते हुए एक वाक्य से स्वीकार किया, कि गीता में एकमात्र भक्ति का ही सङ्केत है।

दि आनरेबुल सर फ्राङ्क नयेस के, टी, सी, एस, आई, सी, बी, ई; आई, सी, एस (गवर्नर जनरल के एकजिक्यूटिव काउन्सिल के मेम्बर); मि० डब्ल्यू बिलकफ (सेक्रेटरी चीफ कमिश्नर); रायबहादुर लाला जगदीशप्रसाद (मेम्बर काउन्सिल अव-स्टेट); मि० एस, आर, पण्डित (एसेम्बली के मेम्बर); श्रीयुक्त धीरेन्द्र कुमार लाहिड़ी चौधरी, मि० एस, एन, राय सी, आई, ई; आई, सी, एस, (डिपटी सेक्रेटरी अव होम डिपार्टमेण्ट); हिज हाइनेस (राजा अव बागाट स्टेट) प्रभृति उच्च शिक्षित राज कर्मचारी और भद्र महोदयगण ने श्रीमन्महा प्रभु के आचरित और प्रचारित प्रेम-धर्म के विषय के सुनने में विशेष आग्रह प्रकट किया और दिल्ली नगरी में शुद्ध भक्ति के प्रचार के विषय में हर तरह से आनुकूल्य प्रदर्शन किया। हमें आशा है, कि भगवान् श्रीगौराङ्ग सुन्दर की कृपा से इनकी ऐसी ही साधु चेष्टा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जगत् के जीवों का अत्यन्त कल्याण-विधान करेगी।

नैमित्तिक कर्म असंपूर्ण, हेय, मिश्र और अचिरस्थायी

(गत संख्या से आगे)

सर्वशास्त्र शिरोमणि श्रीमद्भागवत शास्त्र में (११।१७।१५ । २१ श्लोक) ऐसा सिद्धान्त है;—

वर्णानामाश्रमाणाञ्च जन्मभूम्यनुसारिणीः ।
आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः ॥
शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्म प्रकृतयस्त्विमाः ॥
तेजो बलं धृतिः शौर्य्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः ।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यमैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥
आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम् ।
अतुष्टिरर्थोपचये वैश्य प्रकृतयस्त्विमाः ॥
शुश्रूषणं द्विजगवां देवानाञ्चाप्यमायया ।
तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्र प्रकृतयस्त्विमाः ॥
अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः ।
कामः क्रोधश्च तर्पश्च स्वभावोऽन्त्यवसायिनाम् ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयमकाम-क्रोध-लोभता ।
भूत-प्रिय-हितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥*

इस विद्वत सभा में शास्त्रवाक्य के कहते ही सभी अर्थ समझ लेते हैं, अतएव मैं श्लोकों का अनुवाद नहीं करता हूँ। मैं केवल इतना ही कहता हूँ, कि वर्ण तथा आश्रम की व्यवस्था ही वैध जीवन का मूल है। जिस देश में जितना ही वर्णाश्रम व्यवस्था का अभाव है, उस देश में उतनी ही अधार्मिकता प्रबल है।

शम, दम, तपस्या, पवित्रता, सन्तोष, क्षमा, सरलता, भगवान् में भक्ति, परदुःख-कातरता, सत्य—यह सब ब्राह्मणों की प्रकृति है।

प्रताप, बल, धैर्य, वीरत्व, सहिष्णुता, उदारता, उद्यम, स्थैर्य तथा ऐश्वर्य—यह सब क्षत्रियों का स्वभाव है।

भगवान् में विश्वास, दाननिष्ठा, ब्राह्मण-सेवा, अर्थोपार्जन में प्रयत्न—यह सब वैश्यों का स्वभाव है।

देव, द्विज तथा गो-आदि में अकपटरूप से सेवा तथा गो-द्विज-देव की शुश्रूष द्वारा उपार्जित धन में सन्तोष रखना—यह सब शूद्रों के स्वभाव हैं।

अपवित्रता मिथ्या, चोरी, परलोक में अविश्वास, अनर्थक कलह, काम, क्रोध, असत् विषयों में लोभ—यह सब आश्रमभ्रष्ट अन्त्यजों की प्रकृति है।

अब विचारणीय यह है, कि कर्म के विचार से जो 'नित्य' और 'नैमित्तिक' दो शब्दों का व्यवहार होता है, वह किस प्रकार? शास्त्र का गूढ़ातिगूढ़ तात्पर्य पर विचार-पूर्वक देखने से कर्म सम्बन्ध में यह दोनों शब्द पारमार्थिक भाव से व्यवहृत नहीं होते। केवल व्यवहारिक अथवा उपचारिक भाव से व्यवहृत होते हैं। 'नित्य धर्म' 'नित्य कर्म', 'नित्य-तत्व', 'नित्य सत्य' प्रभृति शब्द केवल जीव के विशुद्ध चिन्मय अवस्था के अतिरिक्त और किसी में भी व्यवहृत हो नहीं सकते। परन्तु जिस उपाय-विचार से कर्म को लक्ष्य 'नित्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह केवल संसार में नित्यतत्त्व के दूर उद्देशक रूप में उपचारिक भाव से कर्म को नित्य कहा जाता है। कर्म कभी नित्य नहीं है। कर्म-जन कर्म योग द्वारा ज्ञान का अनुसन्धान करता है एवं ज्ञान भक्ति का उद्देश करता है तभी कर्म और ज्ञान उपचारिक भाव से नित्य रूप में अभिहित होता है। ब्राह्मण के सन्ध्या-वन्दना को 'नित्यकर्म' कहने से केवल यही प्रतीत होता है, कि शारीरिक भौतिक क्रिया के बीच भक्ति को जो दूर से उद्देश करनेवाला रास्ता है, वह नित्य साधक होने के कारण नित्य है, किन्तु वह वस्तुतः नित्य नहीं है। इसी का नाम उपचार है।

(क्रमशः)

* वर्ण तथा आश्रम के जन्मस्थनानुसार मनुष्य की नीच और उत्तम प्रकृति उत्पन्न हुई। पैर और जंघा नीच-स्थान है, उससे शूद्र-वर्ण और गृहस्थाश्रम के उत्पन्न होने से शूद्रों और गृहस्थों की नीच प्रकृति हुई।

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्ति॰ काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १३ हनुमान रोड, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चोरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registered No. A. 2191.

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

भागवत

पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

18th June 1932

त्रिविक्रम गौरपक्ष गौराब्द ४४६

ज्येष्ठ पूर्णिमा संवत् १९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-
सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor, —Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

९४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

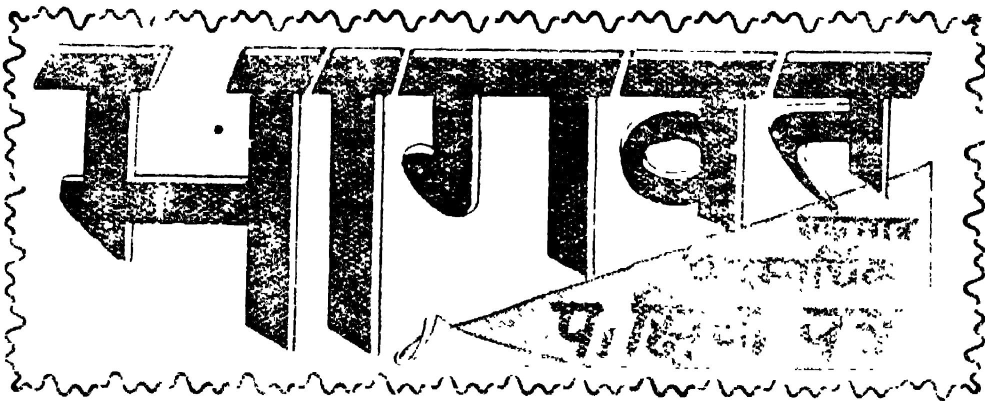
The Manager 'Bhagwat'

946 Suddar Bazar,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष १ ज्येष्ठ-पूर्णिमा गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, १८ जून सन् १९३२ ई० संख्या १६

(१५)

करूँ निवेदन अहो प्रभो, मैं तुम्हरी चरन-सरन में।
पतित अधम मैं बहुत बड़ा हूँ जानें सब त्रिभुवन में॥
मुझ सा पापी नहीं जगत में कहता सत्य विचार।
मुझ सा अपराधी नहिं कोई और मध्य-संसार॥
सब पापों का अपराधी बहुत बड़ा हूँ पापी!
जिसे छोड़ते लज्जा आती तुम सब जानो आपी॥
तुम व्रजेन्द्रनन्दन सर्वेश्वर - ईश्वर तुम्हें सुनाऊँ।
तुम्हें छोड़ हे नाथ, कहो मैं कौन शरण में जाऊँ॥
जगत तुम्हारा है यह स्वामी तुम्हीं सर्वमय आप।
तुम्हरे प्रति अपराध हुआ है तुम्हीं करो क्षय पाप॥
तुम हो तो हो पतित जनों के आश्रय जग के माहीं।
सिवा तुम्हारे नाथ जगत में कोई दयामय नाहीं॥
ऐसे अपराधी हे स्वामी हैं इस जग में जितने।
तुम्हरे शरणागत होयेंगे हैंगे पापी कितने॥
कर जोड़े यह भक्तिविनोद शरण तुम्हरी लेता।
तुम्हरे ही चरणों में स्वामी आत्मसमर्पण होता॥

'भागवत' समझ में क्यों नहीं आता ?

भागवत-पत्र के ग्राहकगणों में कोई कोई कहते हैं, अन्यान्य सामयिक पत्रादि जैसे सरल और सहज में समझने लायक हैं, उनके पढ़ने में जितना आग्रह होता है, वैसा भागवत में नहीं है। भागवत के पढ़नेसे उतना आनन्द नहीं मिलता, इसका क्या कारण है ?

आनन्द के क्षणिक मोह से मुग्ध हम लोग आनन्द के स्वरूप को न पहचान सकने की वजह आनन्द के बिगड़े हुए स्वरूप जड़ानन्द को ही आनन्द समझने की भूल करते हैं। इसलिये इसके जानने और पाने की चेष्टा भी नहीं करते, कि सच्चा आनन्द क्या है। कोई यदि सच्चे आनन्द की बात कहता भी है, तो वह हमारे आगे आश्चर्य, अनहोनी या अद्भुत सी जान पड़ती है। आनन्द की सत्ता में निरानन्द नहीं है; वह नश्वर, क्षणिक या आगे चलके दुःख पहुँचानेवाला नहीं है। इसीसे श्रुति का कहना है,—'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" वही अप्राकृत रस की वस्तु ही आनन्द का स्वरूप है। उसके पाने से ही आनन्द का अधिकारी हुआ जा सकता है। वह आनन्द आजकल हम लोगों के लिए दुष्प्राप्य होने पर भी हम लोग उसी की खोज करते हुए भ्रमवश मठा पीकर दूध का स्वाद पाने की तरह जड़ानन्द को ही सच्चा आनन्द समझते हैं। किन्तु, जब उसका भयानक परिणाम हम लोगों के आगे अपनी मूर्त्ति प्रकट करता है, तब हम लोग उसका त्यागकर और आनन्द के खोजने में प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रकार जगत् की प्रत्येक वस्तु में आनन्द खोजते-खोजते जब हम थक जाते हैं,—जब समझते हैं कि जड़ में सुख नहीं है, तब हम लोग जड़ के अतिरिक्त आनन्द की खोज की चेष्टा करते हैं।

शराबी के लिए शराब का पीना ही आनन्दजनक जान पड़ता है। उसके नुकसान की बातें यदि कोई उससे कहता भी है, तो नशे में चूर शराबी के मन में उसका असर ही नहीं होता या वे बातें उसे कड़वी जान पड़ती हैं। किन्तु जब वह अपने अनुभव से उसके वास्तविक नुकसान को समझता है, तब उसे अधिक समझाना नहीं पड़ता। इसी प्रकार विषय-रूपी शराब के मतवाले विषय के नशे में चूर हो सर्वत्र इन्द्रिय-सुख साधक विषयों को खोजते फिरते हैं। किन्तु अप्राकृत वस्तुओं में अपनी इन्द्रिय-तृप्ति की वस्तु के न मिलने से उसे नीरस, कठोर और दुर्बोध्य समझ उसके त्याग की चेष्टा करते हैं।

सामयिक-पत्र, सांसारिक समाचार पत्र या नाटक-नावेल आदि में जो सामयिक आनन्द अथवा चित्त की उत्तेजना दिखाई देती है, वह एक प्रकार का इन्द्रिय-तर्पण ही है। इस प्रकार की इन्द्रिय-तृप्ति से सुख माननेवाले भटके हुए जीव सच्चे आनन्द का स्वाद नहीं पाते अथवा उसको पहचान ही नहीं सकते। किन्तु 'भागवत' पूर्ण आनन्द-स्वरूप सच्चिदानन्द भगवान का परिचय करानेवाला है। भागवत विषय में लिप्त होनेवाले चित्त से लापरवाही दिखाता है, इसलिए विषय-विमूढ़ मनुष्यों के आगे भागवत की विशुद्ध बातों का भी आदर नहीं होता। नाटक नावेल या सांसारिक सामयिक पत्रों के पढ़ने की तरह भागवत के पढ़ने का फल नष्ट नहीं होता। 'भागवत' पढ़ने, सुनने और गानेवालों का नित्य मंगल होता है। कर्म ज्ञान, योगादि की बहुत दिन की साधना से जो फल होता है, उससे अनन्तगुण श्रेष्ठ अक्षय, अनन्त फल भागवत के सुनने कहने से होता है। किन्तु इतर सांसारिक समाचार-पत्र आदि के पढ़ने से समय का अपव्यय तो होता ही है, साथ ही संसार-बन्धन ही जकड़ता है।

असली सोने की अपेक्षा नकली सोने की चमक-दमक मूढ़ लोगों को अधिक भाती है। असली सोने को पहचानने के लिये कसौटी की ज़रूरत है, किन्तु नकली सोना अपनी चमक-दमक से मूर्खों को भ्रम में डाल देता है। इसी प्रकार सांसारिक समाचार पत्रादि या परमार्थ का अनुकरण-करनेवाले समाचार पत्रादि के क्षणिक मनोहर बातों से पूर्ण लेखोंपर मुग्ध हो, लोग सच्चे पारमार्थिक-पत्र को पहचान नहीं सकते; बल्कि नकली चीज़ों की मोहिनी से मोहित हो असल चीज़ का अनादर करते हैं।

हम लोग चाहते हैं, कि अन्यान्य पत्रों की तरह भागवत के पढ़ने से भी कुछ सामयिक इन्द्रिय-तर्पण हो जाये। किन्तु यह इन्द्रिय-तर्पण की आग में आहुति न देकर इन्द्रिय-तर्पण की आग को बुझानेवाला बनकर पहुँचता है। हरीतकी और मिठाई—इन दोनों में मिठाई के खरीदार ही अधिक हैं, किन्तु पहले का खरीदार कोई सहज ही बनना नहीं चाहता। खाने में कड़वा जान पड़ने की वजह हम लोग क्षणिक मीठे मिठाई को ही पसन्द करते हैं, किन्तु मिठाई के खाने के बाद जो दोष उत्पन्न होता है, उसकी ओर खयाल भी नहीं जाता। मिठाई खाने से रोग होता और हरीतकी खाने से रोग की जड़ कटती है। इसी प्रकार सांसारिक पत्रों के पढ़ने से संसार की जो आसक्ति या इन्द्रिय-तर्पण की प्यास बढ़ जाती है, उसकी जड़ भागवत के पढ़ने से उखड़ती है।

हम लोग यदि यह समझें कि अन्यान्य पत्रों की तरह भागवत भी छापेखाने में ही छपता है; तब भागवत भी अन्यान्य पत्रों के ही समान क्यों न समझा जाय ? इसका उत्तर यह है, कि गङ्गाजल तथा साधारण पानी, शालग्राम या राह के पत्थर देखने में एक ही प्रकार के होने पर भी उनमें अलगाव है। भागवत भी ऐसा ही है।

भागवत साधारण सामयिक पत्रों की तरह क्षणिक आनन्द देने के लिये प्रकाशित नहीं होता; बल्कि—

कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः।

भागवत—(१। ३। ४३)

कलिकाल की नष्ट दृष्टि अर्थात् अज्ञानान्ध लोगों को दिव्य ज्ञान की रोशनी पहुँचाने के लिये यह भागवत-सूर्य उदित हुआ है। सूर्य के उदय होने पर जैसे उसकी रोशनी से अन्धकार दूर होता है, शीत और चोरों का भय दूर हो जाता है, वैसे ही भागवत-सूर्य की रोशनी से आगामी संसार-भय और उसका मूल अज्ञान तथा कर्मादि की जड़ता दूर होती और भागवत-स्वरूप भगवान के दर्शन की शक्ति मिलती है।

भागवत की विचार-प्रणाली के न समझ सकने का कारण क्या है ? शरणागति का अभाव ही इसका कारण है। गीता का कहना है—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

इसके शरणागत होने से दुर्बोध्य विचार सुबोध्य हो जायेंगे; नहीं तो जागतिक विद्या बुद्धि के बल से समझने की चेष्टा करने से वह दुर्बोध्य ही बना रह जायगा। भाषा का प्राण भाव है। भाव का प्राण विचार है। सुविचार या सुसिद्धान्त से रहित जो भाव या भावुकता है, वह पागल की बकवाद या कपटी की कपटता मात्र है। विचार प्रणाली के समझ न सकने से भाव का ग्रहण किया नहीं जा सकता अथवा भाषा समझ में नहीं आती।

भागवत का कहना है,—

गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।

(भागवत ६-३-२१)

भागवत-प्रचारित भागवत-धर्म की बातें गूढ़ हैं अर्थात् साधारण इन्द्रियज धारणा के आगे वह प्रकाशित नहीं होता। किन्तु शरणागत सेवनोन्मुख जीव के आगे वह स्वयं प्रकाश पाता है। यह विशुद्ध और समझने में कठिन है। किन्तु इसके जानने से अमरत्व प्राप्त होता है। सुतरां जो लोग अमृत के भिखारी हैं, वे निश्चय ही इसका आदर करेंगे।

दवा कड़ुई भी हो, फिर भी यदि वह बीमारी को दूर करे, तो उसके खाने में कष्ट होने से भी जैसे उसके खाने की जरूरत पड़ती है, वैसे ही जो लोग संसार-व्याधि की मर्मान्तिक यातना से जर्जर हो रहे हैं, वे इस भागवत-अमृत के पीने से संसार दुःख से छुटकारा पायेंगे।

श्रीधर

श्रीभगवान् सदा-सर्वदा भक्तों के साथ तरह-तरह के लीलारङ्ग किया करते हैं। क्यों किया करते हैं? इसका कोई उत्तर नहीं। फिर भी वह लीला ही उनके आनन्द का सार है। इसी में उनके माधुर्य का मधुर विकाश है। भक्त भी भगवान के सेवा-सुख में ही मस्त हैं। भक्त जानते हैं, कि भगवान् उनके ही हैं। श्रीभगवान भी देखते हैं कि वे सदा-सर्वदा के लिए भक्तों के हृदय में बन्द हैं।

यथाः—"गोविंद कहते भक्त ही मेरे जीवन धाम।"
भक्त हृदय में है सदा गोविंद का विश्राम ॥

श्रीभगवान् अपने भक्तों के सारे बोझ को आप ही लादते हैं। आप ही अपने श्रीमुख से गीतोपनिषत् में कहते हैं—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥"

नित्यसिद्ध, प्रभुपारिषद श्रीधर पसारी की अवस्था बहुत ही गिरी हुई थी। नवद्वीप के बाजार में वे थोड़े से कच्चे केले और उनके पत्ते बेचा करते थे। श्रीधर का निवास-भवन नवद्वीप के श्रीमवणिक मुहल्ले के दक्षिण ओर था। इस प्रकार सामान्य थोड़े केले आदि बेच जो कुछ थोड़ी सी आमदनी हो जाती, उसी में बहुत सामान्य तरह से श्रीधर श्रीभगवान् का सेवाकार्य चलाते थे। वे स्वभाव के बहुत ही विनयी थे। कुछ आमदनी होने पर उसमें वे निष्कपट भाव से साधु-वैष्णवों की सेवा किया करते थे। अपने हाथ से रसोई बना के ठाकुर को भोग लगाते और इसके उपरान्त श्रीगोविन्द के प्रसाद आदि द्वारा श्रीगङ्गा तुलसी और अन्यान्य देवताओं को भोग लगाते थे। श्रीधर की उम्र जब जवानी की आखिरी सीमा में पहुँची, उस समय श्री-श्रीगौरसुन्दर प्रकट हुए। बहुत पहले ही श्रीधर की गृहिणी इस लोक को त्याग चुकी थीं। कोई सन्तान-सन्तति भी छोड़ न गईं। परम वैष्णव श्रीधर के मुख से दिन-रात ऊँचे स्वर से कृष्ण नाम निकलता था। मुहल्ले के बहुतेरे बड़े आदमी इससे बहुत ही चिढ़कर अकसर श्रीधर पर खूब अत्याचार भी करते थे, किन्तु इससे, स्फटिक पत्थर के ऊपर पानी बरसने की तरह, कृष्णनाम-पान से प्रफुल्ल सदा कृष्णैक शरण—सदा हास्यमय श्रीधर का वे कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते थे।

श्रीगौराङ्ग-सुन्दर ने यौवन लीला में इन श्रीधर की ओर ध्यान दिया। श्रीधर नवद्वीप के बहुत बड़े बाजार के एक कोने में पत्ते, केले आदि लेकर बैठते थे। भक्त-हृदय-रञ्जन, श्रीनवद्वीपचन्द्र श्रीनिमाई पण्डितजी नित्य विष्णु नैवेद्य का संग्रह करने के लिये बाजार पहुँच घूमते-फिरते श्रीधर पसारी की दुकान पर आ पहुँचते थे। केवल इतना ही नहीं, श्रीधर जिस चीज़ का जितना दाम बताते, प्रभु बहुत ही गम्भीर भाव से उसका आधा दाम लगाते हुए सौदा उठाकर झोली में रख लिया करते थे। इससे श्रीधर बहुत ही घबराकर कभी कभी गिड़गिड़ाकर कहते,—"महाराजजी, मैं आपसे नफा नहीं चाहता; मैंने अपनी खरीद का दाम ही बताया है। आधा दाम देने से मेरा काम कैसे चलेगा? मैं बहुत गरीब हूँ, मुझे न ठगो; हाथ जोड़कर कहता हूँ मुझे न ठगो।"

श्रीगौरसुन्दर यही तो चाहते ही थे। भक्तों की ऐसी दीनता देखने में ही उन्हें बड़ा आनन्द होता; इसीसे वे हँस के कहते थे,—"तुमने ठग लिया या मैंने श्रीधर!" निमाई पण्डित के डर से श्रीधर सदा बाजार में एक ही जगह न बैठते, जगह बदलते रहते थे। फिर भी प्रभु के हाथ से निस्तार कहाँ! ब्राह्मण देवता सब से पहले ढूँढ़ ढाँढ़ कर श्रीधर की दुकान पर जा पहुँचते थे। श्रीधर का मुख सूख जाता। "तुम्हारी एक बोझ तरकारी लेता हूँ," कह कर ठाकुर उनका एक बोझ का जबरदस्ती उठा लेते। श्रीधर चिढ़कर "हैं हैं, ठाकुर, यह क्या करते हो। यह क्या करते हो, ठाकुर"—कहते हुए छीन लेने पर उद्यत होते हुए फिर कहते,—"दोहाई ठाकुर की! छीनाछीनी न करो, तुम्हारे पैर पड़ता हूँ—दूसरी दुकान पर जाओ। मेरे घर की चीज तो है नहीं, खरीदी हुई तरकारी को मैं

किसी को दे नहीं सकता। तुम रोज ऐसा करोगे, तो मैं माताजी (श्रीशचीदेवी) से कह दूँगा।"

प्रभु भी छोड़ने वाले नहीं —वे हँस के कहते,—'श्रीधर! मेरे हाथ की चीज छीनने की हिम्मत है? जानते नहीं मैं कौन हूँ? मैं ब्राह्मण हूँ, नवद्वीप का प्रधान पण्डित हूँ।" किन्तु हाय! प्रभु के ऐश्वर्य को देख—उनके सदा प्रफुल्ल बदन भ्रकुटी-कुटिल कटाक्षपात से भक्त लोग तो भूलते नहीं। श्रीकृष्ण अपने समग्र वीर्य, ऐश्वर्य, यश और श्री को लेकर भी श्रीव्रजधाम के एक भी प्राणी को भुला नहीं सके ग्वाल बाल बड़े आनन्द से कन्हैया भैया को अपना जूठा खिलाते और उनके कँधे पर चढ़ कर गोपलीला करते थे। वे श्रीयशोदा के हाथ से बन्धन में पड़ते और नित्यसिद्ध-देह व्रजगोपिकाओं की तो बात ही क्या।

इसलिये भक्तों ने कहा है—

मारो या राखो है इच्छा तुम्हार।
नित्य दास प्रति है तेरा अधिकार॥

इसीसे श्रीधर कहते, "ठाकुर! मैं तुम्हारी सब ठकुराई जानता हूँ।" तब प्रभु ऐश्वर्य को दूर रख सरल हो धीमे स्वर में कहते,—"श्रीधर, तुम तो अपने इष्टदेव के प्रसाद को बिना मूल्य श्रीगङ्गा-तुलसी आदि देवी-देवताओं को देते हो; मैं तुम्हारा स्वामी हूँ, तब मुझे बिना दाम लिये क्यों नहीं देते? तुम्हारी चीज न लेने से मुझे भोजन में तृप्ति नहीं होती।" अब भक्त श्रीधर पूरी तरह से पराजित हो जाते थे, उनके बोलने की जगह ही नहीं रहती थी। वे पानी-पानी हो जाते— उनमें स्वतन्त्रता न रह जाती। भक्त इतना ही सुन के सुखी है, कि भगवान् स्वयं कह रहे हैं, "सिवा तुम्हारी चीज के मुझे तृप्ति नहीं होती।"

हरि! हरि! यह कैसी बात! वे तो अपने को भूल हो जाते—सोचते, मैं तुच्छ, मैं हेय, मैं दीन हूँ; मेरे कुछ नहीं है, तुम मेरी चीज से तृप्त होते हो! हाय! हाय! कौन तृप्त होता है? तुम या मैं ठाकुर मेरी अयोग्यता को तुम इतना आदर देते हो! हाँ जी हाँ, मैं तुम्हें जानता हूँ।

इसी से श्रीधर हार जाते और अविरल अश्रुधारा बहाते हुए हाथ जोड़ कर कहते,—"यह कैसी बात ठाकुर, मुझे न फुसलाओ। मैं हार मानता हूँ, किन्तु अब कभी छीना-छीनी न करना। अपने भोजन के लिये नित्य कुछ न कुछ ले लिया करो।" इस पर प्रभु फिर हँसके कहते,—"श्रीधर, हमारे-तुम्हारे छीना-छीनी न हुई, तो फिर क्या रहा!"

(क्रमशः)

तेली का बैल

(पूर्व प्रकाशित के उपरान्त)

भूत [illegible] त कालिदास—कामिनी के पति कालिदास एकाएक कहीं गायब हो गये हैं, कामनी को इसकी कुछ खबर ही नहीं। कोई पड़ोसी भी कालिदास का जाना जान नहीं सका। कामिनी ने एक कु-स्वप्न देखा था, यदि वह स्वप्न सच हुआ, तो सर्वनाश ही है। पाठक-पाठिकाओं को विदित है, कि कामिनी को स्वप्न में संन्यासी से मुलाकात हुई थी इसके बाद जब प्रभु-सन्तान नटवर गोसाँई (कालिदास के कुलगुरु) कामिनी का शोक दूर करने के लिए कालिदास के घर पहुँच एक कोठरी में बैठकर तम्बाकू पी रहे थे और कामिनी भी उस कोठरी में बैठी थी, तब एकाएक बाहर की कोठरी में कोई मधुर कण्ठ से गा उठा,—

"इस घोर संसार में पड़ के,
मनुष्य न पावे दुःख का शेष।
साधु संग कर हरि भजता,
जब तभी अस्त होता है क्लेश॥"

गाना सुनकर कामिनी बहुत ही भीता संकुचिता, लज्जिता और आशान्विता हुई तथा कान लगाकर कुछ देर तक अच्छी तरह आवाज पहचानती रही। क्या यह स्वामी की आवाज है?

प्रभु नटवर ने कामिनी के भाव को लक्ष्य कर और

उनकी बातें सुन भ्रकुटी चढ़ाकर कहा,—"तुम पागल हुई हो ? कालिदास मर के भूत हो गया है ; चलो, हम लोग जिस परकीया रस की बातों का आस्वादन ले रहे थे, उसका स्वाद लें । मरे भूत के लिये इतनी चिन्ता की क्या जरूरत है ? छिः ! मैं तुम्हारा प्रभु साक्षात् तुम्हारे सामने विराजमान हूँ । तुम्हारी छाती पर अपने दोनों पैर रख मैं तुम्हारे हृदय की ज्वालाओं को बुझा रहा हूँ, तुम फिर उसी भूत की बातें याद करके रस-भंग कर रही हो ? छिः ! कामिनी, तुम ऐसा न करो ।"

"विषय-अनल हिरदै जलै बढ़ै अनल से अनल ।
ताजि अपराधहि हरि भजै पड़ै अनल में जल ॥"

गाना सुनकर फिर कामिनी ने रस-भङ्ग किया । प्रभु नटवर के रस की बूँदों को कामिनी निगल न सकी । गाने के भाव और गले की आवाज से कामिनी के चित्त में ऐसे अद्भुत भाव का उदय हुआ, कि प्रभु के टपकाये रस के बूँदों के निगलने की उसकी ताकत ही खो गई । वह प्रभु के उपदेश और तिरस्कार पर कुछ भी आस्था न रख कान देकर गाना सुनने लगी—

"निताई-चैतन्य-चरण में आश्रय जिसने हेरा ।
कृष्णदास कह जीवन-मरण में है वो आश्रय मेरा ॥"

गाना बन्द हुआ । लाचार नटवर प्रभु ने कोठरी से आवाज लगाई "कौन है ?"

बाहर से जवाब मिला,—"मैं हूँ—भूत कालिदास । आपने जो समझा है, मैं वही हूँ । किन्तु इस भूत और आपके भूत में बहुत फरक है, जरा बाहर तो आइये ।"

जवाब सुनकर प्रभु के मुँह में भरा तम्बाकू का धुआँ मुँह में ही रह गया । प्रभु का गला सूख गया । प्रभु किं-कर्त्तव्यविमूढ़ हो आकाश पाताल देखने लगे । इधर कामिनी खुले-बालों दर्वाजा खोल घर से बाहर निकल दौड़कर कालिदास के पैरों पर गिर पड़ी और स्वामी के पैरों को फिर से पाकर दोनों हाथों से ऐसा पकड़ कर जकड़ लिया कि कालिदास कामिनी को छोड़ कहीं जा ही न सकें । कामिनी को इसकी जरा भी समझ न हुई, कि कालिदास के 'भूत' हो जाने से अब उनमें कनक-कामिनी के लोभ की प्रतिष्ठा की वासना नहीं है । उस समय कालिदास ने—

"रोकर कहा, अहो कृष्ण मैं तुम्हारा दास ।
तुम्हरी चरण शरण को छोड़ हुआ सर्वनाश ॥"

इसी से कामिनी अपने संस्कार और कामना के वश हो कृष्णदास को कालिदास समझ, अपना भोगायतन स्थिर कर, फिर भोग की आग में ईंधन लगाने की आशा से भूत कालिदास के पैरों पर गिरकर रोने लगी ।

तब कृष्णदास ने कहा,—"कामिनी ! यह क्या करती हो ? अब तुम्हारा कालिदास रह नहीं गया, वह तो भूत बन गया है । तुम उसे क्या समझती हो ? जरा स्थिर हो, हट के खड़ी हो, मेरी बात सुनो ।"

कृष्णदास की बातें सुन कामिनी कुछ चौंक पड़ी । यह कैसी बात ? क्या प्रभु की ही बातें सच हैं ? तब क्या मैं सचमुच भूत के ही पैर पकड़े हुई हूँ !

अवसर देख कृष्णदास जरा हट के खड़े हुए और गाने लगे—

"मिथ्या माया-वश, भव-सागर में डूबे हैं हम ।
करुणा कर देकर पद-छाया तारो हमको तुम ॥
सुनिये-सुनिये वैष्णव ठाकुर:—
तुम्हरे चरण शरण यह शिर है, करो दुःख को दूर ॥
जाति का गौरव, केवल रौरव, विद्या अविद्याकला ।
शीघ्र मुझे श्रीनिताई-चरण में सौंपो मिटे ज्वाला ॥
कृपा तुम्हारी मेरी जीभ से निकले हरि का नाम ।
कहैं कृष्णदास मेरे हृदय में जागें राधेश्याम ॥"

सद्गुरु के आश्रय को प्राप्त—वैष्णवों की कृपा को प्राप्त—गुरु कृष्ण के प्रसाद को प्राप्त कालिदास के मुँह से कृष्णनाम सुन कामिनी का बाविलीपन दूर हो गया । मानों वह फिर जागती अवस्था में स्वप्न देखने लगी,—सोचने लगी, कि यह कैसी बात ! मेरे स्वामी तो बिलकुल ठीक हैं, भूत ऐसी बातें तो कहते नहीं । भूत के मुँह से तो कृष्ण का नाम ही नहीं निकलता । तब यह कैसा भूत ? अभी अभी प्रभु जो कह रहे थे, कि कालिदास मर कर भूत हो गया है, किन्तु यह तो भूत है ही नहीं । तब क्या मनुष्य जीवित रहकर भी भूत हो सकता है ? इसी समय कृष्णदास कामिनी के मन की अवस्था समझ कहने लगे,—"कामिनि ! अब मैं तुम्हें कामिनी कहकर बुला नहीं सकता। तुम तो कालिदास की कामिनी थीं; अब उस दास ने काली का दासत्व छोड़ कृष्ण की दासता स्वीकार की है ।"

इसी समय कालिदास की लड़की मनोमोहिनी धम-धम करती हुई सीढ़ी से उतर चौंककर बोल उठी,—"पिताजी !"

गीता की भूमिका

(१)



महाभगवद्गीता महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास-रचित महाभारत के भीष्म पर्व के अन्तर्गत अर्जुन के प्रति श्रीभगवान् का उपदेश सम्बन्धी अट्ठारह अध्याय का शास्त्र है। दुर्योधन आदि अपने पुत्रों की विजय के सम्बन्ध में सन्देह कर धृतराष्ट्र ने सञ्जय से जो पूछा था और उसके सम्बन्ध में सञ्जय ने जो कुछ देखा या सुना था, उसे उनसे कहा। उसे ही महाभारत—भीष्म पर्व के पचीसवें अध्याय से लेकर बयालीसवें अध्याय तक वैशम्पायन ऋषि ने जनमेजय से कहा। यही श्रीगीता का विषय है।

शास्त्र के विचार से स्कन्दपुराण में कहा है—

"ऋग् यजुः सामाथर्वाश्च भारतं पञ्चरात्रकम्।
मूलरामायणञ्चैव • शास्त्रमित्यभिधीयते॥
यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्त्तितम्।
अतोऽन्य-ग्रन्थ विस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्मतत्॥

ऋक, यजुः, साम, अथर्व वेद, भारत (महाभारत), रामायण और पञ्चरात्र—यह सभी शास्त्र कहे जाते हैं। इनके अनुकूल और अनुगत जितने शास्त्र हैं, वह सब भी शास्त्र में परिगणित हैं; किन्तु इनके अतिरिक्त जो सब ग्रन्थ हैं, वह सब शास्त्र नहीं हैं, बल्कि उन्हें कुवर्त्म (कुपन्थ) कहते हैं। सुतरां महाभारत बहुत ही प्रामाणिक शास्त्र है। भविष्य पुराण में और भी कहा है—

"कार्ष्णञ्च पञ्चमं वेदं यन्महाभारतं स्मृतम्।"

कृष्णद्वैपायन प्रणीत महाभारत पञ्चम वेद के रूप में माना गया है। यदि कोई पूछे, कि महाभारत को चार वेदों के अन्तर्गत न बताकर पञ्चम वेद मानने से भी उसे वेद के समान सम्मान दिया जा नहीं सकता। उसका यह उत्तर है, कि "समानजातीय-निवेशितत्वात् संख्यायाः" अर्थात् परस्पर समानजातीय वस्तु संख्या द्वारा गृहीत होती है। जैसे—कोई यदि कहे,—"यज्ञदत्त को लेकर पाँच ब्राह्मणों को निमन्त्रण दो।" तो इससे यही समझा जायगा, कि चार ब्राह्मण तो हैं ही, पाँचवें आदमी यज्ञदत्त भी ब्राह्मण हैं। वैसे ही महाभारत को पंचमवेद कहने से यही साबित होता है, कि महाभारत वेद के समान ही प्रामाणिक शास्त्र है। श्रीगीता इसी महाभारत के अन्तर्गत है। आस्तिक मात्र ही वेद को मानते और सब प्रमाणों का शिरोमणि समझ उसे ग्रहण करते हैं। क्योंकि यद्यपि दार्शनिक लोगों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, आर्ष, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य, चेष्टा और शब्द—इन दश प्रकार के प्रमाणों को स्वीकार किया है, तथापि शब्द, अर्थात वेद ही मुख्य प्रमाण है। क्योंकि प्रत्यक्ष आदि नौ प्रकार के प्रमाणों में असम्पूर्णता है। यह सब दोष हैं—भ्रम, अर्थात एक वस्तु में और किसी वस्तु की प्रतीत; जैसे रस्सी को देख साँप समझने की भ्रान्ति, प्रमाद या अनवधानता—एक की जगह दूसरा समझना, विप्रलिप्सा—दूसरे को धोखा देने की इच्छा से या जो कुछ कहना उसे छिपाकर कहना, (शिष्यों के आगे असत गुरु शास्त्र की बातों को भी छिपाने को बाध्य होते हैं, क्योंकि इससे उनके अपने चरित्र पर आक्रमण हो सकता है), करणापाटव या इन्द्रिय की अपटुता अर्थात साधारण जीव, आँख, कान, बाहरी इन्द्रियों या मन, बुद्धि आदि इन्द्रियों के द्वारा जो अनुभव करता है, एकमात्र उसे ही कह सकता है, उसके अतिरिक्त और कुछ कह नहीं सकता। प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भी यही सब दोष मौजूद हैं। जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान से चन्द्रमा थाली के समान दिखाई देता है, किंतु चन्द्र थाली से करोड़ गुना बड़ा है। प्रत्यक्ष ज्ञान से मरीचिका का (मरुभूमि में सूर्य किरण से बालू) जल की तरह दिखाई देता है, किन्तु वास्तव में वह पानी है ही नहीं। इसके बाद अनुमान के ज्ञान में धुँआ देख आग के होने का ख्याल होता है, किन्तु अनेक समय ऐसा भी होता है, कि वृष्टि से आग के बुझ जाने पर भी धुँआ उठता दिखाई देता है। कोई यदि उस धुएँ को देख अनुमान करे, कि वहाँ आग है, तो उनका तात्कालिक धुआँ देख आग का अनुमान करना भी ठीक नहीं। अथवा अनेक समय वाष्पादि के द्वारा भी आँख में ज्वाला होने से वाष्प में भी धुएँ का अनुमान होता

है। 'आर्ष' शब्द का अर्थ ऋषिगण के वाक्यों में परस्पर मतभेद है। सुतरां स्वभावतः ही सन्देह उपस्थित होता है, कि इस विषय में किसकी बात को प्रमाण के रूप में ग्रहण किया जाय। इस तरह दिखाया जा सकता है, कि सभी प्रमाणों में दोष मौजूद हैं, किन्तु शब्द या वेद के प्रमाण में यह सब दोष नहीं। यह चिरप्रसिद्ध है, कि हिमालय में बर्फ होती और खानि में रत्न होता है—इसके अस्वीकार करने का उपाय ही नहीं है। शब्द-प्रमाण या वेद भगवान् की वाणी है। भगवान हम लोगों जैसे असम्पूर्ण वस्तु नहीं हैं। उनके ज्ञान में किसी तरह की बाधा नहीं। वे सर्वज्ञ हैं, सब समय सर्वत्र विराजित हैं; वे स्वप्रकाश हैं, सुतरां उनका ज्ञान अबाध ज्ञान, परिपूर्ण ज्ञान और निर्मल ज्ञान है। उनकी वाणी ही वेद है। उनके वाक्य की प्रामाणिकता की परीक्षा के लिये दूसरे किसी भी प्रमाण की आवश्यकता हो नहीं सकती अथवा और कोई प्रमाण उनके वाक्य प्रमाण में समर्थ हो ही नहीं सकता। सब प्रमाणों को तुच्छ बनाते हुए वेद प्रमाण की सर्वश्रेष्ठता ही स्वीकृत होती है। जैसे गोबर, गोमूत्र और शङ्ख आदि बाध्य विचार से विष्ठा, मूत्र और मरी हड्डीमात्र है, किन्तु वेद के इनको पवित्र बताने की वजह देवालय में भी गोबर से लीपा जाता और शङ्ख के पानी से श्रीनारायण का स्नान होता है इसलिए वेद ही एकमात्र प्रमाण है। श्रीगीता उसी वेद का सार है। श्रीगीता में साक्षात् भगवान के उपदेश लिखे हुए हैं। अर्जुन को श्रीभगवान ने स्वयं अपने मुख से जो-जो उपदेश दिये थे, वही गीता का विषय हैं, सुतरां श्रीगीता में उपनिषत् के लक्षण वर्तमान हैं। इसीसे श्रीगीता को श्रीगीतोपनिषत् भी कहते हैं। गै धातु (गाना) + क्त आप् प्रत्यय द्वारा गीता शब्द निष्पन्न होता अर्थात् जिसमें श्रीभगवान के मुख से निकले हुए उपदेश गाये गये हैं, वही गीता है। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ कहते हैं:—

भारते सर्ववेदार्थो भारतार्थश्च कृत्स्नशः।
गीतायामस्ति तेनेयं सर्वशास्त्रमयी मता॥

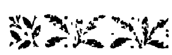
अर्थात् महाभारत के अन्तर्गत गीता में सब वेदों और महाभारत का तात्पर्य मौजूद है, इसीसे गीता सर्वशास्त्रमयी है। श्रीगीतामाहात्म्य में भी लिखा है:—

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

श्रीगीता स्वयं पद्मनाभ विष्णु के मुखपद्म से निकली है सुतरां श्रीगीता को ही सुन्दर भाव से गाना चाहिये। अन्यान्य शास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल-नन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

उपनिषत् अर्थात् श्रुति समूह गोमाता की तरह परम हितकारिणी है। दूध पीने से आबाल वृद्ध बनिता स्वास्थ्यवान होते और मुमुर्षु आदि सब प्रकार के लोगों की ही तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति होती है। वैसे ही श्रीगीता की उपदेशावली सब प्रकार के अधिकारियों के लिये ही उद्दिष्ट हुई है। ऐसा नहीं है, कि दूध केवल गो का बछड़ा ही पीकर पुष्ट होता है। गोवत्स माता के स्तन से दूध निकालता, स्वयं कुछ पीकर परितृप्त होता है और अन्यान्य लोग भी उसे पीते हैं वैसे ही गो-वत्स जैसे अर्जुन ने श्रुति रूपी गोमाता के स्तन में बार बार आघात कर (तरह-तरह के प्रश्न कर) जिस मीठे दूध को बाहर निकाल दिया, उसे ही गोपाल नन्दन श्रीकृष्ण ने सारग्राही और दूध पीने की इच्छा रखनेवाले जीवों के लिये दोहन किया। यही गीतारूपी दुग्धामृत है। अतएव इस गीतारूपी दुग्धामृत को एकमात्र बुद्धिमान् लोग ही पीते पीते परिपुष्ट हो अमरत्व लाभ करते हैं। जो लोग नीरस कुएँ का जल आदि पीनेवाले लालची हैं, वे गीतामृत दुग्ध को नहीं पीते। कितने ही लोग सारग्राही और सुबुद्धिमान् न होने की वजह खड़िया के गोले या चूने के गोले को भी दूध समझ पी जाते और अन्त में धोखा खाते हैं।



 श 



कोष में 'प्रसाद' शब्द के अनेक अर्थ दिखाई देते हैं। अनुग्रह और भुक्तावशिष्ट भी उसी के अर्थ हैं। भगवत्-प्रसाद का अर्थ भगवान् का अनुग्रह या उनका जूठन है। भगवान् का प्रसाद कहने से तत्त्व-विचार में, केवल भगवान के अनुग्रह और उनके जूठन एक ही वस्तु का लक्ष्य होता है। भगवान् जीव के प्रति करुणाकर कभी गुरु के रूप में, कभी साधु रूप में, कभी नामरूप में, कभी शास्त्ररूप में और कभी कभी प्रसाद के रूप में जीवों का उद्धार किया करते हैं। जैसे नाम की सेवा करते करते स्वयं नाम ही नामसाधक के आगे अपने स्वरूप श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट होता है, वैसे ही प्रसाद की सेवा करते-करते अर्थात् प्रतिदिन भगवान् का प्रसाद लेते-लेते प्रसाद की कृपा से श्रीभगवान् स्वयं प्रसादसेवक के आगे प्रकट होते हैं। जिनकी इच्छा भगवान् के पाने की है, उनके लिये किसी विशेष साधन की आवश्यकता नहीं। महाप्रसाद भक्षण करने से ही उनके अभीष्ट की सिद्धि होगी। केवलमात्र महाप्रसाद और महामहाप्रसाद का सेवन ही भगवान् के पाने का एकमात्र सहज उपाय है। भगवान् के प्रसाद को 'महाप्रसाद' और वैष्णव के भुक्तावशेष को 'महामहाप्रसाद' कहते हैं। जैसा श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत के अन्त्य १६ श परिच्छेद में कहा है:—

"कृष्ण के उच्छिष्ट का है नाम महाप्रसाद।
भक्तशेष का है नाम महामहाप्रसाद॥"

एक मात्र प्रसाद के भक्षण से ही भगवान की कृपा होती या भगवान मिलते हैं ऐसा मुँह से कहने या लेख में लिखकर प्रकाश करने से शायद अनेक लोगों का उस पर विश्वास नहीं भी हो सकता किन्तु शास्त्र में और साधु-मुख से सुनाई दिया है, कि प्रसाद की सेवा से ही भगवान् मिलते हैं और हमारा भी यह दृढ़ विश्वास है, कि यदि कोई इस विषय की परीक्षा करके देखे अर्थात् कुछ दिन प्रसाद भक्षण करे, तो वह अच्छी तरह समझ सकता है, कि प्रसाद में क्या गुण है। रसगुल्ले में कैसा स्वाद है या निरामिष सात्विक चीज़ों में कैसी उपकारिता है—इसे जब तक कोई स्वयं खाकर न देखे, तब तक कैसे समझ सकता है, कि द्रव्यों का स्वाद और गुण अवगुण कैसा है?

श्रीमद् रघुनाथदास गोस्वामी के रिश्ते के चचा कालिदास नामक एक व्यक्ति वैष्णव के उच्छिष्ट भोजन द्वारा ही अभिन्न व्रजेन्द्रनन्दन श्रीगौराङ्गदेव की कृपा पा सके थे। वे जब जहाँ किसी वैष्णव के आने का हाल सुनते, तभी उनके पास पहुँचकर प्रसाद ग्रहण करते थे। यदि वे प्रसाद देना अङ्गीकार न करते, तो कालिदास लुक छिपकर उनके प्रसाद का सेवन करते थे। जैसा चैतन्यचरितामृत के अन्त्य १६ श परिच्छेद में लिखा है —

"रघुनाथदास की ज्ञाति का वो खुड़ा।
वैष्णव उच्छिष्ट खाने से ही हुआ बूड़ा॥
गौड़देश में हुए हैं जितने वैष्णव-गण।
सब का ही उच्छिष्ट उसने किया भोजन॥

कालिदास इसका कुछ भी विचार न करते कि वैष्णव ब्राह्मण कुल के हैं या शूद्रकुल के; वैष्णव होने से ही वे उनका प्रसाद ग्रहण करते थे। अप्राकृत वैष्णवों में प्राकृत जाति का विचार हो सकता है, ऐसी धारणा उनके हृदय में स्थान ही नहीं पाती थी; क्योंकि वे जानते थे, कि जो जात्यभिमान को परित्याग कर एकान्त भाव से भगवान की सेवा करते हैं, वही वैष्णव हैं और वही सब वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं। जो कृष्ण के भक्त नहीं हैं, वे ही शूद्र या शूद्र से अधम चण्डाल में गिनने योग्य हैं। शास्त्र में भी कहा है —

नीच जाति नहीं कृष्ण-भजन-अयोग्य।
सत्कुल विप्र नहीं भजन के योग्य॥
जोई भजे सोई बड़ा अभक्त हीन छार।
कृष्ण-भजन में नाहिं जाति-कुल-विचार॥

भक्तवर तुलसीदासजी ने भी कहा है—

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब कोई करत विचार।
तुलसी कहे हरि ना भजे तो चारों चामार॥

एक दिन उन कालिदास ने सुना, कि झड़ ठाकुर नामक एक परम वैष्णव वहाँ निवास करते हैं; किन्तु उन्होंने कभी उनका प्रसाद नहीं पाया। वे झड़ ठाकुर भूमि माली के वंश में (अति निकृष्ट कुल में) उत्पन्न

हुए थे, यह जानकर कालिदास उनके पास गये और थोड़े से आम भेंट कर उन्होंने झड़ ठाकुर और उनकी पत्नी के श्रीचरण में दण्डवत प्रणाम किया। पत्नी के साथ झड़ ठाकुर ने कालिदास का बहुत सम्मान किया और बैठकर कुछ देर तक उनमें इष्टगोष्ठी (सत्संग चर्चा) हुई। कालिदास ने कहा, कि मैं आज आपके यहाँ प्रसाद पाना चाहता हूँ। किन्तु झड़ ठाकुर ने अपने को बहुत ही नीच कुल में उत्पन्न समझ परिचय देते हुए कहा, कि वे समीप के किसी ब्राह्मण के घर उनके प्रसाद पाने की व्यवस्था कर देंगे। वैष्णव सदा ही अपने को नीच समझते हैं। आप निरभिमानी होकर भी दूसरे को मान देते हैं। इसीलिये झड़ ठाकुर ने भी कालिदास के आगे नीच जाति के नाम से अपना परिचय दिया। कालिदास ने कहा, कि मेरी बड़ी इच्छा है, कि आप मेरे सिर पर एक बार अपने श्रीचरण-युगल को धारण करें और मुझे अपने पैर की धूलि दें। झड़ ठाकुर ने कहा, कि मैं बहुत ही नीच हूँ और आप कुलीन सज्जन हैं, आपको मुझ से ऐसा न कहना चाहिये। कालिदास ने हरिभक्ति विलास का यह श्लोक पढ़ कर उन्हें सुनाया:-

न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्॥

ऐसा नहीं है, कि चौबे ब्राह्मण होने से ही वह मेरा प्रिय होगा। वरं चंडाल भी मेरा भक्त होने से वह मेरा प्रिय है; वह भक्त ही यथार्थ दानपात्र और ग्रहण-पात्र है। भक्त मेरे समान पूज्य है।

श्लोक सुनकर झड़ ठाकुर ने कहा - यह शास्त्र वचन मिथ्या नहीं है; जो कृष्ण भक्त हैं, वे नीच नहीं हैं। किन्तु मैं नीच हूँ, मुझ में लेशमात्र को भी कृष्णभक्ति नहीं है। कालिदास ने नमस्कार कर उनसे विदा माँगी; झड़ ठाकुर भी उनके पीछे पीछे कुछ दूर तक आकर लौट आये। कालिदास कुछ दूर एक जगह छिपे रहे, झड़ ठाकुर ने उन आमों को भगवान् के निवेदन कर अपनी पत्नी के साथ आम-प्रसाद खाया और उसकी गुठली और छिलके जूठा फेंके जानेवाले गड़हे में फेंक दिया। इसके बाद कालिदास ने, जहाँ झड़ ठाकुर के पैर पड़े थे, वहाँ की धूलि उठाकर सर्वाङ्ग में लगाया। फिर उस जूठे गड़हे से आम की गुठली और छिलके निकाल, उन्हें बड़े आनन्द से, चूसने लगे और चूसते चूसते मारे आनन्द के नाचने लगे। इस तरह गौड़ देश में जितने वैष्णव रहते थे, कालिदास ने उन सबके उच्छिष्ट का भोजन किया था। यही कालिदास जब नीलाचल में आये, तब महाप्रभु ने उनके प्रति कृपा की थी। श्रीचैतन्यचरितामृत अन्त्य १६ श परिच्छेद में कहना है—

"ऐसे ही जितने वैष्णव रहे गौड़देश।
कालिदास ने सबका लिया भोज-अवशेष॥
वही कालिदास जब कि नीलाचल आये।
महाप्रभु उन पर महा कृपा गेर लाये॥

भगवान की दैवी माया को जीतने के लिये उनका आश्रय या उनके प्रसाद का सेवन विशेष आवश्यक है। जो नित्य पहले फल-फूल अन्न मिष्टान्नादि को श्रीभगवान् के अर्पण कर अन्त में उस प्रसाद को ग्रहण करते हैं, वही माया को जीत सकते हैं। जैसा शरणागति में लिखा है -

युगल मूर्त्ति,　　देखते मुझे,
परम आनन्द होता।
प्रसाद सेवन,　　करते मानों,
सकल प्रपंच जीता॥

इस प्रकार परम कल्याणप्रद महाप्रसाद पर जिन व्यक्तियों के मन में विश्वास नहीं वे बड़े ही दुर्भाग्यशाली हैं। महाप्रसाद पर अविश्वास और अनादर के कारण उनका सब साधन भजन व्यर्थ हो जाता है। शास्त्र में है,—

महाप्रसादे गोविन्दे नामब्रह्मणि वैष्णवे।
स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते॥

हे राजन, जिनका पुण्य बहुत कम है, उन लोगों का महाप्रसाद, गोविन्द नामब्रह्म और वैष्णव में विश्वास नहीं होता।

यदि सौभाग्यवश हम लोगों में किसी के सामने महाप्रसाद आये, तो समय-कुसमय का कुछ भी विचार न कर उसी समय उसका सम्मान करना चाहिये। एक दिन श्रीमन्महाप्रभु अपने भक्तों के साथ बहुत सवेरे सार्वभौम भट्टाचार्य के घर उपस्थित हुए और भट्टाचार्य भी उसी समय कृष्ण-कृष्ण कहते हुए जाग उठे। महाप्रभु ने उनके हाथ कुछ प्रसाद-अन्न दिया, भट्टाचार्य ने समय-कुसमय का कुछ भी विचार न कर बड़े ही आनन्दित हो प्रसाद-भक्षण करते हुए ये दो श्लोक पढ़े—

शुष्कं पर्युषितं वापि नीतं वा दूरदेशतः ।
प्राप्तिमात्रेण भोक्तव्यं नात्र कालविचारणा ॥
न देश - नियमस्तत्र न कालनियमस्तथा ।
प्राप्तमन्नं द्रुतं शिष्टैर्भोक्तव्यं हरिरब्रवीत् ॥

महाप्रसाद सूखा हो, बासी हो या दूर देश से आया हो, मिलने के साथ ही उसे खाना चाहिये. इसमें समय के विचार की ज़रूरत नहीं । श्रीकृष्ण के अन्नप्रसाद को पाते ही शिष्ट लोग भक्षण करें, इसमें देश और काल का कोई नियम ही नहीं । भगवान ने ऐसी ही आज्ञा दी है ।

भट्टाचार्य के प्रसाद ग्रहण करने पर महाप्रभु ने बहुत ही आनन्दित हो उनको आलिङ्गन किया । कोई भी द्रव्य श्रीभगवान के निवेदित होने से उनकी कृपा से वह अमृत हो जाता है, उस समय वस्तु का अवगुण लोप हो जाता और वह अप्राकृत गुण धारण करता है । कोई भी वस्तु भगवान के निवेदित कर खाने से वह प्रसाद युगपत् शरीर की रक्षा करेगा और भगवान की भक्ति की वृद्धि होगी । भक्त महाराज प्रह्लाद ने पिता के दिये विष को भगवान् को निवेदन किया था, किन्तु भगवान की कृपा से वह विष भी अमृत हो गया था । यही भगवान की अलौकिक शक्ति का परिचय है और उनकी भक्तवत्सलता का उज्ज्वल दृष्टान्त है । इन सब रहस्यों को भक्त ही अच्छी तरह समझ सकते हैं । यह सब विषय अभक्तों की समझ में आ नहीं सकते । भगवान ने गीता में अर्जुन से कहा है—हे अर्जुन ! मेरे भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल आदि जो कुछ भक्ति के साथ मुझे अर्पण करते, उसे मैं सादर ग्रहण करता हूँ । जैसा गीता में है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

प्रयतात्मा भक्तगण मुझे भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल जो कुछ देते हैं, उसे मैं अत्यन्त स्नेह पूर्वक स्वीकार करता हूँ । दूसरे देवताओं के उपासकगण बड़े समारोह के साथ बड़े उपकरण द्वारा केवल तात्कालिक श्रद्धा के साथ मेरी जो सब पूजायें करते हैं, उन्हें मैं ग्रहण नहीं करता । क्योंकि वह लोग किसी उपयोग के साथ मेरी पूजा करते हैं । सुतरां हरेक आदमी को अपनी सामर्थ्य के अनुसार पवित्र, सात्विक और उत्कृष्ट खाद्यादि भगवान् को प्रदान करना उचित है । भगवान् भक्त के हृदय का भाव ही देखते हैं; विद्या बुद्धि या जाति-धनादि की ओर लक्ष्य नहीं करते । मूर्ख आदमी भी यदि सरल अन्तःकरण से 'विष्णाय नमः" कह कर भगवान को मामूली भोजन-सामग्री अर्पण करता है, तो उसे भी भगवान परम समादर से ग्रहण करते हैं; किन्तु कोई जाति का अभिमान रखने वाला कुलीन पण्डित या धनी दंभ के साथ बहुत ही उत्कृष्ट द्रव्यों को "विष्णवे नमः" कहते हुए भी भगवान को निवेदन करे, तो उसे भगवान् ग्रहण नहीं करते । क्योंकि वे भावग्राही हैं, भक्तों का हृदय सरल है या कुटिल—इसे ही वे सबसे पहले देखते हैं ; बाद को वैभवशून्य भक्त के मामूली चावल के कण को भी ग्रहण करते हैं । यथा:

मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे ।
उभयोस्तु समं पुण्यं भावग्राही जनार्दनः ॥

अर्थात् मूर्ख लोग "विष्णाय नमः" यह अशुद्ध मन्त्र कहते और धीर मनुष्य "विष्णवे नमः" यह शुद्ध मन्त्र कहते हैं ; किन्तु पुण्य दोनों को ही समान होता है ; क्योंकि जनार्दन भावग्राही हैं ।

कितने ही लोगों का विश्वास है, कि महाप्रसाद केवल श्रीक्षेत्र (जगन्नाथ पुरी) में ही मिलता है । क्योंकि जो जगन्नाथ देव का प्रसाद है, वही महाप्रसाद है । किन्तु यह भूल है । जो भगवान के अर्पित होता है, वही महाप्रसाद है । भगवान् के लिये जो जहाँ निवेदन किया जाय, वही महाप्रसाद है । सुतरां हम लोग जो खाते हैं, उसे पहले भगवान् के अर्पणकर बाद को उसी प्रसाद को खाना उचित है । यदि हम लोग पवित्र भाव से सात्विक खाद्य द्रव्यादि भगवान की श्रीमूर्त्ति के सामने रखकर निम्नलिखित भाव से कातर-हृदय से उनके निवेदन करें, तो वे निश्चय ही उन द्रव्यों को सादर स्वीकार करेंगे और वही महाप्रसाद होगा । जैसा, कि नैवेद्य अर्पण के लिये विज्ञप्ति है:—

या प्रीतिर्विदुरार्पिते मुररिपो कुन्त्यर्पिते यादृशी ।
या गोवर्द्धन मूर्ध्नि या च पृथुके स्तन्ये यशोदार्पिते ।
या वा ते मुनिभाविनी विनिहितेऽन्नेऽत्रापि तामर्पय ॥

हे मुररिपो ! विदुर के अर्पित अन्न में, कुन्ती के अन्न में, सुदामा के चावल में, यशोदा के अर्पित स्तन के दूध में शवरी के दिये जूठे फलों में व्रजाङ्गनाओं के अधरामृत में,

और मुनिपत्नियों के अर्पित अन्न में, जो प्रीति आपने पाई है, वही मेरे अर्पण किये इस नैवेद्य से भी प्राप्त कीजिये ।

श्रीमन्महाप्रभु के मनोभीष्ट-प्रचारक श्रीश्रीपाद-रूप-गोस्वामी प्रभु अपने 'श्रीउपदेशामृत'; नामक ग्रन्थ में लिखते हैं, कि वाक्य, मन, क्रोध, जिह्वा, उदर और उपस्थ— यह छः वेग भक्ति के लिये बहुत ही प्रतिकूल हैं । इस जिह्वावेग के दमन का सहज उपाय एकमात्र प्रसाद-सेवा है । इसीलिए भक्तगण प्रसाद सेवन के समय साधुओं को सावधान कर कहते हैं साधो ! सावधान भाइयो

शरीर अविद्या जाल, जड़ेन्द्रिय तो हैं काल,
जीव ढकेलता विषय सागर में ।
इनमें है जिह्वा अति, लोभमयी सुदुर्मति,
इसे जीतना कठिन संसार में ॥
कृष्ण बड़े दयामय, करनेको जिह्वा जय,
स्वप्रसाद अन्न देते भाई ।
सो अन्नामृत खाओ, राधाकृष्ण-गुण गाओ,
प्रेम से कहो चैतन्य निताई ॥

अभिमान

(२)

"इस घर का पालनकर्ता और मालिक मैं हूँ"; "मैं समाज या देश का नेता और मङ्गल-विधाता हूँ"; "मैं सबसे अधिक समझदार हूँ;' 'मैं ससागरा पृथिवी का अधीश्वर हूँ"; इस प्रकार के दम्भ-सूचक जड़-अभिमान के दृष्टान्त इस कलिकाल युग में बहुत दिखाई देते हैं । उपरोक्त दृष्टान्त जहाँ तक दम्भ और दर्प के व्यञ्जक हैं, उनसे कहीं अधिक दाम्भिकता के भाव आजकल जगत में प्रचलित हैं । भगवान ही सब के कर्त्ता, भर्त्ता, नेता और विधाता हैं, वे ही सर्वज्ञ हैं । गीता में कहा है—

"गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ॥"

जो लोग जन्म-मृत्यु के अधीन और आधि-व्याधि के द्वारा सदा सन्तप्त होने के योग्य हैं, वह सभी क्षुद्र शक्तिशाली जीव जब जड़-अभिमान से फूल कर षडैश्वर्य पूर्ण भगवान् के आसन पर अपने को प्रतिष्ठित समझते हैं, तब उन्हें प्रलाप करने वाले जड़-अभिमान के सब से ऊँचे कोठे पर अपने को पहुँचा समझते हैं । उनके समान भगवत् चरण का अधिकतर अपराधी और कोई भी हो नहीं सकता । ऐसे घमण्डी सोऽहंवादी लोग क्या कभी अपनी इस धृष्टता को समझ सकेंगे ?

अपने सुख में तत्पर मनुष्य ही जड़ाभिमानी और भगवन्-सुख की साधना की इच्छा रखनेवाले चिद्भिमानी हैं । अपने सुख की निष्ठा चार प्रकार की है— (१) धर्म [स्वर्ग-सुख पानेवाले पुण्यकार्य] मूलक; (२) अर्थ— [ऐहिक सुख के सहायक धन-जनादि का अर्जन और रक्षणावेक्षण पर कर्म]-मूलक; (३ काम [इन्द्रिय-तर्पण-साधक-कर्म]-मूलक, और ४) मोक्ष [त्यागद्वारा शान्तिसुख जनक कर्म] मूलक । प्रतिष्ठा की आशारूपी जो दुर्भावना है, वह काम के ही अन्तर्गत है और इसने थोड़ा-बहुत समस्त जड़ाभिमानियों को ग्रास कर रखा है । इसका दुःसाहस इतना अधिक है, कि यह भक्ति पथ के पथिकों के हृदय में भी प्रवेश करने का प्रयत्न करता है । किन्तु भक्ति देवी की कृपा से भक्त लोग इसे दूर करने में समर्थ होते हैं । अतएव जो प्रतिष्ठाकामी नहीं हैं, वे ही चिद्भिमानी भक्त या वैष्णव हैं । महाजन-वाक्य है—

कनक कामिनी और प्रतिष्ठा बाघिनि जानी ।
इस पिशाचिनी को त्यागे सो वैष्णव मानी ॥

जड़ाभिमानी लोग प्रतिष्ठा की आशा के वशवर्त्ती हो ऐसी लाञ्छना भोग रहे हैं जो बयान से बाहर है । कितने ही आत्महत्या करने में भी सङ्कोच नहीं करते । यहाँ पर एक दृष्टान्त कहा जाता है, जिसे सुन आँख-कान खुल सकते हैं । एक दिन कहीं एक अमीर को किसी पुलिस के चपरासी ने एक डण्डा मार दिया; इस अपराध

पर शहर के प्रधान विचारपति ने पुलिस चपरासी पर दो रुपये जुर्माना किया । मार खाये हुए अमीर ने फैसले से सन्तुष्ट न हो पैर से जूता उतार अदालत में बैठे हुए हाकिम को जोर से मार दिया और साथ ही पाँच रुपये अदालत में रख दिया । हाकिम ने देखा, कि पहले किये गये जुर्माने से अधिक रुपये रख दिये गये हैं और अपने फैसले के मुकाबिले अधिक सजा देने की भी जगह दिखाई नहीं देती; लाचार उन्होंने उन्हें छोड़ दिया । इसके बाद इस भयानक अपमान के सहने का विचार करते करते एकाएक अपनी जेब से पिस्तौल निकाल लिया और उससे अपनी हत्या कर अपमान जनित दुःख से शान्ति पाई । सुतरां दिखाई देता है, कि जड़ाभिमान के लिये निम्न लिखित श्लोक अक्षरशः सत्य है —

"मानो हि मूलमर्थस्य माने म्लाने धनेन किम् ।
प्रभ्रष्टमान दर्पस्य किं धनेन किमायुषा ॥"
"अधमा धनमिच्छन्ति, धनमानौ हि मध्यमाः ।
उत्तमा मानमिच्छन्ति, मानो हि महतां धनम् ॥"

जो लोग धन और मान के भूखे हैं, वे दूसरे से हिंसा ही करेंगे । सुतरां ऐसे लोग मत्सर और एकमात्र चिदभिमानी भक्तजन ही निर्मत्सर हैं । वे ही अपने मान और धन को तुच्छ समझ बेखटके उन्हें दूसरों को देने में समर्थ होते हैं । इसीसे जगद्गुरु श्रीमद्गौरसुन्दर ने कहा है,—

"तृणादपि सुनीचेन, तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः ॥

जड़ाभिमान होने पर भी कोई व्यक्ति मनुष्य-जीवन की चरम भूमि का इशारा भी पा नहीं सकता । जन्म का अभिमान, विद्या का अभिमान, रूप का अभिमान और धन का अभिमान भक्ति की राह के काँटे हैं ।

श्रीमद्गौरसुन्दर के द्वितीय स्वरूप और विलास मूर्त्ति श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु थे । स्वयं निर्मल भगवत्तत्त्व होकर भी उन्होंने लोकशिक्षा के लिये जिस प्रकार जड़ाभिमान-रहित लीला का अभिनय किया था, उसका कुछ आभास नीचे दिया जाता है,—

'अक्रोध परमानन्द नित्यानन्द राय ।
अभिमान-शून्य होके नगर आय-जाय ॥
आप जिन्हें देखें कहें दाँतों तृण धरि ।
मुझे मोल लेलो तुम भजके गौरहरि ॥

श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु के पदानुसरणकारी असाधारण पण्डित और भक्तचूड़ामणि श्री प्रबोधानन्द सरस्वती त्रिदण्डी स्वामीजी कैसे जड़ाभिमानशून्य थे, उनकी साक्षी उनका स्वयं रचित श्लोक दे रहा है—

"दन्ते निधाय तृणकं पदयोर्निपत्य
कृत्वा च काकुशतमेतदहं ब्रवीमि ।
हे साधवः, सकलमेव विहाय दूरात्
चैतन्यचन्द्रचरणे कुरुतानुरागम् ॥

दाम्भिक लोग समाज के कलङ्क हैं । असत् चरित्रता-रूपी हैजे का बीज उनके द्वारा ही मनुष्यों के हृदय में बोया जाता है । जो लोग उनके पदानुसरण में प्रवृत्त हैं, या होंगे, वे देहान्त होने पर रौरवादि महाघोर नरक में डाले जायेंगे और यमके दूतों द्वारा भयानक दण्ड पायेंगे अतएव 'असत् सङ्गत्याग यही वैष्णव आचार' यह महाजनगण के आदेश को शिरोधार्य कर शीघ्र से शीघ्र उनका सङ्ग छोड़ देना चाहिये । भक्तिपथ में प्रवेश करने के लिये यही प्रथम द्वार है । इसके बाद— 'सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य संविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ॥' इस परम कल्याण आवाहनकारी सिद्धान्त वाक्य के वशवर्ती हो सज्जन का सङ्ग और उनके मुख से निकली हरिगुण-गाथा सुनते हुए भोग मोक्ष-मूलक व्यर्थ चेष्टाओं का त्याग करना चाहिये । अन्त में जब हृदय अनर्थशून्य हो जायगा, तब उसीके साथ साथ हृदय में हृदविहारी श्रीहरि का दर्शन और चिदभिमान की विमल नित्यानन्द प्रद ज्योति जान पड़ेगी । 'सा काष्ठा, सा परा गतिः ।' मनुष्य जीवन की यही सर्वोच्च भूमि है । कबीरदास नामक एक भक्त का कहना है, 'राजा राणा ना बड़ा, बड़ा जो सुमिरे राम ।" अर्थात् राजा या राजा का भी राजा राणा बड़ा नहीं जो श्रीरामचन्द्र की सेवा में देह मन और प्राण समर्पण करने में समर्थ हुए हैं, केवलमात्र वही बड़े और सबके पूज्य हैं ।

वायु सूक्ष्म जड़ तत्त्व है । साधारण मनुष्य उसे कोई बड़ी चीज नहीं समझते, बल्कि लोग इसे बहुत हलका पदार्थ समझते हैं । पाश्चात्य जड़ विज्ञान इस भ्रम को दूर करने के लिये कहते हैं, कि वायु का गुरुत्व इतना अधिक है, कि यदि एक लोहे के नल का निचला हिस्सा कुएँ के भीतर उसके पानी में और दूसरा कुएँ के मुँह के बाहर किसी सूखी जगह में रख उस नल की वायु को

निकाल दिया जाय, तो नीचे का पानी उस नल से बाहर निकल आयेगा। इससे साबित होता है, कि वायु के दबाव से जलराशि घनीभूत हो दबा रहता है और उसका भार हटा लेने से पानी अपनी स्वाभाविक अवस्था में स्थित होने में समर्थ होता है। जैसे वायु का दुर्लक्ष्य भार साधारण मनुष्य बुद्धि के अगोचर है, वैसे ही जड़ाभिमान-जनित असत् चिन्ता का गुरुत्व को मायान्ध मनुष्य समझ नहीं सकते। पानी की आशा से कुआँ खोदा जाय, तो मट्टी और बालू की तह काटने के लिए मामूली लोहे के औजार ही काफी हैं। किन्तु कठोर पत्थर की तह काटने के लिये "छेनी" और "डिनामाइट" आदि अच्छे अच्छे औजारों की ज़रूरत है। बाह्य-विषय दुःख-मिश्र क्षणिक सुख के देने में समर्थ है। विमल नित्यानन्द केवलमात्र अहैतु की भगवत्-सेवा से लभ्य है। सुतरां जो लोग नित्यानन्द का पानी पीना चाहते हैं, उन्हें अपने अपने चित्त की गुफा को खोदना पड़ेगा। खोदते समय साधुसङ्ग रूपी "छेनी" और भगवत् सेवा रूपी "डिनामाइट" द्वारा जड़ाभिमान रूपी कठिन पत्थर जैसे अनर्थ और गुरुभार वायु रूपी असत्चिन्ता का त्याग करना चाहिये, नहीं तो कुछ नहीं।

नैमित्तिक धर्म असम्पूर्ण, हेय, मिश्र और अचिरस्थायी

(गत संख्या से आगे)



वस्तुतः विचार करने से जीव के लिये कृष्ण प्रेम ही एकमात्र नित्य कर्म है। इसका तात्विक नाम विशुद्ध चित् अनुशीलन है। इस कार्य की साधना के लिये जिस जड़ कार्य का अवलम्बन करना पड़ता है, वह नित्यकर्म का सहायक है; अतः नित्य रूप से जो अभिधान हुआ है, उसमें कोई दोष नहीं है। तात्विक भावसे देखने पर उसे 'नित्य' न कहकर नैमित्तिक' कहना ही उचित होगा। कर्म में जो नित्य-नैमित्तिक विभाग हैं, वह केवल व्यवहारिक हैं, तात्विक नहीं।

वस्तु-विचार से शुद्ध-चिदनुशीलन ही जीव का नित्य धर्म है; अन्य जितने प्रकार के धर्म हैं, सभी नमित्तिक हैं। वर्णाश्रम धर्म, अष्टाङ्ग याग, सांख्यज्ञान तथा तपस्या सभी नैमित्तिक हैं। जीव यदि बद्ध न होता, तो इन सब धर्मों की आवश्यकता न होती। जीव बद्ध होने ही से मायामुग्ध अवस्था ही एक 'निमित्त' है। उसी निमित्त से ही यह सब धर्म 'धर्म' हुए हैं, अतएव तात्विक विचार से सभी नैमित्तिक धर्म हैं।

ब्राह्मण की श्रेष्ठता, सन्ध्या वन्दनादि कर्म और उसके कर्म त्याग करने पर संन्यासग्रहण—यह सभी नैमित्तिक धर्म हैं। यह सब कर्म धर्मशास्त्र से प्रशस्त और अधिकार भेद से नितान्त उपादेय हैं, तथापि नित्य कर्म के सामने इसका कोई सम्मान नहीं है—यथा (भा० ७।९।१)

> विप्राद्द्विषड् - गुणयुतादर - विन्दनाभ
> पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम ॥
> मन्ये तदर्पित - मनो - वचनहितार्थ
> प्राणं पुनाति स्वकुलं न तु भूरिमानः ॥१॥

सत्य, दम, तप, अमात्सर्य, तितिक्षा, अनसूया, यज्ञ, ध्यान, धृति, वेदश्रवण और व्रत—यही बारह गुण ब्राह्मण धर्म हैं। ऐसे द्वादश गुण-विशिष्ट ब्राह्मण जगत् में पूजनीय हैं सही, किन्तु यदि इन सब गुणों से युक्त होकर भी कृष्ण-भक्तिशून्य हो, तो उन ब्राह्मण की अपेक्षा भक्त-चण्डाल भी श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह, कि चण्डालवंश में जन्म लाभ कर साधु सङ्गस्वरूप संस्कार द्वारा जो व्यक्ति जीव के नित्यधर्म रूप चिदनुशीलन में प्रवृत्त हैं, वे ब्राह्मणवंश में उत्पन्न शूद्र

(१) कृष्ण-पाद पद्मविमुख द्वादश-गुणान्वित ब्राह्मण की अपेक्षा चण्डाल भी श्रेष्ठ है, क्योंकि हमारी समझ में जिन्होंने मन, वाक्य, चेष्टा और अर्थ को कृष्ण में अर्पित किया है, उन्होंने अपने कुल के साथ अपने प्राण को पवित्र किया है; किन्तु बहुमानी ब्राह्मण उसे कर नहीं सकते।

चिद्नुशीलन रूपी नित्य धर्मानुशीलन से विरत नैमित्तिक धर्म में प्रतिष्ठित ब्राह्मण की अपेक्षा भी श्रेष्ठ हैं।

जगत् में मनुष्य दो प्रकार के हैं. अर्थात उदित-विवेक और अनुदित-विवेक। अनुदित विवेक मनुष्य ही संसार को प्रायः परिपूर्ण किये हुए हैं। उदित-विवेक विरल है। अनुदित विवेक मनुष्यों में ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ और अपने वर्णोचित सन्ध्या-वन्दनादि नित्य कर्म के बारे में श्रेष्ठ हैं। उदित-विवेक मनुष्यों का दूसरा नाम "वैष्णव" है। वैष्णवों का व्यवहार और अनुदित विवेक मनुष्यों का व्यवहार परस्पर अवश्य पृथक् ही होगा। पृथक् होने पर भी वैष्णव-व्यवहार अनुदित-विवेक मनुष्यों के शासन के लिये निर्मित स्मार्त्तविधान के तात्पर्य के विरुद्ध नहीं है। शास्त्र का तात्पर्य सर्वत्र ही एक है। अनुदित विवेक मनुष्य शास्त्र के स्थूल वचन के एक अंश में आवद्ध रहने को बाध्य है। उदित-विवेक मनुष्यगण शास्त्र के तात्पर्य को भिन्नभाव से ग्रहण करते हैं। क्रिया भेद में भी तात्पर्य का भेद नहीं है। अनधिकारी की दृष्टि से उदित-विवेक पुरुषों के व्यवहार साधारण व्यवहार के विरुद्ध जान पड़ता है। किन्तु वास्तव में उनके पृथक् व्यवहार का मूल तात्पर्य भी एक है।

उदित विवेक मनुष्यों की दृष्टि में साधारण लोगों के लिये नैमित्तिक धर्म उपदेश-योग्य है; किन्तु नैमित्तिक धर्म वास्तव में असम्पूर्ण, हेय, मिश्र और अचिरस्थायी है।

नैमित्तिक धर्म में साक्षात चिदनुशीलन नहीं है। चिदनुशीलन को अनुगतकर जड़ानुशीलन के ग्रहण करने से, वह केवल चिदनुशीलन के रूप में उपेय की प्राप्ति का उपाय मात्र होता है। उपाय उपेय के द्वारा निरस्त होता है। अतएव उपाय कभी सम्पूर्ण ही नहीं उपेय वस्तु की खण्डावस्था मात्र है। अतएव नैमित्तिक धर्म कभी सुम्पूर्ण नहीं। उदाहरण यह है कि ब्राह्मण की सन्ध्या-वन्दना उनके अन्यान्य कर्मों की तरह क्षणिक और विधिसाध्य है। सहज प्रवृत्ति से यह सब काम होते ही नहीं। बाद को बहुत दिन तक वैध व्यापार में रहते रहते जब साधु-सङ्ग संस्कार के द्वारा चिदनुशीलन रूपी हरि-नाम की रुचि होती है, तब कर्म के आकार में फिर सन्ध्या वन्दनादि रह नहीं जाता। हरिनाम सम्पूर्ण चिदनुशीलन है। सन्ध्या-वन्दनादि केवल उक्त प्रधान कार्य का उपाय मात्र है। यह कदापि सम्पूर्ण-तत्त्व नहीं है।

नैमित्तिक धर्म सदुद्देशक होने के कारण आदरणीय होने पर भी वह हेय, मिश्र है। चित्तत्त्व ही उपादेय है। जड़ और जड़ का सङ्ग ही जीव के हक में हेय है। नैमित्तिक धर्म में अधिक जड़ता है। और एक अवान्तर फल यह है, कि जीव उन सब क्षुद्र फलों में पड़े बिना रह ही नहीं सकता; जैसे ब्राह्मण के लिए ईश्वर उपासना उचित है सही, किन्तु 'मैं ब्राह्मण हूँ, अन्य जीव मुझसे हीन हैं' ऐसा मिथ्या अहङ्कार ब्राह्मण की उपासना को हेय फल देनेवाली बना देती है। अष्टाङ्ग-योगादि में 'विभूति' नामक एक अपकृष्ट फल जीव के हक में बहुत ही अमङ्गल-जनक है। 'भुक्ति' और 'मुक्ति'—यह दोनों ही नैमित्तिक धर्म की सदा-सहचरी हैं। इनके हाथ से बचे, तब मूल उद्देश्य जो चिदनुशीलन है, वह हो सकता है। अतएव नैमित्तिक धर्म में जीव के लिए हेय का अंश ही अधिक है।

नैमित्तिक धर्म अचिरस्थायी है। जीव की सभी अवस्था और समय में नैमित्तिक धर्म नहीं होता। जैसे—ब्राह्मण का ब्रह्मधर्म, क्षत्रिय का क्षात्र धर्म आदि नैमित्तिक धर्म निमित्त के समाप्त होते ही बीत जाता है। एक आदमी ने ब्राह्मण-जन्म के बाद चण्डाल-जन्म पाया, उस समय उनका ब्राह्मण वर्णगत नैमित्तिक धर्म फिर स्वधर्म नहीं रहा। 'स्वधर्म' शब्द भी यहाँ औपचारिक है। जन्म-जन्म में जीव के स्वधर्म का परिवर्तन होता है, किन्तु किसी जन्म में भी जीव के नित्य धर्म का परिवर्तन नहीं होता। नित्य धर्म ही वास्तव में जीव का स्वधर्म है, नैमित्तिक धर्म अचिरस्थायी है।

तब यदि कहिये, कि वैष्णव धर्म क्या [illegible] सार है,—यह धर्म ही जीव का नित्य-धर्म है। वैष्णव (जीव) जड़ मुक्त अवस्था में विशुद्ध चिदाकार में कृष्ण-प्रेम का अनुशीलन करते और जड़बद्ध अवस्था में उदित विवेक हो जड़ और जड़सम्बन्धी चिदनुशीलन के सभी अनुकूल विषयों को सादर ग्रहण करते तथा सभी प्रतिकूल विषयों का वर्जन करते हैं। वे शास्त्रीय विधि निषेध के वशीभूत हो कोई काम नहीं करते। जिस विधि जब हरि-भजन के अनुकूल हो, उसका आदर वे उसी समय करते और जो प्रतिकूल हैं, उसी क्षण उसका अनादर करते हैं। निषेध के सम्बन्ध में भी वैष्णवों का व्यवहार ऐसा ही है। वैष्णव जगत् के सार पदार्थ हैं। वैष्णव ही जगत् के बन्धु हैं। वैष्णव ही जगत् के मङ्गलकारी हैं। मुझे जो

कुछ कहना था, उसे आज मैंने वैष्णव-सभा में विनीत भाव से कह सुनाया। आप लोग मेरे सब दोष क्षमा करें।

यह कहते हुए जब वैष्णवदास वैष्णव सभा को साष्टाङ्ग प्रणाम कर एक किनारे बैठे, उस समय वैष्णवों का नयन-वारि प्रबल वेग से बहने लगा। सब लोग एक साथ धन्य-धन्य बोल उठे। गोद्रुम के कुञ्ज से भी धन्य-धन्य प्रतिध्वनि हुई।

जिज्ञासु साधक ब्राह्मण को विचार के अनेक स्थल में निगूढ़ सत्य दिखाई दिया। और किसी किसी स्थल पर कुछ कुछ सन्देह भी उपस्थित हुआ। और जो हो, उनके मनमें वैष्णवधर्म का श्रद्धाबीज कुछ जम बैठा। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा, "महोदयगण! मैं वैष्णव नहीं हूँ, किन्तु हरिनाम सुनते-सुनते वैष्णव हुआ हूँ। आप लोग यदि कृपा कर मुझे कुछ न कुछ शिक्षा दें, तो मेरे बहुतेरे सन्देह दूर हों।

श्रीप्रेमदास परमहंस बाबाजी महाशय ने कृपाकर कहा, कि आप समय-समय पर श्रीमान वैष्णवदास का सङ्ग किया करें। ये सब शास्त्र के पण्डित हैं। वेदान्त शास्त्र को परिश्रम पूर्वक पढ़कर संन्यास ग्रहण करके ये वाराणसी में थे; हमारे प्राणपति श्रीकृष्णचैतन्य ने असीम कृपा प्रकट करके इन्हें इस नवद्वीप में खींच लाये हैं। इस समय ये वैष्णव तत्त्व में सम्पूर्ण पण्डित हैं। इनमें हरिनाम की गहरी प्रीति हो गई है।

प्रश्नकर्त्ता महाशय का नाम श्रीकालिदास लाहिड़ी था। उन्होंने बाबाजी महाशय की यह बातें सुन मन ही मन वैष्णवदास को गुरु मान लिया। उन्होंने सोचा, कि ये ब्राह्मणकुल में जन्म और संन्यास आश्रम भी लिए हुए हैं, सुतरां ब्राह्मण को उपदेश देने के योग्य हैं, फिर वैष्णव-तत्त्व में इनका विशेष प्रवेश दिखाई देता है; इससे वैष्णवधर्म की कितनी ही बातें सीखने में आयेंगी। ऐसा ही सोचकर लाहिड़ी महाशय ने वैष्णवदास के चरणों में दण्डवत् प्रणाम करते हुए कहा,- महाशय, आप मुझ पर कृपा करें। वैष्णवदास ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम कर उत्तर दिया,- आपकी कृपा होने से मैं भी चरितार्थ होऊँगा।

उस दिन प्रायः सन्ध्या हो चली थी। लोग अपने अपने घर चले गये।

लाहिड़ी महाशय का घर गाँव के एक गुप्त स्थान में था; वह भी एक कुञ्ज में। बीचो-बीच कुञ्ज में माधवी-मण्डप और तुलसी देवी का चौरा था। दो ओर दो कोठरी थीं। आँगन चितावृक्ष की टट्टी से घिरा हुआ था। बेल, नीम और कई एक फल-फूल के वृक्ष वहाँ शोभा दे रहे थे। उस कुञ्ज के अधिकारी माधवदास बाबा थे। बाबा जी पहले तो अच्छे थे, किन्तु सङ्ग-दोष से उनके वैष्णवपन की विशेष हानि हो गई थी। स्त्री-सङ्ग के दोष से दूषित होने से भजनादि घट गया था। अर्थाभाव-वश अपना खर्च भी अच्छी तरह नहीं चलता। ये अनेक स्थानों से भिक्षा ग्रहण करते और एक घर का भाड़ा देते थे। उसी घर में लाहिड़ी महाशय ने डेरा लिया था।

आधीरात को लाहिड़ी महाशय की नींद टूटी। वे बाबा वैष्णवदास की वक्तृता के सार अर्थ पर मन ही मन विचार करने लगे। इसी समय आँगन में कुछ शब्द हुआ। उन्होंने बाहर निकल कर देखा, कि बाबा माधवदास एक स्त्री के साथ आँगन में खड़े हो बातें कर रहे हैं। उन्हें देखते ही स्त्री भाग गई। लाहिड़ी महाशय के आगे लज्जित हो बाबा माधवदास चुपचाप खड़े रह गये।

लाहिड़ी महाशय ने कहा,- 'बाबाजी, यह क्या मामला है?

माधवदास ने सलज्ज-नयनों से कहा,-- मेरा कपाल, और क्या कहूँ? हाय! मैं क्या था और क्या हो गया! परमहंस बाबाजी महाशय मुझ पर कितनी श्रद्धा रखते थे। अब उनके आगे मुझे लज्जा जान पड़ती है।

लाहिड़ी महाशय ने कहा,—साफ़ साफ़ कहिये तो मेरी समझ में आये।

(क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्द्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जाह्नगर, बर्द्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीमदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १३ हनुमान रोड, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्द्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चीरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम्—सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् =)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३- भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४- भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशित) प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्री-रूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी - कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड १=)
१२—युक्तिमल्लिका (गुणसौरभ) वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित =)
१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद-कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्री-मद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ८)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof. Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

3rd July 1932

वामन कृष्णपक्ष गौराब्द ४४६

आषाढ़ अमावास्या संवत् १९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor: —Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन-छपाई की दर नीचे लिखी है—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, १/२ ,,	३)
२ इंच ,, १/४ ,,	१॥)
१ ,, ,, १/८ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये।

पत्र-व्यवहार का पता—
मैनेजर—"भागवत"
९४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

All communications are to be addressed to —
The Manager 'Bhagwat'
946 Suddar Bazar,
LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



वर्ष १ { श्रीप्रेमभक्ति मठ, [illegible]
आषाढ़-अमावास्या गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, [illegible] जुलाई सन् १९३२ } संख्या १७

नम्र-निवेदन

(१६)

आत्म-निवेदन कर चरणों में हुआ सुखी जीवन में ।
दुःख दूर हो, रही न चिन्ता, चौदिक आनँद मन में ॥
अभय-अशोक-अमृत के आकर तुम्हरे ये चरणद्वय ।
उन चरणों का आश्रय लेकर छोड़ा मैंने भव भय ॥
करूँ तुम्हारे सब का सेवन रहूँ न फल का भागी ।
रहो सुखी तुम, करूँ यतन मैं वहीं चरण-अनुरागी ॥
तुम्हरी सेवा से दुख हो तो वह है मुझे परम सुख ।
सेवा-सुख-दुख परम सम्पदा नहीं अविद्या को दुख ॥
पहले का इतिहास भूल सब सेवा-सुख पा मन में ।
मैं तेरा हूँ, तू मेरा है, काम कहो क्या धन से ?
भक्ति-विनोद रहे आनँद में तुम्हरी सेवा भर में ।
करे सभी तुम्हरी इच्छा से रहे तुम्हारे घर में ॥



आज (३ री जुलाई) को गौर प्रीति-विग्रह श्रीगदाधर पण्डित और गौर प्रेरित प्रणयी पार्षद श्रीभक्तिविनोद ठाकुर के वैकुण्ठवास के उत्सव का दिन है।

गौर गणोद्देश ग्रन्थ की लिखावट के अनुसार—जो पहले प्रेमरूपिणी वृन्दावनेश्वरी राधारानी थे, वही 'गौर प्रिय पण्डित' नामधारी श्रीगदाधर गोस्वामी हुए।

पण्डित श्रीगदाधर गोस्वामी

श्रीगदाधर ने जन्म के वैरागी, ब्रह्मचारी पुरुष के रूप में प्रकट-लीला का अभिनय कर गये हैं। आजकल की तरह उन दिनों गोस्वामी और पण्डित की उपाधि जातिगत या वंशगत नहीं थी। जो कृष्णसेवा-परायण उर्द्धरेता पुरुष होते, वे ही पण्डित और गोस्वामी शब्द द्वारा अभिहित होते थे।

पण्डा-शब्द का अर्थ वेदोज्ज्वला बुद्धि है। जिनमें वेद प्रतिपाद्य श्रीभगवान् के सम्बन्ध में अभिधेय और प्रयोजन रूपा उज्ज्वला बुद्धि प्रकट हुई है, वे ही पण्डित हैं। भक्ति-राज्य में अभिमान से भरे जड़ पण्डिताई का कोई मूल्य ही नहीं।

कुल वाले, पण्डित, धनी, करें बड़ा अभिमान।
पर दीनों ही पर अधिक, दया करें भगवान॥

गोस्वामी कहने से कोई वंश या जाति समझी नहीं जाती। 'गो' शब्द का अर्थ इन्द्रिय है, इन्द्रिय के स्वामी या प्रभु 'गोस्वामी' हैं अर्थात् जिन्होंने हृषीकेश की सेवा में समस्त इन्द्रियों को लगा दिया है, वे जितेन्द्रिय पुरुष ही गोस्वामी हैं। जैसे—श्रीनारद गोस्वामी, श्रीशुकदेव गोस्वामी, श्रीसनातन श्रीरूप, रघुनाथ प्रभृति छः गोस्वामी।

गृहस्थ मनुष्य के लिये गोस्वामी की उपाधि कभी हो ही नहीं सकती। यह दोनों सोने और मट्टी के बर्तन की तरह परस्पर विरुद्ध अर्थ प्रकट करते हैं। गोस्वामी की उपाधि कभी वंशगत भी नहीं हुई। जिन छः गोस्वामियों के नाम कहे गये, उनके पहले आश्रम के बाप-दादे गोस्वामी नहीं थे। उनके शुक्र से उत्पन्न वंशधर भी गोस्वामी की उपाधि पा नहीं सके।

ये गदाधर पण्डित गोस्वामी श्रीगौरसुन्दर के निज शक्ति हैं। इसलिये वे नित्यकाल गौरसुन्दर के साथ ही पूजित होते हैं। नदिया जिले के चम्पाहाटी में द्विज वाणीनाथ द्वारा प्रतिष्ठित गौर गदाधर मूर्त्ति की आज भी पूजा-सेवा हो रही है।

गोस्वामी श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर वर्त्तमान युग के शुद्ध-भक्ति-प्रचारक आप्त पुरुष थे। श्रीगौरनित्यानन्द-प्रचारित निष्कपट प्रेमधर्म और गोस्वामी वर्ग के भक्ति-सिद्धान्त के काल धर्म द्वारा अप्रकाशित होने पर, प्रायः ३०० वर्ष पहले एक बार गौरभक्त श्रीनिवास आचार्य, श्रीनरोत्तम ठाकुर और श्रीश्यामानन्द प्रभु श्रीगौरसुन्दर की इच्छा से जगत में प्रकट हो शुद्ध भक्ति के माहात्म्य का प्रचार किया था। इससे स्मार्त्ताचार का वृथा घमण्ड, निर्विशेष-वादियों के ज्ञान की गरिमा, और योगियों की सिद्धि का वैभव भक्ति के माहात्म्य के आगे धुँधला पड़ गया था। किन्तु काल-धर्म से वह फिर अनादि बहिर्मुख जीव के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की इच्छारूपी कपटता की आँधी से ढंक पड़ा।

सनातन धर्म की रक्षा करनेवाले श्रीभगवान की इच्छा से फिर पूर्व ओर अरुणोदय दिखाई दिया। धीरे धीरे निर्मल नाम-भास्कर उदित हुआ। ज्ञानकर्म आदि से अनावृत श्रीहरिनाम के कीर्तन का दुर्भिक्ष दूर हो गया। वर्त्तमान युग का पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त समाज जिस समय शुद्ध सनातन वैष्णव-धर्म को मूर्ख, नासमझ, अन्धविश्वासी छोटे लोगों का धर्म मानते हुए नाक-भौं चढ़ाते थे,- जिस समय बहिर्मुखता, नास्तिकता, देहात्म-बोधमय स्मार्त्त-आचार सदा जड़ वस्तुओं को धर्म के नाम से ग्रहण कर धोखा खा रहे थे और जिस समय वैष्णव-धर्म के नाम से भाँति-भाँति के उपसम्प्रदाय और अपसम्प्रदाय व्यभिचार, लम्पटता, वणिकवृत्ति, कामज भावों की बढ़ती, मूर्खता का ताण्डवनृत्य और वृथा की बकवाद से जगत का सम्पूर्ण अमङ्गल कर रहे थे, उस समय भक्तिविनोद ठाकुर प्रचार क्षेत्र में अवतीर्ण हुए।

आँखों पर भरोसा करनेवाले नास्तिक लोग उन्हें चाहे किसी ही दृष्टि से क्यों न देखें, वे वर्त्तमान युग की शुद्ध भक्ति का प्रचार करनेवाले एक मात्र सूत्रधार थे। वे सिद्धान्त शास्त्र का सार संग्रह करनेवाले गोस्वामी थे। वे दैव-वर्णाश्रम धर्म के प्रतिष्ठाता और लुप्ततीर्थ और लुप्तग्रन्थों का उद्धार करनेवाले तथा निष्कपट प्रेमराज्य की राह दिखानेवाले थे।

वे शताधिक भक्ति-ग्रन्थों के रचयिता और संग्रह-कर्ता थे। उनके रचित जैवधर्म श्रीचैतन्य-शिक्षामृत, कृष्ण संहिता, हरिनाम-चिन्तामणि, तत्त्वसूत्र आदि ग्रन्थों के पढ़ने से हजारों सुकृतिमान (पुण्यवान) व्यक्तियों का जीवन कर्मावर्त्त की भँवर और निर्विशेष ब्रह्मानुसन्धान की इच्छा और कैवल्य सुख के ढूँढ़ने की इच्छा रूपी दुर्बुद्धि से छुटकारा पा शुद्ध निष्काम कृष्ण-सेवा की विमल चाँदनी को अमृतमयी बनाया है।

उनके रचित कल्याणकल्पतरु, शरणागति, गीतावली, गीतमाला प्रभृति ग्रन्थ बहुत ही मधुर और कन्द सामृत की खानि हैं, जिन लोगों ने निष्कपट चित्त से इन्हें अपने गले का हार बनाया है वे ही लोग जानते हैं।

उन्होंने कितने ही शास्त्र ग्रन्थों का उद्धार किया है। पण्डित जगदानन्द गोस्वामी के प्रेम विवर्त्त और श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी की सत्क्रियासार-दीपिका उद्धार उन्होंने बहुत ही परिश्रम और अर्थ व्यय करके किया है। इन ग्रन्थों के प्रकाशित और प्रचारित होने से स्वार्थ-परायण मनुष्यों की प्रतिष्ठा, अर्थ और व्यभिचार खुल पड़ेगा, इसी डर से ये ग्रन्थ इतने दिन से लुप्त हो रहे थे।

उन्होंने बहुतेरे प्राचीन ग्रन्थों की सुसिद्धान्त से पूर्ण व्याख्या की रचना की है। ब्रह्मसंहिता, कृष्णकर्णामृत, भागवतार्क मरीचिमाला, श्रीमद्भगवद्गीता के श्रीबलदेव विद्याभूषण के भाष्य और श्री विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर की टीका, इनकी व्याख्या, श्रीचैतन्य-चरितामृत के अमृत प्रवाह भाष्य, ईशोपनिषद्, श्रीरूप गोस्वामी के उपदेशामृत, श्रीमन्महाप्रभु के शिक्षाष्टक प्रभृति सैकड़ों ग्रन्थों की रचना और संग्रह किया है।

वे सज्जन तोषणी पत्रिका के सुयोग्य सम्पादक थे। इसमें कितने ही विचार और गवेषणापूर्ण सुमीमांसा से भरे हुए लेख लिखे गये हैं।

उन्होंने श्रीगौरसुन्दर के लुप्त प्रकट-स्थल श्रीमायापुर के योगपीठका उद्धार कर वहाँ श्रीगौर विग्रह की स्थापना की थी।

हम लोग कर्मवीर, कवि, साहित्यिक, नायक, स्वदेश-प्रेमी विश्वप्रेमी, समाज नेता देशनेता आदि के विरह में शोक सभा करते, वक्तृता देते अथवा महोत्सव करते हैं; किन्तु जिनके विरह सचमुच ही मर्म मर्म में पीड़ा पहुँचाने योग्य है, उनकी बातों की आलोचना, श्रवण, या स्मरण हम बिल्कुल ही नहीं करते। नश्वर वस्तु में सुख, नश्वर बुद्धि विशिष्ट, नश्वर वस्तु में अभिनिवेश करने वाले हम लोग नश्वर वस्तुओं का ही बहुत आदर करते, नश्वर वस्तु की ही पूजा करते और नश्वर वस्तु के विरह में ही व्यथित हो जाते हैं।

हमारी वर्त्तमान दुर्दिशा का कारण एक मात्र प्राकृत वस्तु (नश्वर वस्तु) में प्रवेश है। प्राकृत में भोगबुद्धि के कारण हम लोग अपनी इच्छा से अपने हाथों ही को बेड़ियों से जकड़कर सांसारिक कारागार का वरण किये हुए हैं। इसी के फल से माया-राक्षसी हम लोगों को जकड़ कर आत्मा से भिन्न शरीर में घुसी बैठी है। आत्मा से भिन्न शरीर में अहं बुद्धि करके हम लोग कदम-कदम पर प्रतारित, लाञ्छित और ममाहत होते हैं; फिर भी हम लोगों का होश ठिकाने नहीं आता।

कोई मनुष्य राह भूल के कुराह चलते हुए अपने गन्तव्य स्थान में पहुँच न सकने पर जैसे किसी दयालु पुरुष के राह दिखा देने पर वह अपने घर तक पहुँच जाता है, वैसे ही हम राह के भूले मुसाफिर अपने वास्तविक घर की और देश की राह भूलकर कुराह में भटक रहे हैं और पद-पद पर विपद में पड़ते हुए व्यथित और विभ्रान्त

होते हैं। बीच-बीच में पथभ्रष्टकारी कपटी, ठग डाकू लोग हम लोगों का यथासर्वस्व हरण करने की इच्छा से हम लोगों को और भी भटका कर कुराह में चलाते हैं। हमारे इस दुःख और दुर्दशा को देख हमारी व्यथा से व्यथित हो, महानुभाव वैष्णवगण अपनी इच्छा से हम लोगों के पास आकर सच्ची राह दिखाते हुए हम लोगों को अपने देश—अपने घर में पहुँचा देते हैं। हम लोगों के घर जाने की राह बिलकुल ही ऊबड़-खाबड़ और चिकनी है, इसलिये पद पद पर फिसल जाने के डर से वे परमोदार महात्मा लोग सदा हम लोगों के साथ ही साथ रह, कहाँ कैसे चलना चाहिये, इसका उपदेश करते हुए यहाँ तक कि चलने में असमर्थ होने पर हमारे हाथ को पकड़— बड़े यत्नके साथ पहुँचने वाली जगह पर पहुँचा देते हैं। इसके बदले में वे लोग किसी तरह का वेतन प्रतिष्ठा या कृतज्ञता-सूचक वाक्य स्वीकार करने की भी इच्छा नहीं करते। जो इतने दयालु हैं, उनके प्रति हमारी श्रद्धा-भक्ति करना उनके विरह में व्यथित होना कहाँ तक कर्तव्य है, उसे बुद्धिमान मात्र को ही विचार करना चाहिये।

यदि किसी शराबी को कोई शराब पीने की सुविधा प्रदान करे, तो वे शराबी से अपनी यथेष्ट प्रशंसा पा सकते हैं। शराबी के विचार से उनके जैसा दयालु महात्मा कोई हो ही नहीं सकता। हम लोग विषय रूपी शराबके मतवाले हैं, जो लोग हमारे विषय रूपी शराब के पीने में सहायता पहुँचाते हैं, सुभीता करते अथवा उसे ही साधु कर्तव्य मानकर उसका अनुमोदन किया करते हैं, ऐसे लोग हमारे विचार से साधु, महात्मा, मदाशय, देशमान्य, वरेण्य इत्यादि और भी बहुत कुछ हैं। किन्तु नासमझ लोगों के उनके इन सब कार्यों को दया का कार्य समझने पर भी पण्डितों के विचार से वह 'मन्दोदया दया' है।

दया दो प्रकार की है—एक "मन्दोदया" और दूसरी "अमन्दोदया"। रोगी को दवा देकर उसके रोग को दूर कर देने की जो दया है, उसे "अमन्दोदया" दया कहते हैं। और रोगी की दया के बदले उसके इच्छानुसार अपथ्य चीज़ों के देने से जो दया की जाती है, उसे "मन्दोदया" दया कहते हैं। रोगी के विचार से वही वास्तविक दया होने पर भी, जो लोग बुद्धिमान और विचारक हैं, वे कभी भी उसके पक्ष का समर्थन न करेंगे। जो वास्तव में दयालु हैं,—जो दो-एक दिन के लिये—दो-एक वर्ष के लिये—दो-एक जन्म के लिये—दो-एक युग के लिये या दो-एक कल्प के लिये दया नहीं करते; बल्कि अनन्तकाल के लिये अनन्त अपार दुःख को सदा के लिये दूर कर देते हैं—हम संसारी रोगियों के भवरोग का विनाश करके सदा के लिये नीरोग बना देते हैं, सब अभावों को दूर कर स्वस्थता में प्रतिष्ठित कर देते हैं, वे कितने बड़े महात्मा, दयालु, परोपकारी, देशमान्य, जगद्वरेण्य हैं, इस पर बुद्धिमानों को विचार करना चाहिये।

एकमात्र वैष्णवगण ही "अमन्दोदया" दया का वितरण करते हैं। दया वितरण करने के लिये ही वे लोग इस संसार में आते हैं। वे लोग साधारण अस्पताल के बदले पारमार्थिक अस्पताल खोल पारमार्थिक औषध बाँटकर देह-रोग और संसार-रोग दोनों का ही विनाश कर नित्यानन्द का अधिकारी बना देते हैं। उनकी दया किसी संकीर्ण सीमा में बँधी हुई नहीं है। उनके आगे ऊँच-नीच, पण्डित-मूर्ख, ब्राह्मण-चण्डाल, स्वदेश-विदेश, भला-बुरा और शत्रु-मित्र में कोई भेद नहीं है, बल्कि वे सर्वज्ञ, समदर्शी हो सबके प्रति समान भाव से दया प्रकाश करते हैं।

वे कर्मफलबाध्य जीवों की तरह कर्मफल के भोगने के लिये संसार में जन्म नहीं लेते। अथवा भोग के अन्त में मृत्यु का वरण करने को भी प्रस्तुत नहीं हैं। बल्कि वे प्रभु के प्रिय कार्य के लिये [illegible] करुणावारिधि चैतन्य महाप्रभु के आदेश से स्वेच्छापूर्वक जगत में जन्म लेते और प्रभु के आदेश पालन के उपरान्त उनकी ही इच्छा से उनके पास पहुँच जाते हैं।

सुतरां ऐसे सर्वोपकारक, सर्वजन-वरेण्य वैष्णवगण के विरह के लिये शोक-मग्न होना चाहिये—उनके अभाव को मर्म-मर्म में समझना चाहिये। वैष्णव के विरह-दुःख से अधिक और कोई दुःख नहीं। इसी बात को एक दिन भगवान चैतन्य-देव ने अपने शिष्य रामानन्द के मुख से कहलाया था,—

दुःख में गुरुतर कौन दुःख जो अति दुखमय होय।
कृष्णभक्त के विरह बिन और नहीं दुख कोय॥

श्रीपुरुषोत्तम मठ का उत्सव

इस पुरुषोत्तम क्षेत्र में पूर्वदिन श्रीगौरसुन्दर ने स्वपार्षद अपनी अन्त्यलीला प्रकट की थी। इस नीलाचल-क्षेत्र में सब लोग अतिथि आते, श्रीगौरांग का दर्शन करते और शुद्ध हरिकथा के कीर्तन से जगत को परिप्लावित कर देते थे। भक्तों के साथ महाप्रभु का स्नानयात्रा दर्शन, गुण्डिचा मार्जन, रथयात्रा दर्शन, रथ के आगे उद्दण्ड नृत्य, प्रेमावेश और [illegible] और महाप्रभु का द्वितीय [illegible], सार्वभौम [illegible] और रामानन्द के साथ दिन रात कृष्णकथा का आस्वादन, [illegible] हरिनाम-कीर्तन विलास, [illegible] गदाधर पण्डित, [illegible] जगदानन्द, [illegible] गोविन्द, [illegible] परमानन्द पुरी प्रभृति भक्तों के साथ नित्य [illegible] आदि की लीला इसी नीलाचल में ही प्रकट हुई थी।

अबतक भी सेइ लीला करत गौर राय।
कोई कोई भाग्यवान दर्शन भी पाय॥

जो लोग जन्म, ऐश्वर्य, पाण्डित्य और रूपमद के मतवाले हैं, वे लोग श्रीगौरसुन्दर की अप्राकृत लीला का दर्शन नहीं पाते। इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के द्वारा अप्राकृत धाम या अप्राकृत लीला का दर्शन नहीं होता। [illegible] निष्किञ्चन साधुगण की अकृत्रिम सेवा के फल से श्रीधाम की कृपा होती है। सेवोन्मुख नेत्र से धाम के अप्राकृतत्व की उपलब्धि होती है।

योगमाया से आवृत रहने की वजह श्रीधाम भक्तों के आगे अपने स्वरूप को प्रकाश नहीं करता। जो नीलाचल क्षेत्र एक दिन शुद्ध हरिकथा के सैलाब से सराबोर हो उठा था वही श्रीक्षेत्र इस समय बहिर्मुख मनुष्यों के आगे अपने स्वरूप को छिपा व्यवसाय क्षेत्र जुआखाना, शराबखाना, [illegible] और पशुहत्या आदि कलि की कितनी ही अशान्त लीलायें दिखा रहा है। इसका कारण शुद्ध हरिकीर्तन का अभाव है।

नीलाचल निवासी दुर्भिक्ष से पीड़ित हैं। उस दुर्भिक्ष का कारण शुद्ध हरिकथा के दुर्भिक्ष के अतिरिक्त और कुछ नहीं। हरिकीर्तन का दुर्भिक्ष होने से ही त्रिताप, देह, अर्थ और गृहादि का शोक [illegible], परिमित और विपुल लोभ तथा [illegible] इनके साथ ही साथ अधर्म के मित्र कलि का प्रवेश होता है।

इसीसे उस स्थान में हरि कथा के नाम से कनक-कामिनी तथा प्रतिष्ठा रूपी विषय की चर्चा, निर्गुण मठ या मन्दिर के आवरण से हीन कर्म का स्थान, सर्वकीर्तन यज्ञ के नाम से भोग यज्ञ और उसके फल से [illegible], भक्ति [illegible] की आलोचना और आचार्य का अभाव दिखाई देता है।

शुद्ध हरिकीर्तन के दुर्भिक्ष के प्रबल प्रकोप को देख श्रीगौरसुन्दर के भेजे हुए [illegible] भक्तों ने श्रीनीलाचल क्षेत्र में श्रीपुरुषोत्तम मठ को प्रकट किया। इस मठ में पान, तम्बाकू, गाँजा, ताश की गद्दी, जुआ आदि के खेल, अवैध स्त्री-सङ्ग या गृहमेधीय धर्म, पवित्र हरिकथा के कीर्तन में आलस्य, मछली-मांस भोजन रूपी हत्या तथा भोगजनक रूपी कनक का मेल नाम को भी नहीं है।

आचारवान् कृष्णतत्त्ववित् आचार्य के अनुगत पवित्र हरिकथा, भागवत आदि के शास्त्रसिद्ध प्रचार-कीर्तन, भगवान् और भक्तों का आविर्भाव और तिरोभाव के महोत्सव का अनुष्ठान, लुप्त तीर्थों का उद्धार, अतीर्थ स्थान को तीर्थ बनाना, भक्तिशास्त्रों की आलोचना और उसका प्रकाशन तथा प्रचार, सब जीवों के लिये ही संसार-रोग की औषध श्रीहरिनाम और एक मात्र पथ्य श्रीमहाप्रसाद का वितरण ही इस मठ का एक मात्र कर्त्तव्य है।

पुरुषोत्तम मठ का यह उत्सव गत १८वीं जून श्रीजगन्नाथदेव की श्रीश्रीस्नानयात्रा के दिन से आरम्भ हुआ है। श्रीश्रीविश्व-वैष्णव-राजसभा के सभ्यगण विश्वव्यापी मनुष्यों की मङ्गलों को, जाति धर्म का कुछ भी विचार न रखते हुए सब को ही इस महदनुष्ठान में शामिल होने के लिये बुला रहे हैं। क्योंकि "जीव का स्वरूप है,

नित्य कृष्णदास'। श्रीहरिकथा के सुनने और कहने के सिवा साधक या सिद्ध के लिये और कुछ भी साधन या साध्य है ही नहीं। दूसरे जिस हरिकीर्त्तन में मनुष्य मात्र को ही अधिकार है, उसमें नित्य मङ्गल चाहनेवाले मनुष्यों को ही योगदान करना चाहिये।

श्रीगौराङ्ग सुन्दर ने वृक्ष-लता, बाघ, मृग आदि जानवरों को भी हरिनाम सुना के कृतार्थ किया था। इसी नीलाचल क्षेत्र में शिवानन्द सेन का भाग्य वान कुत्ता सदा विष्णु-वैष्णव का जूठन भक्षण और हरि-कथा सुनकर महाप्रभु के श्रीचरण का दर्शन करते-करते अन्तर्धान हुआ था। श्रीहरिदास ठाकुर" के द्वारा यह समझाने के लिये, कि हरिभजन-परायण मनुष्यों के लिये जाति और कुल निरर्थक है,-- मुसलमान कुल में उत्पन्न होने पर भी नामाचार्य जगद्गुरु हुए थे। वे इस श्रीक्षेत्र में अपतित भाव से नित्य तीन लाख नाम का जप करते थे। उन्होंने श्रीमन्महाप्रभु के चरण को छाती से लगाकर श्री कृष्णचैतन्य का नाम लेते हुए अपनी निर्याणलीला (वैकुण्ठवास) दिखाई थी। यहाँ ही श्रीगौरसुन्दर ने भक्तों के साथ मिल ठाकुर हरिदास का श्राद्ध-महोत्सव किया था। भक्त लोगों ने श्रीहरिदास का पादोदक ग्रहण किया था।

भक्त-संग भगवान्

श्रीधर

(पूर्व प्रकाशित के बाद)

इस तरह महाभाग्यवान् श्रीधर प्रभु के नित्य सेवक और बहुत ही प्रियपात्र बन गये। नित्य प्राणधन श्रीगौरसुन्दर उनके हृदय में जाग उठे। श्रीगौरसुन्दर की कृपा से श्रीधर समस्त विषयों को श्रीकृष्णसेवा के अनुकूल समझकर श्रीगोविन्द की सेवा में लगाने लगे। इसे ही यथार्थ युक्त-वैराग्य कहते हैं:—

"अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥"

वास्तव में इस जगत में सभी वस्तुएँ श्रीहरिसेवा के अनुकूल हैं; किन्तु उसे हमलोग श्रीसद्गुरु के श्रीचरणाश्रय के बिना, सम्बन्धज्ञान के अभाव से, देह और मन का विचार कर—विषय समझ कर त्याग बैठे हैं।

श्रीधर के दिन बीतने लगे। नित्य ही श्रीधर बिना माँगे श्रीभगवान का दर्शन पाने लगे। भक्त के द्वारे तो श्रीभगवान सदा ही बँधे रहते हैं। इसलिये और कोई प्रयोजन न होने पर भी एक बार नित्य ही निमाई पण्डित को बाजार में श्रीधर की दूकान पर जाके खड़ा होना पड़ता था।

श्रीधर के साथ पान से ही प्रभु का सन्ताप था।

एक दिन श्रीगौरसुन्दर श्रीवास गृह में विष्णु-सिंहासन पर बैठ महाप्रकाश हुए। महाप्रकाश का अर्थ यह है, कि और दिनों श्रीगौरसुन्दर अचैतन्य अवस्था में भाव प्रकाश करते हुए विष्णुसिंहासन पर बैठते और बहुत ही थोड़ी देर तक उनका यह प्रकाश रहता था। किन्तु उस दिन ऐसा नहीं हुआ। सबेरे के पहले पहर में प्रकाश हुआ और दूसरे दिन सूर्योदय तक रहा। इसीसे इसे सप्त प्रहर-प्रकाश या महाप्रकाश कहते हैं। व्यास के अवतार श्रीवृन्दावनदास ठाकुर ने श्रीचैतन्य भागवत में गाया है:—

अन्य दिनों प्रभु-नृत्य दासता से होता था।
क्षण ऐश्वर्य प्रकाशि पुनः आपी खोता था॥
उस दिन नाचते हुए भाग्य भक्तों के आगे।
विष्णुखाट पर प्रभुजी जा बैठे अनुरागे॥
और दिनों प्रभु भाव प्रकाशित कर एक छिनके।
बैठें विष्णुखाट पर नित अनजानित बनके॥
सात प्रहर लों छोड़ प्रभू ने अपनी माया।
सिंहासन पर बैठ रूप को प्रकट दिखाया॥

सर्वचित्तहारी श्रीगौरसुन्दर परम शोभा और तेज का विस्तार कर श्रीविष्णुसिंहासन पर विराजे। भक्त लोग सामने बैठकर हृदय में और आँखों के सामने श्रीमूर्त्ति का दर्शन करते हुए आनन्द के सागर में लहराने लगे।

"परम प्रकट-रूप प्रभु का प्रकाश।
देखि परमानन्द भये सब दास॥"

सन्ध्या समय श्रीशची देवी ने आरती की।

"पञ्चदीप जला उनकी आरति किया।
निर्मञ्छन करि शिर धान-दूब दिया॥

श्रीगौर सुन्दर ने सब भक्तों से कहा,—"श्रीधर को बुलाओ।" कौन श्रीधर? एक दूसरे का मुँह देखने लगे। प्रभु ने कहा,—"श्रीधर पसारी मेरा परम भक्त है, नित्य मेरी सेवा के लिये शाक-भाजी दिया करता है।"

तब सब लोग श्रीधर के घर दौड़े गये। लोगों ने पहुँच कर अवाज दी—"श्रीधर, उठो, तुम्हें भगवान बुला रहे हैं। शीघ्र चलो।" रात के समय श्रीधर ऊँचे स्वर से श्रीनाम ले रहे थे। इसलिये पहले उन्होंने कोई जवाब न दिया। तब भक्तों ने और भी ऊँचे स्वर से बुलाया,—"श्रीधर, श्रीशची-गर्भ सिन्धु से भगवान उदित हुए हैं। आज वे श्रीवास आचार्य के घर प्रकाशित हो तुम्हें बुला रहे हैं, शीघ्र बाहर आओ।" श्रीधर चौंक पड़े। स्वयं भगवान बुला रहे हैं! वे बहुत ही चञ्चल पण्डित नित्य बाजार में आकर सब से पहले मेरी दूकान से शाक सब्जी जो कुछ पाते छीन झपट कर ले जाते थे। श्रीगयाधाम से लौटने के बाद से जब वे बाजार भी नहीं आते या अपनी दूकान पर छीना-झपटी भी नहीं करते। श्रीधर ने और भी सुना है, कि वे परम भक्त और सभ्य हो गये हैं। फिर यह भी सुना, कि वे स्वयं कृष्ण ही हैं। वही कृष्ण उन्हें बुला रहे हैं? और कहाँ, विद्वानों से परिपूर्ण श्रीवास आचार्य के घर में! उस समय के नवद्वीप समाज में श्रीधर जैसे मूर्ख और नीच मनुष्य उस घर में जा ही कैसे सकते थे? जहाँ श्रीमद्अद्वैताचार्य, श्रीवास नरहरि, पुरुषोत्तम आचार्य, मुकुन्द, चन्द्रशेखर आचार्य, पण्डित गङ्गादास और सारङ्गदेव आदि बहुतेरे विद्वान भक्त विराजमान हैं, वहाँ श्रीधर कैसे जाने की हिम्मत कर सकते हैं? श्रीधर सङ्कोच से इधर उधर कर रहे हैं और प्रभु बुला रहे हैं, इस आनन्द की अधिकता से वे मूर्च्छित हो गये। अब भक्त लोग क्या करें! देर करने का समय न देख वे लोग हाथों हाथ उठाकर उस मूर्च्छित अवस्था में ही श्रीधर को प्रभु के पास ले आये।

प्रभु बुलाने लगे,—"श्रीधर, उठो, देखो मैं कौन हूँ?" उस स्नेह-मधुर स्वर से श्रीधर की आँखें खुलीं। उन्होंने देखा, कि वही चञ्चल निमाई पण्डित ही हैं, जो नित्य झगड़ा मचा शाक सब्जी छीन ले जाते थे।

देखते-देखते फिर वही चञ्चल निमाई परम रमणीय रसिक-शिरोमणि व्रजेश नन्दन बन गये। श्रीधर ने देखा, कि कई सौ ब्रह्मा कई सौ शिव, कई सौ इन्द्र, वायु, वरुण यम, चन्द्र, सूर्य, अगणित ऋषि और कितने ही भक्त चारों ओर से उन्हें घेरे हाथ जोड़े स्तुति कर रहे हैं। यह दृश्य देख श्रीधर को फिर बेहोशी आने लगी तब श्रीभगवान ने कहा,—"श्रीधर, डरो मत—यही मेरी मूर्त्ति है। मेरा दर्शन निष्फल नहीं है। तुम धन जन आदि चाहे जो इच्छा करो, मुझ से सब माँगो, तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा।"

आँसुओं की धारा बहाते हुए श्रीधर ने कहा,—"प्रभो! मैं बड़ा ही मूर्ख, अधम, दीन हूँ, यह भी नहीं जानता, कि तुम्हारे साथ कैसे बातें करना चाहिये, मेरे दोषों पर ध्यान न देना। तुम्हारा तो कोई दोष ही नहीं, तुमने तो नित्य मेरे आगे अपना परिचय दिया है। कई बार तुमने कहा है कि मैं तुलसी का पति हूँ, गङ्गा का स्वामी हूँ, मुझे सौदा क्यों नहीं देते!" किन्तु मैं आप ही अपने दोष से धोखे में रहा। उस समय मैं तुम्हें पहचान नहीं सका। "प्रभु ने करुणा से विगलित होकर कहा,—"श्रीधर, इस में हर्ज ही क्या है? तुम मुझे पहचानते नहीं थे किन्तु मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ।" श्रीधर ने गद्गद स्वर से कहा,—"मेरा तरकारी बेचना सार्थक हुआ। मैंने शाक सब्जी देकर तुम्हारे अभय चरण का दर्शन पाया।"

तब प्रभु ने हँसकर कहा,—"तुम्हारी शाक-सब्जी तो मैंने ही छीन छीन कर ली है। मैं जानता था, कि उस पर मेरा पूरा-पूरा अधिकार है, और उसी अधिकार के बल से मैं भक्तों की चीजों को इसी तरह जबरदस्ती ले लेता हूँ। अब

सुनो, आज से तुमहें शाक-भाजी बचना न पड़ेगा। आज मैं तुम्हें अष्टसिद्धियाँ देता हूँ। इससे तुम्हारा दारिद्र्य दूर होगा।"

भागवत-कथा में उक्त समय श्रीधर के कण्ठ में सरस्वती विराजमान हुई। श्रीधर ने कहा,—"सिद्धाई लेकर मैं क्या करूँगा? जब मैंने महाजन पाया है, तब तुच्छ सिद्धाई लेकर क्या करूँगा?"

प्रभु ने कहा—'अच्छा, जब तुम्हारे धन-ऐश्वर्य हो, तब बड़े सुख से रहोगे न?"

श्रीधर ने उत्तर दिया,—"ऐश्वर्य की मुझे आवश्यकता नहीं। तुम तो समस्त धन से भी प्रिय हो।"

भगवान ने कहा,—"तब क्या तुम उत्तम स्त्री पुत्र की प्रार्थना करते हो? तुम्हारी गृहस्थी सुखमयी हो, जैसा बड़े संसारी लोग इसी की तो कामना करते हैं।"

श्रीधर ने हँसकर कहा,—"मुझ पर कौन सा दुःख पड़ा है, जो मैं अमृत सागर को पाकर भी जहर खाऊँ! ठाकुर, तुम तो पुत्र से भी अधिक प्रिय हो।"

भगवान ने कहा,—"तब राज्य लो, किसी देश के राजा बन जाओ।"

श्रीधर ने कहा,—"मैं प्रभुत्व लेकर क्या करूँगा? नित्य दासानुदास को प्रभुत्व की आवश्यकता ही क्या है? प्रभुत्व मुझे शोभा न देगा। तुम्हीं ने तो कहा है,—

मैं निज उस भक्त को विषय क्यों दिलाऊँ।
अपना चरणामृत देके विषय को भुलाऊँ॥

तब फिर ऐसी बातें क्यों कहते हो?'

भगवान ने पूछा,—"तब क्या परलोक में अक्षय सुख, मुक्ति चाहते हो?

श्रीधर ने कहा,—"दोहाई ठाकुर की! अपनी ठकुराई रहने दो। अब मेरी इच्छा कामना की आग सुलगाने की नहीं है। मैं तो साफ कह रहा हूँ, कि तुम्हारे सामने अपनी आत्मेन्द्रिय की प्रीति के लिये कोई भी प्रार्थना करना नहीं चाहता।"

तब ठाकुर ने बनावटी क्रोध प्रकट कर कहा,—"श्रीधर मेरा दर्शन वृथा जाने को नहीं, तुम्हें वर माँगना ही पड़ेगा।

श्रीधर ने कहा,—"मुझे तो किसी वर की आवश्यकता दिखाई नहीं देती। फिर भी यदि पहले की तरह जबरदस्ती देना चाहो तो मैं क्या कर सकता हूँ। आज मुझे यह वर दो, कि किसी समय जो चञ्चल प्रभूत शक्ति-सम्पन्न ब्राह्मणपुत्र मुझसे जोर जबरदस्ती करके शाक-भाजी छीन लेते थे, फिर आज जो स्वयं प्रकट हो सबके सामने मुझे भाँति भाँति के प्रलोभन से लुभाने की चेष्टा करते हैं, वे चञ्चलता और प्रलोभन परित्याग कर अति मूर्ख श्रीधर के हृदय में अचल भाव से अपने रङ्गीन चरणकमल को स्थापित करें।"

भक्त लोग अब तक भगवान और श्रीधर की सब बातें सुन रहे थे; वे लोग श्रीधर की यह प्रार्थना सुन बहुत ही विस्मित हुए। सब लोग श्रीधर को धन्यवाद देते हुए महा आनन्द से हरि ध्वनि कर उठे।

तब फिर श्रीभगवान ने कहा "श्रीधर, तुम बड़े ही दरिद्र और हेय हो; मैं तुम्हें एक एक करके अष्टसिद्धि, धर्म अर्थ, मनचाही स्त्री, पुत्र, अक्षय स्वर्ग इत्यादि देना चाहता था। तुमने कुछ भी नहीं लिया। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि तुम यह सब कुछ चाहते भी नहीं। तब भी निष्काम और सदा मेरी प्रीति से युक्त हो। भक्त की महिमा दिखाने के लिये ही मैंने तुम्हें यह सब लोभ दिखाया है। अब मैं तुम्हारा मनस्काम पूरा कर देता हूँ। तुम मेरे नित्य दास हो, मुझमें तुममें प्रेम हो।"

श्रीभगवान के श्रीमुख से निकले हुए वाक्य को सुनते ही श्रीधर 'मैं धन्य हुआ! मैं धन्य हुआ!' कहते हुए मूर्च्छित हो भूमि में लोट पड़े।

काजी-दलन के दिन काजी का उद्धार कर सपारिषद श्री गौरसुन्दर कीर्तन के रङ्ग में चलते हुए जुलाहा पल्ली कंस-वणिक पल्ली, शङ्ख-वणिक पल्ली को पार करते हुए दक्षिण और श्रीधर की बहुत ही जीर्ण कुटी के दर्वाजे उपस्थित हुए। दर्वाजे के सामने ही श्रीधर के एक बहुत ही पुराने लोहे के पात्र में पानी रखा था। उस लोहे के बर्तन की तारीफ है,—

"इतने जोड़ लगे जिसे चोर भी न पूछे।"

प्यासे होकर श्रीगौरसुन्दर उसी पानी को पीने के लिये तैयार हुए। श्रीधर के बहुत ही संकुचित हो मना करते रहने पर भी प्रभु सब पानी पी गये।

अपने इस सौभाग्य को सह न सकने की वजह श्रीधर मूर्च्छित होगये। प्रभु ने उनके शरीर पर हाथ फेरते हुए उन्हें होश में लाकर कहने लगे,—"मेरा कलेवर आज शुद्ध हो गया।"

"भक्ति दिखाने के ऐसे पात्र में है जल।
परमार्थ में वैष्णव का है सब कुछ निर्मल ॥
नजर भरके देखो आज दासका ये भाग।
... दास्यभाव करो कृष्णका अनुराग ॥
हीन न मानियो इसे कृष्णदास नाम।
हीन-भाग्य पावें नहीं दास भगवान ॥"

गीता की भूमिका

पूर्व प्रकाशित के बाद

श्रीगीता सब वेदों की चोटी उपनिषदों का सार है — सब शास्त्रों का समन्वय और सिद्धान्त का ग्रन्थ है — सब धर्म की मीमांसा है। श्रीगीता और उपनिषद में कोई भेद ही नहीं। श्रीगीता स्वयं भगवान के मुँह से निकली हुई वाणी है सुतरां [illegible] के समान है। इसीसे गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में लिखा दिखाई देता है—

"इति श्रीमद्भगवद्गीतासू''पनिषत्सुब्रह्मविद्यायाम।

[illegible] अनेक समय उपनिषद का मतलब समझना कठिन हो जाता है, किन्तु श्रीगीता बहुत ही सहज और सरल भाषा में उपनिषदों के सारांश, सिद्धान्त और प्रतिपाद्य विषयों को समझा देता है। कुल सात सौ श्लोकों का बहुत ही छोटा ग्रन्थ होने पर भी गीता ग्रन्थ में सब शास्त्रों का निचोड़ भरा हुआ है। साहित्य और काव्य के नाते भी यह ग्रन्थ बहुत ही मनोरम है। यद्यपि साहित्यिक या दार्शनिक सौन्दर्य को प्रकट करना गीता का मुख्य उद्देश्य नहीं है, तथापि सांसारिक ज्ञानवादियों को भी श्रीगीता अपने बाहरी सौन्दर्य से मोहित करने में पीछे नहीं हटा है। सभ्य जगत में सर्वत्र ही इस छोटे से गीता ग्रन्थ के साथ बड़े-बड़े मेधावी अपना माथा लड़ा रहे हैं। आज कल यह ग्रन्थ किसी-किसी विश्व-विद्यालय में पाठ्य पुस्तक के रूप में भी मान लिया गया है। जगत में युग युग के आचार्यों ने प्रकट हो श्रीगीता-ग्रन्थ के भाष्य की रचना की है। आचार्य पदवी पर अधिष्ठित होते हुए किसी समय जिस प्रकार अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार वेदान्त के भाष्य की बनावट बहुत ही ज़रूरी समझी गई थी, उसी प्रकार श्रीगीता ग्रन्थ के भाष्य की रचना का भी प्रयोजन दिखाई दिया था। आचार्य रामानुज, मध्व, [illegible] — यह सभी अपने-अपने सम्प्रदाय के मत के अनुसार वेदान्त तथा श्रीगीता का भाष्य बना गये हैं। कलियुग के पावन-अवतार श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत को ही वेदान्त का एक मात्र सच्चा भाष्य माना और उद्धवगीता या श्रीमद्भागवत के एकादश-स्कन्ध को श्रीगीता का सार बताया है। उनके चरणानुचर श्रीरूप सनातन और श्रीजीवपाद ने उक्त वेदान्त के अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवत की टीका, निबन्ध-ग्रन्थ और अनुव्याख्या के रूप में लघुतोषणी, वैष्णव-तोषणी, बृहद्वैष्णवतोषणी क्रमसन्दर्भ, भक्तिरसामृतसिन्धु, बृहद्भागवतामृत, षट्सन्दर्भ आदि ग्रन्थों की रचना कर, स्वयं कोई वेदान्तभाष्य प्रकाशित नहीं किया। चैतन्यचन्द्रचरणानुगत रूपानुग वैष्णवाचार्य श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने स्वयं श्रीगीता की सारार्थदर्शिनी नाम्नी एक अपूर्व माधुर्यमयी टीका की रचना की और कुछ दिनों के बाद श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण महाशय ने वेदान्त का गोविन्द भाष्य और गीता-भूषण नामक गीता के भाष्य का निर्माण किया था। वर्त्तमान युग में जीव के लिये एकमात्र नित्य सनातन धर्म-प्रचार के मूल पुरुष गौरगतप्राण आचार्यप्रवर श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने श्रीचक्रवर्ती ठाकुर और विद्याभूषण के अनुगत हो श्रीगीताकी "रसिक-रञ्जन" और "विद्वद्रञ्जन" नामक दो भाषानुवादों की रचना की। इसके अतिरिक्त श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने श्रीगीता के माध्वभाष्य को बङ्गाल में सबसे पहले प्रकाशित किया। सुतरां इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि श्रीगीता सात्वत आचार्यसङ्घ-सेवित ग्रन्थ है। इधर सात्वतगण ने श्रीगीता की सेवा कर जगत् में एकमात्र भगवान, भक्त और भगवद्भक्ति के नित्यत्व,

सर्वोत्कृष्टत्व और सर्वश्रेष्ठत्व को प्रकाशित किया है, दूसरी ओर भुक्ति और मुक्तिकामियों ने श्रीगीता की सेवा करने के बदले श्रीनारायण को पत्थर समझ उससे बादाम तोड़ कर खाने की तरह, उक्त ग्रन्थ द्वारा अपने भूख से जलते हुए पेट की पूर्ति, स्त्री पुत्र परिपालन, ऐहिक और पारलौकिक सुख-सम्पद का संग्रह किसी किसी ने अष्टादश सिद्धिलाभ और किसी किसी ने भगवान के आसन तक को ग्रहण करने का साहस किया है। श्रीगीता के फल को सुनने से मुग्ध हो कितने ही फलकामी कर्मी शारीरिक रोगों के हटाने, धन-पुत्रादि पाने, ग्रह की खराबी को सुधारने द्रव्य संग्रह या स्वर्गादि का सुख पाने के लिये गीताग्रन्थ का आश्रय लेने को व्यस्त होते हैं। इसी को भक्तगण कृष्ण में भोगबुद्धि कहते हैं श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात उपनिषत्-स्वरूप भगवान की साक्षात प्रतिमा है — किन्तु हाय ! उसकी नित्य सेवाकर नित्य भगवद्भक्ति लाभ करने के बदले उसके द्वारा अर्थ उपार्जन उससे मेहनत लेकर सामान्य रोग या ग्रहों की क्रूरता को दूर करने की चेष्टा और स्वर्गादि पाने की कोशिश करते हैं। कहां भगवानके भृत्य बननेका यत्न करना चाहिये और कहां उसके बदले भगवान से मजदूरी कराने की चेष्टा की जाती है। काशी प्रयाग, हरद्वार आदि तीर्थ स्थानों में जानेसे दिखाई देता है, धनाढ्य फलकामी कर्मियों ने साधुओं के लिये धर्मशाला, भोजन और उसीके साथ साथ हरेक को एक-एक गीताग्रन्थ के प्रदानकी व्यवस्था कर रखी है। इन सब तीर्थस्थानों की राहमें चलते चलते प्रायः ही दिखाई देता है कि दो-एक कौपीन या चिमटाधारी साधुवेशी पुरुष यात्रियों के सामने आकर कहते हैं, "एक गीताग्रन्थ खरीदके हमें दीजिये आपको बहुत पुण्य होगा!" द्रव्य चाहनेवाले सरल तीर्थयात्री तीर्थस्थान में साधुको गीतादान करने से बहुत द्रव्य होने का ख्याल कर एक गीता खरीद देते हैं। किन्तु वह साधु वेशधारी लोग तीर्थयात्रियों के आगे गीता को भिक्षारूपी व्यवसाय बना बहुत पैसा इकट्ठा करते और उससे गांजा, भांग और तरह-तरह के चर्व्य, चूष्य, लेह्य और पेय पदार्थों का भोग करते हैं। किताब बेचने वालों से भी ऐसे साधुओं का बन्दोबस्त है। तीर्थयात्रियों से एक ही गीता को बार बार खरिदवा कर, उनसे गीता दान लेकर दो चार पैसे कम मूल्य में फिर किताब बेंचनेवालों को दे देते हैं।

इस तरह तीर्थ स्थान में बहुतेरे साधुवेशी पुरुष और पुस्तक बेचनेवाले श्रीगीता-ग्रन्थ की सहायता से बहुत रुपये इकट्ठे करते हैं। इसी को कृष्ण में भोगबुद्धि कहते हैं। और सब देशों में ऐसा उदाहरण न होने पर भी श्रीगीता या श्रीमद्भागवत पढ़ और सुनाकर अर्थ, कामिनी और यश पाने के दृष्टान्त बहुत हैं। यह सभी कृष्ण में भोगबुद्धि के उदाहरण हैं।

श्रीगीता सब शास्त्रों और सब धर्मों की मीमांसा और सिद्धान्त-ग्रन्थ है। सुतरां सिद्धान्त या मीमांसा ग्रन्थ में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों ही होता है; क्योंकि पूर्वार्द्ध आदि न रहने से कभी कोई सिद्धान्त दृढ़ होकर स्थापित हो नहीं सकता। इसी से गीता में कर्म ज्ञान योग और भक्ति आदि सभी बातें पूर्णरूप से दिखाई देती हैं। किन्तु श्रीगीता का सम्पूर्ण अध्ययन किये बिना उसके चरम सिद्धान्त तक पहुँचना असम्भव है। कोई यदि गीता के द्वितीय अध्याय को ही पढ़ के कहे कि मनुष्य को युद्धविग्रह में नियुक्त करना, पराधीन देश को स्वाधीन बनाना और सब को रजोगुणी बनाना ही गीता का उद्देश्य है, तो समझना चाहिये, कि वह गीता के अधूरे जानकार हैं,—उन्होंने प्रगाढ़ अभिज्ञान, जड़मन, जड़ बुद्धि जड़ विचार प्रणाली से गीता पढ़ी है। फिर यदि कोई श्रीगीता के तृतीय अध्याय को पढ़कर कहें, कि कर्मयोग ही गीता का उद्देश्य है, क्योंकि श्रीभगवान ने स्वयं कहा है —

नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥"

अर्थात तुम नित्यकर्म सन्ध्या-उपासनादि करो, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही अच्छा है। सब कर्मों से शून्य होने पर तुम्हारी देहयात्रा का भी निर्वाह न होगा—इस सिद्धान्त पर पहुँचनेवाले मनुष्यों को भी गीता का एक अंश देखनेवाले कहना चाहिये क्योंकि उसके बाद के ही श्लोक में भगवान कहते हैं।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

अर्थात — यज्ञः परमेश्वरः, यज्ञः अर्थः विष्णुः यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुते, तदाराधनार्थात् विना कर्मबन्धनः।

सन्ध्या वन्दनादि कर्म भी कर्म की बेड़ी बनकर जीव को कर्मपाश में बाँधती है। फिर भी परमेश्वर विष्णु की प्रीति या सेवा के उद्देश्य से जो कर्म अर्थात् भक्ति है, केवल

उसी कर्म का करना कर्त्तव्य है। गीता चतुर्थ अध्याय में (४ ११) फिर कहा है

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥'

'जो जिस भाव से मेरी शरण लेते हैं, ... उसी तरह का फल प्रदान करता हूँ।' इस प्रकार के वाक्य को देख तृतीय अभिज्ञान से लोग सिद्धान्त कर बैठते हैं, — जिसके मन में जैसा भाव है, वे उसी भाव से भगवान को याद करें। भगवान को याद करने ही का उद्देश्य है, तो काली, दुर्गा, हरि, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण किसी एक नाम को ले भाव के साथ याद करने से ही वे फल प्रदान करेंगे। इस प्रकार कितने ही लोग एक अंश को देखकर जड़बुद्धि से गीता पढ़कर मनोधर्म हो मन के खयाल को ही भाव या भक्ति समझते हैं। भगवान को खराब वस्तु समझते हैं। जो जिस भाव से मेरे शरणागत होते हैं, मैं उसी भाव से उन्हें याद करता हूँ, भगवान के इस वाक्य से यह नहीं समझ में आता, कि सब तरह से याद करने से ही भगवान के सब स्वरूपों की उपलब्धि होती है। यदि कोई कहे, कि 'जैसा कर्म वैसा फल' तो क्या यह समझना चाहिये, कि सब कर्मों का फल एक ही प्रकार का है? बल्कि इसके विपरीत ही समझ में आता है, कि कर्म के अनुसार ही फल का अलगाव है। इसी प्रकार उक्त भगवद्वाक्य का उद्देश्य भी यही है, कि जीव जिस भाव से मेरे शरणागत होगा, मैं उसीके अनुसार फल प्रदान करूँगा। जो कर्म को ही अधिक मान कर कर्मफल के प्रयासी हो बहुतेरे देवताओं की आराधना में नियुक्त होंगे, उन्हें मैं दैवीमाया से विमोहित कर अपने यथार्थ स्वरूप और अपनी निष्काञ्चन अहैतुकी प्रेमभक्ति देने से वञ्चित रख सामान्य नश्वर छोटे-छोटे फल प्रदान करूँगा। क्योंकि उस श्लोक के बाद ही भगवान ने (४।१२ श्लोक में) कहा है, —

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥

जो मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक सुख-सम्पदादि के फल की सिद्धि के लिये इस पृथिवी में मेरे गुण-आधिकारिक देवताओं की आराधना करते हैं, उन्हें इस मनुष्य लोक में बहुत ही शीघ्र-शीघ्र कर्मजनित फल मिलता है।

फिर, "जो निर्विशेषवादी हैं, उनके आत्मविनाश द्वारा निर्विशेष ब्रह्म के रूप में मैं निराशि मुक्ति प्रदान करता हूँ। जो लोग शून्यवादी हैं, उनके लिये मैं शून्य स्वरूप हो उनकी सत्ता को शून्यगत बना देता हूँ। जो लोग जड़, जड़कर्म या जड़विधि-वादी हैं, उनकी आत्मा को आच्छादित चेतनरूप में जड़प्राय बना मैं उन्हें जड़रूप में ही प्राप्त होता हूँ। जो योगी हैं, उन्हें मैं ईश्वर रूप में विभूति प्रदान करता हूँ।" यह सभी भगवद्विमुखता के लिये दण्ड स्वरूप है; क्योंकि उसमें मेरी एक मात्र शरणागति और मेरा सुख तात्पर्य नहीं है। जो लोग शुद्ध भक्त हैं, वे परम नित्यधाम में मेरी सच्चिदानन्द विग्रह की नित्यकाल सेवा कर मेरी सेवा के आनन्द को पाते हैं।

(क्रमशः)

(तेजी का बेल लग्न से संयुक्त)

भूतन कालिदास के 'भूत' भवन के किनारे अधोक्षजदास का मकान है। अक्षजदास उनके सहपाठी हैं, कालेज में एक साथ ... ए० में पढ़ते हैं आज दोनों ही मित्र बैठक में बैठे हुए हैं। इसी समय कालिदास के घर में कुछ झगड़ा सुनाई दिया। माजरा समझने के लिये दोनों मित्र कान लगाकर सुनने लगे।

"कामिनि! तुम्हारा माथा खराब हो गया है। तुम्हारा पति कालिदास मर के भूत हो गया है; फिर भी तुम मुझ (नटवर गोसाईं) की बातों का अविश्वास कर उस भूत के लिये व्याकुल हो उठी हो। छि:! क्या तुममें इतनी मामूली समझ भी नहीं है, कि तुम्हारा कालिदास अनित्य था, वह मर गया; मैं तुम्हारा नित्य-पालक, रक्षक और मित्र हूँ। वास्तव में गुरुदेव और भगवान एक ही हैं। सुतरां भगवान के नित्यपति होने से मेरे साथ तुम्हारा

जो नित्य का सम्बन्ध है, क्या उसे भी इस समय तुम भूल गई ? धीरज न रखके मेरे भोजन की तैयारी करो। और मेरी गये वर्ष की प्रणामी, पूजे के दो जोड़ कपड़े इत्यादि जो जो मिलना चाहिये, उसे निकाल के रक्खो। भोजन करने के बाद मैं अधिक देर ठहर न सकूँगा।"

कामिनी चुपचाप मन ही मन न जाने क्या सोच रही थी। प्रभु की बातें वह सुन ही नहीं रही थी। शिष्यों का यह भाव देख प्रभु का कोपानल बड़े वेग से जल उठा, वे फिर खूब चिल्लाकर कहने लगे,—"अभागिनी! तेरी न जाने क्या दुर्गति होगी। नित्य-मित्र की उपेक्षा कर एक अनित्य निष्ठुर मित्र के लिये अन्धी हो रही है। बोल, मेरा हक देगी या नहीं। खाने-पीने की कोई ज़रूरत नहीं। मेरी प्रणामी ५२) और दो जोड़ कपड़े शीघ्र दे दे; मैं बिदा होऊँ।"

प्रभु की विस्फोटक कोपानल के ताप से कामिनी फिर मानो अपने होश में आई। वह कुछ लज्जिता होकर व्यस्त भाव से प्रभु के आगे गलवस्त्र हो हाथ जोड़ कहने लगी,—"प्रभो! मैं अबला, बुद्धिहीना और साथ ही विपद् में पड़ी हुई हूँ। मैं किंकर्तव्यविमूढ़ा हूँ। आप मुझे क्षमा करें। अपना क्रोध सँभालें। क्या आप देख नहीं रहे हैं, कि मुझ पर कैसी विपद आई है। मेरे स्वामी जाने के समय एक पैसा भी मेरे हाथ दे नहीं गये, सुतरां मैं कैसे आपका सन्तोष विधान करूँ। अभी आप ही कह रहे हैं, कि आप मेरे मित्र और रक्षक हैं। किन्तु मैं सरासर देख रही हूँ कि आप रक्षक से बढ़कर निष्ठुर और कठोर हैं। क्या आप प्रणामी लेने के लिये ही यहाँ आये हैं? यदि यही ठीक है, तो मुझे क्षमा करें, मैं प्रणामी देने में असमर्थ हूँ। फिर, आपको खिलाऊँ क्या, खाने का कुछ ठिकाना ही नहीं है, आपको इतने रुपये कहाँ से दूँ।" यह कहकर कामिनी सिर झुकाकर चुपचाप बैठ रही।

कामिनी का ऐसा आचरण देख प्रभु अपनी इन्द्रियों को रोक न सके। वे लाल-लाल आँखें कर हाथ में जनेऊ ले काँपती हुई आवाज़ में कहने लगे, "तेरी इतनी स्पर्द्धा! मुझे नहीं जानती—मैं नटवर हूँ। कालिदास तो गया ही, आज तेरी 'मांग' (कन्या मनोमोहिनी) भी खून फेंककर मर जायगी। शीघ्र मेरे रुपये दे, कपड़े ले आ, नहीं तो अपने हाथ के सोने के कड़े को रेहन रखकर कोई बन्दोबस्त कर। मैं तेरा एक भी उज्र या आपत्ति न सुनूँगा। बिना रुपये लिये मैं यहाँ से न उठूँगा और अन्नजल भी ग्रहण न करूँगा।"

अक्षज और अधोक्षज कान लगाकर नटवर प्रभु की लीला सुन रहे थे। अधोक्षज ने कहा,—"भाई अक्ष! यह क्या सुनाई दे रहा है? यह तुम्हारे नटवर गोसाईं की ही आवाज़ है न? क्या यही उनका गोसाईंपन और प्रभुत्व है! तुम अभी थोड़ी देर पहले इनकी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे। क्या तुम्हारे यहाँ गुरु-शिष्य का यही सम्बन्ध है? गुरु क्या शिष्य से ऐसा ही प्रभुत्व और गुरुत्व दिखाकर दक्षिणा वसूल करते हैं! भाई, तुम लोगों का शिष्यत्व और गुरुत्व हमारी समझ में आता ही नहीं। असल बात तो यह है, कि क्या जाने इतना ज़ोर ज़ुल्म तो काबुली लोग भी नहीं करते। बेचारा कालिदास एकाएक गृहत्याग कर अन्तर्धान हो गया है। उसकी पत्नी और कन्या चिन्ता से कातर हो रही हैं। घर में कोई ठिकाना नहीं, बेचारा नित्य आफिस से कुछ ले आता था, तब गृहस्थी चलती थी। ऐसे पर इतना ज़ुल्म! कहाँ विपद् में उस पर समवेदना प्रकट करना, धीरज देना और रक्षा करना चाहिये; कहाँ उसे ही ग्रास करने को तैयार! छिः! चाहे तुम कुछ ही क्यों न कहो, मैं तुम लोगों के इन सब मामलों से बहुत ही घृणा करता हूँ।"

अक्षजदास ने कहा;—"यह क्या कहते हो अधोक्षज! चुप रहो, चुप। ऐसी बातें मुँह से न निकालो, वे साक्षात् प्रभु-सन्तान हैं। अरे बापरे, नटवर प्रभु हैं। तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा; अरे, प्रभु के दोष को देखना और प्रभु के काम पर विचार! यदि वे दक्षिणा न लें तो संसार कैसे चले? उनके घर नित्य ठाकुर सेवा कैसे हो? प्रभु शिष्य के लिये जीवन की बाजी खेलें और शिष्य उनका हक भी न दे। कालिदास की स्त्री की हिम्मत तो देखो! प्रभु के मुँह पर बातें सुनाती है। क्या यही शिष्य का कर्तव्य है! प्रभु को संतुष्ट करना ही शिष्य का कर्तव्य है। पास में रुपये नहीं हैं, तो हाथ के कड़े उतारने से ही तो काम चल जाता। "सर्वस्वं गुरवे दद्यात्" गुरुदेव को सर्वस्व दान कर देना चाहिये। अधोक्षज! क्या तुम्हें शास्त्र का यह वचन नहीं मालूम, जो केवल दया और न्याय के ऊपर विचार कर रहे हो? प्रभु सन्तान के बारे में न्याय-अन्याय कुछ भी देखना न चाहिये; देखने से पाप होता है, शिष्य का अमङ्गल होता है।"

अवोक्षा ने स्थिरभाव से [illegible] की बात और युक्ति सुन और [illegible] से उनसे पूछा—"अच्छा भाई! यदि नाराज न हो, तो तुमसे एक बात पूछूँ [illegible] कौन है, प्रभु-स्थान किस [illegible] कहते हैं? "प्रभु" कौन [illegible] में [illegible] क्या कोई "प्रभु" हो सकता है [illegible] प्रभु का परिचय और लक्षण [illegible] इन बातों का उत्तर [illegible] विचार-पूर्वक सुनना चाहता हूँ। शरीर के जोर से या धन के बल से समझाना हो मैं सुनना नापसन्द करता हूँ। यदि अच्छे विचार और युक्ति के साथ कुछ इन बातों का जवाब दे सको, तो दो; मैं सुनूँगा। नहीं तो तुम्हारी इस प्रकार की जबानी बात मैं सुनना नहीं चाहता।

(क्रमशः)

प्रचार-प्रसंग

प[illegible] स्मरणीय परिव्राजकाचार्यवर्य श्रीमद्भक्ति-[illegible] सरस्वती गोस्वामी महाराज [illegible] (१९३६), शनिवार को [illegible] मेल से कलकत्ते से रवाना होकर ता० २३ वीं मई सोमवार के दिन ९ बजे मद्रास पहुँचे। [illegible] स्टेशन पर कलकत्ता वासी भक्तवृन्द और सज्जनगण श्रीप्रभुपाद को अभिनन्दन देने को आये थे। मद्रास-स्टेशन पर भी मद्रास [illegible] श्रीगौडीय मठ से मठरक्षक त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति [illegible] महाराज, आचार्य अध्यापक श्रीपाद [illegible] भक्तिशास्त्री सम्प्रदाय-वैभवाचार्य एम० ए०, [illegible] सम्पादक श्रीयुक्त [illegible] श्रीयुक्त बी० [illegible] आदि सज्जनों ने मद्रास सेन्ट्रल स्टेशन पर श्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना की। खुरदारोड स्टेशन से प्रचारी पण्डित श्रीपाद परमानन्द ब्रह्मचारी [illegible] ने श्रीप्रभुपाद का साथ दिया। खुरदारोड स्टेशन में आचार्य [illegible] प्रभु की इच्छा से अमलापुर [illegible] के एक जमींदार श्रीहरि[illegible] महामन्त्र प्राप्त कर धन्य हुए। [illegible] स्टेशन पर श्रीप्रभुपाद के श्रीचरणाश्रित श्रीयुक्त मधुसूदन चट्टोपाध्याय (बी-ए, [illegible]) ने विविध उपहार के साथ श्रीप्रभुपाद के श्रीचरण-दर्शन और वन्दना किया। कटक-स्टेशन पर कटक श्रीसच्चिदानन्द मठ के ब्रह्मचारी और भक्तवृन्द तथा पण्डित श्रीपाद [illegible] भक्तिशास्त्री, पण्डित श्रीपाद सुदर्शन [illegible] भक्तिशास्त्री आदि बहुतेरे भक्त नाना प्रकार के उपहारों के साथ श्रीप्रभुपाद के श्रीचरण-दर्शन के लिये स्टेशन पर उपस्थित हुए थे। इलोर स्टेशन पर त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति[illegible] महाराज, श्रीपाद जगदानन्द ब्रह्मचारी, श्रीयुक्त [illegible] और इलोर के [illegible] श्रीयुत [illegible] बी० ए० प्रभृति बहुतेरे उपहारों के साथ श्रीप्रभुपाद को अभिनन्दन पत्र देने के लिये स्टेशन पर उपस्थित हुए। कुछ विशिष्ट आन्ध्र-ब्राह्मणगण ने श्रीप्रभुपाद को चन्दन मालों से विभूषित कर पुनः दीपादि द्वारा आरती और [illegible] किया। किसी किसी ने श्रीप्रभुपाद के [illegible] में अभिनन्दन प्रकाश करने के लिये [illegible] और फूल बरसाये। इलोर-[illegible] प्रार्थना-समाज के [illegible] ने श्रीप्रभुपाद को अभिनन्दन-पत्र प्रदान किया। इलोर के [illegible] श्रीयुत [illegible] (आन्ध्र ब्राह्मण) परम भाग्य श्रीप्रभुपाद के श्रीचरण का आश्रय ले श्रीगौरसुन्दर के भजन करने के लिये [illegible] के साथ सपरिवार इलोर से श्रीपाद के साथ हो लिये। श्रीप्रभुपाद गौडीय मठ में आकर आचार्य अध्यापक श्रीयुत [illegible] सान्याल एम० ए० भक्तिसुधाकर भक्तिशास्त्री सम्प्रदाय-वैभवाचार्य प्रभु द्वारा विरचित 'श्रीकृष्ण चैतन्य' नामक अँगरेजी ग्रन्थ और "श्रीब्रह्मसंहिता" का अँगरेजी अनुवाद कार्य के प्रकाशन के लिये लगातार उपदेश प्रदान कर रहे हैं और मद्रासवासी भक्त तथा सज्जनों को बराबर हरिकथा सुना रहे हैं। श्रीरामानुज श्रीमाध्व (तत्त्ववादी), श्रीशङ्कर सम्प्रदाय के विविध पण्डित श्रीप्रभुपाद के श्रीमुख से श्रीगौरसुन्दर-प्रचारित अनर्पितचरी कृष्णप्रेम के असमोर्द्ध्व वैशिष्ट्य को सुनकर परमार्थ-राज्य की नई रोशनी देख रहे हैं। सुकृतिमान लोग श्रीमन्महाप्रभु के भजन में शामिल हो रहे हैं।

दिल्ली गौडीय-मठ के प्रचारक त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति

स्वामीजी महाराज ने गत २८ वीं मई को कर्नाल के गौरी बाजार में बहुतेरे विद्वानों से भरी सभा के भीतर अंगरेजी में 'धर्म जीवन की प्रयोजनीयता' के सम्बन्ध में वक्तृता दी है। उनकी वक्तृता से प्रसन्न हो स्थानीय वकील महाशयों ने उनके मुख से फिर श्रीभागवत कथा के सुनने का आग्रह किया।

परमायु-विचार

जीव शब्द से भगवान की तटस्था शक्ति मानी जाती है। चित और मायिक, दोनों ही जगत में जीव के जाने की योग्यता है, इसीसे उसे 'तटस्था शक्ति' कहा गया है। जीव जब स्वतन्त्रता का अपव्यवहार करता है, तभी भगवान की बहिरङ्गा शक्ति माया उसे इस दुःखमय संसार में लाकर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कराके त्रिताप की ज्वाला से जलाती है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते समय जीव भाँति भाँति की पाञ्चभौतिक देह का आश्रय लिया करता है। इस प्रकार जीव के किसी एक शरीर में रहने के समय के परिमाण को उसकी परमायु कहते हैं। फिर जब वह जीव पाञ्चभौतिक शरीर को परित्याग कर और किसी देह का आश्रय लेता है, तब लोग कहा करते हैं, कि इस जीव की परमायु खतम हो गई, अर्थात मृत्यु हो गई है। किन्तु वास्तव में जीव किसी तरह भी समय के अधीन नहीं, जीव की परमायु का विचार हो ही नहीं सकता। केवल पञ्चभूत से बने शरीर ही विनाश होता है। जीव नित्य कृष्ण का दास है, उसका जन्म, जरा और मृत्यु है ही नहीं। फिर भी कृष्णबहिर्मुखता रूपी कर्मों के वश इस दुःखमय संसार में आकर कभी स्थावर और कभी जलचर या कीट-योनि में जन्म-ग्रहण करने के बाद बड़े पुण्य से इस दुर्लभ मानव-देह का आश्रय मिलता है। जैसा—पद्मपुराण में कहा है—

जलजा नव लक्षाणि स्थावरा लक्ष-विंशतिः।
क्रिमयो रूद्र संख्यकाः पक्षिणां दशलक्षकम्॥
त्रिंशलक्षाणि पशवश्चतुर्लक्षाणि मानवाः॥

जिनके शरीर में आत्मबुद्धि है, वही लोग अपने और पराये की परमायु की गणना किया करते हैं। जगत में देहात्मबुद्धिवाले ही अनेक हैं; सुतरां सभी यह चाहते हैं, कि अपनी और आत्मीय-स्वजनों की परमायु बड़ी हो। ऐसे लोग किसी मनुष्य की मृत्यु देखकर बड़े ही शोकातुर होते और कहते हैं, कि इसकी परमायु रह न गई, इसीसे मर गया; किन्तु वे ज़रा भी इसका विचार नहीं करते, कि जीवात्मा देह से अतिरिक्त चित्कण वस्तु है। उसके लिये जरा या मृत्यु है ही नहीं, केवल उसके शरीर का ही पतन होता है। वे लोग समझते हैं, कि संसार में अधिक दिन जीने से ही जीवन सार्थक होता है। स्त्री पुत्रादि के साथ गृहस्थी करना और रुपये पैदा कर उनकी सेवा करते हुए आमोद प्रमोद में जीवन बिताते अधिक दिन बच के रहने से ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य साधित होता है। 'मैं कौन हूँ? कहाँ से इस संसार में आया? मातृगर्भ की भयानक यन्त्रणा से किसने मेरी रक्षा की? क्यों इस त्रिताप की यन्त्रणा से जला मरता हूँ? और मरके कहाँ जाता हूँ?' यह सब चिन्ताएँ एक बार भी किसी के हृदय में उदित नहीं होतीं।

यदि कोई किसी सुकृति के फल से अपने स्वरूप को पहचानने की चेष्टा करते हैं, तो साधुशास्त्र और सद्गुरु द्वारा जान पाते हैं, कि जीवमात्र ही कृष्ण के नित्यदास हैं और उनकी (श्रीकृष्णकी) सेवा ही जीव का नित्यधर्म है। स्त्री-पुत्रादि की सेवा जीव का स्वधर्म नहीं। जिन्होंने स्त्री-पुत्रादि के साथ कृष्ण की गृहस्थी बनाई है, वे कभी स्त्री-पुत्रादि को स्त्री पुत्र नहीं समझते; कृष्ण के दासी-दास समझ उनकी सेवा करते हैं कृष्ण की सेवा परित्याग करने से ही जीव की संसार भ्रमणरूपी अधोगति होती है। इसीसे वह चौरासी लाख योनि में भ्रमण करते हुए कभी स्वर्ग में और कभी नरक में पड़ते हैं और त्रिताप की ज्वाला से जलते हैं; जैसा श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्य २० श परिच्छेद में है,—

"कृष्ण को भूल वह जीव अनादि बहिर्मुख ।
अतएव माया उसे देय संसार दुःख ॥
कभी स्वर्ग में जाय कभी नरक गोता खाय ।
दोषी को राजा जैसे नदी में डुबाय ॥"

साधु, शास्त्र और सद्गुरु की कृपा से कोई भाग्यवान जीव जब अपने स्वरूप को पहचान जाता है और हरिसेवा में रत होता है तब उसी समय मायापिशाची उसे छोड़ देती है। तब वह जीव भगवान से प्रार्थना करता है, जैसा कि भक्तिरसामृत सिन्धु में है,—

"कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशा-
स्तेषां जाता मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः।
उत्सृज्यैतानथ यदुपते साम्प्रतं लब्धबुद्धि-
स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुङ्क्ष्वात्मदास्ये ॥"

हे भगवन् कामादि के अनेक प्रकार के दुष्ट आदेशों का मैंने पालन किया है, फिर भी मेरे प्रति उनकी करुणा न और मुझे लज्जा या उपशान्ति न मिली। हे यदुपते! अब मैं उन सबको परित्याग कर बुद्धि लाभ करते हुए तुम्हारे अभय चरण के शरणागत होता हूँ तुम अब मुझे अपना दास बना लो।

जब इस प्रकार जीव माया की सेवा त्यागकर श्रीकृष्ण के शरणागत होता है तब वह दीर्घायु होने का प्रयास नहीं करता। क्योंकि वह सोचता है, कि सब कुछ भगवान की इच्छा पर निर्भर है। उनकी इच्छा से जब तक यह देह रहे तब तक उनकी सेवा करते चलना ही जीव का कर्त्तव्य है। उनकी इच्छा से ही कोई दीर्घायु और कोई अल्पायु पाते हैं। माया की सेवा करते हुए दीर्घायु लाभ कर वृथा देह का भार वहन करने की अपेक्षा कृष्ण भजन करते हुए मुहूर्त्तभर के लिये जीना भी जीव के लिये परम सौभाग्य है।

इसीसे कहते हैं कि वृथा परमायु के बढ़ाने की चेष्टा न कर हरि भजन में प्रवृत्त होना ही हम सबका कर्त्तव्य है। मृत्यु जब अवश्यम्भावी है, तब दीर्घायु लाभ करके मरने से भी आखिरी दिन इम बड़े शौक की देह को छोड़कर चले जाना पड़ेगा और यह देह भी बड़े बड़े जन्तुओं की भक्ष्य होगी या सड़ गलकर कीड़ों का भोजन बनेगी। यही देह का परिणाम है! सबको ही एक न एक दिन श्मशान जाना पड़ेगा, सब की ही देह श्मशान में लुढ़केगी।

लखपति कोटिपति, सब की यही है गति,
आगे पीछे जाना ही होगा।
सबका विश्राम स्थान, एक मात्र है श्मशान,
इसमें सन्देह न लाना होगा ॥
सत्य में लखवर्ष परा, तब भी नाहि कोई तरा,
यह तो कलि परमायु क्षीण होवे।
सौ वर्ष पर्यन्त, जीव का जीवन अन्त,
इतने दिन कहो तो कौन जीवे ॥
यदि जीवे इतने काल, इससे क्या होगा हाल,
दो चार सौ हजार जीवे।
वयस तो मिथ्या लागे, अनन्त इस काल आगे,
अन्त में सब की याही गति होवे ॥

जो अभक्त हैं, अपने स्वरूप को समझ नहीं सकते, अर्थात यह समझने में असमर्थ हैं, कि श्रीकृष्ण ही एकमात्र सेव्य वस्तु हैं हम लोग उनके दास हैं उनकी सेवा करना ही हम लोगों का नित्य धर्म है; वे ही कहा करते हैं,—

लोकः पृच्छति सद्वार्त्तां शरीरे कुशलं तव।
कुतः कुशलमस्माकं आयुर्याति दिने दिने ॥
लोग पूछते हैं, "तुम्हारा शारीरिक मङ्गल तो है
किन्तु हमारी आयु का तो क्षय हुआ जाता है।

आयु के बढ़ने या घटने से भक्त लोग दुःखी नहीं होते; वे लोग केवल हरिसेवा ही चाहते हैं। वे भगवान के आगे प्रार्थना करते हैं,

नाथ! योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ॥

हे नाथ! मैं चाहे जिस योनि में जन्म ग्रहण क्यों न करूं, मुझमें तुम्हारी अविचलता भक्ति सदा ही वर्त्तमान रहे। यदि मुझे कीटादि किसी भी योनि में जन्म ग्रहण करके बहुत थोड़े ही दिन जीवित रहना पड़े, उसमें ऐसा नहीं, कि मैं असुखी हो जाऊँगा; फिर ऐसा भी नहीं, कि वृक्ष, पशु, मनुष्य प्रभृति योनि में जन्म ग्रहणकर दीर्घायु पाते हुए सुखी होऊँ। फिर भी मेरी यह प्रार्थना है, कि तुम्हारे श्रीचरण युगल में निरंतर अचला भक्ति विराजमान रहे। जो मनुष्य सदा मृत्यु के भय से भीत होते हैं, वे ही परमायु के प्रति लक्ष्य किया करते हैं, किन्तु भक्त लोग मृत्यु के भय से

कभी भीत नहीं होते और दूसरों की मृत्यु पर भी शोक प्रकाश नहीं करते ; क्योंकि वे जानते हैं, "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।" वे लोग कहा करते हैं:—

"अरे मृत्यु तू मुझको है क्या दिखलाती भय ।
तेरे भय से कम्पित होगा नहीं मेरा ह्रिदय ॥"

जहाँ काल का विक्रम मौजूद है, वहाँ ही सुख-दुःख, प्रकाश-अन्धकार, दिन रात, दीर्घायु अल्पायु प्रभृति की गणना हुआ करती है । इस देवी-धाम (संसार) में ही काल का प्रभाव पूरी तरह से फैला हुआ है ; सुतरां इस देवीधाम (संसार) के निवासी जीवों को ही मायाशक्ति प्रकाश-अन्धकार दिन रात और अल्पायु-दीर्घायु प्रभृति तरह-तरह की विषमता का दर्शन कराती हैं ; किन्तु भगवद्धाम में काल का विक्रम नहीं चलता ; वहाँ चन्द्र सूर्य एक ही समय में विराजित हैं ; वहाँ दुःख, अंधकार, दीर्घायु, अल्पायु प्रभृति कुछ भी नहीं है । वहाँ चिरसुख, चिरशान्ति, कोटि कोटि सूर्य की प्रभा जरा शोकादि विवर्जित अवस्था सदा विराजती है ।

फिर, सूर्य के उदय-अस्त होने के अनुसार दिन, महीने, वर्ष इत्यादि के क्रम से लोगों की आयु का क्षय होता है; लोग प्रायः मृत्यु के मुख की ओर अग्रसर होते रहते है; किंतु जो लोग हरिकथा में रत रहते हैं वे मृत्युमुख की ओर अग्रसर नहीं होते । ऐसे लोग अमृतत्व लाभ करते हैं ; इसी से सूर्य उनकी आयु का क्षय करने में समर्थ नहीं होता । शौनकऋषि ने सूत गोस्वामी से कहा है,—

"आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ ।
तस्यर्ते यत् क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया ॥"

साधु लोग कहते हैं,—नर-शरीर ही भजन का मूल है; अर्थात मनुष्य जन्म में ही हरिभजन होता है, अन्य योनि में जन्म ग्रहण करने से हरिभजन नहीं होता । इसी से किसी-किसी के लिये हरिभजन के वास्ते ही अधिक परमायु की आवश्यकता होती है । यदि कोई बचपन से युवावस्था तक हरिभजन न करके केवल वृथा समय नष्ट करे, किंतु वृद्धावस्था में हरिभजन करना आरंभ करे, तो वे कहा करते हैं, हाय, मेरा जीवन विफल हो गया । अब मैं वृद्धावस्था को पहुँचा, शरीर दिन पर दिन क्षीण होता जाता है । यदि भगवान कृपाकर और कुछ दिन जीवित रखें, तो मैं कुछ दिन हरिभजन कर सकूँ, नहीं तो हरिभजन न हो सकेगा मुझे फिर चौरासी योनि में घूमना पड़ेगा । ऐसे ही के लिये परमायु-वृद्धि की आवश्यकता है । नहीं तो हरिभजन के लिये दीर्घायु पाने की कोई आवश्यकता नहीं । नरदेह में ही हरिभजन होने के ख्याल से कोई कोई मनुष्य अधिक दिन जीवित रहने की इच्छा करते हैं ; क्योंकि वे लोग समझते हैं, कि अन्य योनि में वे भगवान की सूचना न पावेंगे और उनकी सेवा से वंचित होंगे । शास्त्र-मुकुटमणि श्रीमद्भागवत हम लोगों को सावधान करते हुए उपदेश देते हैं:

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावत्—
निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ।

यह मनुष्य-देह बहुत ही दुर्लभ है क्योंकि यह बहुत दिन के बाद—चौरासी लाख योनि में भ्रमण करने के बाद मिला है । किन्तु चिरस्थायी नहीं है इसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, अतएव यह अनित्य है किन्तु ऐसा होने पर भी परम पुरुषार्थ के लाभ करने का प्रधान साधन है । अतएव इस देह का पतन होते न होते श्रीभगवान के श्रीचरणारविन्द के लाभ करने की चेष्टा करना ही बुद्धिमान लोगों का कर्तव्य है, क्योंकि विषयभोग पशु, पक्षी, कीट आदि सभी प्रकार की योनियों में संभव है; किंतु मनुष्य-देह के अतिरिक्त और किसी देह में भगवच्चरणारविंद के लाभ का साधन सम्भव नहीं ।

दीर्घ आयु पाये यहाँ कौन फलोदय ।
स्त्री-पुत्र-मरण नीं जाने शोक होय ॥
चौरासी की फेरी इससे कभी नहिं जाती ।
माया गले फाँसी देके दुःख से नचाती ॥
गिराये नरक कभी स्वर्ग ले जाये ।
त्रिताप ज्वाला बाकी कभी नहिं जाये ॥
दो०—चार दिन भी यदि जीवे कृष्ण भजे ।
तथापि कृष्ण उसे कभी नहीं तजे ॥
मरने से फिर वे कभी जनम नहीं पाते ।
वैकुण्ठ में जाके सदा शान्ति में बिताते ॥
अतएव हरि भजो हरि भजो भाई ।
हरि बिना सेव्य वस्तु और कुछ नांई ॥

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप, श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १३ हनुमान रोड, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणगाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चीरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् ≈)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम् —सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् ≈)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत (बँगला अक्षरों में)

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत (खंडों में प्रकाशित) प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।≈)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी - कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≤)
१२—युक्तिमल्लिका (गुणसौरभ) वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≈)
१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ≈)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत ≈)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥≈)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

dited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by B. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

17 July 1932

वामन शुक्लपक्ष गौराब्द ४४६

आषाढ़ पूर्णिमा संवत् १९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतु ययात्मा सुप्रसीदति ॥

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है।

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म-सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे, वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन-छपाई की दर नीचे लिखी है-

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, ½ ,,	३)
२ इंच ,, ½ ,,	१।।।)
१ ,, ,, ½ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

९४६ सदर बाज़ार, लखनऊ.

All communications are to be addressed to —

The Manager 'Bhagwat'

946 Suddar Bazar,

LUCKNOW.

श्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष १ | आषाढ़-पूर्णिमा गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, १८ जुलाई सन् १९३२ ई० | संख्या १८

[illegible]

(१७)

क्या जानें किस बल से तुम्हारे धाम हुआ शरणागत।
अहो दयामय पतित-उधारन पतित-तरण में हो रत॥
मुझे भरोसा यही नाथ है, तुम तो हो करुणामय।
दयापात्र है नहीं मेरे सम, दूर करोगे सभभय॥
इस अवनी में नहीं शक्ति कोई, जो मुझको तारे।
तुम दयालु की यही घोषणा पामर-अधम उधारे॥
सभी समझकर आया हूँ मैं नाथ शरण में तेरे।
नित्यदास मैं, पालयिता तुम जगन्नाथ हो मेरे॥
सभी तुम्हारा, दासमात्र मैं, कर दो मेरा तारन।
चरण-वरण मैं करूँ तुम्हारे रहे नहीं अपनारन॥
भक्तिविनोद शरण में आया रोकर नाथ तुम्हारे।
पालन करो, नाम-रुचि देके, क्षमि अपराध हमारे॥

सामयिक प्रसंग

गत ता० ३री जुलाई को पुरुषोत्तम मठ में श्रीभक्तिविनोद ठाकुर का विरह-महात्म्य बड़ समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। वह समस्त दिन महा-कीर्तन में ही बीत गया। सन्ध्या समय कितने ही सम्भ्रान्त विद्वन्मण्डली-मण्डित सभा में, ठाकुर भक्तिविनोद की श्रद्धा-भक्ति के प्रचार के लिये असाधारण प्रयत्न, निष्कपट धर्म जगत में उनकी भक्ति का प्रभाव, आधुनिक साधारण धर्मप्रचारक, उपदेष्टा या आचार्यगण से उनके विशेषत्व की आलोचना हुई। इसके बाद कितने ही भक्त, विरक्त साधु, सम्भ्रान्त लोग, भद्र महिलाओं और हजारों भिक्षुकों को समान भाव से और खूब अधिक रूप में श्रीमहाप्रसाद वितरण किया गया। ये सब उत्सव १८वीं जून से आरम्भ होकर गत ३ री जुलाई तक होते रहे।

नित्य ही मठ में सवेरे और तीसरे पहर श्रीमद्भागवत और श्रीचैतन्य-चरितामृत ग्रन्थों का पाठ, हरिकीर्तन, सत् आलोचना और इष्टगोष्ठी होती रही।

श्रीगौरांगसुन्दर और श्रीराधागोविन्द का आरती का दर्शन इसके उपरान्त श्रीग्रन्थ पाठ का श्रवण, प्रश्नोत्तर के छल से शास्त्र की आलोचना, ग्राम की परिक्रमा आदि भक्त्यङ्ग का याजन में प्रातःकाल का समय बीतता था।

जैसे भोग-प्रेमी मनुष्य, इस लोक में प्रतिष्ठा और परलोक में स्वर्गादि के सुख या द्रव्य की कामना कर अपने लोगों की मृत्यु के उपलक्ष्य में, स्वजनों के श्राद्ध में, विवाह में, साहित्यिक या दार्शनिक लोगों की मृत्यु के उपलक्ष्य में ब्राह्मण भोजन या जाति भाइयों का जेवनार कर उनकी इन्द्रिय को तृप्त करने में सहायता देते अथवा जैसे चित् जड़ के एकाकार करने की इच्छा वाले मनुष्य भगवान पर व्यावहारिक दरिद्रता का आरोप करते हुए गरीब-दुखियों के व्यावहारिक अभाव को दूर करने के लिए उन्हें एक समय या दोनों समय कुछ आहार दे उसीको ही भगवान की सेवा समझते हैं, वैसे ही शुद्ध-भक्तों के महोत्सव आदि में श्रीमहाप्रसाद के वितरण के कारण नहीं है; इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

सत्य को प्रकट करने में अनेक समय उदाहरण आप ही निकल आता है। इसलिये कहीं कोई सज्जन व्यथित होकर शुद्ध भक्तों को कट्टर हिन्दू समझ बनाने का अपराध न कर बैठें। किसी व्यक्ति या मत-विशेष की आलोचना यहाँ नहीं हो रही है, केवल शुद्ध भक्तों की श्रेष्ठता और माहात्म्य ही कहा जा रहा है।

शुद्ध भक्तों का माहात्म्य सुनने से जिनके हृदय में भाले चुभते हैं वे भगवान के चरणों में अपराधी हैं; वे अपनी कपटता को समझ न सकने की वजह केवल आस्तिक अभिमान करते हैं।

शास्त्र में सभी जगह भक्ति के माहात्म्य का कीर्तन हुआ है। भक्ति के समान और कुछ भी गिना नहीं जा सकता; इसीसे शुद्ध भक्तलोग भक्तों के साथ महोत्सवादि किया करते हैं। यह भक्ति का एक अङ्ग है।

भवरोग के रोगियों के लिये श्रीभगवान दो रूप से जगत में अवतीर्ण हुए हैं। एक शब्दब्रह्म श्रीनाम के रूप से और दूसरे वैष्णव रूप में।

'जो नाम, वही कृष्ण' - नाम और नामी में कोई भेद नहीं, दोनों एक ही हैं। 'यथा विष्णुस्तथैव तत्—' महाप्रसाद भी तदीय वस्तु है अर्थात् विष्णु का वस्तु है।

भवरोग की एक मात्र दवा श्रीनाम है; और महाप्रसाद भवरोग का एक मात्र पथ्य है। श्रीहरिनाम जीव के लिये साधन और साध्य है महाप्रसाद भी वैसा ही साधन और साध्य है।

परमहंस शुकगण भी श्रीनाम और श्रीमहाप्रसाद की नित्य सेवा करते हैं। शास्त्र का कहना है, कि विष्णु के नैवेद्य को जो लोग रोटी दाल समझते, नाम को सामान्य शब्द समझते, चरणामृत को पानी समझते और वैष्णव को कोई जाति के अन्तर्गत समझते हैं, वे नारकी हैं।

कितने ही समझते हैं, कि जगन्नाथ-क्षेत्र में ही (अर्थात् पुरीधाम में ही) महाप्रसाद होता है, सुतरां केवल उसी

स्थान के महाप्रसाद में जाति का विचार नहीं है—ऐसे विचार के मूल में विष्यज्ञान का अभाव है। वह केवल लौकिक श्रद्धामात्र है। यह बहुत ही स्थूलबुद्धि निम्न अधिकारियों का लौकिक संस्कार है। जगन्नाथ जगत् के नाथ हैं, केवल पुरीग्राम के ही नहीं। यदि कोई ऐसा कहे तो भगवान् का माहात्म्य छोटा होता है। चाहे जगत् के किसी भी स्थान में बैठ शुद्ध भक्त भक्ति के साथ जगन्नाथ श्रीकृष्ण को पत्र-पुष्प फल-जल-अन्नपानादि कुछ ही क्यों न प्रदान करें, भगवान् उन भक्तों के प्रयत्न से दिये उपहार को ग्रहण करते हैं। यह भगवान के ही श्रीमुख की वाणी है।

सुतरां महाप्रसाद सब स्थानों में ही हो सकता है और महाप्रसाद को जो लोग रोटी दाल तथा शूद्र का छुआ हुआ समझते हैं, वे शास्त्र की आज्ञा के अनुसार अनन्त काल के लिए नरक में जाते हैं।

उस महाप्रसाद पर सब जीवों का समान अधिकार है, जैसे भक्ति में मनुष्यमात्र का ही अधिकार है। शुद्धभक्त लोग नित्य ही उस महाप्रसाद का सेवन करते हैं और सब जीवों को प्रदान करते हैं उन लोगों की शारीरिक भूख मिटाने के लिये नहीं, बल्कि बहुत ही दुर्लभ परमहंसों के भी वन्दनीय प्रेम-सम्पत्ति के पाने योग्य सुकृति उत्पन्न करने के लिये देते हैं।

जैसे नाम-सेवा के तुच्छ फल स्वरूप सांसारिक अभाव दूर होता, सार्वभौम आदि का पद मिलता और मुक्ति तक मिलती है, वैसे ही महाप्रसाद की सेवा के आनुषङ्गिक भाव से पेट की भूख भी दूर हो सकती है। किन्तु यह बहुत ही तुच्छ और हेय फल है।

उत्सव के दूसरे दिन गुण्डीचा-मार्जन का दिन होता है। उसी दिन भक्तलोग कीर्त्तन करते हुए श्रीपुरुषोत्तम मठ से गुण्डीचा गये। वहाँ श्रीचैतन्य-चरितामृत की मध्यलीला द्वादश परिच्छेद से सपार्षद गौर सुन्दर की गुण्डीचा मार्जन-लीला पढ़ी गई।

पाठ होने के उपरान्त भक्तों ने कीर्त्तन करते हुए गुण्डीचा श्रीमन्दिर की परिक्रमा की और इसके बाद श्रीगौरसुन्दर और उनके पार्षदगण का आचरण करते हुए गुण्डीचा-मन्दिर की मार्जना की। इसके बाद मार्जन-सेवा कर इन्द्रद्युम्न सरोवर में स्नानादि करते हुए भक्तलोग श्रीमठ में लौट आये।

दूसरे दिन श्रीवामनदेव बलदेव और सुभद्रा महारानी, तीनों पृथक्-पृथक् रथ पर सवार हो गुण्डीचा की ओर गये। सवेरा होते होते भक्तलोग रथ पर श्रीवामन-रूप का दर्शन और श्रीगौर तथा गौर भक्तों की तरह रथ के आगे नृत्य, कीर्त्तन करने के लिए व्याकुल हो उठे। समुद्र स्नान और पूजा आदि समाप्त कर भक्तलोग हाथ में निशान, करताल, ढोल आदि लेकर रथदर्शन के लिये उद्ग्रीव हो रहे।

परिव्राजकाचार्य त्रिदण्डीस्वामी श्रीमद्भक्तिविवेक भारती महाराज आगे आगे चले। उनके पीछे भक्तलोग कीर्त्तन करते हुए रथ के आगे उपस्थित हुए।

श्रीमद्भक्तिविवेक भारती महाराज ने गाना आरम्भ किया—

उन्हीं प्राणनाथ को पाया।
जिनके लिये कामानल का कष्ट उठाया॥
जगन्नाथ में मग्न हुए हैं प्रभु के नयन हृदय।
दोनों हाथों करते हैं, वे सङ्गीत-अभिनय॥
गौर यदि पीछे चले प्रभु होते हैं स्थिर।
गौर आगे चलें श्याम चलें गति धीर॥
इसी रूप गौर-श्याम में होती ठेलाठेली।
हृदय रथ पै राखें श्याम, गौर महाबली॥

प्रजा लोग पीछे पीछे कीर्त्तन और रथ के आगे नाचते हुए श्रीजगन्नाथ देव के रथ के साथ-साथ श्रीगुण्डीचा में पहुँचे।

गत शयन एकादशी से चातुर्मास्य व्रत आरम्भ हुआ है। आषाढ़ शुक्ला शयन एकादशी या कर्कट-संक्रांति, मतान्तर में आषाढ़ी पौर्णमासी से आरम्भ कर कार्त्तिक शुक्ला उत्थानी एकादशी या मतान्तर में रास-पूर्णिमा तक चान्द्र-मास के चार महीने अथवा श्रावण से कार्त्तिक तक सौर-मास के चार महीने तक चातुर्मास्य-व्रत का समय है।

वैष्णवगण कृष्णभक्ति की वृद्धि के लिये चातुर्मास्य-व्रत का पालन किया करते हैं। शिक्षागुरु भगवान् श्रीगौर-सुन्दर ने लोगों की शिक्षा के लिये स्वयं चातुर्मास्य-व्रत का पालन कर वैष्णव सदाचार की शिक्षा दी थी। श्रीरंगक्षेत्र के रहने वाले वेङ्कट भट्ट ने श्रीचैतन्यदेव से कहा—

"चातुर्मास्य आय प्रभु हुए उपसन्न ॥
चातुर्मास्य कृपा करि रहो घर हमार।
कृष्ण कथा कहि करो कृपया उद्धार ॥
कृष्णकथा रस प्रभु किया वहाँ वास।
भट्ट संग सुख से बीते चार मास ॥"

वेङ्कट भट्ट के घर जब श्रीगौराङ्गसुन्दर ने चातुर्मास्य का उपलक्षकर लगातार कृष्णकथा कही थी, तब वेङ्कट-नन्दन श्रीगोपाल भट्ट ने श्रीगौरसुन्दर के चरण का आश्रय लिया था। वही गोपालभट्ट षट् गोस्वामियों में एक 'श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी' के नाम से गौड़ीय वैष्णव-जगत में विदित हुए।

पूर्व जन्म में श्रीनारद दासी पुत्र थे। वर्षा के दिनों में चातुर्मास्य व्रत करनेवाले भागवतगण के मुख से हरि-कथा सुन और उनकी सेवा तथा उच्छिष्ट का भोजन करते हुए भगवत्-भजन में नारद की रुचि उत्पन्न हुई। दूसरे जन्म में वे चिन्मय भागवत शरीर धारण कर श्रीहरि के पार्षदरूप में नित्य भगवन्नाम-गुण-लीला के कीर्त्तनरूपी सेवा को प्राप्त हुए।

पेटू जड़-कर्मी लोग जिस प्रकार स्वर्गलोक में सोमरस पीने और अप्सरा-सम्भोग पाने के लिये कष्टसाध्य चातु-र्मास्य व्रतादिका पालन करते हैं अथवा जिस प्रकार मोक्ष चाहने वाले ज्ञानयोगी लोग हरिकथा को भी सांसारिक वस्तुओं की बराबरी का समझ मौन-व्रतादिक नियमों का पालन करते हुए चातुर्मास्य-व्रत का उद्यापन किया करते हैं, शुद्ध-भक्तगण उस प्रकार अपनी इंद्रिय की प्रसन्नता के लिये चातुर्मास्य-व्रतादि को पालन में उत्साह नहीं दिखाते।

"चतुर्मासेषु कर्त्तव्यं कृष्णभक्तिविवृद्धये"

एकमात्र अद्वितीय भोक्ता श्रीकृष्ण की भक्ति की वृद्धि के लिये ही बुद्धिमान लोग चातुर्मास्य व्रतरूपी नियमों का पालन करें—भक्तिशास्त्र की ऐसी ही आज्ञा है।

श्रीहरिभक्तिविलास स्मृति-प्रबन्ध ग्रन्थ के १४ वें विलास में संसारी मनुष्यों के लिये चातुर्मास्य व्रत की बहुत फलश्रुति दिखाई देती है। शुद्ध-भक्तगण उन सब फल-श्रुतियों की ओर कुछ भी ध्यान न दे शुद्ध हरिप्रीति के लिये चातुर्मास्य व्रत का पालन करें और निरन्तर भगवत्-कथा श्रवण-कीर्त्तनादि भक्त्यङ्ग का पालन करें। बरसात के दिन में बहुतेरे स्थानों में पर्यटन करना कष्टकर है, इसलिये शुद्ध-भक्तगण किसी भी स्थान में स्वजातीय भक्तों के साथ सम्मि-लित हो इष्टगोष्ठी, हरिकथा श्रवण-कीर्त्तन और आत्म तत्व की आलोचनादि किया करते हैं।

चातुर्मास्य-व्रत का पालन करने के समय कितने ही नियमों का पालन करना पड़ता है। जैसे—

श्रावणे वर्जयेच्छाकं दधि भाद्रपदे तथा।
दुग्धमाश्वयुजे मासि कार्त्तिके चामिषं त्यजेत् ॥

श्रावण में शाक (साग), भादों में दही, आश्विन में दूध और कार्त्तिक में उड़द प्रभृति आमिष भोजन न करना चाहिये। परवल बैंगन आदि भी खाना मना है। इस समय के भीतर बाल और नाखून कटाना भी मना है; स्त्री-सङ्गादि विलास तो हर तरह से वर्जनीय है। सदा हरिनाम श्रवण और कीर्तन, हरिसेवानुकूल कार्य, गुरु-शुश्रूषा आदि भक्ति के अनुकूल कार्यों का करना ही उचित है।

गुण्डीचा-मार्जन

श्री जगन्नाथदेव के श्रीमन्दिर से पूर्व-उत्तर एक कोस की दूरी पर गुण्डीचा मन्दिर है। लोगों के कहने से जान पड़ा, कि प्राचीन समय इन्द्रद्युम्न नामक एक वैष्णव राजा थे। उन्हीं की रानी के नाम के अनुसार उस मन्दिर का नाम गुण्डीचा-मन्दिर पड़ा है। शास्त्र-ग्रन्थों में भी गुण्डीचा मन्दिर का उल्लेख दिखाई देता है। गुण्डीचा मन्दिर के कुछ ही दूर पर 'इन्द्रद्युम्न सरोवर' नामक एक बहुत बड़ा तालाब भी है।

रथयात्रा के दिन श्रीजगन्नाथदेव, बलराम और सुभद्रा देवी तीनों ही श्रीमन्दिर से रथ पर चढ़ गुण्डीचा-मन्दिर जाते हैं। श्रीक्षेत्र में जगन्नाथदेव लक्ष्मी के साथ कुरुक्षेत्र की ऐश्वर्य-लीला प्रकट कर विहार करते हैं।

कुरुक्षेत्र में गोपियों का हृदय श्रीकृष्ण के दर्शन से आनन्दित होने पर भी माधुर्यमाधुरिमा में परिप्लुत श्रीव्रजधाम में श्रीकृष्ण की सेवा के लिये उनका चित्त व्याकुल हो उठा था। रसिक भक्तगण श्रीक्षेत्र से वन-उपवन से परिपूर्ण माधुर्यमय लीलाक्षेत्र श्रीवृन्दावन-स्वरूप श्रीगुण्डीचा में जगन्नाथदेव को ले जाते हैं। इसीसे राधाभाव विभावित श्रीगौरसुन्दर ने रथ के आगे नृत्य करते हुए यह मिलन-सङ्गीत सुनाया था—

उन्हीं प्राणनाथ को पाया
जिनके लिये कामानल का कष्ट उठाया ॥

और भी गाया था :

लोकारण्य, यहाँ हाथी-घोड़ा रथ की धुनि।
पुष्पारण्य वहाँ कोकिल भ्रमरों की धुनि सुनि ॥
राजवेश है यहाँ सङ्ग में सब क्षत्रियगण।
गोपवेश था वहाँ साथ में मुरली-वादन ॥
व्रज में तुम्हारे सङ्ग लिया जो सुख-आस्वादन।
उस सुखसागर का है यहाँ पर नहीं एक कन ॥
औरों का हृदय मन, मेरा मन वृन्दावन,
मन-वन एक करि जानूँ।
वहाँ तुम्हारे पदद्वय, करो यदि सो उदय,
तब तव पूर्ण कृपा मानूँ ॥

गुण्डीचा मन्दिर में श्रीजगन्नाथदेव के आगमन से पहले श्रीमन्दिर, जगमोहन, (यहाँ से ठाकुरजी का दर्शन होता है) सिंहासन, रत्नवेदी आदि सभी माँज धोकर साफ़ किया जाता है। श्रीजगन्नाथदेव के आने के विचार से ही सेवक गण प्रभु के लिये पहले से ही सब सफाई कर रखते हैं।

भक्तलीला के अङ्गीकार करनेवाले लोकशिक्षक श्रीगौर-सुन्दर ने 'आप धर्म आचरण किया जगत को सीख सिखाया'। वे सेवा की शिक्षा देने के लिये हर साल सपार्षद इस गुण्डीचा मार्जन लीला का अभिनय करते थे।

"श्रीगुण्डिचा-मन्दिरमात्मवृन्दैः
सम्मार्जयन् क्षालनतः स गौरः।
स्वचित्तवच्छीतलमुज्ज्वलञ्च
कृष्णोपवेशौपयिकं चकार ॥

श्रीगौरसुन्दर ने अपने भक्तवृन्दों के साथ श्रीगुण्डीचा-मन्दिर का सम्मार्जन करते हुए उसे अपने शीतल और उज्ज्वल चित्त की तरह साफ बना कृष्ण के बैठने योग्य बनाया था।

श्रीजगन्नाथदेव की रथयात्रा का दिन जब समीप आया, तो श्रीमन्महाप्रभु ने पहले ही काशीमिश्र को बुला भेजा। काशीमिश्र नीलाचल के राजा के पुरोहित थे। उन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्य और पड़िछा-पात्र को भी बुलाया। यह शिक्षा देने के लिये, कि शुद्ध-वैष्णवों की आज्ञा पाये बिना भगवत सेवा का अधिकार नहीं है श्रीमन्महाप्रभु ने सार्वभौम भट्टाचार्य आदि से

"गुण्डिचा-मन्दिर मार्जन-सेवा माँग लिया ॥"

पड़िछा ने कहा, हमलोग आपके सेवक हैं, आप जो आज्ञा करेंगे, उसे हमलोग सिर झुकाकर मानेंगे। विशेषतः हमलोगों के लिये नीलाचल के राजा की आज्ञा है, कि हमलोग हर तरह से आपके आज्ञा-पालन में कोई त्रुटि न करें। फिर भी मन्दिर के मार्जन की सेवा आपके योग्य नहीं है। आप स्वतन्त्र पुरुष हैं, आपकी इच्छा ही पूर्ण हो।

पड़िछाने श्रीगौरसुन्दर के सामने एक सौ झाड़ू और एक सौ पानी के घड़े ला रखे। दूसरे दिन सवेरे श्रीमन्महा-

प्रभु ने अपने श्रीहाथों से समस्त भक्तों के अङ्ग चन्दन का लेपन कर दिया और हर एक के हाथ में एक एक झाड़ दे दिया। इस प्रकार वे भक्तों के साथ श्रीगुण्डीचा मन्दिर में पहुँचे। पहले श्रीगौरसुन्दर ने स्वयं अपने हाथों झाड़ लेकर मन्दिर के भीतर-बाहर सब जगह झाड़कर साफ किया। सिंहासन माँजकर फिर उसे यथास्थान रख दिया, आदि छोटे बड़े मन्दिर सब धोकर साफ कर दिया।

"चारों ओर शत भक्त झाड़ लेकर आयें।
आप भी धायें प्रभु सबको सिखायें॥
प्रेम भरे धायें सब लवें प्रभु नाम।
भक्तगण कृष्ण भजें करें निज काम॥

श्रीगौरसुन्दर की स्वर्णकान्ति उज्ज्वल शरीर धूलि से भर उठा, किन्तु उस पर भी मानों शोभा फूटी पड़ती थी। भक्तों की अवस्था भी वैसी ही थी। वे कभी-कभी प्रेम के आँसुओं से मन्दिर धोते थे। कैसा अपूर्व दृश्य था! इसी प्रकार उन्होंने भोग मन्दिर और इसके बाद सारे आँगन को भी घस-माँजकर साफ किया। इसके बाद श्रीगौरसुन्दर ने—

तृण धूलि आदि सब एकत्र करके।
अंगवा में भरके फेंका सब बोझा भरके॥

भक्तों ने भी जगद्गुरु के आचरण की नकल की। (श्रीमन्महा)—

प्रभु कहें किसने किया काम वेश कम।
तृण धूलि देख के जानूँगा श्रम॥

सब के कतवार का बोझ इकट्ठा किया गया, तो श्रीमहाप्रभु का बोझ ही सबसे अधिक हुआ।

पाठक! श्रीगौरसुन्दर के लीला-रहस्य को समझे? एकबार विचार कर देखिये, कि उन्होंने कैसी लीला करने को कहा है! जगद्गुरु ने उस दिन शिक्षा दी, कि यदि श्रीकृष्ण को कोई अपने हृदय के सिंहासन पर बैठाना चाहे, तो सब से पहले उन्हें अपने हृदय का मैल धो डालना चाहिये, हृदय को निर्मल, शान्त और भक्ति से उज्ज्वल बनाना चाहिये। हृदयक्षेत्र में कण्टक से भरे हुए तृण, धूल, पत्थर आदि रहने से उसी में परमसेव्य भगवान् को बिठाया नहीं जा सकता। हृदय के मल-स्वरूप तृण, धूल और कङ्कर पत्थर क्या हैं, समझा? किसी को अभिलाषा, कर्म, ज्ञान, योग की चेष्टा यही तो है।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

जहाँ किसी वस्तु की अभिलाषा ज्ञान-कर्म-योग, तप या प्रतिकूल भावों से आत्मा की स्वाभाविक वृत्ति भक्ति ढँकी रहती है, वहाँ शुद्धा-भक्ति हो ही नहीं सकती। बिना शुद्धा-भक्ति के भगवान् का आविर्भाव नहीं होता।

किसी वस्तु की अभिलाषा अर्थात् जगत् में खाना-पीना, देना लेना, रहना-सहना इत्यादि भक्ति से दूसरी इच्छायें खड़ की तरह भगवान के सुकोमल श्रीपादपद्म में चुभते हैं। कर्मचेष्टा अर्थात् याग-यज्ञ, दान, तपस्यादि से स्वर्ग-सुख आदि या इस संसार में सुख पाने की वासनायें ही धूल के समान हैं। कर्म के स्वन्दक के बवण्डर में वासनारूपी धूल की तरह हमारे साफ निर्मल हृदय-दर्पण को मैला बना देता है। सत् और असत् कर्मों की वासनारूपिणी यह धूल, हमारे शुद्ध निर्मल जीवात्मस्वरूप में जन्मजन्मान्तर जमी हुई है, इसीसे हमारी कर्मवासना दूर नहीं हो रही है। हमलोग समझते हैं, कि कर्म के द्वारा ही कर्म का नाश होता है। किन्तु यह हमारी भूल है। हमलोग बहुत बड़ा धोखा खा रहे हैं। जैसे हाथी को स्नान करा देने पर भी वह फिर धूल लपेट लेता है, वैसे ही कर्म के द्वारा कर्म-वासना दूर नहीं होती। एकमात्र केवल भक्ति द्वारा हम-लोगों की समस्त असुविधायें दूर हो जाती हैं। हृदय सिंहासन पर श्रीभगवान् विश्राम का योग्यस्थान पाते हैं। इसीसे भक्तकवि ने कहा है,—

"भक्त-हृदय में है सदा गोविंद का विश्राम॥"

कङ्कर पत्थर बड़े ही कष्टदायक होते हैं। कहीं पैर में कङ्कर की कचक लग जाती है, तो बहुत तकलीफ होती है; पैर फूल आता है और बहुत देर तक दर्द बना रहता है। मुक्ति और कैवल्य योग या ज्ञानादि की चेष्टा कङ्कर के समान है। इसके द्वारा हरि का संतोष या सेवा तो दूर रही, उलटे उनकी देह में काँटा चुभाने की कोशिश की जाती है। यद्यपि मुक्ति की चेष्टा में भी पहले श्रीहरि के नाम को घुमा फिराकर स्वीकार करना ही पड़ता है, तथापि बाद को उसका अस्तित्व नहीं रह जाता। सुतरां ऐसी चेष्टाओं के होते, भगवान जीवके हृदय में नहीं आते। इसीलिये गौरसुन्दर ने तृण, धूल, कङ्कर आदि को मन्दिर

के चारों कोने में रहने नहीं दिया। अपने हाथ से साफ कर बाहर फैंक दिया – इसलिये कि कहीं वायु के सहारे यह सब फिर श्रीमन्दिर में इकट्ठा न हो जाय।

इस तरह एकबार बड़े बड़े कूड़े, बहुत दिन की जमी मट्टी, धूल आदि की सफाई कर फिर श्रीगौरसुन्दर ने भक्तों के लिये मार्जनसेवा बाँट दी। इसबार उन्होंने कहा—

सूक्ष्म धूलि तृण काँकर सब करो दूर।
अच्छी तरह सोधन करो प्रभु-अन्तःपुर॥

अनेक समय कर्म ज्ञानादि की चेष्टा दूर होने पर भी हृदय में सूक्ष्म-सूक्ष्म मल रह जाता है। इन सब मल की तुलना कुटीनाटी प्रतिष्ठा की आशा, जीवहिंसा, निषिद्ध-आचरण, लाभ और पूजा आदि के साथ की जा सकती है। कुटीनाटी शब्द का अर्थ यहाँ कपटता है। प्रतिष्ठा की आशा शब्द से यह समझना चाहिये, कि सम्मानादि की आशा से निर्जन भजन आदि की ऐसी चेष्टा की जाय। जिससे लोग समझें, कि यह बड़े भारी भक्त हैं। जीवहिंसा का मतलब है,— कृष्णभक्ति के प्रचार में कृपणता और कपटता, मायावादी, कर्मी और अन्याभिलाषी को सहायता देना या उसके मनवाली बातें करना। लाभपूजा के अर्थ में धर्म के नाम से धन लेना, सम्मान पाना समझना चाहिये और निषिद्ध आचार का मतलब अवैध स्त्रीसङ्ग और कर्मी ज्ञानी, अन्याभिलाषी आदि कृष्ण के अभक्तों का सङ्ग समझना चाहिये।

सब वैष्णव सङ्ग जब दो बार शोधाया।
मन महाप्रभु के सन्तोष तब आया॥

सैकड़ों भक्त घड़ों में पानी भर-भर कर लाने और महाप्रभु को देने लगे। महाप्रभु तसली में पानी भर के ऊपर को उछालने लगे, जिसमें नीचे-ऊपर कहीं कुछ मलिनता न रह जाय। उन्होंने अपने हाथों श्रीमन्दिर और सिंहासन का मार्जन किया। इस प्रकार श्रीगौरसुन्दर दो-दो बार सब स्थानों को माँज और पानी से धोकर बाद को कहीं सूक्ष्म दाग के लगे रहने के ख्याल से अपने पहनने के सूखे वस्त्र से रगड़ रगड़ श्रीमन्दिर को साफ करने लगे।

निज वस्त्र से किया प्रभु गृह सम्मार्जन।
महाप्रभु निज-वस्त्र से माँजा सिंहासन॥

निर्मल शीतल स्निग्ध कर दिया मन्दिर।
मानों निज हृदय धर दिया बाहिर॥

इसके बाद श्रीमन्दिर में धूल-कङ्कर का लेश तो क्या एक छोटा सा दाग भी न रह गया, श्रीमन्दिर स्वच्छ, निर्मल और स्फटिक जैसा हो गया। केवल इतना ही नहीं, साथ ही सुशीतल भी हो गया। जीव के हृदय से अन्याभिलाष कर्मज्ञान योगादि की चेष्टा से होनेवाली भुक्ति-मुक्ति की कामना के दूर हो जाने और आत्मवृत्ति शुद्धा भक्ति जागने पर जीव हृदय भी वैसा ही शान्त और शीतल होता है।

'कृष्णभक्त निष्काम, अतएव होत शान्त।
भुक्ति-मुक्ति सिद्धिवाले सभी हैं अशान्त॥"

अनेक समय समस्त कामनाओं के दूर होने पर भी हृदय के किसी अनजान कोने में एक छोटा सा दाग लगा रह जाता है, उसे हम लोग समझ भी नहीं सकते। यही मुक्ति की कामना है। मुक्ति-वादियों की सायुज्य मुक्ति की कामना तो दूर रही, इसके अतिरिक्त चार प्रकार की मुक्ति कामनाओं के छोटे छोटे दाग को भी श्रीमन्महाप्रभु ने अपने वस्त्र द्वारा रगड़ के साफ़ कर दिया। महाप्रभु के साथ श्रीनित्यानन्द, अद्वैत प्रभु, स्वरूपदामोदर, ब्रह्मानन्द भारती, परमानन्द भारती, परमानन्द-पुरी और असंख्य भक्तों ने इस मार्जन-सेवा में लगे थे।

जल भरें घर धोयें हरिनाम गाय।
कृष्ण हरि बिना और कुछ ना सुनाय॥
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कहें घड़े को उठायें।
कृष्ण कृष्ण कहें और घड़ा लुढ़कायें॥

इस प्रकार श्रीगौरसुन्दर और भक्तगण बड़े ही प्रेम के आवेश में आकर ऊँचे स्वर से कृष्ण नाम लेते हुए मार्जन सेवा करने लगे। महाप्रभु हर एक भक्त के पास जाके हाथ पकड़ के मार्जन-सेवा सिखाने लगे। जिसका काम अच्छा होता, उसकी प्रशंसा और जिनकी सेवा मन को न भाती, उन पर फटकार देने की लीला दिखाई। ऐसे समय एक गौड़ीय वैष्णव श्रीमन्महाप्रभु के चरणों में एक घड़ा पानी लुढ़काकर उस पानी को पीने लगा। धर्म-संस्थापन करनेवाले लोकशिक्षक गौरसुन्दर उस वैष्णव पर नाराज़ हुए।

"यद्यपि हृदय से उन्हें हुआ तो सन्तोष।
धर्म-थापना के लिये बाहर महारोष॥

सभी गौड़ीय वैष्णव स्वरूप दामोदर के अधीन थे। इसलिये श्रीगौरसुन्दर ने उस गौड़ीय वैष्णव को स्वरूप के हाथ सौंपते हुए कहा, कि इसे उपयुक्त दण्ड दो। गौड़ीय वैष्णव ने महाप्रभु के पैरों पकड़कर क्षमा चाही; श्रीमन्महाप्रभु ने क्षमालीला दिखाई। पाठक! आपने लोक शिक्षक की लोक शिक्षा पर ध्यान दिया? आजकल के बनोलिये आचार्य या गुरुगिरी करनेवाले अपना चरणामृत देने और लोगों को कृतार्थ करने के लिये बड़ी खुशी से अपना पैर आगे बढ़ा दिया करते हैं; बहुतेरे तो पैरों में चन्दन और तुलसी लगवाते भी सङ्कोच नहीं करते। अपराध के हाथ से छुटकारा पाने के लिये "तुलसी" शब्द का प्रयोग हटाकर उसकी जगह तारा चिह्न (*) दिया गया। श्रीमन्महाप्रभु ने कुछ देर विश्रामकर कीर्तन और नृत्य आरम्भ किया, भक्तलोग भी उन्हें घेर कर नाचने लगे।

महाउच्च कीर्तन आकाश भुवि व्यापी।
प्रभु के उद्दण्ड-नृत्य भूमि हुई तो काँपी॥
स्वरूप का ऊँचा गला सदा प्रभु भाय।
आनन्द-उद्दण्ड नृत्य करें गौर राय॥

कल्यब्द २७ वर्ष में कुलशेखर आलवर ने पराभव-संवत में और पुनर्वसु नक्षत्र में कल्ली ग्राम में शेरराज वंश में जन्म ग्रहण किया। उनके पिता दृढ़व्रत ने बहुत दिनों तक अपुत्रक रह बड़ी तपस्या के फल से कुलशेखर को पुत्ररूप में लाभ किया था। श्रीनारायण के कौस्तुभ-मणि के अवतार के नाम से कुलशेखर श्रीवैष्णवों के आगे परिचित हुए। कल्ली नगर मलयालम् या मालावार प्रदेश के अन्तर्गत है। शेरराज या केरराजगण केरल देश में बहुत दिनों से राजत्व करते आते हैं। प्राचीन केरल देश आजकल त्रिवाङ्कुर राज्य के अन्तर्गत हो गया है। कुलशेखर केवल केरलाधिपति ही नहीं थे; उनकी उपाधि से जान पड़ता है, कि वे केरल, पाण्ड्य और चोलराज्य के अधीश्वर हुए थे। दाक्षिणात्य में बहुत ही प्राचीनकाल से इन तीनों राज्यों ने ही प्रसिद्धि लाभ की थी। क्षत्रिय राजाओं के योग्य सब गुणों से विभूषित हो कुलशेखर अपने समीप के राजाओं पर प्रभुत्व स्थापन करने में विशेष बल प्रकाश किया था।

पार्थिव राज बल से बहुत ही बली होकर अन्त में उन्होंने आदमी के बल की क्षुद्रता, क्षण-भङ्गुरता और अनित्यता को समझ भगवान के शरणापन्न हो सबसे उत्तम बल पाने का विचार किया। सत्त्वगुण की प्रबलता से कुलशेखर ने श्रीनारायण की दासता के जीवन को एकमात्र अपना व्रत बनाया। श्रीरामायण, अट्ठारह पुराण और प्राचीन शास्त्रों की आलोचना करने से वे संस्कृत भाषा में अपरिसीम पंडित हुए। क्रमशः भगवान के लिये एकान्त में बहुत व्याकुल होने पर उनकी इच्छा श्रीरङ्ग, श्रीविट्ठ आदि सुप्रसिद्ध भगवत् क्षेत्रों के दर्शन की हुई। भक्तोचित चेष्टायें क्रमशः उनमें प्रकट होती दिखाई देने लगीं। रामायण का पाठ सुनते-सुनते वे कभी कभी रावण को दण्ड देने की इच्छा से सैन्य सजाकर समुद्र किनारे पहुँच जाते थे। सांसारिक ज्ञान छोड़कर रामचन्द्र की सहाय्य-सेवा की इच्छा करते थे।

उनके मन्त्री और पारषद् लोग अपने प्रभु का पागल जैसा व्यवहार देख डरने और संकोच करने लगे। राजकाज में गड़बड़ होते देख राजनीति में दक्ष पारषद्गण राजा कुलशेखर के पास भक्तों का जाना-आना बन्द करने की कोशिश की। उन लोगों ने बहुतेरे छल से भक्तों पर राजा की प्रीति घटाने के लिये यत्न किया। कुलशेखर श्रीरामचन्द्र की अर्चामूर्ति की पूजा करते थे, इसलिये मूर्त्ति के शृङ्गार के लिये बहुमूल्य अलङ्कार भी प्रदान किये थे। इन सब चीज़ों की रक्षा का भार वैष्णवों पर था। मन्त्रियों के कुचक्र के फल से उन देव-अलङ्कारों में एक हार गायब हो गया। उन्होंने राजा के सामने यह साबित

करने की कोशिश की, कि वह हार वैष्णवों द्वारा गायब किया गया है। कुलशेखर ने मन्त्रियों को सत्य बात दिखाने की इच्छा से कितने ही भयानक जहरीले साँप लाने की आज्ञा दी। सर्पों के लाये जाने पर उन्होंने स्वयं अपने हाथ को साँपों के घड़े के मुँह में डाल दिया और मन्त्रियों से कहा, यदि विष्णु भक्तों द्वारा यह काम हुआ होगा, तो निश्चय मेरे हाथ को ये साँप डस लेंगे; नहीं तो यह सब मुझे न काटेंगे। राजा के हाथ को साँपों का न डसना देख, सब लोग विस्मय में आ कुलशेखर के पैरों पर गिर पड़े और अपराध स्वीकार किया। इस समय कुलशेखर ने एक श्लोक कहा था—

"एवं [illegible] पेशल तर्षणमिथःस्थितः।
न [illegible]चिन्ताविधुरभावस्वराट्म ॥"

विषयी लोगों के संग से दूर रहना ही भजन करनेवालों का कर्तव्य है। ऐसा सोच उन्होंने पुत्र को राज्यभार प्रदान कर दिया, और श्रीरङ्गनाथ के पदाश्रित हुए। श्रीरंग में रहने के समय उन्होंने श्रीरङ्गनाथ-मंदिर की तीसरे घेरे के चारों ओर की सड़क और कितने ही गृह मण्डप आदि बनवाये। श्रीरङ्गम की सड़कों का प्राचीन नाम पूछने पर जानकार लोग सड़क का नाम कुलशेखर की सड़क बताते हैं।

श्रीकुलशेखर ने तामिल भाषा में "पेरुमाल-तिरुमोली" नामक ग्रन्थ और संस्कृत भाषा में "मुकुन्दमाला-स्तोत्र" नामक एक छोटे भक्ति उद्दीपक सुंदर भावग्रन्थ की रचना की है। मुकुन्दमाला के रचयिता के नाम से श्रीकुलशेखर का नाम आर्यावर्त में सभी वैष्णव अच्छी तरह जानते हैं। इस ग्रन्थ का बहुत प्रचार हुआ। अन्त में उसका कुछ अंश उद्धृत किया जायगा।

कुलशेखर के समय के सम्बन्ध में आधुनिक पंडितगण विचार पूर्वक स्थिर करते हैं, कि शकाब्द की प्रथम शताब्दी में कुलशेखर हुए थे। श्रीरङ्ग में यामुनाचार्य के निवास के समय ये लोग भी अपने अपने काम में नियुक्त हो श्रीरङ्गम निवास करते थे। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है, कि कुलशेखर ने अपनी कन्या का विवाह श्रीरङ्गनाथ के साथ गोदादेवी के विवाह का अनुकरण कर किया था। वस्तुतः कुलशेखर श्रीयामुनाचार्य से बहुत पहले श्रीरङ्ग में आये और उनसे पहले [illegible] श्रीरङ्गनाथ के आश्रय में थे।

जयतु जयतु देवो देवकीनन्दनोऽयं
जयतु जयतु कृष्णो वृष्णिवंशप्रदीपः।
जयतु जयतु मेघश्यामलः कोमलाङ्गो
जयतु जयतु पृथ्वीभारनाशो मुकुन्दः ॥

नाहं वन्दे तव चरणयोर्द्वन्द्वमद्वन्द्वहेतोः
कुम्भीपाकं गुरुमपि हरे नारकं नापनेतुम्।
रम्या रामा मृदुतनुलता नन्दने नापि रन्तुं
भावे भावे हृदयभवने भावयेयं भवन्तम् ॥

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद् यद् भव्यं भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत् प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु ॥

मज्जन्मनः फलमिदं मधुकैटभारे
मत्प्रार्थनीया मदनुग्रह एष एव।
त्वद्भृत्यभृत्यपरिचारकभृत्यभृत्य
भृतस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ ॥

आश्चर्यमेतद्धि मनुष्यलोके
सुधां परित्यज्य विषं पिबन्ति।
नामानि नारायणगोचराणि
त्यक्त्वान्यवाचः कुहकाः पठन्ति ॥

त्यजन्तु बान्धवाः सर्वे निन्दन्तु गुरवो जनाः।
तथापि परमानन्दो गोविन्दो मम जीवनम् ॥

जन्म-मृत्यु-रहस्य

जगत् में जन्म और मरण अवश्यम्भावी है। महाराजाधिराज से लेकर कुटी में रहनेवाले या बिना घर के मनुष्य, कीट पतङ्ग, पशु, तृण, गुल्म, लता आदि जितने जीव दिखाई देते हैं, वे सभी मृत्यु के अधीन हैं। नित्य असंख्य जीव जन्म लेते और अगणित जीव मृत्यु के कराल-काल में पड़ते हैं। जन्म-मृत्यु के समान प्रत्यक्ष-सत्य और कुछ है ही नहीं। चार्वाक ने ईश्वर के अस्तित्व और भस्म होनेवाली देह के पुनरागमन को अस्वीकार किया है सही, किन्तु प्रत्यक्ष-सत्य जन्म-मृत्यु को अस्वीकार कर नहीं सके। जन्म-मृत्यु के रहस्य ने एक दिन शाक्यसिंह के हृदय में भी अभिनव भाव उत्पन्न कर दिया था। जन्म-मृत्यु-रहस्य ही तो ठहरा। इसके रहस्य को खोलने को तैयार हो कितने ही लोग नास्तिक हो पड़े हैं, कितने ही आस्तिक हुए हैं, जन्म-मृत्यु का यह संघटन लोगों की आँखों के सामने हर समय उपस्थित होता है; किन्तु इसकी ऐन्द्रजालिक शक्ति ऐसी है कि—

"शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतःपरम् ।"

सभी लोग मन में समझते हैं, कि जन्म तो लिया सही, किन्तु शायद शीघ्र ही मरना न पड़ेगा। इससे बढ़ कर और क्या आश्चर्य होगा?

बालक नचिकेता जन्म-मृत्यु रहस्य जानने के लिये यमराज के दर्वाजे अतिथि हुए थे। यमराज ने बालक को अनेक प्रकार से फुसलाने की चेष्टा की थी। किन्तु वे बालक को विरत कर नहीं सके। यमराज ने कहा था, कि यह रहस्य तीव्र बुद्धि द्वारा, तेजस्वी मेधा द्वारा या पाण्डित्य द्वारा भेदन किया जा नहीं सकता। जिन पर एकमात्र भगवत् कृपा होती है, जो उस कृपा को शिर झुकाकर ग्रहण करते हैं, वे ही इस रहस्य को खोल सकते हैं; केवल खोल ही नहीं सकते, वे अजर और अमर होते हैं।

अतएव जहाँ हम लोग प्रत्यक्ष या अनुमान ज्ञान के द्वारा रहस्य-भेद में विफल होते हैं, वहाँ भगवान की नित्य-सत्य वाणी का विश्वास करके ही वास्तविक तत्व को समझ सकते हैं। यदि भगवान् मङ्गलमय हैं, तो वे निश्चय ही इतर मनुष्यों की तरह हम लोगों को धोखा न देंगे। यदि वे सर्वज्ञ हैं, तो निश्चय ही उनके ज्ञान में भूल या प्रमाद नहीं है। सुतरां नाहक गाल बजाना या मनगढ़न्त मतामत को परित्याग कर इस सम्बन्ध में भगवान के नित्यसत्य अभिमत को सुनना ही हमारा कर्तव्य है।

उद्धव को कितने ही लोग जानते हैं। उद्धव भगवान् कृष्ण के बड़े ही प्रियभक्त थे। गोपियों के बाद उद्धव जैसा श्रीकृष्ण का और कोई प्रियभक्त नहीं था। एक दिन उद्धव ने श्रीकृष्ण से पूछा, कि हे सर्वज्ञ! जीव के जन्म-मृत्यु का संघटन बड़ा ही रहस्यमय जान पड़ता है। प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा यह समझा नहीं जा सकता। अनुमान के द्वारा भी कुछ ठीक समझ में नहीं आता। पण्डितों में हरेक व्यक्ति अनेक प्रकार का मत प्रकाश करते हैं। आप कृपाकर मेरा यह संशय दूर करें।

तब श्रीभगवान ने कहा, कि उद्धव, आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है। वह "है" या "नहीं" ऐसा भेद-ज्ञानमूलक विवाद मोहयुक्त मनुष्यों को ही होता है। बहिर्मुख मनुष्यों का ऐसा विवाद आत्मज्ञान में बाधा देनेवाला है, यह कभी निवृत्त नहीं होता। किन्तु मैं भक्तों का अभिलाष पूरण करता हूँ। वे इस विवाद से छुटकारा पाकर नित्य शान्ति पाते हैं। वे सब बहिर्मुख मनुष्य अपने कर्मफल के अनुसार उच्च-नीच देह धारण करते और जन्म-मृत्यु के कठोर दण्ड से बार-बार पीसे जाते हैं।

कृष्ण-बहिर्मुख होके भोग इच्छा करे।
निकटस्थ माया उसे झपट के धरे॥
पिशाची पाने से जैसे मतिभ्रम होय।
मायाग्रस्त जीव का होता वैसा ही उदय॥
कभी राजा, कभी प्रजा, कभी विप्र, शूद्र।
कभी दुखी, कभी सुखी, कभी कीट क्षुद्र॥
कभू स्वर्ग, कभू मर्त्य, नरक में कभू।
कभू देव, कभू दैत्य, कभी दास-प्रभू॥

तब उद्धव ने कहा,—प्रभो, आपने कहा, कि आत्मा अखण्ड और नित्य है। सुतरां जो अखण्ड है, वह कैसे देह धारण कर सकता है? और, जो नित्य है उसके लिये जन्म मृत्यु कैसे सम्भव है? हे गोविन्द! यह विषय अल्प-बुद्धि मनुष्य की धारणा से भी अतीत है। इस लोक में प्रायः सभी आपकी माया से मोहित और वञ्चित हैं। सुतरां ऐसे लोग प्रायः है ही नहीं, जो इस रहस्य की सुमीमांसा कर सकें। इसलिये आपही इसे प्रकट करें।

तब भगवान ने कहा,—मनुष्यों का मन अर्थात वासना मय कोष या सूक्ष्म-शरीर ही कर्मफल के अनुसार उच्च और नीच देह से दूसरी देह में जाता है। जीवात्मा सूक्ष्म-शरीर से भिन्न होने पर भी उस सूक्ष्म देह में जाता है। इसी को आत्मा का एक देह से दूसरी देह में जाना कहते हैं।

कर्मपरतन्त्र मन देखे और सुने विषयों पर सदा विचार दौड़ाते-दौड़ाते उसी विषय के आकार में परिणत हो जाता है और क्षण क्षण पर पहले के विचारे हुए विषय से विच्युत और अवसन्न हो पड़ता है। बाद को स्मृति भी विनष्ट हो जाती है। कर्म फल के अनुरूप देहादि में अत्यन्त मनोयोग की वजह हर्ष और शोक से अभिभूत शरीरी के पहले के स्मरण का ध्वंस होना, अर्थात सूक्ष्म-शरीरवर्ती जीवात्मा का स्थूल-शरीर का त्याग यह संयोग विशेष का ध्वंस होना ही मृत्यु है।

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत् स्मरेत् पुनः।
जान्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः॥

सर्वतोभाव से इस देह में जो अहं-बुद्धि है, उसी का नाम जन्म है, जैसे स्वप्न और मनोरथ। जैसे स्वप्न में पड़ा आदमी स्वप्न और मनोरथ को पूर्वसिद्ध मान नहीं सकता, वैसे ही पूर्वसिद्ध जो जीवात्मा है, उसे ही नया समझते हुए लोग कहते हैं,—'इसने अभी-अभी जन्म ग्रहण किया है'।

मन इन्द्रिय समूह का परिचालक है। उस परिचालक स्वरूप मन का देहान्तर में प्रवेश करना ही सृष्टि है। उसके द्वारा आत्मा के उत्तम, मध्यम और अधम, यह तीन प्रकार के भाव असत रूप में उत्पन्न होते हैं। जैसे असत् पुत्र का पिता स्वयं शत्रु मित्र से उदासीन साधारण और सम भाव-वाला होने पर भी असत् पुत्र की सङ्गति से अपने-पराये के भेद और पराय के विरोध का कारण होता है, वैसे ही उक्त तीनों भावों से युक्त आत्मा स्वरूपतः निर्विकार होने पर भी उन विविध भावों के सहारे बाहरी और भीतरी स्वरूप भेद में अपने-पराये का कारण बनता है।

इस पञ्च भूतमय शरीर का हर मुहूर्त में उत्पत्ति और क्षय होता है। किन्तु अविवेकी मनुष्य उसे देख नहीं सकते। जैसे समय के परिमाण द्वारा तेज का, बहाव द्वारा स्रोत का, प्रकाश द्वारा वृक्ष-फल की उत्पत्ति और विनाश की अवस्थायें होती रहती हैं, वैसे ही पञ्चभूत भी हर समय काल द्वारा उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होते हैं।

जैसे आग के सुबूत में प्रदीप है, और बहाव का सुबूत पानी है, वैसे ही निर्बुद्धि लोग 'यह वही आदमी या मैं वही आदमी हूँ' इत्यादि भ्रम कर बैठते हैं। अपने बीजभूत कर्म द्वारा जन्म-मृत्यु या जराहीन जीवात्मा का जन्म मृत्यु हुआ करती है यह बात नहीं। जैसे कल्प-कल्पान्त से स्थायी रहनेवाली आग जन्म-मृत्यु-रहित होकर भी और लकड़ी के संयोग और वियोग द्वारा जलना और बुझना—जन्म लेना और मरना होता रहता है, वैसे ही जीवात्मा जन्म मृत्यु से रहित होकर भी उत्पन्न होती और मरती जैसी जान पड़ती है। देह की नौ अवस्थायें हैं—(१) सूक्ष्मरूप से माता के गर्भ में प्रवेश, (२) वहाँ रहना, (३) अङ्ग-प्रत्यङ्ग बनना, (४) भूमि में गिरने की अवस्था, (५) पाँच वर्ष तक का बचपन, (६) सोलह वर्ष तक कौमार, (७) पचीस वर्ष तक प्रौढ़ावस्था या मध्य-वयस, (८) बाद को बुढ़ापा, (९) आखीर में मृत्यु।

पिता की देह का अग्नि-संस्कार और पुत्र की देह का जात-कर्मादि देखकर मालूम होता है, कि इसी प्रकार हमारी भी उत्पत्ति हुई, और बाद को नाश भी होगा। किन्तु उत्पत्ति और विनाशवाली देह का द्रष्टा जीवात्मा का इस तरह उत्पत्ति-विनाश नहीं होता। जैसे बीज से औपाधि वृक्ष (कद्दू-कुम्हड़ा आदि) की उत्पत्ति और पकने पर विनाश का होना किसी ने देखा है,—जैसे उन चीज़ों के देखनेवाले उन सब के अतिरिक्त एक स्वतन्त्र आदमी हैं, वैसे ही देह का जन्म और विनाश देखनेवाली जीवात्मा देह से भिन्न है। अतएव जन्म और मृत्यु देह का ही धर्म है, आत्मा का नहीं।

[illegible] हुए, कि देह में जीवात्मा [illegible] में आसक्त हो पड़ता और देह [illegible] ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, [illegible] इत्यादि [illegible] बार बार जन्म लेते और मरते हैं।

[illegible] योनियों में [illegible] के हिसाब से [illegible] और मनुष्य और [illegible] अनुसार वृक्ष तथा पशुपक्षी आदि [illegible] है।

जैसे [illegible] ताल-स्वर आदि या [illegible] और निरपेक्ष होकर भी नाचने [illegible] और सुनकर उनके सुर-ताल और [illegible] करुणादि रसों का अनुभव करते हैं, वैसे ही [illegible] से शून्य जीव बुद्धि के सुख [illegible] को देख भोगवश सुख और दुःख का ध्यान देता है।

जैसे पानी के [illegible] होने पर पानी में पड़ने वाली वृक्ष-छाया [illegible] दिखाई देती है या दोनों आँखों के घुमाने से [illegible] भी घूमता नजर आता है, वैसे ही सुख-दुःख [illegible] उपाधि धर्म चिदाभास मन में प्रतिबिम्बित होता है। कामनामय मनुष्य का विषयानुभव तथा [illegible] में देखे हुए विषय जैसे अलीक हैं, वैसे ही शुद्ध जीव [illegible] भोग और संसार-बन्धन भी मिथ्या है।

यदि कोई कहे, कि [illegible] विषय से छुटकारा पाने के लिये श्रम करने की आवश्यकता ही क्या है? तो उसका उत्तर यह है, कि सदा [illegible] का ध्यान करनेवाले मनुष्य को स्वप्न में तरह-तरह के भय का अनुभव होता या सर्प काटने के कष्ट से सुख-दुःख का अनुभव होता है, वैसे ही शुद्ध जीव के लिये संसार का सम्बन्ध मिथ्या और भ्रम-मात्र होने पर भी भ्रम की वजह मन-बुद्धि-अहंकारात्मक लिङ्ग-शरीर के [illegible] की निवृत्ति नहीं होती। अतएव जीव को चाहिये, कि वह विषय भोग को परित्याग कर

समस्त विषयों को कृष्णसेवा में नियुक्त करते हुये कृष्ण [illegible] करें। [illegible] से छुटकारा नहीं। [illegible] लोग [illegible] का परित्याग करके भी [illegible] हैं, क्योंकि वे परम [illegible] के आश्रित नहीं हैं। वे लोग भगवान् के श्रीपादपद्म, उनकी नित्य सेवा, नित्य नाम धाम, [illegible] जगत् के विषयों के साथ [illegible] बिलकुल अलग [illegible] जगत के विषय में [illegible] होते और [illegible] श्रीकृष्ण चरण से भी सदा के लिये [illegible] हैं।

कर्मीगण [illegible] मायासे विमोहित हैं। [illegible] जन्म मृत्यु के उस पार जाकर [illegible] में समर्थ होते हैं। [illegible] मनुष्य—

"क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथवा।
ताड़ितः सन्निरुद्धो वा वृत्त्या वा परिहापितः॥
निष्ठ्युतो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगतः आत्मनात्मानमुद्धरेत्॥"

कृष्ण के अभक्त असाधु मनुष्यों द्वारा अक्षिप्त, अपमानित, उपहासित, दोषों के आरोपण से [illegible], ताड़ित, बन्धन में जकड़े, जीविका से [illegible], निष्ठीवन द्वारा व्याप्तीकृत, मूत्र द्वारा [illegible], परमेश्वर की निष्ठा से विच्युत इत्यादि बहुत प्रकार से कष्ट में पतित होकर भी भगवत् प्रेरित बुद्धि के योग द्वारा धैर्य का अवलम्बन कर भगवान् के शरणापन्न हो आत्मा के उद्धार का साधन करें।

जो हरिकीर्तन से विरत हैं, वही आत्मघाती हैं। जो कनक-कामिनी या प्रतिष्ठा के लिये मिथ्या हरिकीर्तन का बहाना करते हैं, वे भी आत्मघाती हैं। किन्तु जो निष्किञ्चन महाभागवत के चरणरज से अभिषिक्त हो सदा सेवोन्मुख जिह्वा द्वारा हरिकीर्तन किया करते हैं, वे ही जन्म-मृत्यु के रहस्य को समझ सकते हैं। उन्होंने ही मृत्यु को जीता है, यहाँ तक कि अजित भगवान् भी उनके आगे हारे हैं।

शुद्धा और विद्धा भक्ति

(श्रीप्रभुपाद की वक्तृता)

स्थान — [illegible] सभा, चौबीस परगना बशीरहाट   समय — प्रातःकाल, १० वीं वैशाख, १३३२ ।

मङ्गलाचरण

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते ।
कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः ॥
वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमोनमः ।

वक्ता का दैन्यमय आत्म-परिचय

कुछ कहने से पहले जो कुछ कहना चाहते हैं, उनका परिचय आवश्यक है । इससे पहले मेरे पहले के वक्ता देनेवाले का परिचय अन्य एक सज्जन ने दिया । अपना परिचय मैं आप ही देता हूँ । हमलोगों के गुरुदेव श्रीकविराज गोस्वामी प्रभु ने कहा है (चै० च० आदि ५ प०)—

जगाई-मधाई आदि से भी मैं हूँ पापिष्ठ ।
कीट पुरीषी आदि से भी मैं अति हि लघिष्ठ ॥
नाम सुने जो ही मेरा तासु पुण्य क्षय होय ।
पाप लगे निश्चय उसे नाम लेय जो कोय ॥
मुझ ऐसे निर्घिण्य पर कौन कृपा दिखलाय ।
बिनु प्रभु नित्यानन्द के कौन मुझे अपनाय ॥

उन श्रीगुरुदेव की बातों से बढ़कर अच्छी भाषा में मैं अपना अधिक परिचय दे नहीं सकता । मैं अपने उन प्रभु का दास्याभिलाषी एक जीव हूँ । किन्तु ऐसे परिचय से परिचित मनुष्य की बातों को क्या कोई सुनना चाहेंगे ?

अयोग्य और अधम मनुष्य के सङ्ग के प्रभाव से तो अयोग्यता और अधमता ही मिलती है ।

श्रौतनिष्ठा—उपास्य-गौरतत्व का सर्व-श्रेष्ठत्व क्यों है ?

हम क्षुद्र मनुष्य हैं,—तरह-तरह के चश्मेदार आँखों और विचारों के द्वारा श्रीचैतन्यदेव का दर्शन करना चाहते हैं, किन्तु श्रीचैतन्य देव के वास्तविक स्वरूप को हम लोगों ने देखा नहीं है । बहुत प्रकार की अयोग्यताओं के होते हुए भी हमारे लिये एक बहुत बड़ा आशास्थल है । जो मनुष्य "कीट पुरीषी आदि से भी मैं अतिहि लघिष्ठ" कहते हुए जीने और मरने चैतन्यचिन्ता, चैतन्यध्यान और चैतन्य ध्यान के अतिरिक्त एक मुहूर्त के लिये इतर कार्यों में व्यस्त नहीं होते, जो कथामृत के सिवा और कुछ किसी को पिलाते ही नहीं, उन महात्मा की सेव्यवस्तु न जाने कितनी बड़ी, कितनी मधुर और कितनी उदार है ! इस लोभ के लोभी हो श्रीकविराज-गोस्वामी के और अपने सेव्य-वस्तु के देखने की इच्छा करते हैं ।

सच्चे अमानी-मानद का स्वरूप

'वैष्णव-दास' के नाम से अपना परिचय देने में जो अहंकार उत्पन्न होता है, उससे बचने की आवश्यकता है । किसी वैष्णव-प्रवर ने कहा है,—

'मैं वैष्णव हूँ', ये ज्ञान होते,
न होगा जग में सम्मान पाना ।
बसेगी मनमें जो मान आशा,
तो पाप होगा नरक में जाना ॥

जिनके हृदय में यह विचार है, कि "मैं वैष्णव हूँ," वे वैष्णव नहीं ; उन्हें श्रीकविराज गोस्वामी प्रभु के पादपद्म की शोभा के देखने का सौभाग्य नहीं होता ।

श्रीगुरु-वैष्णव को दैन्य प्रकाश करते देख सांसारिक विचार से उनकी अवज्ञा करना—भीषण अपराध है ।

कोई दुर्दैव के मारे विचार कर बैठते हैं, कि गुरु ने कहा है,—'मैं अत्यन्त अधम, मैं अत्यन्त पतित, मैं अत्यन्त पामर, मैं नीच जाति का अधम चण्डाल हूँ'; तब उनकी सत्यता पर दृढ़ विश्वास कर हम भी उन्हें 'अधम चण्डाल, पामर, नीच जाति' आदि मान बैठें । ऐसे अक्षज-विचार सबके ही हृदय में कुछ न कुछ मौजूद रहने की वजह, ऐसे लोग वैष्णव और बड़ों के स्वरूप दर्शन से वंचित रह महा-रौरव की ओर जाते हैं ।

वास्तव-सत्य गुरु की कृपा से मिलता है

श्रुति का कहना है (श्वे० उ० ६ । २३), –

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

जो श्रीभगवान और गुरुदेव पर अचल श्रद्धा-भक्ति रखते हैं, उनके ही हृदय में परमार्थ विषय का सत्यवाक्य प्रकट होता है। श्रद्धायुक्त आदमियों को ही गुरुदेव अर्थ प्रदान करते हैं, श्रद्धाहीन को टरकाते हैं ; क्योंकि दोनों ही विषयों की योग्यता की अधिकारिता दोनों ही को है। श्रीमद्भागवत का कहना है, कि भगवान की सेवा के बिना जीव के मङ्गल की और कोई राह ही नहीं। "परमसेव्य वस्तु की सेवा मेरे गुरुदेव के बिना और कोई कर नहीं सकता"— जहाँ ऐसे अनुभव का अभाव है, वहाँ का मानव ज्ञान ही और प्रकार का है। जो लोग अन्यान्य बातों में मतवाले हैं, उनके मङ्गल की सम्भावना कहाँ ?

अधोक्षज-सेवन–बाधाहीन और अहैतुक है

श्रीमद्भागवत का कहना है (१ । २ । ६)—

"स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥"

श्रीभगवान – अधोक्षज वस्तु हैं। उनकी सेवा के सिवा जीव के लिये और कोई श्रेष्ठ धर्म नही या हो ही नहीं सकता। "अधोक्षज वस्तु की सेवा" इस शब्द में ही बड़ा गड़बड़ है। वास्तव में सच्चे गुरु के आगे न जाकर "हमने गुरु से दीक्षा ली है"—ऐसे कपट अभिमान से ही सब तरह के अनर्थ उपस्थित हुए हैं। श्रीगुरुदेव से दीक्षा —दिव्यज्ञान पाने के बाद इतर-विषयों में अभिनिवेश कैसे हो सकता है ? अभिमानी लोग सचमुच ही गुरु के पास न जाकर अर्थात् दिव्यज्ञान लाभ या सम्बन्धज्ञान युक्त हुए बिना ही ऐसे निरर्थक वाक्य कहा करते हैं, कि—"हमने गुरु से दीक्षा ली है"। हमलोग गुरुदेव को 'गुरु' न समझ उन्हें कार्यतः हमलोग 'शिष्य' या शासनके योग्य वस्तु में परिणत करते हैं—उन्हें अपना भोग्य या अक्षजज्ञानगम्य समझ कर गुरुवैष्णव के अपराध में पड़ते हैं। 'अक्ष' शब्द का अर्थ 'इन्द्रिय' है, सुतरां 'अक्षज' का अर्थ इन्द्रिय-जात है। पाँच इन्द्रिय और मन ये छःओ इन्द्रियाँ जब भगवान की सेवा को छोड़ अन्य कार्य में नियुक्त होती हैं, तब हम लोगों की शुद्ध भक्ति ढंक पड़ती है। भोगोन्मुख इन्द्रिय की वृत्ति द्वारा अधोक्षज भगवान की सेवा नहीं होती। उससे इन्द्रिय-तर्पण हो सकता है। जैसे खेल में मतवाला रहने से बालक कर्तव्य-विमूढ़ होता है, वैसे ही इन्द्रियज्ञान हम लोगों को असत्य-पथ की ओर ले जाता है, तब हम लोग यह सोचकर, कि 'दीक्षा ले चुके हैं' इन्द्रियतृप्ति के लिये व्यस्त होते हैं। तब जुआ, नशा, स्त्री, मछली मांस, प्रतिष्ठा और अर्थसंग्रह की लालच हमारी नाक में 'नाथ' लगाकर हमें चारों ओर घुमाती है। किसी भक्त ने कहा है,—

कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशा
स्तेषां जाता मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः।
उत्सृज्यैतानथ यदुपते साम्प्रतं लब्धबुद्धि-
स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुङ्क्ष्वात्मदास्ये ॥

षड़रिपु को 'प्रभु' बनाकर ऐसा कोई काम ही नहीं जिसे हमलोगों ने न किया हो। किन्तु इतने सुदीर्घकाल से उनकी अकपट सेवा करके भी हमने अपने मालिक का मन नहीं पाया ! इससे हमें लज्जा भी न हुई ! इतने दिन के काम के बाद भी यह हमें छुट्टी नहीं दे रहे हैं। हे यदुपते, आज हमारी बुद्धि का उदय हुआ है ; अब उन रिपुगण को प्रभु बनाकर उनकी सेवा न करूँगा। हे कृष्णचन्द्र, मुझे सेवक के रूप में ग्रहण करो। मैंने भगवान् की सेवा के बहाने बाहरी जगत की जो सेवा की, उसे अब न करूँगा।

(क्रमशः)

उटकामण्ड में श्रीप्रभु



विष्णुपाद श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद मद्रास के श्रीगौड़ीयमठ में विराजते हुए हरिकथा कीर्तन और कितने ही भक्तिग्रन्थों के प्रचार की प्रेरणा करके गत २८ वीं मई (१९३२) शनिवार की रात साढ़े नौ बजे "Blve Movntain Express" गाड़ी से भक्त और सज्जनों द्वारा अभिनन्दित होकर चले। दूसरे दिन सबेरे साढ़े सात बजे आप कोइम्बेटोर (Coimqaroe) स्टेशन पर उपस्थित हुए। श्रीयुक्त सी, वी, विश्वनाथ अय्यर आदि स्थानीय सज्जन और महाजन लोगों ने पुष्पमाला तथा तरह-तरह के उपहारों से श्रीप्रभुपाद के श्रीपादपद्म की बन्दना की। 'Blve Movntain Express" साढ़े आठ बजे मेट्टपिलियम स्टेशन पहुँचा। वहाँ गौड़ीय सङ्घपति श्रीपाद अप्राकृत भक्तिसारङ्ग गोस्वामी प्रभु की आज्ञा से गौड़ीय पत्र के सम्पादक महाशय ने पुष्प-चन्दन-मालिका द्वारा श्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना और अर्चना की। स्थानीय अधिवासी सज्जन श्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना करने के लिये तरह-तरह के बाजे, शङ्ख चक्रादि चिह्नों से शोभित ध्वजायें और सवारी आदि के साथ उपस्थित हुए थे। स्थानीय इन्डियन बोर्ड के प्रेसीडेण्ट मि० एम० एस० रङ्गस्वामी नायडू, शारदानिधि बेङ्क के सेक्रेटरी मि० पी० आर० कृष्णस्वामी अय्यर, स्थानीय पुलिस-विभाग के प्रधान व्यक्ति मि० टी० रामभद्रम्, स्थानीय मि० एम वी० रामचन्द्रम् ज़मींदार सब मजिष्टेट के पर्सनल असिस्टेण्ट मि० सुब्रह्मराय अय्यर, मि० पालमणी पिल्लाइ भूम्याधिकारी मि० के० काण्डस्वामी चेट्टियर, मि० एम, वी, बलकिशन प्रभृति सज्जनगण श्रीप्रभुपाद के प्रति श्रद्धा प्रकट करने और अपने देश में आने की अभ्यर्थना करने के लिये स्टेशन पर उपस्थित हुए थे। श्रीयुक्त पिलल अइया स्वामी अय्यर, श्रीयुक्त शङ्कर मुदालियर, श्रीयुक्त गोविन्द राव, श्रीनिवास पेरूमल, मन्दिर के सेवक और ब्राह्मण लोग भाँति-भाँति की कीर्तन-मण्डली बनाकर श्रीप्रभुपाद की सङ्कीर्तन शोभायात्रा के साथ अभ्यर्थना करने को तैयार थे। किन्तु श्रीप्रभुपाद ने इन सब अभ्यर्थनाओं को सम्पूर्णरूप से स्वीकार करने की अनिच्छा दिखाते हुए, अपने स्थिर किये हुए स्थान उटकामण्ड में शीघ्र पहुँचने के विचार से केवल कृतज्ञता ही स्वीकार की।

गत २९ वीं मई (१९३२) रविवार साढ़े आठ बजे श्रीप्रभुपाद और उनके साथ भागवत-पत्र के सम्पादक श्रीमद्भक्तिहृदयवन महाराज, पण्डितवर श्रीपाद अनन्तवासुदेव परविद्याभूषण बी, ए, और आचार्य श्रीपाद परमानन्द ब्रह्मचारी विद्यारत्न—श्रीचैतन्यमठ के दो ट्रष्टी; अध्यापक श्रीयुक्त निशिकान्त सान्याल भक्तिसुधाकर, भक्तिशास्त्री सम्प्रदायवैभवाचार्य एम, ए; ब्रह्मचारी श्रीयुक्त सज्जनानन्दजी; श्रीयुक्त गोपालचन्द्र राय भक्तिरत्न और बालक शिवराम गाड़ी से उतरे। स्थानीय सम्भ्रांत मनुष्यों ने इनकी अभ्यर्थना की। भवानी नदी के किनारे के भवन में कुछ देर विश्राम के लिये, श्रीप्रभुपाद श्रीपाद भक्तिसारङ्ग प्रभु और श्रीमद् वनमहाराज के साथ पधारे।

मट्टपिल्लम से ओटी तक रेल की लाइन गई है। ओटी में ट्रेन भी मिलती है और बस मोटरगाड़ी भी मिलती है। नित्य तीन अपट्रेन और तीन डाउन ट्रेनें आती जाती हैं। सबेरे छः बजे, नौ बजे (एक्सप्रेस से इसका मेल होता है) और ग्यारह बजे तीन अपट्रेनें मट्टपिल्लम से छूटती हैं। शाम को तीन बजे, साढ़े पाँच बजे और साढ़े छः बजे डाउन ट्रेन आती हैं। बस या मोटरगाड़ियाँ सबेरे छः बजे से शाम छः बजे तक आती जाती रहती हैं। शिलं पहाड़ की तरह यहाँ अप और डाउन मोटरों के चलने के लिये कोई निर्दिष्ट समय नहीं है। यहाँ पहाड़ पर चढ़ने की राह बहुत अच्छी और प्रशस्त है। रास्ते में अनायास ही दो गाड़ियाँ आ-जा सकती हैं। बस पर जाने से कानूर नामक स्थान में बस बदलना पड़ता है। मट्टपिल्लम् से कोनूर २० मील है। वहाँ से उटकामण्ड १२ मील है। तीसरे दर्जे के बस का भाड़ा कानूर तक तेरह आने और कानूर से उटी तक आठ आने हैं; Beserved Bus लेने से किराया अधिक लगती हैं; यहाँ १६ सीट और एक सीट का बस मिलता है।

श्रीप्रभुपाद, श्रीयुतवन महाराज, आचार्य श्रीपाद परमानन्द ब्रह्मचारी विद्यारत्न और ब्रह्मचारी श्रीप्यारीमोहनजी प्रभृति श्रीगौड़ीयमठ के मोटर से ११ बजे यात्रा कर १॥ बजे उटकामण्ड के १९ नं० कानूर रोड स्थित "रङ्ग विलास"

भवन में पहुँचे। कानूर के बाद उटी से छः मील पहले एकाएक पहाड़ी वृष्टि होने लगी। उटकामण्ड पहुँचने पर मि० विजयरत्न पिल्लाई आदि ने श्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना और वन्दना की।

कृपापूर्वक श्रीप्रभुपाद उटकामण्ड पर्वत पर आरोहण करके भी लगातार कृष्णानुसंधान-लीला का प्रदर्शन कर रहे हैं; उनकी कृपा से उसे सेवोन्मुख चित्त से समझने की कोशिश करने पर सकृत हरिभजनकारी हरिभजन के रहस्य-सम्पुट को खुलते हुए देख सकेंगे और भोगोन्मुख चित्त से या अन्याभिलाष के साथ कोई उसे देखेंगे तो उन्हें उससे वञ्चित रहना पड़ेगा।

नैमित्तिक धर्म असम्पूर्ण, हेय, मिश्र और अचिरस्थायी है

(संख्या १६ से आगे)

माधवदास ने कहा,—जिस स्त्री को आपने देखा, वे मेरे इस आश्रम से पहले के आश्रम में विवाहिता पत्नी थीं। मेरे वेष ग्रहण करने पर वे कुछ दिन के बाद श्रीपाट शान्तिपुर में आकर गङ्गा के किनारे एक कुटी बनाकर रहने लगीं। इसी तरह बहुत दिन बीत गये। मैंने श्रीपाट शान्तिपुर में जा गङ्गा के किनारे उन्हें देखकर कहा,—तुमने क्यों गृह त्याग किया? उन्होंने मुझे समझाया, कि संसार अब अच्छा नहीं लगता। आपकी चरण सेवा से वञ्चित हो मैं तीर्थवास कर रही हूँ, भिक्षा शिक्षा करके खाऊँगी। इस पर मैं उनसे और कुछ न कह गोद्रुम में आया। वह भी धीरे धीरे गोद्रुम में आकर एक अहीर के घर रहने लगीं। नित्य ही किसी न किसी स्थान में उनसे देखा देखी हो जाती थी; मैं उनसे हाथ छुड़ाने की जितनी इच्छा करता, वे उतनी ही घनिष्ठता करने लगीं। अब उन्होंने एक आश्रम बनाया है। अधिक रात जाने पर आके मेरा सर्वनाश करने का यत्न करती है। चारों ओर मेरी बदनामी फैल रही है। इसी के साथ साथ मेरा भजनादि भी घट गया है। श्रीकृष्णचैतन्य के दासों में मैं कुलाङ्गार हूँ। छोटे हरिदास को दण्ड मिलने के बाद अब मैं एक दण्डनीय मनुष्य हो गया हूँ। श्रीगोद्रुम के बाबा लोगों ने कृपाकर अब तक मुझे दण्ड नहीं दिया; किन्तु अब मुझ पर श्रद्धा नहीं करते।

यह बातें सुनकर लाहिड़ी महाशय ने कहा—बाबा माधवदासजी, सावधान होइये। यह कहते हुए, वे कोठरी में चले गये। बाबाजी भी अपनी गद्दी पर गये।

लाहिड़ी महाशय को नींद न आई। वे मन ही मन कहने लगे, कि बाबा माधवदास तो भ्रष्टाचारी होकर अधः पथ को गये। अब मेरा यहाँ रहना उचित नहीं; क्योंकि सङ्गदोष न होने पर भी वहाँ बदनामी होगी। फिर शुद्ध वैष्णवगण मुझे श्रद्धा के साथ शिक्षा न देंगे।

प्रातःकाल ही उन्होंने प्रद्युम्न-कुञ्ज में आकर, यथाविधि श्रीवैष्णवदास का अभिवादन कर उस कुञ्ज में रहने के लिये एक स्थान माँगा। वैष्णवदास ने बाबा परमहंसजी महाशय से कहा, तो उन्होंने कुञ्ज के एक किनारे एक कुटी में उनको रहने की आज्ञा दी। तब से लाहिड़ी महाशय ने उसी कुटी में रहकर समीप ही के किसी ब्राह्मण के घर प्रसाद पाने की व्यवस्था कर ली।

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जाननगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० १० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीमद्वार्ष गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)
(यहाँ भागवत पाठशाला है और श्रीचैतन्य राधागोविन्दजी की नित्य सेवा होती है)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १३ हनुमान रोड, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणगड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चीरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० बासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

Registered No. A. 2191.

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

2nd August 1932

श्रीधर
कृष्णपक्ष
गौराब्द
४४६

श्रावण
अमावस्या
संवत्
१९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

प्रति संख्या -)

सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन-छपाई की दर नीचे लिखी है—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम				८)
आधा	"	१	"	५)
चौथाई	"	½	"	३)
२ इंच	"	¼	"	१॥)
१ "	"	⅛	"	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये।

All communications are to be addressed to —

The Manager 'Bhagwat'
946 Suddar Bazar,
LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय बन

श्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष १ — श्रावण-अमावास्या गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, २ अगस्त स० १९३२ ई० — संख्या १९

नम्र-नि

(१८)

निज कुटुम्ब यह देह तथा पालन सुत - दारा।
मन में व्याकुल बना सदा रहता मन-मारा॥
कैसे लाता अर्थ, कहाँ से यश को पाता।
कन्या - पुत्र - विवाह भला किस भाँति निभाता॥
आत्म - निवेदन किया बचा चिन्ता का मारा।
तुम्हीं निबाहो प्रभो, अहो संसार तुम्हारा॥
तुम पालोगे नाथ, मुझे निज दास बहाने।
तुम्हरी सेवा में यह मन अति ही सुख माने॥
तुम्हरी इच्छा ही से प्रभु सब कारज होता।
'मैं सब करता" जीव कहे ; यह मिथ्या - थोता॥
तुम न करो तो जीव भला कुछ क्या कर सकता?
तुम्हरी खेती होय, जीव आशा भर करता॥
होकर मैं निश्चिन्त तुम्हारी सेवा मानूँ।
घर के भले - बुरे को प्रभु, मैं कुछ ना जानूँ॥
भक्तिविनोद प्रभो, अपन स्वातन्त्रहि खोके।
सेवे सदा चरण को नित्य अकिञ्चन होके॥

यह जगत् उनके लिये जेलखाना है, जो भगवान् को भूले हुए हैं; कोई-कोई इसे पागलों का गारद भी कहते हैं। पागलों का गारद इसलिये कहते हैं, कि यहाँ के लोग अपनी सुस्थ या स्वाभाविक अवस्था को खो के कोई रूप मद से, कोई धन-मद से, कोई जाति मद से और कोई विद्या मद से मतवाले हो तरह तरह की बकवाद किया करते हैं। सुतरां जब हम प्रत्येक आदमी ही इस कैदखाने या पागलखाने के एक कैदी हैं, तब हम लोगों का मतामत, रुचि, भाव और उच्छ्वास सभी पागलों या विकारग्रस्त रोगियों का प्रलापमात्र है।

विकारवाला रोगी ज्वरातीसार में इमली चाटना चाहता है—शरीर की ज्वाला से घबराकर हज़ार वर्ष के तालाब के ठण्डे पानी में नहाना चाहता है। पागल रास्ते के नाबदान में पड़ा हुआ "मैं बादशाह हूँ, मैं बड़ा लाट हूँ" इत्यादि न जाने कितने बकवाद किया करता है। अच्छे आदमी यह हालतें देखकर मन-ही-मन दुखी होते और कभी-कभी दुःख से हँस भी देते हैं।

उधर पागलखाने में पागलों का मोड़ल रहता है, पागल उसे खूब मानते हैं, बहुत बड़ा आदमी समझते हैं। पागल लोग समझते हैं, कि दुनिया में उनसे बड़ा कोई है ही नहीं। पागल मोड़ल (प्रधान) का कहना मानकर ही सब काम करते हैं, अच्छे आदमियों की बात पर कान नहीं देते।

भाइयो, हम लोगों की अवस्था भी ऐसी ही है। हम लोग विकारग्रस्त रोगी हैं। हम लोग परम प्रभु भगवान् को भूलने के कारण ही इस संसार में आ पड़े हैं—इस पागलखाने के एक सभ्य बन बैठे हैं। यदि हम लोग भले चंगे होते, तब तो नित्यधाम में नित्य भगवान् की सेवा ही करते। इस कैदखाने की रक्षा करने वाली भी एक हैं—उनका नाम महामाया या दुर्गा है। वे इन दुर्ग के अपराधियों का हर तरह से शासन करती हैं।

भाइयो, पागल को पागल कहने से वह आँखें तरेरता है, अच्छे आदमी को भी पागल कहिये, तो वह गाली दिये बिना नहीं रहता। इसीसे कहते हैं, कि हमारी रुचि के अनुकूल होने से ही उसे "धर्म" कहा नहीं जा सकता। आजकल कितने ही लोग धर्म को रुचि के अनुकूल बनाने के लिये बहुत ही व्यस्त हो पड़े हैं। ऐसे लोगों का कहना है, "शास्त्र ने हरेक आदमी की धारणा के अनुरूप उपास्य की सामग्री बना दी है इसलिये जितने मनुष्य हैं, उतनी ही देव देवियाँ संसार में प्रकट हैं। कितनों ही ने गाने बाँधकर कितनों ही बातों का प्रचार किया है:—

कृष्ण, राम, श्याम, श्यामा,
शिव में भेद न राखो रे मन।
नाम रूप के चादर से ढके,
हैं वे ही एक निरंजन॥
चीनी के ऊँट, हाथी, घोड़ा,
पुतले, पक्षी, रथ, बनन।
जिसका जो मन होता लेता,
चीनी का सब एक गठन॥

भाइयो, इसीसे हमने पहले कहा है, कि हम भी पागलखाने के एक सभ्य हैं। अपने शौक के मुताबिक ताल, गत, गाना, उच्छ्वास—हमें बहुत पसन्द है। इन सब कर्मों में बहुत जल्द मन लग जाता है। जो कोई हमारे मन की बातें कहता है, उसे ही हम लोग 'मोड़ल' अर्थात् बड़े ही 'महापुरुष' और 'महाजन' समझते हुए उनकी दुम के पीछे-पीछे लगे रहते हैं।

भ्रातृगण, यह सब बातें हमारे मन को कुछ बुरी लगेंगी। पहले ही कहा गया है, कि पागल को पागल कहने से चिढ़ होती है; विशेषतः कोई पागल के 'मोड़ल' को जो कहीं पागल कह दे, तो फिर उसकी रक्षा कहाँ?

उसी समय हज़ारों आदमी उस पर लाठी लेकर टूट पड़ेंगे। किसी ने सच कहा है,—

साँच कहे सिर लठ परे, झूठे जग पतियाय।
गोरस मग-मग फिरि बिकै, मदिरा बैठ बिकाय॥

तेतीस करोड़ मनुष्यों में यदि हरेक के मन-गढ़े एक एक देवता हों, एक एक धर्म हों, तो वे सब देवता और धर्म साक्षात् मन का विकार या खामखयाली नहीं तो और क्या है? विकारी के विचार और कल्पना विकार नहीं तो और क्या है? क्या रोगी या पागल कभी अपने से अपनी दवा ठीक कर सकता है? वह तो अपनी रुचि के अनुसार कुपथ्य का ही आदर करता है। एकमात्र सद्वैद्य ही दवा या पथ्य निर्धारित करने के अधिकारी हैं।

धर्म भगवान् की बनाई वस्तु है; जब कृपाकर वे अपने स्वरूप को शरणागत और भजन-परायण जीव के हृदय में प्रकट करते हैं, तभी शुद्ध-जीव सेवा की दृष्टि से उस नित्य स्वरूप को देख सकता है। क्षुद्र जीव यदि कल्पना से भगवान् की मूर्ति गढ़ने बैठे, तो वह मूर्ति भूत-पिशाच की मूर्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकती है? मन जड़ वस्तु है, तब मन की कल्पना से उत्पन्न वस्तु कैसे न जड़ होगी?

भगवान् अपने नित्य स्वरूप को अपने एकान्त शरणागत सेवकों के अतिरिक्त और किसी पर प्रकट नहीं करते। वे मूढ़ मनुष्यों के आगे अपने स्वरूप को ढके रहते हैं. जो बहुत ही कुकर्मी हैं, उन्हें "भोग भोगाने" के लिये वे उन्हें पागलखाने के अनुरूप राजसिक, तामसिक आदि नश्वर देवता के भजन में भुला रखते हैं। ईश्वर जीव की स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप नहीं करते। वे जानते हैं, कि ये सब अपराधी कुकर्मी लोग मेरे शुद्ध नित्यस्वरूप को ग्रहण न कर सकेंगे, उसका अनादर करेंगे। वे लोग भोग चाहते हैं, कामना की सिद्धि चाहते हैं, कोई-कोई लकड़ी या पत्थर के समान बन के संसारी ज्वाला के हाथ से छुटकारा पाना चाहते हैं. जेलखाने की रक्षा करनेवाली महामाया भी उन सब लोगों को भगवत्-विमुखता के दण्ड स्वरूप उनकी काम्य वस्तु देकर फुसला रखती हैं। ऐसे लोग समझते हैं कि बहुत अच्छी तरह है, भाई।'

केवल सुकृतिमान् मनुष्य ही भगवान् के उद्देश्य को समझ सकते हैं, इसीलिये वे उनके नित्यस्वरूप का भजन करते हैं। वे तेंतीस करोड़ देवताओं का भजन नहीं करते वे एक ऐसे सर्वश्रेष्ठ पुरुष की अहैतुकी सेवा करते हैं, जिनकी सेवा का फल केवल उत्तरोत्तर सेवा ही है; जिनकी सेवा के फल से केवल भगवान का सन्तोष विधान होता है; जिनकी सेवा के आनुषङ्गिक फल में केवल तेंतीस कोटि देवता ही नहीं - माता-पिता, पूर्व पुरुष, ऋषि, मनुष्य और सब जीवों का ही अच्छा सन्तोष हुआ करता है।

वे और कोई नहीं, भगवान सब कारणों के कारण श्रीकृष्ण ही हैं। वे ही स्वयंरूप और वे ही सर्वशक्तिमान हैं—उनमें एक ऐसी शक्ति है, जिससे मनुष्य चिन्ता के द्वारा उनका सामञ्जस्य कर ही नहीं सकता; इसीसे भक्त लोग उन्हें अचिन्त्य शक्ति कहते हैं। उनका नित्य सविशेष साकार रूप है—जड़ रूप नहीं; उनका धाम नित्य है, जड़ नहीं। शरणागत मनुष्य को वे अपने नित्य रूप का दर्शन देते हैं। राम, नृसिंह, वामन प्रभृति सब उनके ही लीलावतार हैं।

हम लोग विकार की अवस्था में उनके नित्य स्वरूप की धारणा न कर सकने पर अपने विचार से किसी बड़े मोड़ल के प्रमाण को देखकर कहते हैं,—"जब ये देवता की आराधना करते हैं, तब हम लोग क्यों न करें?" हाय! हम लोगों के आगे जो सत्य बताया जाता है, वह सब अरण्य-रोदनमात्र है,—"वन में मोती बोने" के समान है। हमलोग यह भी नहीं जानते, कि जैमिनी पराशर प्रभृति मुनिगण भी पागलखाने के बड़े मोड़लमात्र थे, वे भी भले-चंगे नहीं थे, ब्रह्मा तक मोह में पड़ गये थे। पहले ही कहा जा चुका है. कि हमारे बाजार में इन बातों की पूछ नहीं।

सब वेद में बहुतेरे देवताओं की आराधना की बातें क्यों हैं? वेद का कहना है, कि एकमात्र सूरिगण अर्थात्, जो लोग बुद्धिमान हैं, वे ही विष्णु के परम पद की नित्य

प्रार्थना किया करते हैं। गीता और भागवत् का भी यही कहना है—(गीता ७। १५, २०, २३)—

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्तो यान्ति मामपि॥

हे अर्जुन, जो दुष्कृति अर्थात् दुष्ट कर्मी या दुष्ट पण्डित हैं, कृष्णसेवा-विमुख उन सब मूढ़ नराधमों के ज्ञान को माया ने हर लिया है। वे लोग आसुरी बुद्धि द्वारा परिचालित होकर मेरे (भगवान के शरणागत नहीं होते। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रभृति नाना प्रकार की कामनाओं के दास होने की वजह उनका सम्बन्ध-ज्ञान लुप्त हो गया है, इसीसे वे लोग अन्यान्य देवताओं के आश्रित मानकर अभिमान किया करते हैं। वे लोग तामसिक और राजसिक प्रकृति के द्वारा परिचालित हो, उन उन देवताओं की आराधना के लिये उपवासादि छोटे-छोटे जो नियम हैं, उन सबका पालन करते और देवताओं की उपासना किया करते हैं। ऐसे लोग नासमझ हैं। इसीसे नश्वर देवताओं की आराधना कर, नश्वर काम्य सुखादि लाभ कर नश्वर देवलोकादि को प्राप्त करते हैं; किन्तु मेरे (श्रीकृष्ण के) भक्त मेरे नित्य धाम को पाते हैं।

गीता की भूमिका

(पूर्वप्रकाशित के उपरान्त)

श्रीगीता का सिद्धान्त क्या है? हमने पहले ही इसकी आलोचना की है, कि श्रीगीता ग्रन्थ सिद्धान्त-ग्रन्थ है। श्रीगीता श्रीभगवान् के मुख से निकली वाणी है। श्रीगीता उपनिषत् है। सुतरां श्रीगीता का सिद्धान्त या श्रुति का सिद्धान्त एक ही है। एकादश श्रुतियों में जो मीमांसायें प्रस्फुटित भाव से वर्णित हुई हैं, श्रीगीतोपनिषत् में वही परिस्फुट भाव से प्रकाशित हुई हैं। उस पर श्रीमद्भागवत ने उन्हीं सब सिद्धान्तों को सब तरह से और परिपूर्ण रूप से प्रकाशित कर दिया है। बृहत्-संहिता का कहना है, कि शास्त्र के तात्पर्य या सिद्धान्त ज्ञान के कारण छः हैं,—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

उपक्रम अर्थात् आरम्भ, उपसंहार=समाप्ति, अभ्यास=बार-बार आवृत्ति, अपूर्वता-फल=फल या प्रयोजन, अर्थवाद=प्रशंसा, उपपत्ति=उपाय कारण या हेतु। ये छओ कारण यदि एक ही वस्तु के विषय में उद्दिष्ट हो, तो वही वस्तु मीमांसित वस्तु या सिद्धान्त है। यदि गीतोपनिषद् में हम उक्त छओ शास्त्र तात्पर्य के अवगत होने के कारण पर आलोचना करें, तो दिखाई देता है, कि गीता में अर्जुन के प्रति श्रीभगवान् के उपदेश में अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ़चेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

अर्थात् हे कृष्ण, मैं धर्मविमूढ़ चित्त और कृपणता के दोष से अभिभूत हो आपसे पूछता हूँ, कि मेरे लिये निश्चित मङ्गल हो, वह मुझसे कहिये। मैं केवल आपका शिष्य ही नहीं हूँ, मैं आपसे शिक्षा लेने को तैयार हूँ, मैं पूरी तरह से आपके शरणागत हूँ। सुतरां शरणागति, आनुगत्य, प्रपत्ति या प्रणाम के साथ श्रीगीता का उपदेश आरम्भ हुआ है, और उपसंहार या ग्रन्थ-समाप्ति के समय भी हम लोग श्रीअर्जुन के प्रति श्रीभगवान् के चरम या अति गुह्यतम उपदेश देखते हैं; श्रीभगवान् कहते हैं—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।"

यावतीय धर्म अर्थात् ब्रह्मज्ञान और ऐश्वर ज्ञान लाभ के उपदेशस्थल में वर्णाश्रमादि धर्म, यति-धर्म, वैराग्य धर्म, शमदमादि धर्म, ध्यान-योग, ईश्वर की ईशिता की वशीभूतता आदि जितने प्रकार के धर्म कहे गये हैं, उन सबको ही परित्याग कर एकमात्र मेरे भगवत्-स्वरूप के शरणागत हो। सुतरां उपसंहार में शरणागति या प्रपत्ति का विषय ही विशेष भाव से लिखा गया। श्रीगीता में शरणागति, प्रपत्ति, आनुगत्य, दास्य या भक्ति की बातें ही बार बार कही गई हैं। इसमें आदि, मध्य और अन्त में भक्ति का ही माहात्म्य गाया गया है। तृतीय अध्याय में श्रीभगवान ने कर्मयोग की खूब प्रशंसा की है —

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥

हे अर्जुन, बिना कर्म किये कोई क्षणकाल भी रह नहीं सकता। प्रकृतिसिद्ध गुण द्वारा उत्तेजित हो अस्वतन्त्र-रूप में जीव व्यावहारिक कर्मों को किया करता है। जो मनुष्य,कर्मेन्द्रियों को बाहर से संयत कर मन ही मन इन्द्रिय-अर्थ की आलोचना करता है, उस मूढ़ात्मा को लोग मिथ्यावादी कहते हैं। तुम सदा कर्म करो। कर्मत्याग की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। जब कर्मत्याग द्वारा शरीर-यात्रा भी नहीं चलती, तब कर्म का त्याग कैसे सम्भव है? किन्तु इसके बाद ही के श्लोक में भगवान् कहते हैं : —

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

अर्थात् यज्ञ-शब्द का अर्थ विष्णु है। श्रुति का कहना है, 'यज्ञो वै विष्णुरिति' विष्णु को प्रसन्न करने का जो कर्म है, वही यज्ञ है। उन भगवान को प्रसन्न करनेवाला कर्म ही सच्चा कर्म है। उसके अतिरिक्त सब कर्मों को ही कर्म-बन्धन समझना चाहिये। कामना के उद्देश्य से भगवान् को प्रसन्न करनेवाला कर्म भी बन्धन का कारण होता है। अतएव हे अर्जुन, फल की आकांक्षा न करके केवल भगवान को प्रसन्न करने के लिये कर्म करो। भगवान के लिये कर्म या भगवान को प्रसन्न करनेवाला कर्म ही भक्ति है -भक्तिशास्त्र का भी ऐसा ही कहना है, —

सुरर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
स वै भक्तिरिति प्रोक्ता यया भक्तिः परा भवेदिति॥

और एक जगह कहा है, —

लौकिकी वैदिकी वापि या क्रिया क्रियते मुने।
हरिसेवानुकूलैव सा कार्या भक्तिमिच्छता॥

अर्थात् हे देवर्षि नारद, हरि के उद्देश्य से जो शास्त्र-विहित कार्य है, उसे ही भक्ति कहते हैं और वही परिपुष्ट अवस्था में पराभक्ति के रूप में परिणत होती है।

लौकिकी हो चाहे वैदिकी हो, हरेक काम हरिसेवानुकूल होने से भक्ति है; अभिलाषी मनुष्यों को वही करना चाहिये। अतएव तृतीय अध्याय में कर्म की प्रशंसा करते हुए श्रीभगवान ने हरि को प्रसन्न करनेवाले कर्म या भक्ति का ही आदेश किया है।

चौथे अध्याय में ज्ञानयोग का उपदेश देते हुए भी भगवान् ने शरणागति या भक्ति की ही प्रधानता स्थापित की है। शुष्क ज्ञान किसी काम का नहीं। भक्ति के उद्देश्य से हुआ ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। जो लोग अहंकार के वशीभूत हो (अक्षज इंद्रियों के द्वारा) ज्ञान के संग्रह में तत्पर हैं, उनके लिये भगवान कहते हैं कि विशुद्ध ज्ञान या सम्बन्ध ज्ञान लाभ करने के लिये प्रणत हो, शरणागत हो, विनीत भाव से प्रश्न करो, अक्षज ज्ञान से परिचालित होकर कुतर्क न करो। सेवा-धर्म-विशिष्ट बनो, तभी दिव्य ज्ञान या अप्राकृत तत्त्व को पा सकोगे। श्रद्धाविहीन या सेवाधर्म से विच्युत होने से विनाश को प्राप्त होगे। तरह-तरह के संशय उपस्थित हो तुम्हें नाश की राह पर ले जायँगे। इसीसे भगवान कहते हैं, —

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
श्रद्धावान लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

छठे अध्याय में श्रीभगवान ने योग की प्रशंसा की है, किन्तु सब के अन्त में भक्ति का ही प्राधान्य स्थापित किया है,—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुनः॥

अर्थात् हे अर्जुन, तपस्वी की अपेक्षा योगी श्रेष्ठ है। सांख्यज्ञानी की अपेक्षा योगी श्रेष्ठ है। सकाम कर्मी की अपेक्षा भी योगी श्रेष्ठ है। अतएव हे अर्जुन, तुम योगी हो। किन्तु जितने प्रकार के योगी हैं, उनमें सबकी अपेक्षा भक्तियोग के अनुष्ठाता योगी ही श्रेष्ठ हैं। वे मद्गतचित्त हो, काय-मनो-वाक्य से श्रद्धावान् हो मेरा ही भजन करते हैं, वे सब योगियों में श्रेष्ठ हैं। अतएव यहाँ भी श्रीभगवान् ने भक्त और भक्ति का श्रेष्ठत्व संस्थापन किया है।

सप्तम अध्याय के आरम्भ में ही भगवान् ने कहा है,—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

अर्थात् हे अर्जुन, मुझमें आसक्तचित्त हो, मेरे आश्रय योग का अभ्यास करते हुए मुझ सम्बन्धी समस्त ज्ञान जिस प्रकार लाभ होता है, उसे मैं तुमसे कहता हूँ सुनो। यहाँ 'समग्र' शब्द आलोचनीय है। समग्र शब्द द्वारा यही जान पड़ता है, कि भगवान में एक असमग्र ज्ञान है। समग्र ज्ञान ही परिपूर्ण ज्ञान है। उदाहरण स्वरूप कहा जा सकता है, कि जैसे बरफी के एक टुकड़े के स्वाद को हम तरह तरह से ले सकते हैं। जैसे बरफी को आँखों से देखने से एक प्रकार का परिचय मिलता है, बरफी का नाम सुनते कान से स्वाद मिलता है, नाक से "सूँघना आधा भोजन" का स्वाद मिलता है, स्पर्श में एक प्रकार का और ही स्वाद है, किन्तु यह सब स्वाद आंशिक स्वाद हैं। सब प्रकार से स्वाद लेने के लिये उसे जीभ पर रखके स्वाद लेना चाहिये। उसी प्रकार सम्वित् वृत्ति की सहायता से ब्रह्मज्ञान रूप जो ज्ञान है या सचित् वृत्ति द्वारा परमात्मरूप ज्ञान समग्र ज्ञान नहीं। ब्रह्मज्ञान जड़ का अतिरिक्त ज्ञानमात्र है। अतएव वह समग्र ज्ञान नहीं है। उसमें मायिक उपाधि के विपरीत भाव में ब्रह्म का दर्शन होता है। स्वरूप शक्ति-सम्पन्न भगवान् को शक्ति-रहित का दर्शन करना ही ब्रह्म दर्शन या निर्विशेष ज्ञान है। परमात्म-ज्ञान भी आंशिक ज्ञान है। मायिक-उपाधि का अन्वय भाव से परमात्म-दर्शन होता है। परमात्मा भगवान् का जगत् में प्रविष्ट हुआ अंश है। गीता में कहा है -

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

हे अर्जुन, सर्व जीवों के हृदय में परमात्म-रूप में मैं अवस्थित हूँ। जैसे यन्त्र पर चढ़ी हुई वस्तु घूमती है, वैसे ही सब जीव ईश्वर के सर्व नियन्तृत्व धर्म से जगत् में भ्रमित होते हैं। आंशिक ज्ञान की वजह भगवान् ने इसे "गुह्यतर" की आख्या दी है। ब्रह्मज्ञान गुह्यज्ञान है। जैसा कि श्रीगीता में कहा है, —

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।"

इस निर्विशेष ज्ञान के विषय के उपरान्त भगवान् कहते हैं,—

"इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया॥"

अर्थात् इससे पहले जो ब्रह्मज्ञान कहा है, वह गुह्य है। अब जो परमात्म-ज्ञान कहा गया, वह गुह्यतर है। इसके बाद के श्लोक में ही कहते हैं,—

"सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥"

अर्थात् हे अर्जुन, मैं सर्वगुह्यतम ज्ञान कहता हूँ; सुनो, यही मेरा परम वाक्य है। मैं अपनी शरण में न आनेवाले से यह कहता ही नहीं। तुमने सबसे पहले ही मेरा शरणागत शिष्य होना स्वीकार किया है, इसलिये मेरे अत्यन्त प्रिय होने के कारण तुमसे कहता हूँ। तुम मेरे भक्त बनो। मुझ में ही मन को समर्पण करो। मेरी प्रसन्नता के लिये चेष्टा करो। मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, सच कहता हूँ, कि तुम अवश्य मुझे पाओगे। अपना बहुत ही प्रिय होने के कारण मैंने तुम्हें इस निर्गुण भक्ति का उपदेश किया।

सुतरां समग्र शब्दों द्वारा विभूति-सहित सपरिकर-सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ही लक्षित होते हैं। "राजासौ प्रयाति" वह राजा जा रहे हैं, ऐसा कहने से जैसे राजा सैन्य-सामन्त, पारिषद, राजदण्ड, राजछत्रादि के साथ सभी कुछ समझा जाता है, वैसे ही सच्चिदानन्दमय श्रीभगवान् के अचिन्त्य

और अप्राकृत सविशेष दर्शन ही समग्र दर्शन है। वह दर्शन एकमात्र भक्तियोग में ही सम्भव है। ज्ञान-कर्म-योगादि द्वारा अतिरिक्त, असम्पूर्ण या आंशिक दर्शनमात्र हो सकता है। सातवें अध्याय में श्रीभगवान् ने और भी कहा है-

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

हे अर्जुन, मेरी माया त्रिगुणमयी और अपारा है। जो एकमात्र मेरे ही शरणागत हैं, वे ही इस माया के हाथ से छुटकारा पा सकते है। फिर कहते हैं—

"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।"
"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥"

भक्ति विशिष्ट ज्ञानीभक्त ही मेरे विशुद्ध दास हैं। सब जीव अनेक जन्म का साधन करते करते ज्ञान पाते अर्थात् चैतन्यनिष्ठ होते हैं। चैतन्यनिष्ठ होने से स्वरूपज्ञान की स्फूर्ति होती है। तब वे मेरे शरणागत होते हैं। जो भगवत् को पहचान गये हैं, जो सर्वत्र वासुदेवमय दर्शन करते हैं, ऐसे महात्मा बड़े ही दुर्लभ हैं। सुतरां सप्तम अध्याय में भी शरणागति, प्रपत्ति या भक्ति का ही श्रेष्ठत्व संस्थापित हुआ।

गुरुसेवा

श्रुति, स्मृति, पुराणादि शास्त्रों में सर्वत्र ही आचार्य की सेवा का माहात्म्य कहा गया है। सद्गुरु की सेवा के सिवा बद्धजीव की अनर्थ निवृत्ति तथा भगवत्-सेवा की प्राप्ति के लिये दूसरी राह नहीं है। शास्त्र में आचार्य को भगवत् प्रकाश या आश्रय-जातीय भगवत्-विग्रह के नाम से वर्णन किया गया है। गुरुदेव भगवान् से अभिन्न हैं। वे जीवों को नित्य सेवा की शिक्षा देने के लिये संसार में सेवक-विग्रह के रूप में प्रकट हुए हैं। उनका आश्रय करने से जीव विषय-स्वरूप भगवान् को पा सकते हैं। सद्गुरु की सेवा करते करते बद्ध-जीव के हृदय की अविद्या-राशि दूर हो जाती है, चित्तदर्पण निर्मल हो जाता है, तब गुरु की कृपा से जीव के उस निर्मल हृदय में परमश्रेयः करने वाली ब्रह्मविद्या का उदय होता है। जब तक जीव के हृदय में भोग की कामना रहती है, तब तक वह सद्गुरु के पास पहुँच ही नहीं सकता। मुण्डक श्रुति का वचन है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

ब्राह्मण कर्म द्वारा अर्जित स्वर्गादि लोकों को कदलीदल के समान असार समझ, कि नित्य भगवद्धाम अनित्य कर्मों के द्वारा प्राप्त नहीं होता, कर्मफल से मन को हटायें। इस प्रकार भोग की कामना से वैराग्य-प्राप्त पुरुष बहुत ही विनीत भाव से ब्रह्मज्ञान लेने के लिये वेद का तात्पर्य जानने वाले, भगवत्सेवापरायण सद्गुरु के चरण में सब तरह से शरण लें। श्वेताश्वतर श्रुति का भी कहना है:—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

जिन अधिकारी मनुष्यों में भगवान की अहैतुकी परा-भक्ति मौजूद है, वैसे ही जो सद्गुरु में भी बिलकुल सेवा की बुद्धि रखते हैं, उन्हीं महात्मा के आगे आत्मतत्त्व-विषयक उपदेश प्रकाश पाते हैं। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी-पाद ने श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्य २२ वें परिच्छेद में कहा है,—

कृष्ण को भजें औ करें गुरु का सेवन।
माया-जाल छूटे पायें कृष्ण के चरण॥

अर्थात् त्रिगुणात्मिका अपार-माया के हाथ से उद्धार पाकर नित्य भगवत्-सेवा करने के लिये गुरु की सेवा और उनके आनुगत्य से भगवद्-भजन के अतिरिक्त और कोई

दूसरा उपाय नहीं है। सद्गुरु शिष्य की भुक्ति और मुक्ति की कामना का विनाश कर एकमात्र अहैतुकी सेवा की शिक्षा देते हैं। जहाँ गुरु शिष्य को अपने आराम का आदमी समझते हैं और शिष्य भी अपनी इन्द्रियों को प्रसन्न करने की इच्छा से गुरु के पास जाते हैं, वहाँ गुरु की सेवा है ही नहीं। ऐसे गुरु और शिष्य का सम्बन्ध नरक के द्वार के समान है और सद्गुरु की सेवा वैकुण्ठ-द्वार के समान। गुरु नित्य भगवन्-सेवा में लगे रहते हैं, सुतरां वे शिष्य को भी भगवान की सेवा में ही नियुक्त करते हैं। भगवत् सेवा के अतिरिक्त सद्गुरु के लिये और कोई काम ही नहीं। सुतरां एकमात्र सद्गुरु की सेवा करने से ही गुरु-सेवा और भगवत् सेवा दोनों ही सिद्ध होती हैं।

प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य श्रीरामानुजपाद का नाम परमार्थी मात्र ने सुना होगा। उन्होंने मायावाद के अन्धकार और कर्ममार्गियों के स्मार्तवाद के बवण्डर से जीवों का उद्धारकर जगत् में भक्त और भगवान् के सेवामाधुर्य का प्रचार किया था। एक दिन वे शिष्यों को साथ ले श्रीशैल पर गये। सब लोग ऊँचे स्वर से हरिनाम का कीर्त्तन करते हुए आगे बढ़े। दो-तीन दिन के बाद ये लोग एक ग्राम में आ पहुँचे। उस गाँव में रामानुज के दो शिष्य रहते थे। इनमें एक धनशाली और दूसरा दरिद्र था। धनशाली शिष्य का नाम यज्ञेश और दूसरे का नाम वरदाचार्य था। रामानुज ने उस धनाढ्य शिष्य को शिष्यों के साथ अपने आने का समाचार देने को अपने दो शिष्यों को भेज दिया। यज्ञेश श्रीगुरुदेव के आने का समाचार सुन मारे आनन्द के इतने अधीर हो गये, कि जनानखाने में जा ऐसे घबरा उठे, कि कैसे गुरु का स्वागत करें। वे यह भी भूल गये, कि गुरु के दो शिष्य दर्वाजे पर उनके आसरे बैठे हैं। रामानुज के दोनों शिष्यों ने ऐसे व्यवहार से आजिज आकर गुरु के पास जा सब हाल कह दिया। रामानुज भी धनाढ्य शिष्य के व्यवहार से बहुत ही दुःखी हो गरीब वरदाचार्य के घर अतिथि होने के लिये शिष्यों के साथ उनके यहाँ आये। वरदाचार्य नित्य सबेरे भिक्षा के लिये बाहर निकलते और सारे दिन भिक्षा कर जो कुछ पाते, उसे गुरु और नारायण को निवेदन कर बाकी आप ग्रहण करते थे। उनकी लक्ष्मी नाम की एक बड़ी ही सती और रूपलावण्यवती सहधर्मिणी थी। वे सचमुच ही स्वामी के धर्म में सहायता देनेवाली थीं। जब रामानुज वरदाचार्य की कुटी में शिष्यों के साथ उपस्थित हुए, उस समय वरदाचार्य भिक्षा के लिये बाहर गये हुए थे। लक्ष्मी स्नान करके सैकड़ों छेदवाले एक चिरकुट को पहन दूसरे पुराने मैले कपड़े को धूप में सुखा रही थीं। उन्होंने ताली बजाकर यह प्रकट किया, कि वे ऐसी अवस्था में गुरुदेव के सामने आ उनका स्वागत नहीं कर सकती हैं। रामानुज ने उसी समय अपना दुपट्टा बाहर से उछाल घर में फेंक दिया। लक्ष्मी उससे अपने शरीर को ढँक गुरु के सामने आई और गुरुदेव को बार बार साष्टाङ्ग प्रणाम कर कहने लगीं—"प्रभो, आप सबके साथ बैठें, मेरे स्वामी भिक्षा के लिये बाहर गये हैं, मैं शीघ्र ही विष्णु-नैवेद्य तैयार करके ले आती हूँ।" इधर घर में चावल की खुद्दी भी नहीं। उनकी समझ में कुछ भी न आया, कि अब वे क्या करें। किन्तु प्राण देकर भी गुरु और वैष्णव की सेवा करना चाहिये; ऐसा ही विचार करती हुई वे नारायण को याद करने लगीं। अन्त में लक्ष्मीदेवी को एक उपाय सूझा। समीप ही एक धनी बनियाँ रहता था। वह बनियाँ चाल-चलन का अच्छा न था। उस बनिये ने लक्ष्मी देवी के रूप-लावण्य पर मुग्ध हो कितनी ही वार अपनी विलासिनी बनने का अनुरोध करते हुए उसने कहा था, कि यदि लक्ष्मीदेवी उसकी इच्छा पूरी करें तो क्षण-भर में उनकी और उनके स्वामी की दरिद्रता दूर हो जायगी; उनके लिये फिर किसी तरह का अभाव न रहेगा। किन्तु सती साध्वी लक्ष्मीदेवी बनिये की इस बात पर कभी ख्याल भी नहीं करती थीं। आज उन्होंने देखा, कि श्रीगुरुदेव और वैष्णव लोग दर्वाजे आये हैं। यदि उनकी सेवा के लिये यह सामान्य नश्वर देह, लौकिक या नैतिक धर्म को जलाञ्जलि देकर भी श्रीगुरुदेव की सेवा हो सके तभी उसका देह धारण करना सार्थक है। वह इतने दिन अपने भोग के लिये उस बनिये के बुरे प्रस्ताव पर राजी नहीं हुई। आज हरि-गुरु और वैष्णव की सेवा के लिये ऐसे बुरे काम के करने से चाहे नरक ही क्यों न हो, किन्तु उससे हरि-गुरु-वैष्णव प्रसन्न तो होंगे। अपनी इन्द्रियों को खुश करने की इच्छा करना ही 'काम' है। किन्तु कृष्ण की इन्द्रियों को प्रसन्न करने की इच्छा को 'प्रेम' कहते हैं। कलिघ्न नामक एक महाभागवत ने चोरी करके भगवान् की सेवा की थी। तिरुमङ्गाई अलवर ने डकैती द्वारा रुपये छीनकर भी अपने इष्टदेव रङ्गनाथ के श्रीमन्दिर को बनवाया। नरक जाने पर भी मैं गुरु और वैष्णव की सेवा

न छोड़ूँगी। ऐसा ही सोचकर लक्ष्मीदेवी उस धनी बनिये के यहाँ गईं और उसी दिन की रात में उसकी मनोवासना पूर्ण करने का वादा किया। बनिये के बहुत अनुरोध करने और तरह-तरह के लोभ दिखाने पर भी जो इस बुरे काम को स्वीकार नहीं करती थीं, आज वही आप ही आप उसके दर्वाजे आई हैं। यह देख बनियाँ आनन्द से अधीर हो उठा। लक्ष्मीदेवी ने जैसे ही अपने गुरु और वैष्णवों के आतिथ्य-सत्कार के लिये सामान की बात मुँह से निकाली, वैसे ही वरदाचार्य की कुटी के दर्वाजे पर ढेर-के ढेर चावल दाल, दूध, दही, घी, चीनी आदि तरह तरह की चीजें पहुँचने लगीं। लक्ष्मीदेवी ने फुर्ती के साथ रसोई बनाके भगवान् को नैवेद्य लगाया और उसे गुरु तथा वैष्णवों के सामने धर दिया। सबने ही प्रसन्न हो प्रसाद का सम्मान किया और दरिद्र के घर प्रसाद का इतना बड़ा आयोजन देख विस्मित भी हुए।

इधर लक्ष्मीदेवी के पति भिक्षा से लौट अपने गुरुदेव और गुरुभाइयों को अपनी कुटी में देख बड़े ही आनन्दित हुए और श्रीगुरुदेव तथा वैष्णवों की सेवा करने के लिये घबरा उठे। वैष्णवों ने कहा, कि वे सभी लोग बड़े सन्तोष के साथ प्रसाद का भोजन कर चुके हैं। यह सुनकर वरदाचार्य बहुत विस्मित हुए और घर में जा सहधर्मिणी से पूछने लगे। लक्ष्मीदेवी ने विनीतभाव से और डरते हुए बनिये के आगे अपने वादे की बात कह दी।

यह सुनकर वरदाचार्य आनन्द से नाच उठे और लक्ष्मीदेवी से कहने लगे,—"लक्ष्मी, तू ही यथार्थ सहधर्मिणी है, आज मैं धन्य हुआ। मैं इतने दिन से समझता था, कि शायद तुम मेरे इस हाड़-मांस के थैले को ही पति समझती हो, किन्तु आज दिखाई दिया, कि तुम्हारे ऊपर गुरुकृपा पूर्णरूप से बरस चुकी है, तुम्हारा सम्बन्ध-ज्ञान उदित हुआ है; तुम यह समझ गई हो, कि एकमात्र नारायण ही पति हैं और बाकी सभी जीवप्रकृति। अतएव आज तुमने इस कुत्ते-स्यार की खूराक बनने वाली देह के बदले जिस परमपति की सेवा की है, उसे याद कर बार बार आनन्दित हो रहा हूँ।" धीरे धीरे श्रीरामानुज और वैष्णवों को भी लक्ष्मीदेवी के इस सेवा की बातें सुनाई दीं, वे सब लोग विस्मित हुए। श्रीरामानुज ने उन दोनों दम्पती से कहा, कि तुम दोनों उस बनिये के घर जाके उसे कुछ महाप्रसाद दे आओ। दम्पती उस बनिये के यहाँ महाप्रसाद लेके गये। वरदाचार्य बाहर खड़े रहे, लक्ष्मी ने बनिये के पास जाके महाप्रसाद दिया। लक्ष्मीदेवी के अनुरोध से बनिया रामानुज की जूठन खाने लगा। किन्तु वैष्णव की जूठन का भी कैसा माहात्म्य है! प्रसाद खाते खाते बनिये का मन पलट गया। बनिये के मन में पछतावा होने लगा, कि हाय, मैंने किस पर ऐसी बुरी तबीयत की। उसने उनसे कहा,—"आप तो वैष्णव की गृहिणी हैं, आपके नारायण-अर्पित शरीर को मैंने कैसे भोगने की इच्छा की। माता! नरक से तुम मेरा उद्धार करो। आपके गुरुदेव की कृपा से क्या मैं वञ्चित रह सकता हूँ? वैष्णव लोग तो अदोषदर्शी होते हैं। क्या वे मुझ पर कृपा न करेंगे?

सती ने स्वामी के पास लौट आके सब बातें कहीं और फिर दोनों ने साथ जाके श्रीगुरुदेव के चरण में भी सब निवेदन किया। पतितपावन श्रीरामानुजाचार्य ने बनिये को बहुत ही लज्जित देख दीक्षा प्रदान की। इसके बाद उस बनिये ने श्रीगुरुदेव के आगे उन वैष्णव-दम्पती का दुःख दूर करने को कुछ धन देने की इच्छा प्रकट की। यह सुनकर वरदाचार्य ने गुरुदेव के आगे बहुत ही विनीत भाव से कहा,—"प्रभो, ऐसी कृपा कीजिये, जिससे यह अधम हरि-गुरु-वैष्णव की सेवा के अधिकार से विच्युत न हो। प्रभो, धन, जन या प्रतिष्ठा आदि से यह चित्त आपके चरण-युगल की सेवा से हट न जाये।" रामानुज ने वरदाचार्य का ऐसा भाव बनिये से कहा—

जेते देखो वैष्णव व्यवहार - दुखी।
निश्चय जानो वोही परमानंदी सुखी॥
विषय मदांध लोग कुछ भी न जानें।
विद्या-धन-कुलमद वैष्णव न माने॥

इधर रामानुज के धनाढ्य शिष्य यज्ञेश श्रीगुरु की सेवा न कर सकने से बहुत दुःखी हो वरदाचार्य के घर आये, उन्होंने गुरुदेव से अपने हृदय का सारा दुःख निवेदन किया। रामानुज ने यज्ञेश से कहा,—"तुम्हें वैष्णव-अपराध लगा है। इसीसे मैं तुम्हारे घर अतिथि नहीं हुआ। तुम अपने गुरु-भाइयों की आव-भगत किये बिना ही अन्तःपुर में चले गये।" तब यज्ञेश ने कहा,—"प्रभो, आपके शुभागमन का समाचार सुन मैं आनन्द से अधीर हो आपके आव-भगत

की तैयारी करने लग गया था।" तब रामानुज ने कहा,— आनन्द से विह्वल हो जाना कोई सेवा नहीं है। क्योंकि,—

निज प्रेमानन्द कृष्ण-सेवानन्द बाधे।
सो आनन्द प्रति भक्त अति क्रोधे॥

जहाँ अपने आनन्द लेने की लेशमात्र भी इच्छा होती है, वहाँ सेवा नहीं, भोग की कामना होती है। सेवा में सिर्फ अपने इष्टदेव के सुख की कामना रहती है। और वैष्णवों को अलग करके भी गुरुसेवा नहीं होती। वैष्णवगण या गुरु-सेवकगण श्रीगुरुदेव के अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं। अतएव तुमने जो अर्द्ध कुक्कुटी जरती न्याय * अवलम्बन कर वैष्णवों का सम्मान नहीं किया, केवल मेरी चिन्ता से विह्वल हो उठे, इससे तुम्हें वैष्णव अपराध लगा है। इसीलिये मैं तुम्हारे घर नहीं गया। तब यज्ञेश अपने अपराध को समझ श्रीगुरुदेव और वैष्णवों के चरण में बारबार अपने अपराध को स्वीकार कर रोने और क्षमा माँगने लगे। श्रीरामानुजाचार्य ने यज्ञेश के घर आतिथ्य ग्रहण करना स्वीकार किया। सद्गुरु और शरणागत शिष्य का व्यवहार ऐसा ही है। सद्गुरु धन, कुल और विद्या नहीं देखते, सेवा की प्रवृत्ति देखते हैं। वे सद्गुरु की सेवा तथा भोग और मोक्ष का पार्थक्य बनाते हैं। सद्गुरु शिष्य को पतित बनाके पतितपावन नाम धारण नहीं करते, वरं सचमुच ही शिष्य को पावन करते हैं। सद्गुरु निष्किञ्चन और निरपेक्ष हैं, शिष्य के अन्याय आचरण पर ध्यान नहीं देते।

हम लोग बचपन से जानते हैं, कि पापी लोग नरक भोग करते हैं। यमदूत उन्हें यथायोग्य दण्ड देने के लिये यमालय में ले जाकर नरक में ढकेल देते हैं। और उनमें जिसने कुछ पुण्य-कर्म किये हैं, उन्हें उसका फल भोगने के लिये स्वर्गादि भिन्न-भिन्न लोकों में भेजते हैं। वे सब अपने-अपने कर्मफल के भोगने के बाद फिर मृत्युलोक में भेजे जाकर यथायोग्य योनियों में जन्म लेते और फिर कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं।

पुण्यवान् और पापी दोनों ही अपने-अपने कर्मफल के भोगने में लगे हैं। पापी लोग भोगवृत्ति को चरितार्थ करने के लिये इतना आग्रह दिखाते हैं, कि शास्त्रीय विधि-मर्यादा की रक्षा करने के लिये उपयुक्त संयम को भी स्वीकार करना नहीं चाहते। वे अपनी बुराइयों के दबाने में ध्यान न दे किये हुए कर्म के परिणाम-फल के विचार में असमर्थ हो यथेच्छाचारी हो पड़ते हैं, यही उनके पाप हैं।

पुण्यकामी मनुष्य उनकी अपेक्षा परिणामदर्शी हैं। वे दुर्दमनीय भोग की प्रवृत्ति को बहुत कुछ दबा के पाप के परिणाम को समझ, सामाजिक दण्ड (कैद आदि) और शास्त्रोक्त नरक में पड़ने की आशङ्का करते हुए पापाचरण से दूर रहते और भविष्य में इह लोक तथा परलोक में स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रिय-परितृप्ति के लिये कुछ-कुछ त्याग स्वीकार करते हुए भले कामों में लगते हैं। पापी और पुण्यकामी दोनों ही भोग-परायण कर्मी हैं, भोग-वृत्ति को चरितार्थ करने के लिये एक भले कामों में और दूसरे बुरे कामों में लगे हुए हैं; दोनों ही की कर्मचेष्टा में इन्द्रिय-तृप्ति का ही लक्ष्य दिखाई देता है।

भक्ति-मार्ग में जिनकी श्रद्धा उदित हुई है और साधु तथा गुरु के चरणों का आश्रय पाने की वजह जो लोग भगवान् के भजन में प्रवृत्त हुए हैं, उनकी चेष्टा इन कर्मियों के समान नहीं। बाहरी दृष्टि से कभी-कभी प्रवृत्त-भक्त और कर्मियों के काम एक ही प्रकार के जान पड़ने पर भी दोनों की चेष्टायें बिलकुल अलग हैं। एक उदाहरण देखिये,— भक्त भी रसोई बनाते और कर्मी भी रसोई बनाते हैं; किन्तु भक्त भगवान् के लिये बनाते हैं, उनके सभी काम भगवत्-

* यह न्याय शास्त्र का एक उदाहरण है। मतलब यह, कि कुक्कुटी=मुर्गी के अण्डा देने वाले अर्द्धाङ्ग की रक्षा करना और शिर की तरफ का हिस्सा काट कर खा जाना। इसे ही "अर्द्ध कुक्कुटी जरती न्याय" कहते हैं अर्थात् गुरु की सेवा करना, किन्तु उनके अङ्गस्वरूप जो वैष्णव गुरु के सेवक हैं, उनको छोड़ देना।

सेवा के लिये है, उनकी रसोई अपने खाने के लिये नहीं। सुतरां रसोई बनाने में भी असंख्य दृश्यादृश्य जीव मृत्यु-मुख में पड़ते हैं, इसके लिये उनकी कोई जिम्मेदारी नहीं। वे भगवान् के नित्यदास के रूप में सेवाबुद्धि के साथ जो शास्त्रीय काम करेंगे, वह कर्म नहीं है, इसलिये वे लोग बन्धन के योग्य भी नहीं, उन्हें पञ्चसूना प्रायश्चित्त करना न पड़ेगा। किन्तु कर्मी अपने भोग के लिये रसोई बनाने में जो जीवहत्या कर बैठते हैं, उसके लिये वे ही जिम्मेदार भी हैं; जीवहत्या के लिये मिलनेवाला नरक उन्हें जरूर मिलेगा, पञ्चसूना यज्ञ करने से भी उनका पूर्ण प्रायश्चित्त न होगा, क्योंकि प्रायश्चित्त करने पर भी पाप का बीज पूरी तरह से ध्वंस नहीं होता। कर्मी लोग जब कर्माङ्ग के अनुष्ठान के रूप में कर्मफल पाने के लिये हरिपूजा आदि करते हैं, तब भी उनकी रसोई में जो सब कीड़े मरते हैं, उनके लिये जिम्मेदार वे ही हैं, क्योंकि वह पूजा भगवत्-सेवा के लिये तो है नहीं, इस पूजा का मतलब अपने ही भोग के लिये है, सुतरां शास्त्र-विहित कर्म करने पर भी उसके जिम्मेदार वे ही हैं। यहाँ तक, कि अश्वमेधादि स्वर्गप्राप्ति के कर्म में शास्त्र द्वारा पशुवध की जो विधियाँ हैं, वह भी अपने भोग के लिये ही होने के कारण उससे होनेवाला फल अवश्य यज्ञकर्ता को भोगना पड़ता है। "वैधपशुहिंसाकृतो विधिबलात् स्वर्गप्राप्तावपि तद्धिंसादोषानामपगमः" (सारार्थदर्शिन्याम्)। सुतरां दिखाई देता है, कि कर्मीमात्र ही यमदण्ड पाने योग्य हैं। कर्म का आवाहन कर श्रीहरि-पूजादि में भी जो अनिवार्य पाप हो जाते हैं, उनके लिये भी दण्ड की व्यवस्था है, किन्तु अन्यान्य देव-देवियों की पूजा में (जिसे कर्मी, मोक्षकामी अभेद ज्ञान वाले पञ्चोपासकगण करते हैं, शुद्ध भक्त लोग कभी नहीं करते) होने वाली हिंसा के लिये तो नरक जाने में सन्देह भी नहीं।

सुतरां यह देखा गया, कि सिवा भक्त के, और शुद्ध भक्त के पादाश्रय से भक्तिमार्ग में प्रवृत्त व्यक्ति के अतिरिक्त और सभी यमदण्ड के योग्य हैं। यमराज अपने दूतों को उपदेश देने के समय (भागवत षष्ठ स्कन्ध तृतीय अध्याय में) कहते हैं,—

"तानानयध्वमसतो विमुखान्मुकुन्द-
पादारविन्दमकरन्दरसादजस्रम्।
निष्किञ्चनैः परमहंसकुलैरसङ्गै-
र्जुष्टाद्गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान्॥"

हे दूतगण, तुम लोग असाधुओं को दण्ड के लिये लाया करो। यदि पूछते हो, कि असाधु के लक्षण क्या हैं? तो उत्तर है, कि—जो श्रीमुकुन्द के चरण-कमल-मकरन्द-पान से विरत हैं, उस मकरन्द के पाने के लिये साधनभक्तियोग से विमुख रहने वाले ही असाधु हैं। यदि कोई पूछे, कि मधु किसके लिये प्रिय है, तो इसका उत्तर है, कि विषयासक्ति-रहित निष्किञ्चन केवल भक्तिमान् परमहंसों के लिये ही यह अनिर्वचनीय मधु सेव्य है। कोई पूछे कि तब वे मधु पान से मतवाले क्यों नहीं होते? तो उत्तर है कि उनकी सारी तृष्णाएँ नरक के द्वार-स्वरूप स्त्रीसङ्ग आदि भोगवर्द्धक भक्तिशून्य संसार दृढ़ भाव से आरूढ़ है।

"जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं,
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदाऽपि,
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥"

जो एक बार भी मुकुन्द की प्राप्ति के साधन रूपी कीर्त्तन स्मरण आदि करते हैं, वे 'साधु'-पदवाच्य हैं। उनके अतिरिक्त सभी असाधु हैं, उन्हें (नरक के लिये) ले आओ। जिसकी जीभ ने जन्म में एक दिन भी किसी समय श्रीभगवान् के नाम गुण का उच्चारण नहीं करती, जिह्वा के अभाव से जिसका मन एक बार भी उनके चरण-कमल का स्मरण नहीं करता, चित्त के विक्षिप्त होनेपर जिसका मस्तक कृष्ण का लक्ष्य कर एक दिन भी प्रणत नहीं होता, एक चित्त होकर या प्रधानरूप में जिसने श्रीविष्णु के उद्देश्य से कोई काम नहीं किया, वे असत् हैं। उन्हीं असाधुओं को यमालय में दण्ड देने के लिये ले आना। श्रीजीवगोस्वामीपाद ने अपनी टीका में लिखा है,—"अत्राभक्तानामानयनेन भक्तानामनानयनमेवविधीयते।" अभक्तों के ले आने का उपदेश दे भक्तों को लाना मना किया।

और एक जगह यमराज दूतों को उपदेश देते हैं,—

"स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं
वदति यमः किल तस्य कर्णमूले।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान्
प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम्।

जो लोग कर्मकाण्ड के नानारूप प्रलोभन की इच्छा न कर एकमात्र आश्रय लेने के योग्य समझ श्रीमधुसूदन के

चरण की शरण होते हैं, हे दूतगण, उन्हें छोड़ देना, क्योंकि मैं और सबका दण्डकर्त्ता हूँ, वैष्णवों का नहीं। फिर और एक जगह कहते हैं,—

"नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे"

इनको (वैष्णवों को) दण्ड देने के लिये मैं (यम) या काल भी योग्य नहीं हैं। और एक जगह (पद्मपुराण में) यमदूतगण कहते हैं,—

"प्राहास्मान् यमुनाभ्राता सादरं हि पुनः पुनः।
भवद्भिर्वैष्णवास्त्याज्या विष्णुञ्चेद्भजते नरः॥

यमराज ने बड़े यत्न के साथ बार-बार हम लोगों से कह दिया है, कि तुम्हें विष्णु-भजन करनेवाले दिखाई दें, तो उनका त्याग करो, वैष्णव हमारे दण्ड देने योग्य नहीं।

श्रीमद्भागवत में दूतों को उपदेश देने के समय यमराज कहते हैं—

"ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषाम्।
स्यात् पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः॥

यदि उनको (वैष्णवों को) अचानक किसी निषिद्ध आचरण के करने से अथवा नित्यकर्म के करने से प्रत्यवाय-जनित पाप लगे, तो वे लोग जो भगवान् के नामकीर्त्तन आदि करते हैं, उससे ही वह (पाप) नष्ट हो जाता है। वे हमारे दण्ड के योग्य नहीं होते।

जो निष्किञ्चनभाव से भगवत्-सेवा में ही परिनिष्ठित-बुद्धि हैं, उनके द्वारा किसी तरह का पापकर्म हो ही नहीं सकता रेवाखण्ड में ब्रह्मा ने कहा है,—

"स कर्त्ता सर्वधर्माणां भक्तो यस्तव केशव।
स कर्त्ता सर्वपापानां यो न भक्तस्तवाच्युत॥"

हरिभक्त द्वारा हरिसेवा के प्रभाव से नित्य-नैमित्तिक सभी धर्म कृत होते हैं, न करने का कोई दोष नहीं लगता। और हरिभक्ति से हीन मनुष्य नित्य नैमित्तिक क्रिया का साधन करके भी अपने लिये, अपने भोग के लिये या तकलीफ दूर करने के वास्ते काम करके सब पापों के कर्त्ता बन बैठते हैं। ब्रह्मा ने और भी कहा है,—

"पापं भवति धर्मोऽपि तवाभक्तैः कृतो हरे।
निःशेषधर्मकर्त्ता वाऽप्यभक्तो नरके पतेत्।
सदा तिष्ठति भक्तस्ते ब्रह्महाऽपि विमुच्यते॥

हे हरि, जो तुम्हारे भक्त नहीं हैं, उनके किये धर्म-कर्म भी पाप हो जाते हैं, समस्त धर्म करके भी वह नित्यकाल के लिये नरक में ही रहता है, किन्तु तुम्हारे भक्त ब्रह्महत्या करने पर भी पापमुक्त हैं। इसीलिये पहले कहा गया है, कि कर्मी लोग अच्छा काम करने जाकर भी पाप कर बैठते हैं।

पद्मपुराण में श्रीभगवान् कहते हैं,—

"मन्निमित्तं कृतं पापमपि धर्माय कल्पते।
मामनादृत्य धर्मोऽपि पापं स्यान्मत्प्रभावतः॥

श्रीभगवान की सेवा के उद्देश से जो काम किया जाता है, वह साधारण स्मृति के अनुसार अवैध होने पर भी पाप नहीं, वही धर्म है। श्रीभगवान् हरि के अनादर के उद्देश से जो धर्म किया जाता है, वह पाप-जनक है। उदाहरण के रूप में यह लिखा जा सकता है, कि दक्षिण प्रदेश में मूल मठ श्रीरङ्गनाथ-मन्दिर के प्राङ्गण की प्राचीर का कुछ हिस्सा, चोरी की ईंट से बनी है। किन्तु इस स्थल में चोरी करनेवाले को पाप लग नहीं सकता। गौड़ीय आचार्य के प्रधान गोस्वामी श्रीसनातन गोस्वामिपाद को श्रीगौरसुन्दर के पादपद्म में पहुँचने के लिये कैदखाने में घूस देकर पहरेदार को वशीभूत किया गया था; साधारण नैतिक विचार से यह काम प्रशंसनीय न होने पर भी श्रीभगवान् के लिये किये जाने से भक्ति का एक अङ्ग बन गया, पाप नहीं हुआ। ऐसे स्थल में बहुत ही सरलता का प्रयोजन है। सरलता का अभाव होने से ही हम लोगों को पाप लगता है, क्योंकि वह यथार्थ में हरि सेवा के अनुकूल रूप में किया नहीं जाता। अपने भोग की तृप्ति के लिये सेवा के बहाना हों, तो समझना चाहिये कि हम भगवच्चरण की शरण में पहुँच नहीं सकेंगे। सुतरां हम लोगों के किये हुए काम 'कर्म' कहलायेंगे, भक्ति नहीं, इससे हम लोगों को पापभागी बन यम का दण्ड ग्रहण करना पड़ेगा। यदि सहज में रुपए ऐंठने की राह समझ हम मूर्त्ति बेचें, शास्त्र का पाठ बेचें, मन्त्रदान का रोजगार फैलायें, तो अपने किये काम के लिये हम आप ही जिम्मेदार हैं; क्योंकि हमने भक्ति का आश्रय लिया ही नहीं, केवल कपटता के साथ पापकर्म में ही प्रवृत्त रहे। इसके लिये हम लोग यमदण्ड्य हैं। यह समझना चाहिये, कि ऐसा होने से हम भगवान् और गुरु की शरण तक पहुँच

नहीं सके, केवल शठता को ही वृत्ति बनाये रहे। भगवान् और गुरु के सेवक तथा शरणागत मनुष्य ही वैष्णव हैं, उनसे होनेवाले कार्य से पाप नष्ट हो जाता है। यमराज ने नृसिंह पुराण में कहा है—

"अहममरगणार्चितेन धात्रा
यम इति लोकहिताहिते नियुक्तः।
हरिगुरुविमुखान् प्रशास्मि मर्त्यान्
हरिचरणप्रणतान नमस्करोमि॥"

हरि-गुरु से विमुख मनुष्यों का मैं शासक और दण्ड देनेवाला हूँ, किन्तु जो लोग हरिचरण में प्रणत हैं, (अर्थात् जहाँ भगवान् की मूर्त्ति के रूप में, ग्रन्थ के रूप में या मन्त्र के रूप में अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिये रुपये पैदा करने की मशीन आदि का नाम निशान भी नहीं है) वे मेरे भी प्रणाम योग्य हैं, इसके निर्णय की योग्यता हममें नहीं, कि वे क्या कर्म-अकर्म करते हैं। उन्होंने स्कन्दपुराण में कहा है,—

न ब्रह्मा न शिवाग्नीन्द्रा नाहं नान्ये दिवौकसः।
शक्तास्तु निग्रहं कर्त्तुं वैष्णवानां महात्मनाम॥

हम देवताओं में कोई भी वैष्णवों पर शासन करने में समर्थ नहीं। जो हरि की शरण में हैं, वे स्वयं श्रीहरि के तत्त्वावधान में हो रहे हैं, वे हमारे राज्य की प्रजा नहीं। श्रीभगवान् ने कहा है,—

"अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥"

आचार में खराब होने पर भी भक्त कभी विनष्ट नहीं होता है, वे शीघ्र ही असद् आचरणों से रहित हो नित्य शान्ति को प्राप्त करते हैं। ठाकुर ने उद्धवगीता में कहा है,—

न ह्यङ्गोपक्रमो ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि।

हमारा सेवा-रूपी धर्म में भक्त्यङ्ग का आरम्भ हो जाने पर फिर उसके तनिक भी ध्वंस की आशङ्का नहीं। भक्ति का अङ्कुर अनश्वर है, सुतरां पापादि की पहुँच से बाहर और अमोघ है। अवश्य ही समय पाकर वह फले-फूलेगा। भक्त को उस फल को भोगने के लिये जन्म भी लेना पड़े, किन्तु वह पाप-पुण्य के कारण यमराज की व्यवस्था न कहलायेगी, क्योंकि,—

"न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते।"

कर्मियों की तरह भक्त पुण्य-पाप के फल-भोग के लिये जन्म नहीं लेते, फिर भी भक्ति का प्रचार करने के लिये यदि भगवदिच्छा से उन्हें कई जन्म तक सुख-दुःखमय संसार में आना भी पड़े, तब भी वह कर्माङ्ग का संसार नहीं होता।

"न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजे-
न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम्।"

वह संसार कैसा है? सारार्थ-दर्शिनी में श्रीचक्रवर्त्ति-पाद ने कहा है, (अनुवाद)—भक्त में भी दुःख दिखाई देता है; उसे, जैसे सु-वैद्य भूख बढ़ाने के लिये लङ्घन और कटु औषधि की व्यवस्था करते हैं, वैसे ही भक्ति बढ़ाने में चतुर भगवान भक्त को सुख दुःख देते हुए भक्ति के साधन का आग्रह बढ़ा देते हैं,—

वैष्णव को जितना देखो व्यवहारी दुःख।
उसे यही जानो वो है परमानन्द सुख॥

भक्त उन सब सुख-दुःखों को भगवत्-कृपा और भगवद्भक्ति समझ आनन्दचित्त से उसे भी वरण कर लेते हैं, जरा भी विचलित-चित्त नहीं होते।

कर्मियों की तरह मोक्षाभिमानी लोग भी भगवच्चरण का अनादर कर यम के दण्डनीय होते हैं।

"पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः"

एकमात्र भक्त को ही यम नमस्कार करते हैं, दूसरों को नहीं। यदि सरल हृदय से भगवत्-चरण की शरण हो भक्ति देवी का आश्रय लें, तो कुछ अपराध करने पर भी वे यमदण्ड के योग्य नहीं। क्योंकि वे शरणापन्न हैं। सारार्थ-दर्शिनी में कहा है, कि पाप या अपराध करने पर भी देहत्याग के अन्त में वे नरकगामी न होंगे, यह निश्चय है।

अतएव यदि किसी को भगवान् की कथा कहने और सुनने की इच्छा हो और सरलभाव से यह समझ सकें, कि श्रीभगवान् ही एकमात्र शरण हैं, तो वे चिरकाल तक के लिये यम के दण्ड से मुक्त हैं—औरों का किसी तरह भी छुटकारा नहीं। बुद्धिमान् लोग आप ही विचार करें कि कौन सी राह लेने लायक है।

शुद्धा और विद्धा

पूर्वप्रकाशित के उपरान्त

महन्त गुरु-प्राप्ति



जीव जब निष्कपट हो श्रीभगवान् में इस तरह आत्म निवेदन ज्ञापन करता है, तब श्रीभगवान् महन्त गुरुरूप में आविर्भूत होते हैं। महन्त गुरु के निकट दिव्यज्ञान लाभ न करने पर कोई अधोक्षज-सेवाधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। फिर, अधोक्षज सेवा के अतिरिक्त आत्मप्रसाद लाभ असंभव है। अक्षज वस्तु की सेवा में मननेन्द्रिय का तर्पण होता है, आत्मप्रसाद लाभ नहीं होता।

उत्तम या महाभागवत सर्वभूत में भगवद्भाव का दर्शन करते हैं, लेकिन भूतदर्शन नहीं करते, (चै० च०, मध्य, ८ म० प०)—

स्थावर जङ्गम ढूँढि रहे पर मूर्ति नहीं दिखलाती है।
इष्टदेव की मूर्ति अहो, सर्वत्र नजर में आती है॥

असद्गुरु का आश्रय का कुफल

श्रीविष्णु के सुदर्शन चक्र के अनुग्रह से जो वास करते हैं, कुदर्शन उन्हें आच्छादन नहीं कर पाता। वैष्णव का दास न होकर अवैष्णव को गुरुरूप में ग्रहण करने से इन्द्रियों के द्वारा हृषीकेश की सेवा होने के बदले हृषीक की (इन्द्रिय की) सेवा होती है, उससे भक्त प्रतिहत होते हैं।

श्रीमद्भागवत्-रचना का कारण निर्देश

श्रीव्यासदेव ने जब अनेक पुराण और महाभारतादि की रचना की, तब एक दिन श्रीव्यास को दुखी देखकर श्रीनारद ने आकर उसका कारण पूछा। श्रीव्यासदेव ने कहा—"मैंने कृष्णकथा की आलोचना की है, फिर भी, मेरे हृदय में प्रसन्नता क्यों नहीं है? वही प्रसङ्ग श्रीमद्-भागवत में इस तरह वर्णित है; (१।७।८-७)

"भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥
अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसां शोक-मोह-भयापहा॥"

[भक्तियोग के प्रभाव से शुद्ध हुए मन के पूर्ण रूप से समाहित होने पर श्रीव्यासदेव ने कान्ति, अंश और स्वरूप-शक्तिसमन्वित श्रीकृष्ण का और उनके पीछे गर्हितभाव से आश्रित वहिरङ्गा माया का दर्शन किया। उस माया द्वारा जीव के स्वरूप के आवृत और विक्षिप्त होने पर जीव, वास्तव में सत्व, रज और तम, इन त्रिगुणात्मक जड़ के अतीत होकर भी अपने को त्रिगुणात्मक समझता है। ऐसे त्रिगुणात्मक कर्तृत्वादि के वश अभिमान कर संसारी-विपद लाभ करता है। जड़ेन्द्रिय-ज्ञानातीत विष्णु में अव्यवहिता भक्ति के अनुष्ठित होने से ही संसारी भोग-दुःख दूर होते हैं, यह भी उन्होंने देखा। यह सब देखकर सर्वज्ञ वेदव्यास ने इस विषय में अनभिज्ञ लोगों के मङ्गल के लिये श्रीमद्भागवत नामक 'पारमहंसी सात्वत-संहिता' की रचना की—जिस पारमहंसी संहिता श्रीमद्भागवत को श्रद्धा के साथ सुनने के साथ ही साथ पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के प्रति शोक-मोह-भयनाशिनी भक्ति का उदय होता है।]

नाम और नामापराध

भजनशील प्राप्त-सेवन व्यक्ति को शोक, भय और मोह नहीं होता। जब 'अहं-मम' बुद्धि होने की वजह नामापराध करने की मत्तता और 'हरिनाम (?) जैसे-तैसे लेने ही से हो गया'—इस तरह के इन्द्रियतर्पणमूलक विचार उपस्थित होते हैं, तभी जीव शोक, भय और मोह

द्वारा घेरा जाता है। अपराधयुक्त नाम का फल त्रिवर्ग लाभ है। श्रीगुरु से जिन्होंने दिव्यज्ञान का लाभ नहीं किया, वे ही नामापराध को 'नाम' कहकर भ्रम करते हैं। 'देवदारु पत्र' इस नाम के और "देवदारु के पत्ते के पत्रत्व' के बीच माया का व्यवधान है, लेकिन भगवान इस तरह इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञानगम्य माया की चीज नहीं है। जो श्रीनाम के द्वारा हैजा-निवारण आदि मङ्गल कार्य कराया चाहते हैं, वे नामापराधी हैं, उनके मुँह से श्रीनाम उच्चारित नहीं होता। नामापराध के दूर होने पर किसी समय नाम का आभास तक हो सकता है।

शास्त्र में दस तरह के नामापराध का वर्णन है। नामापराधी जो फल भोग करता है, आत्मा उसे कभी ग्रहण नहीं करती, उसके द्वारा देह और मन का तर्पण होता है। इसीलिये श्रीमद्भागवत में कहा गया है—"ययात्मा सुप्रसीदति।" सुतरां नामापराध भगवन्नाम नहीं है। शुद्ध नामाश्रित व्यक्तियों को प्राकृतिक अभिनिवेश या जड़ता नहीं होती। 'लोकस्याजानत'—भागवत-प्रतिपाद्य निरस्तकुहक सत्य की बात मानवजाति नहीं जानती। मूर्खों की मूर्खता छुड़ाने के लिये ही भागवत का कीर्त्तन और सुपठन होता है। भक्तभागवत के मुख से ग्रन्थभागवत कीर्त्तित होने पर सत्संग के प्रभाव से जीव के समस्त कुहक और मनोधर्म दूर हो जाते हैं। जगत् में भगवद् विमुख अनेक शास्त्र प्रचारित हैं। लेकिन श्रीमद्भागवत शास्त्र के प्रचार का प्रयोजन यह है कि मानवजाति प्रत्यक्ष इन्द्रिय ज्ञान से चालित होकर जिस असुविधा में पड़ी है, वह श्रीमद्भागवत की निष्कपट कृपा से दूर होता है। श्रीमद् भागवत का विचार पूर्वक मनोयोग से पाठ करते-करते कृष्णानुशीलन की इच्छा बढ़ती है। किन्तु यदि हम लोग फिर अर्थादि प्राप्ति के लोभ से या प्रतिष्ठा की आशा आदि आत्माभिलाप को मन में ला कृष्णपादपद्म को आवरण करें, तो हम लोगों के लिये सुविधा न होगी,—नाम के अपराध का फल ही हमें मिलेगा। (क्रमशः)

अन्ध्र-प्रदेश में श्रीगौड़ीय-मठ की प्रतिष्ठा

पुष्कर मेला में असंख्य यात्री

कवूर से गत ५ जुलाई १९३२ को मि० ई० वी० शेषावतार प्लीडर महोदय ने तार-समाचार दिया है,—

श्रीविश्ववैष्णवराज-सभा के पात्रराज, श्रीगौड़ीय-मठ के प्रतिष्ठाता और आचार्य परमहंस श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज बहुतेरे शिष्य और अन्ध्र-प्रदेश के गण्यमान्य पृष्टपोषक-वर्ग के साथ अन्ध्र प्रदेश में श्रीगौड़ीय-मठ का शाखा-मठ प्रतिष्ठित करने के लिये, मद्रास के गौड़ीय मठ से, यहाँ पधारे हैं।

अन्ध्र-देशवासियों पर असीम कृपा करते हुए परमहंस गोस्वामी महाराज ने गोदावरी नदी के पश्चिम किनारे के कवूर में, श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु के साथ उनके बहुत ही अन्तरङ्ग पार्षद राय रामानन्द की मिलन-स्थली में नव प्रतिष्ठित श्रीरामानन्द गौड़ीय-मठ में श्रीगुरुगौराङ्ग और श्रीराधा गोविन्द की श्रीमूर्त्तियाँ आज सवेरे स्थापित की हैं। श्रीरामानन्द राय उत्कल के सम्राट गजपति श्रीप्रतापरुद्रदेव के अधीन राजमहेन्द्री के शासनकर्त्ता थे। श्रीमन्महाप्रभु के साथ एकान्त के समय अधिकांश सत्संगत हुआ करती थी, जिससे बिलकुल ही वास्तव सत्य की अविमिश्र-सेवा और परमार्थ तत्त्व की सबसे ऊँची अवस्था का विषय जगत् में सबसे पहले प्रकाशित हुआ था।

उत्तर-भारत के कुम्भ मेला की तरह प्रति बारह वर्ष पर गोदावरी के किनारे कवूर में पुष्कर-स्नान का योग उपस्थित होता है। इस वर्ष भी पुष्कर-स्नान-योग लगने पर भारत के स्थान-स्थान से लाख-लाख यात्री स्नान के लिये उपस्थित हुए थे। माननीय गवर्नमेण्ट तथा स्वयं-सेवकों ने यात्रियों के रहने की जगह और स्नानादि सभी बातों की सुविधा के लिये, बहुत ही प्रशंसनीय बन्दोबस्त किया था। इस अवसर पर यात्रियों का दल श्रीमूर्त्ति की प्रतिष्ठा, उत्सव-दर्शन, और परमहंस गोस्वामी महाराज के श्रीचरण में ससम्मान प्रणाम करने का सुयोग पाकर बहुत ही आन-

न्दित हुए थे। परमहंस गोस्वामी महाराज ने कबूर नगर के बहुतेरे शिक्षित तथा माननीय-मण्डली और अच्छे सम्भ्रान्त यात्रियों से गठित एक विराट् सभा-मण्डप में बड़ी ही प्रसन्नता के साथ श्रीगौर-रामानन्द के मिलन-स्थल में परम पवित्रता और आस्तिकता के साथ तरह-तरह से क्रम-विकाश के सम्बन्ध में जिसे श्रीराय रामानन्द ने ४२० वर्ष पहले श्रीमहाप्रभु के कहने से जो कुछ कहा था, उसके सम्बन्ध में, एक हृदयग्राही और उपदेशावलीपूर्ण वक्तृता प्रदान की। इस शुभ क्षण में परमहंस गोस्वामी महाराज की उपस्थिति से पुष्कर मेला के यात्रियों ने इस पुण्या तिथि को धन्या मान अपने को बहुत ही सौभाग्यवान् माना। वहाँ श्रीगौड़ीय मठ की एक शाखा स्थापित करने के लिये सबने विशेष भाव से उनके प्रति बहुत ही भक्ति और सम्मान प्रदान किया।

निमन्त्रण-पत्र

श्रीगौड़ीय-मठ, बागबाजार, कलकत्ता

विदुत्सम्मानदुरःसर निवेदन—

२री अगस्त, १९३२

आगामी १२ वीं अगस्त शुक्रवार से १४ वीं सितम्बर बुधवार तक श्रीगौड़ीय-मठ में श्रीभक्तिविनोद-आसन पर **श्रीविश्ववैष्णव-राज-सभा** के उद्योग से अखिल-लोक-मङ्गलार्थ एक महीने से भी अधिक श्रीभगवान् और उनके भक्तों के आविर्भाव के महोत्सव का अनुष्ठान होगा। महाशय के कृपाकर सबान्धव महोत्सव में योगदान करने से सभा के सदस्यवर्ग परमानन्दित होंगे। नीचे महोत्सव की सूची दी जाती है। निवेदन इति।

निवेदक

श्रीविश्ववैष्णव-राज-सभा के सम्पादकगण

उत्सव सूची

शनिवार, १३ वीं अगस्त	श्रीकृष्णका झूलन यात्रा और श्रीरूप गोस्वामी प्रभु तथा श्रीमद् गौरदास पण्डितका अभियान।
मङ्गलवार, १६ वीं अगस्त	श्रीकृष्ण का झूलनयात्रा महोत्सव और श्रीमद् बलदेव का आविर्भाव।
बुधवार, २४ वीं अगस्त	श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी का उपवास।
बृहस्पतिवार, २५ वीं अगस्त	नन्दोत्सव।
शनिवार, २७ वीं अगस्त	श्रीअन्नदा एकादशी का उपवास।
सोमवार, ५ वीं सितम्बर	श्रीअद्वैतपत्नी श्रीसीता देवी का आविर्भाव।
बुधवार, ७ वीं सितम्बर	श्रीललिता सप्तमी।
बृहस्पतिवार, ८ वीं सितम्बर	श्रीराधाष्टमी।
रविवार, ११ वीं सितम्बर	श्रीपार्श्वैकादशी, श्रावणी द्वादशी और वामन द्वादशी का उपवास।
सोमवार, १२ वीं सितम्बर	श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर का प्रकटोत्सव (साधारण महोत्सव)।
मङ्गलवार, १३ वीं सितम्बर	श्रीअनन्त चतुर्दशी और श्रीहरिदास ठाकुर का अभियान।
बुधवार, १४ वीं सितम्बर	श्रीविश्वरूप महोत्सव (महोत्सव की समाप्ति)

नित्य अनुष्ठान

ऊषःकाल में	मङ्गलारात्रिक और अरुणोदय-कीर्त्तन।
प्रातः में	द्वादशाध्यायी श्रीमद्भागवत पारायण, पाठ और व्याख्या।
पूर्वाह्न में	नगर कीर्त्तन।
मध्याह्न में	भोग-आरति और महाप्रसाद का सम्मान।
अपराह्न में	हरिकथा-आलोचना और सदाचार शिक्षा।
सन्ध्या समय	सन्ध्या आरति और श्रीचैतन्यचरितामृत की व्याख्या।
प्रदोषकाल में	कृष्ण संकीर्तन और महाप्रसाद का सम्मान।

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ).
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्द्धवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्द्धवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीश्यामगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १३ हनुमान रोड, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपुरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणगड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० आजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्द्धवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
झुमुरकुंदा चोरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कबुर, मद्रास

वर्ष १] श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः [संख्या २०

भागवत

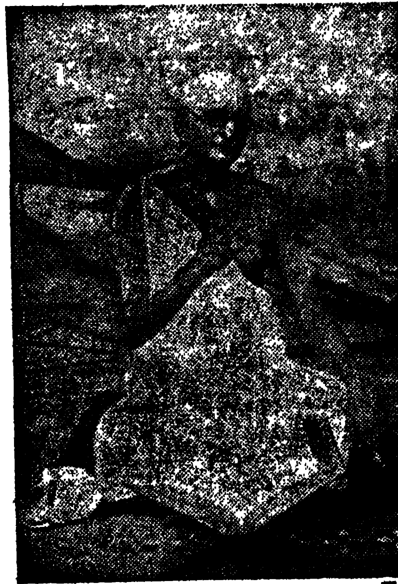
एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

16th August 1932

श्रीधर शुक्लपक्ष गौराब्द ४४६

श्रावण पूर्णिमा संवत् १९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

प्रकाशक—निर्मल स्वामी मधुकर बन

श्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



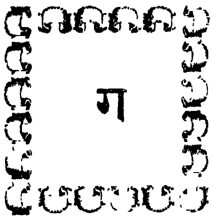
श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष १ श्रावण-पूर्णिमा गौराब्द ४४६, सं० १६८६ वि०, १[illegible] अगस्त स० १६३२ ई० संख्या २०

नम्र-निवेदन

(१६)

सभी तुम्हारे चरण सौंप के पड़ा तुम्हारे घर मैं।
तुम स्वामी हो, पाला हुआ तुम्हारा एक कूकर मैं॥
बाँध रखो तुम पास आपने रहूँ तुम्हारे द्वारे।
शत्रु आदि सब दूर भगाऊँ, रख सीमा के पारे॥
भक्त तुम्हारे प्रसाद-सेवन कर जो जूठन त्यागें।
बड़ी खुशी से अपनी भोजन, नित्य सोई हम माँगें॥
सोवत-बैठत चिन्ता तुम्हरे चरणों ही की लावैं।
नाचत-नाचत तबहीं आवैं जबहीं नाथ बुलावैं॥
निज पोषण की करूँ न चिन्ता रहूँ भाव में भरे।
भक्ति-विनोद तुम्हीं को अपना पालक जानि बरे॥



न १२वीं अगस्त, शुक्रवार से कलकत्ते के श्रीगौड़ीय, मठ में मासाधिक कालव्यापी महामहोत्सव आरम्भ हो गया है। नित्य प्रातःकाल उषा-कीर्तन, द्वादश-अध्यायी श्रीमद्भागवत का पारायण, पाठ और व्याख्या, मध्याह्न में महाप्रसाद का सम्मान, तीसरे पहर सत्सङ्ग, सत्-आलोचना और सन्ध्या-आरती के उपरान्त श्रीचैतन्य-चरितामृत का पाठ और व्याख्या होती हैं। इस उपलक्ष में भारत वर्ष के विभिन्न स्थानों से कितने ही सत्य की खोज करनेवाले मनुष्य श्रीगौड़ीय-मठ में आकर उत्सव में सम्मिलित हुए हैं।

आजकल पण्डित-मूर्ख, ज्ञानी-अज्ञानी, ब्राह्मण शूद्र कोई भी अपने स्वरूप का परिचय पाने का यत्न नहीं करते। "मैं क्या हूँ" या "मेरा कर्त्तव्य क्या है," इस विषय की आलोचना तो दूर रही, कोई इस विषय में हमसे चर्चा छेड़े, तो हम उसे पागल समझ उसकी हँसी उड़ाने में जरा भी सङ्कोच नहीं करते। पशु-पक्षी आदि की अपेक्षा मनुष्य-जन्म में श्रेष्ठता क्यों है? सब वर्णों में ब्राह्मण की ही श्रेष्ठता क्यों है? इसके कारण की खोज के लिये किसी में भी प्रवृत्ति नहीं होती। सभी में आहार-निद्रादि साधारण धर्म दिखाई देते हैं। फिर भी हमलोग जाति या वर्ण में श्रेष्ठता का अभिमान करते कुछ भी सङ्कोच नहीं करते।

शास्त्र का वचन है,—

> आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च
> सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
> धर्मो हि तेषामधिको विशेषः
> धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

आहार-निद्रा-भय और मैथुन—ये चारों कर्म मनुष्य और पशु, सब में ही हैं; किन्तु पशु की अपेक्षा मनुष्य में यह विशेषता है, कि वे भले-बुरे का विचार करने में समर्थ हैं, धर्म-अधर्म के विचार की योग्यता मनुष्य के अतिरिक्त किसी भी प्राणी में नहीं है। किन्तु धर्महीन मनुष्य पशु के समान है।

सर्व शास्त्र-शिरोमणि श्रीमद्भागवत का कहना है,—

> श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
> न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥

जिन के कर्णकुहर में कभी कृष्णनाम ने प्रवेश नहीं किया, वे मनुष्य कुत्ते, ग्रामीण शूकर, ऊँट और गधे के समान पशु समझे गये हैं। वे कुत्ते की तरह अकारण क्रोधी, सूअर की तरह अपवित्र विषय रूपी विष्ठाभोजी, ऊँट की तरह काँटे जैसे विषय भोग में आसक्त और गधे की तरह स्त्री की लात खानेवाले हैं, सुतरां हरिकथा विहीन मनुष्य पशु धर्मावलम्बी हैं।

आजकल प्रायः सभी लोग धर्म की आलोचना करना आवश्यक नहीं समझते, मानो धर्म केवल बात ही बात है। इतना पढ़ सुनकर भी सब लोग उसके अनुष्ठान में लापरवा हैं। यदि कोई धर्म के नाम से कुछ-कुछ आलोचना या अनुष्ठान करते भी हैं, तो वे सच्चे साधु के सङ्ग को न पाकर साधुवेशधारी कपटी, वञ्चक, भँडेरिये लोगों को साधु समझ अन्त में धोखा उठा सच्चे साधु को भी असाधु, कपटी या भँडेरिया मान बैठते हैं।

विषयी, स्त्री-आसक्त और गृहव्रतधारी—जो धर्म के विषय में कुछ भी नहीं समझते, वे ही आजकल सभा समिति में धर्म-विषय पर व्याख्यान देते हैं। सभा-समिति में उनकी ही पूछ सबसे अधिक है। साधारण लोग उनके ही उपदेशों को वेदवाक्य समझ सिर झुकाकर ग्रहण करते हैं। जो स्वेच्छाचार या इन्द्रिय-तर्पण को ही धर्म के नाम से प्रचारित करते हैं, वे ही बहुत बड़े साधु और धर्मात्मा के नाम से विख्यात होते हैं। किन्तु जिन बातों से संसार की आसक्ति पर अस्त्राघात होता या इन्द्रिय-तर्पण में बाधा पहुँचती है, उनके परम हितकर होने पर भी, उनके सुनने से ही हमारे नमक-मिर्च लग जाता है। हमारे विचार में,—यदि बिना दवा और बिना अस्त्र के कोई फोड़े को आराम कर सकें, तो वे ही सच्चे चिकित्सक हैं। धर्म के लिये यदि स्त्री-पुत्र की आसक्ति, धन का लोभ और इन्द्रिय-तर्पण की चेष्टा को छोड़ना पड़े, तो ऐसा धर्म हम लोगों को कभी रुचिकर प्रतीत न होगा। सुतरां सुविधा देखकर कपटी और धोखेबाजों का दल हमारी तबियत के अनुरूप

सेवा करने के लिये भोगरूपी अग्नि में ईंधन लगाने को ही धर्म कहकर प्रचार करते हुए धन, पूजा और यश के पाने की चेष्टा करते हैं। विधर्म, परधर्म, आभास उपमा और छलधर्म ही आजकल जीव के स्वधर्म के नाम से धर्म के बाज़ार में बिकता है।

जीव की यह दुर्दशा देख कलियुग के पावनावतार श्रीचैतन्य-महाप्रभु की इच्छा से गौड़ीय-मठ कई वर्ष से लगातार बङ्ग, बिहार, उड़ीसा और संयुक्त-प्रान्त के विभिन्न स्थानों में मठादि स्थापन तथा प्रचारक भेजकर जीव के प्रकृत धर्म की बातों का प्रचार कर रहा है- शास्त्र के प्रकृत तात्पर्य, गीता-भागवत आदि के सच्चे अर्थ को लोगों के आगे पाठ और वक्तृता द्वारा समझा रहा है। सुकृतिमान् व्यक्तिगण अपने स्वधर्म की बातों को समझ श्रीगुरु के चरण के आश्रय में श्रीहरि पाद-पद्म-सेवा-निरत होकर अन्याभिलन्य होते हैं।

भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र ही गौड़ीय-मठ की चर्चा चल रही है। यहाँ तक कि इंगलैंड और अमेरिका आदि विभिन्न देशों के भाग्यवान् व्यक्ति भी श्रीगौड़ीय मठ के आचार्य के श्रीमुख से शुद्ध धर्म की बातें सुनकर धन्य होते हैं। श्रीगौड़ीय-मठ के प्रचारकगण के सुसिद्धान्त पूर्ण शास्त्र की युक्तियों को सुनकर आजकल प्रायः सभी लोगों ने कपट-वञ्चक लोगों की कपटता और धोखेबाजी को समझ बैठे हैं।

अब प्रश्न है, कि गौड़ीय-मठ क्या करता है? क्या गौड़ीय-मठ संसार के हजार-हजार सम्प्रदायों जैसा एक मण्डली-विशेष है? अथवा गौड़ीय-मठ जगत् की अन्यान्य हितकारी मण्डलियों में एक मण्डली है? या गौड़ीय-मठ जगत् की अन्यान्य अहितकारी सङ्घों में एक सङ्घ है? गौड़ीय-मठ जगत में कौनसा हितकर काम किया करता है? क्या गौड़ीय-मठ माता की तरह स्नेहशील, पिता की तरह परिपालक और भाई की तरह सहायताकारी है? गौड़ीय-मठ जगत् में कौनसा कल्याण साधन करता, समाज की कैसी हित कामना करता, मनुष्यजाति का क्या उपकार करता है, जो जगत्, सभ्यसमाज या मनुष्य उसकी बातों को मानें? —इस तरह कितने ही प्रश्न हमारे मन में उदित होते हैं।

"गौड़ीय-मठ" हजार-हजार सम्प्रदायों जैसी कोई मण्डली नहीं है। गौड़ीय-मठ जगत् के अन्यान्य हितकामी या अहितकामी मण्डली की तरह हितकामी या अहित-कामी भी नहीं है। गौड़ीय मठ जगत् की भोगयुक्त धारणा से हितकर या अहितकर काम नहीं करता। गौड़ीय-मठ संसारी माता की तरह स्नेहशील या नृशंस, संसारी पिता की तरह परिपालक या विनाशक, संसारी भाई की तरह सहायता या नुकसान करनेवाला नहीं है। तब गौड़ीय मठ कौन है, जो संसार उसकी बातें माने?

गौड़ीय-मठ के साथ सारे संसार का कोई भेद नहीं— भेद केवल एक ही बात का है। गौड़ीय-मठ का एकमात्र कहना है, अधोक्षज (भगवान) की सेवा ही समग्र जीव का धर्म है। और संसार के अधिकांश लोग कहते हैं, कि अक्षज (जड़) की सेवा ही जीवमात्र का धर्म है। कम से कम मुँह से न कहकर काम के समय सब लोग ऐसा ही कर बैठते हैं। गौड़ीय-मठ का कहना है, कि जो साध्य है, उसीका एक मात्र साधन होना चाहिये। बल्कि संसार के अधिकांश लोगों के मत से साध्य और साधन परस्पर भिन्न हैं। गौड़ीय मठ का कहना है, 'एकता' 'विश्व-प्रेमिकता' आदि शब्द, देह और मनोधर्म में आसक्त रहने से, केवल 'आकाश के तारे' आदि शब्दों की तरह शब्द ही भर हैं। आत्मधर्म में प्रतिष्ठित रहने से ही एकता (Harmony) सम्भव है।

इस पार्थक्य को कुछ खोल के कहना चाहिये —अधोक्षज की सेवा अतीन्द्रिय भगवान की सेवा है। जिससे देह और मन की तृप्ति या जिससे तृप्ति का विरोध होता है, वह अधोक्षज की सेवा नहीं, वह अक्षज की सेवा है. मुक्त वायु के सेवन से देह की तृप्ति होती है, मुक्त आकाश की ओर देखने, चञ्चल मन को गिरोंव खुले हुए घोड़े की तरह विचरण करने देने, प्रकृति की सुषमा में मन को स्वच्छन्द विहार करने देने, काव्यकानन के विचित्र पुष्पों के मकरन्द को मनमाना लूटने देने से मन तृप्त होता है। इसके विपरीत निर्विशेष भाव तृप्ति-द्वेष है। वह अधोक्षज की सेवा नहीं- अक्षज की सेवा है।

जगत् के अधिकांश मनुष्य प्रत्यक्षवादी होने पर भी सबसे बड़े प्रत्यक्ष को देखकर भी देख नहीं सकते। उसे समझकर भी काम के समय भूल जाते हैं। चार्वाक जैसे सबसे बड़े प्रत्यक्षवादी भी इस बड़े प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष करके भी प्रत्यक्ष कर नहीं सके। उस बड़े प्रत्यक्ष का नाम 'मृत्यु' है।

यदि हमारे मन में इस बड़े प्रत्यक्ष की याद बनी रहे,

तो निश्चय ही अमृत के लिये लालायित होंगे। श्रुति का कहना है,—हम सभी अमृत के पुत्र हैं—अमृत के अधिकारी हैं—"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।"

(श्वेताश्वः २। ५)।

जगत् में इस अमृत के पाने के लिये दो प्रकार की चेष्टायें हैं। ऐतिहासिक युग के राजकुमारों की तरह अमृत के पुत्राभिमानी कोई-कोई पिता के प्रति विश्वासघातकता कर पिता के सिंहासन पर बैठने की चेष्टा करते हैं। फिर सपूत लोग स्नेह-वत्सल पिता के उत्तराधिकारी बनने के लिये पिता की नित्य सेवा को ही अपना साध्य' और 'साधन' समझते हैं।

श्रीगौड़ीय-मठ अन्तिम प्रणाली को ही उचित और सनातन प्रणाली समझता है। उचित इसलिये है, कि—

"शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्॥"

(भा० १। २। १७)

श्रीकृष्ण अपनी अप्राकृत कथा के सुननेवालों के हृदयस्थ हो उसके हृदय की पापवासनाओं का समूल ध्वंस करते हैं। यह पापबीज, पाप-वासना या अविद्या ही जीव के संसार का कारण है।

यह राह सनातन इसलिये है, कि—

"भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्।"

(भा० १। २। २५)

"अग्रे" अर्थात् प्राचीन युग से भी पहले मुनिगण (महाजनगण) ने उन अधोक्षज भगवान् का इसी प्रकार भजन किया था।

जिससे 'आनन्द' अर्थात् अमङ्गल का उदय न हो, ऐसी ही दया का नाम "अमन्दोदया दया" है। उदाहरण—रोगी को इमली खाने देने या शराबी को कलवरिया भेज देने में दया दिखाई जाती है सही, किन्तु इससे भविष्य में दया पानेवाले मनुष्य का 'अमन्द' या 'अमङ्गल' हुआ करता है। रोगी की इच्छा और रुचि के विरुद्ध दवा करने या शराबी को बुरे कामों से रक्षा करने से उनपर 'अमन्दोदया दया' की जाती है। पानी की बाढ़ हटाना, अकाल दूर करना, रोगी की सेवा करना, किसीके मन को सन्तोष देना, किसीको उत्साहित करना या किसी की चेतना-वृत्ति को स्तब्ध करना—यह सभी 'मन्दोदया दया' के उदाहरण हैं। मनुष्य जब तक अपने प्रकृत स्थान पर पहुँच नहीं जाता, तब तक यह सब उसकी समझ में नहीं आता। वास्तव में इन सब कामों से जीव का मङ्गल नहीं होता। क्लेश की जड़ को काट फेंकना ही परोपकार है। इन्द्रिय-तृप्ति रूपी सड़े घाव (Gangrene) पालते हुए चिकित्सा करने से रोगी का उपकार किया नहीं जाता या इन्द्रिय-तर्पण का विरोध करते हुए, रोगी को फाँसी के खम्भे में लटका सदा के लिये रोग को दूर करने की चेष्टा करते हुए उसे मुक्ति का लोभ दिखाना भी बुद्धिमत्ता का काम नहीं।

"स्वयं निःश्रेयसं विद्वान न वक्त्यज्ञाय कर्म हि।
न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतो हि भिषक्तमः॥"

जैसे सुचिकित्सक रोगी के कुपथ्य माँगने पर भी नहीं देते, वैसे ही जो स्वयं निःश्रेयस् अर्थात् चरम-मङ्गल के विषय को जानते हैं, वे ना समझ आदमी को कभी कर्म का उपदेश नहीं देते। श्रुति का वचन है—

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्
तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥

(मुण्डक० १। २। ६)

मूर्ख लोग तरह-तरह की अविद्याओं में रहते हुए भी यह समझते हैं, कि हम कृतार्थ हो गये। क्योंकि वे लोग कर्मी हैं, कर्म के अनुराग-वश वास्तविक तत्त्व को समझते ही नहीं। वे अत्यन्त आतुर होकर कर्म-फल से जो कुछ लाभ करते हैं, कुछ दिन बाद वहाँ से भ्रष्ट हो जाते हैं। श्रुति ने और भी कहा है,—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढ़ा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

(मुण्डक० १। २। ८)

जो लोग अविद्या में फँसे रहकर भी अपने को 'विवेकी' और 'पण्डित' समझते हैं, वे विपथगामी मूर्ख मनुष्य मूर्खों द्वारा परिचालित हो, अन्धे को अन्धे के सहारे चलने वाले की तरह विपद्ग्रस्त होते हैं।

जगत के अधिकांश मनुष्य ही अपने घर को भूल के मायाविनी की माया में पड़ गृह के विपरीत ओर चल रहे हैं--इसीसे उनमें इतना मतवालापन, व्यस्तता, एकाग्रता, स्थिर संकल्प आदि हैं, जिसमे उन्हें घर की बातों के सोचने का सुयोग बहुत ही कम मिलता है। किन्तु गौड़ीय-मठ का वचन--गौड़ीय-मठ पर उड़ती हुई लाल पताका सबकी ही श्रुति और दृष्टि को आकर्षित कर घोषणा कर रहा है,--

"कृष्ण बोलो, सङ्ग चलो,
यही मात्र भिक्षा चाहूँ।"

(Back to God and back to home is the message of Gaudiya math.)

"To arrest the peruertedly current tide is the seemingly anpleasant duty of Gaudiya math."

(१६ अगस्त पूर्णिमा में श्रीबलदेव के जन्मोत्सव के उपलक्ष पर लिखित)

गर्भ-सङ्कर्षणात्तं वै प्राहुः सङ्कर्षणं भुवि ।
रामेति लोकरमणाद्बलभद्रं बलोच्छ्रयात् ॥
(भा० १०।२।१३)

श्रीकृष्ण की इच्छा से श्रीयोगमाया ने देवकी का सप्तम गर्भ आकर्षण कर उसे रोहिणी में स्थापन किया था ; इसी से देवकी के 'सप्तम गर्भ' का नाम मूल सङ्कर्षण हुआ। श्रीकृष्ण के प्रति लोगों की रति उत्पन्न करने की वजह 'राम' और बल की अधिकता की वजह 'बलभद्र' पड़ा।

श्रीबलदेव प्रभु ही मूल-सङ्कर्षण हैं। उनका ही अंश वैकुण्ठ में महासङ्कर्षण और पाताल में सङ्कर्षण के आवेशावतार है जो साधारणतः सङ्कर्षण के नाम से विख्यात हैं। यह शेषोक्त सङ्कर्षण या 'शेष' ही अपने सहस्र फण के मस्तक के एक हिस्से में एक सरसों के समान पृथिवी को धारण किये हुए हैं। यह सङ्कर्षणावतार शेष महावक्ता हैं। सनकादि मुनि इनके ही श्रीमुख से भागवत सुना करते हैं। हरिकीर्त्तन करनेवाले की वक्तृता के मूल कारण महावक्ता शेष प्रभु ही हैं। जगत् में कृष्ण से भिन्न विषयों की जो बातें हैं, वह भी श्रीशेष प्रभु की वाग्मिता शक्ति का हेय प्रतिफलन है।

लोगों की हृदय-दुर्बलता रूपी अनर्थ का विनाश कर श्रीकृष्ण के प्रति रति उत्पन्न करने की वजह मूल-सङ्कर्षण प्रभु 'बलराम' के नाम से विख्यात हैं। मर्यादामार्ग के मूल आश्रय-मूर्त्ति सन्धिनी शक्ति के प्रभु श्रीबलराम की कृपा बिना किसी में भी श्रीराधागोविन्द की रति उत्पन्न हो नहीं सकती। इसीसे ठाकुर महाशय ने गाया है,—

"इन निताई बिन भाई, राधाकृष्ण मिलें नाहीं,
दृढ़ कर धरो निताई के पाँव।"

श्रीबलदेव प्रभु सन्धिनी-शक्ति के ईश्वर-सूत्र में श्रीकृष्ण का सन्धान कर देते हैं। जीव अपने बल से श्रीकृष्ण का सन्धान कभी पा नहीं सकता; अपने बल-प्रयोग द्वारा भगवत्प्राप्ति की जो अनुचित चेष्टा है, उसीका नाम आरोहवाद है। ऐसे आरोहवाद के मूल में ब्रह्मानुसन्धान जीव को अन्धकार राज्य में या निर्विशेष राज्य में गिराता है। किन्तु मर्यादा मार्ग के मूल आश्रय-मूर्त्ति बलदेव प्रभु के आनुगत्य से, शुद्ध जीवात्मा के मूल-विषय-विग्रह के जो अनुशीलन हैं, वही वास्तव में हम लोगों को कृष्णचरण कल्पवृक्ष का सन्धान प्रदान कर सकते हैं।

बलदेव जैसे महाबली और कहीं नहीं। इसीसे श्रीमद्भागवत में कहा है,--"बलोच्छ्रयात् बलभद्रः"— बल की अधिकता के कारण बलभद्र नाम पड़ा। वे समस्त चिद्बल के मूल कारण हैं। उनके अंश का अंश, कला और विकला ने जगत् में बल का जो आदर्श दिखाया है, उसे संसारी कोई भी जीव —यहाँ तक, कि अतिमर्त्य पुरुष भी ध्यान में ला नहीं सकते। उनका अंश वैकुण्ठ में महासङ्कर्षण, महासङ्कर्षण से कारणार्णवशायी, कारणार्णवशायी से समष्टि

विष्णु या द्वितीय पुरुषावतार गर्भोदशायी, उस गर्भोदशायी से मत्स्य, कूर्म, वराह, राम, नृसिंह, हयग्रीव, परशुराम, प्रलम्ब को मारनेवाले बलराम, कल्कि प्रभृति जितने लीलावतार या कल्पावतारों का आविर्भाव होता है, उनके बल का अन्दाजा लगानेवाला त्रिलोक में ऐसा कौन पुरुष है ? श्रीमत्स्यदेव ने स्वायम्भुव-मन्वन्तर में हयग्रीव नाम से महाबलशाली दैत्य का विनाश कर वेद संग्रह किया था। श्रीकूर्मदेव ने अनायास ही पीठ पर मन्दराचल धारणकर अपने महाबल का परिचय दिया था। श्रीवाराहदेव ने प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर में रसातल-गामिनी पृथिवी का उद्धार और छठे चाक्षुष मन्वन्तर में प्रलयसागर के बीच आदि दैत्य हिरण्याक्ष को दाँतों से चीर डाला था। रामावतार में बलशाली देवताओं के जीतनेवाले दशानन का वध किया। नृसिंहावतार में हिरण्यकशिपु का वध और पाँच वर्ष के बालक प्रह्लाद की हिरण्यकशिपु के अत्याचार से रक्षा करने का आदर्श दिखाते हुए, हिरण्यकशिपु के हेय पाशविक बल से बलदेव के अंशांश के कृपापात्र शिशुरूपी प्रह्लाद के उपादेय विद्‌बल के अनन्त गुण की श्रेष्ठता का प्रचार किया। हयग्रीवावतार में मधु कैटभ नामक बड़े ही बलशाली दो दैत्यों का विनाश कर वेद का उद्धार किया। परशुरामावतार में ब्राह्मण विद्वेषी बड़े ही बलशाली क्षत्रियों का विनाश कर पृथिवी को इक्कीस बार निःक्षत्रिय किया। प्रलम्ब को मारनेवाले बलराम के रूप में आनुकरणिक प्राकृत सहजिया के आदर्श प्रलम्बासुर का वध किया और कल्किअवतार में डाकू-स्वभाव पाशविक बल दिखानेवाले नृपतिगण का विनाश किया करते हैं। सुतरां जिन बलदेव के कला विकला द्वारा ऐसे महाबल का आदर्श जगत् में प्रचारित हुआ है, उन महाबलशाली बलदेव के समस्त बलों के मूल पुरुष होने में सन्देह ही क्या है ? यहाँ तक कि बलदेव का विकला स्वरूपी गर्भोदशायी जो द्वितीय पुरुषावतार हैं, उनके अंश जो तृतीय पुरुषावतार अनिरुद्ध विष्णु हैं—जो व्यष्टिजीव के अन्तर्यामी हैं, वे परमात्म-रूपी महाविष्णु यदि जगत् के बलवान् मनुष्यों की देह में न रहें, तो फिर उनमें बल कहाँ ?

हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, मधुकैटभ या दशानन प्रभृति असुरों ने जिस बल का अहङ्कार किया था, बलदेव की विकला के अंशस्वरूप, उक्त असुरगण के भी अन्तर्यामी अनिरुद्ध विष्णु के त्याग देने से वे सभी अपने बल से विच्युत हुए थे। सुतरां असुरों के बल के कारण रूप में भी श्रीबलदेव ही हैं। परन्तु यह बलदेव के स्वरूप बल या स्वरूप-शक्ति का प्रभाव नहीं, यह उनकी बहिरङ्गा विरूप शक्ति का प्रभावमात्र है। जो आरोहवादी ज्ञानी लोग आत्मबल से बलवान् होने के लिये रुद्र की उपासना करते हैं, उन प्रलयकर्त्ता रुद्र के तामसिक कार्य के भी कारणरूप में श्रीबलदेव के अंश रूप चतुर्व्यूहान्तर्गत सङ्कर्षण हैं। इसलिये भागवत के पाँचवें स्कन्ध में सङ्कर्षण की मूर्ति को "तामसी" मूर्ति के नाम से अभिहित किया गया है अर्थात् सङ्कर्षण मूर्ति कारण, हिरण्यगर्भ और विराट्- इन तीनों उपाधियों से अतीत शुद्ध चिन्मयी तुरीया मूर्ति होने पर भी प्रलय आदि तामसिक कार्यों के कारण से व्यवहारतः तामसिक कही जाती है। भगवान् भव भगवती भवानी की सहस्रों-अर्बुदों परिचारिकाओं के साथ सङ्कर्षण मूर्ति को अपना मूल कारण समझ उनकी उपासना करते हैं। अतएव जिनके कला-विकला के थोड़े से बल के परिचय का भी ब्रह्मा रुद्रादि देवतागण धारण कर नहीं सकते, उन मूल पुरुष क्रियाशक्ति-प्रधान मूल-सङ्कर्षण श्रीबलदेव प्रभु के बल के अधिकता को किसी को समझाना न पड़ेगा। इसी से श्रुति ने कहा है

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।'

श्रुति के कहे हुए इस 'बल' शब्द को विरोचन और इन्द्र की तरह विभिन्न अधिकारी अपने अपने अधिकार के अनुसार तरह-तरह के मतलब समझ कोई तो शब्द की अज्ञरूढ़ि वृत्ति द्वारा वञ्चित होते और कोई-कोई विद्वद्‌रूढ़ि वृत्ति के द्वारा श्रुति के यथार्थ तात्पर्य को समझते हैं।

इसीसे पण्डित-कुल-शिरोमणि चैतन्य लीला का व्यास ने श्रुति के कहे हुए इस मन्त्र के अर्थ का उद्देश कर कहा है,—

"चार वेद में गुप्त बलराम का चरित।
मैं क्या कहूँ, सब पुराणों में विदित॥"

(चै० भा० आ १। ३१)

कोई-कोई ऐसा समझते हैं कि आवेशावतार शेष बलदेव के रूप में आविर्भाव हुए थे, परन्तु श्रीबलराम स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के स्वयं-प्रकाश विग्रह या द्वितीय देह

हैं। श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों में श्रीकृष्ण और बलदेव का समभाव से युगलरूप का वर्णन और एक साथ समभाव से विहार, बलदेव में श्रीकृष्ण के समान ही भगवत्-लक्षणों का होना और देवकी के हर्ष-शोक विवर्द्धन सप्तम गर्भ' प्रभृति वचनों से स्पष्ट ही प्रमाणित होता है, कि बलदेव आवेशावतार नहीं हैं, बल्कि स्वयं हैं अर्थात् अंश नहीं हैं।

भागवत के १०।१।१४ श्लोक में जो 'स्वराट्' शब्द है, उसके द्वारा श्रीबलदेव औरों से अपेक्षा-रहित स्वयं प्रकाश वस्तु हैं, ऐसा ही सूचित होता है। राम-राम महाबाहो न जाने तव विक्रमम्। यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः-पते।" हे राम! हे महाबाहो जगत्पते! जिनके एक अंश ('शेष' नामक अंश—श्रीधरस्वामी की टीका) द्वारा जगत् विशेष रूप से धारण हुआ है, मैं तुम्हारे उन सब विक्रमों को नहीं जानता—इस वाक्य से जान पड़ता है, कि श्रीबलदेव जगत् के धारण करनेवाले आवेशावतार शेष नहीं, बल्कि धरणीधर शेष बलराम के ही अंश या बैकुण्ठ के महासंकर्षण के आवेशावतार हैं। बलदेव के अंश जो लक्ष्मण हैं, उनमें भी, शेष से परम स्वरूप होने की वजह श्रीबलदेव के शेष से अन्यत्व और शक्ति का आधिक्य दिखाया गया है। इसमें कहा गया है, कि बलदेव सब तरह की मृत्यु से रक्षा कर सकते हैं, किन्तु शेष केवल सर्प से रक्षा कर सकते हैं। अतएव श्रीबलदेव आवेशावतार नहीं हैं, तमाल-श्यामल-कान्ति यशोदानन्दन श्रीकृष्ण शब्द की मुख्य वृत्ति की तरह देवकी के सातवें गर्भ बलदेव की मुख्य वृत्ति उन्हीं का साक्षात् अवतार है। शेष नामक बलदेव का ही पार्षद विशेष अंशी बलदेव के आविर्भाव के समय उनमें ही प्रवेश कर गया था—यही सिद्धान्त है।

बलदेव प्रभु ने अपनी बाल-लीला में गधे के रूपवाले धेनुकासुर का विनाश किया और प्रलम्ब नामक एक और असुर के सिर का चकनाचूर कर मार डाला। अवश्य ही यह असुरों को मारनेवाला काम अंशी बलदेव में प्रविष्ट हुए अंश द्वारा ही हुआ। इस असुर वध द्वारा श्रीबलदेव प्रभु ने "एक हि लीला में प्रभु करते काम पाँच या सात" कहावत को पूरा किया था। विद्वान लोग उनके इन दोनों कामों में व्रज सेवन के प्रतिकूल अनर्थ के विनाश पर दृष्टि डालते हैं अर्थात् जीव की मोटी समझ, अच्छे ज्ञान का अभाव, मूढ़ता से भरी तत्त्वान्धता, स्वरूप ज्ञान से विरोध या देहात्मबुद्धिरूपी गर्दभ-भ्रम—जो गर्दभरूपी धेनुक का आदर्श है और नकल करनेवाले सम्प्रदाय का ढकोसला है, जो प्रलम्बासुर का आदर्श है, उन दोनों व्रज भजन के प्रतिकूल अनर्थ का विनाश श्रीबलदेव प्रभु की कृपा से हुआ।

श्रीबलदेव प्रभु ने कृष्ण के द्वेषी शिशुपाल के मित्र रुक्मि को जुआ खेलने में पासे से मारकर इस आदर्श लीला का प्रचार किया है, कि विष्णु और वैष्णव के द्वेषी तथा उनके सही साथी किस प्रकार सीधा जाते हैं। बलदेव प्रभु ने सन्धिनी-शक्ति के प्रभाव से नित्य चिद्धाम के नित्य प्रकट होनेवाले विधान, महासंकर्षण से महत् की स्रष्टा प्रकृति के ईक्षणकर्ता कारणार्णवशायी पुरुष का आविष्कार और गर्भोदशायी पुरुष से भाँति भाँति के लीलावतार तथा ब्रह्मा, अनिरुद्ध-विष्णु और रुद्र का प्रकाश कर अद्वय ज्ञान की उपलब्धि का सन्धान दिखाया है और "ज्येष्ठ हुआ सेवा का कारण" (चै० भा० आ० २।१४२) इस वाक्य का आदर्श अथवा "कृष्ण की समता से भक्त पद बड़ा"—इस वाक्य की सार्थकता का प्रचार किया है। श्रीबलदेव प्रभु ने अपने तीर्थ-पर्यटन की लीला में नैमिषारण्य-क्षेत्र में रोम-हर्षण सूत का वध कर 'अर्द्धजारता' न्यायावलम्बी वैष्णव की पूजा से विमुख धर्मध्वजी दाम्भिक विष्णु पूजक पण्डिताभिमानियों के आदर्श का चूर्ण-विचूर्ण किया है। अतएव वह बलदेव प्रभु ही कृष्ण का सन्धान (खोज) देनेवाले हैं। इसलिए में अर्थात् मर्यादा मार्ग में सब तरह से कृष्ण के सेवक गुरुदेव हैं।

वे—"आपी अपने सभी रूप में आपी सेवा होई।
करें अनुग्रह जिसके ऊपर विरला जाने सोई॥
(चै० भा० आ० १।४४)

उन्हीं बलदेव प्रभु से सब सत्त्वों का प्रकाश है, उनके नाम के जरा भी कहने-सुनने से ही सब अनर्थों का नाश होता है, वे श्रीकृष्ण के अनंत-गुण का बखान करने के लिये ही अनंत-वदन हैं; अतएव जो चित् और जड़ जगत् की सत्त्वाधिष्ठायिनी शक्ति के शक्तिधर हैं, उन बलदेव की पूजा करना समस्त संसार के सभी जीव का ही धर्म है;—इस विषय में जरा भी संदेह नहीं। अतएव जो लोग, बेवकूफी की वजह परंपरा से चले जाते हुए चाल से जगत् में, हर तरह से संसारी बल-सञ्चय करने को लालायित हैं,

वे श्रीबलदेव प्रभु की पूजा करना सीखें, तो उन्हें वास्तविक बल मिलेगा। अबला नारी-गण यदि मनसा-देवी आदि ग्रामीण देवताओं की पूजा को छोड़ सदा कृष्णकीर्तनकारी महावीर्य-प्रभावशाली धरणीधर श्रीशेष देव की आराधना करना सीखें, आत्मरक्षा में असमर्थ शिशुगण यदि प्रह्लाद की तरह बलदेव प्रभु के कला-विकला-स्वरूप श्रीनृसिंह देव की पूजा करना सीख के आत्मबल का संग्रह करें, पुरुष लोग यदि प्राकृत बाहु-बल में हेयता, नश्वरता और क्षुद्रता को समझकर कृष्णकीर्त्तन में अनन्तमुख, महावक्ता श्री-सङ्कर्षण से कृष्णकीर्त्तन का बल पायें, तो इसमें कोई संदेह नहीं, कि बालक, वृद्ध, युवा, स्त्री—संसार के सभी लोग वास्तविक बल से नित्य के लिये बलवान् हो, परमात्म-स्वरूप श्रीकृष्ण का संधान (खोज) पायेंगे। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।

इसी से अशोक-अभय-अमृत के सेवन की इच्छा रखनेवाले, निःश्रेयस के चाहनेवाले के श्रीगुरुनित्यानन्द-राम के पदाश्रय होने की कर्त्तव्यता प्रकट करने के लिये आदि कवि ने कहा है—

पार होय संसार मे भक्ति-समुद्र में फाँद।
जो डूबे सोई भजे सदा निताई चाँद॥

(चै० भा० आ० ९। ७१)

श्रीएकादशी व्रत

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में श्रीनारायण ने महर्षि नारद से कहा था,—

सत्यं सर्वाणि पापानि ब्रह्महत्यादिकानि च।
सन्त्येवोदनमाश्रित्य श्रीकृष्णव्रतवासरे॥
भुंङ्क्ते तानि च सर्वाणि यो भुंङ्क्ते तत्र मन्दधीः।
इहातिपातकी सोऽपि यात्यन्ते नरकं ध्रुवम्॥
एकादशीप्रमाणानि युगसंख्याकृतानि च।
कुम्भीपाके महाघोरे स्थित्वा चाण्डालतां व्रजेत्॥
गलितव्याधियुक्तश्च ततः सप्तसु जन्मसु।
पश्चान्मुक्तो भवेत् पापी इत्याह कमलोद्भवः॥

(श्रीकृष्ण जन्मखण्ड २६ अ० २४-२६ श्लोक)

एकादशी में सभी प्रकार के महा पाप अन्न के आश्रित रहते हैं। जो मन्दबुद्धि मनुष्य एकादशी में अन्न का भोजन करते हैं, वे इस लोक में महापापियों के नाम से गिने जाते और मरने के उपरान्त एकादशी परिमित युग पर्यन्त कुम्भीपाक नामक नरक में पड़कर चण्डाल योनि में जन्म लेते और सात जन्म तक गलित-कुष्ठ रोग को भोग बहुत यन्त्रणा भोगने के बाद मुक्त हो सकते हैं; कमलयोनि ब्रह्मा ने स्वयं ऐसा कहा

ब्रह्महत्यादि-पापानां कथञ्चिन्निष्कृतिर्भवेत्।
एकादश्यान्तु यो भुंङ्क्ते निष्कृतिर्नास्ति कुत्रचित्॥

(बृहन्नारदीय पुराण, २१ अ० १ श्लोक)

ब्रह्महत्या आदि महा-महा पाप से भी किसी प्रकार छुटकारा मिल सकता है, किन्तु एकादशी में व्रत न करनेवाले मनुष्य का नरक से कभी छुटकारा नहीं।

एकादशी के उपवास से मनुष्यों के सब प्रकार के पाप विनष्ट हो जाते हैं। पद्मपुराण के वैशाख-माहात्म्य में "देवदूत-कुण्डल" के संवाद में लिखा है,—

एकादशेन्द्रियैर्पापं यत्कृतं वैश्य मानवैः।
एकादश्युपवासेन तत्सर्वं विलयं व्रजेत्॥

हे वैश्य, मनुष्य ग्यारहो इन्द्रिय—अर्थात् आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा, वचन, हाथ, पैर, गुह्य, उपस्थ और मनद्वारा जो सब पाप करते हैं, वे सभी एकादशी के व्रत से विलीन हो जाते हैं। अतएव—

गृहस्थो ब्रह्मचारी च आहिताग्नियतिस्तथा।
एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि॥

(अग्नि-पुराण)

गृहस्थ, ब्रह्मचारी, अग्निहोत्री और यति—ये सभी

लोग (शुक्ल और कृष्ण—इन) दोनों पक्ष की एकादशी में भोजन न करें ।

यथा शुक्ला तथा कृष्णा विशेषा नास्ति कश्चन ।
(विष्णु संहिता)

विशेषं कुरुते यस्तु पितृहा स प्रकीर्तितः ।
(गरुड़ पुराण [illegible] श्लोक)

शुक्ल और कृष्ण, इन दोनों पक्षों की एकादशी समान हैं, इनमें कुछ भी प्रभेद नहीं । जो मनुष्य भेद समझते हैं, उन्हें पितृ-हत्या का पाप होता है ।

एकादश्यां न भुञ्जीत नारी दृष्टे रजस्यपि ।
(विष्णु संहिता)

स्त्रियाँ रजस्वला होने पर भी एकादशी को भोजन न करें । शिव ने पार्वती से कहा है,—

वर्णानामाश्रमानाञ्चैव स्त्रीणाञ्च वरवर्णिनि ।
एकादश्युपवासस्तु कर्त्तव्यो नात्र संशयः ॥
(पद्मपुराण उत्तर खण्ड)

हे पार्वति, सब वर्ण, सब आश्रम और सब स्त्रियों को ही एकादशी का उपवास करना चाहिये; इसमें कोई भी सन्देह नहीं ।

श्रीमन्महाप्रभु ने शचीमाता से कहा था,—

एक दिन मातृ पदहि करिके प्रणाम ।
प्रभु कहें माता मुझे दीजै एक दान ॥
माता कहे वही दूँगी जो कि सुनाओ ।
प्रभु कहें एकादशी अन्न न खाओ ॥
शची कहें, नहीं खाऊँ, अच्छी माँगी ।
तब ही से एकादशी करन लागीं ॥
(श्री० चै० च० आदि १५ प० ८ । ६ । १० क०)

सपुत्रश्च सभार्यश्च स्वजनैर्भक्तिसंयुतः ।
एकादशीमुपवसेन् पक्षयोरुभयोरपि ॥
(विष्णुधर्मोत्तर खण्ड)

अपने पुत्र, स्त्री और परिवार के साथ भक्ति-पूर्वक शुक्ल और कृष्ण इन दोनों पक्षों की एकादशी में उपवास करना चाहिए ।

ब्राह्मण क्षत्रिय-विशां शुद्राणाञ्चैव योषिताम् ।
मोक्षदं कुर्वतां भक्त्या विष्णोः प्रियतरं द्विजाः ॥
(बृहन्नारदीय पुराण, २१ अ० २ श्लोक)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्री—ये सभी लोग श्रीविष्णु के परम प्रिय एकादशीव्रत करने से मोक्ष (विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः—पद्म-पुराणे) अर्थात् श्रीप्रभु की दासता पाते हैं ।

एकादश्युपवासं यः सदा तु कुरुते नरः ।
स याति परमं स्थानं यत्र देवो हरिः स्थितः ॥
(पद्मपुराण [illegible] १२ [illegible] श्लोक)

जो सदा एकादशी का उपवास करते हैं, वे वहाँ जाते हैं, जहाँ श्रीहरि स्वयं रहते हैं ।

एकादशीव्रतं भक्त्या यः करोति नरः सदा ।
स विष्णुलोकं व्रजति याति विष्णु-स्वरूपताम् ॥
(गरुड़ पुराण)

जो मनुष्य भक्ति के साथ एकादशी का व्रत करते हैं, वे श्रीविष्णु के स्वरूप को पाते हुए श्रीविष्णु-लोक में जाते हैं ।

एकादशीव्रतं यस्तु भक्तिमान कुरुते नरः ।
स जाति परमं स्थानं यत्र देवो हरिः स्वयम् ॥
([illegible] श्लोक की सिद्धान्त-प्रदीप टीका)

जो भक्ति पूर्वक एकादशी का व्रत करते हैं । उनके यहाँ स्वयं श्रीहरि रहते हैं । वे परम दुर्लभ गोलोक धाम में जाते हैं । यहाँ एक घटना याद आ गई ।

"गाँव के बूढ़े पुरोहित हवानन्द महाराज की स्त्री को बुखार आया । ब्राह्मण महाराज ब्राह्मणी के लिये पुराने वैद्य श्रीशम्भुनाथजी को बुला लाये । शम्भुनाथ बहुत देर तक रोगिणी का हाथ पकड़े बैठे रहे । ४, ५ घण्टा बीतने पर वे रोगिणी की बीमारी को अच्छी तरह समझ सोंठ भटकटैया इत्यादि पंच कढ़वा दिलाने के लिये वर्णमाला जैसे बड़े-बड़े अक्षरों में लिख सिर्फ सवाचार आने फ़ीस ले घर चलते बने । उसमें गोखुर नाम की एक दवा थी । हवानन्द की

पढ़ाई ही वैसी थी। वेद का पढ़ना तो दूर रहा, आठ आने दाम का कोई शब्दकोप या चार आने का कोई व्याकरण भी उन्होंने कभी नहीं देखा। विद्याशून्य भट्टाचार्य ने अपने पिता से जो जबानी मन्त्र सीखे थे, वे सब मन्त्र पूरी तरह से याद न होने पर भी उन्हें केवल "अं आं" "नमोनमः" और "चट्टां पट्टां" इत्यादि केवल अनुस्वार-संयुक्त शब्द याद थे ; उन्हीं शब्दों के सहारे वे यजमान के घर, पर्व-पूजा निपटा दिया करते थे। उस दिन हवानन्द गोखुर नाम की दवा को कई बार पढ़कर भी 'गोखुर' शब्द का ठीक मतलब समझ न सके। धीरे-धीरे रात हो गई। उस दिन माघ महीने की अमावास्या थी। ब्राह्मण उस अमावास्या की अँधेरी रात में ओस की वजह सर्दी से ठिठुरते हुए हाथ में लाठी लिये चुपके से अपने एक यजमान की गोशाला में घुसे और अपनी स्त्री की प्राण-रक्षा के लिये यजमान की प्यारी और दुधारी नई ब्याई गौ के खुर को काट ले आये।" सब व्रतों के सार इस एकादशी नामक महाव्रत के लिये जो मना करते हैं, उनकी व्यवस्था हवानन्द ब्राह्मण की गो-हत्या के समान ही है ; इसमें कोई सन्देह नहीं।

हे श्रीहरि-भजन परायण भाई और बहनों ! जिस एकादशी नामक महाव्रत के पालन के फल से मनुष्य निर्विघ्न इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण, कुबेर, पवन, यम, अग्नि और शिव-शिवानी के चिर-वाञ्छित परम-रमणीय बहुत ही दुर्लभ नित्य-आनन्द-मय नित्य-धाम गोलोक में जा श्रीभगवच्चरणारविन्द के समीप निवास कर सकते हैं, उसकी अपेक्षा और कौन सा श्रेष्ठ व्रत इस मृत्युलोक में है ? इसीलिये श्रीभगवान् ने श्रीमुख से कहा है,—

एकादशीव्रतं ये च भक्तिभावेन कुर्वते ।
गायन्ति मम नामानि ज्ञेयास्तेवैष्णवा जनाः ॥

जो मनुष्य भक्तिभाव से एकादशी के व्रत का पालन करते हुए श्रीहरिनाम का कीर्तन करते हैं, उन्हें ही वैष्णव समझना चाहिये। अतएव तर्क करनेवाले सियाल जैसे आदमी के साथ "ए हुआँ-ए हुआँ" न करके वृथा समय गँवाना छोड़ यह उपदेश सदा मन में रखना चाहिये, कि मैं तो सदा प्रभु का ही हूँ।—

कृष्ण का संसार करो छोड़ अनाचार ।
जीव-दया, नाम-रुचि, सर्वधर्म सार ॥

(—श्रीचैतन्य-चरितामृत)

मैं और मन

(एक वैराग्यवान पुरुष के विचार)

(श्रीयुत अवधविहारीलाल कपूर एम्, ए लिखित)

मनः—मेरे स्वामी ! तुम्हारे स्वभाव में यह कैसा परिवर्तन ?! नया रूप ! नया रंग ! नई रुचि ! नई चाल और वैराग्य की नई उमंग ! यह कैसा अनोखापन ?! तुम क्यों भूल गये अपने मन-माने खेल ? तुम तो बड़े चंचल खिलाड़ी थे, नित्य नव शिशु की भाँति नये-नये खेल खेला करते थे. क्या अब सांसारिक खिलौने तुम्हें नहीं भाते ? माया के मनोहर तमाशे नहीं सुहाते ? मन लुभानेवाली और दिल बहलानेवाली संसार में अनेकों सामग्रियाँ हैं। क्या तुमने एकदम सबको तिलांजलि दे दी ?

प्यारे स्वामी ! संगीत से तुम्हें कितना प्रेम था !

नित्य संगीत-मंडली में बैठकर गाने-बजाने में स्वर्गसुख अनुभव करते थे। क्या अब तबले की ठंकार, हारमोनियम, बेला, सरंगी की सुरीली आवाज़ और सितार की मधुर झंकार सुनकर तुम्हारा हृदय नहीं फड़क उठता? तुम्हें विद्या अध्ययन की कैसी लालसा थी, विज्ञान, गणित, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य इत्यादि सभी विद्याओं में पंडित बनना चाहते थे। क्या यह सब अब तुम्हें निरर्थक जान पड़ने लगा? कवियों की मधुर कल्पनायें, लेखकों की रोचक कहानियाँ, लेक्चरारों के लंबे-चौड़े व्याख्यान, पंडितों का वादाविवाद और उनकी टीका-टिप्पणियाँ क्या अब तुम्हें अरुचिकर प्रतीत होने लगीं?

स्वामी तुम धन उपार्जन में भी अब पहले का सा उत्साह नहीं दिखाते, इसलिये मुझे और भी अधिक चिंता है, निर्धन पुरुष संसार में सदा दुःखी रहता है। जिसका साथ लक्ष्मी नहीं देती, संसार भी उसका साथ नहीं देता। भाई, बंधु, स्त्री, पुत्र! सबकी ठोकरें उसे खानी पड़ती हैं। जिसके ऊपर लक्ष्मी की कृपा होती है, उसका राजा भी सम्मान करता है और बन्धु व मित्रगण कुत्तों के समान दुम हिलाकर जीभ निकाले उसके चारों ओर नाचा करते हैं। स्वामी, क्या तुम्हें इस बात का ज्ञान नहीं है? देखो जब तुम धन कमाने के लिये कठिन परिश्रम करते थे, नित्य सुबह से शाम तक कोल्हू के बैल की तरह पिसते थे चोटी का पसीना एड़ी तक आ जाता था, पर अपने कष्ट का ख्याल न कर निरंतर धन का ही ध्यान करते और उठते, बैठते, सोते, जागते, लक्ष्मी का नाम लेते थे, तो लक्ष्मी माता प्रसन्न होकर नित्य तुम्हारी झोली भर देती थीं, उन्हीं की कृपा से आज तुम इतने अमीर हो, शहर के रईस कहलाते हो, छोटे बड़े सभी तुम्हें झुककर सलाम करते हैं। लक्ष्मी से विमुख होकर तुम्हारी कैसी दशा होगी नाथ!

स्वामी, मेरी समझ में नहीं आता, कैसे तुम्हारी बुद्धि पलटा खाई है। किसने तुम्हें ज्ञान की पट्टी पढ़ाई है, और भोग-विलास से रुचि हटाकर वैराग्य की उलटी गङ्गा बहाई है। तुम्हारे धन और ऐश्वर्य के प्रताप से संसार की सारी वस्तुयें मानों आप ही तुम्हारी ओर आकर्षित होती हैं। तुम उन्हें अपनाते क्यों नहीं? वह देखो, कामिनी रोज़ की भाँति नया शृंगार कर संकेत द्वारा तुम्हें बुला रही है। तनिक उसकी ओर निहारो तो सही, आज उसकी छवि कैसी अनुपम है। उसके मदभरे नेत्र तुम्हें टकटकी लगाकर देख रहे हैं, और कोमल बाँहें जो तुम्हारे गले में निःसंकोच खेला करती थीं आज फिर तुम्हारे गले का हार बनने को आगे बढ़ रही हैं।

उठो स्वामी! कामिनी को हृदय से लगाओ। कंचन के ढेर लगाओ। और वैराग्य की नींद से जागकर संसार में ध्यान लगाओ।

मैं:—रे मन पापी! मत फैला अपना जाल, वृथा जायगा तेरा प्रयत्न! मैं सचेत हूँ। गुरुदेव ने मुझे चौकन्ना कर दिया है। मीठी चुपड़ी बातें बनाकर, माया के रंग बिरंगे चित्र दिखलाकर तू मुझे न फुसला सकेगा, समय था, जब मेरी आँखों पर पट्टी बँधी थी, तेरे कंधे पर हाथ रखकर तेरे पीछे-पीछे फिरा करता था। तुझे अपना परम मित्र समझता था। यदि कोई साधु तेरी निंदा करता, तो कानों में उंगली दे लेता था। तू जिधर नाक पकड़ कर घुमा देता, उधर ही घूम जाता था, परंतु अब गुरुदेव ने कृपा करके मेरे नेत्र खोल दिये हैं, तेरा काला रूप देख मुझे घृणा होती है और पिछली बातों को याद कर पश्चात्ताप के मारे हृदय फटा जाता है, हाय तेरे बहकाने में आकर मुझे दर दर की खाक छाननी पड़ी, अमृत के धोखे विष पीना पड़ा। मिठाई के लालच विष्ठा खाना पड़ा। तूने कभी भी मेरे हित की बात न कही, सदा मेरा सर्वनाश करने पर ही तत्पर रहा, मैंने तुझे अब अच्छी तरह पहचान लिया, अब तक तुझे अपना परम मित्र माना था, पर अब तुझसे शत्रुता ठानूंगा, मुझे इसीमें अपना कल्याण दीखता है। इसलिये मुझे अपने फंदे में फिर से फँसाने की व्यर्थ चेष्टा न कर।

मनः—स्वामी तुम्हारी अनोखी बातें, तुम्हारा नया ज्ञान और तुम्हारी विचित्र विचार-शैली को

समझने में मैं असमर्थ हूँ। परंतु तुम्हारा रूठना मुझे अच्छा नहीं लगता, क्या तुम मुझसे बिलकुल मुँह फेर लोगे नाथ ?

मैं:- अवश्य।

मनः—क्या ऐसा संभव भी हो सकता है स्वामी? मेरा तो नित्य काल से तुमसे घना संबंध है। मैं तो तुम्हारा एक मुख्य अंग हूं। मुझे अपने और तुम्हारे बीच कोई अन्तर ही नहीं दीखता, फिर मुझसे शत्रुता कर ही कैसे सकते हो, मेरा तुम्हारा नाता भगवान् ने ऐसा जोड़ दिया है कि मेरे कल्याण से तुम्हारा कल्याण है, और मेरे अमंगल से तुम्हारा अमंगल है, मेरे सुख की चिंता करना ही एकमात्र तुम्हारा धर्म है। मेरी कामनाओं की तृप्ति करना ही तुम्हारा कर्तव्य है। मुझे असंतुष्ट रखकर तुम कदापि सुख की नींद नहीं सो सकते, इस बात का तो तुम्हें खूब अनुभव है स्वामी, फिर जानकर भी क्यों अनजान बनते हो।

मैं:- मुझे धर्म शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं। जिन्होंने मुझे तेरे यथार्थ रूप का बोध कराया, उन्होंने मेरा कर्तव्य भी मुझे अच्छी तरह समझा दिया है। इसलिये तू अपना ज्ञान अपने पास ही रख, शत्रु से मुझे ज्ञान नहीं सीखना है।

मनः—स्वामी पछताओगे। शत्रुता करके मुझसे जीत न पाओगे।

अनेकों बार मैं तुम्हें अपनी शक्ति का परिचय दे चुका हूँ। जिस समय मैं मचल उठता हूँ, तुम्हारे हाथ पैर फूल जाते हैं, होश गायब हो जाते हैं और अकल ठिकाने आ जाती है। तुम्हारा एक भी प्रयत्न काम नहीं करता, अंत में तुम्हें मेरी ज़िद रखनी ही पड़ती है, इतना ही नहीं, तुम सब प्रकार से मेरे अधीन हो। कोई भी काम निज इच्छानुसार नहीं कर सकते, जब तुम कोई काम मेरे मिज़ाज के विरुद्ध करने के लिये कदम बढ़ाते हो मैं मुस्टमर्द बैल की तरह तुम्हारे आगे आ डटता हूँ, तुम खिसियाकर मेरी ओर देखने लगते हो और हार मानकर हाथ-पर-हाथ रख के बैठ जाते हो। ज़रा विचारकर देखो, मेरे सामने तुम्हारी सत्ता ही क्या है, मैं सभी तरह से तुमसे बड़ा हूँ। केवल लौकिक प्रथा के अनुसार तुम्हें स्वामी कहकर संबोधन करता हूँ, और विनम्र भाव से तुम्हारे साथ भाषण करता हूँ, वास्तव में तुम्हारा स्वामी मैं ही हूँ, तुम तो नाम मात्र के ही स्वामी हो। शरीर की सारी इन्द्रियाँ मुझे बलवान् जानकर मेरे ही इशारे पर चलती हैं और तुम्हें निर्बल समझ तुम्हारी बात को सुनी अनसुनी कर देती हैं। इसलिये सँहल जाओ, अब भी, फिर से आ जाओ मेरी शरण में और मेरे पेट में लगी भूख को, अतृप्त वासनाओं की सुलगाई हुई ज्वाला को शांत करो, नहीं तो यह ज्वाला बढ़ते बढ़ते बहुत प्रचण्ड हो जायगी और देखना तुम्हें अचानक भस्म कर देगी।

मैं—शाबास मेरे मन! पहले तो कामिनी कंचन इत्यादि का लोभ दिलाया, फिर संबंध ज्ञान का पाठ पढ़ाया, जब किसी तरह फुसला न पाया तो शत्रु का भयानक रूप बनाकर अपने बल से धमकाया, मनसाराम! तुमने अपनी चतुराई का अच्छा परिचय दिखलाया, तुम्हारी चतुराई जगत् में प्रसिद्ध है, सीधे-सादे अज्ञानी मनुष्यों की कौन कहे, बड़े बड़े ऋषिमुनियों को तुम अपनी चतुरता का शिकार बना चुके हो, चतुर मदारी! तू इसी प्रकार संसार के जीवों को अपनी चतुराई की रस्सी में बाँधकर नित्य बंदर का नाच नचाया करता है। पहले तो संसारिक भोगों का लालच दिलाकर और उलटा सीधा पाठ पढ़ाकर जीव को अपने वश में करना चाहता है, पर जब वह इस तरह काबू में नहीं आता तो अपने बल की धमकी देकर उसके ऊपर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न करता है, अपने स्वरूप और शक्ति का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण विचारे जीव तेरे पीछे बँधे फिरते हैं।

(क्रमशः)

नित्यधर्मका नामान्तर वैष्णवधर्म है

(नित्य धर्म से संयुक्त)

लाहिड़ी महाशय की कुटी और वैष्णवदास की कुटी परस्पर पास ही पास हैं। समीप ही कुछ आम और कटहल के वृक्ष हैं। चारों ओर छोटे छोटे सुपारी के वृक्ष शोभा दे रहे हैं। आँगन में एक बहुत बड़ा चक्राकार चौतरा है। जिस समय श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारी उस कुञ्ज में वास करते थे, उसी समय से ही यह चौतरा है। अनेक दिन से वैष्णव लोग इस चौतरे को "सुरभि चौतरा" कहकर उसका प्रदक्षिण और प्रणाम किया करते हैं।

सन्ध्या के बाद श्रीवैष्णवदास अपनी कुटी में पत्ते के आसन पर बैठे हरिनाम ले रहे थे। कृष्णपक्ष है: धीरे धीरे रात अधिक अँधेरी हो गई। लाहिड़ी महाशय की कुटी में एक टिमटिमाता हुआ चिराग जल रहा था। उनके दर्वाजे के पास सर्प की कुछ आकृति सी दिखाई दी। लाहिड़ी महाशय ने उसी समय एक लाठी उठा उस सर्प को मारने के लिये चिराग तेज किया। चिराग लेकर बाहर आते-आते सर्प गायब हो गया। लाहिड़ी महाशय ने श्रीवैष्णवदास से कहा,—"आप जरा सावधान रहियेगा, एक साँप आपकी कुटी में गया है।" वैष्णवदास ने कहा,—"लाहिड़ी महाशय, आप सर्प के लिये इतना घबराते क्यों हैं? आइये, मेरी कुटी में निर्भय होके बैठिये।" लाहिड़ी महाशय उनकी कुटी में प्रवेश कर पद्मासन पर बैठ गये सही, लेकिन उनका मन सर्प के कारण बहुत चञ्चल था। उन्होंने कहा,—"महाशय, इस विषय में तो हमारा शान्तिपुर अच्छा है। शहर में कहीं भी साँप बीछी का डर नहीं है। नदिया में सदा सर्प का भय है। विशेषतः गोद्रुम आदि जङ्गली जगहों में भले आदमियों का रहना कठिन है

श्रीवैष्णवदास बाबाजी महाशय ने कहा,—"लाहिड़ी महाशय, इन सब विषयों में चित्त को चञ्चल बनाना अच्छा नहीं। आपने श्रीमद्भागवत ग्रन्थ में महाराज परीक्षित् की कथा अवश्य ही सुनी होगी। उन्होंने सर्प का भय परित्याग कर अचञ्चल-चित्त से श्रीमत् शुकदेव के मुख से श्रीहरिकथामृत सुनते हुए परमानन्द लाभ किया था। मनुष्य की विदेह में यह सब सर्प आघात कर नहीं सकते। केवल भगवत्-कथा विरह रूपी सर्प ही उस देह के लिये व्याघात-जनक सर्प है। जड़देह नित्य तो है नहीं, अवश्य ही इसे एक दिन परित्याग करना पड़ेगा। जड़देह के लिये केवल शारीरिक कर्म ही विहित है। कृष्ण की इच्छा से जब इस देह का पतन होगा, तब किसी चेष्टा से भी इसकी रक्षा की न जा सकेगी। जब तक शरीर के भङ्ग होने का समय उपस्थित नहीं होता, तब तक सर्प के बगल में सोने से भी वह कुछ कर नहीं सकता। अतएव सर्प का भय त्याग करने से ही वैष्णव नाम का परिचय मिल सकता है। इन सब डरों से ही यदि चित्त चञ्चल रहा, तो वह हरिपादपद्म में कैसे नियुक्त होगा? सर्प का भय और भय के कारण सर्प को मारने की चेष्टा को अवश्य-ही परित्याग कर देना चाहिये।

लाहिड़ी महाशय ने कुछ श्रद्धा के साथ कहा,—"महाशय आपके साधु-वचनों से मेरा हृदय निर्भय हुआ। मैं समझ गया, कि हृदय को उच्च बना सकने से ही परमार्थ-लाभ के योग्य हुआ जा सकता है। गिरि कन्दरा में जो सब महात्मा भगवद्भजन करते हैं, वे कभी जङ्गली जन्तुओं का भय नहीं करते। बल्कि असाधु सङ्ग से भयकर वे जङ्गली जन्तुओं के साथ वन में निवास करते हैं।"

बाबाजी महाशय ने कहा,—"हृदय में भक्ति देवी का आविर्भाव होने से हृदय सहज में ही उन्नत होता है—जगत् के समस्त जीवों का प्रिय हुआ जा सकता है। साधु और असाधु सभी जीव भक्त का अनुराग करते हैं। अतएव मनुष्य मात्र को ही वैष्णव होना चाहिये।"

यह बात सुनते ही लाहिड़ी महाशय ने कहा,—'आपने नित्यधर्म के प्रति मेरी श्रद्धा का उदय कराया है और नित्य धर्म के साथ वैष्णव धर्म का कुछ सम्बन्ध भी है—मेरे मन में ऐसी ही प्रतीति है। किन्तु नित्यधर्म और वैष्णवधर्म की एकता को मैं अब भी समझ नहीं सका।" बाबा वैष्णव दास कहने लगे-

जगत् में वैष्णव धर्म के नाम से दो पृथक् पृथक् धर्म

चलते हैं। एक शुद्ध-वैष्णव धर्म और दूसरा विद्ध वैष्णव-धर्म। शुद्ध-वैष्णवधर्म वास्तव में एक होने पर भी चार प्रकार का है—अर्थात दास्यगत, सख्यगत, वात्सल्यगत और मधुर-रसगत वैष्णवधर्म। वास्तव में शुद्ध-वैष्णवधर्म एक और अद्वितीय है, इसका दूसरा नाम नित्यधर्म या परधर्म है। "यज्ज्ञाते सर्वं-विज्ञातं भवति"—यह श्रुति-वाक्य शुद्ध वैष्णवधर्म का ही लक्ष्य कराती है। इसका हाल आप क्रमशः जानेंगे।

विद्ध-वैष्णव-धर्म दो प्रकार का है—अर्थात कर्मविद्ध और ज्ञानविद्ध-वैष्णव-धर्म। स्मार्त्तमत में वैष्णव-धर्म की जितनी पद्धतियाँ हैं, वह सभी कर्मविद्ध वैष्णवधर्म है। इस वैष्णवधर्म में वैष्णव मन्त्र की दीक्षा होने पर भी विश्वव्यापी पुरुष रूप विष्णु को कर्माङ्ग रूप में स्थापन किया जाता है। इस मत से विष्णु सब देवताओं के नियन्ता होने पर भी स्वयं कर्माङ्ग और कर्माधीन हैं; कर्म विष्णु के इच्छाधीन नहीं, विष्णु ही कर्म के इच्छाधीन हैं। इस मत से उपासना, भजन और साधन,—यह सभी कर्माङ्ग हैं, क्योंकि कर्म की अपेक्षा कोई उच्चतत्त्व है ही नहीं। जरन्मीमांसकों का वैष्णवधर्म इसी प्रकार बहुत दिन से चल रहा है। भारत में इस मत के कितने ही लोग अपने को वैष्णव समझने का अभिमान् करते हैं। शुद्ध-वैष्णव को वैष्णव कहकर स्वीकार करना नहीं चाहते। यह इनका दुर्भाग्य है।

भारत में ज्ञानविद्ध वैष्णव-धर्म भी खूब चल रहा है। ज्ञानी सम्प्रदाय के मत से अज्ञेय ब्रह्मतत्त्व ही सबसे उच्च तत्त्व है। इस मत से निर्विशेष ब्रह्म को पाने के लिये साकार सूर्य, गणेश, शक्ति, शिव और विष्णु की उपासना करना आवश्यक है। ज्ञान के पूर्ण होने पर साकार उपास्य दूर कर दिये जाते हैं। अन्त में निर्विशेष ब्रह्मत्व का लाभ होता है। इस मत में कितने ही लोग पड़कर शुद्ध वैष्णव का अनादर करते हैं। पञ्च-उपासनाओं में जो विष्णु की उपासना है, उसमें दीक्षा, पूजा आदि सभी विष्णु विषयक हैं, कहीं राधाकृष्ण विषयक हो गया, तो वह शुद्ध-वैष्णव-धर्म नहीं।

इस प्रकार विद्ध-वैष्णवधर्म को पृथक् कर देने और शुद्ध-वैष्णवधर्म का उदय होने से वही प्रकृत वैष्णवधर्म है। कलि के दोष से कितने ही लोग, शुद्ध-वैष्णवधर्म को न समझ सकने के कारण विद्ध-वैष्णवधर्म को ही वैष्णवधर्म समझते हैं।

श्रीमद्भागवत का सिद्धान्त है, कि मनुष्य के परमार्थ की प्रवृत्तियाँ तीन प्रकार की हैं—अर्थात ब्राह्म-प्रवृत्ति, पारमात्म प्रवृत्ति और भागवत-प्रवृत्ति। ब्राह्म प्रवृत्ति क्रमसे निर्विशेष ब्रह्मतत्त्व में किसी-किसी की रुचि होती है। वे लोग जिस उपाय का अवलम्बन कर निर्विशेष होने की चेष्टा करते हैं, समय पर वेही उपाय पञ्चदेवता की उपासना के नाम से परिचित होते हैं। उसी में ज्ञानविद्ध वैष्णवधर्म का उदय होता है।

परमात्म-प्रवृत्ति-क्रम से सूक्ष्म परमात्मस्पर्शी योग-तत्त्व में भी किसी-किसी की रुचि होती है। वे लोग जिस उपाय का अवलम्बन कर पारमात्म समाधि की आशा करते हैं, वे सब क्रिया कर्म-योग भी अष्टाङ्गादि योग के नाम से विख्यात है। इस मत से विष्णु-मंत्र-दीक्षा, विष्णु-पुजा और ध्यानादि सभी कर्माङ्ग हैं। इसमें कर्मविद्ध-वैष्णव धर्म का उदय होता है।

भागवत-प्रवृत्ति क्रम से शुद्ध सविशेष भगवत्-स्वरूपानुगत भक्तितत्त्व में समस्त भाग्यवान् जीवों की रुचि होती है। ये लोग जो भगवत-आराधना आदि करते हैं, वह सब क्रिया-कर्म या ज्ञान के अङ्ग नहीं शुद्ध भक्ति के अङ्ग हैं। इस मत का वैष्णव-धर्म ही शुद्ध वैष्णव-धर्म है। श्रीमद्भागवत का वचन है, यथा (१—२—११)—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

देखिये, ब्रह्मपरमात्माभेदी भगवत्तत्त्व ही समस्त तत्त्वों का चरम है। भगवत्तत्त्व ही शुद्ध विष्णुतत्त्व है। उस तत्त्व के अनुगत जीव ही शुद्ध जीव हैं। उनकी प्रवृत्तिका नाम 'भक्ति' है। हरिभक्ति ही शुद्ध-वैष्णवधर्म, नित्यधर्म, जैवधर्म, भगवतधर्म, परमार्थ और परधर्म के नाम से विख्यात है। ब्राह्मप्रवृत्ति और परमात्म-प्रवृत्ति से जितने प्रकार के धर्म बने हैं, वे सभी नैमित्तिक हैं। निर्विशेष ब्रह्मानुसन्धान में निमित्त है, अतएव वह नैमित्तिक अर्थात् नित्य नहीं है। जड़विशेष में आबद्ध हो जो जीव बन्धन-मोचन के लिये व्यस्त है, वह जड़-बन्धन को निमित्त बना निर्विशेष की गति के अनुसन्धानरूपी नैमित्तिक धर्म का आश्रय लेते हैं। अतएव ब्राह्म-धर्म नित्य नहीं है। जो जीव समाधि सुख की इच्छा से पारमात्म-धर्म का अवलम्बन करते हैं, वह जड़ सूक्ष्म मुक्ति को निमित्त बना नैमित्तिक धर्म का अवलम्बन करते

हैं। अतएव पारमात्म-धर्म नित्य नहीं है, केवल विशुद्ध भागवत धर्म ही नित्य है।

यहाँतक सुनकर लाहिडी महाशय ने कहा—महोदय, जिसे शुद्ध वैष्णव धर्म कहते हैं, उसको मुझसे वर्णन कीजिये। मैं इस अधिक उम्र में आपके चरणाश्रय में हूँ, आप कृपाकर मुझे ग्रहण कीजिये। मैंने सुना है, कि अपात्र द्वारा पहले शिक्षा और दीक्षा लिये रहने पर भी सुपात्र मिलने पर फिर दीक्षित और शिक्षित होना उचित है। मैं कई दिनों से आपके साधु उपदेश सुनकर वैष्णव-धर्म में जात-श्रद्ध हुआ हूँ। इस समय आप कृपाकर पहले वैष्णव-धर्म की शिक्षा और अन्त में दीक्षा देकर मुझे पवित्र करें।

बाबाजी महाशय ने कुछ व्यस्त हो कहा,—महाशय! मैं यथासाध्य आपको शिक्षा दूँगा। मैं दीक्षागुरु होने के योग्य नहीं। जो कुछ भी हो, इस समय आप शुद्ध वैष्णव धर्म की शिक्षा लें।

संसार के आदिगुरु श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने कहा है, कि वैष्णवधर्म में तीन तत्त्व हैं। संबन्ध तत्त्व, अभिधेय तत्त्व, और प्रयोजन-तत्त्व। इन तीन तत्त्वों को अवगत होकर जो यथारूप आचरण करते हैं, वे ही शुद्ध वैष्णव या शुद्ध भक्त हैं।

सम्बन्ध तत्त्व में तीन विषयों की अलग-अलग शिक्षा है—जड़ जगत् या मायिक तत्त्व, जीव या अधीन तत्त्व और भगवान् या प्रभुतत्त्व। भगवान् एक और अद्वितीय, सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वाकर्षक, ऐश्वर्य तथा माधुर्य के एक मात्र निलय, माया और जीव-शक्ति के एकमात्र आश्रय हैं। वह माया और जीव के एकमात्र आश्रय होकर भी सर्वदा सुन्दर रूप में एक स्वतन्त्र स्वरूप हैं। उनकी अङ्गकान्ति सुदूरवर्त्ती होकर निर्विशेष ब्रह्मरूप में प्रतिभाति है। उनकी ऐशी शक्ति जगत् और जीव सृष्ट करके आंशिक परमात्म स्वरूप में जगत् प्रविष्ट ईश्वर तत्त्व है। ऐश्वर्य-प्रधान प्रकाश में वह परव्योम में नारायण हैं। माधुर्य प्रकाश में वह गोलोक.वृन्दावन में गोपीजनवल्लभ श्रीश्रीकृष्णचन्द्र हैं। उनका प्रकाश और विलास समुदय नित्य और अनन्त हैं। उनके समान कोई कुछ नहीं उनके अधिकता की बात ही नहीं। उनकी यथाशक्ति क्रम में समस्त प्रकाश और विलास है। पराशक्ति के अनेक विक्रमों में जीव के लिये तीन ही विक्रम का परिचय मात्र हैं। एक का नाम है चिद्विक्रम—जिसके द्वारा उनकी लीला सम्बन्ध में सभी सिद्ध हुआ है; और एक का नाम जीव विक्रम या तटस्थ विक्रम है—जिसके द्वारा अनन्त जीव का उदय और अवस्थिति है। तृतीय विक्रम का नाम माया विक्रम है,—जिसके द्वारा जगत् की समस्त मायिक वस्तु काल और कर्म की सृष्टि हुई है। जीव के साथ भगवान् का जो सम्बन्ध, भगवान् के साथ जीव और जड़ का जो सम्बन्ध और जड़ के साथ भगवान् और जीव का जो सम्बन्ध इस सम्बन्ध का नाम सम्बन्ध-तत्त्व है। सम्बन्ध तत्त्व को पूरी तरह से जान लेने पर सम्बन्ध-ज्ञान होता है। सम्बन्ध-ज्ञान हीन व्यक्तिगण किसी प्रकार भी शुद्ध वैष्णव हो नहीं सकते।

लाहिडी महाशय ने कहा,—मैंने वैष्णवों से सुना है कि वैष्णवगण केवल भावुकता के अधीन ही हैं, उन्हें किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। यह कैसी बातें हैं? मैंने अब तक हरिनाम कीर्तन के भाव ही को संग्रह करने का यत्न किया है, सब ज्ञान के जानने की चेष्टा नहीं की।

बाबाजी ने कहा—वैष्णवों का भावोदय ही परम फल है। किन्तु शुद्ध होने की आवश्यकता है। जो अभेद ब्रह्मानुसन्धान को परम फल जानकर साधन में भाव शिक्षा लेते हैं, उनका भाव और चेष्टा शुद्ध भाव नहीं है अर्थात् शुद्ध भाव की नकल मात्र है। शुद्ध भाव एक बिन्दु भी हो तो जीव को चरितार्थ करता है। किन्तु, ज्ञानविद्ध भावुकता केवल जीव के लिये उत्पात समझना चाहिये। जिनके हृदय में अभेद ब्रह्मभाव है, उनका भक्तिभाव केवल लोक-वंचना मात्र है। अतएव शुद्ध भक्तों के लिये सम्बन्ध ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

लाहिडी महाशय ने सश्रद्ध हो कहा—ब्रह्म की अपेक्षा उच्चतत्त्व क्या है? भगवान से यदि ब्रह्म की प्रतिष्ठा है, तो ज्ञानीगण ब्रह्म त्यागकर भगवद्भजन क्यों नहीं करते?

बाबाजी ने कुछ हँसकर उत्तर दिया—ब्रह्मा, चतुःसनकादि, शुक, नारद, देवदेव महादेव सभी ने अन्त में भगवच्चरण में आश्रय लिया है।

लाहिडी महाशय ने कहा—भगवान रूप विशिष्ट तत्त्व है, अतः वह सीमाविशिष्ट असीम ब्रह्म के आश्रय में कैसे हो सकते हैं?

बाबाजी ने कहा,—जड़ जगत् में आकाश नाम की एक वस्तु है। वह भी असीम है। ऐसी दशा में ब्रह्म के

होने से क्या अधिक माहात्म्य हो गया? भगवान् निज अङ्गकान्तिरूप शक्ति रूप में असीम होकर एक काल में स्वरूप विशिष्ट भी हैं। ऐसी और किसी वस्तु को देखा है? इसी अद्वितीय स्वभाव के वश भगवान् ब्रह्मतत्त्व की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च हैं। एक अपूर्व सर्वाकर्षक स्वरूप —उससे सर्वव्यापित्व, सर्वज्ञत्व, परमदया, परमानन्द पूर्णरूप से विराजमान हैं। ऐसा ही स्वरूप अच्छा है? क्या इससे अतिरिक्त जिसमें कोई गुण नहीं, कोई शक्ति नहीं—एक अज्ञात सर्वव्यापी अस्तित्व ही ठीक है? वस्तुतः ब्रह्म भगवान का निर्विशेष आविर्भाव है। भगवान में निर्विशेषत्व और सविशेषत्व—दोनों ही सुन्दर रूप में एक काल में अवस्थित हैं। ब्रह्म उसका एक अंश मात्र है। निराकार, निर्विकार, निर्विशेष, अपरिज्ञेय और अपरिमेय भाव ही अदूरदर्शी व्यक्तियों को प्रिय होता है; किन्तु जो सर्वदर्शी हैं, वे पूर्ण तत्त्व के अतिरिक्त और किसी से मन नहीं लगाते। वैष्णव लोग निराकार तत्त्व की विशेष श्रद्धा नहीं कर सकते, क्यों कि वह नित्यधर्म और शुद्ध प्रेम का विरोधी है। परमेश्वर कृष्णचंद्र सविशेष और निर्विशेष दोनों तत्त्व के आश्रय, परमानन्द के समुद्र और समस्त शुद्ध जीव के आकर्षक हैं।

ला०—श्रीकृष्ण का जन्म, कर्म और देहत्याग है - उनकी मूर्त्ति नित्य कैसे हो सकती है?

बा०—श्रीकृष्णमूर्त्ति सच्चिदानन्द है—उसमें जड़ सम्बन्धीय जन्म, कर्म और देहत्याग आदि नहीं है।

ला०—तब क्यों महाभारतादि ग्रन्थों में वैसा वर्णन किया है?

बा०—नित्य तत्त्व वर्णन से अतीत है। शुद्ध जीव अपने चिद्विभाग में कृष्णमूर्त्ति और कृष्णलीला का परिदर्शन करते हैं। वाक्य के द्वारा वर्णन करने पर जड़ीय इतिहास की तरह वर्णित हुआ करता है। जो महाभारतादि ग्रन्थ के सार ग्रहण करने में समर्थ हैं, वे लोग कृष्णलीलादि का जैसा अनुभव करते हैं, जड़बुद्धि लोग उन वर्णनों को सुनकर दूसरे तरह से अनुभव करते हैं।

ला०—कृष्णमूर्त्ति का ध्यान करने पर एक देश काल परिच्छिन्न भाव हृदय में उदित होता है। उसे पार कर किस प्रकार श्रीमूर्त्ति का ध्यान हो सकता है?

बा०—ध्यान मन का कर्म है। मन जब तक शुद्ध चिन्मय नहीं होता तब तक ध्यान कभी चिन्मय नहीं हो सकता। भक्तिपवित्र मन क्रमशः चिन्मय हो जाता है; उस मन से जो ध्यान होता है वह अवश्य चिन्मय है। भजनानन्दी वैष्णवगण जब कृष्णनाम लेते हैं, तब जड़ जगत् उनका स्पर्श नहीं करता। वे चिन्मय हैं। चिन्मय जगत में रहकर कृष्ण का दैनन्दिन लीला का ध्यान करते हैं और अन्तरङ्ग सेवासुख भोग कर सकते हैं।

ला०—आप कृपाकर चिदनुभव मुझे प्रदान करें।

बा०—आप समस्त जड़ीय सन्देह और वितर्क परित्याग कर जब नित्य नाम की आलोचना करेंगे, तब बहुत थोड़े ही दिनों में चिदनुभव उदित होगा। जितना ही वितर्क करेंगे, उतना ही जड़ बन्धन में मन को आबद्ध करेंगे। जितना ही नामरस का उदय करेंगे, उतना ही जड़ बन्धन शिथिल होगा और चिज्जगत हृदय में प्रकाश होगा।

ला०—मैं इच्छा करता हूँ, आप कृपा कर उसे मुझे बता दें।

बा०—मन वाक्य के साथ उस तत्त्व को न पाकर लौट आता है। केवल चिदानन्द के अनुशीलन ही से वह पाया जाता है। आप वितर्क छोड़कर कुछ दिन नाम लीजिये। ऐसा होने से आप ही आप सारे सन्देह दूर हो जायेंगे और इस विषय में किसी से कुछ न पूछें।

ला०—मैंने समझा कि श्रीकृष्ण में श्रद्धा रख उनका नामरस पान करने से समस्त परमार्थ पाया जाता है। मैं सम्बन्धज्ञान अच्छी तरह से समझकर तब नामाश्रय करूँगा।

बा०—यह बात सर्वोत्कृष्ट है। आप सम्बन्ध ज्ञान का अच्छी तरह से अनुभव कीजिये।

ला०—भगवत्तत्त्व मैं अब समझ गया हूँ। भगवान् ही एक परमतत्त्व हैं। ब्रह्म, परमात्मा उसके अधीन हैं। वह सर्वव्यापी होकर भी चिज्जगत् में निज अपूर्व श्रीविग्रह से विराजमान हैं। वह घनीभूत सच्चिदानन्द पुरुष और सर्वशक्ति, समन्वित हैं। सारी शक्तियों का अधीश्वर होकर भी ह्लादिनी शक्ति के सङ्गसुख में सदा प्रमत्त रहता है। अब मुझसे जीवतत्त्व कहिये।

(क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
स्वरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० १० नवाबपुर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापुर, ढाका

(१५) श्रीमदन गोपाल मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १३ हनुमान रोड, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
कुसुरकुंडा चौरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० विरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कब्बूर, मद्रास

Registered No. A. 2191.

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

वर्ष १] श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः [संख्या २१

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

31st August 1932

हृषीकेश कृष्णपक्ष गौराब्द ४४६

भाद्रपद अमावास्या संवत् १९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक ४॥)

Editor: —Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्री श्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष १ | भाद्रपद-अमावस्या गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, ३१ अगस्त स० १९३२ ई० | संख्या २१

निवेदन

(२०)

तुम सर्वेश्वर-ईश हौ हे ब्रज ईश-कुमार ।
तुम्हरी इच्छा होत है विश्व-सृजन संहार ॥
तुम्हरी इच्छा से सदा ब्रह्मा सिरजन हार ।
तुम्हरी इच्छा विष्णु हैं करत पालन कार ॥
तुम्हरी इच्छा से सदा शिव करते संहार ।
तुम इच्छा सिरजन करे माया कारागार ॥
तुम्हरी इच्छा जीव भी जनम-मरन नित पाय ।
सम्पत्ति और विपात या दुख-सुख आवे जाय ॥
मिथ्या आश्शापाश की माया जीव बँधाय ।
तुम्हरी इच्छा कै बिना कुछ भी होन न पाय ॥
तुम ही रक्षक हो मेरे औ पालक के ठौर ।
तुम्हरे चरणों के सिवा आशा मुझे न और ॥
निजबल-चेष्टा छोड़ के रहता तुम्हरी आस ।
तुम्हरी इच्छा से सदा निर्भर करूँ निवास ॥
दीन अकिञ्चन है प्रभो, सेवक भक्ति-विनोद ।
यह जीवन औ मरन है नाथ, तुम्हारे मोद ॥

सामयिक प्रसंग

(गत संख्या के उपरान्त)

गौड़ीय मठ का कहना है—"जगत् के सब मनुष्य ही हमारे आत्मीय हैं— संसार के पशु-पक्षी, तृण गुल्म आदि सभी हमारे स्वजन हैं। जहाँ जो कुछ चेतनता है, वह सभी हमारे प्रभु की है। हमलोग अपने आत्मीय लोगों को मायाविनी के जादू से बचा, घर की ओर लौटा ले जायेंगे। जादू में फँसे हुओं को और अधिक रूप से जादूगरनी की माया में फँसा रखने में सहायता पहुँचाते हुए उनके साथ क्षणिक-मधुर सहानुभूति न दिखायेंगे। वे जादूगरनी के जादू में पड़कर भी हमारी चेष्टा के विरुद्ध चिल्ला चिल्लाकर आकाश पाताल एक क्यों न कर दें हम उन्हें अमृत-वचन ही सुनायेंगे।

पृथिवी की धारणा का 'धर्म' धार्मिकों की विचार-धारा के प्रतिकूल या अज्ञात होने पर भी हम लोगों का धर्म कर्म भगवान् का बनाया हुआ सनातन धर्म है—जिस धर्म के विषय को ऋषिगण, देवतागण, सिद्धगण, और मनुष्य, कोई भी नहीं जानते—जो धर्म गुह्य, विशुद्ध और दुर्बोध होने पर भी अमृत का प्रदान करनेवाला है—जो धर्म जीव का परम धर्म है—जिस धर्म में जीवमात्र का ही अधिकार है—जिस धर्म के उत्तराधिकारी विश्व-ब्रह्माण्ड के सभी लोग हो सकते हैं, हम नित्य उसी धर्म का आचार और प्रचार करेंगे। वही धर्म हमलोगों का साधन और साध्य है।

जगत में जो धारा बह चली है—जिस बाढ़ में लोग बह चले हैं—दुर्भिक्ष से पीड़ित हो रहे हैं—अभाव, भय, शोक, और मोह से अभिभूत हो दुर्बल और जर्जर हो जाते हैं—उसके निवारण का उपाय उसकी जड़ खोद डालने का उपाय घर की ओर चलना, अशोक, अभय, अमृत के पाद पद्म में अपने को समर्पण कर देना। जब तक विदेश में रहेंगे, घर की ओर से विदेश की ओर जहाँ तक तेजी से बढ़ते चले जायँगे, तब तक शोक, भय और मोह न जायगा; बल्कि दिन पर दिन बढ़ता जायगा और माया-मृग की तरह धोखा देगा। श्रुति का कहना है,—

"द्वितीयाद् वै भयं भवति।"

(बृहदारण्यक उपनिषद्)

द्वितीय-अभिनिवेश से ही भय है। मृत्युलोक से मृत्यु टाली जा नहीं सकती—विश्व-ब्रह्माण्ड के समस्त जीव मिलकर बहुत चेष्टा करने पर भी, त्रिताप को कालेपानी भेजा नहीं जा सकता—रावण के चिता की आग बुझाई नहीं जा सकती, अगर बुझाई जा सकती है, तो सिर्फ रामचन्द्र के सुशीतल चरणामृत से। शुद्ध नाम की बाढ़ में यदि जगत बह चले, तो संसार की छोटी सी बाढ़ बड़े सहज में ही दूर हो जाय। हरि-कथा कीर्तन का सुभिक्ष होने के साथ ही साथ छोटा दुर्भिक्ष सदा के लिये बिदा हो जायगा। 'शोकमोहभयापहा' (भा० १।७।८) भक्ति का उदय होने से जीव के सब तरह के क्लेशों की जड़ अविद्या विनष्ट हो जाती है और आत्मा सुप्रसन्न होती है।

'भक्ति'—आग के समान है। आग जिस तरह सोने को विशुद्ध कर सकती है, उस तरह और कोई चीज़ उसे साफ नहीं कर सकती। बिना भक्तियोग के सोने को साफ़ करने की और चेष्टाएं इमली, मट्टी और राखी से सोने को साफ़ करने की चेष्टा की तरह निरर्थक होता है।

'नाम' में अर्थवाद की कल्पना अर्थात नाम का माहात्म्य अति-स्तुति मात्र है—इस प्रकार की भगवद्विमुख बुद्धि के होने से ही हरिनाम को छोड़ प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली अन्यान्य चेष्टाओं पर विश्वास होता है। हम लोग समझते हैं, कि 'हरिनाम कीर्तन' के प्रचार करने की चेष्टा लोगों के लिये हितकर नहीं है। कभी सोचते हैं, अन्यान्य चेष्टाओं के साथ नाम कीर्त्तन-प्रचार की चेष्टा एक श्रेणीभुक्त है। वह पहला विचार 'नाम में अर्थवाद', दूसरा 'दूसरी शुभ क्रिया के साथ नाम का साम्यज्ञान रूप अपराध।' नाम में विश्वास तो दूर की बात है, यदि नाम के आभास में हमारा विश्वास होता तो हम कभी न कहते, कि कीर्त्तन प्रचार की अपेक्षा बाढ़ में सहायता करना अच्छा है—भगवद्भक्ति की अपेक्षा दुर्भिक्ष दूर करना और अस्पताल खोलना अच्छा है। सैकड़ों दुर्भिक्ष नामाभास में क्यों, नामापराध में दूर हो सकते हैं। कोटि जन्म में ब्रह्मज्ञान से जो मुक्ति नहीं हो सकती, एक नामाभास से वही मुक्ति हो सकती है—वह अत्युक्ति नहीं है—यही एक मात्र सच्ची बात है। कलियुग-

पावनावतारी श्रीगौरसुन्दर ने नामाचार्य श्रीहरिदास ठाकुरद्वारा इसकी साक्षी दिया है। ग्राम्यवार्त्तावाहीगण की कुयुक्तियों से भरे जैन विचार का अवलंबन कर श्रीचैतन्यदेव और चैतन्यके भक्तगण किसी से भी बाढ़ या दुर्भिक्ष निवारण नहीं किया, अस्पताल नहीं खोला, किसी को भी और कुछ उपदेश नहीं दिया सर्वत्र सबको हर समय कहा है

"कलिकाल में नाम बिना नहीं रहा कुछ धर्म ॥"

"खाते सोते सभी समय में, जब तब लेते नाम।
देशकाल पात्र नहीं सर्व सिद्धि हो काम ॥
जो मिले, उसको ही दीजे कृष्ण का उपदेश।
मेरी आज्ञा गुरु बनो तारण कर दो देश ॥
उच्च कीर्त्तन का सदा करके जग परचार।
स्थावर जङ्गम जीव का नष्ट किया संसार ॥
भारत में जिसने लिया मानुष जन्म उदार।
जन्म सार्थक कर करें वे सबका उपकार ॥"

कीर्त्तन के अतिरिक्त जीव का और कोई धर्म नहीं है। इस कीर्त्तनाख्या भक्ति से या श्रीनाम से जिनका जितना अविश्वास है अर्थात् जो सोचते हैं, कीर्त्तन द्वारा मेरी सर्वार्थ-सिद्धि नहीं हो सकती, वे उतने ही परिमाण में नास्तिक हैं। एकमात्र कीर्त्तनरूपी भक्तिप्रचार में जो जितनी सहायता करेंगे, वह उतने ही आस्तिक हैं, और जो जितने परिमाण में बाधा प्रदान करेंगे, वह उसी परिमाण में नास्तिक हैं। "खाते-सोते" जब सदा ही नाम लेना होगा, जब कीर्त्तनरूपी भक्ति ही जीव का एकमात्र धर्म होगा, इसके अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं, तब बाढ़, दुर्भिक्ष दूर करने या अस्पताल खोलने का समय कहाँ है? जो प्रत्यक्षवादी होकर भी सबसे बड़े प्रत्यक्ष को अर्थात् 'मृत्यु' को भूल रहे हैं, जो अन्धे-द्वारा लाये गये अन्धे की तरह माया-विनी के जाल में पड़कर लक्ष्यहीन पथिक की तरह भटक रहे हैं, उन्हें ही हरिकीर्त्तन को छोड़ दूसरे काम के लिये समय है। 'हरिकीर्त्तन' के अतिरिक्त दूसरी जो चेष्टा है वही संसार का कारण है—वह पूरब की तरफ जाने का उलटा रास्ता है; न कि सीधा। हर समय हरिकीर्त्तन—उलटी राह की तरफ से मुँह फिराकर 'पूर्वमुखी हो ठीक घर की तरफ जाना है।

गौड़ीय-मठ हर काल में कीर्त्तन का प्रचारक है। गौड़ीय-मठ का कहना यह नहीं है कि जगत् की सब चेष्टाओं का ध्वंस कर दो, किन्तु कहते हैं—मोड़ घूमने को। जगत के हर एक की सब वस्तुओं को कृष्ण में अर्पण कराने ही के लिये गौड़ीय-मठ की शिक्षा है। जगत् की सब चेष्टाओं को विष्णु आश्रित कराने के लिये ही गौड़ीय-मठ का 'धूम धाम' है; पहले कृष्णार्पण, इसके बाद भक्ति का आरम्भ होता है। गौड़ीय-मठ का कहना है, कि कीर्त्तन कारियों का 'अनुकरण' न करना। अनुकरण का दूसरा नाम ढोंग है। ढोंग या मसखरापन करना लोगों को धोखा देना है। उससे निज उपकार या 'परोपकार' नहीं होता। जो कीर्त्तनकारी का अनुसरण करते हैं, वे ही वास्तव में 'निज उपकारक' या स्वार्थपर, 'परोपकारक' या परार्थपर हैं। वे निज कृतार्थ में अन्ध नहीं होते या लोकवंचना नहीं करते, अतः वे ही निःस्वार्थपर हैं। कीर्त्तन द्वारा ही एक काल में स्वार्थपरता, परार्थपरता और निःस्वार्थपरता साधित होता है।

'नामापराध' या 'नामाभास' में जो दुर्भिक्ष निवारणादि भोग या मुक्ति का लाभ होता है, उसकी अपेक्षा कोटि गुना अधिक नित्य मंगल लाभ जिससे होता है—जीव का चिरकल्याण-सरोज जिससे खिलता है, उसी 'श्रीनाम' का वितरण करने के लिये गौड़ीय मठ सचेष्ट है। वह साक्षात् कृष्ण को वितरण करने के लिये सचेष्ट है।

जगत में अनेक लोग 'हितकथा' का विज्ञापन दे 'अ-हित विषय' का प्रचार करते हैं; किन्तु क्षणिक रमणीय प्रत्यक्ष को 'हित' समझ अनेक लोग वंचित होते हैं। सनातन-शिक्षा में "कौन मैं, तापत्रय क्यों खाता गात। पर मैं यह नहीं जानता कैसी हित की बात"— यही 'कैसे होती हित की बात' जिसके उत्तर में 'हित कथा' को सनातन-धर्मवक्ता गौरसुन्दर ने हमलोगों से कहा है, वही हित लाभ का एक मात्र उपाय हम लोगों के कान में पहुँचने पर हमलोग कीर्त्तन-रूपी भक्ति को दुर्बल समझ कर अन्य उपाय को सबल नहीं समझते। जिस तरफ मुँह घुमाने से सहज ही धन पाया जाता, उस दिशा का परित्याग कर दक्षिण मार्ग में भीमरूल बरली के दंशन, पश्चिम मार्ग में यक्षों का भय, उत्तर मार्ग में कृष्ण सर्प के हाथ सौंपने के लिये नहीं जाते। पूर्व में हमारा घर है, पूर्व में हम तेजी के साथ दौड़ कर दूसरी तरफ जाते हैं, पूर्व के लोग जब हमें लौटने को कहते हैं, तब हम मरीचिकाभ्रान्त हो कहते हैं,—"तुम्हारी

बात न सुनेंगे, यह देखो हमारी आँखों के सामने कैसा निर्मल जल का तालाब शोभा दे रहा है।" यह कह क्रमशः कवल प्रत्यक्ष वस्तु में लुब्ध हो, घर से विदेश की तरफ बढ़े जा रहे हैं। ऐसी अवस्था में गौड़ीय-मठ के कार्यकलाप को सम-स्वभाव के व्यक्तिगण कभी-कभी अपनी धारणा से विरुद्ध समझते हैं। समझने ही की बात है, यह कोई आश्चर्य नहीं; फिर भी, गौड़ीय मठ उनकी बात लेकर उनकी उज्ज्वल पताका उड़ाकर उसमें यह वाणी अंकित कर हमारी आँख और कान को आकर्षित कर कहते हैं

"नेह यतकर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।
न तीर्थपादसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥"
"एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥
यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम॥"
(भाः १।५।३४ ३५)

जो कर्म धर्म के निमित्त, जो धर्म विराग के निमित्त, जो वैराग्य विष्णु की सेवा के निमित्त साधित नहीं होता, उस कर्म धर्म या वैराग्य का आचरणकारी व्यक्ति जीवन्मृत है। मनुष्य का नैमित्तिक और काम्य-कर्मसमूह संसार-बन्धन या योनिभ्रमण का कारण है; किन्तु वही सब कर्म ही फिर परमेश्वर के लिये बनने पर भगवद्विमुखता के विनाश में समर्थ होता है। भगवान् के सन्तोष के लिये जो जो कर्म इस संसार में अनुष्ठित होते हैं, श्रवण कीर्त्तनादि रूपी भक्तियुक्त जो भागवतज्ञान है, वही ज्ञान भगवत्सन्तोषजनक कर्म का अव्यभिचारी फल है।

श्रीगौड़ीय मठ का प्रचार्य विषय यही है। श्रीगौड़ीय-मठ आचार करते हुए प्रचार करता है, कि भगवान् के इन्द्रियतर्पण को छोड़ जीव के इन्द्रियतर्पण में निजउपकार और परोपकार हो नहीं सकता। जीव की इन्द्रियतर्पण-द्वेषरूपिणी मुक्ति के आवाहन से सेवा नहीं होती। नकल करनेवाले अनेक सम्प्रदाय हैं, जो भक्त का ढोंगकर भक्ति की नकल करते हैं, किन्तु यह नहीं जानते, कि भक्ति आत्मा की वृत्ति है। ये लोग उदरभरण प्रतिष्ठा, अथवा किसी दूसरे उद्देश्य के अनुकरण द्वारा लोगों को धोखा देते हैं।

गौड़ीय-मठ का कहना है, कि धर्म के नाम पर व्यवसाय करना उचित नहीं। श्रीहरि को अपने भोग में न लगाकर श्रीहरि की सेवा करना ही कर्तव्य है। गौड़ीय-मठ का कहना है, कि हरिभक्त का ढोंग या यात्रा में नारद बनना, हरिभक्त का अनुसरण या प्रकृत नारद के आनुगत्य से बहुत दूर है। गौड़ीय-मठ का कहना है कि केवल मनोहर स्वर, ताल, लय हरिकीर्त्तन नहीं है, वह तो ग्रामोफोन या वेश्याओं में भी है। चेतनता चाहिये उज्ज्वल जीवन चाहिये—आचार प्रचार दोनों चाहिये। गौड़ीय-मठ का कहना है कि जो चरित्रवान नहीं है, वह मनुष्य कहाने के योग्य नहीं है, धार्मिक तो दूर की बात है। गौड़ीय-मठ कलिस्थान पंचक से दूर रहता है। कलि का स्थान यह है—(१) तास-पाशा आदि द्यूतक्रीड़ा, धर्म के नाम से व्यवसाय या वाणिज्यवृत्ति, (२) पान, तम्बाकू, मद्यादि विलास का सामान ग्रहण, (३) अवैध स्त्री सङ्ग या अपनी स्त्री में आसक्ति (४) पशु वध, लोगों के सामने सच्ची बात न कहकर 'असत्य' द्वारा उन्हें ठगना, जीव को हरिकथा न सुनाना, हरिकथा के बदले दूसरा परामर्श देना, (५) लोगों को ठग कर या साधारण के परिश्रमलब्ध रुपया ग्रहणकर उससे स्त्री-पुत्रादि का प्रतिपालन या निज भोग के सामान की वृद्धि करना, जीव का कायमनोवाक्य, प्राण-अर्थ बुद्धि—समस्त वस्तु को सब वस्तुओं के मालिक सब धन के अधिपति श्रीविष्णु की सेवा में सर्वतोभाव से नियुक्त न करना।

शास्त्र का कहना है, कि सब की अपेक्षा मनुष्य-देह ही भगवान को प्रिय है, मनुष्य-देह ही परमार्थ देनेवाला और दुर्लभ है, अतएव इस देह के रहते-रहते अन्य किसी विषय में न फँसकर "शोकमोह भयनाशिनी भक्ति को छोड़ अन्य किसी उपाय को हितकारी समझ वंचित न होकर निरंतर भक्ति याजन करना ही कर्त्तव्य है। भगवद्भक्ति अबला है, कीर्त्तनरूपी भक्ति सबला है। सबला के आश्रित होने पर 'भक्ति' थोड़ी ही चेष्टा से जीव को चरममंगल प्रदान करती है। अतः हर समय कीर्त्तन का प्रचार कर परमार्थ सूत्र में समग्रजीव को गृहाभिमुखी करना ही यथार्थ विश्वप्रेमिकता, यथार्थ परोपकार, यथार्थ दया तथा यथार्थ जीवन का कृत्य है। गौड़ीय मठ विश्ववासी सब मनुष्यों का आलिंगन कर सब को ही भगवत्सेवोन्मुख हो निरन्तर इस कीर्त्तनरूपी भक्ति का प्रचारक होने के लिये कातरता के साथ आह्वान कर कहता है,—

हे साधवः सकलमेव विहाय दूरात्
चैतन्यचन्द्रचरणे कुरुतानुरागम्॥

जन्माष्टमी

'जन्माष्टमी' शब्द श्रीकृष्ण के आविर्भाव-दिवस के नाम से ही प्रसिद्ध है। यद्यपि अष्टमी तिथि में अन्यान्य कितने ही देवता, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और मनुष्यादि के जन्म लेने की चर्चा सुनाई देती है, तथापि 'जन्माष्टमी' शब्द प्रसिद्ध रूप से श्रीकृष्ण के आविर्भाव के दिन को ही लक्ष्य करता है। सर्वत्र प्रसिद्ध है, कि भगवद्वस्तु का जन्मादि नहीं होता। अजन्मा का जन्म, कालातीत भगवद्वस्तु का किसी भी काल विशेष में आविर्भाव—बड़ा ही विरुद्ध सिद्धान्त जान पड़ता है। क्योंकि अजन्मा का कभी जन्म नहीं होता। फिर, जन्म लेने वाली वस्तु भी कभी अजन्मा नहीं हो सकती। किसी किसी का कहना है, कि जब कृष्ण किसी विशेष समय में उत्पन्न हुए, तो उन्हें स्वयं भगवान कहा नहीं जा सकता। क्योंकि परब्रह्म अनादिसिद्ध हैं। किंतु श्रीकृष्ण का द्वापर के अंत में आविर्भाव होना सुनाई देता है।

इन सब शङ्काओं का समाधान क्या है? इन सब शङ्काओं की मीमांसा हमें सर्व-प्रमाण-शिरोमणि श्रीमद्भागवत और श्रीगीतोपनिषद् में दिखाई देती है। श्रीकृष्ण अनादिसिद्ध हैं। उनकी जन्मलीला भी अनादि है। वे अपनी इच्छा से ही संसार के योग्य जीव के हृदय में बार बार इस जन्मलीला का आविष्कार करते हैं। श्रीकृष्ण की जन्मतिथि के विषय को पशु पक्षी-कीटादि और नासमझ मनुष्य समझने में असमर्थ हैं। श्रीमद्भागवत में (३ । । १२ श्लोक में) कहा गया है,—

> स्वशांतरूपेष्वितरैः स्वरूपै-
> रभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा।
> परावरेशो महदंशयुक्तो
> ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाग्निः॥

अपने शांत रूप वसुदेवादि भक्तों को कंसादि दैत्यों के द्वारा तकलीफ़ पाते देख, जैसे अग्निमन्थन लकड़ी से आग प्रकट होती है, वैसे ही प्राकृत और अप्राकृत लोकों के अधीश्वर दयार्द्रहृदय भगवान् श्रीकृष्ण अजन्मा होकर बैकुण्ठ के अधीश्वर अपने व्यूह और अपने अंश लीलावतारादि के रूपान्तर के साथ योगप्राप्त हो अपने लोक से संसार में अवतीर्ण हुए। जैसे अरणि (अग्नि मन्थन की लकड़ी) या पत्थर में आग सदा मौजूद रहती है, किंतु किसी (रगड़ या चोट) कारण-वश लकड़ी आदि से आग प्रकट होती है, वैसे ही श्रीकृष्ण भी किसी विशेष समय में (जैसे वैवस्वत मन्वन्तर के अट्ठाइसवें चतुर्युग के द्वापर के अन्त में) अपनी लीला के विस्तार के वास्ते जायक भक्तमण्डली पर अनुग्रह करने की इच्छा से ही जन्मादि लीलायें प्रकट करते हैं। संसार में रहनेवाले प्रेमी भक्तों के दुःख की शान्ति के लिये स्वयं भगवान् के अतिरिक्त और कोई समर्थ नहीं। अतएव और बहुलाश्व आदि भक्तों को दर्शन द्वारा आनन्द देने और दानवदल के विनाश द्वारा वसुदेवादि प्रियजन पर कृपा दिखाने यही दोनों भगवज्जन्म लीला के आविष्कार का मुख्य कारण है। पृथिवी का भार हरण करने के लिये ब्रह्मादि देवताओं की जो प्रार्थना है, वह उनके आविर्भाव के गौण-कारण मात्र है। मुख्य कारण के फलोन्मुख न होने से पूर्णावतार नहीं होता। फिर, पूर्णावतार के समय भू-भार-हरण आदि कामों के लिये अंशादि के भी पृथक्-अवतरण का प्रयोजन नहीं होता जब चक्रवर्ती सम्राट् विजय के लिये निकलते हैं उस समय जैसे माण्डलिक राजे भी उनके पीछे-पीछे चलते हैं; वैसे ही जब श्रीकृष्ण संसार में अवतीर्ण होते हैं, तब उनके विलास वैकुण्ठनाथ, उनके व्यूह, अंश, पुरुषादि अवतार राम नृसिंह-वराह वामन और नरनारायणादि भी अंशी श्रीकृष्ण के साथ जगत् में अवतीर्ण होते हैं। इसीसे श्रीकृष्ण के आविर्भाव के समय श्रीवृन्दावन में उन्हीं-उन्हीं अवतारों का लीला प्रकट होना दिखाई दिया। वृन्दाबन में ब्रह्मा को ब्रह्माण्डनाथ के साथ जो अद्भुत ब्रह्माण्ड कोटि दिखाया गया था, वह वैकुण्ठनाथ की ही लीला थी। मथुरा और द्वारका आदि में वासुदेवादि के रूप में वासुदेवादि की लीला प्रकाशित हुई है, वही ब्रज में भी वात्सल्यलीला द्वारा दिखाई गई थी। जैसे सुदामा के गृह होने पर श्रीकृष्ण ने चतुर्भुज और द्वादश आदित्य के आकर प्रणाम करने पर वे दशबाहु के रूप में प्रकाशित हुए थे। श्रीकृष्ण ने शेषशायी के रूप में मथुरा-मण्डल में पुरुषावतार की लीलाओं को भी प्रकट किया था। उन्होंने अपनी लीला से जिन रामादि के

रूप का आविष्कार किया था, वे सब श्रीमूर्त्ति आज भी मथुरा मण्डल में विराजमान हैं। गौओं के दूध के द्वारा क्षीरसमुद्र का प्रकाश और गोपगण को देव-असुर बनाकर स्वयं अजित के रूप में श्रीकृष्ण ने क्षीर-सागर का मन्थन किया था। जैसे महाग्नि से सैकड़ों-हज़ारों चिनगारियाँ निकल फिर उसमें ही समा जाती हैं, वैसे ही अंशी श्रीकृष्ण के अंशस्वरूप अन्यान्य अवतारगण भी फिर अंशी के रूप में ही एकता को प्राप्त होते हैं। जैसे ग्राम और नगर आदि के जलाने के लिये चिराग़ और आग की ढेर की शक्ति बराबर होने पर भी आग के ढेर से ही जाड़े का नाश होने से शरीर सुख मिलता है, वैसे ही पुरुषादि अवतार के द्वारा जगत् का भार हरण आदि कार्य सिद्ध होने पर भी अंशी श्रीकृष्ण के बिना प्रेमी भक्तों को सुख नहीं मिलता।

प्राकृत वस्तु में विरुद्ध गुण सम्भव न होने पर भी अप्राकृत वस्तु में एक ही काम में विरुद्ध गुण का समावेश दिखाई देता है। यह अप्राकृत तत्त्व की एक विशेषता है। सुतरां अप्राकृत भगवान् के अजन्म और जन्म में विरुद्ध-भाव की आशङ्का करना उचित नहीं। श्रुति में भी भगवान् के इस विरुद्ध गुण के समावेश का विषय सुनाई देता है; जैसे,—"अजायमानो बहुधा विजायते।" श्रीगीता में (४। ६ में) भी श्रीभगवान कहते हैं,—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥" टीका—"स्वां शुद्धसत्त्वात्मिकां प्रकृतिमधिष्ठाय स्वीकृत्य विशुद्धोर्जित-सत्त्वमूर्त्या स्वेच्छयावतरामीत्यर्थः।" (श्रीधर)

श्रीभगवान् की जन्मादि लीला स्वरूपशक्ति का काम है। स्वरूपशक्ति स्वरूप से भिन्न नहीं है, स्वरूप के ही अधीन है। स्वरूप की समस्त इच्छा पूर्ण करनेवाली शक्ति विशेष ही स्वरूप शक्ति है। श्रीभगवान् अपनी शुद्ध सत्त्वात्मिका स्वरूप शक्ति के द्वारा अपनी इच्छा से जन्मादि लीला का विस्तार किया करते हैं। उनकी स्वरूप-शक्ति से प्रकट जो सब पारिषद हैं, वे लोग भी उनकी ही इच्छा से उनकी लीला के सहायक के रूप में जगत में अवतीर्ण होते हैं। जिस शक्ति के द्वारा जीवादि को जन्म मिलता है, वह जीव के स्वरूप से भिन्न है। किन्तु जिस शक्ति द्वारा श्रीभगवान जगत् में अवतीर्ण होते हैं, वह उनके निजस्वरूप के ही अधीन है; उनकी इच्छा को पूर्ण करने वाली है। जिस शक्ति द्वारा जीव का जन्मादि होता है, उस के जीव-स्वरूप से भिन्न होने की वजह ही जीव जब मायाशक्ति से मुक्ति पाता है, तब उसके जन्मादि की सम्भावना नहीं रहती। किन्तु जिस शक्ति द्वारा भगवान जन्मादि लीला का आविष्कार करते हैं, वह उनके स्वरूप से अभिन्न होने की वजह—उसके उनके स्वरूप के साथ अविच्छेद्य भाव से सदा अवस्थित रहने से ही भगवान की जन्मादि-लीला नित्या और शुद्धा है; वह जीव की तरह कर्मफल का भोग नहीं है।

यहाँ पूछा जा सकता है, कि यदि भगवान् की जन्मादि-लीला को नित्य कहा जाता है, तो भगवान् को सदा के लिये ही जन्मादि के कारण विडम्बना भोगना पड़ता होगा; बल्कि जीव कभी माया के पञ्जे से मुक्त होकर दूसरा जन्म लेने से छुटकारा पा सकता है, किन्तु भगवान के लिये तो वह भी नहीं है। इसका उत्तर यह है, कि श्रीभगवान अपनी निरंकुश इच्छा से स्वरूप में रहने वाली सच्चिदानन्द-मयी स्वरूप शक्ति के द्वारा जन्मादि लीला का विस्तार किया करते हैं। जैसे भगवान नित्य हैं, वैसे ही उनकी स्वरूपशक्ति भी नित्य है। फिर, श्रीभगवान के क्रीड़ाविलास करने की इच्छा भी नित्य है। सुतरां ऐसे नित्य-स्वरूप-शक्ति-समन्वित लीला पुरुषोत्तम श्रीभगवान नित्य लीला-विलास की इच्छा से नित्य स्वरूपशक्ति द्वारा नित्य-जन्मादि लीला का विस्तार किया करते हैं। इससे उनके नित्य-स्वरूप के नित्य पारिषद्वर्ग की और संसार में स्थित नित्य साधक भक्तों की नित्यानन्दामृताम्बुधि बढ़ती रहती है।

भगवान् की स्वेच्छा से जन्मादि लीला का आविष्कार होता और जीवों को कर्मबाध्य हो जन्मादि लेना पड़ता है। भगवान के स्वरूप से अभिन्न शक्ति के द्वारा जन्मादि लीला का विस्तार होता और जीव का अपने स्वरूप से भिन्न माया शक्ति के द्वारा जन्म होता है। जिस शक्ति के द्वारा भगवान की जन्मादि लीला का आविष्कार होता है, वह शक्ति सच्चिदानन्दमयी है, और जीव का जिस शक्ति द्वारा जन्मादि होता है, वह शक्ति त्रितापमयी है। स्वतन्त्र कृष्ण का क्रीड़ा-विलास के लिये स्वरूपशक्ति से प्रकट होने वाले परिकर और धामादि के साथ अवतरण होता, और परवतन्त्र जीव का कर्मफल भोगने के लिये मायाशक्ति से प्रकटित अनित्य जगत् और मायाशक्ति से बाध्य अन्यान्य जीवों के

साथ मुसाफ़िरखाने की मुलाकात भर होती है। सुतरां जीव के कर्मफल-भोग रूपी जन्मादि के साथ निरंकुश इच्छामय क्रीड़ा का आनन्द लेने वाले भगवान के अवतरण रूपी जन्मादि की लीला एक नहीं। इसी लिये भगवान ने अपने श्रीमुख से कहा है,—"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥"

श्रीभगवान की जन्मादि लीला स्वरूपशक्ति के विलास के नाम से प्रमाणित हुई, किन्तु उनके पारिषद्गण की जन्मादि और तरह तरह के दुःख कष्टादि की जो बातें सुनाई देती हैं, उससे जान पड़ता है, कि उनके जन्म और कर्मफल के भोग आदि जीवों के समान ही हैं। नहीं तो सुखमय भगवान के साथ अवतीर्ण होने पर भी उन लोगों में दुःखादि की प्राप्ति कैसे हो सकती है? देवकी वसुदेव का कैदखाने में रहना, व्रजवासियों का कृष्ण के विच्छेद से शोक नन्द-यशोदा में भी सांसारिक माता पिता की तरह पुत्र के प्रति अत्यन्त आसक्ति,—यह सब क्या है? जीव स्वरूपस्थ होने से ही इस आक्षेप के समाधान को अच्छी तरह समझ सकता है। भगवत्-पारिषदों में सब में ही स्वरूपशक्ति का वैभव है। उनका जन्मादि भी स्वरूपशक्ति का ही विलास है। श्रीकृष्ण की इच्छा से ही उनकी लीला के सहायक के रूप में वे लोग जगत् में अवतीर्ण होते हैं। उनके दुःखादि का अभिनय लीला रसास्वादन के लिये ही है। जगत् के समस्त दुःखादि की तरह वह कर्मफल का भोग नहीं है, बल्कि नये नये भाव से कृष्ण सेवा की माधुरी की चमत्कारिता के आस्वादन की एक विचित्रता मात्र है प्राकृत पितामाता के प्राकृत अनन्य पुत्र के लिये आसक्ति कर्मफल भोगने के कारण की वजह हेय है—परित्याज्य है। किन्तु नन्द यशोदा की नित्य पुत्र के लिये आसक्ति परम उपादेय और अप्राकृत अनुरागियों के लिये अनुसरण करने योग्य है।

यहाँ और एक प्रश्न हो सकता है, यदि भगवान की जन्मादि लीला नित्य है, तो भगवान के 'अजन्मा' शब्द के प्रयोग की सार्थकता कैसे हो सकती है? शास्त्र ने इस शंका का समाधान किया है। शास्त्र का कहना है,—श्रीकृष्ण का गुण सर्वतोभाव से कहा जा नहीं सकता, इसलिए वे 'अनामा' हैं, उनका रूप प्राकृत नहीं है, इसलिए वे 'अरूप' हैं और उनका जन्म सांसारिक पुरुषों के जन्म की तरह नहीं है, इस लिये वे 'अजन्मा' कहे जाते हैं। किन्तु यदि इस प्रकार शास्त्रीय अर्थ को न मानकर 'अनामा', 'अरूप', 'अजन्मा' और 'अकर्त्ता' आदि भगवद्विशेषण वाचक शब्दों के अविद्वद् रूढ़ि वृत्ति को ग्रहण कर अर्थ किया जाय, तो भगवान की स्वरूपशक्ति को अस्वीकार करना पड़ता है। स्वरूपशक्ति के सिवा भगवत् शब्द भी निरर्थक है

प्राचीन ज्योतिषियों ने विष्णुपुराण के ४ खण्ड २४वें अध्याय में और श्रीमद्भागवत १२ श स्कन्ध २ य अध्याय से श्रीकृष्ण जन्म के समय के ग्रह नक्षत्रों को इकट्ठा कर जो गणना की थी उसके अनुसार श्रीकृष्ण का अवतरण-काल कुछ अधिक पाँच हजार वर्ष होते हैं। वर्त्तमान कलियुग के आरम्भ में अर्थात् बीते हुए द्वापर युग के अन्त में या इन दोनों की सन्धि में स्वयं भगवान लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मथुरा-मण्डल में वासुदेव और देवकी के द्वारा आविर्भूत हुए। हम लोग श्रीवसुदेव और देवकी के पूर्व इतिहास से यह समझ सके हैं, कि श्रीकृष्ण के जन्म से तृतीय पूर्व जन्म में स्वायम्भुव मन्वन्तर में वसुदेव सुतपा नामक प्रजापति और देवकी पृश्नि के नाम से प्रसिद्ध थीं। ब्रह्मा से प्रजा की सृष्टि के लिये आज्ञा पाने पर इन्होंने इन्द्रियों का संयम कर देवताओं के परिमाण से बारह हजार वर्ष तक बड़ी श्रद्धा के साथ तपस्या की थी इनके भक्ति भावित निर्मल हृदय में चतुर्भुज विष्णु ने उदित होकर वर देने की इच्छा की; तब इन लोगों ने भगवान से उन्हीं के समान पुत्र माँगा। उसी समय भगवान उनका पुत्रत्व स्वीकार कर 'पृश्नि-गर्भ' के नाम से विख्यात हुए। इसके बाद दूसरे जन्म में जब 'सुतपा' और 'पृश्नि, कश्यप और अदिति के नाम से आविर्भूत हुए उस समय भी विष्णु इन्द्र के छोटे भाई वामन के रूप में उत्पन्न हो 'उपेन्द्र' और वामन के नाम से विख्यात हुए। सर्व साधारण में प्रसिद्ध इस इतिहास के मानने से वसुदेव-देवकी को साधन से सिद्धि पाये हुए मनुष्य विशेष मानना पड़ेगा, किन्तु श्रीकृष्ण के नित्य माता-पिता वसुदेव देवकी कभी ऐसे साधन से सिद्ध मनुष्य हो नहीं सकते। फिर श्रीवसुदेवादि के पूर्व जन्म में साधक के रूप में तपस्या आदि का जो वर्णन है, वह श्रीभगवान की तरह, अपनी इच्छा से लोकसंग्रह के लिये वसुदेवादि के अंशावतार द्वारा साधक-जीवों में आवेश के कारण ही होता है—अर्थात् वसुदेवादि नित्य-सिद्ध हैं। उन्होंने कभी साधना नहीं की; फिर भी साधक जीव-विशेष में अपने

अंश से प्रवेश कर लोक संग्रह के लिये साधन किया है और अंश अंशी में प्रवेश कर गये हैं। अंश अंशी के ऐक्य के विचार में यह इस प्रकार कहा गया है।

ब्रह्मा के आदेश से जब देवगण अवतार लेने लगे, तब वसुदेव आदि के अंश, स्वर्ग में बैठे कश्यपादि ने नित्य-लीला में स्थित वसुदेव आदि के अंशों के साथ युग प्रभृति होकर मथुरा में अवतीर्ण हुए। वैकुंठपति श्रीनारायण जि की विला. मूर्ति हैं, उन लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने मथुरा में अपनी लीला का विस्तार करने का विचार करते हुए पहले सङ्कर्षण व्यूह को प्रकट किया। इसके बाद वे अपने शरीर में स्थित प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक दोनों व्यूह को प्रकट करने की इच्छा करते हुए विशुद्ध सत्त्व-स्वरूप वसुदेव के हृदय में प्रकट हुए। उस समय पृथिवी के भार-हरण करना स्वयं भगवान श्रीकृष्ण का काम नहीं। अतएव तब देवताओं की प्रार्थना से क्षीरोद सागर शायी अनिरुद्ध वासुदेव के हृदय में विराजमन श्रीकृष्ण के साथ सम्मिलित हो वसुदेव के हृदय से विशुद्ध सत्त्व-वृत्त स्वरूपिणी श्रीदेवकी के हृदय में प्रकट हुए। देवकी के वात्सल्य प्रेम के आनन्दामृत द्वारा लालित हो श्रीकृष्ण देवकी के हृदय में चन्द्र की तरह क्रमशः बढ़ने लगे। इसके उपरान्त भादों महीने की कृष्ण-अष्टमी तिथि को बुधवार के दिन रोहिणी नक्षत्र में महानिशा में देवकी के हृदय से कंस के कैद खाने में बंद प्रसूति-गृह में देवकी की शय्या पर आविर्भूत हुए।

श्रीकृष्ण देवकी के पुत्र के रूप में आविर्भूत होने पर संसारी मनुष्यों की तरह चरम-धातु आदि में प्रविष्ट हो कर पैदा नहीं हुए। सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण ने विशुद्ध सत्त्व और उसकी वृत्तिरूपा देवकी-वसुदेव के अप्राकृत सत्त्व में आविष्ट होकर ही जन्मलीला का आविष्कार किया इसी से श्रीमद्भागवत में (१० । २ । १८) कहा गया है, कि जैसे पूर्व दिशा आनन्द देनेवाले चन्द्र को धारण करती हैं, वैसे ही देवकी देवी ने वसुदेव द्वारा वैध दीक्षा विधान में दिये गये जगन्मंगल सर्वांश से परिपूर्ण, सर्वमूल स्वरूप, सर्वसुख-निदान श्रीहरि को मन में पृथग्रूप से धारण किया था। वात्सल्य प्रेम के कारण ही श्रीवसुदेव-देव श्रीकृष्ण आविर्भूत हुए थे।

श्रीकृष्ण का जन्म संसारी मनुष्यों जैसा न होने का और एक प्रमाण यह है, कि पैदा होनेवाले संसारी बच्चे नङ्गे ही मा की कोख से भूमि में गिरते हैं। किन्तु श्रीकृष्ण पैदा हुये, तब भागवत के वर्णन में दिखाई देता है, कि वे चतुर्भुज शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी, किरीट कुण्डल आदि तरह तरह के भूषणों से भूषित, घने बालोंवाले और पीतवसन पहने हुए थे। संसारी बालक कभी भी माता के पेट से कपड़े गहने पहन कर पैदा नहीं होते।

श्रीभगवान ने इस प्रकार अपने चतुर्भुज रूप में आविर्भाव होने का कारण भी निज मुख से कहा है। द्वि-भुज ही उनका स्वरूप है; केवल ऐश्वर्यज्ञान-मिश्रित वात्सल्य-रस के दोनों रसिकों को पूर्व जन्म की याद दिलाने के लिये ही चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए थे।

इसलिये — "... आत्ममायया। पित्रोः संपश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः।" यहाँ 'आत्ममाया' और 'प्राकृतः शिशुः' ये दो शब्द अप्राकृत द्वि-भुज को ही उनके स्वरूप विग्रह के नाम से प्रमाणित कर रहे हैं। श्रीमज्जीवाचार्य पाद ने महा-संहिता का वाक्य लेकर कहा है,— "आत्ममाया का अर्थ है भगवत्-इच्छा। प्रकृति का अर्थ स्वरूप है।" स्वरूप में व्यक्त होने की वजह प्रकृति अर्थात् श्रीमन्नराकारमूर्ति ही श्रीकृष्ण का स्वरूप है।

इस प्रकार कंस के कारागार में देवकी की शय्या पर श्रीकृष्ण के आविर्भूत होने पर, वसुदेव उन्हें लेकर गोकुल में यशोदा के घर में घुस श्रीकृष्ण को वहाँ रख और यशोदा की शय्या से योगमाया को उठा ले आये। यहाँ कोई-कोई प्राचीन भागवत-गण कहा करते हैं कि कंस के कारागार में वसुदेव के घर प्रथम व्यूह वासुदेव और गोकुल में नन्द के घर योगमाया के साथ स्वयंरूप श्रीकृष्ण आविर्भूत हुए। वसुदेव ने यशोदा के प्रसूति घर में जाकर केवल एक लड़की ही देखा। वे कंस को धोखा देने के लिये उसी योगमाया को लेकर मथुरा लौट आये। इधर वसुदेव भी स्वयं रूप में प्रविष्ट हुए।

श्रीकृष्ण यशोदा-नन्दन और देवकी-नन्दन यह दोनों ही नाम से प्रसिद्ध हैं। वात्सल्य प्रेम के कारण श्रीवसुदेव-देवकी और श्रीव्रजराज-व्रजेश्वरी— दोनों ही जगह श्रीकृष्ण का आविर्भाव होने पर भी व्रजराज-व्रजेश्वरी में वह वात्सल्य प्रेम प्रचुर और ऐश्वर्यगंध से हीन है।

स्मार्त्त और वैष्णव

जो जीव देह में और मन में आत्मबुद्धि की वजह स्वयं फल-भोग-कामी हो अनेक प्रकार के कर्मों का आवाहन करता है, वह 'स्मार्त्त' नाम से अभिहित होता है। वह सब जीव भगवान के शरणापन्न नहीं हैं या साधुजन के प्रपन्न नहीं हैं, केवल अपनी अपनी दैहिक चेष्टा में ही तल्लीन हैं, उनका शासन करने के लिये स्मृति उक्त विधान रचित हुए हैं। जो सदा ही अपने स्वार्थ लाभ के लिये झूठी बात, प्रवंचना, असदाचार, परद्रव्य में लोभ, परहिंसा आदि असत् कार्य में नियुक्त हैं, उनकी सारी कुप्रवृत्तियों को संशोधित करने के लिये स्मृति का कठोर आदेश है। अतः स्मृति उक्त कार्य नित्य नहीं हैं—नैमित्तिक मात्र हैं अर्थात् किसी निमित्त का अवलंबन कर सृष्ट हुए हैं। किन्तु भगवत् कार्य-समूह नित्य हैं। कारण, उस जगह कार्य के फलभोक्ता भगवान हैं और वह केवल भगवत्-उद्देश्य के लिये ही बनता है, तथा बाद में भी नित्य काल तक बनता रहेगा। स्मार्त्त रघुनन्दन के अट्ठाईस तत्त्वोल्लिखित, 'दायभाग', 'संस्कार', 'शुद्धिनिर्णय', 'प्रायश्चित्त' 'श्राद्ध' आदि कार्य मनुष्य के सौ वर्ष परमायुकाल के लिये हैं, फिर, उसका भी फलभोक्ता मनुष्य ही है। इसमें जीव के नित्यस्वरूप के कर्त्तव्य का कुछ उल्लेख नहीं। दुर्गोत्सव, एकादश्यादि निर्णय, वृषोत्सर्ग प्रभृति कार्य भी भुक्ति-मुक्ति के लिये ही हैं। अतः यह नैमित्तिक हैं। किन्तु भगवान में शरणापन्न वैष्णवों के नैमित्तिक कर्म का आवाहन नहीं । वे सदा ही भगवान के उद्देश्य में भगवान को ही एकमात्र सर्वफल-भोक्ता जानकर नित्य भगवद्भक्ति का अनुष्ठान किया करते हैं। वह जानते हैं,—

स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥
(पद्मपुराण)

अर्थात् विष्णु ही सदा स्मरणीय हैं, यही एकमात्र विधि और विष्णु को कभी भूलना नहीं, यही निषेध है। इन्हीं दो विधि और निषेध-वाक्यों का अवलंबन कर समस्त विधि निषेध विधान समूह का जन्म हुआ है अर्थात् जिसके अवलंबन करने से भगवान सदा स्मरणपथ में आते हैं, वही विधि है। जिस कार्यद्वारा भगवान का विस्मरण होता है, वहीं निषेध है।

वैष्णवगण भगवान के शरणागत हैं, अतः उनका हरएक कर्म ही भगवान का सेवा तात्पर्य-विशिष्ट है। वैष्णवगण निरभिमान और कपटता रहित हैं, क्योंकि भगवान के साथ उनका संबंध स्थापित है। जगत में बड़े होंगे, दूसरों को छोटा बनायेंगे अथवा अनेक याग, यज्ञ, ध्यान, जप, तपस्या, श्राद्ध, तर्पण, अनेक तीर्थ भ्रमण, दुर्गोत्सव, अनेक अनेक बलिप्रदान, जगत् में सुनाम और परलोक में स्वर्गादि लाभ करने की इच्छा उनके हृदय में बिन्दुमात्र भी नहीं है या अपने जन्म-मृत्यु के हाथ से उद्धार पाकर मुक्ति सुख भोगेंगे, ऐसी आकांक्षा भी नहीं करते। कोटि-कोटि जन्म, यहाँ तक, कि नरक में रहने पर भी यदि आराध्यदेव की सेवा का लाभ हो, तो वही उनका प्रार्थितव्य विषय है। भगवत् प्रेम ही उनका प्रेम है। श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध में देखा जाता है, कि पुराने जमाने में अजामिल के लिये यमदूतों के साथ विष्णुदूतों का विचार हुआ था। उस प्रसङ्ग में यमराज प्रकृत जन से (यमदूतों से) कहा था —कि औरों की क्या बात, जैमिनि आदि या मनु आदि कर्मकाण्डी भी हरिजन का स्वभाव पूर्ण रूप से हृदयङ्गम कर नहीं सकते। कारण, उनकी बुद्धि वेद का मधुपुष्पित वाक्यसमूह द्वारा विजड़ित हो पड़ा है। उनकी विवेकशक्ति दैवीमाया द्वारा विमोहित है। इसीलिये बहु-विस्तारशील, आडम्बर से भरे स्मृति-उक्त कर्म समूह को ही वे बहुत मानते हैं। वे देह में आत्मबुद्धि की वजह 'कामुकाः पश्यन्ति कामिनीमयं जगत्' (अर्थात् कामुक लोग जगत् को कामिनीमय देखते हैं) इस न्याय के अनुसार शुद्ध वैष्णव की भक्तिचेष्टा में भी अनेक तरह के दोषारोपण किया करते हैं। वे पादोदक को जल समझते हैं, श्रीनारायण शूद्रस्पर्श से अपवित्र हो गये, फिर पंचगव्यादि द्वारा शोधन-योग्य समझते हैं अर्थात् साक्षात् भगवान में भी स्पर्श दोष संभव है और गोबर आदि भगवान को भी पवित्र कर सकता है, ऐसा समझते हैं। वे वैष्णव को भी जाति के भीतर मानते हैं, भगवत्-प्रसाद को सामान्य दाल-भात समझकर, उसके स्पर्श से

जाति जायगी, ऐसा मान करते हैं, शिष्य के पकाये हुए अन्न को गुरु के लेने पर या भगवान् को निवेदन करने पर गुरु की या भगवान् की जाति चली जायगी, ऐसा समझते हैं, आतप अन्न, भोजन, त्रिसन्ध्या स्नान, रास्ता ढँक कर चलना गर्द की धोती पहनना आदि कार्य के बीच भागवद् भक्ति निश्चित है, ऐसा मत रखते हैं, वैष्णव को कर्मफल-वाध्य जीव समझते हैं। आसुर वर्णाश्रम का उद्दिष्ट कार्य न करने पर दोष होगा, ऐसी विवेचना करते हैं, धर्म को समाज के अधीन समझते हैं। भगवत्‌विरोधी समाज का बहुमान करते हैं। किन्तु प्रमाणशिरोमणि सिद्धान्तसार श्रीगीता में स्वयं भगवान् ने कहा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

समस्त वर्ण और आश्रम धर्म का परित्याग कर मेरी शरणागत हो। मैं तुम्हें उन सब वर्ण और आश्रमोचित कर्त्तव्य कर्म के न करने में जितने पाप होंगे, उन सबसे मुक्त करूँगा।

उन्होंने तृतीय अध्याय में और भी कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

जो साधु व्यक्ति भगवत् उच्छिष्ट ग्रहण करते हैं, वे ही कर्ममार्गीय पंचसूनादि-कृत (मनु के अनुसार पाँच प्रकार की जीवहिंसा) पाप से मुक्त होते हैं। और जो स्वयं भोक्ता बनकर, अपने भोग के लिये उपकरण संग्रह करते या उसका भोग करते हैं, वह पाप भोजन करते हैं। श्रीगीता में भगवान ने और भी कहा है—

"यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः ।"

यज्ञ अर्थात् परमेश्वर विष्णु के लिये कर्म करना ही कर्तव्य है, नहीं तो कर्म बन्धन का कारणमात्र है। विष्णु के लिये कर्म ही भक्ति है, वह क्रम से पराभक्ति में परिणत हो सकती है। श्रीनारद-पंचरात्र में कहते हैं—

सुरर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया ।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता यया भक्तिः परा भवेत् ॥

दूसरी जगह,—

लौकिकी वैदिकी वापि या क्रिया क्रियते मुने ।
हरिसेवानुकूलैव सा कार्या भक्तिमिच्छता ॥

जो भक्ति की इच्छा करते हैं, वह लौकिक हो या वैदिक ही क्यों न हो जो कुछ कार्य करेंगे, हरिसेवा के अनुकूल ही करेंगे। भक्त का प्रत्येक कार्य हरिसेवा मूलक होने के कारण, सभी पापनाशकारी और निर्गुण पराभक्ति के लाभ का सहायक है। प्राकृत व्यक्तियों का प्रत्येक कार्य निज भोग के लिये होने की वजह पापमय है। स्मार्तों के विचार सत्कार्यादि भी सम्पूर्ण पापनिर्मुक्त नहीं हैं। जैसे सात्विक द्रव्य भोजन एक सत्कार्य है किन्तु कर्ममार्गी जो सात्विक भोजन ग्रहण करते हैं, उसके द्वारा भी जीव-हिंसा होती है। कारण, फल मूल और जीव उन्हें काटकर भक्षण करने पर भी जीवहिंसा पाप से निर्मुक्त होने का उपाय नहीं है। किन्तु शरणागत भक्त यथाशास्त्र हरि के उद्देश्य से भक्तिपूर्वक फल, मूल, जल, जो कुछ अर्पण करता है भगवान् उसे ही आदर सहित ग्रहण करते हैं, तथा वही भक्त जब निर्गुण भगवत् उच्छिष्ट ग्रहण करते हैं, तो उसे कोई भी पाप स्पर्श नहीं कर सकता। श्रीमद्भागवत के ११ श स्कन्ध के वचन का कविराज गोस्वामी प्रभु ने अनुवाद कर कहा है

चारो वर्णाश्रमी, यदि कृष्ण भजन ना करे ।
निज कर्म में तल्लीन रह रौरव में पड़ मरे ॥

भगवद्भजन के बिना अपने-अपने वर्ण और आश्रमोचित कर्म करने पर भी, उन्हें पाप भोगना पड़ता है। कारण, भगवद्भक्ति के सिवा सब चेष्टा ही भोगमूला अर्थात् पाप युक्त हैं। एक मात्र भगवत्सेवामूलक कार्य ही पाप से निर्मुक्त है।

श्रीभगवान् ने पद्मपुराण में कहा है

"मन्निमित्तं" कृतं पापमपि धर्म्माय कल्पते ।
मामनादृत्य धर्मोऽपि पापं स्यान्मत्प्रभावतः ॥

मेरे लिये किये गये पाप भी धर्म रूप में परिणत हैं। और मेरा अनादर कर यदि धर्म भी किया जाय तो वह मेरे प्रभाव से पाप में बदल जाता है। हम रामानुज शाखा के उद्धतन किसी महापुरुष के चरित्र से इस विषय का प्रमाण देंगे। श्रीजीवपाद ने श्रीभागवत की टीका में इस आख्यायिका का उल्लेख किया है—पूर्वकाल में दाक्षिणात्य प्रदेश में तिरुमङ्गाई नामक एक श्रीविष्णुभक्त थे। युवाकाल से ही वह भगवान् की सेवा के उद्देश्य से अनेक तीर्थों का पर्यटन कर घूम रहे थे। तीर्थ-पर्यटन के समय चार सिद्ध पुरुष उनके शिष्यत्व

मे आये। प्रथम शिष्य का नाम 'तर्कचूड़ामणि' द्वितीय शिष्य का नाम 'द्वार-उन्मोचक' तृतीय शिष्य का 'छायाग्रह' अर्थात् किसी की भी छाया का स्पर्श करने से उसकी गति रुक जाती थी, चतुर्थ शिष्य का नाम 'जलोपरिचर' अर्थात् वह जल के ऊपर परिभ्रमण कर सकते थे। उक्त चारों शिष्यों के साथ तीर्थ पर्यटन करते-करते एक बार तिरुमङ्गाई श्रीरङ्गनाथ के मन्दिर के सामने आ उपस्थित हुए। देखा, कि मन्दिर भग्नप्राय, अति क्षुद्र-विस्तार और चमगिदड़ों के विश्राम भूमि के रूप में परिणत हो गया है; चारों ओर घने जंगल में सिंह-व्याघ्रादि के भय से सेवकगण भयभीत हो दिन के समय केवल एक बार आकर श्रीरंगनाथ की पूजा आदि कर आया करते हैं। यह देख तिरुमङ्गाई आलवार के प्राण में अतीव दुःख और क्रोध का संचार हुआ। वह सोचने लगे, विषयी भोगीगण सुन्दर प्रासाद में बैठकर सौम्य कामिनियों के साथ तरह-तरह की क्रीड़ा रस में विभोर हैं और जो विश्वेश्वर, राजराजेश्वर हैं उस प्राण के देवता को यह क्षुद्र भग्नप्राय मन्दिर में छोड़कर रख दिया है। आज कृष्ण का संसार असुर लूटकर खा रहे हैं।

उनके पास स्वयं पैसा-कौड़ी न था। अन्त में वह चारों शिष्यों के साथ जहाँ-जहाँ किसी अति धनी का नाम सुनते, उसी जगह भिक्षा के लिये उपस्थित होते। इन दुर्भाग्य व्यक्तिगण उन्हें अर्थदान देना तो दूर रहा, चोर-लुटेरा शब्द से संबोधित करते। कोई साधु को अर्थ की क्या आवश्यकता है इत्यादि व्यंग वाक्य कहकर भगाने लगे। किन्तु तिरुमङ्गाई किसी प्रकार भी अपने संकल्प से न टले। उन्होंने जब देखा कि धनीगण भगवान का अर्थ चोरी करके खा रहे हैं और अपने को धनी समझ रहे हैं, तब इन सब भगवान के विश्वासघाती तस्कर धनियों से जिस उपाय से भी हो, भगवान् का अर्थ भगवान् ही में लगाने के कृत संकल्प हुए। तिरुमङ्गाई ने शिष्यों के साथ एक डाकू का दल बनाया। उनके तर्कचूड़ामणि शिष्य विपक्षीगण को तर्क में फँसाते, द्वारउन्मोचक शिष्य धनागार का दरवाजा खोल देते, छायाग्रह गतिविधि का रोध कर देते, और जलोपरि चर शिष्य परिखावेष्टित राजपुरी में प्रवेश कर समस्त धन-राशि लूटकर लाने लगते।

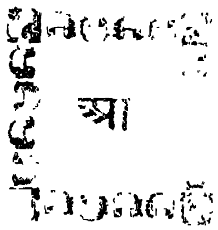
इसके बाद विपुल अर्थ के संगृहीत होने पर तिरुमङ्गाई ने अनेक देशों से हजारों कलाकारों को बुलाकर सप्तप्राकार-विशिष्ट परमरमणीय श्रीमन्दिर का निर्माण कराया। किन्तु तिरुमङ्गाई स्वयं शाम के समय अपने हाथ से खाना पका कर, विष्णु को भोग लगाकर दिन में केवल एक बार ग्रहण करते। वह भगवान के शरणागत हो सब इन्द्रियों द्वारा भगवान की सेवा में नियुक्त थे और शिष्यों को उन्होंने भगवान की सेवा में नियुक्त कर रखा था। वह उर्द्धरेता जितेन्द्रिय वीर पुरुष थे।

एक नैतिक या स्मार्त की दृष्टि से तिरुमङ्गाई का उपर्युक्त कार्य एक डाकू का काम होगा, किन्तु तिरुमङ्गाई स्वयं ऐसे डाकूदल के नेता होकर शिष्यगणों के साथ भगवान की सेवा के उद्देश्य से इस काम को किया था। इस कार्य में उनकी बिन्दुमात्र भी भोग या प्रतिष्ठा की आशा न थी। उन्होंने देखा, कि सारा धन श्रीपति नारायण का ही है। केवल मोह के वश हो धनी लोग भगवान की सेवा के अर्थ से अपने अपने भोग तृप्ति कर रहे थे। अतएव यही प्रकृत डाकू हैं। अतः उन सब दस्युओं के पास से जब सीधी तरह से रुपया न निकला तब भगवान की सेवा के लिये किसी भी उपाय से ग्रहण करना उचित था। तिरुमङ्गाई का यह इस डाकू का काम ही हरिजनों के विचार में उत्तम ज्ञाति और तृणादपि सुनीचता है जैसे हनुमान का लंका दहन भी भगवद्भक्ति और गुरुसेवा भी तृणादपि सुनीचता का परिचय है। कारण, इस काम में उनकी अपनी भुक्ति मुक्ति की गन्ध भी नहीं है और भुक्ति-मुक्तिमूलक जितने काम जगत की दृष्टि में अतीव सत्कार्य के रूप में विवेचित हैं, वे भी असत कारण से वह एकमात्र सत्वस्तु भगवान के उद्देश्य से नहीं बनती। अतएव श्रीभागवत के उपदेश में यह कहा गया है—

(भा. ३।२३।५२)

नेह यत्कर्म धर्म्माय न विरागाय कल्पते।
न तीर्थपादसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥

समन्वय



आजकल बहुतेरे लोग समन्वयवाद के पक्षपाती हैं। किन्तु वास्तव में समन्वय क्या है, इस बारे में अक्सर सभी लोग अनभिज्ञ हैं। अपना अपना मनोधर्म उच्छृंखलता, यथेच्छाचार आदि बिना बाधा के चलाने के पक्ष में यह एक सरल रास्ता हो पड़ा है। समन्वयवादी कहते हैं, कि "एक-एक मत, एक एक रास्ता मात्र है", किन्तु गन्तव्य स्थान सभी के लिये एक ही है। इसलिये जिस व्यक्ति का जो कुछ मनोधर्म है, वह उसे ही एक मत कह कर चला सकता है। वे लोग कहा करते हैं, कि व्यभिचारमय धर्मराह के लेने पर भी यदि कोई मन-चित लगाकर जानेवाले रास्ते पर चले, तो वह भी उसी एक ही स्थान पर पहुँचेगा। उनका उदाहरण है, जैसे राजमहल के अनेक द्वार हैं, उनमें किसी से भी जाने पर राजा का दर्शन मिल सकता है। फिर, यदि कोई कुरास्ते से भी जाना चाहे, तो वह भी राजा का दर्शन पायेगा। यह सब लड़कों की लड़कपन की बात सुनकर मनोधर्म शील जगत् के सभी लोग मुग्ध हैं, किन्तु सारग्राही तत्त्वविद्गण सच्चे सिद्धान्त का ही सदा आदर किया करते हैं। श्रीगीतोपनिषद्, उत्तर मीमांसा और ब्रह्मसूत्र का अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवत में जैसा अपूर्व समन्वय है सारग्राहीगण उसे ही ले लेते हैं। सिद्धान्तसार श्रीगीतोपनिषद् का उपक्रम अर्थात् आरम्भ में शरणागति या भगवान् में आत्मसमर्पण, मध्य में बार-बार भक्ति की श्रेष्ठता संस्थापन और सबके अन्त में श्रीभगवान से अपने मुख द्वारा प्रियतम अर्जुन के प्रति गुह्यतम उपदेश में ऐकान्तिक शरणागति या भगवद्भक्ति की ही शिक्षा मिलती है। अतएव भगवद्भक्ति का सिद्धांत ही सिद्धांतसार श्रीगीता का सिद्धांत है। कर्म-ज्ञान-योगादि के अवतारणा पूर्वपक्ष मात्र है। भक्ति का उद्देशक होने ही से उनकी सार्थकता है। नहीं तो बन्धन के कारण होते हैं—यह भी गीता में बारंबार आलोचित हुआ है। भगवान ही एकमात्र स्वतंत्र पुरुष हैं—अन्यान्य देवतागण उन्हीं के अधीनतत्त्व हैं; अन्यान्य देवपूजा का फल गीता की भाषा में 'अन्तवत्' अर्थात् नश्वर है। अतः भगवत् आराधना ही माया से उत्तीर्ण होने का एकमात्र रास्ता है। एकमात्र उनके भक्त का ही विनाश नहीं है। ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के प्रथम-द्वितीय पाद में भी समस्त मनोधर्मयुक्त दार्शनिक मतसमूह निरसन कर अचिन्त्य शक्तिमान ब्रह्म की ही प्रतिष्ठा की गई है। 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र में ब्रह्म का लक्षण वर्णित हुआ है। सूत्र का सहजार्थ छोड़कर गौणार्थ लेकर शङ्कराचार्य ने जो भाष्य किया है, वह बौद्ध मोहन के लिये आचार्य का कैतवमात्र है। सुतरां "जन्माद्यस्य यतः" यह सूत्र लेकर जो अकृत्रिम भाष्य प्रोज्झित कैतव (कपटताशून्य) श्रीमद्भागवत आरम्भ हुआ है, उसमें वेद का सर्वदेशव्यापी उपदेशसार प्राप्त होता है। केवल द्वैत या अद्वैतवाद वेद का एकदेशी सिद्धान्त मात्र है। वेद में जो अद्वैत पर वाक्य समूह हैं, उसकी अपेक्षा अधिक परिमाण में द्वैत पर वाक्यसमूह दिखाई देते हैं। इसलिये जहाँ द्वैत और अद्वैत पर दोनों वाक्य हैं, वहाँ द्वैत ही प्रबल है, किन्तु अद्वैत-वाक्य भी निष्फल नहीं हैं। जहाँ श्यामवर्ण और गौरवर्ण दोनों तरह से ब्राह्मण कुमार का वर्णन है उस वाक्य में दोनों के अद्वैत सिद्ध होने पर भी द्वैत ही प्रबल है। आचार्य्य शङ्कर ने केवल अद्वैत का ही प्रचार किया है। श्रीमन्मध्वाचार्य ने केवल द्वैतवाद ही का प्रचार किया है। श्रीरामानुज ने चित् अचित इन दोनों के विशिष्ट हो एकमात्र ईश्वर ही वस्तु है, इस तत्त्व का प्रचार किया है। श्रीनिम्बादित्य स्वामी ने जीव और ईश्वर में युगपत भेद और अभेदवाद का प्रचार किया है और श्रीविष्णुस्वामी ने वस्तु के एक होने पर भी वस्तुतः ब्रह्मत्व और जीवत्व में नित्य वैचित्र्य इस विशुद्ध अद्वैतवाद का प्रचार किया है। कलियुग-पावनावतार श्रीगौरसुन्दर ने उक्त सर्व आचार्यगण के मत से जो कुछ परस्पर अभेद था, उन सबका समन्वय विधान किया है। श्रीगौरसुन्दर स्वयं भगवान हैं, इसलिये भगवत्प्रणीत जो भागवत या सात्वत धर्म है, उसके वही पूर्ण रूप से जाननेवाले हैं। अतः एकमात्र उन्हीं के द्वारा सर्वाङ्गीन दोषरहित उन्हीं के श्रीमुख से कथित वेद के सर्व देशव्यापी नित्य धर्म की प्रतिष्ठा सम्भव है। उन्होंने नास्तिक बौद्धवाद के उच्छेदक और वेदप्रतिष्ठापक शङ्कराचार्य को आचार्य कहकर स्वीकार किया है। शङ्कराचार्य ने असुर-मोहन के लिये भगवान्

के ही आज्ञापालन रूप में सेवा किया और वे परवर्ती सात्वत आचार्यगण के प्रचार के लिये मंच तैयार कर गये। श्रीगौरसुन्दर निज सर्वज्ञता प्रभाव से जिस जिस आचार्य के उपदेश में जो-जो अभाव थे, उन्हें पूर्ण कर श्रीमध्व के सच्चिदानन्दविग्रह, श्रीरामानुज के शक्ति सिद्धान्त, श्रीविष्णु स्वामी के शुद्ध अद्वैत सिद्धान्त और श्रीनिम्बादित्य के द्वैताद्वैत सिद्धान्त को ग्रहण कर अचिन्त्य भेदाभेद नाम से अपूर्व समन्वय सिद्धान्त का प्रचार कर गये। इसी अचिन्त्य भेदाभेद मत से वेद सभी जगह स्वीकार किया गया है। ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में मुण्डक श्रुति का कहना है—बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में अनन्तविरोधी गुणसमूह अविरोध में युगपत् नित्य विराजमान हैं; यही अचिन्त्य अर्थात् ऐसा विशिष्ट नर-युक्ति का अगम्य है अर्थात् एक ही समय में ब्रह्म में अतीव सुन्दर स्वरूप में बृहत्त्व और सूक्ष्मत्व, सविशेषत्व और निर्विशेषत्व, सरूपता, अरूपता, विभुता और श्रीविग्रह, सर्वज्ञता और नर-भावत्व, अजन्म और जन्मवत्ता, अनन्त गुण के समावेश में यही अचिन्त्य शक्ति स्वीकार न करने पर ब्रह्म को ससीम जीव युक्ति के अधीन कर उसकी पराशक्ति की खर्वता की गई है।

"परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते ।
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥"

श्वेताश्वतर-कथित इस श्रुति में ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति को पराशक्ति की आख्या दी गई है; और उस शक्ति के स्वाभाविक तीन प्रभाव हैं। ज्ञान या चिन्मात्र उपलब्धि भगवत्-शक्ति का आंशिक प्रभावमात्र है। अतएव श्रीगौर सुन्दर ने वेद का समन्वय कर कहा कि भागवत में नित्य सत्त्व, नित्य चेतनता तथा नित्य आनन्द वर्त्तमान है। ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति स्वीकार न कर ब्रह्म को निर्विशेष में चिन्मात्र कहने से वेद के एकदेश का विचारमात्र होता है। महाकाश और घटाकाश, बिम्ब और प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से उपाधि परिच्छिन्न ब्रह्म को ही जीव-भ्रान्ति के प्रतिपादन द्वारा बृहदारण्यक श्रुति के "यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति" अर्थात् जैसे छोटी छोटी चिनगारियाँ अग्निकुण्ड से इधर उधर भागती हैं, मुण्डक में 'यथाग्नेः पावकात्' "द्वासुपर्णा सयुजा" इत्यादि जीव के नित्य-सत्त्वा-प्रतिपादक अनेक वाक्य तथा गीतोपनिषद् का 'सूक्ष्माणामप्यहं जीवः' 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' जीव अति सूक्ष्म है, जीव मेरा ही अंश और नित्यसत्त्वविशिष्ट इत्यादि वाक्यों की अवमानना होती है। अतएव कलियुग पावनावतार श्रीगौरसुन्दर ने वेद के और वेदानुगशास्त्र के समस्त देशव्यापी उपदेश का समन्वय कर जीव में और ब्रह्म में गुणगत अभेद और परिमाणगत भेद इसी नित्य भेदाभेद के सम्बन्ध में जगत् में प्रतिष्ठा किया और अचिन्त्य शब्द द्वारा वेद के 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' ब्रह्मसूत्र के "तर्काप्रतिष्ठानात्" इत्यादि वाक्यों की सार्थकता प्रतिपादन किया।

तत और अतत, चित् और अचित्, फरद और मिश्री को एक करना समन्वय करना नहीं कहते। जिस वस्तु का जैसा योग्य अवस्थान है, उसे उसी अवस्थान में रखकर सज्जित करना ही प्रकृत समन्वय कहा जाता है। छात्रगण जब पद्य का गद्य में अन्वय करते हैं, तब सबसे पहले कर्त्ता, उसके बाद कर्म और उसके बाद क्रियाविशेषण और सबके अन्त में क्रिया का समावेश किया करते हैं। कर्त्ता भी वही, कर्म भी वही और क्रिया भी वही ऐसा एकाकार करने से समन्वय नहीं होता। आज कल का समन्वय मालूम होता है, कि एकाकार के ही उद्देश से है। शास्त्र का मर्म समझ न सकने पर, और मनोधर्म के वशीभूत होकर सभी एक "जो काली वही कृष्ण", "जो राम वही श्याम" इत्यादि वाक्यों का खूब प्रचार हो रहा है। श्रीमन्महाप्रभु ने सिद्धान्तग्रन्थ ब्रह्मसंहिता द्वारा इन सब तत्त्वों का यथार्थ स्थान निर्दिष्ट कर अपूर्व समन्वय स्थापन किया है। श्रीगीता में भी यही तत्त्व उपदिष्ट हुआ है। अद्वयज्ञान में वस्तु के एक होने से भी उसमें जो विचित्रता है; भूमण्डल के एक होने पर भी उसमें जो विभिन्न देश, समुद्र, नदी आदि का विशेष स्थान निर्दिष्ट है, उसका प्रदर्शन न करने से प्रकृत समन्वय नहीं होता। श्रीमन्महाप्रभु का कृष्ण क्या तत्त्व है, राम क्या तत्त्व है, नारायण क्या तत्त्व है, विष्णु क्या तत्त्व है, असंख्य अवतारगण क्या तत्त्व हैं, ब्रह्म-परमात्मा क्या तत्त्व है, देवतागण क्या तत्त्व है, उनका यथार्थ स्थान और अवस्थान क्या क्या है; सभी का निर्देशकर अद्वयज्ञान में सभी तत्त्वों का यथार्थ समन्वय विधान किया है। श्रीगौरसुन्दर का समन्वय चित्समन्वय है, चिज्जड़समन्वय नहीं है। उनके समान

द्वितीय महामतन्त्वयाचार्य जगत में अभी तक आविर्भूत नहीं हुआ है। जिनने श्रीमन्महाप्रभु ... आदि के सारग्राही का यथार्थ भाव के समीप विचार किया वे ही इसे समझ सकते हैं। अतएव हमलोग श्रीकविराज गोस्वामी के आनुगत्य में—

"श्रीचैतन्य प्रभुं वन्दे बालोऽपि यदनुग्रहात्।
तरेन्नानामतग्राहव्याप्तं सिद्धान्तसागरम्॥"

अज्ञ व्यक्ति भी जिनके अनुग्रह से नाना प्रकार के मतरूप मगर घड़ियालों से भरे सिद्धान्तसमुद्र उत्तीर्ण होते हैं, उन्हीं श्रीचैतन्य प्रभु की वंदना करते हैं।

नित्यधर्म का नामान्तर वैष्णवधर्म है

(गताङ्क से आगे)

बा०—श्रीकृष्ण की अनन्त शक्तियों में 'तटस्थ' नाम की एक शक्ति है। चित्जगत् और जड़जगत् के बीच दोनों जगत् के मेल से एक तत्त्व इसी तत्त्व से निकलता है; उसका नाम जीव-तत्त्व है। जीव की बनावट केवल चित्परमाणु है। लघु होने की वजह वह जड़जगत् के साथ आबद्ध होने के योग्य है। किन्तु शुद्ध गठन होने की वजह एक चिद्बल पाने ही से वह परम आनन्द में चिज्जगत् का नित्यनिवासी हो सकता है। वह जीव दो प्रकार का है - मुक्त अर्थात् चिज्जगत् निवासी और बद्ध अर्थात् जड़जगत् निवासी। बद्ध जीव दो प्रकार का होता है—उदित विवेक और अनुदित विवेक। मनुष्यों में जिनमें परमार्थ की चेष्टा नहीं है और पशु-पक्षिगण, ये अनुदित विवेक बद्ध जीव हैं। जो मनुष्य वैष्णव-धर्मावलम्बी हैं, वे उदित विवेक हैं क्योंकि वैष्णवों के अतिरिक्त और किसी में भी परमार्थ चेष्टा नहीं है। इसीलिये वैष्णवसेवा और वैष्णवसङ्ग सब कर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ कह कर शास्त्रों में वर्णित हुआ है। जो शास्त्रीय श्रद्धा के अनुसार उदित विवेक जीव के कृष्णनाम के अनुशीलन में प्रवृत्ति का उदय होता है, उसी में वैष्णवसङ्ग सहज में प्रतिष्ठित होता है। अनुदित-विवेक पुरुषगण शास्त्रीय श्रद्धा के अनुसार कृष्ण का नाम नहीं लेते, केवल परम्परा आचार के अनुसार कृष्ण-मूर्ति की सेवा करते हैं। अतएव वैष्णव सम्मान की प्रतिष्ठा उनके हृदय में नहीं जमती।

ला०—कृष्ण तत्त्व और जीव तत्त्व समझ गया। अब मायातत्त्व समझा दीजियेगा।

बा०—माया अचित् वस्तु है। माया एक कृष्ण-शक्ति है। इसका नाम अपरा शक्ति या बहिरंगा शक्ति है। जैसे रोशनी की छाया रोशनी से दूर रहती है, उसी तरह माया कृष्ण और कृष्णभक्त से दूर रहती है। माया जड़जगत के चौदह भुवन, क्षिति, जल, अग्नि, आकाश, समीर, मन, बुद्धि और जड़ीय देह में मैं स्वरूप में अहङ्कार पैदा करता है। बद्धजीव के स्थूल और लिङ्ग दोनों देह मायिक हैं। मुक्त होनेपर जीवका चिद्देह साफ होता है। जीव जितना ही माया में फँसा रहता है, उतना ही कृष्ण से दूर रहता है। जितना ही माया से अलग रहता है उतना ही कृष्ण के सम्मुख होता है। बद्धजीव के भोग का स्थान-मायिक ब्रह्माण्ड कृष्ण की इच्छा से पैदा होता है। इस मायिक जगत् में जीव के नित्य रहने का स्थान नहीं है। यह जगत् जीवका केवल कारागार-मात्र है।

ला०—प्रभो! अब आप माया, जीव और कृष्ण का नित्य सम्बन्ध बताइये।

बा०—जीव चिद्‌गणु है। सुतरां नित्य कृष्ण का दास है। मायिक जगत् जीव का कारागार है। यहाँ सत्सङ्ग के बल से नामानुशीलन कर कृष्ण की कृपा से जीव चिज्जगत् में आ के सिद्ध चिन्मयरूप में कृष्णसेवा रस का भोग करता है। यही तीन तत्त्वों के सम्बन्ध का निगूढ़ तत्त्व है। इसका ज्ञान न होने पर भजन कैसे हो सकता है?

ला०—यदि विद्या ही के द्वारा ज्ञान लाभ करना हो, तो वैष्णव होने से पहले कैसे पाण्डित्य का प्रयोजन होगा?

बा०—वैष्णव होने के लिये किसी विद्या या किसी भाषा की शिक्षा नहीं लेनी पड़ती। जीव का मायाभ्रम दूर करने के लिये सद्‌गुरु सद्वैष्णव के चरण में आश्रय लेना चाहिये। वह वाक्य के द्वारा और निज आचरण द्वारा सम्बन्ध ज्ञान का उदय करा देते हैं। इसी का नाम दीक्षा और शिक्षा है।

ला०—दीक्षा शिक्षा के बाद क्या करना होता है?

बा०—सच्चरित्रता के साथ कृष्णानुशीलन करना होता है। इसका नाम अभिधेय तत्त्व है। यह तत्त्व वेदादि समस्त शास्त्रों में प्रबल रूप से अभिहित होने से श्रीमन्महाप्रभु ने इसका नाम अभिधेयतत्त्व रखा है।

ला०—(आँखों में आँसू भरकर) गुरो! मैं आपके श्रीचरण में आश्रय लेता हूँ। आपकी सुमिष्ट कथा सुनकर मुझे सम्बन्ध ज्ञान हुआ और उसके साथ-साथ आपके कृपाबल से वर्णगत, विद्यागत और शिक्षागत समस्त पूर्व संस्कार दूर हो गये। आप कृपा करके मुझे अभिधेयतत्त्व की शिक्षा दें।

बा०—अब चिन्ता नहीं है। आप में जब दीनता आ गई है, तो श्रीकृष्ण चैतन्य ने आप पर अवश्य कृपा की है। जड़जगत् में आबद्ध होकर जीव के लिये साधुसंग ही एकमात्र उपाय है। साधु गुरु कृपा करके भजन शिक्षा देते हैं। उसी भजन के बल से धीरे-धीरे प्रयोजन का लाभ होता है। हरिभजन ही अभिधेय है।

ला०—मुझे बताइये, कि क्या करने से हरिभजन होता है?

बा०—भक्ति ही हरिभजन है। भक्ति की तीन अवस्था हैं—साधन, भाव और प्रेम। पहले 'साधन' भक्ति की साधना करते करते 'भावोदय' होता है। भाव के सम्पूर्ण होने पर उसे 'प्रेम' कहते हैं।

ला०—साधन कितने तरह का है और किस तरह किया जाता है, बताइये।

बा०—'श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ में श्रीरूप गोस्वामी ने इन सब विषयों पर विस्तृत रूप से लिखा है। मैं संक्षेप में बताता हूँ। साधन के नव प्रकार हैं—

"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥"
(भा० ७।५।२३)

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन—यही नव तरीके साधनभक्ति के श्रीमद्भागवत में लिखे गये हैं। इन्हीं नव प्रकार को लेकर इनके अङ्ग प्रत्यङ्ग के साथ चौंसठ तरह का बताकर गोस्वामीपाद ने वर्णन किया है। इसमें एक विशेष बात यह है, कि साधनभक्ति वैधी और रागानुगा भेद से दो प्रकार की है। इनमें वैधी भक्ति नव तरह की है। रागानुगा साधनभक्ति केवल व्रजवासियों के अनुगत होकर उनकी तरह मानस में कृष्णसेवा है। जो व्यक्ति जिस तरह की भक्ति का अधिकारी है, वह उसी प्रकार का साधन करेगा।

ला०—साधनभक्ति में किस तरह का अधिकार विचार होता है?

बा०—जो श्रद्धावान व्यक्ति विधि के अधीन रहने का अधिकारी है, गुरुदेव उसे पहले साधनभक्ति की शिक्षा देंगे। जो रागानुगा भक्ति के अधिकारी हैं, उन्हें रागमार्गीय भजन शिक्षा देंगे।

ला०—अधिकार किस तरह जाना जायगा?

बा०—जिनकी आत्मा में रागतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती और जो शास्त्र सम्मति के अनुसार उपासनादि की इच्छा करते हैं, वह वैधीभक्ति के अधिकारी हैं। जो हरिभजन में शास्त्र की बताई राह की इच्छा नहीं करते किन्तु उनकी आत्मा में स्वाभाविक हरिभजन की प्रेरणा है, वे रागानुरागा भजन के अधिकारी हैं।

ला०—प्रभो! मेरे अधिकार का निर्णय कीजिये, तब मैं अधिकार तत्त्व को समझ सकूँगा। वैधी और रागानुगा भक्ति को मैं समझ नहीं पाता हूँ।

बा०—अपने ही चित की आपही परीक्षा करने पर स्वयं अधिकार को समझ सकते हैं। आपके मन में क्या ऐसा है, कि शास्त्र-सम्मति के बिना भजन नहीं हो सकता?

ला०—मैं समझता हूँ कि शास्त्रमत द्वारा साधन भजन करने से विशेष लाभ होता है। किन्तु मेरे मन में आजकल यह बात भी समाई है, कि हरिभजन रस का समुद्र है, वह धीरे धीरे भजन-बल से पाया जा सकता है।

बा०—अब देखिये, शास्त्रविधि आपके हृदय का प्रभु है। अतएव आप वैधी भक्ति का अवलंबन कीजिए। धीरे-धीरे रागतत्त्व हृदय में उदित होगा।

यह सुनकर लाहिड़ी महाशय सजल नयन हो बाबाजी के चरण में गिरते हुए कहने लगे—आप कृपा करके मुझे जो अधिकार हो, वही प्रदान करें। मैं अब अनधिकार चर्चा नहीं किया चाहता। बाबाजी ने उनका आलिंगन कर बैठाया।

ला०—मैं अब कैसा भजन करूँ, स्पष्ट बताइये।

बा०—आप हरिनाम ग्रहण कीजिये। जितने प्रकार के भजन हैं, सर्वापेक्षा नामाश्रय भजन ही बलवान है। नाम और नामी में भेद नहीं है। निरपराध नाम लेने से सब तरह की सिद्धियों का लाभ होता है। आप विशेष श्रद्धा के साथ नाम ग्रहण करें। नाम करते करते नवों तरह का भजन ही हो जाता है। नाम उच्चारण करने से श्रवण कीर्तन दोनों होता है। नाम के साथ हरिलीला स्मरण और मन से पाद सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन सभी होते हैं।

ला०- मेरा चित्त व्यग्र हो गया है। प्रभो कृपा करने में विलम्ब न कीजिए।

बा०—महोदय, आप निरपराध हो, निरंतर यही कहिये —

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

यह कहते कहते बाबाजी ने लाहिड़ी महाशय के हाथ में एक तुलसी की माला दी। लाहिड़ी महाशय उस माला पर उक्त नाम उच्चारण करते-करते रो पड़े। कहने लगे,—प्रभो! आज मैंने कैसा आनन्द लाभ किया है, नहीं बता सकता। आनन्द में अचेत होते बाबाजी के पैरों के पास पड़ गये। बाबाजी ने उन्हें यत्नपूर्वक सम्हाला। बहुत देर बाद लाहिड़ी महाशय बोले,—मैं आज धन्य हुआ। ऐसा सुख मैंने कभी नहीं पाया था।

बा०—आप धन्य हैं जो श्रद्धापूर्वक हरिनाम ग्रहण करते हैं। आपने मुझे भी धन्य बना दिया।

उस दिन से लाहिड़ी महाशय माला लेकर अपनी कुटी में निर्भय हो नाम लेने लगे। इस प्रकार कुछ दिन बीत गये। लाहिड़ी महाशय इस समय द्वादश तिलक देते हैं। प्रसादान्न छोड़कर और कुछ भोजन नहीं करते। नित्य दो लाख नाम जपते हैं। शुद्ध वैष्णव को देखते ही दण्डवत् प्रणाम करते हैं। परमहंस बाबाजी को नित्य दण्डवत् प्रणाम कर तब दूसरा काम करते हैं। अपने गुरुदेव की सदा सेवा करते हैं। वृथा बात और फ़जूल के गानों में उनकी रुचि नहीं है। लाहिड़ी महाशय अब वह लाहिड़ी महाशय नहीं हैं। अब वे वैष्णव हो गये हैं।

(क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (बधान् मठ).
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीश्यामगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १३ हनुमान रोड, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपुरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
आलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणगड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चोरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० बासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर.

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वुर, वैष्ट गोदावरी, मद्रास

Registered No. A. 2191.

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

14th Sep. 1932

हृषीकेश शुक्लपक्ष गौराब्द ४४६

भाद्रपद पूर्णिमा संवत् १९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १।।)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

क—त्रिवृक्ष-स्वामी बल

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः



[illegible]

वर्ष १ — भाद्रपद-पूर्णिमा गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, १४ सितम्बर सन् १९३२ ई० — संख्या २२

नम्र-निवेदन

(२१)

अब समझा मैं प्रभो, तुम्हारे चरण-परस ते।
हैं अशोक अभयामृत-पूरन सब-छन रहते॥
सभी छोड़कर पड़ा हुआ हूँ पद-कमलों में।
शरन तुम्हारे हुआ नाथ, इन चरण-तलों में॥
पद-कमलों में रखना मुझको नाथ हमारे।
और न रक्षक रहा जो भव सागर से तारे॥
नित्यदास हूँ मैं, समझा अब मतलब सारा।
अब मेरे पालन का प्रभुजी, काम तुम्हारा॥
पाया बहु दुख मैं स्वतन्त्र जीवन भरने में।
सब दुख भागे दूर कमल-पद के वरने में॥
जिन चरणों के लिये तपस्या रमा लगाई।
जिन चरणों को पाके शिव ने शिवता पाई॥
जिन चरणों को पाके ब्रह्मा भये कृतारथ।
जिन चरणों से नारद मुनि मन मिले पदारथ॥
उन चरणों को अपने शिर पर धर ध्याता हूँ।
नाच-नाच आनन्द मगन पदगुण गाता हूँ॥
संसारी विपदों से तो यह अवशि उधारे।
भक्ति-विनोदहि पार करें ये चरण तुम्हारे॥

नन्दीश्वर पर्वत के दक्षिण बरसानु नामक एक पर्वतराज विराजित हैं। उस बरसानु पर्वत की उपत्यका में वृषभानु नामक एक गोपराज निवास करते थे। वृषभानु अपनी सहधर्मिणी कृत्तिका के साथ वहाँ निवास करते हुए श्रीहरि की आराधना किया करते थे। भादों महीने की शुक्ल-अष्टमी तिथि में विशाखा नक्षत्र में दोपहर के समय वृषभानु राज के घर एक कन्यारत्न का आविर्भाव हुआ; कन्यारत्न के आविर्भाव के समय, श्रीकृष्ण के जन्म समय की तरह चारों ओर सुप्रसन्नता छा गई, सज्जनों के हृदय में खूब आनन्द का सञ्चार होने लगा। वृषभानुपुर में गोपराज वृषभानु रत्नभानु और सुभानु भाइयों के साथ आनन्द से नाच उठे। महाभाग्यवती कृत्तिका चन्द्रकला कन्यारत्न के मुख-कमल को देख आनन्द से अपने को भूल गईं; सुरपुर और व्रजपुर में खूब आनन्दोत्सव हुआ। यह कन्यारत्न ही जगत् में 'वृषभानु-नन्दिनी राधा' के नाम से विख्यात हुई।

"ततः आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान।
हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीड़मभून्नृप ॥"
(भा० १०/५/१८)

भागवत के इस श्लोक से श्रीकृष्ण की तरह व्रजरामा-शिरोमणि श्रीमती वृषभानु-राज-कुमारी श्रीराधिका का प्रकट होनेवाला जन्म सूचित होता है। श्रीकृष्ण व्रज में नित्य निवास करते हैं। श्रीकृष्ण की नित्य विहार- भूमि होने की वजह व्रज सदा सब समृद्धियों से परिपूर्ण रहता है। कृष्णा अष्टमी तिथि में श्रीकृष्ण के प्रादुर्भाव से यह नन्दव्रज सब लक्ष्मियों की अंशिनी व्रजकिशोरिका शिरोरत्न वृषभानु-राजकुमारी की क्रीड़ाभूमि बना था। 'व्रजभूमि श्रीकृष्ण के आविर्भाव से समय से राधिका आदि व्रज-रामाओं का विहारास्पद हुआ था',—इस वाक्य से यह न समझना चाहिये, कि केवल उसी समय श्रीराधिका आदि व्रज की देवियाँ वहाँ विहार करती थीं; श्रीहरि की निवासभूमि स्वरूप श्रीनन्द-गोकुल में श्रीनन्द नन्दन जब तक गुप्त भाव से विहार करते हैं, तब तक श्रीराधिका आदि व्रज-रामायें भी गुप्त रूप से विहार करती हैं। और जब श्रीनन्दकुमार प्रकट रूप में विहार करते हैं, तब व्रजरामा-शिरोमणि श्रीराधा अपने काय-व्यूह रूप गोपियों के साथ प्रकट रूप से विहार करती हैं;—'तोषणी' और 'सन्दर्भ' का ऐसा ही सिद्धान्त है।

जैसे 'जिनमें श्रीकृष्ण की निष्काम सेवा-प्रवृत्ति मौजूद है, उनमें समस्त देवता समस्त सद्गुण-राशियों के साथ सदा निवास करते हैं', वैसे ही जिनमें प्रेम की विशिष्टता है, ऐश्वर्यादि रूपा अन्य समस्त शक्ति— बहुत आदर न होने पर भी उनका साथ देती है, इसलिये श्रीवृन्दावन में श्रीमती राधिका में ही स्वयं-लक्ष्मीत्व है। श्रीमती राधिका के कृष्णप्रेमोत्कर्ष पराकाष्ठा रूपिणी होने की वजह समस्त शक्तियाँ उनका साथ देती हैं; वह सर्वलक्ष्मीमयी हैं—समस्त शक्तियों की अंशिनी हैं। अतएव अन्यान्य प्रेयसी के वर्तमान रहने पर भी श्रीमती राधिका की परम मुख्यता के अभिप्राय से वृन्दावन की अधिकारिणी के रूप में उन्हीं का नाम लिया गया है। पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में शौनक नारद-संवाद में इस प्रकार के वाक्य दिखाई देते हैं,—

"वृन्दावनाधिपत्यञ्च दत्तं तस्यै प्रतुष्यता।
कृष्णेनान्यत्र देवी तु राधा वृन्दावने वने ॥"

श्रीकृष्ण ने श्रीमती राधिका को वृन्दावन का आधिपत्य प्रदान किया है। प्राकृत या साधारण देश में देवी अधिकारिणी हैं, किन्तु देवीधाम के उस पार विरजा, ब्रह्मलोक और वैकुण्ठ के पार सबसे ऊपर वृन्दावन नामक जो अप्राकृत कृष्ण के विहार का स्थान विराजमान है, उस वृन्दावन नामक वन की एक मात्र अधीश्वरी श्रीराधिका ही हैं। स्कन्दपुराण और मत्स्यपुराण में भी दिखाई देता है,- "वाराणसी में विशालाक्षी, पुरुषोत्तम में विमला, द्वारका में रुक्मिणी और वृन्दावन में राधिका हैं।' इसी श्लोक का अवलम्बन कर श्रीजीवगोस्वामि पादने सन्दर्भ में इस प्रकार कहा है,—"शक्तिमात्र-साधारण्येनैव लक्ष्मी-सीता-रुक्मिणी-राधानामपि देव्या सह गणनम्। वैशिष्ट्यन्तु लक्ष्मीवत् सीतादिस्वपि ज्ञेयम्। तस्माच्च देव्यासह लक्ष्म्यादीनामैक्यम्। श्रीरामतापनी-श्रीगोपालतापन्यादौ तासां स्वरूपभूतत्वेन कथनात्। श्रीराधिकायाश्च यामले पूर्वोदाहृतपद्यत्रयानन्तरं, 'भुजद्वययुतः कृष्णो न कदाचिच्चतुर्भुजः। गोप्यैकया युतस्तत्र परिक्रीडति सर्वदेति।' अत्र वृन्दावनविषयक तत्साहित-

सर्वदा कीड़ित्वलिङ्गादगतेन परम्पराव्यभिचारेण स्वरूप-शक्तित्वम् । सतीष्वप्यन्यासु, एकया इत्यनेन तथापि परममुख्यत्वमभिहितम् ।" उपरोक्त श्लोक में देवीधामेश्वरी श्रीदुर्गादेवी या मायाशक्ति के साथ श्रीलक्ष्मी, सीता, रुक्मिणी और श्रीराधा का एकत्र उल्लेख दिखाई देता है, उससे सबको बराबर समझ लेना उचित नहीं । देवीधामेश्वरी महामाया दुर्गादेवी कृष्णके स्वरूपशक्ति की बहिरङ्ग-प्रकाश स्वरूपिणी विरूप-शक्ति हैं; शक्तित्वमात्र साधारण है। अर्थात् अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा, स्वरूपाश्रिता, अपाश्रिता— सभी शक्तित्व के नाम से अन्तरङ्गाशक्ति श्रीलक्ष्मी, सीता, रुक्मिणी, राधा आदि की भी दुर्गादेवी के साथ गणना की जा सकती है । देवी और लक्ष्मी की बड़ाई की तरह श्रीसीता आदि की भी बड़ाई माननी चाहिये । इसलिये देवी के साथ लक्ष्मी आदि की एकता मानी नहीं जा सकती ; क्योंकि श्रीराम-तापनी में श्रीसीता देवी का और श्रीगोपाल तापनी आदि में श्रीरुक्मिणी और श्रीराधा का स्वरूप-भूतत्व बताया गया है । श्रीयामल में कहा गया है, कि "श्रीकृष्ण के दो भुज हैं, वे कभी चार भुजवाले नहीं; वे एक गोपी के साथ मिलकर सदा क्रीड़ा करते हैं ।" यहाँ, द्विभुज श्रीकृष्ण वृन्दावन में एक गोपी के साथ सदा क्रीड़ा करते हैं,—इस वाक्य से श्रीकृष्ण और श्रीराधा के परस्पर अव्यभिचार से स्वरूप-शक्तित्व का निश्चय होता है । अन्य बहुतेरी गोपियों के मौजूद रहते भी वे एक गोपी के साथ क्रीड़ा करते हैं—इस प्रकार का विशेष उल्लेख होने से श्रीराधा की मुख्यता प्रतिपादित होती है । अतएव श्रीराधा के स्वरूप-शक्तित्व के सम्बन्ध में बृहद् गौतमीय तन्त्र का प्रसिद्ध वाक्य हर तरह से सार्थक हो रहा है, कि—"श्रीराधा 'सर्व लक्ष्मीमयी', सर्वकान्ति', 'भुवन-मोहन-मन-मोहिनी', 'परमाशक्ति' हैं । इन सब प्रमाणों से मालूम होता है, कि मूलाश्रय राधिका से ही आश्रय-वैभव व्रजललनायें, रेवती आदि प्रकाशाश्रय-वृन्द, द्वारका आदि में रानियाँ, वैकुण्ठ में लक्ष्मीगण, नैमित्तिक अवतार आदि में सीता आदि एक-एक विष्णु-अवतारों में स्वरूप-शक्तियाँ और नित्य बद्धजीवों के लिये कारागार या दुर्ग की रक्षा करनेवाली छाया स्वरूपा-अन्तरङ्गा स्वरूपशक्ति की छाया-स्वरूपा बहिरङ्गा विरूपशक्ति के रूप में देवीधाम में नित्यकाल कृष्णवहिर्मुख प्राकृतजन से पूजिता हो प्रकाशित हो रही हैं ।

ऋक् के परिशिष्ट श्रुति में भी हमें श्रीकृष्ण की स्वरूप-शक्ति के रूप में श्रीराधा का उल्लेख दिखाई देता है । जैसे,—"राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका ।" निजजन-समूह में श्रीराधा के द्वारा श्रीमाधव विहारशील या शोभमान हैं माधव द्वारा राधिका मनोभाव से दीप्ति पाती हैं ।

वेदान्त के अकृत्रिम भाष्य के मुर्द्धन्य श्लोक में अर्थात् 'जन्माद्यस्य' श्लोक में श्रीराधाकृष्ण की परम-माधुरी परम मुख्या वृत्ति के द्वारा कीर्तित हुआ है । श्रीमद्भागवत का मुर्द्धन्य श्लोक यह है,—

"जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥"

अनु + अय - अन्वय, अनु पश्चात्, अय - 'इ' (इन—गत्यर्थे) धातु से निष्पन्न होता है; अपनी परमानन्द-शक्ति रूपा श्रीराधिका का सदा साथ करने या आसक्त रहने की वजह श्रीकृष्ण 'अन्वय' हैं; न्याय की परिभाषा के अनुसार 'उसके होने से उसका होना' का नाम 'अन्वय' है अर्थात् स्वरूपशक्ति श्रीराधा के बिना कृष्ण का अवस्थान नहीं है । इसीसे श्रीकृष्ण 'अन्वय' हैं । श्रीकृष्ण की इतरा अर्थात् सर्वदा द्वितीया के नाम से 'इतरा' या सर्वदा द्वितीया ही 'श्रीराधा' हैं । श्रीराधा और कृष्ण एक स्वरूप होने पर भी आस्वादक और आस्वादित के रूप में दो देह हैं; श्रीकविराज गोस्वामी प्रभु की भाषा में यह विषय बहुत ही सुन्दर रूप में प्रकट किया गया है,—

"कस्तूरी औ गन्ध दोनों जैसे अविच्छेद ।
अग्नि औ ज्वाला में जैसे नहीं कुछ भेद ॥
राधाकृष्ण वैसे सदा एक ही स्वरूप ।
लीलारस आस्वादन को धरे दुई रूप ॥
(चै० च० आ ४ थं)

जिन अन्वय (श्रीकृष्ण) और इतर (श्रीराधा) से 'आद्य' अर्थात् आदिरस का जन्म है (मैं उन दोनों का ध्यान करता हूँ)। श्रीराधा और कृष्ण ही आदिरस विलास के परम निधान हैं। जो 'अर्थ' समूह में अर्थात् उसके विलास-कलाप में 'अभिज्ञ'—विदग्ध हैं, और जो स्वरूपशक्ति ऐसे विलास विद ग्ध-स्वरूप में विराजते हैं—विलास करने की वजह ही 'स्वराट्',

हैं; जिन्होंने 'आदिकवि' अर्थात् सबसे पहले अपनी लीला का वर्णन आरम्भ करनेवाले श्रीवेदव्यास के हृदय द्वारा ही 'ब्रह्म'—अपनी लीला के प्रतिपादक शब्दब्रह्म का विस्तार किया है अर्थात् जिन्होंने आरम्भ के समय में ही समस्त भागवत को मेरे (श्रीवेदव्यास के) हृदय में प्रकाशित किया था (उन दोनों का मैं ध्यान करता हूँ)। इस प्रसङ्ग में (भा० १।७।४)—'भक्तियोगेन मनसि' श्लोक ही आलोच्य है। जिन श्रीराधा के विषय में 'सूरयः'—शेष आदि तक मोह को प्राप्त होते हैं, अर्थात् स्वरूप-सौन्दर्य के गुण आदि द्वारा बहुत ही अद्भुता श्रीराधा को निश्चित करते हुए निश्चय करने में समर्थ नहीं होते।

तेज, जल और मिट्टी—इनका जैसा विनिमय अर्थात् परस्पर स्वभाव-विपर्यय संघटित होता है, वैसे ही श्रीकृष्ण विराजते हैं। तेजः पदार्थ चन्द्रादि ज्योतिर्मय वस्तु श्रीकृष्ण के पदनख की कान्ति द्वारा जल-मिट्टी के निस्तेजत्व धर्म को प्राप्त होता है; जल—नदी आदि जिनकी वंशी के बजने से अग्नि आदि तेजः पदार्थ की तरह ऊर्ध्वगमन-शीलता और पाषाणादि मिट्टी के पदार्थ की तरह स्तम्भभाव को प्राप्त होता है; मिट्टी-पदार्थ पाषाणादि जिनकी विस्फुरित-कान्तिकला द्वारा तेजोवत् उज्ज्वल और वंशी के बजने से पानी की तरह गलते हैं।

जिनमें श्रीराधा की विद्यमानता से त्रिसर्ग की श्री भू-लीला है, उन तीनों शक्तियों का प्रादुर्भाव अथवा द्वारका, मथुरा, वृन्दावन—इन तीनों स्थानों की तीन शक्तियों का प्रादुर्भाव या श्रीवृन्दावन में ही रस व्यवहार में सुहृद, उदासीन और प्रतिपक्ष नायिका के रूप में तीन प्रकार की व्रज-देवियों का प्रादुर्भाव मृषा (मिथ्या) है अर्थात् सौन्दर्य आदि गुण-सम्पद् द्वारा श्रीराधा के बिना इनसे श्रीकृष्ण का कोई प्रयोजन नहीं। श्रीकविराज गोस्वामी की भाषा में यह विषय बहुत सुन्दर रूप से प्रकट किया गया है,—

"राधा-सङ्ग क्रीड़ा-रस वृद्धि का कारण।
और सब गोपियाँ हैं रस-उपकरण॥
कृष्ण की वल्लभा राधा कृष्ण-प्राणधन।
बिना राधा सुख कारण नहीं गोपीगन॥

(चै० च० आ० ४।२१७-२१८)

शतकोटि गोपियों से नहीं काम निर्वापण।
इसीसे हो अनुमान श्रीराधिका के गुण॥

(चै० च० आ० ८।११५

इन दोनों अर्थात् श्रीराधा माधव के स्वयं प्रभाव से लीला का प्रबन्ध करनेवाली जरती आदि और प्रतिपक्ष नायिकाओं का कुहक या माया सदा परास्त रहती है।

वह सब रूप में सत्य—नित्य मिलन अथवा परस्पर विलासादि द्वारा आनन्द देने में कृत सत्य अर्थात् निश्चल हैं; अतएव 'पर' हैं—ऐसा अन्यत्र और कहीं दिखाई नहीं देता। गुणलीलादि द्वारा यह विश्व के विस्मापकता हेतु सबमें उत्तम है। ऐसे ही युगल श्रीराधा माधव का ध्यान श्रीमद् वेदव्यास अपनी मण्डली के श्रीशुकदेव आदि के साथ करते हैं।

यहाँ ऐसा प्रश्न हो कि यदि स्वरूप-शक्ति श्रीमती राधा सहित श्रीकृष्ण ही एक मात्र परम सत्य हैं और परम सत्याश्रयी अप्राकृत रसिक भक्तों के नित्य ध्येय वस्तु हैं; तो श्रीमद्भागवत में श्रीशुकदेव गोस्वामी प्रभु ने श्रीराधिका का नाम क्यों नहीं लिखा?

भागवतरत्न ने इस प्रश्न का उत्तर दे रखा है। सच्चा भजन करनेवाले अप्राकृत सहज प्रेमी पुरुष अपने भजन के गूढ़ विषय को कभी भी जहाँ-तहाँ प्रकाशित नहीं करते; फिर भी, अन्यान्य योग्य मनुष्यों को उसी प्रेम-सागर में खींच लाने के लिये प्रभु की महिमा का कीर्त्तन करते हैं। श्रीशुकदेव गोस्वामी प्रभु ने भी श्रीमद्भागवत में परम-रस के चमत्कार-माधुर्य की पराकाष्ठा, मूल-आश्रया, गोविन्द-आनन्दिनी श्रीमती वृषभानु-नन्दिनी की महिमा में "अनयाराधितो नूनं" (भा० १०। ३०। २८)। "वरिष्ठं सर्वयोषिताम्" (भा० १०। ३०। २६ ६) (१०। ३०। २६) प्रभृति कितने ही श्लोकों में कहा है। किन्तु सर्वसाधारण में एकमात्र सबसे श्रेष्ठ भजनीय नाम को स्पष्टरूप से प्रकट नहीं किया। कोई कोई भक्त कहते हैं कि परमहंस-कुल-शिखामणि श्रीशुकदेव गोस्वामी प्रभु यद्यपि कृष्ण-रस के आवेश में श्रीकृष्ण और उनकी प्रिया रुक्मिणी आदि रानियों के नाम का सदा ही कीर्त्तन किया करते थे तथापि श्रीराधा आदि समर्थारति-मूर्त्ति व्रज-गोपियों का नाम कभी भी मुँह से निकाल न सकते थे। यह बात नहीं, कि वे गौरव की वजह श्रीवृषभानु-नन्दिना

का नाम नहीं निकालते थे, क्योंकि वे कृष्ण में अविष्ट होकर ही नाम लिया करते थे। इसमें गौरव या मर्यादा की पहुँच ही नहीं। फिर भी बहुत ही विस्तृत, सबसे विलक्षण, परम-प्रकटित प्रेमानल शिखा के ताप से दग्ध गोपियों का नाम लेने से, उनकी याद करने, उनके तीव्र प्रेमानल से उठी हुई ऊँची शिखा की चिनगारियों से छू जाने की विकलता उत्पन्न होने की वजह से व्रज-वधुओं का नाम मुँह से निकालते न थे। इसीसे श्रीमद्भागवत के १० म स्कन्ध में गोपियों की कथा सामान्यरूप से कही गई है अर्थात् उनके किये कर्मों का वर्णन करते पर भी नाम लेकर विशेष रूप से उनका वर्णन नहीं हुआ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत आदि में श्रीवृषभानु नन्दिनी आदि बहुत ही प्रधान गोपियों का नाम न होने से दो रूप में दो परम-उपकार हो गये हैं। परम-प्रेम भजनीय-निधि गोपी-शिरोमणि श्रीवृषभानु नन्दिनी की कथा अज्ञ रुचि और साधारण-रुचि से परिचालित जगत की योग्यता के आगे अप्रकाशित है। उस योग्यता के लोग कृष्ण-भजन का पता न पाकर 'विष्णु-माया' और 'विष्णु-भजन' की योग्यता को प्राप्त हुए हैं। जीव का स्वरूप 'कृष्ण का नित्य दास' होने पर भी परम सख्य-स्वरूप परिपूर्ण-तत्त्व प्रेमी भक्तों को छोड़ और किसी के भी आगे सुप्रकट नहीं होती। एक मात्र आत्मा की लौल्य ही जो उनका मुख्य स्वरूप है, वह ऐश्वर्य से शिथिल भजन में या प्राकृत अहंकारवाले मनुष्यों के लिये असम्भव है। ऐश्वर्य-ज्ञानहीन प्रेमिक पुरुषों में उस अप्राकृत लौल्य को अधिकता की वजह आज भी श्रीकृष्ण उनके ही आगे प्रकट होते अर्थात् परम-निज अन्तरङ्ग-शक्ति परम-मुख्याश्रय श्रीवृषभानु-नन्दिनी के सिवा श्रीकृष्ण की उपासना की चेष्टा वास्तव में विष्णु की उपासना है। उसे यथार्थ कृष्ण की उपासना कह नहीं सकते व्रज के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य-रस के रसिकगण को भी श्रीराधिका के साथ श्रीकृष्ण के श्रीरास का सहायक समझ उनकी ही उपासना को श्रीकृष्ण की उपासना समझें।

अतएव श्रीशुकदेव गोस्वामी प्रभु ने अतिगुह्य श्रीवृषभानु-नन्दिनी के नाम को स्पष्ट रूप से प्रकाश न कर एक प्रकार से प्रेमी भक्तों का तोषण और ऐश्वर्यशिथिल भक्त तथा अभक्तों को मोहित किया है। कविराज गोस्वामी प्रभु की भाषा में श्रीशुकदेव गोस्वामी प्रभु का उद्देश्य इस प्रकार वर्णित हो सकता है,—

अतएव कहि कुछ करके निगूढ़।
समझें रसिक भक्त ना समझें मूढ़॥
अभक्त ऊँटों का इसमें ना होय प्रवेश।
फिर भी मन में होय मुझे आनँद विशेष॥
जेहि लगि कहै भय सो यदि न जाने।
इसके सिवा और सुख क्या त्रिभुवन में मानें॥

(चै० च० आ० ४ प०)

बिना राधा भजन के कृष्ण-भजन हो ही नहीं सकता। बिना राधा के माधव के नाम से कोई वस्तु हो ही नहीं सकती; बिना स्वरूप शक्ति के लीलाराम अद्वय-तत्त्व का कोई ठिकाना भी नहीं है। श्रीमती राधिका को अलग कर अद्वय-ज्ञान व्रजेन्द्र नन्दन का अस्तित्व स्वीकृत हो ही नहीं सकता। इसी से श्रीदासगोस्वामी प्रभु के 'विलाप-कुसुमाञ्जलि' में हमें दिखाई देता है,—

"आशाभरैरमृतसिन्धुमयैः कथञ्चित्
कालो मयातिगमितः किल साम्प्रतं हि।
त्वञ्चेत् कृपां मयि विधास्यसि नैव किं मे
प्राणैर्व्रजेन च वरोरु बकारिणापि॥"

हे वरोरु! इस समय मैंने अमृत सागर रूपी आशातिशय कदम्ब में बड़े ही कष्ट से दिन बिताये; यदि तुम मुझ पर कृपा न करो, तो इस जीवन या व्रजवास— अधिक क्या कहूँ— श्रीकृष्ण का भी मुझे प्रयोजन नहीं।

ठाकुर भक्तिविनोद ने गाया है,—

राधा भजन में यदि मति नहीं दिया।
कृष्ण भजन उसका अकारण गया॥
धूप से रहित सूरज नहिं मानें।
राधा-विरहित माधव ना मानें॥
केवल माधव पूजे सो है अज्ञानी।
राधा का अनादर करते अभिमानी॥
कभी न करना जी ऐसों का सङ्ग।
चित्त में बसा हो यदि व्रजरस-रङ्ग॥
राधिका दासी यदि होये अभिमान।
शीघ्र ही मिले उसे गोकुल-कान॥
ब्रह्मा - शिव - नारद - श्रुति - नारायणी।
राधिका के पद-रज पूजते हैं मानी॥

उमा रमा-सत्या - शची-चन्द्रा - रुक्मिणी।
राधा - अवतार: कहे प्रमाण - वाणी॥
राधा - परिचर्या है जिसका धन।
भक्तिविनोद माँगे उसके चरन॥

एकमात्र विषय विग्रह श्री गौरसुन्दर ने ही, इस जगत में प्रकट किया है, कि आश्रय भाव को अङ्गीकार करनेवाले को मूल आश्रय श्रीवृषभानु-नन्दिनी की ही कथा में जीव मात्र का प्रयोजन है। अणुसच्चिदानन्द जीव विभुसच्चिदानन्द अद्वयज्ञान की सन्धिनी शक्ति में अधिष्ठित विग्रह श्रीबलदेव, सम्वित-शक्ति में अधिष्ठित विग्रह श्रीकृष्ण और ह्लादिनी शक्ति में अधिष्ठित विग्रह श्रीगोविन्द-आनन्दिनी और भक्त आनन्द-दायिनी की सेवा के बिना कभी अपने स्वरूपत्व की रक्षा कर नहीं सकता। इसलिये मायाविलासी भोगी या मायावादी ब्रह्म का अनुसन्धान करनेवाले त्यागी के लिये कार्यतः सच्चिदानन्द की उपलब्धि आकाश के तारों की तरह निरर्थक है। ये दोनों ही आत्मघाती हैं। मधुर रस में बलदेव ही श्रीवृषभानु-नन्दिनी की छोटी बहन अनंगमंजरी के रूप में अवस्थित हो श्रीराधामाधव की सेवा का सन्धान बताते हैं। श्रीराधारस-सुधानिधि के लेखक का कहना है,—

"प्रेमा नामाद्भुतार्थः श्रवणपथगतः कस्य नाम्नां महिम्नः को वेत्ता कस्य वृन्दावनविपिन-महामाधुरीषु प्रवेशः। को वा जानाति राधां परमरसचमत्कार माधुर्य सीमामेकश्चैतन्यचन्द्रः परमकरुणया सर्वमाविश्चकार॥"

'प्रेम' नामक परमपुरुषार्थ को किसने सुना था? श्रीनाम की महिमा को ही कौन जानता था? वृन्दावन के गहन-महामाधुरी-कदम्ब में किसने प्रवेश किया था? परम-चमत्कार अधिरूढ़ महाभाव के माधुर्य की पराकाष्ठा श्रीवृष-भानु नन्दिनी को (उपास्य के रूप में) कौन जानता था? एक चैतन्यचन्द्र ने ही परम उदार लीला प्रकटकर यह सब आविष्कार किया है।

सुधानिधि के रचयिता ने और भी कहा है,—

"यथा यथा गौरपदारविन्दे विन्दे भक्तिं कृतपुण्यराशिः तथातथोत्सर्पति हृद्यकस्मात् राधापदाम्भोजसुधाम्बुराशिः॥"

कुण्ड के कुण्ड सुकृतिसम्पन्न पुरुष श्रीगौर के पदकमल में जैसे भक्ति लाभ करते हैं, वैसेही अकस्मात् उनके हृदय में श्रीराधापादपद्म का प्रेम-सुधा-सागर भी उमड़ पड़ता है। अतएव गौर-पद कमल के भृङ्ग विप्रलम्भ-रस के पुष्ट करनेवाले श्रीगुरु और गौर-भक्तों के सङ्ग से विप्रलम्भ-विग्रह श्रीगौरसुन्दर के सेवाफल से ही श्रीराधा की दासता मिल सकती है। आत्मवृत्ति में राधा की दासता की इच्छा के साथ सदा गौर द्वारा विहित कृष्ण-नाम का कीर्त्तन ही गौर की आराधना है।

मैं कौन?

पूज्यपाद श्रीसनातन गोस्वामी गौड़ देश के नवाब हुसेन शाह के प्रधान मंत्री थे। वैराग्य का उदय होने पर वे काशीधाम में आकर श्रीमन्महाप्रभु से मिले। उस समय महाप्रभु बनारस में श्रीचंद्रशेखर आचार्य के घर रहते थे। श्रीसनातन गोस्वामी वायु के चपेटे से काँपते हुए बेत की तरह श्रीमन्महाप्रभु के चरणों में गिर, बड़ी ही दीनता से विनय के साथ, हाथ जोड़कर निवेदन किया, कि—प्रभु, 'मैं कौन हूँ?'

मैं कौन? मुझे क्यों यह त्रैताप जलाये।
मैं नहीं जानता क्यों कर हित हो जाये॥
सद साध्य-साधना तत्त्व न पूछें आवें।
कर कृपा मुझे सब तत्त्व आप बतलावें॥

जैसे भगवान श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय सखा अर्जुन के उपलक्ष्य से गीता का उपदेश किया था, वैसे ही श्रीमन्महाप्रभु ने भी अपने श्रीमुख से, जगत् के हिताकांक्षी हो जीवों को शिक्षा देने के लिये श्रीसनातन गोस्वामी के उपलक्ष्य से कहने लगे—

जीवका स्वरूप होता नित्य कृष्णदास।
कृष्ण की तटस्था शक्ति भेदाभेद-प्रकाश॥
जीव नित्य कृष्णदास, इसे जो भुलायें।
इसी से माया द्वारा गले को बँधायें॥
जो जीव कृष्ण भूले, अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया देती संसारादिक दुख॥

कृष्ण-बहिर्मुख हो के भोग इच्छा करे।
पास बैठी माया उसे चिमट के धरे॥
पिशाची माया से मानो मति भ्रम होय।
मायाग्रस्त जीव के हो वैसा भावोदय॥
मैं नित्य कृष्णदास इसे भूल जाये।
माया का गुलाम सदा-सदा भटकाये॥
कभी राजा, कभी प्रजा, कभी विप्र-शूद्र।
कभी सुखी, कभी दुखी, कभी कीट क्षुद्र॥
कभी स्वर्ग, कभी मर्त्य, नरक भी कभू।
कभी देव, कभी दैत्य, कभी दास प्रभू॥
संसार भ्रमते कोई पावे भाग्यवान।
भक्ति-लता-बीज कृपा गुरु-भगवान॥
गुरु कृष्ण भजे, करे गुरु का सेवन।
मायाजाल छोड़ पाये श्रीकृष्ण-चरन॥
(चै० च० मध्य २०)

यहाँ थोड़े से बयान में ही सारे "अध्यात्म-तत्त्व" के सुगंभीर भावों को श्रीमन्महाप्रभु ने सनातन गोस्वामी को समझा दिया। महाप्रभु ने और भी कहा,—

सूर्यांशु किरण जैसे अग्निजाल होती।
स्वाभाविक कृष्ण की भी तीन शक्ति होतीं॥
कृष्ण की स्वाभाविक तीन शक्ति परिणति।
चिच्छक्ति, जीव-शक्ति और माया शक्ति॥

यहाँ यह प्रश्न होता है, कि हम कब और किस अवस्था में भगवान को जानना चाहते हैं? अधिकांश लोग कहा करते हैं, कि भगवान क्या कभी दिखाई देते हैं; यदि वे मिल सकते हैं, तो हम लोगों को दिखाई क्यों नहीं देते?

इसका उत्तर है, कि जब हम लोगों को किसी चीज की ज़रूरत होती है, तब हमलोग उस ज़रूरत को पूर्ण करने के लिये चेष्टा करते हैं। वास्तव में क्या भगवान से मिलने के लिये हम लोगों को कोई ज़रूरत जान पड़ती है? उनके बिना क्या हमारे हृदय में कुछ भी शून्यता जान पड़ती है? हृदय के भीतर से मानो कोई कहता है—"नहीं"—कभी नहीं।

नदी में स्नान करने के समय किसी लड़के ने दिल्लगी में किसी महात्मा से पूछा,—"महाशय, कृपा कर जरा बताइए तो सही, कि मैं ईश्वर को कब देखूँगा?" यह सुन उन बुद्धिमान पुरुष ने लड़के की गर्दन पकड़ उसे सिर से पैर तक पानी में दबोच दिया। लड़का तकलीफ़ से छटपटाने लगा। कुछ ठहर कर लड़के को पानी से बाहर निकाल उन बुद्धिमान वृद्ध ने पूछा,—"क्यों बेटे, पानी में तुम्हारी क्या हालत थी?" तब लड़के ने साँस ले, मुर्दे के फिर से प्राण पाने की तरह बोला,—"बाप रे बाप! भला इस तरह भी कोई किसी को नदी में डुबाता है? क्या आपके हृदय में ज़रा भी दया-माया नहीं है? मेरे प्राण जाने में बाकी ही क्या रहा? और थोड़ी देर पानी में रहता, तो प्राण ही निकल गये होते; आप बड़े भयानक आदमी जान पड़ते हैं।" तब बुद्धिमान पुरुष ने मुस्करा कर कहा,—'जब भगवान् को पाने के लिये तुम्हारे हृदय में ऐसी ही व्याकुलता होगी, तब तुममें उनके दर्शन की योग्यता होगी; उससे पहले नहीं।' वास्तव में क्या हम लोगों के मन की वैसी अवस्था हो सकी है? हम लोग देह, मन, प्राण आदि सर्वस्व सद्गुरु के पादपद्म में समर्पण कर श्रीभगवान की सेवा के लिये क्या व्यग्र हो उठे हैं? बिना सेवाबुद्धि के अहंकार से मतवाले हो कपटता के साथ उनको जानना बकोला मात्र है। यह अपने आपको धोखा देने के सिवा और कुछ नहीं।

अपनी छोटी सी बुद्धि से अनन्त भगवान को नाप कर अपनी बाँधी सीमा की रेखा में ले आने की चेष्टा माया का काम है। हमलोग अपने छोटे से मन और बुद्धि द्वारा जो नाप नापते हैं, वह सब माया माना जाता है। माया द्वारा उत्पन्न इन इन्द्रियों से अर्थात संसारी ज्ञान द्वारा मायाधीश अधोक्षज श्रीभगवान हरि पहचाने नहीं जा सकते अचित अर्थात जड़ द्वारा, चित अर्थात चैतन्य श्रीभगवान को कोई कभी पा नहीं सकता। हम लोग इस अनित्य जड़ जगत की उन्नति के लिये जीजान से कितनी चेष्टा करते हैं। सामान्य रुपये के लिये भयानक खूँख्वार जानवरों से भरे बीहड़ वन में अथवा अथाह गड्ढे में घुस पड़ने में भी सङ्कोच नहीं करते। अथवा व्यापार के लिये प्रबल अन्धड़ से उछलते हुए समुद्र में, जीवन को विपद् में डालकर भी चले जाते हैं। किन्तु इस और परकाल के एक मात्र सम्बल नित्य घन चैतन्य वस्तु के पाने को हम लोग कहाँ तक आगे बढ़े हैं? जरा एक बार हम सभी को इस पर मन ही मन विचार कर देखना चाहिये। विवेक

सबके ही हृदय मे समान भाव से रहता है। क्या वह हृदय के भीतर से जवाब नहीं देता, कि हम किसी समय भी भगवान् का प्रेम लाभ करने के लिये व्याकुल नहीं हुए ? कभी-कभी क्षण भर के लिये जो श्मशान-वैराग्य या बन्दर-वैराग्य उपस्थित होता है, वह मरुभूमि में पानी के एक बूँद की तरह, कुछ काम का नहीं है। जलते हुए लोहे के गोले पर पानी छिड़कने की तरह, ऐसा वैराग्य मायादेवी के ज़रा से कुटिल-कटाक्ष से हवा हो जाता है।

हम लोग इस माया-जगत् में पिता, माता, बहन, स्त्री, पुत्र, कन्या, ससुर और साले इत्यादि हैं। इन आत्मीय कुटुम्बों का परिवार बना मन के सुख से संसार-यात्रा का निर्वाह किया करते हैं सही, किन्तु समय के कठोर परिवर्त्तन से यह सब अनित्य संसार-सुख इन्द्रजाल के खेल की तरह विलीन हो जाते हैं।

साधारण मनुष्य लोग दिन के समय अर्थोपार्जन और कुटुम्ब का पालन तथा रात के समय निद्रा और इन्द्रिय तर्पण के काम में व्यस्त रहते हैं। पशु-पक्षी आदि इतर जीव भी ऐसा ही किया करते हैं, दिन के समय आहार-संग्रह कर बच्चों का प्रतिपालन करते, रात को सोते और इन्द्रिय-तर्पण किया करते हैं। पशु-पक्षियों में बोलने की शक्ति नहीं है, उनमें यदि बोलने की शक्ति होती, तो पशु भी मनुष्यों का सम्बोधन कर कहते, "हे मनुष्यगण ! ज़रा बताओ तो, कि तुम लोग हमसे किस बात में श्रेष्ठ हो ?" जिनमें होश या चैतन्यता है, वे ही मनुष्य कहने योग्य हैं। जो इस सुदुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर हरि का भजन करते हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं; नहीं तो मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं। देवता तक मनुष्य जन्म पाने की इच्छा करते हैं। क्योंकि मनुष्यों की देह भोगमय है, चौरासी लाख योनि में भ्रमण करने के बाद यह सुदुर्लभ मनुष्य-जन्म हुआ है। इस सुदुर्लभ शरीर को पाकर भी यदि आहार, निद्रा और इन्द्रिय-तर्पण आदि में व्यस्त रह जीवन के महा-मूल्य समय को नष्ट कर डाला जाय, तो उसका परिणाम भी वैसा ही होगा। सुतरां अब ज़रा भी विलम्ब न कर शीघ्र ही श्रीहरि का भजन आरम्भ कर देना चाहिये। क्योंकि मृत्यु का कोई भरोसा नहीं : आज या सौ वर्ष बाद यह जीवन प्रदीप कालरूपी प्रबल बवण्डर में पड़ एकाएक बुझ जा सकता है। तुच्छ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादि का भोग हर एक जन्म में कर चुके हैं और करेंगे, किन्तु श्रीहरिभजन का जन्म बड़ा ही दुर्लभ है।

इस लिये श्रीमद्भागवत का कहना है, -

"नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभम्,
प्लवं सुकल्पं गुरु कर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं,
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।।"

इस सुगठित मनुष्यरूपी देह तरणी को अनेक जन्म से कर्मफल को भोगते हुए किसी बे-मालूम अच्छी करनी के बल से, भगवान् की कृपा से प्राप्त हुआ। इस संसार-समुद्र में मनुष्य की देह सुन्दर नौका-स्वरूप है। उस पर सद्-गुरु रूपी कर्णधार (पतवारिया) बैठे हुए हैं। रास्ते में प्रबल आँधियों द्वारा विपद् में पड़ने की कोई आशङ्का नहीं क्योंकि श्रीभगवान् की कृपा-रूपी अनुकूल वायु पीछे पीछे चल रही है। जो सब मनुष्य ऐसी सुविधा होते हुए भी इस अपार भवसागर से पार नहीं होते, वे नराधम ही आत्म-घाती हैं।

हाय ! कुछ समझ में नहीं आता, कि हम मनुष्य हैं या पशु से भी अधिक अधम ? क्योंकि हमने इस अमूल्य जीवन को वृथा भोग-विलास में और हिंसा-द्वेषादि में नाहक ही गँवा दिया। यमदूत सिर के ऊपर अपना कराल कृपाण लिये खड़ा है। इसका कोई ठिकाना नहीं किस समय उसकी तलवार गर्दन पर गिरेगी। हाय ! हम कैसे मूर्ख हैं ! हमने एक बार भी अपने हृदय के द्वार को न खोला। पतित-पावन श्रीगुरुदेव की कृपारूप सूर्य-रश्मियाँ हमारे हृदय-मन्दिर के दर्वाजे तक आकर ही पलट गईं। हमारे हृदय कन्दरा का घोर अन्धकार आखिर दूर न हुआ। छोटे-छोटे पतङ्गे भी अँधेरे से निकल रोशनी की ओर जाते हैं, उन्हें अँधेरा पसन्द नहीं हम उनकी अपेक्षा कहीं खराब हैं कि दिन की रोशनी रहते भी उल्लू की तरह अन्ध कोपड़ी में घुसे रहना पसन्द करते हैं। अन्धकार में रहने को ही हम लोगों ने अपने जीवन का उद्देश्य बना रखा है।

मैं और मन

(पूर्वप्रकाशित के आगे)

मैं:—शुद्ध जीव भगवान का नित्य दास है। सच्चिदानन्द परमात्मा का एक अंश है, इसलिये स्वयं आनन्द-रूप है, परन्तु निज इच्छानुसार भगवान से विमुख होकर पापी मन के कुसंग से घोर नरककुण्ड में जा फँसता है और नाना प्रकार के दुःख भोगता है।

मनः—ठीक! अब समझा! यही है तुम्हारे वैराग्य का कारण, इसी से तुम उछल कूद मचा रहे हो। परन्तु तुम्हारा यह ज्ञान मिथ्या और कल्पित है, इस तरह आकाश में पुल बाँधने से काम न चलेगा, स्वामी, तुमने पहले ही क्यों न बतलाया जो तुम्हारी भूल सुधार देता और तुम्हें फिर ठीक रास्ते पर ले आता।

मैं:—मूर्ख, यह कल्पित नहीं है। देख श्रुति क्या कहती है,—

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति,
एवमेवास्मादात्मनः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।
(बृहदारण्यक)

अर्थात् जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही सर्वात्मा कृष्ण से सब जीवों का प्रकाश होता है।

मनः—परन्तु श्रुति की यह बात कुछ कम समझ में आती है; यदि जीव स्वयं भगवान् का अंश है तो उसे नित्यकाल भगवान् के दर्शन क्यों नहीं होते? और वह बार-बार जन्मता-मरता क्यों है? सांसारिक व्याधियों से पीड़ित क्यों होता है?

मैं:—तेरा प्रश्न स्वाभाविक है, कोटि-कोटि जन्म से संसार के भोगों में फँसा हुआ है। तेरी बुद्धि सदा विषयों का ही ध्यान करती रही है। भोगवासनाओं को तृप्ति करने के नये-नये साधनों की खोज में लगी रही है, इसीसे तू इस पारलौकिक सूक्ष्म ज्ञान को ग्रहण करने में असमर्थ है; आसानी से तेरा विश्वास इस पर न जमेगा, परन्तु यदि तू थोड़ी देर के लिये अपना हठ और चंचलता त्यागकर मेरी बात को ध्यान से सुनेगा, तो मैं यथाशक्ति तुझे समझाने का प्रयत्न करूँगा।

मनः—बात तो नई मालूम होती है, इसलिये मनोरञ्जन भी होगा ही। हाँ! कहो, ध्यान से सुनूँगा। परन्तु देखो, कहने का ढंग ज़रा रोचक हो, पंडितों का थोथा ज्ञान न हो।

मैं:—मनोरञ्जन के मतवाले मन! यह कोई शेखचिल्ली की कहानी नहीं, लैला-मजनू का नाटक नहीं या ताराबाई का सरकस नहीं, जिसमें तू नवीनता और मनोरञ्जन ढूँढता है। यह तो शुद्ध ज्ञान-चर्चा है। सांसारिक सुख व आमोद-प्रमोद की वासनाओं को भस्म करना ही इसका उद्देश्य है। फिर इसमें मनोरञ्जन कैसा? परन्तु मैं जानता हूँ तेरे स्वभाव को, तू पतित अवस्था में है, तेरा हाल उस बीमार मनुष्य की तरह है, जिसे स्वादिष्ट दाल रोटी अच्छी न लगकर हानिकारक चटपटी चीज़ों को मन चला करता है, इस गिरी हुई दशा में तुझे सांसारिक भोगविलास की बात-चीत ही सुहाती है, जो अंत में दुःखदाई होती है; और परम कल्याणकारी ज्ञान-वार्ता अरुचिकर प्रतीत होती है, इसलिये तेरी दुर्बलता को जानकर इस गूढ़ विषय को तुझे सरल तरीके से समझाने का प्रयत्न करूँगा, अब तू एकाग्र चित्त हो जा और ध्यान से सुन।

आत्मा दो हैं—परमात्मा और जीवात्मा परमात्मा पूर्ण हैं और जीव अंश, दूसरे शब्दों में—कृष्ण या परब्रह्म ही एक पूर्ण अनन्त और अखण्ड वस्तु हैं। जीव-समूह अणु पदार्थ हैं। अखण्ड अग्नि से जिस प्रकार चिनगारियाँ निकला करती हैं, वैसे ही अखण्ड चैतन्य-स्वरूप कृष्ण से जीव प्रकट होते हैं; जैसे सूर्य से किरणों का विस्तार होता है, वैसे ही भगवान् से जीवों का विस्तार होता है। कुम्हार जिस तरह मिट्टी से खिलौने बनाता है, उस तरह भगवान् कोई अन्य वस्तु लेकर जीव को नहीं बनाते परन्तु जिस तरह सूर्य स्वभाविक ही अपना प्रकाश फैलाता है, उसी प्रकार भगवान् से स्वाभाविक ही जीवों की उत्पत्ति होती रहती है, इसलिये समस्त जीव अंश रूप से भगवान् का ही प्रकाश हैं।

मनः—सब भगवान् का अंश! देवता, राक्षस, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, सदाचारी, व्यभिचारी, पुण्यात्मा, पापात्मा, दुरात्मा, महात्मा, सभी भगवान् का अंश! क्या ज्ञान के बाज़ार में हाथी, घोड़ा, ऊँट, गधा, चूहा, बिल्ली सभी एक भाव?

मैं:—हाँ, सभी एक समान हैं, क्योंकि सब भगवान का अंश हैं। माया के कारण वे अपने स्वरूप को भूल बैठे हैं और उनमें प्राकृतिक भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, जैसे एक राजा के लड़के नाटक खेलते हैं, कोई महाजन बनता है, कोई फ़क़ीर, कोई ब्राह्मण, कोई शूद्र, इसी प्रकार भगवान के अनंत जीव संसाररूपी नाटक में क्रमानुसार भिन्न-भिन्न रूप से प्रकाशित होते हैं, पर इस बात को आगे चलकर और अच्छी तरह समझाऊँगा, अब भगवान और शुद्ध जीवों के यथार्थ स्वरूप का कुछ वर्णन करता हूँ। सुनो, भगवान का अंश होने के कारण जीव में भगवान् के प्रायः सभी गुण मौजूद हैं। अंतर केवल इतना ही है कि भगवान् अनंत हैं, इसलिये उनका एक भी गुण सीमाबद्ध नहीं है और जीव अंश है इसलिये उसके गुणों का भी कुछ प्रमाण है। अग्नि का उदाहरण फिर यहाँ ठीक मालूम पड़ता है, जो शक्ति अखण्ड अग्नि में होती है वही अग्नि की एक-एक चिनगारी में होती है। परंतु एक चिनगारी में जितने प्रमाण में वह शक्ति होती है, उससे कहीं अधिक प्रमाण में अखण्ड अग्नि में वही शक्ति होती है, इसी प्रकार की समानता व भिन्नता जीव और भगवान में भी है, परंतु भगवान के अखण्ड और जीव के अणु पदार्थ होने के कारण दोनों के स्वभाव में एक बहुत बड़ा अंतर आ जाता है, भगवान की अवस्था में कभी किसी प्रकार का परिवर्तन होना संभव नहीं, वह नित्यकाल सत-चित-आनंद हैं, बृहत्, पूर्ण, शुद्ध और सनातन हैं, परन्तु जीव अपने अणुत्व अर्थात् छोटेपन के कारण स्वधर्म को भूलकर सुख-दुःख के जाल में फँस सकता है। जैसे अग्नि की प्रचंड ज्वाला को हवा का एक झोंका शांत नहीं कर सकता, पर दीपक की लव को आसानी से बुझा देता है, उसी प्रकार माया के संबंध से भगवान के सत-चित् आनंद रूप में कोई अंतर नहीं आता, पर जीव में स्वरूप की विस्मृति पैदा हो जाती है। बस, कृष्ण का दास जीव माया का दास हो जाता है, मनसा-राम, संक्षेप में तो तुम्हारे प्रश्न का उत्तर हो चुका। परन्तु कदाचित् तुम्हारी समझ में अभी ठीक-ठीक नहीं आया कि जीव, जो भगवान् का अंश है, किस तरह माया का दास होकर सांसारिक सुख-दुःख उपभोग करता है; इसलिये और भी इस विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा, पर तुम कहीं उकता तो नहीं गये ?

मनः—नहीं, नहीं, कहते चलो।

मैं:—अभी भगवान् और जीव के संबंध में जो कुछ तुम्हें बतला चुका हूँ उसका सारांश यह है कि परमात्मा पूर्ण अखण्ड तथा मायातीत हैं और जीव उनका अंश होने पर भी माया के वशीभूत हो सकता है। किस प्रकार जीव मायाधीन होता है, अब इसका हाल सुनो।

भगवान् की जिस शक्ति से जीवों की उत्पत्ति होती है, उसे जीवशक्ति या तटस्थाशक्ति कहते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् की दो शक्तियाँ और भी हैं—चित्शक्ति और मायाशक्ति, जीव की उत्पत्ति होने के पश्चात् उसे इन दोनों शक्तियों का दर्शन होता है, उसे ऐसा जान पड़ता है कि मानो उसके सामने भगवान् की दो दासियाँ रस से भरे हुए दो पात्र लिये खड़ी हैं। एक के हाथ में सोने का चमचमाता हुआ कटोरा होता है और दूसरी के हाथ में एक मामूली सा ताँबे का पात्र। सोने के कटोरे पर लिखा होता है 'भोग' और ताँबे के पात्र पर 'भगवत्-सेवा'। जीव स्वभाव से ही रस का प्यासा होता है; इसलिये दोनों दासियाँ जीव को संबोधन करके कहती हैं "प्यारे जीव ! मेरे ही रस का आस्वादन कर, इससे उत्तम कोई और रस नहीं !" जीव दोनों पात्रों के बाहरी रूप रंग को देखता है और उनपर लिखे हुए अक्षरों को बार-बार पढ़ कर यह विचार करने लगता है, कि कौन-सा पात्र लेना चाहिये। परन्तु उसे उनके अन्दर के रहस्य का कुछ पता नहीं होता, यदि होता ही तो बिचारे का भी दुर्भाग्य क्यों उदय होता, लीलामय भगवान् अपना रहस्य सहज ही किसी को प्रकट नहीं करते, यदि कर दें तो उनकी लीला भी कैसे हो ? उनका रहस्य तो वही भगवान् के परम प्रिय उनके अनन्य भक्त जान सकते हैं, जिन्होंने अपना सब कुछ उनको अर्पण कर सदा के लिये उनके हृदय में अपना निवास-स्थान बना लिया है, भला ऐसे भक्तों से भगवान् छिपा भी क्या सकते हैं ? उन्होंने तो निज अभिमान को मिलाकर एकमात्र भगवत्सेवा को ही अपना ध्येय बना लिया है। परन्तु भगवान् की लीला का रहस्य जितना निरभिमानी उनके भक्तों को सुलभ है, उतना ही भगवद्-विमुख अभिमानी जीवों को दुष्कर है। जीव ताँबे और स्वर्ण के दो रस-पूर्ण पात्रों को देखकर चक्कर में पड़ जाता है, वह अपनी बुद्धि से निर्णय नहीं कर सकता, कि कौन सा रस पान करने योग्य है, उसे तो केवल पात्रों की बाहरी बनावट ही दीखती है, जिससे वह ठगा जाता है। सोने का

पात्र मायारूपी विष से भरा होता है और दूसरे का प्रेम रसरूपी अमृत से हलहलाता होता है। जो जीव भगवान् से विनती कर कातर स्वर से कहते हैं "हे करुणामय स्वामी, भक्तवत्सल भगवान् पतितपावन प्रभो, तुम्हारी महिमा, तुम्हारी लीला, तुम्हारी गति सब कुछ अपार है, तुम्हारे अनेक रूप हैं, अनेक शक्तियाँ तुम्हारी दासी हैं, सभी पर मैं मोहित हो सकता हूँ। मुझे क्या पता नाथ तुम्हारी कौन सी शक्ति का आश्रय लेने से मेरा कल्याण है, अपनी इच्छानुसार जो चाहूँ, सो करूँ — इतनी स्वतंत्रता देकर मुझे क्यों अपने से अलग करना चाहते हो नाथ, मुझे तो तुम उसी रस का पान करा दो, जिससे मेरा अभिमान चूर हो जाय, मेरी स्वतंत्रता दूर हो और मैं तुम्हारा दास होकर नित्यकाल तुम्हारे चरणों की सेवा करूँ। करुणामय ! मुझे बल और बुद्धि दो जिसके सहारे यथोचित पथ का अवलम्बन कर मैं तुम्हारी भक्ति प्राप्त करूँ; ऐसे शरणागत जीव को भगवान् प्रेम रस का प्याला पिला देते हैं, जिसे पीकर जीव सदा भगवान् की सेवा में लीन रहते और परमानन्द का अनुभव करते हैं। इस कोटि के जीव नित्य मुक्त होते हैं, वह कभी मायावश होकर जन्म मरण के चक्कर में नहीं फँसते, परन्तु दूसरे प्रकार के जीव जो भगवान् की शरण न लेकर अपने ही ऊपर भरोसा रखते हैं, उनकी गति कुछ और ही होती है, वह सत्य असत्य और शुभ अशुभ के निर्णय करने में नितान्त असमर्थ होते हैं, और भ्रमजाल में पड़कर तरह तरह के दुःख भोगते हैं, निज अभिमान के वशीभूत होकर वह अपने भोग में ही अपना कल्याण समझ बैठते हैं, इसीसे स्वर्ण का मायारूपी विष से भरा हुआ 'भोग' नाम का पात्र ही उन्हें प्यारा लगता है, भोग-रूपी विष का वह बड़े आनन्द से आस्वादन करने लगते हैं।

बस, इसी समय से उनके नक्षत्र फिर जाते हैं, नया जीवन प्रारम्भ हो जाता है, जन्मकुंडली भी तैयार हो जाती है, जिसके अनुसार चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना पड़ता है, और नाम संस्कार होकर मायादास नाम भी इसी समय पड़ जाता है, जो यमराज के खाते पर तुरंत चढ़ जाता है। इस विष के पीते ही ऐसा नशा चढ़ता है, कि फिर वह अपने स्वरूप को बिलकुल भूल ही जाते हैं, फिर मायादेवी के डंडे खाते और सुख-दुःख की चक्की में घुन की तरह पीसे जाते हैं, फिर भी उन्हें होश नहीं आता। हाय ! शुद्ध सनातन जीव की यह क्या दशा होती है ! इसी प्रकार निरंतर भगवान् की चित्-शक्ति और माया शक्ति से जीवों का उद्धार और पतन हुआ करता है। (क्रमशः)

दृश्य जगत् द्वन्द्वमय है। सत्-असत्, उज्ज्वल-अन्धकार, शीत-ग्रीष्म, सुख दुःख, मान-अपमान आदि जगत् में विराजमान हैं। विश्व-विधाता के इस रचना कौशल में आदि काल से देव और असुर इन दो प्रकार की सृष्टि चली आ रही है। जो अद्वितीय सर्वेश्वरेश्वर श्रीभगवान् के नित्य स्थिति का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और अपने को उनका नित्य दास जानकर सदा कायमनवाक्य से नित्य प्रभु की सेवा में मग्न हैं, वे 'देवता' हैं। और जो श्रीभगवान् के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं, परन्तु स्वयं भगवान् बनकर जगत्पति के भोग्य जगत् का भोग करने के लिये तैयार हैं, वे ही "असुर" नाम से अभिहित हैं।

जगत् में यह देवासुर-संग्राम, आज नया नहीं है, सृष्टि के प्रारम्भ से चल रहा है। असुर लोग केवल भगवद्भक्त के विरोधी नहीं हैं, स्वभावतः भक्ति और भगवद्विरोधी हैं। वे केवल भक्त विनाश से सन्तुष्ट नहीं हैं, साक्षात् श्रीभगवान् के अप्राकृत कलेवर को भी मूढ़तावश प्राकृत ज्ञान कर उस सर्वजन वन्दित देह में अस्त्र-निक्षेप करने में कुण्ठित नहीं होते।

सरलता ही श्रीभगवत्-सेवा-प्राप्ति का एकमात्र

उपाय है। जहाँ कुटिलता बिन्दु परिमाण में भी अवस्थान करती है, उस जगह सेवा की कोई बात ही नहीं। फिर, उस सरलता पर कुटिलता के अनेक अत्याचार हैं।

व्रजभूमि ही उस सरलता की खानि है। इसीलिये व्रजवासियों के ऊपर मायावी असुरदल ने कितने अत्याचार किये थे, उनमें आज हम एक अत्याचार की कथा का उल्लेख करेंगे।

लीलामय श्रीभगवान् एक दिन वन में प्रातभोजन करने की इच्छा से साथियों को मनोहर शृङ्गरव से प्रबोधित कर स्वयं गौ-वत्सों को साथ ले बाहर निकले। श्रीकृष्ण-गतप्राण व्रजबालकगण ने मित्र की पुकार पर जल्दी-जल्दी अपने-अपने बछड़ों को लेकर हाथ में शिङ्गा, वेंत, वेणु और विषाण ले सखा का अनुगमन किया।

अप्राकृत व्रजबालकगण क्रमशः प्राकृत व्रजबालकों की तरह बालस्वभाव-चपलता के अभिनय में व्यस्त हो उठे। अपनी-अपनी माताओं द्वारा अनेक प्रकार के मणि-मुक्तादि द्वारा सज्जित होने पर भी वे स्वच्छन्द वनजात पुष्पादि और मयूरपुच्छ से अपना वेष-भूषा बनाने लगे। कोई वेणु, कोई शृङ्ग के बजाने में, कोई भृङ्गगीत के, कोई कोयलगीत का अनुकरण करने लगा। फिर कोई पक्षी की छाया के साथ दौड़ने, हंस के साथ चलने, बक के साथ बैठने और मयूर के सङ्ग में नाचने लग गये। कोई मृग के साथ और कोई मेढक के साथ खेल-कूद करने लगे।

हाय, कैसा सौभाग्य है! जो भगवान् श्रीहरि भक्तों के आत्मप्रद परमदेवता हैं और मायामुग्धजन के लिये प्राकृत नर बालकरूप में प्रतीयमान होते हैं, उनके साथ गोपबालकगण जब इस प्रकार विहार कर रहे थे, तब यह निश्चय जानना चाहिये, कि वे सामान्य बालक नहीं थे। कारण न जाने कितने सुकृति के फल से श्रीभगवान् मित्र भाव से उनके साथ क्रीड़ा कर रहे थे। यह व्रजवासियों के भाग्य प्राकृत बुद्धि-विशिष्ट व्यक्तिगण के उपलब्धि का अतीत विषय है। योगिगण अनेक जन्म से कष्टसाध्य व्रतादि का पालन कर संयत चित्त होकर भी जिनके श्रीचरणरज के लाभ करने में समर्थ नहीं होते, वही भगवान् व्रजवासियों के स्वयं दृष्टिगोचर हुए थे।

व्रजवासियों के इस सौभाग्य-दर्शन से सन्तुष्ट न होकर कपटनारूपिणी पूतना का सहोदर नृशंस अघासुर व्रजबालकगण की सेवा में प्रवृत्त न हो उन्हें प्राकृत बुद्धि से विनाश करने पर उद्यत हुआ। उसने सोचा, कि जब इन्होंने हमारे भाई और बहिन का विनाश किया है, तब मैं केवल इन्हीं लोगों को नहीं व्रजवासियों का भी प्राणनाश करूँगा। प्राणधारी मनुष्यों के पुत्र ही उनके प्रियतर प्राण हैं। इसलिये पुत्र के विनाश से ही पुत्र और उनके आत्मीय स्वजन की मृत्यु एक साथ ही साधित होती है। मायावी इस प्रकार सोच योजन प्रमाण दीर्घ पर्वत तुल्य उच्च विशाल अजगर देह धारण कर उन बालकगण को निगल जाने की आशा से मुँह फैलाकर रास्ते में सो गया। उसका एक होंठ जमीन में, दूसरा होंठ आकाश में लगा हुआ था और होंठों के किनारे में पर्वत गुफा की तरह विस्तीर्ण रास्ता था। उसके सारे दाँत गिरिशृंग की तरह, मुखगह्वर में घोर अन्धकार, लम्बी जीभ सड़क की तरह, निश्वास साक्षात् प्रबल हवा की तरह और दोनों आँखें दावानल की तरह जल रही थीं।

व्रज-बालकगण इस अद्भुत जन्तु को अजगर जानकर वृन्दावन की सम्पद् समझकर तर्क-वितर्क करने लगे। हमलोग आगे जो चीज़ देख रहे हैं, वह जीवधारी है कि नहीं? हमलोगों को निगल जाने के लिये इसका यह प्रयास है, कि नहीं? इत्यादि अनेक प्रकार के वर्णन द्वारा मायावी असुर की माया को समझ गये और अजगर को अपना प्राणनाशक जानकर भी कहने लगे—मित्र श्रीकृष्ण जब हमारे सहायक हैं, तब हमारा कोई विनाश नहीं कर सकता। बकासुर का जो परिणाम हुआ था, आज मित्र इसकी भी वैसी ही अवस्था करेंगे—यह कहकर सब श्रीभगवान् के कमनीय वदन का अवलोकन कर ताली पीटते हुए अजगर के मुँह में प्रवेश कर गये। अखिल प्राणियों के हृदयस्थित श्रीभगवान् ने सर्वस्व अर्पणकारी बालकों की बात

सुनकर विपद् से उनके उद्धार की चिन्ता की। इधर वह असुर बालकों को उदर में पाकर भी सन्तुष्ट न हुआ। पूतनाघाती श्रीकृष्ण के विनाश-चिन्ता में मुँह फैलाये ही रहा। तब सर्वप्राण भगवान् अनाथ बालकों की रक्षा के लिये स्वयं सर्प-मुख में प्रवेश कर गये। तब सर्परूपी असुर अपने आत्मीयों के मारनेवाले को अपने हाथ में पाकर वध के लिये तैयार हुआ। जो भगवान् सबके विपद् को दूर करते हैं, आज उन्हीं भगवान् को विपद् में पड़े देखकर मुग्ध देवगण व्यस्त हो पड़े। तब श्रीभगवान् अपने सखागण के साथ अपनी देह को सर्प के गले में डालने लगे। उस अतिकाय असुर का कण्ठ निरुद्ध और नेत्र बाहर हो पड़े। वह व्याकुल हो इधर-उधर भ्रमण करने लगा और अन्त में ब्रह्मरन्ध्र भेदकर मृत्युमुख में पतित हुआ। तब श्रीभगवान् ने अपने साथियों को निस्तेज देख कर अमृतवर्षा की दृष्टि द्वारा उन्हें सतेज किया।

इधर उस सर्प की देह से एक अद्भुत ज्योति निकलकर श्रीभगवान् की देह में समा गई।

जिनकी श्रीमूर्ति का मन में ध्यान करने पर भक्तगण को वैकुण्ठ की गति मिलती है, उन्हीं भगवान् ने साक्षात् अन्तर में प्रविष्ट हो जिस अघासुर को सायुज्य मुक्तिदान की, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

आश्रमधर्म



भोग की उद्दाम वाँछा का दमन कर श्रीहरि-भजन में प्रवृत्त होने के लिये आश्रमधर्म अत्यन्त उपयोगी है। जो उच्छृङ्खल व्यक्ति भोग में प्रमत्त है, संयम-शिक्षा के अभाव में उनका कोई आश्रम नहीं है। म्लेच्छ या अन्त्यजगण आश्रमबहिर्भूत हैं। शोककारी शूद्रगण सहज ही भोगभाव से खिन्न हो पड़ते हैं; इसलिये ये भोगप्रवणता के स्रोत में संयम की शिक्षा डूब जाती है; अतः शूद्रों को भी गृहस्थी छोड़ कोई आश्रम विचार नहीं है। आजकल प्रायः सभी लोगों की ऐसी अवस्था है। संयम शिक्षा की उपयोगिता की कोई उपलब्धि नहीं है, अतः आश्रमशिक्षा के अभाव में प्रायः सभी अन्त्यज या शूद्राधिकार का ही वरण कर चल रहे हैं, वर्तमान समाज की यही अवस्था है।

आश्रमधर्म में प्रत्येक आर्य को पहले ब्रह्मचर्य की शिक्षा लेनी होगी। गुरु के घर रहकर, गुरु की आज्ञा का पालन कर, विषय और स्त्री-सन्दर्शन से अलग रहकर वेदाध्ययन और वेद-प्रतिपाद्य श्रीभगवान् की सेवा में आत्मनियोग का नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म का अर्थ है वेद, ब्रह्मचारी वेद में विचरण करे अर्थात् केवल वैदिकशास्त्र की आलोचना और उसकी आज्ञा पालन ही ब्रह्मचारी का एकमात्र कृत्य है। संयम-शिक्षा के समय मनुष्य को भोग्य वस्तु का त्याग करना पड़ता है। श्रीगुरु के घर रहने के समय कोई भी भोग का आदर्श उनके चित्त को आलोड़ित करने की फुरसत न पाये तब गुरु के गृहस्थ होने से किसी-किसी जगह इसका व्यभिचार भी दिखाई दिया है। गुरु जहाँ गृहस्थाश्रम से अतीत हैं, वहाँ उनका गृह मठतुल्य है, उस जगह भगवत्सेवा की कथा और कार्य के अतिरिक्त और किसी का भी गन्ध नहीं, अतः ऐसी जगह पर ब्रह्मचर्य-शिक्षा का सुयोग हो सकता है। जीवन का कम-से कम चौथाई हिस्सा ब्रह्मचर्य पालन का समय है। ब्रह्मचर्य पालन कर भगवत्सेवा में लगे रहकर श्रीगुरुमुखपद्म विगलित उपदेश लाभ करते-करते जिनका सम्बन्ध ज्ञानोदय से भोग की बीज वासना तक विनष्ट हो गया है, वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी या बृहद्व्रती हो निरन्तर हरिसेवा कर जगत् में वरणीय होते हैं। जिनको इतना सौभाग्य लाभ नहीं है, उन्हें कुछ भोग-वासना का लेश रहने पर भी पचीस वर्ष के ब्रह्मचर्य अभ्यास के फल से उन्हें जो आत्मदमन में सामर्थ्य संचित हुआ है, उससे वह वासना विशेष वृद्धि हो नहीं सकती। उन्हीं के यथाशास्त्र समावर्तन कर उपयुक्त बालिका का पाणिग्रहण कर गृहधर्म में प्रवृत्त हों। वही गृहस्थ हैं। अतएव देखा जाता है, कि यथार्थ गार्हस्थ्य

धर्म में प्रवेश करने पर यथाविधि ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। गार्हस्थ्य-धर्म प्रवृत्ति का उद्दाम उच्छृङ्खल क्रीड़ाक्षेत्र नहीं है। ब्रह्मचर्य का पालन प्रत्येक आश्रम का भित्ति रूप है। इसका अभाव अनार्यत्व का परिचायक है। आर्यधर्म का परिचय देने पर ब्रह्मचर्य का प्रश्न स्वत: उत्थित होता है। हाय, आज हम अनार्य हो गये हैं। परन्तु आर्य अभिमान में दूसरे को अनार्य कहकर उनका स्पर्श तो दूर की बात है, दर्शन का, गाँव का रास्ता, व्यवहार में आनेवाले जलाशय के समीप आकर मन्दिर के चूड़ा के दर्शन के अयोग्य बनाकर अपना ऊँचा सम्मान गिराने का प्रयत्न कर रहे हैं। अहो! आज आर्यधर्म की कैसी अधोगति हुई है।

वेदविहित गृहस्थ के लिये नित्य यज्ञ आवश्यक है। इसलिये वह साग्निक है। 'यज्ञ' अर्थ में यज्ञेश्वर विष्णु का प्रीणन (प्रीति) है। शास्त्र में कहा है, जो अपने लिये पाकादि कार्य करते हैं, वे नारकी हैं। यह विष्णु प्रीणनरूप यज्ञ कोई सकाम भाव से करता है, कोई निष्काम भाव से करने के प्रयासी होते हैं और कोई विष्णुप्रीतिकाम हो करते हैं। सकाम विष्णु उपासना में जिसकी कामना प्रबल होती है, उसका ब्रह्मचर्य का फल सत्य नहीं होता। ऐसे गृहस्थ को कर्मी कहते हैं, उनका अधिकार कर्माधिकार है। वेद में उनकी अवस्थानुयायी व्यवस्था भी है। वेद के उक्त अंश को कर्मकाण्ड कहते हैं; संहितांशादि कर्मकाण्ड से भरे हैं। निष्काम उपासना में मोक्षकामना नेपथ्य में लुकी हुई है। इसके मूल में निर्भेद ब्रह्मानुसन्धानतत्परता ही दिखाई देती है। इनका आलोच्य उपनिषद् के केवल अद्वैत विषयक वाक्यों को वेद का ज्ञानकाण्ड कहते हैं। और विष्णुप्रीतिकामी वैष्णवगण उपनिषद् के द्वैत और अद्वैत पर वाक्यों के प्रति समभाव से सम्मान दिखाकर उपनिषद् के मूल वेदान्त, उसका भाष्य श्रीमद्भागवत को वेद का पक्क फल जानते हैं। वे श्रौत उपासनाकाण्ड के अनुगामी हैं। भोग या मोक्ष-कामना से दूर रहकर वे ही यथार्थ विष्णुप्रीणन रूप यज्ञ में सम्पूर्ण रूप से पारदर्शी हैं; फिर भी कर्मकाण्ड की प्रणाली उनके लिये प्रयोज्य नहीं है। हरिप्रीणन रूप यज्ञ से च्युत होने पर कोई गृहस्थ रह नहीं सकता, वे आश्रमच्युत अन्त्यजादि हो जाते हैं। हम यदि वर्तमान समय की सामाजिक आलोचना करके देखें, तो यथार्थ गृहस्थ कितने मिलेंगे? सभी गृहस्थ कहकर परिचय देते हैं सही, किन्तु प्रति हजार एक भी सच्चे गृहस्थ नहीं हैं। उन्हें "स्त्रैण गृहमेधी" या "स्त्री-सौन्दर्य का पागल" कहा जा सकता है। आसक्ति के प्रबल विताड़न में प्रायः सभी स्त्रीजित देहारामी हैं, उनसे विष्णु-प्रीणन कैसे संभव है? कर्मी सकाम होने पर भी विष्णु-यज्ञ के लिये उनमें संयम है। किन्तु आजकल के व्यक्ति प्रायः कोई भी गृहस्थ नहीं हो सकते। उनमें जिनका-जिनका सौभाग्य है, वे साधुगुरुचरण में शरणागत होकर, गुरुगृह में वास कर ब्रह्मचर्य का अभ्यास और आश्रमी होने की योग्यता लाभ करते हैं। वे फिर आर्य-धर्म में प्रतिष्ठित हो समाज में आश्रमधर्म का प्रवर्त्तन करते हुए हिन्दू मुखोज्ज्वलकारी हुए हैं। उनके आदर्श पर सब अपने-अपने आश्रमाधिकार को प्राप्त हों, यह बड़ी आशा की बात है।

तृतीय वानप्रस्थ आश्रम है। शास्त्रविधि के अनुसार गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करते-करते जो कुछ भोग-कामना अवशिष्ट थी, गृहस्थ की कठिन परीक्षा, जो भोगोपकरण के बीच संयमाभ्यास है, उसके फल से उसका भी मूलोच्छेद होता है। तब जीवन के तृतीयांश में निर्जन में भगवत् चिन्ता का अधिकार अधिगत होता है। निर्जन कुटी में वास कर या गुरुकुल में वास कर समाहित चित्त से भगवत् अनुशीलन ही उनका कृत्य है। उनके आदर्श से ब्रह्मचारीगण अपना-अपना चरित्र गठित कर संयमाभ्यास के सुयोग को प्राप्त होता है। कभी-कभी देखा जाता है, कि कोई-कोई सस्त्रीक वानप्रस्थ धर्म का आचरण करते हैं। तब यह जान लेना चाहिये, कि उनकी पुत्रोत्पादनेच्छा निरस्त हो गई है, उत्तमरूप से गृहस्थ धर्म का पालनकर वे प्रवृत्ति-राज्य के अधिकार से उत्तीर्ण होते हैं। दोनों के धर्माचरण में सहाय हो अभी भी एक साथ धर्माचरण में प्रस्तुत हैं। अनायास से मिले हुए आहार से तृप्त हो भगवान की आलोचना ही उनका अवलम्बन है। इस प्रकार दम्पति के निकट रहकर शिक्षा लाभ करने में कोई असुविधा नहीं है, क्योंकि उनमें किसी प्रकार का भोग का आदर्श नहीं है, ब्रह्मचारीगण अनायास ही उनकी सेवा कर संयमाभ्यास का अधिक सुयोग प्राप्त कर सकते हैं। प्राथमिक जीवन में यथेष्ट ब्रह्मचर्याभ्यास, जीवन के द्वितीयांश में उत्तम रूप से गार्हस्थ्य धर्म का पालन करते हुए प्रवृत्ति का बीज नष्ट न होने से वानप्रस्थ अवलंबन करने पर पतन की सम्पूर्ण सम्भावना है; ऐसे समय में गुरुकुल में वास कर आश्रमधर्म पालन ही उपयुक्त है। किसी

प्रकार भी स्त्री को लेकर निर्जन वास करने की व्यवस्था करना उचित नहीं है। किसी-किसी जगह स्त्री को लेकर किसी-किसी को अखाड़ा बनाते देखा गया है, क्रमश उस जगह सांसारिक सभी आविलता का प्रवेश हुआ है, यह भी देखा गया है अपक्व अवस्था में उच्चाधिकार प्राप्त करने की चेष्टा का यही अनिवार्य फल है।

चतुर्थ श्रेणी को संन्यासी या यति कहते हैं। वह परिव्राजक हैं। वह किसी निर्दिष्ट कुटी में वास नहीं करते। पहले कुटीचक अवस्था में इस विधान में कुछ-कुछ शिथिलता दिखाई देने पर भी क्रमशः अभ्यास कर वह आश्रय का ममत्व वर्जन करते हैं और परिव्राजक के धर्म में अधिष्ठित हो 'बहूदक' संज्ञा को प्राप्त होते हैं। बहुतेरे तीर्थ में साधुसंग का सुयोग पाकर क्रमशः उसका सम्बन्ध ज्ञान परिपुष्ट होता है, उस अवस्था में वह एकमात्र हरिकीर्त्तन का ही आश्रय लेते हैं। इस जगह यह कह देना चाहिये, कि सभी आश्रमों में हरिकीर्त्तन आवश्यक है, फिर इस हंस अवस्था में उन्नीत न होनेपर हरिकीर्त्तन पूर्णभाव से सुष्ठुता लाभ नहीं करती। इस अवस्था में वे जीव में दया की पराकाष्ठा दिखाकर क्रमशः आश्रमातीत परमहंस अवस्था में उन्नीत होते हैं। परमहंस स्वाभाविक हरि-प्रीति में निष्णात हो लोक बाह्य चारित हो जाते हैं। वह हरिरस मदिरा में मत्त होकर कभी नाचते हैं, कभी गाते हैं, कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं। परमहंस सभी आश्रमों में रह सकते हैं यथाविधि भगवत अनुशीलन करते करते उनकी स्वाभाविक हरि प्रीति इतनी प्रबल होती है, कि और किसी तरह की अपेक्षा करना नहीं पड़ता। अल्प साधन से ही वह सिद्ध होते हैं, सिद्धावस्था का नाम ही परमहंस है। वर्णाश्रमधर्म का उद्देश्य है कृष्णप्रेम लाभ, कृष्ण-प्रेम प्राप्त होनेपर और आश्रम विधि के क्रमपथकी आवश्यकता नहीं होती। इसीलिये गृहस्थ-ब्राह्मणों में भी परमहंस दिखाई देते हैं। सिद्ध भक्त के सिवा कोई परमहंस नहीं हो सकता। हरिभजन ही जीवन का मुख्य उद्देश्य न होनेपर आश्रम विधि कृत्रिम भाव से पालित होता है, उससे कोई शुभ फलोदय नहीं होता, यही बात हमलोगों को सर्वदा स्मरण रखना होगा। श्रीमद्भागवत का कहना है, कि हरिभजन न करने से वर्ण और आश्रम से च्युत हो लोग अधःपतित होते हैं।

नित्यधर्म का नामान्तर वैष्णवधर्म है

(गताङ्क से आगे)

एक दिन लाहिड़ीने वैष्णवदास बाबाजी को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर पूछा,—प्रभो! प्रयोजन तत्त्व क्या है?

बा०—कृष्णप्रेम ही जीव का प्रयोजन तत्त्व है। साधना करते-करते भाव होता है। भाव पूर्ण होने पर वह 'प्रेम' हो जाता है। वही जीव का नित्यधर्म, नित्य धन और चरम प्रयोजन है। उस प्रेम के अभाव ही में कष्ट, जड़बन्धन और विपयसंयोग है। प्रेम की अपेक्षा और कोई चीज भी ऊँची नहीं है। कृष्ण केवल प्रेम के वश में हैं। चिन्मय तत्त्व आनन्द बढ़ने से प्रेम होता है।

ला०—(रोते-रोते) मैं क्या प्रेम लाभ करने के योग्य हो सकूँगा?

बा०—देखिये, थोड़े ही दिनों में आपने साधन भक्ति से भावभक्ति को प्राप्त किया है। और कुछ दिनों में कृष्ण आप पर अवश्य कृपा करेंगे।

यह बात सुनकर लाहिड़ी महाशय आनन्द से बारबार प्रणाम करके कहने लगे—आहा, गुरु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आहा, मैं इतने दिनों तक क्या करता रहा! गुरुदेव ने मुझपर आप ही कृपा कर मुझे विषय के गड्ढे से निकाल कर उद्धार किया है।

लाहिड़ी महाशय के शान्तिपुर के घर में अनेक आदमी हैं। दो सन्तान लिखना-पढ़ना सीख के बड़े हुए हैं। एक का नाम चन्द्रनाथ है; उनकी उम्र ३५ वर्ष की है। वे जमींदारी और घर के सारे काम-काज सँभालते हैं। वे चिकित्सा-शास्त्र के पंडित हैं; धर्म के सम्बन्ध में किसी प्रकार का क्लेश उठाना पसन्द नहीं करते; किन्तु ब्राह्मण-समाज में उनका अच्छा सम्मान है; दास-दासी, दरवान आदि रख घर का काम सम्मान के साथ करते हैं। दूसरे पुत्र का नाम देवीदास है। इन्हों ने छोटेपन से न्यायशास्त्र और स्मृतिशास्त्र का अध्ययन कर अपने घर के सामने एक पाठशाला खोल कर उसमें १०-१५ लड़कों को पढ़ाया करते हैं; उनकी उपाधि विद्यारत्न है।

एक दिन शान्तिपुर में एक अफवाह उड़ी, कि कालीदास लाहिड़ी 'भेख' लेकर वैष्णव हुए हैं। घाट, बाजार, रास्ता सभी जगह यही चर्चा थी। कोई-कोई कहता है, कि बुढ़ापे में बुढ़भस लगी है। इतने दिनों तक आदमी की तरह रहकर अब बुड्ढा पागल हो गया है। कोई कहने लगा,—ठीक है, यह कौन रोग है?—घर में सुख है, जाति के ब्राह्मण हैं, पुत्र परिवार अपने कहे में हैं, ऐसे लोग क्यों, किस दुःख से भेख लेते हैं? किसी ने कहा—धर्म्म-धर्म्म चिल्लाते हुए इधर-उधर घूमने से अन्त में ऐसी ही दुर्गति होती है। किसी-किसी शिष्ट ने कहा, कि कालिदास लाहिड़ी महाशय पुण्यात्मा हैं; संसार में सब कुछ है, फिर अन्त समय में हरिनाम में प्रेम हो गया है। ऐसी ही बातें होती हैं। किसी व्यक्ति ने यह सब बातें सुनकर देवीदास विद्यारत्न महाशय से जा कहा।

विद्यारत्न विशेष चिन्तान्वित् हो भाई के पास जाकर बोले,—भाई साहब! पिताजी के लिये तो बड़ी मुश्किल दिखलाई देती है। वह शरीर अच्छा रहता है के बहाने नदिया के गोद्रुम में रहते हैं, लेकिन वहाँ उन्हें सङ्ग ठीक नहीं मिला। गाँव में तो कान नहीं दिया जाता है।

चन्द्रनाथ ने कहा,—भाई! मैंने भी कुछ कुछ बात सुनी है। हम लोगों का इतना बड़ा घर है, लेकिन पिता की वजह मुँह दिखा नहीं सकते। अद्वैत प्रभु के वंश का हम लोग अनादर करते आ रहे हैं—अब अपने घर की क्या हालत है? आओ, अन्दर चलें, माता के साथ इस विषय पर विचार कर जो हो, करो।

दोतल्ले के बारामदे में चन्द्रनाथ और देवीदास भोजन करने बैठे थे। एक विधवा ब्राह्मणी परोस रही थी। गृहिणी माता बैठकर उन्हें भोजन करा रही थीं। चन्द्रनाथ ने कहा,—मा! पिता की कुछ बातें सुनी हैं?

मा ने कहा,—क्यों, पतिदेव अच्छी तरह तो हैं? वह हरिनाम में पागल हो श्रीनवद्वीप में हैं। तुम लोग उन्हें यहाँ क्यों नहीं लाते?

देवीदास ने कहा,—मा! पिता जी अच्छी तरह हैं, लेकिन जैसा सुनते हैं, उससे अब उनका अधिक भरोसा नहीं है। बल्कि उन्हें यहाँ लाने से हम लोगों को समाज में पतित होना पड़ेगा।

मा ने पूछा,—पतिदेव को क्या हुआ है? मैंने उस दिन बड़े गोस्वामी की वधू के साथ गंगा तट पर अनेक बातें की थीं। उन्होंने कहा,—आपके पति का बड़ा मंगल हुआ है—उन्होंने वैष्णवों में बड़ा सम्मान पाया है।

देवीदास ने कहा,—सम्मान नहीं, हम लोगों का माथा। इस वृद्धावस्था में घर रहकर हमलोगों की सेवा न लेकर अब कौपीनधारियों का जूठा भोजन खाकर हमलोगों के उच्चवंश में कलङ्क लगाने में तुले हुए हैं। हाय रे कलि! इतना पढ़-लिखकर भी पिताजी की कैसी बुद्धि हो गई?

(क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोद्द्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जाननगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
डेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १२ हनुमान रोड, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
कुसुरकुंदा चीरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वुर, वेष्ट गोदावरी, मद्रास

Registered No. A. 2191.

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

वर्ष १] श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः [संख्या २३

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

30th Sep. 1932

पद्मनाभ कृष्णपक्ष गौराब्द ४४६

आश्विन अमावास्या संवत् १९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

प्रति संख्या -) } सम्पादक–त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन-छपाई की दर नीचे लिखी है—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, १/२ ,,	३)
२ इंच ,, १/४ ,,	१॥)
१ ,, ,, १/८ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये।

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'
16, Seth Ramjas Road,
Narhe,
LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

वर्ष १ | श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य | संख्या २३

आश्विन अमावास्या गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, ३० सितम्बर सन् १९३२ ई०

नम्र-निवेदन

(२२)

तुम मारोगे जिसे, कौन रख सकता उसे,
तव इच्छावश त्रिभुवन ।
ब्रह्मा आदि देवगन, तुम्हरे दास अगगन,
करते तव आज्ञा का पालन ॥
तुम्हरी इच्छा के अभिमत, सब ग्रहगण अविरत,
शुभाशुभ फल करते दान ।
रोग शोक मृत्यु भय, तुम्हरी इच्छा से सब होय,
तव आज्ञा सदा बलवान ॥
तुम्हरे डर वायु निचय, चन्द्र सूर्य समुदय,
अपना नियमित कार्य करें ।
तुम तो हो परमेश्वर, परब्रह्म हो परात्पर,
भक्त-हृदय में वास करें ॥
सदा शुद्ध सिद्धकाम, भक्त-वत्सल है नाम,
भक्त-जन के नित्य स्वामी ।
तुम रक्खो जिसे, मारे कौन उसे,
सब विधि के विधि नामी ॥
तुम चरणों में नाथ, झुकाता हूँ अपने माथ,
भक्तिविनोद तव दास ।
विपद में दास हम, तारोगे नाथ तुम,
करोगे रक्षा है विश्वास ॥

'दुर्गा' शब्द का अर्थ बहुत प्रकार का दिखाई देता है। द् + उ + र् + ग् + आ = दुर्गा। दैत्यों के नाश की वजह 'द'कार, विघ्न-नाश की वजह 'उ' कार, रोग नाश की वजह 'रेफ,' पाप नाश की वजह 'ग' कार, भय और शत्रु के विनाश की वजह 'आ' कार का प्रयोग किया जाता है; फिर कहीं—"दुर्गं नाशयति या नित्यं सा दुर्गा परिकीर्त्तिता। विपत्ति-वाचको दुर्गश्चाकारो नाश-वाचकः।" फिर चण्डी में देवताओं की स्तुति में कहा है,—"दुर्गासि दुर्ग-भवसागर-नौरसङ्गा॥"—अर्थात् तुम्हारा नाम दुर्गा है, क्योंकि तुम दुर्गम भवसागर के लिये अद्वितीय नौकास्वरूपा हो। फिर कहा है,—"दुर्गायै दुर्गपारायै"—दुर्ग अर्थात् सङ्कट से जो रक्षा करती हैं। फिर चण्डी में देवीवाक्य है—

तत्रैव च वधिष्यामि दुर्गमाख्यं महासुरम्।
दुर्गादेवीति विख्यातं तन्मे नाम भविष्यति॥

दुर्ग नामक असुर का वध करने के कारण मैं 'दुर्गा' नाम से विख्यात होऊँगी।

फिर अन्यत्र दिखाई देता है, कि 'दुर्ग' शब्द का अर्थ 'कारागृह' या जीव का संशोधन-क्षेत्र—चौदह भुवनात्मक देवीधाम है। उसकी अधिष्ठात्री देवी दुर्गा के नाम से विख्यात हैं। मार्कण्डेय की चण्डी के पढ़ने से जान पड़ता है, कि देवताओं के अपने पद से भ्रष्ट होना प्रकट होने पर मधुसूदन और शम्भु कुपित हुए; तब उनके शरीर से एक महत् तेज निकला, उसमें देवताओं के शरीर का तेज इकट्ठा होने पर सिंहवाहिनी दुर्गा आविर्भूता हुई। विष्णु के तेज से देवी के दोनों बाहु, और शम्भु के मुख से निकले हुए तेज से मुखमण्डल बना। वही दुर्गादेवी देवी-धाम में (चौदह भुवनात्मक जड़-जगत् में) दशकर्मरूपिणी दशभुजा हुई। धीर-प्रताप में अवस्थिति के रूप में सिंहवाहिनी हैं। पाप-दमन के रूप में महिषासुर-मर्दिनी हैं। शोभा और सिद्धि के रूप में दो पुत्रोंवाली गणेशजननी हैं। जड़ैश्वर्य और जड़विद्या की सङ्गिनी के रूप में लक्ष्मी और सरस्वती के साथ विराजिता हैं। पाप-निवारण के रूप में बीस धर्मशास्त्रों के रूप में बीस अस्त्रधारिणी हैं।

सिद्धान्त-ग्रन्थ श्रीब्रह्मसंहिता में ब्रह्मा दुर्गादेवी के स्वरूप विचार पर कहते हैं,—

"सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका
छायेव यस्य भुवनानि बिभर्त्ति दुर्गा।
इच्छानुरूपमपि यस्य च चेष्टते सा
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥"

भगवान की स्वरूपशक्ति एक ही है। उपनिषद् में पराशक्ति के नाम से उसीकी व्याख्या की गई है। उन्हीं स्वरूपशक्ति की छायास्वरूपिणी प्रपञ्चमय जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलय का साधन करनेवाली मायाशक्ति ही भुवन की रक्षा करनेवाली दुर्गा हैं। वह दुर्गा देवी जिन आदिपुरुष गोविन्द की इच्छाविधायिनी हैं, उन मूल पुरुष गोविन्द को मैं भजता हूँ।

स्वारोचिष मन्वंतर में चैत्रवंश के राज्यभ्रष्ट राजा सुरथ और कुटुम्बियों से परित्याग किये गये समाधि नामक वैश्य के समय से ही इनकी पूजा की प्रथा संसार में प्रचलित हुई है। राजा ने देवी की आराधना से फिर राज्य पाया और देवी ने निराश-चित्त वैश्य को ज्ञान प्राप्त कराने के लिये वरदान किया। सौर आश्विन महीने में अकाल में रामचन्द्र ने रावण का वध करने के लिये ब्रह्मा के बताने से देवी की आराधना कर दुर्गा देवी की पूजा की थी। और तभी से यह प्रथा जगत् में प्रचलित हुई, किन्तु महर्षि वाल्मीकि-कृत मूल रामायण में कहीं भी यह विषय दिखाई नहीं देता। न जाने कैसे कवि कृत्तिवास ने जो बङ्गला के पयार छन्द में रामायण की रचना की है, उसमें ही यह विषय दिखाई देता है। कृत्तिवास का स्थान बङ्गला के साहित्यिक जगत् में प्रतिष्ठित होने पर भी उनके पुराण-कल्पित सिद्धान्त को देख सारग्राहीगण परमार्थ जगत् में उन्हें उच्च स्थान दे नहीं सकते। उन्होंने अपनी रामायण में विष्णु के अवतार श्रीरामचन्द्र को संसारी जीव बना डाला है। ब्रह्मरुद्रादि देव-सेवित विष्णु हैं और विष्णु-माया उनकी आज्ञा माननेवाली हैं। द्वितीयतः जड़माया स्वरूपशक्ति की छाया है, उसका काम संसारी हरि-विमुख जीवों के ऊपर ही सम्भव है। अप्राकृत चिन्मय धाम में

भगवत्-लीला की पोषकता योगमाया का ही काम है। तटस्थाशक्ति से उत्पन्न अणुचित् विभिन्नांश जीवगण अनादि बहिर्मुखता की वजह स्वतन्त्रता के अपव्यवहार के फल से जो प्रपञ्चमय जगत में पतित और कारारुद्ध होते हैं, वही देवीधाम या दुर्गादेवी का दुर्ग है। पतित अपराधी जीव को कारागार की रक्षा-करनेवाली दुर्गा देवी कैदी की वर्दी के समान दो प्रकार के आवरण से आवृत रखती हैं। एक मन-बुद्धि-अहङ्कारात्मक सूक्ष्म शरीर, लिङ्गदेह या वासनामय कोष और दूसरी वासनामय देह की सहायक-स्वरूप पाञ्चभौतिक स्थूल देह। इन दो पोशाकों के पहनने से जीव का शुद्ध चिन्मय स्वरूप ढँक पड़ता है। तब चिदाभास मन बुद्धि-अहङ्कारात्मक लिङ्गदेह में तरह तरह के अभिमान उपस्थित होते हैं। कभी मनुष्य और कभी पशु-पक्षी आदि का अभिमान, कभी पुरुष, नारी, राजा, प्रजा, पिता, पुत्र, सुखी, दुःखी आदि नाना प्रकार के अभिमान उपस्थित होते हैं। इस प्रकार विरूपज्ञान के वशवर्त्ती हो माया में फँसा हुआ जीव अपने को शोकमोह से आच्छन्न और अभावग्रस्त समझता है। तभी वह कारागार की रक्षा करनेवाली से धन, जन, पुत्र, पौत्र, सुन्दरी स्त्री, युद्ध में जयलाभ आदि की कामना किया करते हैं। कभी सुख-दुःख के बोध के हाथ से छुटकारा पाने के लिये अज्ञानी बन जाना चाहते और कभी जड़ सुख-दुःख को सामान्य समझ जड़ता को छोड़ सुख पाने की आशा से भगवान् का आसन लेने को अग्रसर होते हैं। दुर्गा देवी भी उन्हें कामना के अनुसार धन-जन आदि प्रदानकर कर्मचक्र में पीसती हैं और कभी उनके आत्मविनाशरूप भगवत्-विमुखता का दण्ड प्रदान करती हैं। किन्तु जो सुकृतिमान् हैं, वे इन सब भुक्ति मुक्ति की इच्छाओं का महामाया की कपट कृपा समझ विष्णुमाया के सत्स्वरूप का आश्रय ग्रहण करते हैं; वे लिङ्ग और स्थूल देह के बन्धनों से छुटकारा पा नित्य भागवत शरीर को लाभ करने और स्वरूप देह में चित् शक्ति ह्लादिनी (श्रीराधा) की सेवा की पोषकता करते हैं।

स्वरूपशक्ति की छायास्वरूपा दुर्गा का काम ही विमुख-मोहन है। सुतरां कर्मफल भोगी और कर्मफल-त्यागी बहिर्मुख मनुष्यों द्वारा जगत् में दुर्गा देवी का जो आवाहन होता है, वह भगवान के चिन्मय धाम में विराजनेवाली चिन्मयी कृष्णदासी योगमाया दुर्गा की छाया-मात्र है। भगवान् के पीठावरण की पूजा में जो दुर्गा, गणेश आदि देवता हैं, जो नित्य वैकुण्ठ-सेवक हैं, यह सब भगवान की स्वरूपभूत-शक्ति हैं, किन्तु जड़-जगत् में पूजित दुर्गा-गणेशादि देवता मायाशक्तिमात्र हैं। भगवान की नित्य वैकुण्ठ-सेविका योगमाया ही भगवत् सेवा-प्रार्थिनी व्रजराज-कुमारियों द्वारा पूजिता हैं। इस पूजा में केवल भगवत्-प्रीति की कामना है। अपने फल भोग या फल-त्याग की कामना नहीं। जो सब अतात्त्विक असारग्राही मनुष्य व्रजकुमारियों के कात्यायनी-अर्चन व्रत की दोहाई दे अपनी अपनी भुक्ति मुक्ति कामनामूलक छायाशक्ति की कल्पित मूर्त्ति की पूजा का समर्थन करने की चेष्टा करते हैं, वे कात्यायनी के चरण में, व्रजकुमारियों के चरण में और श्रीभगवान के चरण में अपराध करते हैं। क्या व्रज-कुमारियाँ प्राकृत बद्ध जीव हैं? क्या वह प्राकृत जड़-देश-वासिनी हैं? क्या उनकी देह जड़ देह है? क्या उनकी कामना बद्ध जीवों की कामना के समान है? कभी नहीं! वे भगवान की स्वरूपशक्ति ह्लादिनी का काय-व्यूह हैं, उनका धाम चिन्मय है, देह चिन्मय है, कृष्ण प्रीति की कामना ही उनकी कामना है। उनके प्रेम का आदर्श इस प्रकार है, —

लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म, कर्म।
लज्जा, धैर्य, देहसुख— आत्मसुख मर्म॥
दुस्त्याज्य आर्यपथ, निज परिजन।
स्वजन करें जितना ताड़न भर्त्सन॥
सब त्याग करि करें कृष्ण का भजन।
कृष्णसुख हेतु करें प्रेम का सेवन॥
इसे कहते कृष्ण में गूढ़ अनुराग।
स्वच्छ धोये वस्त्र जैसे नहीं कुछ दाग॥
निज सुख-दुख गोपी न करें विचार।
कृष्णसुख हेतु करें सब व्यवहार॥
निज आनन्द होय कृष्णसेवानन्द रोध।
उस आनन्द पै करें भक्त महा क्रोध॥
(चै० च० आदि ४र्थ)

जो ऐसे आदर्श-सेवक हैं, वे भगवान की सेवाप्राप्ति के लिये क्या नहीं कर सकते? यह जड़ जगत चिज्जगत की हेय परछाईं है। चिद्विलास के कितनी ही विचित्रताओं,

की छाया इस जड़ जगत में भी वर्तमान है। सुतरां अप्राकृत चिद्धाम की प्रेमचेष्टा के साथ प्राकृत जगत् की कामचेष्टा एक हो नहीं सकती। इस जगत में दिखाई देता है, कि प्रेमिका प्रेमी के लिये, पत्नी स्वामी की सेवा के लिये छाया-शक्ति महामाया की आराधना करती है, इससे पत्नी या प्रेमिनी का स्वामी और प्रेमिक के प्रति प्रेम का ही परिचय मिलता है। किन्तु यह जड़ जगत हेयता और क्षुद्रता से पूर्ण है; यहाँ बद्ध जीवों की सारी चेष्टाएँ अपने भोग के लिये हैं। अप्राकृत जगत् में ऐसी हेयता या क्षुद्रता नहीं है। वहाँ सभी स्वरूप में अवस्थित हैं, सुतरां सब एकमात्र भगवत्-प्रीति की ही इच्छा किया करते हैं। अतएव स्वरूपशक्ति की कायव्यूह व्रजकुमारियों की कृष्णप्रीति के चरम उत्कर्ष का ही परिचय मिला है। देहाभिमानी जीव कैसे कह सकते हैं, कि उनकी दुर्गा की आराधना भी वैसी ही है? छायाशक्ति का काम ही विमुख-मोहन है। सुतरां उनके आगे प्रार्थना करने पर भी वह भगवत्-प्रेम दान कर नहीं सकतीं। जिसके पास धन नहीं है, उससे धन की भिक्षा माँगने से जबान खाली करना पड़ता है। अतएव जगत् में दुर्गा-आराधना छायाशक्ति की आराधना मात्र है। श्रीमद्भागवत के १०।२१ अध्याय में है,—"कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि। नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः॥" इस श्लोक की टीका में श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती शर्मा ने कहा है, "इयं ताभिरुपासिता चित्-शक्तिवृत्तिः स्वरूपभूता योगमायैव न तु बहिरङ्गा माया। अतः "सर्वेषु कृष्णमन्त्रेषु दुर्गाधिष्ठातृदेवता" इत्यागमे शुद्धसत्त्वस्वरूपा चिच्छक्तिवृत्तिः कृष्णाभगिन्येकांशाभिधाना योगमायैव मन्त्राधिष्ठात्री। सैव खल्वाभिरुपासिता दुर्गा-महामायेत्यादि नामादिसाम्येनैव लोकानां भ्रमो भवतीति।" अर्थात् जिन कुमारियों ने कात्यायनी की आराधना की थी, वे स्वरूपांशभूता योगमाया हैं, बहिरङ्गा मायाशक्ति नहीं, 'सर्व कृष्णमन्त्र में दुर्गा ही अधिष्ठातृ देवता हैं' ऐसा जो आगमवाक्य है, उसके द्वारा शुद्ध-सत्त्वस्वरूपा भगवान की चित् शक्ति की वृत्ति स्वरूपांश-शक्ति योगमाया को ही मन्त्राधिष्ठातृ देवता समझना चाहिये। वे ही व्रजकुमारियों द्वारा उपासिता हैं। महामाया इत्यादि नाम के साम्य से भारवाही लोगों को भ्रम होता है। तोषिणी में श्रीसनातन गोस्वामी प्रभु ने कहा है,—"कात्यायनी परमवैष्णवी श्रीशिवप्रिया पार्वती हैं।" ब्रह्मसंहिता के ३य श्लोक की टीका में श्रीजीवपाद ने कहा है, कि शक्ति और शक्तिमान् का अभेद दिखाते हुए गौतमीय-कल्प का वचन है,—'यः कृष्णः सैव दुर्गा स्यात् या दुर्गा कृष्ण एव सः।' यहाँ कृष्ण की स्वरूप शक्ति की बात ही कही गई है। यह मायांश से उत्पन्न देवी धाम की दुर्गा नहीं हैं; क्योंकि गौतमीय-कल्प में लिखा है,—बहिरङ्गा दुर्गा की आराधना बड़े धूमधाम से की जाती है; किन्तु स्वरूपशक्ति की आराधना में कोई चेष्टा नहीं। श्रीमद्भागवत के १०।१।२५ श्लोक में शुकदेव गोस्वामी ने परीक्षित महाराज से कहा है,—

"विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्य्यार्थे सम्भविष्यति॥"

श्रीचक्रवर्ती ठाकुर की टीका मे लिखा है,—"विमुखमोहनं मायया उन्मुखमोहनं योगमाययेति व्यवस्थितिः। देवकीकन्यारूपेण कंसवञ्चनं तन्मायाया एव कार्यं, न तु योगमायायास्तादृश दुष्टलोकेषु तस्या अनुपयोगादेव। धृष्टयादवमोहनं मायैव, न तु योगमायया। देवकी सप्तमगर्भाकर्षण यशोदास्वापनादि तंहि योगमायाया एव कार्यं, न तु मायायाः। तादृश-सिद्धभक्तेषु मायायाः प्रभावितुमशक्यत्वाच्च। यत्तु वात्सल्यादि-महाप्रेमवतां श्रीयशोदादीनां विश्वरूप-वरुण-लोकादि-दर्शनान्ते वात्सल्यादि-भावाधिक्यत्वेनैश्वर्यज्ञानेऽप्यसम्भ्रमादेरैश्वर्यानुसन्धानलक्षणम्। मोहनं तत्र न योगमायया, नापि मायया, किन्तु प्रेम एव स स्वभावः।" अर्थात्—विमुख मोहन माया का काम है, जैसे देवकी की कन्या के रूप में कंस को ठगना या धृष्ट यादवों का मोहन, ऐसे दुष्ट लोगों का स्पर्श योगमाया नहीं करतीं। देवकी के सप्तम गर्भ का आकर्षण कर रोहिणी के गर्भ में रखना, गोकुल में नन्द की पत्नी यशोदा को निद्रा में निमग्न करना योगमाया का काम है, क्योंकि ऐसे सिद्ध-भक्त में जड़ माया का प्रभाव कामकर नहीं सकता। अतएव उन्मुख-मोहन योगमाया का काम है। चिन्मय धाम के वात्सल्यादि-रस के परम रसिकों को (जैसे नन्द-यशोदादि को) वरुण लोक या विश्वरूप प्रभृति ऐश्वर्य दिखाने पर भी वात्सल्य आदि भावों की अधिकता से जो सम्भ्रमज्ञान आच्छादित होते दिखाई देता है, वह योगमाया या जड़माया द्वारा मोहन-क्रिया नहीं है; वह तो प्रेम का ही स्वभाव या रस की पुष्टि

के लिये भगवान की निरङ्कुश इच्छा है। नारद पञ्चरात्र में श्रुति-विद्या-संवाद में दिखाई देता है,—

"जानात्येका परा कान्तं सैव दुर्गा तदात्मिका।
यत्परा परमा शक्तिर्महाविष्णुस्वरूपिणी॥
यस्या विज्ञानमात्रेण पराणां परमात्मनः।
मुहूर्त्ताद्देवदेवस्य प्राप्तिर्भवति नान्यथा॥
एकेयं प्रेमसर्वस्वस्वभावा गोकुलेश्वरी।
अनया सुलभो ज्ञेय आदि देवोऽखिलेश्वरः॥
अस्या आवरिका शक्तिर्महामायाखिलेश्वरी।
यया मुग्धं जगत् सर्वं सर्वे देहाभिमानिनः॥"

उन परम पुरुष भगवान की एक ही पराशक्ति हैं और वही स्वरूपात्मिका दुर्गा हैं। इन महाविष्णु स्वरूपिणी पराशक्ति के जानने से ही परम पुरुष को प्राप्त हुआ जा सकता है। यही प्रेम सर्वस्व-स्वभावा आह्लादिनी शक्ति हैं। इनके आश्रय से आदि देव अखिलेश्वर सहज में ही जाने जा सकते हैं। किन्तु महामाया के नाम से एक इनकी ही आवरिका शक्ति है, जिसके द्वारा समस्त जगत् और समस्त देहाभिमानी लोग मुग्ध होते हैं। सुतरां देहाभिमानी कर्मीगण और जो अपने को देह में बद्ध समझकर मुक्ति-कामी हैं, इन दोनों ही के प्राकृत सम्बन्धयुक्त होने से उसके द्वारा पराशक्ति की आवरिका छायास्वरूपा दुर्गा की ही आराधना होती है। जैसे रावण माया सीता का हरण कर यह समझता था, कि मैंने चिन्मयी विष्णुशक्ति सीतादेवी का हरण किया है, वैसे ही जगत् के बद्धजीव सब छायाशक्तियों की आराधना कर यह समझते हैं, कि मैंने वास्तविक दुर्गा की आराधना की है; ऐसा होने पर भी उन्हें प्रेमफल का लाभ नहीं होता; बल्कि महामाया के द्वारा और भी मोहित होना पड़ता है। महामाया इस प्रकार जीव को मोहित कर व्यतिरेक भाव से भगवान् के सेवाकार्य में नियुक्त हैं। जो सब बहिर्मुख अपराधी जीव सब कारण के कारण परम ईश्वर सच्चिदानन्द विग्रह गोविन्द की सेवा विमुख हैं, जो गोविन्द-भजन-परायण साधु, सद्गुरु या सत्शास्त्र में आस्थावान नहीं हैं, उन पाखण्ड जीवों को महामाया संसार-दुर्ग के कर्मचक्र में पीसते हुए भगवत्-उन्मुख करने की चेष्टा करती हैं। सुतरां महामाया की यह चेष्टा साक्षात् उन्मुख करने की चेष्टा नहीं है, व्यतिरेक चेष्टा मात्र है। इसीलिए महामाया भगवान् के दृष्टिपथ में रहते लज्जा बोध करती हैं। इसी से श्रीमद्भागवत का (२। ५। १०) कहना है—

"विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥"

तत्त्वसन्दर्भ में श्रीजीवपाद ने कहा—'अत्र विलज्जमानया इत्यनेनेदमायाति, तस्या जीवमोहनं कर्म श्रीभगवते न रोचते इति यद्यपि सा स्वयं जानाति, तथापि—"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य" इति दिशा जीवानामनादि भगवदज्ञानमय वैमुख्यमसहमाना स्वरूपावरणमस्वरूपावेशञ्च करोति।'

विद्याभूषणकृत टीकायां—'असहमानेति दास्या उचितमेतत् कर्म, यत् स्वामिविमुखान् दुःखान् करोतीति। ईशावैमुख्येन पिहितं जीवं माया विवृते, घटेनावृतं दीपं यथा तम आवृणोति'

अर्थात् जो माया भगवान की आँखों के सामने आने में लज्जा बोध करती है, दुर्बुद्धि जीव उसी माया द्वारा विमोहित हो 'मैं और मेरा' ऐसी श्लाघा करते हैं। यहाँ 'विलज्जमाना' शब्द से ऐसा जान पड़ता है, कि माया का जीव को मोहित करने का काम भगवान के रुचिकर नहीं। कारण, कृष्ण भगवान सदा ही जीवों को साधुओं द्वारा साक्षात् सेवादान में आकर्षण कर आनन्द प्रदान करने की इच्छा करते हैं; यद्यपि माया इस बात को जानती है, तथापि जीव अपनी स्वतन्त्रता के अपव्यवहार के फल से भगवान की सेवा परित्याग कर दूसरे विषयों में लगकर अपने स्वरूप को भूल जाता है, तब माया जीव की इस अनादि-बहिर्मुखता को न सहकर उस पर कपट कृपा करती अर्थात् जीव के स्वरूप का आवरण और अस्वरूप का आवेश करती है। जलते हुए दीपक को किसी ढकन से ढाँक देने पर जैसे अन्धकार भी दूसरा ढकना बन जाता है, वैसे ही भगवत्-बहिर्मुखता से ढँके जीव को 'मैं-मेरा की वृद्धि और स्त्री-पुत्रादि धन-जन' प्रदान कर और भी अस्वरूप के आवेश में डाल देती है। इसी से माया लज्जित हो भगवान के सामने आ नहीं सकती। किन्तु इससे माया की भगवान के प्रति विरुद्ध सेवा हो जाती है। सुतरां यह जो दुर्गाधिष्ठात्री दुर्गादेवी, भगवान के सामने जाने में लज्जा पाती हैं, उनकी आराधना से परम पुरुषार्थ भगवत्-प्रेम लाभ नहीं होता, धर्म-अर्थ आदि अपवर्ग द्वारा मोहित होना पड़ता है।

"श्रीभगवांश्चानादित एव भक्तायां प्रापञ्चिकाधिकारिण्यां तस्यां दाक्षिण्यं लङ्घितुं न शक्नोति । तथा तद्भयेनापि जीवानां स्वसाम्मुख्यं वाञ्छयन्नुपदिशति —

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥" (गीता)

"सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥"

(भा० ३।२५।२६)

अर्थात् भगवान माया के काम में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करते । किन्तु परम कारुणिक भगवान जीवों को माया के कवल में पिसते देख, यह जानकर कि माया का आश्रय लेने से जीवों का भय दूर न होगा, उन्हें अपनी ओर लाने के लिये शास्त्ररूपी उपदेश देते हैं,—"मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी माया अपारा है, जो केवल मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं, वे ही इस माया के हाथ से उद्धार पाते हैं ।" "साधुगण के सङ्ग से साधु के मुख से निकली माया का विनाश करने में शक्तिशाली, हृदय और कर्ण को परितृप्त करनेवाली मेरी कथा और सेवा करते हुए सुनने से शीघ्र ही मेरी सेवा में श्रद्धारति होती और भक्ति का क्रमशः उदय होता रहता है ।

अतएव जो साधुगुरु के आश्रय में एकमात्र सर्वेश्वर भगवान् के शरणापन्न होते हैं, वे ही चरम-मङ्गल लाभकर कृतार्थ होते हैं ।

'मूर्ख, तुम क्या खाओगे ?'

यह बात गुरु ने शिष्य से कही थी । आज नहीं, कल नहीं, दो सौ पाँच सौ वर्ष पहले भी नहीं, बहुत दिन पहले एक शास्त्रवादी ब्राह्मण ने अपने प्रियतम धनी शिष्य का शासन और हितोपदेश के बहाने क्रोधकर कहा था,—"मूर्ख, तू ने सब कुछ तो विष्णु को दान कर दिया, अब तेरा संसार कैसे चलेगा ?"

सुर या देवता, और असुर या दैत्यों में आपस में बहुत दिन से ही विषय भोग के लिये संग्राम चलता आता है । एक समय महाराज प्रह्लाद के पौत्र महाराज बलि देवताओं के हाथ मारे गये; किन्तु गुरुकुल में उत्पन्न ब्राह्मणों की कृपा से फिर जी उठे और उनके किये कर्म के फल से विविध बल से बलवान हो बहुत बड़ी सैन्य के साथ स्वर्ग में चढ़ गये । उनके भय से भयभीत हो देवता लोग अपना धाम स्वर्ग छोड़ भाग गये और बड़े ही कष्ट से दिन बिताने लगे । पुत्रों की ऐसी दुर्दशा देख माता अदिति शोक और दुःख से कातर और उदास हो स्वामी कश्यप के आने की राह देखने लगीं । ऐसे समय एकाएक एक दिन रोती हुई अदिति के आश्रम में प्रजापति महर्षि कश्यप आ उपस्थित हुए । दुःसमय में स्वामी के आगमन से अदिति ने शोकभार के कम होने और पुत्रों पर अन्याय करनेवाले शत्रुओं का विनाश करने तथा पति कश्यप से अपने अभीष्ट लाभ का उपाय पूछने और अपने पुत्रों के स्वच्छन्द से अपने धाम में वास करने की सुव्यवस्था के लिये कातर भाव से प्रार्थना की ।

पत्नी के दुःख पर समवेदना प्रकाश करना और दुःख के कारण का दूर करना स्वामी का कर्त्तव्य है, किन्तु कश्यप ने अदिति के दुःख से स्त्री के आनुगत्य से उनकी प्रार्थना को पूरण करने की कोई कोशिश न की । बल्कि उन्होंने बहुत ही दुःख प्रकाश करके कहा----"अहो ! विष्णुमाया भी कैसी बलवती है ! आज मेरी सहधर्मिणी अदिति माया में फँसकर कैसी दुर्दशा में पड़ी हैं ।" इसके बाद उन्होंने पत्नी को सम्बोधन कर कहा—"हे भद्रे ! पञ्चभूत से बनी यह देह ही क्या और पृथिवी-जल तेज-वायु-आकाश और मन-बुद्धि-अहङ्कार यह सब प्रकृति के अतीत और इन सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ वस्तु 'आत्मा' या 'जीव' ही क्या है ? तुम जीव और बुद्धि को एक समझ अपनी देह को 'देव' के नाम से कितनी ही देहों की माता और मेरी देह को अपनी देह का स्वामी समझ ऐसी

असुविधा भोग रही हो। क्या तुमने कभी सोचकर देखा है, कि कौन तुम्हारा पुत्र और कौन तुम्हारा स्वामी है? अपात्र को पात्र समझने से क्या कभी कोई फल मिलता है? तुम बुद्धिमती हो! तुम्हारे इस तरह भ्रम से वास्तव में मैं विस्मित हुआ हूँ। यदि सत्य का निर्द्धारण करना चाहती हो और अपना तथा अपने पुत्रों का नित्य मङ्गलविधान किया चाहती हो, तो भगवान् जनार्दन की उपासना करो। मैं तो लौकिक व्यवहार से तुम्हारा पति हूँ, किन्तु वास्तव में मैं तुम्हारा पति नहीं हूँ। जगद्गुरु वासुदेव ही एकमात्र पति हैं; और कोई किसी का पति हो नहीं सकता। इसलिये तुम उन नित्य पति के आगे अपनी प्रार्थना प्रकट करो। श्रीहरि की कृपा होने से तुम शान्त और निश्चिन्त हो सकोगी। सुतरां मुझे एकमात्र भगवत्-सेवा ही तुम्हारा वर्त्तमान कर्त्तव्य जान पड़ता है। ऐसा करो, जिससे भगवान् हरि तृप्ति-लाभ करें।'

स्वामी का ऐसा उपदेश सुन अदिति ने कौतूहल के साथ उनसे पूछा,—"प्रभो! किस विधि का अवलम्बन कर जगद्गुरु हरि की उपासना करना चाहिये; यह मैं नहीं जानती। दया कर मुझे उपदेश दीजिये, मैं उसीके अनुसार भगवत्-सेवा में मन लगाऊँ।"

पत्नी के व्यवहार से बहुत ही प्रसन्न हो कश्यप ने उन्हें "केशवतोषण-व्रत" या "पयोव्रत" के पालन करने की आज्ञा और शिक्षा दी। स्वामी के वचन से पत्नी के श्रद्धापूर्वक बारह दिन तक व्रत का पालन करने पर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी नारायण प्रसन्न हो उनके आगे आविर्भूत हुए, और अदिति के पुत्र के रूप में जन्म ले उनका मनोरथ पूर्ण करने का वचन दे अन्तर्हित हो गये।

यथा समय अदिति के घर भगवान् आविर्भूत हुए और कुछ समय अपने रूप को प्रकट रख एकाएक उनके सामने ही एक वटु ब्राह्मण-बालक के रूप में परिणत हुए। महर्षि-गण वामनरूपी ब्राह्मण-कुमार को देख विस्मित हुए और आनन्द प्रकट करने लगे। क्योंकि भगवान् की दिव्य गति है, उनका ऐसा होना कोई विचित्रता नहीं।

क्रमशः उन वटु ब्राह्मण-कुमार के यज्ञोपवीत के समय स्वयं सूर्यदेव ने उन्हें गायत्री का उपदेश किया; बृहस्पति ने यज्ञसूत्र (जनेऊ) और कश्यप ने मेखला पहना दी। भूमि ने कृष्ण मृगचर्म, सोम ने वनस्पति, माता अदिति ने कौपीन, स्वर्ग ने छत्र, वेदगर्भ ब्रह्मा ने कमण्डलु, सप्तर्षिगण ने कुश और सरस्वती ने अक्षमाला ले उन ब्रह्मचारी को समर्पण किया।

इसी समय उन वामन ब्रह्मचारी ने सुना, कि नर्मदा नदी के उत्तर किनारे भृगुकच्छ नामक क्षेत्र में भृगुवंशीय ब्राह्मण लोग महाराज बलि द्वारा एक बहुत बड़ा यज्ञ करा रहे हैं। इस यज्ञ में महाराज बलि कल्पतरु की भाँति अर्थियों को मुँह माँगा धन दान कर रहे हैं। तब वे अपने छोटे छोटे पैरों से पृथिवी को कँपाते हुए उस यज्ञक्षेत्र में उपस्थित हो महाराज बलि से तीन पैर भूमि की प्रार्थना की। छोटे से ब्राह्मण बालक की तुच्छ प्रार्थना से विस्मित हो महाराज बलि ने कम से-कम एक द्वीप माँगने को कहा। इस पर बालक ने कहा, "अभाव को पूरा करने के लिये ही दान लेना उचित है, लोभवश कभी शान्ति नहीं मिलती। क्योंकि लोभ और आशा का अन्त है ही नहीं। इसलिये मैं लोभवश अधिक धन या बहुत बड़ी भूमि माँगने की इच्छा नहीं करता। अपने इन छोटे छोटे पैरों से तीन पैर भूमि पाने से ही मेरा अभाव दूर हो जायगा; सुतरां आप मेरी प्रार्थना पूर्ण करें।"

महाराज बलि बहुत प्रयोजन और युक्ति दिखाकर भी जब अकृतकार्य हुए, तब लाचार वामन की प्रार्थना के अनुसार तीन पैर भूमि दान करने के लिये जल से भरा कमण्डलु हाथ में लिया। तब उनके कुलगुरु शुक्राचार्य अत्यन्त क्रुद्ध हो अपने शिष्य बलि से कहा,—"अरे विरोचन-नन्दन बलि तुम जिसे वटु ब्राह्मण कुमार और भिखारी समझते हो, वे साक्षात् भगवान् विष्णु हैं। अदिति के गर्भ से पुत्ररूप में उत्पन्न हुए हैं। इनका इसमें यह मतलब है, कि तुम्हारा सर्वनाश कर देवताओं का कार्य-साधन करेंगे। ये तुम्हारे समस्त राज्य, ऐश्वर्य, श्री, तेज, यश और पाण्डित्य को छीन इन्द्रादि देवताओं को दे देंगे। तुम यह न समझना, कि मामूली तीन पैर भूमि देकर छुटकारा पा जाओगे। ये वामन के आकार में विष्णु छोटे-छोटे तीन पैरों को बढ़ाकर सारे संसार को नाप लेंगे। सुतरां अरे मूर्ख, सर्वस्व विष्णु को दे देने पर तुम कहाँ रहोगे? और तुम्हारे आश्रय में रहनेवाले हम लोगों के लिये क्या उपाय होगा? दान से पहले इन सब बातों पर पूरी तरह से विचार कर तब दान कार्य्य में आगे बढ़ो। मैं तुम्हारा कुलगुरु हूँ। तुम्हारा पुरोहित हूँ।

तुम्हारे नित्य-मङ्गल का काम हमीं करते आये हैं और हमीं करेंगे। तुम्हें वही करना चाहिये, जिससे तुम्हारी सम्पत्ति रक्षित हो, स्वच्छन्द से तुम्हारे साथ साथ हम लोगों की जीविका का भी निर्वाह हो; क्योंकि तुम शिष्य और मैं गुरु हूँ। गुरु का कर्त्तव्य है, कि शिष्य को आती हुई विपत् से बचावे, सुतरां यदि भला चाहते हो, तो मेरा उपदेश ग्रहण करो।"

शुक्राचार्य शिष्य बलि से फिर कहने लगे,—"मूर्ख, क्या तुम्हारी समझ में नहीं आ रहा है, कि ये वामन वास्तव में वामन नहीं हैं? ये साक्षात् विष्णु हैं। ये एक पैर से पृथिवी को नापेंगे, दूसरे पैर से स्वर्ग को ग्रास करेंगे, इनका विशाल शरीर स्वर्ग और मर्त्यभूमि के बीच के समस्त गगन-मण्डल में फैल पड़ेगा। तब तुम इन्हें तीसरा पैर रखने की जगह कहाँ से दोगे? प्रतिज्ञा करके उसे पूर्ण न कर सकने से नरक में जाना पड़ता है; इस बात को तुम जानते हो? तुम्हारा यह अवश्यम्भावी नरक-वास देख मैं विशेष चिन्ता में पड़ गया हूँ; अरे मूर्ख! अपनी जीविका अर्जन और संसार के संरक्षण का उपाय नष्ट कर दान के काम में व्रती होने से उसकी प्रशंसा नहीं होती। बुद्धिमान पुरुष यज्ञ, दान, तपस्या, पूजा आदि कर्म किया करते हैं। जो धर्म, यश, अर्थ, काम और परिवार—इन पाँच के लिये अपनी सम्पत्ति व्यय करते हैं, वे ही इस लोक में सुख पाते हैं।

"तुम मेरे शिष्य हो। स्नेह और कृपा के पात्र हो। तुम्हारे अविचार और अदूरदर्शिता से मैं बहुत ही मर्माहत हुआ और बड़ी चिन्ता में पड़ गया हूँ; जो हो, मेरे रहते तुम्हारे लिये विपद् की सम्भावना नहीं। मैं तुम्हारी इस विपद् में सदुपदेश देता हूँ, उसके अनुसार काम करने से, प्रतिज्ञा करके भी उसे किस तरह भङ्ग कर सकोगे, उसके लिये चिन्ता नहीं। इस चिन्ता को परित्याग करो। 'बह्वृच' श्रुति में 'सत्य' और 'मिथ्या' के सम्बन्ध में जो युक्ति और विचार है, उसे सुनो।"

शुक्राचार्य दैत्यकुल के गुरु थे। पुश्त-पर-पुश्त से वे गुरु के रूप में दैत्यपुरी में निवास करते हुए उनके कल्याण की चिन्ता करते आते हैं। किन्तु इस कल्याण-कामना के मूल में उदरपोषण, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा, निषिद्ध आचार और जीवहिंसन था। बाहर से शिष्य की मङ्गलचेष्टा और हित-कामना, आशीर्वाद इत्यादि था, किन्तु इन सब चेष्टाओं के मूल में कामना पूर्ण रूप से विराज रही थी। इस प्रकार स्वार्थपूर्ण में जब बाधा पड़ती है, तभी गुरु के गुरुत्व का लोप होता है, लघुता आकर उस स्थान पर दखल जमाती है। उस समय गुरु अपने शिष्य की हितकामना के बदले अहितकामना करते हैं।

जो सब ईश्वरों के ईश्वर, विश्वम्भर, विश्वस्रष्टा हैं, जिनके इशारे पर सृष्टि-स्थिति-प्रलय होता है, जो समस्त ब्रह्माण्ड के अधिपति हैं, उनको उनकी वस्तु का निवेदन करना ही जीव का स्वाभाविक और सहज धर्म या वृत्ति है; श्रीभगवान् के भोग की वस्तु को जीव अपनी भोग्यवस्तु समझ उसका भोग करते-करते तरह-तरह असुविधाओं का भोग भर करता है। सौभाग्य का उदय होने से जीव में जब सुबुद्धि या सुमति होती है, तब वह भगवान् की सेवा में यथासर्वस्व अर्पण कर देता है। तब वह यह देखता है, कि उनकी वस्तु उनकी सेवा में निवेदित हुई। ऐसा देखने से जीव भोगबुद्धि को सब तरह से परित्यागकर सब इन्द्रियों से श्रीभगवत् सेवा-परायण हो जीवन व्यतीत करता है। तब जीव अगाध ऐश्वर्य में रह विलास की वस्तुओं से घिरे रहने पर भी अकिञ्चन बना रहता है। वह अपना स्वरूप देख यह समझता है, कि उससे बड़ा नीच और कोई नहीं। तब वह वृक्ष से भी बढ़कर त्यागशील और सहिष्णु तथा दानपरायण होता और अपने को सदा मानहीन समझ जीवमात्र का हो सम्मान प्रदान करता है; तब जीव जलते पेट की चिन्ता से व्याकुल न होकर कहता है,—

"राखो या मारो जो इच्छा तुम्हार।
नित्यदास पर है तुम्हारा अधिकार॥"

"सर्वस्व विष्णु को दान करने से तुम्हारा संसार कैसे चलेगा;" इस तरह की दुर्भावना को होना तो दूर रहा, तब वह दुःख में रोकर कहता है,-

"दारा पुत्र निज देह कुटुम्ब पालन।
सदा था व्याकुल मैं मन-ही-मन॥
कैसे लाऊँ रुपये यश कैसे पाऊँ।
कन्या पुत्र विवाह कैसे के रचाऊँ॥
अब आत्म-समर्पण चिन्ता का न भार।
तुम्हीं करो निर्वाह मेरा ये संसार॥
तुम्हरी इच्छा से प्रभु सब काम सही।
जीव कहे मैं करूँ यह सत्य नहीं॥

जब जीव में ऐसा भाव उदित होता है, तब शुक्राचार्य जैसे भोगान्ध जन्म-ऐश्वर्य-पाण्डित्य और रूप के अभिमान में मत्त ब्राह्मणों का सलाह या उपदेश वह कैसे ग्रहण कर सकता है, यह सहज में ही समझ में आ जाता है। शुक्राचार्य मुँह से कहते हैं,—यह वामने आकार ब्राह्मण-कुमार स्वयं विष्णु साक्षात् उपस्थित हुए हैं।" किन्तु विष्णु के दर्शन के लिये जिन चार वस्तुओं का सम्पूर्ण त्याग होना चाहिये, वे उनमें पूरी तरह से मौजूद हैं। वे अपने शरीर को श्रेष्ठ ब्राह्मण, दैत्यकुल के धन से धनी, अपने अहङ्कार को पण्डित और अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सुन्दर-सुडौल समझ माया के देखने में ही व्यस्त हो रहे हैं। माया के बनाये इस चश्मे को पहन कैसे विष्णु का दर्शन किया जा सकता है? इसी भ्रम में पड़ने की वजह शुक्राचार्य भाग्यवान् सुकृतिमान् बलि के शुभोदय के माहात्म्य और सुदुर्लभत्व को समझ नहीं सके। उन्होंने अपने भ्रम दर्शन से जगत् का दर्शन कर और जो विष्णु नहीं हैं, उनके दर्शन को विष्णु-दर्शन समझ "सत्य" और "मिथ्या" के सम्बन्ध में नई युक्ति दिखाना आरम्भ किया।

अष्ट महाद्वादशी



अष्ट महाद्वादशी हिन्दूमात्र ही के लिये अवश्य कृत्य है। ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में लिखा है,—

द्वादश्यष्टौ समाख्याता या पुराणविचक्षणैः।
तासामेकापि च हता हन्ति पुण्यं पुराकृतम्॥

पण्डितों ने पुराणों में जिन अष्ट महाद्वादशियों का वर्णन किया है, उनमें एक भी छूट जाने से वह छूटी हुई द्वादशी छोड़नेवाले के पूर्व-पुण्य को बिलकुल नष्ट कर देती है। इसी पुराण में और भी कहा है,—

उन्मीलनी व्यञ्जुली च त्रिस्पृशा पक्षवर्द्धिनी।
जया च विजया चैव जयन्ती पापनाशिनी॥
द्वादश्यष्टौ महापुण्याः सर्वपापहरा द्विज॥

उन्मीलनी, व्यञ्जुली, त्रिस्पृशा, पक्षवर्द्धिनी, जया, विजया, जयन्ती और पापनाशिनी—यही आठों महाद्वादशी के नाम से विख्यात हैं। ये सब महापुण्य-स्वरूपा हैं और अपने करनेवाले के कुल पाप विनाश किया करती हैं।

मार्कण्डेय पुराण और पद्मपुराण के पाठ से जाना जाता है, कि भगवान् स्वयं कहते हैं,—

न करिष्यन्ति ये लोके द्वादश्यष्टौ ममाज्ञया।
तेषां यमपुरे वासो यावदाहूतसंप्लवम्॥

संसार में जो लोग अष्ट महाद्वादशी का व्रत नहीं करते वे मेरी आज्ञा से महाप्रलय तक यमलोक में रहते हैं।

अष्ट महाद्वादशी के अवश्य कर्त्तव्य विषयों के सम्बन्ध में पुराणों में और भी कितनी ही बातें लिखी गई हैं। किन्तु उन सबको यहाँ लिखके इस प्रबन्ध को बढ़ाना हमारा अभिप्राय नहीं है। हमारा विशेष लक्ष्य-स्थल सिर्फ यह दिखाना है, कि अष्ट महाद्वादशी किस तरह सङ्घटित हुआ करती है; इसलिये अपने पाठकों के लिये हम उसी का उल्लेख करते हैं।

उन्मीलनी

एकादशी तु सम्पूर्णा वर्द्धते पुनरेव सा।
द्वादशी च न वर्द्धेत कथितोन्मीलनीति सा॥

यदि एकादशी सम्पूर्ण होके दूसरे दिन अर्थात् द्वादशी के दिन बढ़ जाय, फिर भी द्वादशी न बढ़े, तो ऐसी द्वादशी को उन्मीलनी द्वादशी कहते हैं।

किसी दिन कलामात्र भी एकादशी रहने पर और इसके बाद सारे दिन द्वादशी का भोग रहने पर त्रयोदशी आरम्भ होने अर्थात् दूसरे दिन द्वादशी न रहने पर द्वादशी का व्रत करना चाहिये। यही उन्मीलनी के नाम से विख्यात है।

स्कन्द पुराण में लिखा है, कि एकादशी को कलामात्र भी द्वादशी रहने और त्रयोदशी में द्वादशी न रहने पर इस द्वादशी का व्रत करना चाहिये।

व्यञ्जुली

द्वादश्येव विवर्द्धेत न चैवैकादशी यदा।
व्यञ्जुली तु भृगुश्रेष्ठ कथिता पापनाशिनी॥

यदि एकादशी न बढ़े और द्वादशी की वृद्धि हो, तो ऐसी द्वादशी को व्यञ्जुली कहते हैं; यह सारे पाप विनष्ट किया करती है।

पद्मपुराण में गौतम-अम्बरीष संवाद में कहा गया है,—

सम्पूर्णैकादशी यत्र द्वादशी च यदा भवेत्।
त्रयोदश्यां मुहूर्त्तार्द्धं व्यञ्जुली सा हरिप्रिया॥

जिस स्थल में सम्पूर्ण एकादशी हो और उसके दूसरे दिन की द्वादशी सम्पूर्णा होके कुछ त्रयोदशी में मिली रहे, उसी द्वादशी को व्यञ्जुली कहते हैं। व्यञ्जुली श्रीहरि की अतिशय प्रियतमा है।

व्यञ्जुली के सम्बन्ध में और भी लिखा हुआ है, कि अरुणोदय से आरम्भ होके सम्पूर्णा एकादशी होने और द्वादशी सम्पूर्णा होके दूसरे दिन त्रयोदशी में कुछ मिल जाने पर, वह द्वादशी व्यञ्जुली कहलाती है।

कालिका पुराण में भी ऐसा ही उल्लेख है,—"एकादशी सम्पूर्णा हो और दूसरे दिन द्वादशी बढ़ जाय, तो वह द्वादशी व्यञ्जुली कहलाती है। फलतः जैसे एकादशी के बढ़के द्वादशी में कलामात्र भी मिल जाने से वह उन्मीलनी कहलाती है, वैसे ही द्वादशी के बढ़के त्रयोदशी में कुछ भी मिल जाने से वह व्यञ्जुली के नाम से अभिहित होती है। फिर किसी-किसी का यह भी कहना है, कि द्वादशी त्रयोदशी में कुछ भी रहे या न रहे, लेकिन एकादशी ज्यों की त्यों रहके द्वादशी बढ़ जाय, तो उस द्वादशी में व्रत करना चाहिये। यह जो बढ़ने की बातें कही गई हैं, उनका अर्थ यह है, कि तिथि अरुणोदय या सूर्योदय से आरम्भ होके दूसरे दिन सूर्योदय के आरम्भ तक रहे; नहीं तो वह महाद्वादशी सिद्ध न होगी। जैसे पहले दिन त्रयोदश दण्ड के बाद एकादशी प्रयुक्त हो और दूसरे दिन बीस दण्ड के बाद निवृत्त हो तो ऐसे स्थल में एकादशी साठ दण्ड अपेक्षा बढ़ जाने पर भी यह उन्मीलनी न कहलायेगी। वैसे ही पहले दिन दश दण्ड पर द्वादशी आरम्भ होके दूसरे दिन सोलह या सत्रह दण्ड तक अवस्थित रहने पर भी अर्थात् साठ दण्ड की अपेक्षा छः या सात दण्ड तक द्वादशी बढ़ने पर भी वह व्यञ्जुली महाद्वादशी न कहलायेगी।

पद्मपुराण के गौतम-अम्बरीष संवाद में कहा गया है,—

सम्पूर्णैकादशी प्रातर्द्वितीयेऽह्नि प्रवर्द्धते।
उन्मीलनीति सा प्रोक्ता पापपङ्कौघनाशिनी॥

एकादशी के सम्पूर्णा होने अर्थात् साठ दण्ड होने के बाद दूसरे दिन द्वादशी के सवेरे वृद्धि प्राप्त हो, तो वही द्वादशी उन्मीलनी कहलायेगी। यही पाप पङ्क का विनाश किया करती है।

उन्मीलनी और व्यञ्जुली के सम्बन्ध में शास्त्रकारों के ऊपर लिखे अभिप्राय से अवगत होकर ही उक्त दोनों महाद्वादशियों का व्रत पालन करना उचित है, नहीं तो पाप पङ्क में निमग्न होना पड़ता है।

त्रिस्पृशा

त्रिस्पृशा कहने से एक दिन में तीन तिथियों का मिलन बोध होता है। इस विषय में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के द्वारका-माहात्म्य में लिखा है, —

आदौ नन्दा जया चान्ते मध्ये भद्रा भवेद्यदि।
उपवासार्च्चने गीते दुर्ल्लभा कृष्णसन्निधौ॥

अर्थात आदि में नन्दा, अन्त में जया और मध्य में भद्रा तिथि के मिलने को त्रिस्पृशा कहते हैं। भगवान के लिये उपवास, अर्चन और भजन के लिये यह त्रिस्पृशा दुर्लभा है।

इस श्लोक द्वारा त्रिस्पृशा को तीन प्रकार से प्रतिपन्न किया जा सकता है। प्रतिपद, द्वितीया और तृतीया, या षष्ठी, सप्तमी और अष्टमी, अथवा एकादशी, द्वादशी और त्रयोदशी- इन तीनों के मिलने में अन्तिम तीनों तिथियों का मिलन ही त्रिस्पृशा कहलाता है। कारण, मन्दाकिनी ने भगवान से कहा,—"हे माधव! आपने जिस त्रिस्पृशा की इतनी महिमा कीर्त्तन की है, बतलाइये कि वह क्या है? मैं तो यही जानती हूँ, कि दशमी, एकादशी और द्वादशी का मिलन जिस दिन होता है, उसी दिन त्रिस्पृशा का मान होता है; सिवा इसके मैं और कुछ भी नहीं जानती।"

भगवान् ने कहा,—"हे देवि! तुमने जिस त्रिस्पृशा का नाम लिया, वह आसुरी त्रिस्पृशा है और जैसे व्रतहीन यती को परित्याग करना चाहिए, वैसे ही उसे भी परित्याग करना उचित है। रजःस्वला स्त्री जिस तरह वर्ज्जनीया है, उसी तरह उसका भी परिवर्जन करना उचित है। वैष्णव सभी दशमीयुक्त मेरे दिन का वर्ज्जन करें।"

एकादशी द्वादशी च रात्रिशेषे त्रयोदशी।
त्रिस्पृशा सा तु विज्ञेया दशमी संयुता न हि॥

एकादशी, द्वादशी और रात्रि के अन्त में त्रयोदशी हो,

तो इसी का नाम त्रिस्पृशा है। किन्तु उसे दशमी संयुक्त न होना चाहिए।

त्रिस्पृशा के सम्बन्ध में अन्यत्र लिखा है,—

अरुणोदये आद्या स्याद्द्वादशी सकलं दिनम्।
अन्ते त्रयोदशी प्रातस्त्रिस्पृशा सा हरेः प्रिया॥

अरुणोदय के समय एकादशी, इसके बाद दिन रात द्वादशी और अन्त में प्रातःकाल त्रयोदशी हो, तो ऐसी द्वादशी को त्रिस्पृशा कहते हैं। वह हरि की अतिशय प्रियतमा है।

प्रथमोक्त श्लोक द्वारा और दो तरह त्रिस्पृशा के सम्बन्ध में जो तर्क उठाया गया था, इसके द्वारा उसका निरसन किया गया और यह प्रकृत त्रिस्पृशा है।

पक्षवर्द्धिनी

पक्ष के अन्त में अमावास्या या पूर्णिमा की वृद्धि हो, तो उसे पक्षवर्द्धिनी कहते हैं। पद्मपुराण में ब्रह्मा जी ने कहा है,—

अमा वा यदि वा पूर्णा सम्पूर्णा जायते सदा।
भूत्वा च षष्टि घटिका दृश्यते प्रतिपद्दिने।
अश्वमेधायुतैस्तुल्या सा भवेत् पक्षवर्द्धिनी॥

अमावास्या या पूर्णिमा सम्पूर्ण होकर अर्थात् साठ दण्ड भोग करने के बाद दूसरे दिन (प्रतिपदा को) कुछ रहे तो इससे पहले की द्वादशी को पक्षवर्द्धिनी कहते हैं। यह पक्षवर्द्धिनी अयुत अश्वमेध के समान है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में श्रीसूत-शौनक-संवाद में लिखा है,—

कुहूराके यदा वृद्धिं प्रयाते पक्षवर्द्धिनी।
विहायैकादशीं तत्र द्वादशीं समुपोषयेत्॥

यदि अमावास्या या पूर्णिमा बढ़ जाय अर्थात् साठ दण्ड की अपेक्षा अधिक हो जाय, तो इससे पहले की द्वादशी पक्षवर्द्धिनी कहलाती है। ऐसे स्थल में एकादशी छोड़कर द्वादशी का ही उपवास करना चाहिये।

अष्ट महाद्वादशी में उल्लिखित चार तिथियाँ घटित हैं और बाद के कहे हुए चार नक्षत्र घटित हैं। शुक्ल पक्ष की द्वादशी में पुनर्वसु नक्षत्र मिल जाने से जया, श्रवणा नक्षत्र में मिल जाने से विजया, रोहिणी नक्षत्र मिल जाने से जयन्ती और पुष्या नक्षत्र मिल जाने से पापनाशिनी नाम की चार महाद्वादशियाँ होती हैं। अब यह देखिये, कि द्वादशी के साथ इन सब नक्षत्रों का कैसा संयोग होने से महाद्वादशी का मान होता है,—

भान्यर्कोदयमारभ्य प्रवृत्तान्यधिकानि चेत्।
समान्यूनानि वा सन्तु ततोमीषां व्रतौचिती॥
किं वा सूर्योदयात् पूर्वं प्रवृत्तान्यधिकानि चेत्।
समानि वा तदप्येषां व्रताचरणयोग्यता॥
श्रवणादितिपुष्याख्यारोहिणी संयुतास्ते ताः।
उपोषिताः समफला द्वादश्यष्टौ पृथक् पृथक्॥

पुनर्वसु, श्रवणा, रोहिणी, पुष्या ये चारों नक्षत्र यदि सूर्योदय के आरम्भ से प्रवृत्त होकर साठ दण्ड दिन के परिमाण से अधिक, समान या न्यून हों, तो उन चारों नक्षत्रों के योग से द्वादशी का व्रत करना चाहिये। तात्पर्य यह, कि यदि किसी दिन शुक्ला द्वादशी में इन चारों नक्षत्रों का योग हो जाय और ये चारों नक्षत्र यदि सूर्योदय से आरम्भ होकर साठ दण्ड भोग करते हुए त्रयोदशी के दिन कुछ बाकी रहें या सिर्फ साठ दण्ड भोग करें या साठ दण्ड की अपेक्षा कम हों, तो द्वादशी का उपवास करना उचित है। दूसरे श्लोक का अर्थ यह है, कि यदि ये चारों नक्षत्र किसी सूर्योदय से पहले अरुणोदय काल में या उससे भी पहले प्रवृत्त होकर साठ दण्ड भोग के बाद त्रयोदशी में कुछ रहें, या साठ दण्ड मात्र ही भोग करें, तो उसी में उपवास करना चाहिये। लेकिन सूर्योदय से पहले का प्रवृत्त नक्षत्र साठ दण्ड की अपेक्षा कम होने पर उपवास के योग्य नहीं रहता। इन चारों महाद्वादशियों के भोग के सम्बन्ध में और भी कुछ विशेषत्व है, जो इस तरह है,—

श्रवणा व्यतिरिक्तेषु नक्षत्रेषु खलु त्रिषु।
सूर्यास्तमनपर्य्यन्तं कार्यं द्वादश्युपक्षणम्॥

सिवा श्रवणा, पुनर्वसु, रोहिणी और पुष्या नक्षत्र योग की जो तीन महाद्वादशियाँ हुआ करती हैं, उनमें इस द्वादशी को सूर्य के अस्त होने तक रहने का प्रयोजन है; सूर्य के अस्त से पहले द्वादशी समाप्त होने पर पूर्वोक्त परिमाण के नक्षत्र योग में द्वादशी का व्रत न होगा। जया, जयन्ती और पापनाशिनी महाद्वादशी के सम्बन्ध में इसी नियम का अनुवर्त्तन होना चाहिये। विजया महाद्वादशी के सम्बन्ध में यह विशेषत्व है,—

श्रवणेत्वस्तमनसः प्राक् द्वादश्यां समाप्तताम्।
गतायामपि तत्रैव व्रतस्यौचितता भवेत्॥

श्रवणा नक्षत्र के योग से विजया महाद्वादशी होती है, उसमें द्वादशी के सूर्यास्त से पहले समाप्त होने पर भी इसी द्वादशी का व्रत करना चाहिये। टीकाकारों का कहना है, कि श्रवणा नक्षत्र योग की महाद्वादशी के व्रत में द्वादशी यदि डेढ़ पहर रहे, तो इस द्वादशी का व्रत होगा; लेकिन डेढ़ पहर से कम रहे, तो व्रत न होगा। जैसे द्वादशी का दिनमान यदि ३३।४० पल हो, तो उसका चतुर्थांश ८।२५ पल एक पहर का परिमाण होता है। इसलिये डेढ़ पहर का परिमाण १२।३७।३० दण्डादि होते हैं। श्रवणायोग में द्वादशी इतने ही समय तक रहने पर भी व्रत होता है। जब दूसरे दिनमान २६।२० पल के होते हैं, तब इस दिनमान का चतुर्थांश ६।३५ और डेढ़ पहर का परिमाण ९।५२।३० दण्डादि होते हैं; ऐसे स्थल में भी इतने परिमित काल तक द्वादशी की स्थिति रहने पर भी वह व्रतयोग्य होती है। इसकी अपेक्षा कम होने पर यह द्वादशी व्रत के योग्य नहीं होती। अष्ट महाद्वादशी के सम्बन्ध में इन सब विचारों को देखकर ही उनका व्रत करना चाहिये; नहीं तो पाप-पङ्क में मग्न होना होता है।

व्रज में चलो

गौर-जन के साथ व्रज में चलो—गौर-जन के मुख से व्रज-जन की कथा—व्रज की उदार मधुर चर्चा सुनते हुए व्रज चलो; गौर-जन के दिये हुए चशमा से व्रज की शोभा देखते हुए व्रज के वन में भ्रमण करो—व्रज की परिक्रमा करो।

तुम्हें एक महाशुभ संवाद सुनाते हैं। सुना है, कि आगामी ११ अक्तूबर से लेकर एक मास तक श्रीधाम नवद्वीप के श्रीचैतन्यमठ के मूल महाजन परमहंस परिव्राजकाचार्य ॐ विष्णुपाद १०८ श्रीश्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद और उनके अनुगत शुद्ध भक्तगण व्रज-वन के जिन-जिन स्थानों में सपार्षद श्रीगौराङ्ग के श्रीचरण-चिह्न पड़े थे, उन सब स्थानों को दिखायेंगे। सभी को प्राचीन लीलाशास्त्र पाठ और व्याख्या, कीर्त्तन, वक्तृता, आलोचना प्रभृति द्वारा इन सब स्थानों की सब बातें समझा देंगे।

सङ्ग में रहेंगे, श्रीनाम से लीला-कीर्त्तन के बहुतेरे सम्प्रदाय और परिक्रमा होगी मानो एक विराट् संकीर्त्तन का जुलूस। स्त्री-पुरुष सभी को सम्मिलित होने का अधिकार रहेगा। सब तरह का बन्दोबस्त रहेगा। उपयुक्त रक्षक, खाद्य, या सवारियाँ—सभी मिलेंगे। पहले श्रीमथुरा को केन्द्र बना के परिक्रमा आरम्भ होगी।

व्रज ही हमारा नित्य स्वदेश है। "स्वरूप में सबकी होती गोलोक में ही स्थिति"—हम लोग आज उस स्वदेश से बहुत दूर आ पड़े हैं! लाखों जन्म से विदेश में भ्रमण कर रहे हैं। इन लाखों जन्मों में कितने ही कोटि-कोटि वर्षों से हमने स्वदेश की कुछ भी खबर नहीं पाई है—निर्वासन के ही स्थान को देश समझते हैं। और कितने दिनों तक विदेश में घूमेंगे? और कितने दिनों तक मृत्यु के अन्धकूप की परिक्रमा किया करेंगे? अपने देश की बातें अपने सुमधुर मकान की बातें स्मरण करा देने के लिये—घर के लड़के को फिर घर में वापस लाने के लिये निताई की पुकार सुनाई दी है। चलो, सब लोग देश की पुकार पर ध्यान दें।

जिन सब स्थानों में स्वयं भगवान् श्रीगौरहरि भ्रमण कर चुके हैं, उनके साथी भ्रमण कर चुके हैं—बहुतेरे महात्मा महाजन भ्रमण कर चुके हैं, जो सब स्थान भगवान् और प्रेमी भक्तों की लीला और स्मृति से नित्य सजीव हो रहे हैं, और तो क्या,—हम सब के सुप्राचीन पितामह ब्रह्मा जिस स्थान के तृण लता वृक्ष जन्मलाभ करने की इच्छा किया करते हैं उन सब स्थानों को यदि मानव-जन्म लेकर भी गौर-जन के साथ सुन या देख न सके, तो हम जगत् में आकर क्या साथ ले चलेंगे?

अब से पहले गोस्वामीगण और कितने ही भजनानन्दी महात्मा व्रज-वन की परिक्रमा कर चुके हैं। किन्तु उसमें साधारण लोगों को सम्मिलित होने का अवसर नहीं मिला। इन दिनों जो व्रज भ्रमण की प्रथा प्रचलित है, उसमें भी एकांत शुद्ध वैष्णवगण के मुख से सर्वक्षण हरिकथा सुनते हुए कान और आँख पवित्र बनाते सभी को व्रज के चिन्मय

शोभा-दर्शन का सुअवसर नहीं मिलता। वह सुदुर्लभ सुयोग सुलभ बनाने के लिये ही श्रीविश्ववैष्णवराज सभा ने इस बार विश्व-वासी सभी श्रद्धालुओं को बुलाया है। ऐसा सुअवसर फिर न मिलेगा। श्रीमन्महाप्रभु ने इसी समय श्रीक्षेत्र से रवाना होकर काशी, प्रयाग आने के बाद वृन्दावन के वन का परिभ्रमण किया था।

परिक्रमा शारदीय पूजा की समाप्ति के बाद ही अनुष्ठित होगी। जो लोग परिक्रमा में सम्मिलित होने की इच्छा करते हैं या जो लोग इसके सम्बन्ध में कुछ जानना चाहते हैं, वे लोग शीघ्र ही नीचे के पर पत्र लिखकर सब बातें जान लें।

श्रीकुञ्जविहारी विद्याभूषण
श्रीचैतन्यमठ—पो० आ० श्रीमायापुर,
नदिया.

नित्यधर्म का नामान्तर वैष्णवधर्म है

(गताङ्क से आगे)

मा ने कहा,—तो उन्हें यहाँ बुलाकर किसी गुप्त स्थान में रखकर समझा-बुझा के मत पलटा दो।

चन्द्रनाथ ने कहा,—इसके सिवा और क्या किया जा सकता है? देवी! दो-चार आदमियों के सङ्ग छिपते छिपते जाकर गोद्रुम से पिताजी को ले आओ।

देवीदास ने कहा,—आप लोग तो जानते हैं, पिताजी नास्तिक कहकर मेरा अनादर करते हैं। मेरे जाने पर कहीं कुछ और न हो, यही चिन्ता है।

देवीदास के ममेरे भाई शम्भुनाथ पिताजी के बड़े प्रिय हैं। शम्भुनाथ ने पिताजी के साथ रहकर उनकी बड़ी सेवा की है। स्थिर हुआ, कि देवीदास और शम्भुनाथ दो आदमी गोद्रुम जायँगे। गोद्रुम एक ब्राह्मण के घर डेरा डालने के लिये एक नौकर उसी दिन भेजा गया।

दूसरे दिन खाना खाकर देवीदास और शम्भुनाथ ने गोद्रुम की यात्रा की। ठहराने के लिये निर्दिष्ट घर में दोनों ने पालकी से उतरकर कहारों को बिदा किया। वहाँ एक रसोइयाँ ब्राह्मण और दो सेवक मौजूद थे।

सन्ध्या के समय देवीदास और शम्भुनाथ ने धीरे-धीरे श्रीप्रद्युम्नकुंज की ओर यात्रा की। देखा, कि एक सफेद पत्रासन पर पिताजी आँखें मूँदकर बैठे माला जपते हुए हरिनाम ले रहे हैं। सारे अङ्ग में द्वादश तिलक सुशोभित हैं। देवीदास और शम्भुनाथ ने धीरे-धीरे चबूतरे पर चढ़कर पिता को दण्डवत् प्रणाम किया। लाहिड़ी महाशय सचकित हो आँख खोलकर बोले,—क्यों रे शंभु! यहाँ क्या सोच के आया है? देवी! अच्छी तरह तो हो?

दोनों ने नम्र भाव से कहा,—आपके आशीर्वाद से हम सब अच्छी तरह हैं।

लाहिड़ी महाशय ने कहा, तुम लोग खाना आदि खाओगे? दोनों ने उत्तर दिया,—हम लोगों ने डेरा लिया है, उस विषय में आप कोई चिन्ता न करें।

इसी समय श्रीप्रेमदास बाबाजी की माधवीमालती के मंडप में एक हरि ध्वनि हुई। श्रीवैष्णवदास बाबाजी ने अपनी कुटी से बाहर हो लाहिड़ी महाशय से पूछा,—श्रीपरमहंस बाबाजी महाशय के मण्डप में हरि-ध्वनि क्यों हुई? लाहिड़ी महाशय और वैष्णवदास बढ़कर देखने लगे। देखा, कि अनेक वैष्णव आकर हरिध्वनि करते हुए बाबाजी की प्रदक्षिण कर रहे हैं। यह लोग भी वहीं उपस्थित हुए। सभी लोग परमहंस बाबाजी महाशय को दण्डवत् प्रणाम कर मण्डप के ऊपर बैठ गये। देवीदास और शंभुनाथ मण्डप के एक तरफ "हंस मध्ये बको यथा" की तरह बैठ रहे।

एक वैष्णव बोल उठे,—हम लोग कण्टक नगर से होकर आ रहे हैं। श्रीनवद्वीप—मायापुर दर्शन और परमहंस बाबाजी महाशय के चरणरज को ग्रहण करना हम लोगों का मुख्य कर्त्तव्य है। परमहंस बाबाजी महाशय लज्जित हो बोले,—मैं अति पामर हूँ, मुझे पवित्र करने के लिये

आप लोग आये हैं। थोड़े ही समय में यह प्रकट हो गया, कि वे सभी हरिगुणगान में दक्ष हैं। उसी समय मृदङ्ग करताल मँगाया गया। समागत वैष्णवों में एक वृद्धे निम्नलिखित प्रार्थना के पद को गाने लगे—

श्रीकृष्ण चैतन्यचन्द्र प्रभु नित्यानन्द।
गदाधर अद्वैतचन्द्र गौरभक्त-वृन्द॥
अपार करुणासिन्धु वैष्णव ठाकुर।
हूँ अति हीन पामर दया करो हे प्रचुर॥
जाति विद्या धन जन मद से मत्त जन को।
उद्धार करो हे नाथ कृपा कर उनको॥
कनक कामिनी लोभ प्रतिष्ठा वासना।
दूरकर वासना को शुद्ध करो है प्रार्थना॥
नाम में रुचि,जीव में दया,वैष्णव में उल्लास।
दया कर देखो मुझे होऊँ कृष्णदास॥
तुम्हारी चरण-छाया की केवल है आशा।
जीते मरते है एक मात्र भरोसा॥

इस पद के समाप्त होने पर लाहिड़ी महाशय के रचित एक पद को उन्होंने गाया,—

मिथ्या माया के वश संसार-
सागर में डूब चुका था निश्चय।
करुणा कर दे पद छाया बचा,
लिया तुमने करुणामय॥
सुनो-सुनो हे वैष्णव ठाकुर।
चरण तुम्हारे सौंपा माथा,
मेरे दुःख को कर दो दूर॥
जाति का गौरव है केवल रौरव,
विद्या सो अविद्या कला।
निताई-चरण में शुद्ध बनूं मैं,
मिटे उर अन्तर की ज्वाला॥
तुम्हारी कृपा से मेरी जिह्वा पर,
फड़क रहा है युगल नाम।
कहत कालिदास मेरे अन्तर में,
जाग पड़ें श्रीराधेश्याम॥

इस पद को सब लोग मिलकर गाते-गाते पागल हो गये। अन्त में "जाग उठो श्रीराधेश्याम"—इस अंश को बारंबार कहते-कहते उद्दण्ड नाच होने लगा। नाचते नाचते कितने ही भावुक वैष्णव अचेतन हो पड़े। उस समय कैसा अपूर्व समारोह हुआ, यह देखकर देवीदास मन में विचार करने लगे, कि उनके पिता इस समय परमार्थ में मग्न हो गये हैं। उन्हें घर लौटा ले जाना कठिन होगा। प्रायः आधी रात को यह सभा भङ्ग हुई। सभी लोग आपस में दण्डवत् प्रणाम कर अपनी अपनी जगह चले गये। देवी और शंभु भी पिता की अनुमति ले अपने डेरे पर चले।

दूसरे दिन खाना आदि खाकर देवी और शंभु ने लाहिड़ी महाशय की कुटी में प्रवेश किया। लाहिड़ी महाशय को दण्डवत् प्रणाम कर देवीदास ने कहा,—

मेरी प्रार्थना यह है, कि आप अब शान्तिपुर के घर में रहें। घर में हम सब लोग आपकी सेवा कर सुखी होंगे। आज्ञा हो, तो एक निर्जन स्थान आपके लिये प्रस्तुत कर दिया जाये।

लाहिड़ी महाशय ने कहा,—यह कोई खराब न होगा, लेकिन इस जगह जैसा साधु संग है, वैसा शान्तिपुर में न होगा। देवी! तुम तो जानते हो, शान्तिपुर के लोग कैसे निरीश्वर और निराचिय हैं, वहाँ मनुष्य के रहने में सुख नहीं है। अनेक ब्राह्मण हैं सही, लेकिन ताँती के संसर्ग से उनकी बुद्धि मारी गई है। पतले कपड़े, लंबी लंबी बातें और वैष्णवनिन्दा— यही तीन शान्तिपुरवासियों के लक्षण हैं। प्रभु अद्वैत के वंशधर वहाँ कितने कष्ट में हैं। सङ्गदोष के कारण वे भी प्रायः प्रभु के विरोधी हैं। अतएव मुझे तुम लोग इस गोद्रुम में ही यत्नपूर्वक रहने दो। मेरी यही इच्छा है।

देवीदास ने कहा,—पिता! आप जो कहते हैं, वह सत्य है। आप शान्तिपुरवासियों के साथ क्यों व्यवहार करेंगे। निर्जन स्थान में अपने धर्म का आचरण करते हुए सन्ध्यावन्दनादि कर दिन बिताइयेगा। ब्राह्मण का नित्य कर्म ही नित्य धर्म है। उसी में मग्न रहना आप जैसे महात्मा का कर्त्तव्य है।

लाहिड़ी महाशय ने कहा,—बेटा! वह दिन अब नहीं रहा। कई महीने साधुसङ्ग कर और श्रीगुरुदेव से उपदेश पाकर मेरा मत बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। तुम लोग जिसे नित्यधर्म कहते हो, मैं उसे नैमित्तिकधर्म

कहता हूँ। हरिभक्ति ही जीव का एकमात्र नित्यधर्म है। सन्ध्या वन्दनादि वास्तव में नैमित्तिकधर्म हैं।

देवीदास ने कहा,— पिता! मैंने ऐसा कोई शास्त्र नहीं देखा है। सन्ध्या-वन्दनादि क्या हरिभजन नहीं है? यदि हरिभजन है, तो वह भी नित्यधर्म है। सन्ध्या वन्दनादि के साथ क्या श्रवण-कीर्त्तनादि वैधी भक्ति में कोई प्रभेद है?

लाहिड़ी महाशय ने कहा,—बेटा! कर्मकाण्ड के सन्ध्या-वन्दनादि और वैधी भक्ति में विशेष भेद है। कर्मकाण्ड में सन्ध्या-वन्दनादि शुद्धि लाभ के लिये अनुष्ठित होता है। हरि-भजन के श्रवण कीर्त्तनादि का कोई निमित्त नहीं होता। फिर जो श्रवण-कीर्त्तनादि का फल शास्त्र में देखते हो, वह सब केवल बहिर्मुख लोगों की रुचि उत्पत्ति के लिये है। हरिभजन का हरिसेवा के सिवा और कोई फल नहीं है। हरिभजन में प्रेम उत्पन्न करना ही वैध अङ्ग का मुख्य फल है।

देवीदास ने कहा,— पिता! तो हरिभजन का सब अङ्ग का गौण फल है यही मानना होगा?

ला०—साधक भेद में गौण फल है। वैष्णव की साधन भक्ति केवल सिद्ध भक्ति के उदय कराने के लिये है। अवैष्णव के उन सब अङ्ग-साधन में दो तात्पर्य हैं अर्थात् भोग और मोक्ष। साधन-क्रिया का आकार-भेद नहीं देखा जाता, लेकिन निष्ठा भेद ही मूल है। कर्माङ्ग से कृष्ण-पूजा कर चित्त शोधन और मुक्ति अथवा रोगशान्ति या पार्थिव फल पाया जाता है। भक्ति के अङ्ग से उसी पूजा द्वारा केवल कृष्णनाम में रति उत्पत्ति की जाती है। कर्मियों के एकादशी व्रत से पाप नष्ट होता है। भक्तों के एकादशी व्रत से हरिभक्ति बढ़ती है। देखो कितना भेद है। कर्माङ्ग और भक्ति-अङ्ग के सूक्ष्म भेद हैं, वह केवल भगवत्कृपा से ही जाना जा सकता है। कर्मीगण गौण फल में आबद्ध होते हैं। भक्तगण मुख्य फल लाभ करते हैं। जितने प्रकार के गौण फल हैं, वे सब केवल दो प्रकार के हैं, भुक्ति और मुक्ति।

देवी०—फिर शास्त्र में गौण फल का क्यों माहात्म्य वर्णन किया गया है?

ला०—जगत् में दो प्रकार के लोग हैं अर्थात् उदित विवेक और अनुदित विवेक। अनुदित विवेक व्यक्तिगण कोई उपस्थित फल न देखकर कोई सत्कार्य नहीं करते। उनके लिये गौण फल का माहात्म्य वर्णन है। शास्त्र का यह तात्पर्य नहीं है, कि वे गौण फल में सन्तुष्ट रहें। शास्त्र का यह तात्पर्य है, कि गौण फल देख आकृष्ट होने पर थोड़े ही समय में साधु-कृपा से मुख्य फल का परिचय और क्रमशः उसमें रुचि होती है।

देवी०—स्मार्त्त रघुनन्दन आदि क्या अनुदित विवेक हैं?

ला०—नहीं, वे स्वयं मुख्य फल का अनुसन्धान करते हैं, केवल अनुदित विवेक जनों के लिये उन्होंने व्यवस्था की है।

देवी०—किसी-किसी शास्त्र में केवल गौण फल की बात देखी जाती है, मुख्य फल का उल्लेख नहीं है। इसका क्या मतलब है?

ला०—शास्त्र मनुष्य के त्रिविध अधिकार-भेद से तीन प्रकार के हैं। सत्त्वगुणविशिष्ट मनुष्य के लिये सात्त्विक शास्त्र है, रजोगुणविशिष्ट मनुष्य के लिये राजसिक शास्त्र है, और तमोगुणविशिष्ट मनुष्य के लिये तामसिक शास्त्र है।

देवी०—ऐसा होने से किस शास्त्र की बात पर विश्वास किया जाये और किस उपाय द्वारा निम्न-अधिकारियों की उच्चगति हो सकती है?

ला०—मनुष्यों के अधिकार भेद में स्वभाव-भेद और श्रद्धाभेद है। स्वभाव ही से तामसिक मनुष्य तामसिक-शास्त्र में, राजसिक मनुष्य राजसिक-शास्त्र में और सात्त्विक मनुष्य सात्त्विक-शास्त्र में श्रद्धा रखता है। श्रद्धा के अनुसार सहज ही में विश्वास होता है। श्रद्धा के साथ अपने अधिकार जैसा कर्म करते करते साधु-सङ्ग के बल से उच्च अधिकार मिलता है। उच्च-अधिकार के मिलते ही स्वभाव फिर उच्च होता और उसका सहज शास्त्र में श्रद्धा होती है। शास्त्र रचनेवाले बड़े भारी पण्डित थे। शास्त्र का ऐसा गठन किया है कि अपने अधिकार-निष्ठा ही से धीरे-धीरे उच्च अधिकार मिलता है। अलग अलग शास्त्र में इसीलिये अलग अलग व्यवस्था है। शास्त्रीय श्रद्धा ही सब मङ्गलों का कारण है। श्रीमद्भगवद्गीताशास्त्र ही हरएक शास्त्र का निचोड़ है, उसमें यह सिद्धान्त स्पष्ट है।

देवी० मैंने बचपन से अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया है। किन्तु आज आपकी कृपा से एक अपूर्व तात्पर्य मालूम हुआ।

ला०—श्रीमद्भागवत में लिखा है,—

अणुभ्यश्च बृहद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥
(भा० ११।८।१०)

अर्थात जैसे भ्रमर फूलों से मधु संग्रह करता है, वैसे ही सारग्राही मनुष्य सब शास्त्रों से सार संग्रह करें।

बेटा ! मैं तुम्हें नास्तिक कहता था। अब और किसी की निन्दा नहीं करता। क्योंकि अधिकार-निश्चय मे कोई निन्दा नहीं है। सभी अपने-अपने अधिकार में रहकर कार्य करते हैं। समय आने पर धीरे-धीरे उन्नत होंगे। तुम तर्कशास्त्र और कर्मशास्त्र में पण्डित हो। इसलिये तुम्हारे अधिकार के अनुसार वाक्य में तुम्हारा दोष नहीं है।

देवी०—मुझ में जहाँ तक ज्ञान था, उससे जानता था, कि वैष्णव-सम्प्रदाय में पण्डित नहीं हैं। वैष्णव केवल शास्त्र का एक अंश देखकर ही पण्डिताई करने लगते हैं। किन्तु आज जो आपने कहा, इससे मालूम होता है, कि वैष्णवों में सारग्राही लोग भी हैं। आप आज-कल क्या किसी महात्मा के पास शास्त्र का अध्ययन कर रहे हैं ?

ला०—बेटा ! आजकल मुझे कट्टर वैष्णव या जो कहते बने कहो। मेरे गुरुदेव इसी दूसरी झोपड़ी में भजन करते हैं। उन्होंने सब शास्त्रों का निचोड़ मुझे बतलाया है, वही मैंने तुमसे कहा। तुम यदि उनके चरणों में कुछ शिक्षा लेना चाहो, तो भक्ति भाव से उनसे पूछो। चलो, मैं तुम्हें उनसे परिचित करा दूँ। यह कहकर लाहिड़ी महाशय ने देवी विद्यारत्न को श्रीवैष्णवदास की कुटी में ले जाकर उनसे परिचय करा दिया। लाहिड़ी महाशय देवी को वहीं छोड़कर अपनी कुटी में वापस आ जप करने लगे।

श्रीवै०—बेटा ! तुम्हारी पढ़ाई-लिखाई कितनी हुई है ?

देवी०—न्यायशास्त्र के 'मुक्तिपाद' और 'सिद्धान्त कुसुमाञ्जली' तक पढ़ा है। स्मृति शास्त्र के सभी ग्रन्थ पढ़े हैं ?

श्रीवै०—तो तुमने शास्त्र में बहुत परिश्रम किया है। शास्त्र में जो परिश्रम किया है, उसके फल का कुछ परिचय दो ?

देवी०—'अत्यन्तदुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिः'—इसी मुक्ति के लिये सदा चेष्टा करते रहना उचित है। मैं अपने धर्म में दृढ़ता के साथ मुक्ति की खोज कर रहा हूँ।

श्रीवै०—हाँ, एक समय में भी उन ग्रन्थों को पढ़कर तुम्हारी ही तरह मुक्ति की इच्छा करता था।

देवी०- मुक्ति की कामना क्या त्याग दी है ?

श्रीवै०—बेटा ! बोलो तो मुक्ति किसे कहते हैं ?

देवी०—न्यायशास्त्र के मत से जीव और ब्रह्म में भेद है। इसलिये न्याय के मत से कैसे अत्यन्त दुःख का नाश होता है, यह स्पष्ट नहीं है। वेदान्त के मत से अभेद ब्रह्म के अनुसन्धान ही को 'मुक्ति' कहते हैं। यही एक प्रकार से स्पष्ट मालूम होता है।

श्रीवै०- बेटा ! मैं १५ वर्ष शङ्कर-वेदान्त-ग्रन्थ पढ़कर कई साल तक संन्यासी रहा। मुक्ति के लिये बहुत यत्न किये हैं। शङ्कर के मत मे चार महावाक्य हैं, उनका अवलम्बन करते हुए बहुत दिन तक निदिध्यासन करता रहा। बाद में उस पथ को अधम समझ परित्याग कर दिया।

(क्रमशः)

ग्राहक-गण के प्रति निवेदन

भागवत-पत्र के महानुभाव ग्राहकगण के प्रति हमारा सविनय निवेदन यह है, कि आगामी १४ वीं अक्टूबर आश्विन पूर्णिमा में भागवत-पत्र का प्रथम वर्ष समाप्त होगा। अतएव नये वर्ष की भिक्षा (चन्दा) १॥) डेढ़ रुपया आगामी १४ वीं अक्टूबर के भीतर मनीआर्डर द्वारा भेज कर द्वितीय वर्ष के ग्राहक बनें। उपर्युक्त तारीख तक जिनके पास से १॥) न पाया जायेगा, वे कृपा पूर्वक पत्र द्वारा सूचना दे दें। नहीं तो उनके नाम प्रथम संख्या वी. पी. की जायेगी। उसमें मनीआर्डर के अतिरिक्त /) आना अधिक लग जायेंगे।

भागवत-कार्यालय का पता परिवर्तित हो गया है। अतएव ग्राहक-महानुभाव निम्नलिखित पते से मनीआर्डर भेजने की कृपा करें,—

मैनेजर, भागवत
१६, सेठ रामयश रोड,
नरही, लखनऊ.

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जाम्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १३ हनुमान रोड, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकुंदा चीरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० बासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वूर, वैष्ट गोदावरी, मद्रास

Registered No. A. 2191.

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

14th October. 1932

पद्मनाभ
गौरपक्ष
गौराब्द
४४६

आश्विन
पूर्णिमा
संवत्
१९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी महाराज

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

प्रति संख्या -) } सम्पादक-त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor:- Tridandiswami Bhakti Hridoy Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म संम्बधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

पत्र व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

१६, सेठरामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'
16, Seth Ramjas Road,
Narhe,
LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष १ ⎬ आश्विन पूर्णिमा गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, १४ अक्तूबर सन् १९३२ ई० संख्या २४

नम्र-निवेदन

(२३)

आत्म निवेदन ही में अपना खोय गया अभिमान।
नहीं करूँगा अब मैं अपनी रक्षा का सुविधान॥
अपने मन को आप समझके आपी रक्खो नाथ।
मुझ गोधन को पाल्य समझके रखिये अपने साथ॥
हे माधव, तुम मुझे चराना श्रीजमुना के तीर।
वंशी की धुन मधुरी टेरें बोलें धीरे धीरे॥
अघा बका को मार करोगे रक्षा का सुविधान।
सदा सर्वदा करते रहते तुम गोकुल के कान॥
रक्षा तुम्हीं करोगे निश्चय ये बातें हैं मानी।
पान करेंगे हम भी सुख से श्रीजमुना का पानी॥
विषधर कालिय के दोषों का कर दोगे तुम नाश।
शोध करोगे जमुना जल में बढ़ा बढ़ा के आश॥
दावानल को पीकर प्रभुजी हठि के मुझे बचाओ।
तब ही तो व्रज में गोपाल औ गोविंद नाम कहाओ॥
सुरपति की दुर्मति हरने को अपने मन में धार।
प्रबल वृष्टि में रक्खोगे तुम नख पर गिरिवर धार॥
चतुरानन वन में गोधन की चोरी को जब आवें।
तब उस सङ्कट में रक्षा कर गोकुल हरिहि बचावें॥
भक्ति-विनोद तुम्हारे ही गोकुल का तो एक धन है।
रखना केशव, उसे यतन से वह तुम्हरा ही जन है॥

वर्ष के अन्त में निवेदन

देखते देखते भागवत का प्रथम वर्ष पूरा हुआ। इस एक वर्ष के बीच में भागवत में बहुतेरे जीवन चरित्र, श्रीकृष्णतत्त्व, श्रीबलदेवतत्त्व, श्रीराधातत्त्व, श्रीएकादशीतत्त्व, द्वादशीतत्त्व और भजन-राज्य के अन्यान्य अनेक निगूढ़ सिद्धान्त-कथा अनेक आकार में प्रकाशित हुई है। सहृदय पाठकों की महानुभावता तथा सहानुभूति से हम आगामी वर्ष के भागवत पत्र को भी विचित्र आकार में लोकदृष्टि में प्रकाशित देखने की आशा रखते हैं।

भागवत-पत्र के पढ़ने से, भागवत-कथा से आनन्द पाने वाले हरिजनगण का आनन्दाम्बुधि बढ़ता है, किन्तु भगवान से इतर कथा में जिनकी रुचि है, उनके निकट भागवत की वाणी कर्ण-कटु होगी। जितने दिन हम लोगों की इतर कथा या इतर विषय में रुचि रहती है, तब तक भगवत्-कथा में प्रीति नहीं बढ़ती। पित्त से बीमार व्यक्ति के पास परम मधुर मिश्री का स्वाद तीते रूप में मालूम होता है, किन्तु मिश्री उनके रोग-नाश की दवा होती है। इस प्रकार भव-रोगग्रस्त हम लोगों के जड़ विषय में, जड़ कथा में ही रुचि है। भवव्याधिनिवारक भगवत् कथा में आग्रह नहीं होता। कारण, ऐसा होने से हमारा रोग नाश हो जायगा। ऐसी दशा में भव-समुद्र में डुबकियाँ न खानी पड़ेंगी।

अनेक की धारणा है, कि भगवत्-कथा के लिये किसी व्यक्ति के पास जाने का प्रयोजन क्या है? अथवा किसी पारमार्थिक पत्र मँगाने की ही आवश्यकता क्या है? स्वयं घर में बैठकर रामायण-महाभारत का पाठ करने ही से तो काम हो जायगा। किन्तु ऐसी धारणा-विशिष्ट व्यक्तियों के पास हमारा वक्तव्य यही है, कि शास्त्र-सिद्धान्त अति गूढ़ और सुगम्भीर है। जैसे अज्ञ व्यक्ति के लिये अगाध समुद्र से रत्नादि का निकालना दुष्कर है, उसी तरह शास्त्र-समुद्र से सिद्धान्त रत्न-समूह का चुनना अपनी चेष्टा से निष्फल है। इसलिये शास्त्र ने जोर देकर साधुसङ्ग की कथा कीर्त्तन किया है। निष्कपट भगवत्-भक्तगणों के साथ में भगवत्-कथा के सुनने में हम शास्त्र का सार संग्रह कर सकते हैं।

भगवत्-भक्त के सङ्ग के अतिरिक्त हम किसी दिन भी सेव्य वस्तु श्रीहरि सेवा के विषय को समझ नहीं सकेंगे। भगवत्-भक्त जिस तरह 'सब' अधिकारियों के अधिकार के अनुसार भगवत्-सेवा की कथा की शिक्षा देते हैं, उसी तरह पारमार्थिक पत्र भागवत भी हमारी रुचि को समझकर हम लोगों की उपयोगिता लक्ष्य कर शास्त्र-सिद्धान्तों का प्रबन्ध रूप में प्रकाशित करते हैं।

औषधालय में अनेक प्रकार की औषधि मौजूद रहती है। विभिन्न रोगों के लिये विभिन्न औषधियाँ औषधालय में हैं। किसी रासायनिक द्रव्य अन्य द्रव्य से मिलकर औषधि रूप में परिणत हो सकती है। फिर वही औषधि अन्य रोग के लिये अनिष्टकर हो सकती है। औषधालय की औषधियों में कहीं अमृत है, कहीं विष है। वही विष किसी रोग में अमृत का काम करता है, फिर अमृत भी अनुपयुक्त स्थान में लगाने से विष का काम करता है। कोई धनवान व्यक्ति धन के अहङ्कार से पागल हो, यदि उस औषधालय की सारी दवाओं का संग्रह कर निज इच्छा और रुचि के अनुसार व्यवहार करे, तो औषधि की कुफल प्राप्ति अवश्य संभव है। हम लोग भी इस तरह के शास्त्र-सिद्धान्तों का, वेदोल्लिखित कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति आदि विभिन्न साधन उपायों का तात्पर्य न जानकर यदि अपने ख्याल के अनुसार साधन करते जायँ, तो उपर्युक्त धनी व्यक्ति की तरह दुर्दशाग्रस्त होना पड़ेगा।

वर्त्तमान में श्रीचैतन्यदेव के जन्मस्थान श्रीधाम मायापुर में प्रतिष्ठित श्रीचैतन्यमठ से और वहीं के विभिन्न शाखा मठ से विभिन्न भाषा में छः सामयिक पत्र प्रकाशित हो भारत और भारत से इतर विभिन्न स्थानों में विशुद्ध पारमार्थिक सन्देश वहन कर रहे हैं। जैसे अँगरेज़ी भाषा के मासिक पत्र 'सज्जन तोषणी' या हार्मनिस्ट, आसामी भाषा से मासिक पत्र 'कीर्त्तन', हिन्दी और उड़िया भाषा में पाक्षिक पत्र 'भागवत' तथा परमार्थी, बंग भाषा में साप्ताहिक पत्र गौड़ीय और दैनिक पत्र 'नदीया-प्रकाश'। यह सब पारमार्थिक पत्रिका-समूह में एकमात्र विशुद्ध पारमार्थिक कथा की ही आलोचना होती है। वर्त्तमान् गौड़ीय सम्प्रदायाचार्य श्रीश्रीमत् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज की इच्छा यही है, कि मनुष्य अनित्य

देह की रक्षा के लिये रोज चार बार, अन्ततः, दो बार बिना भोजन किये रह नहीं सकते, किन्तु अनन्त काल के चेतनमय जीवन और स्वास्थ्य रक्षा के लिये कितना अधिक भोजन की आवश्यकता है, इसकी चिन्ता नहीं करते। हमलोगों की बद्ध आत्मा वर्तमान में आहार के अभाव से दुर्बल हो पड़ा है। उसका भोजन नित्य भगवद्-वाणी के श्रवण-कीर्त्तन आदि हैं। वह प्रचुर परिमाण में मिलने ही से आत्मा सबल और स्वस्थ होकर त्रिगुणी माया के हाथों से परित्राण लाभ करने में समर्थ होगा।

हम लोग जब देह और मन के इन्द्रिय तर्पण के लिये बहुत कुछ खर्च करते हैं, परन्तु आत्मा का स्वास्थ्य के लिये वार्षिक सामान्य अर्थ के विनिमय से विशुद्ध सिद्धान्त पूर्ण 'भागवत-पत्र' के ग्राहक यदि न हो सकें, तो हम लोगों का बड़ा दुर्भाग्य जानना पड़ेगा।

अतएव सहृदय पाठकों के प्रति हमारा यह निवेदन है, कि वे 'भागवत-पत्र' रूपी नित्य पाथेयरूप में व्यवहार का बन्दोबस्त करें और उनके निकटतम आत्मीयगण को भी इस विषय में ग्राहक बनाने में यत्नशील हों।

परिक्रमा हमारे स्वरूप का धर्म है

आह ! हम किस देश के हैं और किस देश में आ पड़े हैं। यह केवल सात समुद्र और युग तेरह नदी ही नहीं लक्ष लक्ष देशान्तर, युगान्तर में घूमते हुए हम यहाँ आ पहुँचे हैं ! यहाँ भी स्थिरता नहीं है केवल चक्र की तरह घूम रहे हैं ! कहाँ बैठा था, वहाँ से घूमते घूमते माता के गर्भ में आया— दश दिन दश महीने वहीं घूमते घूमते भूमि में गिरा, उसीके साथ-साथ हमारा मन, आकृति-प्रकृति— सब घूमने लगा। हमारे घूमने के साथ ही साथ हमारा सुख-दुःख भी चक्र की तरह घूमने लगा।

कभी पक्षी होकर आकाश मण्डल में घूमते हैं; कभी ज़लजन्तु होकर सागर महासागर में घूमते हैं; कभी-कभी तरह तरह के प्राणी हो पृथिवी मण्डल में घूमते हैं। मनुष्य होकर कितने ही प्रकार से दुनियादारी करते हुए घूम रहे हैं; कभी पेट की चिन्ता में और कभी कभी एक एक विचार को पूरा करने के लिए घूमते हैं। कभी रूप के मोह में, कभी रस के मोह में, कभी गन्ध के मोह में, कभी स्पर्श के मोह में, कभी शब्द के मोह में, मायामृग बनकर माया-मरुभूमि में चारों ओर घूमते फिरते हैं।

पृथिवी में इतना घूमने पर भी घूमने का शौक न मिटने की वजह चन्द्र मण्डल, सूर्य मण्डल, नक्षत्र-मण्डल, स्वर्ग मण्डल में घूमने के लिये हम व्याकुल हो उठे हैं—तरह-तरह के व्रत और तपस्या कर रहे हैं। यज्ञ-योग के झूले में चढ़कर कितने ही सूर्य-मण्डलों में घूमने पर भी घूमना समाप्त न हुआ घूमने का शौक न मिटा।

चौरासी लाख योनि में घूमकर तब पृथिवी में मनुष्य की सूरत लेकर आये। घूमने की उग्र प्रवृत्ति ने जब पृथिवी की परिक्रमा के लिये हमें नये सिरे से उत्साहित किया, तब गृहिणी ने हमारी परिक्रमा की, हमने भी उनकी परिक्रमा की; गृहिणी की परिक्रमा के बाद गृह-परिक्रमा कर नये घर में प्रवेश किया। मन में सोचा था, कि घर में विश्राम मिलेगा—शान्ति मिलेगी। किन्तु घूमते-घूमते माथे का पसीना पैरों तक आया—माथा बवण्डर का गेंद बन गया; फिर भी न जाने कौन हमें चाबुक लगा रहा है—लातों से मार रहा है और घुमा रहा है !

इस तरह घूमते घूमते थकावट दूर करने के लिये मज-दूरों की तरह हम गाने लगे,—

माता, मुझे घुमाये कितना।
जैसे, बैल के आँखों बँधना॥

ब्रह्माण्ड भार ढोवनी जगज्जननी अपने भाण्ड में डालकर तेली के बैल की तरह, नाक में नकेल लगाकर घुमाती हैं और हमारे द्वारा अपने जेलखाने का तेल पेरवा लेती हैं। हम जगदम्बा के जगत-कारागार के कैदी हैं; इसीलिये हम जितना हठ करते हैं, वह भी उतनी ही चटनी देके हमें फुसलाया करती हैं। हमारे हाथ में विश्वरूपी लड्डू और के बैल की तरह घुमाती हैं और "पैसा देके सौदा लेने" की

तरह तेल के हाट का तेल वसूल कर लेती हैं। हम प्रकृति से जितना प्रकृति का दान माँगेंगे, प्रकृति भी उतना ही भोग देके तेल वसूल कर लेती हैं; यही प्रकृति की प्रकृति है। इसीलिये समय-समय पर घूमते-घूमते जब आँखों को चकाचौंध लग जाती है, तब हम में श्मशान-वैराग्य उदित होता है। घूमने के झंझट से छुटकारा पाके, बूँद बनकर टपकने के लिये अपने को श्मशानवासी शिव कल्पना कर लेते हैं और 'शिवोऽहम्-शिवोऽहम्' किया करते हैं।

घुमाई के चक्कर में पड़कर हमारी सारी बुद्धि लोप हो जाती है। इसीलिये हमें एक बहुत बड़ी भूल दिखाई नहीं पड़ती। जब हम शिवानी को एकबार 'माँ' कह लेते हैं—"जगदम्बा" कह लेते हैं, तो फिर हमारे "शिव" बन जाने पर हम कितनी बेअदबी—सिर्फ बेअदबी नहीं, राजद्वार से दण्डित होनेवाला कितना बड़ा अपराध कर बैठते हैं, उसे हम सोच नहीं सकते। ऐसे चरम अपराधी को या तो आप ही आत्महत्या करना चाहिये; नहीं तो राजपुरुषों ही को उसे वैसा चरम दण्ड देना चाहिये।

भगवान जब हमारी विभिन्न वासना पूरण-कारिणी, हमारे उपस्थित सुखों के प्रति स्नेह-सुलभ दृष्टि-सम्पन्ना माँ को मूर्त्ति-रूप में बनाया चाहते हैं, वहाँ 'जड़ा प्रकृति' आ खड़ी होगी। भगवान को 'माँ' बनाने से अपनी जिद पूरी कराने से दुनिया का चक्कर कम न होगा। बारंबार गर्भवास-यन्त्रणा में घूमना पड़ेगा और प्रकृति को 'माँ' कहते हुए उनका स्तन पान (विश्व के रूप-रसादि भोग) करते हुए फिर दूसरे गर्भवास के हिंडोले में झूलना पड़ेगा। कभी-कभी श्मशान-वैरागी बनके 'माँ' की पुकार को उलट देना पड़ेगा।

जीव जब 'माँ' को पुकारता है, तब वहाँ गर्भवास-सम्बन्ध है—जगत् के आदान-प्रदान का सम्बन्ध है; और पूर्ण चेतन भगवान जब अविमिश्र, विशुद्ध-सत्त्व-चैतन्य को 'माँ' कहते हैं; भगवान जब नित्य पुत्र रूप से प्रकाशित होते हैं, तब वहाँ गर्भवास सम्बन्ध या प्रकृति का सम्बन्ध नहीं; वहाँ प्रेम के फव्वारे छूटने लगते हैं क्योंकि भगवान गर्भवास के सिवा जगत् में प्रकाशित हो सकते हैं। किन्तु बद्धजीव ऐसा नहीं कर सकता।

जगत् का अज्ञान शिशु सम्प्रदाय जब परब्रह्म को (?) अपनी ज़िद और कामना को पूरा करनेवाली मूर्त्ति के रूप में कल्पना करता है, पुराने समय के राज्यभ्रष्ट देवताओं की तरह राज्य, ऐश्वर्य, धर्म या शिवत्व की कामना से 'माँ'-'माँ' कहता हुआ आवाहन करता है, तब क्या उससे सचमुच ही परब्रह्म की सेवा होती है? अपने सुख और अपने सुख के साथ जिनका सुख जकड़ा हुआ है, उनके सुख की कामना—उनकी स्वाधीनता की कामना राज्य-ऐश्वर्य या अपने को इस दुःख की दुनिया से निकालने और शान्ति देनेवाले आत्मसुख की कामना के लिये 'माँ' को हठ पूरी करनेवाली बनाना, गुमाश्ता बनाना, दासी-बाँदी बनाना, 'माँ' की पूजा है,—या उनसे मजदूरी कराना! परब्रह्म से मज़दूरी कराना (?) परब्रह्म की सेवा नहीं कहलाती- परब्रह्म हमें सुख में रखें या दुःख में, उसमें विचलित न होवे- उनके चरणों में सदा के गुलामी का पट्टा लिखके उनके लिये बिना स्वार्थ के अहैतुक भाव मजूरी करना, उन्हें सुखी करने के लिये नाना कौशल से, नाना भाव से, सब समय लगे रहने का नाम ही सेवा या प्रेम है।

'माता मुझे घुमाये कितना' कहते हुए 'माँ' को मानो घूस देने की तरह अक्षत-केला नैवेद्य देना, ढाक ढोल बजाना या "हम शिव होजाने पर दुःख से उद्धार पायेंगे और अन्त में परब्रह्म की सेवा छोड़ देंगे"—इस प्रकार के कु-स्वार्थ को ही श्रेष्ठ मानवजाति क्या पूजा कह सकते हैं? देखादेखी रूप में बहुत-से लोग मोह के नशे में अज्ञानी होकर काम करते आये हैं; इसलिये उसी में मतवाले हो रहना और जो लोग जगत में अहैतुकी सेवा की बातों—प्रेम की बातों का प्रचार करते हैं, उसके लिये कान बन्द कर रखना—यह कैसी युक्ति है?

हम अपने को सबसे अधिक बुद्धिमान कहाने का दावा करके भी इस प्रकार का खिलौना खेलने में मतवाले हो रहे हैं—खिलौना खेलने में ढाक-ढोल लेकर दुनिया सिर पर उठाये हुए हैं; शरीरधारी आत्मीय-स्वजन के लिये, जो किसी-न-किसी रूप में हमारे भोग में सहायता पहुँचाते हैं, उनके लिये नये कपड़े, नये आभूषण, सुन्दर प्रसाधन, उनके खिलौना खेलने की सजावट और उत्सव में ही व्यस्त हैं; प्रकृति के दान, प्रकृति के सुख स्वच्छन्द, प्रकृति के सब प्रकार के भोग को ही मा के विचलित-करुणा-स्तन्यधार की तरह समझते हैं; अथवा उन सबके चिरकाल अपनी इच्छा के अनुसार भोग न जुटा सकने की वजह उन सब पर क्रोधकर श्मशान-वैरागी शिव बनने

जाते हैं—शिव होकर भी प्रकृति को अपने ऊपर नचाते हैं; क्योंकि चाहे भोगी हों या त्यागी प्रकृति हमको छोड़ती नहीं—भोग में प्रकृति का ही भोग (?) और त्याग में छिपे छिपे प्रकृति का भोग (?) करने के लिये हम जितनी चेष्टा करते हैं, उतनी ही प्रकृति हमारे ऊपर चढ़ी बैठती है; हम अणुचेतन हैं, माया का भोग करना चाहने पर भी हम उसका भोग कर नहीं सकते, त्याग करना चाहने पर भी त्याग न कर सकेंगे प्रकृति या माया हमारे ऊपर चढ़कर नाचती रहेगी—लपलपाती हुई जीभ निकाल कर नाचती ही रहेगी। यह तो परब्रह्म की ही बात है.—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

माया से उद्धार पाने के लिये माया की पूजा करने से काम न चलेगा; माया का आश्रय लेना न पड़ेगा; जिनकी माया है, एकमात्र उनकी ही शरण लेना चाहिये।

दशानन रावण ने अपने दश सिर और बीस भुजाओं से दुनिया की स्वाधीनता, साम्राज्य आदि सब तरह के भोग को अपने वश में किया था ही, यहाँ तक कि स्वर्ग के राजा इन्द्र को भी अपना गुलाम बना लिया था, संसार का क्लेश दूर करने के लिए इच्छा होते ही स्वर्ग पहुँच जाने के ख्याल से उसने स्वर्ग की सीढ़ी तैयार करने तक की चेष्टा की थी, और ऐसी ही चेष्टा से उसने अपने गुरु के (शिव के) गुरु राम की स्वरूपशक्ति लक्ष्मी को हरण करने की चेष्टा की थी। रावण ने सोचा था, कि इस काम से वह शायद भगवान विष्णु को निःशक्ति बना सका है; किन्तु स्वरूपशक्ति ने वहाँ रावण को धोखा दिया था—भगवान की शक्ति के हरण करने की शक्ति रावण में नहीं थी—रावण स्वरूपशक्ति की छायाशक्ति को कुछ अहङ्कार से भूलवाला होकर क्या कभी स्वरूपशक्ति का स्पर्श भी कर सकता था? इसीसे उसने मायाशक्ति को—छाया को देखकर ही मन में सोचा था, कि वह सर्वशक्तिमान् भगवान को निःशक्ति कर सका है; इसीसे सर्वशक्तिमान ने उसे चरम-दण्ड दिया था।

'छाया-शक्ति' की जो लोग पूजा करते हैं, उनकी पूजा भी छाया की तरह अवास्तव है। जैसे छाया का वस्तुत्व और नित्यत्व नहीं है। ऐसे लोग एक तरफ मुहँ से कहते हैं, कि वे शक्ति की पूजा करते हैं, किन्तु दूसरी ओर वे शक्ति का लोप करते हैं—हरण करने की चेष्टा करते हैं—उनका विसर्जन करते हैं—अन्त में—सबके शेष में ऐसी कल्पना करते हैं, कि शक्ति का अस्तित्व रहने न पाये, सब निःशक्ति हो जाये। सिवा इसके शिवानी की पूजा करते करते, शिव की पूजा करते-करते आपही शिव के आसन पर बैठ जाते हैं।

जब हम जगत्प्रसविनी 'माँ' को पुकारते हुए गर्भवास के चक्कर से, त्रिताप यंत्रणा के चक्कर से उद्धार पाने के लिये 'मा! हमें कब तक चक्कर देगी?'—यह सब छोड़कर हर समय अपने को परब्रह्म के बाग का माली बना के उनके सब काम में, उनकी सब इन्द्रिय-तर्पण के लिये अपने को चक्कर दे सकेंगे, जिसमें उनके इन्द्रिय तर्पण के लिये प्रति क्षण—अविराम, और तो क्या, जन्म जन्मान्तर तक चक्कर खा सकें,—ऐसी अकपट आर्त्त प्रार्थना जिस दिन चेतन को उद्बुद्ध कर देगी उसी दिन हम जिनके बरामदे में परब्रह्म सर झुकाते हैं, उन्हीं नन्दनन्दन की ब्रजपरिक्रमा के लिये व्याकुल हो उठेंगे। उसी दिन विश्वपरिक्रमा और व्रज-परिक्रमा, ग्राम परिक्रमा और धाम-परिक्रमा के बीच का अलगाव समझ जायेंगे। तब एकमात्र अद्वितीय अप्राकृत कामदेव के काम की परिपूर्ति के लिये हमारे स्वरूप की—चेतन की वृत्ति प्रकाशित हो जायगी। जो लोग सदा कृष्ण का काम चरितार्थ करने के लिये प्रति क्षण चक्कर लगाते हैं, उनका पीछा करते हुए—पदाङ्क अनुसरण करते हुए—चेतन के कान से नन्दनन्दन की वंशी की ध्वनि सुनते हुए जब हम सब काम छोड़के रास मण्डली में चक्कर लगाने के लिए दौड़ेंगे—जो लोग नन्दनन्दन की सर्वश्रेष्ठ सेवा करते हैं वह लोग जिस कुण्ड में सर्वक्षण स्नान करते हैं, उस राधाकुण्ड के चारों ओर वृषभानुनन्दिनी की सेवक मण्डली के चरणरेणु की आकांक्षा करते हुए जब हम घूमने लगेंगे—तभी श्रीकृष्ण की गृहस्थाली, हमारे नित्यस्वरूप में, हम जिनके एक अंशीदार हैं, उसी गृहस्थाली के मूल विषय और मूल आश्रय की सेवा के लिये सभी काम में, सभी चिन्ता में, सभी भावना में, हममें सिर्फ घूमने की स्वाभाविकी प्रवृत्ति उदय हो जायगी; तब समझ में आयेगा, कि कृष्ण की गृहस्थाली के लिये तन्मय होकर गोपियाँ सदा गोकुल-गोलोक में क्यों घूमती हैं—दिव्य विरहोन्माद से क्यों घूमती हैं—उस तरह घूमना ही हम सब का धर्म है—परिक्रमा करना ही हमारी कीर्त्तन की स्वाभाविकी वृत्ति है—घूमने से निर्वाण पाना,—परिक्रमा छोड़के बुत बनके बैठ जाना अचेतन का धर्म

है—पर्वत का धर्म्म है। चेतन के लिये उसकी अपेक्षा और कोई यन्त्रणामय व्यवस्था नहीं है। जड़शक्ति—जड़ तड़ित हम लोगों को रात-दिन 'कहाँ हमें इन्द्रिय-सुख मिलेगा'—ऐसी मरीचिका में उद्भ्रान्त बनाकर बवण्डर की तरह, आवर्त की तरह, क्लेश के जाँते में घुमाती है; यह देखके जले हुए मकान के डर से डरे बैल के लाल बादल देखके भय पाने की तरह हम यदि महामाया की जड़-शक्ति की प्रेरणा से घूमना और योगमाया की चिच्छक्ति की प्रेरणा के चक्कर को—विश्वपरिक्रमा और व्रजपरिक्रमा के समान समझ लें, तो बहुत भूल करेंगे। जड़शक्ति में बवण्डर की तरह घूमने से जगत की कितनी ही अच्छी चीज़ें नष्ट हो जाती हैं—ऐसा आवर्त्त बहुतेरे प्राणियों के प्राण हरण करता है, उससे जगन्नाश कार्य उपस्थित होता है।

इसीलिये महाजन हमारी यह विश्वग्रासी नींद तोड़ने के लिये हमें पुकारते हैं। वह हमारे दुःख से दुःखी होकर पुकार पुकार के कहते हैं—जड़ शक्ति के गेंद होकर कब तक विदेश में घूमोगे, सद्गुरु कृपा—चिच्छक्ति योगमाया की कृपा प्रसाद-मस्तक पर धारण करते हुए तुम लोग नित्य स्वदेश नवद्वीप वृन्दावन की परिक्रमा करो। नवद्वीप और वृन्दावन में अभेद देखते हुए परिक्रमा करो। वृन्दावन की परिक्रमा करते-करते नवद्वीप का औदार्य सीमा में तुम्हारी चेतनवृत्ति परिप्लुत हो जाये, और नवद्वीप-परिक्रमा के समय महावदान्य नवद्वीप की कृपा से तुम्हारे हृदय में व्रज-जन की माधुरी प्रकाशित हो।





बंगाल में शारदीय पूजा की तरह कोई पर्व भी इतने आडम्बर के साथ अनुष्ठित नहीं होता। बंगाल के आबाल-वृद्ध वनिता के प्राण शारदीय उत्सव के आने पर नाच उठते हैं। सुजला सुफला शस्य-श्यामला बंगाल का कोमल प्राण उन सब को हृदय के आनन्द में डुबा देता है। माता की गोद में बच्चा हँस उठता है, कि पूजा में नये कपड़े पाऊँगा; कुल-बधू आनन्द में विभोर होती हैं, बहुत दिनों के बाद परदेश से पतिदेव घर लौटेंगे, कितने ही मनोहर गहने कपड़े लायेंगे। विद्यार्थी कुछ दिनों के लिये पढ़ाई के क्लेश से उद्धार पा सकेंगे, नये गहने कपड़े पायेंगे, कितने ही रंग तमाशे देखने में आयेंगे, समझ कर आनन्द-मग्न हो जाते हैं। पुत्र रहित माता का पुराना शोक उबल उठता है, विधवायें अकेले में ठण्डी साँस लेती हैं, दरिद्र धनी के धन का गर्व देखकर महामाया से धन के लिये सकातर प्रार्थना करते हैं। धनी महामाया की आराधना में बहुत रुपये खर्च करते हैं, बाद में महामाया कुपिता होती हैं। पुरोहित-गण पूजा के अन्त में अनेक द्रव्य के लाभ की आशा से और पूजा-निर्वाह की चिन्ता से एक साथ आनन्दित और व्यस्त हो पड़ते हैं, साधकगण देवताओं की तरह चण्डीपाठ करते-करते स्तव करने लगते हैं,—

दुर्गायै दुर्गपारायै सारायै सर्वकारिण्यै।
ख्यातै तथैव कृष्णायै धूम्रायै सततं नमः॥
या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

फिर कहते हैं—

ते सम्मता जनपदेषु धनानि तेषां
तेषां यशांसि न च सीदति धर्म्मवर्गः॥
धन्यास्त एव निभृतात्मजभृत्यदारा
येषां सदाभ्युदयदा भवती प्रसन्ना॥

तुम प्रसन्न होकर जिन्हें अभ्युदय प्रदान करती हो, वे ही देश में पूजित और धन में तथा यश में समृद्ध होते हैं। उनका धर्म-अपवर्ग कभी अवसन्न नहीं होता। वे ही धन्य और वे ही पुत्र पत्नी तथा भृत्यों से उद्वेगहीन हैं। तुम प्रसन्न हो।

षष्ठी को विल्वशाखा में महामाया का आवाहन होता है; दशमी को महामाया का विसर्जन होता है। "दुर्गे देवि जगन्मातः स्वस्थानं गच्छ पूजिते। संवत्सरं व्यतीतं तु पुन-

रागमनाय चै। निमज्जाम्भसि देवि त्वं चण्डिका प्रतिमा शुभा। पुत्रायुर्धन-वृद्ध्यर्थं स्थापितासि जले मया,"—इस मंत्र के द्वारा प्रतिमा को क्रीड़ा कौतुक मङ्गलादि के साथ नदी जल में विसर्जन किया जाता है। इस प्रकार हर साल साधक की कामना की सिद्धि के लिये कल्पित मूर्त्ति में देवी का आवाहन किया जाता है और कामना सिद्ध होनेपर उन्हें विसर्जन किया जाता है। कारण —

उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बहिःपूजाधमाधमा॥

(महानिर्वाण तन्त्र)

अर्थात् "ब्रह्म ही सत्य और सब मिथ्या" इस तरह का भाव ही उत्तम है, ध्यानभाव मध्यम है, स्तव और जपभाव अधम है, बाह्यपूजा अधम से भी अधम है। इसलिये देवी की कल्पित मूर्त्ति भी मिथ्या है पूजा केवल व्यावहारिक मात्र है।

हरसाल इस तरह कल्पितमूर्त्ति की आराधना में बंगाल के हजारों नरनारी गतानुगतिक की तरह दौड़ रहे हैं, किन्तु कोई क्या एक बार भी आत्मस्थ हो या सारग्राही हो शास्त्र सिद्धान्त का विचारकर देखते हैं, यह ब्रह्माण्ड भाण्ड-जननी महामाया कौन हैं? जिनकी आराधना की जाती है, जिनसे प्रेम किया जाता है, या श्रद्धा भक्ति की जाती है, उनका सबसे पहले स्वरूप न जान लेने पर किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित तथा प्रेम की वृद्धि होसकती है? अज्ञात कुल-शील में आत्मीयता कहाँ है? राह-चलतू के मुँह की बात भर होती है, स्वाभाविक आकर्षण किस प्रकार होगा?

कालपनिक द्रव्य में काठ, पत्थर, मिट्टी के साथ चेतनता का सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है? मिट्टी के पुतले के साथ वास्तव में क्या प्रेम होता है? कमारी बालिकायें खिलौने के साथ खेल करती हैं, कितना आदर यत्न करती हैं, विवाह हो जाने पर सब छोड़कर स्वामी की हो जाती हैं। अनित्य द्रव्य में चिरस्थायी प्रेम कभी हो नहीं सकता, मिथ्या कपट काम-सम्बन्ध ही रहता है। जिस जगह आवाहन और विसर्जन है—उस जगह काम-संबंध मात्र ही रहता है। काम सिद्धि के लिये आवाहन, काम पूरा हो जाने पर विसर्जन। प्राचीनतम वेद का कहना है—

ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्। अर्थात् विष्णु के उसी परमपद का ज्ञानी लोग सदा दिवालोक में उदित सूर्य की तरह सन्दर्शन करते हैं। अतः विष्णु का पद परम वस्तु है, वह कल्पित नहीं है। कल्पित होने से ज्ञानी लोग सदा दर्शन नहीं करते। विष्णु का परमपद नित्यकाल के दृश्य की चीज़ है, ज्ञानीगण उसे नित्य देखनेवाले हैं। दर्शकों की संख्या बहुत और दर्शन का कार्य नित्यकाल के लिये है। दृश्य सूर्य की तरह स्वयं प्रकाशमान है। दिव्यसूरिगण दिव्य-चक्षु-द्वारा जो स्वयं प्रकाशमान चिन्मय परमपद का सदा दर्शन किया करते हैं, वह उसी वस्तु के अवतार-स्वरूप अर्चाविग्रह को प्रपंच में प्रकटित करते हैं। अतः वह अर्चाविग्रह परमपद से अभिन्न है। परमपुरुष के अचिन्त्य शक्ति के बल से अनित्य जगत में विराजमान होने पर भी अप्राकृत है। इसलिये वह नित्य काठ पत्थर-मिट्टी की जातीय वस्तु नहीं, केवल जीव की स्वयं प्रकाशित क्षुद्र जड़ युक्ति के बिलकुल अगोचर है। उस नित्य विग्रह का आवाहन-विसर्जन नहीं है; वह विग्रह काल्पनिक या मिथ्या नहीं है। पूजक के किसी भी प्राकृत कामना से वह प्रकाशित नहीं होता, और कामना के पूर्ण होने पर उसका ध्वंस भी नहीं किया जाता। वह भक्त के हृदय का नित्यधन है। हृदय का सामयिक उल्लास, भावप्रवणता आदि कभी भक्ति नहीं है—रंगालय में नाटक देखने से वीर, करुणा, रौद्र प्रभृति रस का उद्दीपन स्थायी भाव रति के साथ किसी तरह भी बराबरी कर नहीं सकता। अभ्यास की वजह आँखों से आँसू का निकलना प्रेम नहीं है। मुलम्मा काँच और खाँटया नकली चीज है। फिर सुवर्ण, हीरे का टुकड़ा और दूध असल चीज हैं। भक्ति आत्मा की वृत्ति या भगवान में आत्मा का स्वाभाविक और सहज अनुराग है। भक्ति में अपना बिन्दुमात्र भी स्वार्थ रह नहीं सकता। जहाँ आत्मेन्द्रिय-प्रीतिवांछा का लेशमात्र भी प्रकाशित या अप्रकाशित रूप में वर्त्तमान है, वहाँ भक्ति की गन्ध भी नहीं है। भगवत्प्रीति की इच्छा ही भक्ति और उसका सुपक्व फल प्रेम है। गङ्गा की स्वाभाविक गति जैसे सागर की तरफ है, अप्रतिहता और अहैतुकी जल की गति जैसे नीचे की तरफ है उसी तरह आत्मधर्म ही भगवान की प्रीति-इच्छा या भक्ति है। जिस जगह 'देहि देहि' की ध्वनि है, वहाँ भक्ति की गन्ध भी नहीं। उस जगह केवल स्वार्थ है। शुद्ध भक्त की दो-दो प्रार्थना नहीं; लो-लो प्रार्थना है। भक्त अपने को बिक्री कराया चाहता है; बिक्री के पशु को देकर उसके बदले में कुछ चाहता नहीं, बनिया होना नहीं

चाहते। भक्त की कामना भगवान के सुख-तात्पर्य के लिये है, अपने लिये नहीं।

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

भक्त धन-जन, देह-सुख, विद्या, सुन्दरी स्त्री, स्वर्ग, मोक्ष कुछ भी नहीं चाहते। चाहते हैं, केवल प्रभु के पाद-पद्म की सेवा। भक्त को कपटता नहीं है। स्वर्गलिप्सा, अर्थ-इच्छा पुत्र-पौत्रादि की कामना या मोक्ष-कामना में कपटता मौजूद है। मोक्ष की इच्छा में सबसे अधिक कपटता है। जहाँ मोक्षवांछा है, वहाँ से भक्तिदेवी सदा के लिये अन्तर्हिता होती हैं। यह सब कामना-मूलक झूठी भक्ति विष-कुंभपयो मुखवत् है। बाहर सेवकों का वेश, पूजकों जैसी बनावट, षोडशोपचार से पूजा की व्यवस्था, भीतर बनियों सा वेष या शुंभ निशुंभ की तरह संहार की इच्छा है। श्रीचण्डी, श्रीगीता और श्रीमद्भागवत यह तीन ही महर्षि कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास-रचित ग्रन्थ हैं। श्रीचण्डी मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत और श्रीगीता महाभारत के अन्तर्गत है। श्रीचण्डी के उपदेश में भी युद्धक्षेत्र के समय का उपदेश है, श्रीगीता के उपदेश में भी युद्धक्षेत्र का उपदेश है। श्रीचण्डी में साक्षात् भाव से भगवान् के या शक्ति के मुँह से निकली हुई निःश्रेयस का उपदेश नहीं है। श्रीगीता भगवान् के मुँह से निकली हुई वाणी है, अतः उसमें उपनिषद् का लक्षण वर्त्तमान है। श्रीगीता में शुरू ही से आत्मा की कथा है। देह और मन परिवर्त्तनशील है, आत्मा ही नित्य और सनातन वस्तु हैं। सुरथ राजा राज्यभ्रष्ट और समाधि नामक वैश्य धनलोलुप स्वजनों से विताड़ित हो जब राज्य और पुत्रादि की चिन्ता कर रहे थे, तब उन्होंने मेधस ऋषि से उपदेश की प्रार्थना किया था। तब मुनि ने कहा, विषय-गोचर-ज्ञान में मनुष्य और पशु पक्षी दोनों ही बराबर हैं। मोह में आच्छन्न हो पक्षिगण स्वयं क्षुधा से पीड़ित होकर भी अपने अपने बच्चों के मुँह में अनाज के कण देने में कैसे तल्लीन रहते हैं। हे राजन्! मनुष्य अपने पुत्रों के प्रति प्रत्युपकार के अभिलाषी होकर ही जो उनका भरण-पोषण करते हैं यह क्या नहीं देखते हो? महामाया जगत्पति की योगनिद्रा स्वरूपा हैं, वही इस जगत् को मोहित करती हैं। वही महामाया ही ज्ञानियों के चित्त को खींचकर, मोह के गड्ढे में गिराती हैं। उन्हीं के प्रसन्न होकर वरदान करने पर मनुष्य की मुक्ति हो सकती है। इस उपदेश में निःश्रेयस की कथा का आभास पाया जाता है सही, पर उसमें संबंध-ज्ञान के कारण-रूप स्वरूप की उपलब्धि की कोई बात नहीं है। श्रीगीतोपनिषद् में दुष्पारा माया से उद्धार पाने का उपाय श्रीभगवान ने अपने मुँह से कहा है—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

इसलिये उनके चित् स्वरूप में शरणागति के अतिरिक्त माया से उत्तीर्ण होने का दूसरा उपाय नहीं है—गीता का सबसे गुह्यतम उपदेश यही है—

सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

यावतीय वर्ण और आश्रम धर्मरूप अनात्म धर्म का परित्याग कर एकमात्र मेरी शरण में आओ। इसलिए जो कहते हैं, कि महामाया के दरवाजा न खोल देने पर ब्रह्म का दर्शन हो नहीं सकता वह महामाया की माया से मोहित हैं। क्योंकि सदा भगवान के मुँह की बात ही अधिकतर बलवती है। महामाया की कपट कृपा से ज्ञानी भी मोहित हैं। मनु, जैमिनी, विष्णु हारीत, पराशर आदि ऋषि-वर्ग भी माया से मोहित हैं, दूसरों की क्या बात है। इसीलिए भगवान का साक्षात् उपदेश, भक्तपरायण साधु का उपदेश ही ग्रहण के योग्य है। कृष्णद्वैपायन वेद-व्यास ने जब समस्त पुराण और महाभारतादि की रचना करके भी मन में शान्ति न पाया, तब नारद के उपदेश से समाधि-योग में जो वेद का परिपक्व फल स्वरूप श्रीमद्-भागवत-ग्रन्थ की रचना की, उसमें देखा जाता है, कि भगवान के शुद्ध चित् स्वरूप की प्रपत्ति के अतिरिक्त विज्ञान लाभ पाने का दूसरा रास्ता नहीं है। देवताओं की स्तुति से देखा जाता है, कि वे केवल अभ्युदय के प्रयासी हैं। जड़ीय भोग के लाभ की ही उनकी कामना है। अत-एव महामाया उन-उन कामनाओं को परिपूर्ण कर उन्हें और भी मोहित करती हैं? श्रीचण्डी में देवताओं के वर प्रार्थना के साथ श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद महाराज का नृसिंह देव से प्रार्थना की तुलना करने पर आकाश पाताल का भेद दिखाई देता है। श्रीगीता में भुक्ति-मुक्ति मूलक कामना को निराशकर अव्यभिचारिणी शरणागति-लक्षणा भक्ति ही जैवधर्म या आत्मधर्म के रूप में कही गयी है। मुंडक भी यही कहते हैं—

"जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमेति वीतशोकः"

जब जीवात्मा परमात्मा की सेवा में नियुक्त होता है, तभी शोक भूलकर एकमात्र महिमा लाभ करता है

"आत्मक्रीडः आत्मरतिः क्रियावान एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः"

जो आत्माराम होकर भी किस विशुद्ध चैतन्य या चिन्मय धाम में भगवान् के नवनवायमान सेवा में नियुक्त होते हैं, वही ब्रह्मविद्गणों में श्रेष्ठ हैं। केनोपनिषद् में देवराज के प्रति उमा देवी के वाक्यों से भी जाना जाता है—'ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति'। ब्रह्म की विजय ही से तुम लोग महिमान्वित हुए हो। अर्थात् शक्ति शक्तिमान् ही के अधीनतत्व है। इसलिये सर्वोपनिषद्-सार श्रीगीता की वाणी हम लोगों को हृदय में अंकित रखना ही कर्तव्य है,-

दैवी ह्येषा गुणमयी मममाया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरंति ते॥

[शुद्धा] और विद्धा भक्ति

(पूर्वप्रकाशित के उपरान्त)

अभक्ति योगसमूह और उनका स्वरूप-विचार

[illegible] कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, राजयोग आदि ही अभक्तियोग हैं। यह सब कभी भी अप्रतिहता अहैतुकी मुकुन्द-सेवा नहीं। जीव में जब इस प्रकार की समझ होती है, कि चौबीस घण्टे के भीतर चौबीसों घण्टे कृष्णेन्द्रिय-तर्पण के अतिरिक्त जीव के लिये और कोई कर्तव्य हो ही नहीं सकता—तभी वह श्यामदेव की तरह ज्योति के भीतर श्यामसुन्दर पूर्ण पुरुष का दर्शन कर सकता है। पूर्ण-पुरुष कृष्ण में जिनका पूर्ण विश्वास है, वे स्वतन्त्र भाव से अन्य देव-देवियों की पूजा नहीं करते। वे भागवत के इस वाक्य को जानते हैं, कि "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।" अपूर्ण वस्तु की पूजा द्वारा अन्य अपूर्ण वस्तु की ईर्षा उपस्थित होती है। किन्तु कृष्ण में परम परिपूर्णता विराजमान है। श्रीसङ्कर्षण-प्रद्युम्नादि अथवा मूल प्रकाश-मूर्ति बलदेव से प्रकटित सभी कृष्णचन्द्र में अवस्थित हैं। माया भी कृष्ण में अवस्थित है—किन्तु गर्हित भाव से उनके पीछे। असुरमोहनार्थ भगवान शाक्य सिंह के 'प्रकृति में निर्वाण' के नाम से जो नास्तिक्यवाद का प्रचार या 'ईश्वर कृष्ण' की लिखी सांख्य-कारिका में 'प्रकृतिलय' प्रभृति जो विषय हैं, वह कुदार्श-निकों का मतवाद है। माया या प्रकृति पूर्ण-पुरुषत्व की किसी तरह भी हानि कर नहीं सकती, किन्तु माया के नाम से पूर्णपुरुष का लक्ष्य नहीं होता। पूर्णपुरुष कभी जीव को सम्मोहित नहीं करते। माया अपनी विक्षेपात्मिका और आवरणीरूपा—अपनी दोनों वृत्तियों द्वारा जीव को आच्छादित करती है। माया सर्वदा पूर्णपुरुष को प्रसन्न करने को प्रस्तुत है, किन्तु जो लोग निष्कपटभाव से पूर्ण-पुरुष को प्रसन्न करने के अनिच्छुक हैं, उन्हें ही माया अभि-भूत करती है।

जीव का एकमात्र कृत्य

कृष्णसेवा के अतिरिक्त नित्य-कृष्णदास वैष्णवों के लिये और कोई भी चेष्टा नहीं। कृष्ण की विस्मृति से ही जीव में देहात्माभिमान उदित होता है। तब जीव यह बात भूलकर, कि "मैं नित्य कृष्णदास हूँ" स्थूल और लिङ्ग देह में 'अपने-पन' का आरोप कर माया की दासता करने को दौड़ता है। स्वरूपतः वैष्णव होने पर भी अपने को अवैष्णव समझने की योग्यता उसमें है।

पञ्चोपासना और शुद्ध-कृष्णसेवा

हृदय में सोये हुए नित्य भावों को उन्मुख इन्द्रियों द्वारा साधनकर प्रकट या परिस्फुट करना पड़ता है। भगवान् में उत्पन्न-रति मनुष्य पाँच प्रकार से रति-विशिष्ट हो स्वारसिकी रति के द्वारा विषय विग्रह की सेवा किया करते हैं। धर्म, अर्थ और कामादि के लाभ के लिये ईश्वराराधन का जो अभिनय होता है, वह कृष्ण-सेवा नहीं है। धर्मकामी मनुष्य सूर्य की उपासना, अर्थकामी मनुष्य गणेश की उपासना, कामकामी मनुष्य शक्ति की उपासना

और मोक्षकामी मनुष्य शिव की उपासना किया करते हैं। देवताओं को मजदूर बनाकर उनके द्वारा अपनी सेवा करा लेने की चेष्टा से ही पञ्चोपासना की उत्पत्ति है। किन्तु कृष्णसेवा ऐसी नहीं; कृष्णसेवा—अप्राकृत श्रीकामदेव की सेवा है—शुद्धचेतन की अस्मिता द्वारा श्रीश्यामसुन्दर के पादपद्म की नित्या अहैतुकी अप्रतिहता सेवा है यह अप्राकृत इन्द्रिय और अप्राकृत मन का कार्य है। जड़ मन के सभी कार्य बहिर्जगत के आश्रय से संघटित होते हैं।

"दीक्षा-समय भक्त करे आत्मसमर्पण।
उसी समय कृष्ण करें उसे आत्मसम॥
भक्त देह करें प्रभु चिदानन्दमय।
अप्राकृत-देह से कृष्ण-चरण भजय॥"
(चै० च० अन्त्य ४ र्थ प०)—

आरोपवाद और स्वप्रकाश-तत्त्व

आरोप के या अन्तर्भ्रान्तित काल्पनिक मनोमय देह के द्वारा नश्वर चेष्टा के अनुरूप साधारण कृष्णसेवा की बातें गोस्वामिपादगण ने कभी कहीं नहीं। हम लोग जिस आब-हवा में हैं, उसे लोगों को न समझा सकने की वजह अचिन्त्य-भेदाभेद के विचार से मनोवृत्ति की क्रिया के आधार को बदलकर सिद्ध देह की भूमिका में नियोग के अभिप्राय से—

"मन में निज-सिद्ध-देह करके भावन।
रात दिन चिन्तें राधाकृष्ण के चरण॥
(चै० च० मध्य २२ श प०)

प्रभृति वचन कहे गये हैं। इस जगत् की स्थूल और लिङ्ग देह के द्वारा अप्राकृत वस्तु की सेवा नहीं होती। जब हमारे प्राकृत देह के द्वारा अप्राकृत कृष्ण वस्तु की सेवा होती है, तब बाहरी देह में केवल उसके स्पन्दन की क्रिया दिखाई देती है।

"अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

यह बातें श्रीगौराङ्गसुन्दर ने जिन श्रीरूप-गोस्वामि-प्रभु से कहा था, उन श्रीरूप के पीछे न चलने से अपने दुर्भाग्य की पराकाष्ठा को हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। सम्बन्ध-ज्ञान विशिष्ट अप्राकृत देह के द्वारा जब हम लोग श्रीकृष्ण की सेवा करने के लिये लुब्ध होते हैं, तब हमारी बाहरी देह भी माया की पूजा न कर सदा वैकुण्ठ का नाम लेने के लिये उत्कण्ठित होती है। तब—

"वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं
व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभार - विटपा मधुधाराः
प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म॥"
भा० १०।३५।९)

अर्थात् "फूल फल से लदी वनलता ने, सब वृक्ष और भार से झुके हुए कृष्ण प्रेम से फूले न समानेवाली वनस्पतिराजि ने आत्मगत श्रीकृष्ण को प्रकट कर मधुधारा बरसाई थी।"

"स्थावर जङ्गम देखे, न देखे उसकी मूर्त्ति।
सर्वत्र स्फुरित उनके इष्टदेव की मूर्त्ति॥"
(चै० च० मध्य ८ म प०)

महाभागवत लोग अपने मन में ख्याल करते हैं,—"सभी विष्णु की उपासना में मतवाले हैं, केवल मैं ही विष्णु-विमुख हूँ; मैं प्राणनाथ की सेवा कर न सका।" जैसा कि श्रीगौराङ्गसुन्दर ने कहा था—

"न प्रेमगन्धोऽस्ति दरापि मे हरौ
क्रन्दामि सौभाग्यभरं प्रकाशितुम्।
वंशी - विलास्याननं - लोकनं विना
बिभर्मि यत्प्राणपतङ्गकान् वृथा॥"
(चै०च० मध्य २ य प०)

हाय, कृष्ण में हमारा लेशमात्र भी प्रेमगन्ध नहीं है। तब हम जो रोते हैं, वह केवल अपने सौभाग्यातिशय्य को प्रकट करने के लिए। वंशी-वदन श्रीकृष्णचन्द्रानन-दर्शन के बिना हमारा प्राणपतङ्ग का धारण करना वृथा ही हो रहा है।
(चै० च० अन्त्य २० श प०)

"प्रेम का स्वभाव जिसका प्रेम का सम्बन्ध।
वह जाने—कृष्ण में न मोर भक्तिगन्ध॥"

अप्राकृत भाव विकार बाहरी विज्ञापन का प्रसंग नहीं है

श्रीवल्लभाचार्य जब श्रीमन्महाप्रभु को 'अड़ाइल' ग्राम में ले जा रहे थे, तब श्रीवल्लभ भट्ट की विचार प्रणाली को देख महाप्रभु ने अपने भाव को संवरण किया।

"भट्ट के संकोच प्रभु संवरण किये।
देश पात्र देख महाप्रभु धैर्य लिये॥"
(चै० च० मध्य १९ श प.)

फिर एक दिन राय रामानन्द के साथ मिलने में महाप्रभु को प्रेम का उल्लास होने पर वैदिक ब्राह्मणों का विचार-प्रणाली को देख महाप्रभु ने भाव संवरण किया था।

(चै० च० मध्य ८ म प०)

"अपने भजन की बात न कहिये इधर-उधर' —यही आचार्यों का आदेश और उपदेश है।

बहुत ही गुह्य से भी गुह्य राधा-कानू के रस-सङ्गीत की पदावली को यदि हमारे जैसे लम्पट मनुष्य बाजार हाट और राह-बाट में लोगों के आगे गाते और वर्णन करते फिरें, तो क्या उसके द्वारा जञ्जाल उपस्थित न होगा ? बाह्य जगत की प्रतीति प्रबल रहने से हम लोग याजन करने की वजह जो अभिमान करते हैं, वह निरर्थक है। क्या हम लोगों में लेशमात्र भी भगवान के लिये अनुराग हुआ है ? यह निष्कपट अन्तरात्मा से पूछने से जान पड़ेगा ?

भजन क्रम-विचार

इससे यह नहीं कहा जा रहा है, कि भजन की क्रिया को छोड़ देना चाहिये। यह कहा जा रहा है, कि अधिकार के अनुयायी क्रमपथ के अनुसार अग्रसर होना चाहिये—

"आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥"

सद्गुरु के चरणाश्रय में भजन-क्रिया के बिना गति नहीं

सद्गुरु के चरणाश्रय के बिना हम लोगों की भजन-क्रिया या अनर्थ की निवृत्ति की सम्भावना नहीं। अनर्थ-निवृत्ति न होने से श्रीकृष्ण सेवा में निरन्तरता और रुचि हो नहीं सकती। जिस दिन हमलोग सेवा विग्रह श्रीगुरुदेव को चैतन्यदेव से अभिन्न समझ सकेंगे, उसी दिन हमलोगों को श्रीगौरसुन्दर की सेवा का लाभ होगा। उसी दिन हमलोग अपने सिमित्र सिद्ध स्थायी आत्मरति में श्रीराधा गोविन्द की निभृत सेवा कर सकेंगे। उस समय ब्रह्मानुसन्धान भी हम लोगों को बिलकुल ही अकिंचित्कर और अप्रयोजनीय जान पड़ेगा,— महन्त गुरुदेव को जब साक्षात श्रीकृष्णचैतन्यदेव के निज-जन समझ सकेंगे, तभी श्रीराधा गोविन्द की लीला की बात-चर्चा हमारे शुद्ध निर्मल हृदय में स्फुरित होगी। तब श्रीवृषभानु नन्दिनी की चम्पक आभा के द्वारा उद्भासित, श्रीमती की उद्घूर्णा-चित्रजल्पादि चेष्टा द्वारा प्रफुल्लित श्रीगौरसुन्दर के श्रीरूप का दर्शन हमारे भाग्य में घटित होगा।

गौरगण में गिने जानेवाले व्यक्तियों का स्वभाव

प्रेमदाता श्रीगौरसुन्दर के परिकरों में गिने जाने पर जीव के लिये फिर प्रेमदानलीला के अतिरिक्त और कोई काम नहीं रहता। तब श्रीगौरसुन्दर की,—

"पृथिवी में हैं जितने नगरादि ग्राम।
सर्वत्र प्रचारित होगा मेरा नाम॥"

इस वाणी को यादकर, श्रीनित्यानन्द और श्रीहरिदास के प्रति श्रीगौरसुन्दर की जो आज्ञा है,—उस आज्ञा के वाहक सूत्र में "डाकिया" का काम करते रहेंगे। तब सब जीवों के दर्वाजे दर्वाजे जाकर कहेंगे,

"भजो कृष्ण, कहो कृष्ण, लेओ कृष्ण-नाम।
कृष्ण पिता, कृष्ण माता, कृष्ण धन प्राण॥"

तब श्रीचैतन्य चन्द्रामृत के (९० संख्या) का अनुसरण करते हुए भिक्षा माँगेंगे,—

"दन्ते निधाय तृणकं पदयोर्निपत्य
कृत्वा च काकुशतमेतदहं ब्रवीमि।
हे साधवः सकलमेव विहाय दूरात्
चैतन्यचन्द्रचरणे कुरुतानुरागम्॥"

नित्य धर्म का नामान्तर वैष्णव है

(गताङ्क से आगे)

देवी०—कैसे अधम समझा आपने ?

श्रीवै०—बेटा ! कृतकर्मा लोग अपनी परीक्षा सरलता से दूसरे को समझा नहीं सकते। दूसरा ही उसे किस तरह समझेगा ?

देवीदास ने देखा, कि श्रीवैष्णवदास महापण्डित, सरल और महाविज्ञ हैं। देवीदास ने वेदान्त पढ़ा नहीं। मन में सोचा, कि यदि यह कृपा करें, तो वेदान्त का मेरा अध्ययन हो सकता है। यह सोचकर बोले, क्या मैं वेदान्त पढ़ने के योग्य हूँ ?

श्रीवै०--तुम्हारी जैसी संस्कृत भाषा में अभिज्ञता है, उससे तुम शिक्षक पाने से अनायास ही वेदान्त पढ़ सकते हो।

देवी० –आप यदि कृपा करके मुझे पढ़ायें तो मैं पढ़ूँ।

श्रीवै०—मेरा यह बात है, कि मैं अकिंचन वैष्णवदास हूँ। परमहंस बाबाजी महाशय ने मुझे कृपाकर सदा हरिनाम करने के लिये कहा है। मैं वही किया करता हूँ। समय बहुत थोड़ा है। खासकर जगद्गुरु श्रीस्वरूप गोस्वामी ने वैष्णवों को शारीरिक (शाङ्कर) भाष्य पढ़ने या सुनने का निषेध किया है, यह जानकर मैं शाङ्कर भाष्य पढ़ता भी नहीं और पढ़ाता भी नहीं। फिर भी जीवलोक के आदि गुरु श्रीशचीनन्दन श्रीसार्वभौम से जो वेदान्त-सूत्र का भाष्य कहा है, वह अभी भी अनेक वैष्णवों के पास हस्तलिखित पुस्तक में लिखा हुआ है। उसे तुम नकलकर लेके पढ़ो, तो मैं तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ। तुम कांचनपल्ली के निवासी श्रीमत् कविकर्णपूर के घर से उक्त कड़चा ला सकते हो।

देवी० मैं यत्न करूँगा। आप वेदान्त के महापण्डित हैं। आप सरलतापूर्वक मुझसे कहिये, वैष्णव-भाष्य पढ़कर वेदान्त का यथार्थ अर्थ पाऊँगा या नहीं ?

श्रीवै० मैंने शाङ्कर भाष्य पढ़ा है और पढ़ाया है। श्रीभाष्य आदि कई भाष्य पढ़े हैं। गौड़ीय वैष्णवगण जो श्रीगोपीनाथ आचार्य द्वारा प्रदत्त महाप्रभु का सूत्रार्थ व्याख्या पढ़ा करते हैं, उसकी अपेक्षा अच्छा मैंने और कोई नहीं देखा। भगवत्कृत सूत्रार्थ में कोई मतवाद नहीं है। उपनिषद् वाक्य में जिन सब अर्थों का संग्रह किया जाता है, वह सब ठीक-ठीक इस सूत्र की व्याख्या में पाया जाता है। सूत्र-व्याख्या को यदि कोई रीति के अनुसार ग्रथित करे, तो कोई भी भाष्य विद्वानों की सभा में आदर न पायेगा। (क्रमशः)

ग्राहक-गण के प्रति निवेदन

भागवत-पत्र के महानुभाव ग्राहकगण के प्रति हमारा साविनय निवेदन यह है, कि आज (१४ वीं अक्टूबर आश्विन पूर्णिमा में) भागवत-पत्र का प्रथम वर्ष समाप्त हुआ। अतएव नये वर्ष की भिक्षा (चन्दा) १॥) डेढ़ रुपया आगामी सप्ताह के भीतर मनीआर्डर द्वारा भेज कर द्वितीय वर्ष के ग्राहक बनें। उपर्युक्त समय तक जिनके पास से १॥) न पाया जायेगा, वे कृपा पूर्वक पत्र द्वारा सूचना दे दें। नहीं तो उनके नाम प्रथम संख्या वी. पी. की जायेगी। उसमें मनीआर्डर के अतिरिक्त ।) अधिक लग जायेंगे।

भागवत कार्यालय का पता परिवर्तित हो गया है। अतएव ग्राहक महानुभाव निम्नलिखित पते से मनीआर्डर भेजने की कृपा करें,—

मैनेजर, भागवत
१६, सेठ रामयश रोड,
नरही, लखनऊ.

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १३ हनुमान रोड, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकंदा चीरकुंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० बासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर,

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वर, वेष्ट गोदावरी, मद्रास

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम्—सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
श्रीतत्त्वसूत्रम् ।

संस्कृत बँगला अक्षरों में

श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १।)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्री-रूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)
१२—युक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित =)
१४—नवद्वीपशतक बंगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्र-वर्ती-कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्री-मद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ९)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow